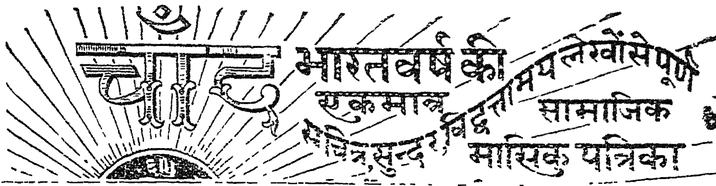


वर्ष १६, खण्ड १

संख्या ६, पूर्ण संख्या १८६

नवम्बर १९३७ से अप्रैल सन् १९३८ ई० तक

सम्पादिका—**महादेवी वर्मा, एम० ए०**

मैनेजिङ्ग एडीटर—**नन्दगोपालसिंह सहगल**

प्रकाशक—

चाँद प्रेस, लिमिटेड

चन्द्रलोक—इलाहाबाद

वार्षिक चन्दा ६॥)] [छःमाही चन्दा ३॥)



१—गद्य

अपनी बात

* * *

बिखरे फूल

❀ ❀ ❀

रङ्गभूमि

* * *

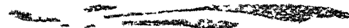
२—पद्य

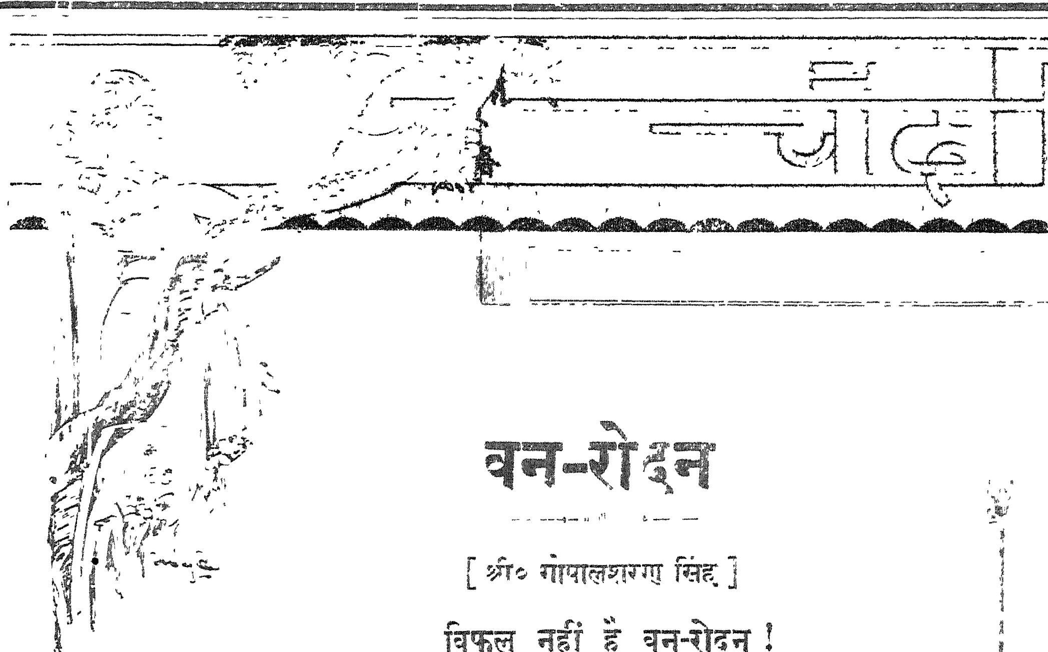
  

३—चित्र-सूची

१—तिरंगे

२—सादे





वन-रोदन

[श्री० गोपालशरण सिंह]

विफल नहीं है वन-रोदन !

उसको सदा सुना करते हैं,
कान लगाकर सुमन-सुमन ;
उसको ही सुनकर होती हैं,
लता-वल्लियाँ सजल-नयन ।

पल्लव-पाणि हिलाकर देतीं,
वृक्षावलियाँ आश्वासन ;
मेरे साथ-साथ करती है,
सदा प्रतिध्वनि भी क्रन्दन ।

फैलाती है उसे विश्व में,
सन-सन बहकर मलय-पवन ;
सिर धुनने लगता है कोयल,
तजकर अपना कल-कूजन ।

मुझे घेर करते हैं मधुकर,
गुञ्जन के मिस करुण-रुदन ;
सजनी रो-रो कर मैं कर दूँ,
क्यों न भला गुञ्जित कानन ?

सुनता होगा किसी कुञ्ज में,
छिप कर मेरा जीवन-धन !

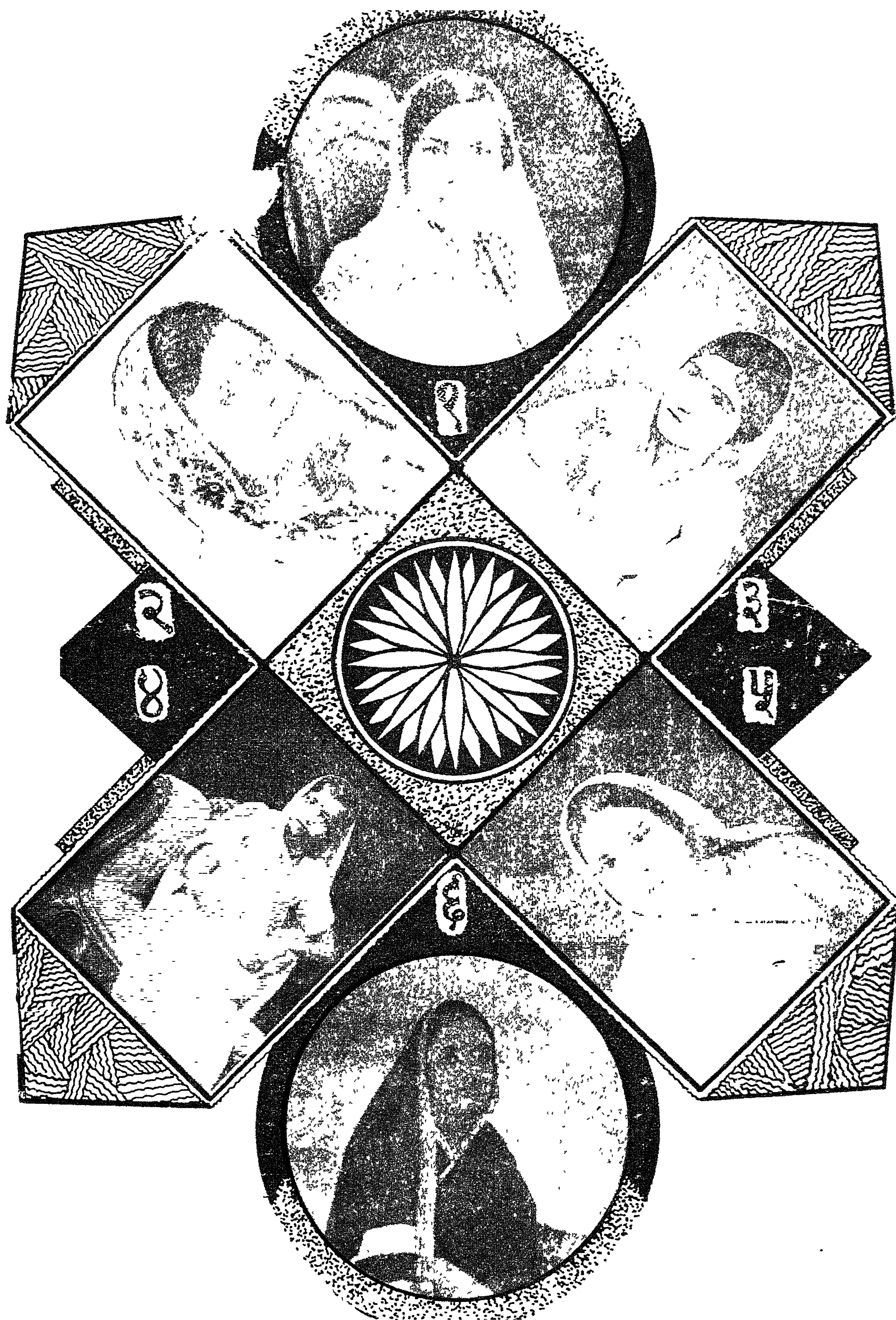
प्रो० योने नागूची

अतल समाधि से, निस्तब्धता के अन्तराल से, लक्ष्य और अलक्ष्य का गायक, अपना छाया और अजरता का, शान्ति और स्मृति का, नीरवता और नीहार-लोक का निःस्वन गीत गा रहा है।

कवि! मैं तुम्हारी अक्षय वासना सन्ध्या की, स्वर्ग और स्नेह की, निद्रालोक पर उद्भासित विधु जैसी नीरवता की रागिनी सुन रहा हूँ। तुम्हारा सङ्गीत मेरे हृदय का मधुर उद्वेग और घुलते बादलों के समान सपनों से भर जाता है। हे कवि! तुम्हारा गीत अतल समाधि से, निस्तब्धता से पालने में, ज्वार में बढ़ती हुई तरल तरङ्ग के समान आ रहा है।

मूल-लेखक—प्रो० योने नागूची

(अनु० महादेवी)


१
२
३
४
५
६

साहित्य-संसार की कुछ

रचयित्रियाँ

१—श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल—अनेक महत्व-पूर्ण ग्रन्थों की लेखिका, जिन्हे मङ्गलाप्रसाद तथा सेकसरिया पुरस्कार प्राप्त हो चुके है।

२—श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान—हिन्दी की प्रसिद्ध कहानी-लेखिका और कवियित्री, जो दो बार सेकसरिया पुरस्कार द्वारा सम्मानित हो चुकी है।

३—श्रीमती तारा पाँडे—सुप्रसिद्ध कहानी-लेखिका और कवियित्री।

४—श्रीमती रत्नकुमारी देवी—श्री० सेठ गोविन्द-दास की सुपुत्री और हिन्दी-साहित्य की परिचित कवियित्री तथा कहानी-लेखिका।

५—श्रीमती रामकुमारी चौहान—जिन्हे निःश्वास शीर्षक कविता-संग्रह पर सेकसरिया पुरस्कार मिल चुका है।

६—श्रीमती कमलाबाई किबे—राष्ट्र-भाषा की प्रमिर्णी महाराष्ट्रीय विदुषी।

अपनी बात

समाज और व्यक्ति

समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थों की सार्वजनिक रक्षा के लिए, अपने विषम आचरणों में साम्य उत्पन्न करने वाले कुछ सामान्य नियमों से शासित होने का समझौता कर लिया है।

मनुष्य को समूह बनाकर रहने की प्रेरणा पशु-जगत के समान प्रकृति से मिली है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु उसका क्रमिक विकास विवेक पर आश्रित है अन्ध प्रवृत्तिमात्र पर नहीं। मानसिक विकास के साथ-साथ उसमें जिस नैतिकता की उत्पत्ति और वृद्धि हुई उसने उसे पशु-जगत से सर्वथा भिन्न कर दिया। इसीसे मनुष्य-समाज समूहमात्र नहीं रह सका, वरन् धीरे-धीरे एक ऐसी संस्था में परिवर्तित हो गया जिसका ध्येय भिन्न भिन्न सदस्यों को लौकिक सुविधायें देकर उन्हें मानसिक विकास के पथ पर आगे बढ़ाते रहना है।

आदिम युग का मनुष्य, समूह में रहते हुए भी पारस्परिक स्वार्थों की विवेचना और उसकी समस्याओं से अपरिचित रहा होगा। अनुमानतः सामाजिक भावना का जन्म परस्पर हानि पहुँचाने वाले आचरण से तथा उसका विकास नवीन स्थानों में उत्पन्न सङ्गठन की आवश्यकता से हुआ है। किसी भी प्राणिसमूह को अपने जन्म-स्थान में उतने अधिक सङ्गठन की आवश्यकता नहीं होती जितनी किसी नये स्थान में होती है, जहाँ उसे अपने आपको नवीन परिस्थितियों के अनुरूप बनाना पड़ता है। यदि उसकी सहजबुद्धि इस एकता की अनिवार्यता का बोध न कराती तो उस समूह विशेष का जीवन ही कठिन हो जाता। मनुष्य-जाति जब जीवन के लिए अधिक सुविधाएँ प्रदान करने वाले प्रदेशों में फैलने लगी तब उसके भिन्न-भिन्न समूहों को अपनी शक्तियों का दृढ़तर सङ्गठन करने की आवश्यकता ज्ञात हुई, अन्यथा वे नई परिस्थितियों और नये शत्रुओं से अपनी रक्षा करने में समर्थ न हो पाते। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में बिखरी हुई उच्छृङ्खल शक्ति जाति के लिए दुर्बलता बन जाती है, यह पाठ मनुष्य समूह ने अपने जीवन के आरम्भ में ही सीख लिया था; इसी से वह उसे एकता के सूत्र में बाँध कर अपने आपको सबल बना सका। अनेक व्यक्ति एक ही स्थान में एक दूसरे के निकट बसने लगे, परस्पर सहानुभूति और सद्भाव उत्पन्न करने के लिए एक दूसरे का खाद्य और आच्छादन छीन लेने की प्रवृत्ति को रोकने लगे और विजाति से युद्ध के समय शक्ति को सङ्गठित रखने के लिए अपने समूह विशेष के किसी अग्रगण्य वीर का शासन मानना सीखने लगे। विशेष सुविधाओं के लिए एकत्रित यह मनुष्य-समूह ही हमारे विकसित तथा अनेक नैतिक और धार्मिक बन्धनों में बँधे सभ्य समाज का पूर्वज कहा जा सकता है। आज भी असभ्य जातियों के सङ्गठन के मूल में यही आदिम युग की भावना सन्निहित है।

स्थान विशेष की जलवायु तथा वातावरण के अनुरूप एक जाति रङ्ग-रूप और स्वभाव में दूसरी से भिन्न रही है और प्रत्येक में अपनी विशेषताओं की रक्षा के लिए स्वभावगत प्रेरणा की प्रचुर मात्रा रहती है। आत्म-रक्षा के अतिरिक्त उन्हें अपनी जातिगत विशेषताओं की चिन्ता भी थी, अतः उनमें व्यवहार के लिए ऐसे विशेष नियम भी बनने लगे, जिनका पालन व्यक्ति की आत्मरक्षा के लिए न होकर जाति की विशेषताओं की रक्षा के लिए अनिवार्य था। आत्मरक्षा की भावना के साथ-साथ मनुष्य में जाति की विशेषताओं की रक्षा की भावना भी

बढ़ती गई जिससे उसके जीवन-सम्बन्धी नियम विस्तृत और जटिल होने लगे। समूह द्वारा निश्चित नियम सम्बन्धी समझौते के विरुद्ध आचरण करने वाले को दण्ड मिलने का विधान था, परन्तु इस विधान द्वारा, छिपाकर विरुद्धाचरण करने वालों को नहीं रोका जा सकता था। अतएव कालान्तर में उन नियमों के साथ पारलौकिक सुख-दुःखों की भावना भी बँध गई। मनुष्य को स्वभाव से ही अज्ञात का भय था, इससे उसके निर्माण के सब कार्यों में एक अज्ञात कर्ता का निर्माण प्रमुख रहा है। इस अज्ञात का दण्ड और पुरस्कार मनुष्य के आचरण को इतना अधिक प्रभावित करता आ रहा है कि अब उसे महत्व में समाज के वास्तविक दण्ड और पुरस्कार के साथ एक ही तुला पर तोला जा सकता है। आरम्भ में, यदि समाज के रोष या प्रसाद से उत्पन्न लौकिक हानि और लाभ आचरण को ढालने के कठोर साँचे थे, तो पारलौकिक सुख दु खों की भावना उस मानसिक संस्कार का दृढ़ आधार थी, जिससे आचरण को रूप मिलता है। इस प्रकार लौकिक सुविधा की नींव पर, नैतिक उपकरणों से, धार्मिकता का रङ्ग देकर हमारी सामाजिकता का प्रासाद निर्मित हो सका। जिस क्रम से मनुष्य सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होता गया उसी क्रम से समाज के नियम अधिकाधिक परिष्कृत होते गए और पूर्ण विकसित तथा व्यवस्थित समाज में वे केवल व्यावहारिक सुविधा के साधनमात्र न रह कर सदस्यों के नैतिक तथा धार्मिक विकास के साधन भी हो गए

व्यक्ति तथा समाज का सम्बन्ध सापेक्ष कहा जा सकता है, क्योंकि एक के अभाव में दूसरे की उपस्थिति सम्भव नहीं। व्यक्ति के स्वत्वों की रक्षा के लिए समाज बना है और समाज के अस्तित्व के लिए व्यक्ति का आवश्यकता रहता है। एक सामाजिक प्राणी स्वतन्त्र और परतन्त्र दोनों हो है जहाँ तक वैयक्तिक हितों की रक्षा के लिए निर्मित नियमों का सम्बन्ध है, व्यक्ति परतन्त्र ही कहा जायगा; क्योंकि वह ऐसा कोई कार्य करने के लिए स्वच्छन्द नहीं जिससे अन्य सदस्यों का हानि पहुँचे। परन्तु अपने और समाज के व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक विकास के क्षेत्र में व्यक्ति पूर्णत स्वतन्त्र रहता है।

अवश्य ही इस विकास की व्याख्या प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ की दृष्टि से नहीं कर सकता, अन्यथा इसकी परिभाषाएँ समाज के सदस्यों की सख्या से न्यून न हो सकती। मनुष्य-जाति का, बर्बरता की स्थिति से निकल कर मानवीय गुणों तथा कला कौशल की वृद्धि करते हुए सभ्य और सुसस्कृत होते जाना ही उसका विकास है। इस विकास की ओर अग्रसर होकर व्यक्ति समाज को भी अग्रसर करता जाता है। व्यक्ति जब वैयक्तिक हानि-लाभ को केन्द्रविन्दु बना कर अपनी सार्वजनिक उपयोगिता भूलने लगता है, तब समाज की व्यवस्था और उसमे सामूहिक विकास में बाधा पड़ने लगती है। भिन्न-भिन्न स्वभाव और स्वार्थवाले व्यक्तियो के आचरणों में कुछ न कुछ विषमता अवश्य ही रहती है, परन्तु जब इस विषमता की मात्रा सामञ्जस्य की मात्रा के समान या उससे अधिक हो जाती है तब समाज की सामूहिक प्रगति दुर्गति में परिवर्तित होने लगती है। इस विषमता का चरम सीमा पर पहुँच जाना ही क्रान्ति को जन्म देता है, जिससे समाज की व्यवस्था को नई रूप-रेखा मिलती है।

व्यक्ति समाज से पृथक् रह सकता है या नहीं, यह प्रश्न कई दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। यदि समाज का अर्थ सम्प्रदाय विशेष समझा जावे, तो मनुष्य उससे स्वतन्त्र रह सकता है, क्योंकि वह मनुष्य के मानसिक जगत के अधिक समीप है। एक व्यक्ति अपनी विचार-धारा में जितना स्वतन्त्र हो सकता है उतना व्यवहार में नहीं हो सकता। मानसिक जगत का एकाकीपन व्यावहारिक जगत में सम्भव नहीं इसी से प्राचीन काल में भी भिन्न-भिन्न मत और दर्शन वाले व्यक्तियों के पृथक्-पृथक् समाज नहीं बनाये गए। केवल आत्मापेक्षी जगत में मनुष्य समाज से स्वतन्त्र होकर रह सकता है। परन्तु यदि समाज की परिभाषा ऐसा मनुष्य-समूह हो जो पारस्परिक सहयोगापेक्षी है, तो उस समाज से व्यक्ति का नितान्त स्वतन्त्र होना किसी युग में भी सम्भव नहीं हो सका है। सभ्य और असभ्य दोनों ही

स्थितियों में मनुष्य दूसरे मनुष्यों के सहयोग से अपना जीवन-मार्ग प्रशस्त कर सका है। उसके लिए अन्न, वस्त्र जैसी साधारण परन्तु आवश्यक वस्तुएँ भी अनेक व्यक्तियों के प्रयत्न का फल है, यह स्वतः प्रमाणित है। उसकी भावना को जीवित रखने वाली कलाएँ, उसके बौद्धिक विकास को प्रशस्त बनाने वाला साहित्य और व्यवहार-जगत में उसके जीवन को सुख और सुविधाएँ देने वाले भवन, ग्राम, नगर तथा अन्य अनिवार्य वस्तुएँ सब की उत्पत्ति मनुष्यों के सहयोग से हुई है, इसे कोई अस्वीकार न कर सकेगा। युगों से व्यक्ति को सुखी रखने और उसके जीवन को अधिक पूर्ण तथा सुगम बनाने के लिए मानव-जाति प्रकृति से निरन्तर युद्ध करती आ रही है। उसने अपनी सङ्गठित शक्ति से पर्वतों के हृदय को वेध डाला, प्रपातों की गति बाँधी, समुद्रों को पार किया और आकाश में मार्ग बनाया। मनुष्य यदि मनुष्य को सहयोग देना स्वीकार न करता तो न मानवता की ऐसी अद्भुत कहानी लिखी जाती और न मनुष्य अपनी आदिम अवस्था से आगे बढ़ सकता। मनुष्य जाति सङ्गठन में ही जीवित रहेगी, जब तक यह सत्य है तब तक समाज की स्थिति भी सुदृढ़ रहेगी। सारे मनुष्य एक ही स्थान में नहीं रह सकते, अतः उनके समूहों के विकासोन्मुख सङ्गठन पर सारी जाति की उन्नति का निर्भर होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति से ही सामाजिक प्राणी है; अपने स्वभाव में आमूल परिवर्तन बिना किये उसका समाज से पृथक् होना न सम्भव है और न वाञ्छनीय।

फिर भी यह कहना कि समाज व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त है, सत्य की उपेक्षा करना होगा। साधारणतः मानवीय स्वभाव का अधिकांश, समाज के शासन में नहीं रहता, क्योंकि वह बन्धन से परे है। मनुष्य के जीवन का जितना अंश धर्म, शिक्षा आदि की भिन्न-भिन्न सामाजिक संस्थाओं के सम्पर्क में आता है, उतना ही समाज द्वारा शासित समझा जाता है और उतने ही से हम उस के विषय में अपनी धारणा बनाते रहते हैं। समाज यदि मनुष्यों का समूह मात्र नहीं है तो मनुष्य भी केवल क्रियाओं का समूह नहीं। दोनों के पीछे सामूहिक और व्यक्तिगत इच्छा, हर्ष और दुःखों की प्रेरणा है। जीवन, केवल इच्छाओं या भावनाओं से उत्पन्न आचरणों को सेना के समान कवायद सिखा देने में ही सफल नहीं हो जाता, वरन् उन इच्छाओं के उद्गमों को खोज कर, उनसे मनुष्यता की मरुस्थली को आर्द्र करके पूर्णता को प्राप्त होता है।

इस दृष्टि से समाज की सत्ता दो रूपों में विभक्त हो जाती है। एक के द्वारा वह अपने सदस्यों के व्यवहार और आचरणों पर शासन करता है और दूसरी के द्वारा वह उनकी स्वाभाविक प्रेरणाओं का मूल्य आँक कर उनके मानसिक विकास के उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करता रहता है। किसी भी व्यक्ति को अपने लिए विशेष वातावरण ढूँढ़ने नहीं जाना पड़ता, क्योंकि वह एक गृह विशेष में जन्म लेकर अपनी वृद्धि के साथ-साथ अन्य सामाजिक संस्थाओं के सम्पर्क में आता रहता है। जैसे उसे साँस लेने के लिए वायु की खोज नहीं करनी पड़ती उसी प्रकार वातावरण विशेष से भी वह अनभिज्ञ रहता है। उसकी व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता दोनों उसके अनजानपन में एक विशेष रूपरेखा में बँधने लगती हैं और जब वह सजग होकर अपने आपको देखता है तब वह बहुत कुछ बन चुका होता है। परन्तु यदि व्यक्ति अपने इस रूप से सन्तुष्ट हो सके तो उसे निर्जीव मृत्पिण्ड ही कहेंगे, जो किसी साँचे में ढल सकता है, परन्तु ढाल नहीं सकता। वास्तव में समाज के दान की जहाँ इति है, व्यक्ति का वहीं से अथ आरम्भ होता है। वह दर्जी के सिले कपड़ों के समान पहले समाज के वैध सिद्धान्तों को धारण कर लेता है और तब उनके तङ्ग या ढीले होने पर, सुन्दर या कुरूप होने पर अपना मतामत देता है। इसी मतामत से समय समय पर समाज को अपने पुराने सिद्धान्तों को नया रूप देना पड़ता है। प्रगतिशील समाज में व्यक्ति और व्यक्तियों का समूह अन्यान्याश्रित ही रहेंगे और उनका दान प्रतिदान उपयोगिता की एक ही तुला पर विकास के एक ही बाँट से तोला जा सकेगा।

समाज का आधार

समाज की दो आधार-शिलायें हैं, अर्थ का विभाजन और स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध। इनमें से यदि एक की भी

स्थिति में विषमता उत्पन्न होने लगती है, तो समाज का सम्पूर्ण प्रासाद हिले बिना नहीं रह सकता।

(१)

अर्थ सामाजिक व्यक्ति की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि उसके द्वारा जीवन के लिये आवश्यक सामग्री प्राप्त हो सकती है। बर्बरता तथा सभ्यता दोनों ही परिस्थितियों में मनुष्य अपने सुख के साधन चाहता है, अन्तर केवल यही है कि एक स्थिति में अपने सुख के साधन प्राप्त करना व्यक्ति की शक्ति पर निर्भर है और दूसरी में सुख की सामग्री के समान विभाजन का अधिकार समाज को सौंप दिया जाता है। बर्बरता की स्थिति में शक्ति का उपयोग व्यक्तिगत हितों की रक्षा में निहित था, परन्तु सभ्य समाज में शक्ति का उपयोग सार्वजनिक है। समाज अपने सदस्यों में प्रत्येक को चाहे वह सबल हो चाहे निर्बल, सुख के साधन समान रूप से वितरित करने पर बाध्य समझा जाता है। सब व्यक्तियों का शारीरिक तथा मानसिक विकास एक सा नहीं होता और न वे सब एक जैसे कार्य के उपयुक्त हो सकते हैं, परन्तु समाज के लिये वे सभी समान रूप से उपयोगी हैं। एक दार्शनिक, कृषक का कार्य चाहे न कर सके, परन्तु मानव-जाति को मानसिक भोजन अवश्य दे सकता है। इसी प्रकार एक कृषक चाहे मानव-समूह को कोई वैज्ञानिक आविष्कार भेंट में न दे सके, परन्तु जीवन-धारण के लिए अन्न देने का सामर्थ्य अवश्य रखता है। एक भवन बनाने में हमें ऐसे व्यक्ति की भी आवश्यकता होती है, जो बनने से पहले कागज पर उसकी भावी रूपरेखा अङ्कित कर सके, ऐसे व्यक्ति की सहायता भी चाहिए जो ईंट-पत्थर को जमाना और जोड़ना जानता हो और ऐसे व्यक्तियों के सहयोग की अपेक्षा भी रहती है जो मिट्टी-ईंट प्रस्तुत करके निर्माता तक पहुँचा सकें। पृथक पृथक देखने से किसी का भी कार्य महत्वपूर्ण न जान पड़ेगा, परन्तु उनके सयुक्त प्रयत्न से निर्मित भवन प्रमाणित कर सकता है कि उनमें से कोई भी उपेक्षणीय नहीं था। समाज की भी यही दशा है। वह अपनी पूर्णता के लिए सब सदस्यों को उनकी शक्ति और योग्यता के अनुसार कार्य देकर उनके जीवन की सुविधाएँ प्रस्तुत करता है। जब इस नियम के विरुद्ध वह किसी को बिना किसी परिश्रम के बहुत सी सुविधाएँ दे देता है और किसी को कठिन परिश्रम के उपरान्त भी जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं से रहित रखता है, तब उसे लक्ष्य-भ्रष्ट ही कहना चाहिए, क्योंकि यह स्थिति तो बर्बरता में भी सम्भव थी। यदि उस स्थिति से मनुष्य सन्तुष्ट रह सकता तो फिर समाज की आवश्यकता ही न रह जाती। किसी भी सामञ्जस्यपूर्ण समाज में परिश्रम और सुख की यह विषमता सम्भव नहीं, क्योंकि यह उस समझौते के नितान्त विपरीत है, जिसके द्वारा मनुष्य ने मनुष्य को सहयोग देना स्वीकार किया था। जो बर्बर मनुष्य अपने एक सुख के लिए दूसरों के अनेक सुखों को छीन लेने के लिए स्वच्छन्द था, उसी की उच्छृङ्खलता को समाज ने न्याय् के बन्धन में बाँध लिया है। इस बन्धन के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति फिर अपनी पूर्व स्थिति में लौट सकता है, यह इतने वर्षों के अनुभव ने अपेक्षाकृत स्पष्ट कर दिया है। कुछ व्यक्तियों के प्रति समाज का ऐसा अनुचित पक्षपात ही वह व्याधि है, जो उसके रक्त का शोषण करते-करते अन्त में उसे निर्जीव कर देती है।

यह सम्भव है कि सबल, दुर्बलों को अपनी बर्बर शक्ति के द्वारा बाँध कर रख सकें, परन्तु यह अनिच्छा और परवशता से स्वीकृत सहयोग दासत्व से किसी भी अंश में न्यून नहीं कहा जा सकता। इतिहास प्रमाणित कर देगा कि ऐसे दासत्व बहुत काल के उपरान्त एक अद्भुत संहारक शक्ति को जन्म देते रहे हैं, जिसकी बाढ को रोकने में बड़े शक्तिशाली भी समर्थ नहीं हो सके। मनुष्य स्वभावत जीवन को बहुत प्यार करता है, परन्तु जब सहयोगियों के निष्ठुर उत्पीड़न से वह नितान्त दुर्वह हो उठता है, तब उसकी ममता घोरतम विरक्ति में परिवर्तित हो जाती है। पीड़ितों का समाधान सम्भव हो सकता है, परन्तु ऐसे हताश और जीवन के प्रति निर्मम व्यक्तियों का समाधान सम्भव नहीं। ऐसे व्यक्तियों का वेग आँधी के समान चक्षुहीन, बाढ के समान दिशाहीन और विद्युत के समान लक्ष्यहीन हो जाता है। अपने सदस्यों की मन.स्थित



शिक्षा-क्षेत्र में अग्रसर महिलाएँ

(१) श्रीमती इरावती कर्वे, एम० ए०—रजिस्ट्रार महिला-यूनीवर्सिटी पूना।

(२) श्रीमती जानकी अम्मल, एम० ए०, डी० एस-सी०, एफ० एल० एस०, प्रोफेसर ऑफ बोटानी (ट्रावनकोर)

(३) श्रीमती कमला सेठी, एम० ए०—रायल ज्योग्राफिकल कान्सिल की सदस्या।

(४) श्रीमती सी० सी० भारतन (एजूकेशनल कौन्सिल की सदस्या)

(५) श्रीमती शन्नोदेवी—कन्या-महाविद्यालय जालन्धर की भूतपूर्व मुख्याध्यापिका।

क्रान्ति तक पहुँचा देना समाज की मनोविज्ञान-...न्यता ही प्रकट करता है।

क्रान्ति युग की प्रवर्तिका है अवश्य, परन्तु उसका ...र्य, प्रवाह को एक दिशा से रोक कर दूसरी में ले जाने ...मान है, इसी से उसे पहले लिखा हुआ मिटाना पड़ता ...ा हुआ भुलाना पड़ता है और बसाया हुआ उजाड़ना ...ता है। इसीलिए सुव्यवस्थित समाज विकास-मार्ग में ...क-रुक कर अपने गन्तव्य और दिशा की परीक्षा करना ...आवश्यक समझते हैं। बाढ़ से पहले बाँध की उपयो-...गिता है। जल के प्रलयङ्कर प्रवाह में चाहे वह ...बन सके, परन्तु उसका पूर्ववर्ती होकर अनेक आघात ...सह कर भी स्थिर रह सकता है। फिर यह आवश्यक ...कि ऐसी संहारक और सर्वग्रासी क्रान्ति, सुन्दर ...हो। तरङ्ग का स्वभाव तट से टकरा कर ...जाना है, यह देखना नहीं कि तीर की समरेखा ...सुरक्षित रही या नहीं रही। यह कार्य तो तट की दृढ़ता ...प्रकृति पर निर्भर है। क्रान्ति के आघात से अपनी ...रेखा बचा लेना उसी समाज के लिए सम्भव है, ...उद्गम और दिशा से परिचित हो और उसे ...करने की क्षमता रखता हो। जिस समुद्र के अनन्त और अथाह गर्भ में पवत खो गए हैं, उसीसे तट से सम्बन्ध रखने वाले गोताखोर मोती निकाल लाते हैं और जिस ऊँची लहर के सामने बड़े-बड़े पोत बह जाते हैं उसी में, तट पर आधार-स्तम्भ के सहारे, मनुष्य स्नान ...के निर्मल हो जाते हैं।

यदि समाज के पास ऐसा आधार-स्तम्भ हो तो क्रान्तियाँ उसे और अधिक निर्मल बना सकती हैं। ...उसकी अनुपस्थिति में निरुद्देश बहना ही अधिक सम्भव है, जो व्यक्ति और समाज के युगदीर्घ बन्धन को शिथिल किये बिना नहीं रहता।

(२)

स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से समाज की स्थिति को बाँधने वाला सूत्र कितना सूक्ष्म और दृढ़ है, यह उस ...के इतिहास से प्रकट हो जायगा।

यह धारणा कि गृह का आधार लेकर समाज का ...निर्माण हो सका होगा, अब पुरानी मानी जाने लगी है; परन्तु नैतिक दृष्टि से समाज-वृक्ष के सघन मूल का पहला अङ्कुर स्त्री, पुरुष और उसकी सन्तान में पनपा इसे नितान्त निर्मूल सिद्ध कर देना सम्भव नहीं हो सका है।

यदि हम ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि बहुत काल से स्त्री की स्थिति समाज का विकास नापने के लिए माप-दण्ड रही है। नितान्त बर्बर जाति में स्त्री केवल विनोद का साधन और अधिकार में रखने की वस्तु समझी जाती रही। आज भी जङ्गली जातियों में स्त्री की वह स्थिति नहीं है, जो सभ्य समाज में मिलेगी। उस आदिम युग में मातृत्व स्त्रीत्व का आकस्मिक परिणाम था, जिससे जाति तो लाभ उठाती थी परन्तु स्त्री उपयोगी यन्त्र से अधिक गौरव नहीं पाती थी। तब स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध भी अपने क्षणिक विनोद और उत्तर-दायित्व-हीनता के कारण पशुत्व का ही एक रूप था। वह यदि पशुत्व से निकृष्ट नहीं कहा जा सकता तो उत्कृष्ट होने का गर्व भी नहीं कर सकता। कहीं पुरुषों का समूह का समूह स्त्री-समूह से विवाहित था, कहीं एक पुरुष के अधिकार में पालतू पशुओं के समान बहुत सी स्त्रियाँ थीं और कहीं स्त्री की संख्या न्यून होने के कारण अनेक पुरुष एक स्त्री पर अधिकार रखते थे। सारांश यह कि जहाँ जन-संख्या के अनुसार जैसी आवश्यकता थी वैसे ही नियम बन गए।

जाति की वृद्धि और पुरुष के मनोविनोद का साधन होने के अतिरिक्त स्त्री का कोई और उपयोग नहीं था। आनन्द के अन्य उपकरणों के समान उन्हें विपक्षियों से जीत लाना या सुयोग पाकर उनका अपहरण कर लाना साधारण सी बात थी। स्त्री के हृदय है या उसकी इच्छा-अनिच्छा भी हो सकती है, यह आदिम युग के पुरुष की सहज बुद्धि से परे था, परन्तु जैसे-जैसे मानव-जाति पशुत्व की परिधि से बाहर आती गई, स्त्री की स्थिति में भी अन्तर पड़ता गया। जाति की माता होने के नाते उसके प्रति कुछ विशेष आदर का भाव भी प्रदर्शित किया जाने लगा। कब और कैसे पुरुष तथा स्त्री के सम्बन्ध में उस आसक्ति का जन्म हुआ, जिसने समय के प्रवाह में परिष्कृत से परिष्कृततर होते-होते गृह की नींव डाली, यह जान सकना कठिन है,

परन्तु अनुमानत दोनों की ही प्रवृत्ति और सहज बुद्धि ने उस अव्यवस्थित जीवन की त्रुटियाँ समझ ली होंगी। परस्पर सङ्घर्ष में लगी हुई जातियों को तो इतना अवकाश ही न मिलता था कि वे जीवन की विशेष सुविधाओं का अभाव अनुभव करतीं। परन्तु जब उन्होंने अपेक्षाकृत शान्ति मे बसने का स्थान खोज निकाला और जीवन के लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त कर लीं तब उनका ध्यान स्त्री की स्थायी उपयोगिता पर भी गया। पुरुष ने देखा, वह कभी श्रान्त, कभी क्लान्त और कभी रोगग्रस्त एकाकी है। ऐसी दशा मे किसी मृदु-स्वभावा सहचरी के साहचर्य की ओर उसकी कल्पना स्वत प्रधावित होने लगी तो आश्चर्य ही क्या है! अपने अभाव के अतिरिक्त पुरुष की अधिकार-भावना भी गृह की नींव डालने में बहुत सहायक हुई होगी। अपनी तलवार, अपने धनुषबाण के समान पुरुष, अपनी स्त्री और अपनी सन्तान कहने के लिए भी आतुर हो उठा। मनोज्ञ स्त्री को सङ्घर्ष से बचाने और जाति को वीर पुत्र देने का गर्व करने के लिए भी यह आवश्यक था कि स्त्री एकान्त रूप से उसी के अधिकार में रहती। स्त्री ने भी अनिश्चित और सङ्घर्षमय वाह्यजीवन से थक कर अपने तथा अपनी सन्तान के लिए ऐसा साहचर्य स्वीकार किया, जो उसे जीवन की अनेक असुविधाओं मे मुक्त कर सकता था। इस साहचर्य के नियम बहुत काल तक कोई स्पष्ट रूपरेखा न पा सके, क्योंकि उस समय तक मनुष्य-समूह की स्थिति में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता था।

जिस समाज में हम पुरुष तथा स्त्री के सम्बन्ध का प्राचीनतम रूप देख सकते हैं, वह वैदिक समाज है, परन्तु वह अपनी संस्कृति और प्रगतिशीलता के कारण किसी भी अर्थ में आदिमकाल का समाज नहीं कहा जा सकता। उस समय तक समाज की रूप-रेखा स्पष्ट और उद्देश्य निश्चित हो जाने के कारण स्त्री की स्थिति में भी बहुत अन्तर आ चुका था।

वेदकालीन समाज जीवन-धारण के लिए अनिवार्य, अग्नि, इन्द्र, सूर्यादि का महत्व समझ चुका था, रात्रि, उषा आदि की अभिनव सुषमा देख कर भाव विह्वल हो चुका था, नवीन स्थान में अपने सङ्गठन को दृढ़तर करने के लिए वर्ण-व्यवस्था का आविष्कार कर चुका था और जाति की वृद्धि और प्रसार के लिए व्यक्ति को धर्म की दीक्षा दे चुका था। गृह के बिना पुरुष का कहीं बसना सम्भव नहीं और स्त्री के बिना गृह नहीं अत स्त्री, पुरुष की सहधर्मिणी निश्चित की गई। उन दोनों का उद्देश्य समाज को सुयोग्य सन्तान की भेंट देना और फिर उस सन्तान के लिए स्थान रिक्त करके अवकाश लेना था। उस समय जाति की विधात्री होने के कारण स्त्री आवश्यक और आदरणीय तो थी ही, साथ ही, उसके जीवनचर्या सम्बन्धी नियम भी अधिक कठोर नहीं बनाये जा सके। सहधर्म्मिणीत्व के अभाव में भी समाज उसकी सन्तान को त्याज्य नहीं कह सकता था, सौभाग्य से शून्य होने पर भी समाज उसे गृहधर्म से निर्वासन-दण्ड न दे सकता था। वह मत्स्योदरी होकर भी राजरानी के पद पर प्रतिष्ठित हो सकती थी, कुन्ती होकर भी मातृत्व की गरिमा से गुरु रह सकती थी और द्रौपदी होकर भी पतिव्रता के आसन से नहीं हटाई जा सकती थी। वह समाज की स्थिति के लिए पुरुष की सहधर्मिणी थी, पुरुष की अधिकार-भावना से बँधी अनुगामिनी मात्र नहीं। जैसे-जैसे भिन्न परिस्थितियों में उसकी सामाजिक उपयोगिता घटती गई, वैसे-वैसे पुरुष, व्यक्तिगत अधिकार-भावना से उसे घेरता गया। अन्त में यह स्थिति ऐसी पराकाष्ठा को पहुँच गई जहाँ व्यक्तिगत अधिकार-भावना ने स्त्री के सामाजिक महत्व को अपनी छाया से ढाँक लिया। एक बार पुरुष के अधि-कार की परिधि में पैर रख देने के पश्चात् जीवन में तो क्या, मृत्यु में भी वह स्वतन्त्र नहीं। इस विधान ने ही विधवा की दयनीय स्थिति सम्भव कर दी। कदाचित् पहले यह विधान वर्णों के बन्धन कुछ कठिन हो जाने पर उन सन्तानवती विधवाओं के लिए किया गया होगा जिनको अपने बालकों का पालन उनके पिता के कुल और संस्कृति के अनुसार करना होता था।

प्रत्येक युग की सुविधा और असुविधाओं ने स्त्री-पुरुष के बन्धन को विशेष रूप से प्रभावित किया है और प्राय. वह प्रभाव स्त्री की स्थिति में अधिक अन्तर लाता

रहा। शासकों में उसके प्रतिनिधियों की संख्या शून्य-सी रही है, अतः उसके सब विधान पुरुष को सुविधा को केन्द्र-विन्दु बना कर रचे गए, अन्यथा दोनों की स्थिति में इतनी विभिन्नता न होती। आध्यात्मिकता का सूक्ष्म अवलम्ब लेकर पुरुष के प्रति उसका जो कर्तव्य निश्चित किया गया है, उसमें उसके या समाज के हानि लाभ का विशेष ध्यान नहीं रखा जा सका, यह स्पष्ट है। पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध केवल आध्यात्मिक न होकर व्यावहारिक भी है, इस प्रत्यक्ष सत्य को समाज न जाने कैसे अनदेखा करता रहा है। व्यावहारिकता में एक व्यक्ति को दूसरे के लिये जो त्याग करना पड़ता है, उसके उपयुक्त मानसिक स्थिति उत्पन्न कर देना आध्यात्मिकता का कार्य है और आध्यात्मिकता में जिस यथार्थता का स्पर्श हम भुला देते हैं, उसे स्मरण कराते रहना व्यावहारिकता का लक्ष्य है। जब तक दाम्पत्य सम्बन्ध में पशुत्व, देवत्व में धुल कर नहीं आता और देवत्व साकार बन कर नहीं अवतीर्ण होता, तब तक वह अपूर्ण ही रहेगा।

जैसे-जैसे हमारा समाज अपने आधे सदस्यों से अधिकारहीन बलिदान और आत्म-समर्पण लेता जा रहा है, वैसे-वैसे वह भी अपने अधिकार खोता जा रहा है, यह समाज के असन्तोषपूर्ण वातावरण से प्रकट है।

वर्तमान समाज

आज के समाज की जो स्थिति है, उसकी उपयुक्त परिभाषा कठिनाई से दी जा सकेगी। वह कुछ विशेष अधिकार-सम्पन्न और कुछ नितान्त अधिकार-शून्य व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो उपयोगिता की नहीं वरन् परम्परागत धारणा से बँधा है। कहीं संतोष की अतिवृष्टि है और कहीं असंतोष की अनावृष्टि, जिससे सामाजिक जीवन का सामञ्जस्य नष्ट होता जा रहा है।

हमारा समाज अब प्राचीनकाल का सुसङ्गठित मानव-समूह नहीं रहा जिसके हाथ में राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी व्यवस्थायें थीं। अब भिन्न-भिन्न समाज स्वयं अपना शासन नहीं करते अतः सदस्यों में वह सम्बन्ध रहना सम्भव नहीं जो प्राचीन सङ्गठनों में मिल सकता था। इस प्रकार शासन-सत्ता से हीन हो कर समाज दण्ड और पुरस्कार की विशेष क्षमता नहीं रखता। आरम्भ में उसने अपनी इस क्षति की पूर्ति का साधन धर्म को बनाया, जिससे सामाजिक बन्धन बहुत कठिन और दुर्वह हो उठे। धर्म जब मनुष्य के भावना-द्वार से हृदय तक पहुँचता है तब उसके प्रभाव से मनुष्य की विचार-धारा वैसे ही विकसित हो उठती है जैसे मलय-समीर से कली। परन्तु वही धर्म जब मनुष्य की बुद्धि पर बलात् डाल दिया जाता है तब वह अपने भार से मनुष्य की कोमल भावनाओं को कुचल-कुचल कर निर्जीव और रसहीन बनाये बिना नहीं रहता। धर्म का शासन हमारे जीवन पर वैसा ही प्रयासहीन होना चाहिये, जैसा हमारी इच्छा-शक्ति का आचरण पर होता है। सप्रयास धर्म जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। न वह जीवन की गहराई तक पहुँच सकता है और न उस की प्रत्येक शिरा में व्याप्त होकर उसे रसमय ही कर सकता है। बीज को हम वृक्ष की सबसे ऊँची डाल के अग्र भाग के साथ बहुत ऊँचाई तक पहुँचा सकते हैं, परन्तु वहाँ उसे जमा सकना हमारी क्षमता के बाहर की बात है। उसे अङ्कुरित होकर आकाश छूने के लिए पहले पृथ्वी की गहराई में जाना होता है, यह प्रकृति का अटल नियम है। शासन-सत्ता के साथ, समाज को अन्य सामाजिक संस्थाओं की व्यवस्था पर भी अपना प्रभुत्व कम करना पड़ा जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज और सामाजिक संस्थाएँ विकास के मार्ग में साथ-साथ न चल सकीं। नवीन परिस्थितियों में, समाज के सदस्यों को सुसङ्गठित होकर एक स्थान में बसने की सुविधा न मिलना भी सामाजिक बन्धन की शिथिलता का कारण बन गया। कुछ व्यक्तिवाद ने और कुछ समाज की अव्यावहारिकता ने मनुष्य को अपनी सामाजिक उपयोगिता भूल जाने पर बाध्य कर दिया।

इस प्रकार अनेक वाह्य और आन्तरिक, प्रकट और अप्रकट कारणों ने समाज का वह रूपान्तर कर डाला जिससे सामूहिक रूप से हमारी हानि हुई। कुछ प्राकृतिक परिस्थितियों पर हमारा वश नहीं था, यह सत्य है, परन्तु यदि हम उनके अनुरूप सामाजिक सङ्गठन कर सकते तो ऐसी अराजकता नितान्त असम्भव हो उठती।

इस समय समाज से हमारा अभिप्राय सम्प्रदाय विशेष या जाति विशेष ही रहता है, जिसके भिन्न-भिन्न स्थानों में फैले हुए सदस्यों के आचरण और रीतियों में एक विशेष समानता रहती है। कुछ समय पूर्व तक यह समाज अपने इने गिने अधिकारों का प्रयोग विवेकशून्य निष्ठुरता के साथ करता रहा, परन्तु इससे बँधने के स्थान में सारे सदस्य दूर दूर होते गए। अब तो विवाह आदि के समय ही व्यक्ति अपने जाति-भाइयों की खोज करता है, परन्तु यह अनिवार्यता भी धीरे-धीरे शिथिल होती जा रही है।

प्रत्येक जाति और सम्प्रदाय में कुछ उग्र विचार वाले, कुछ नवीनता के संयत उपासक और कुछ रूढ़िवादी अवश्य मिलेंगे। इनके बिखर जाने के कारण कुछ समाज ऐसे भी बन गये हैं जिनका आधार विचारधारा है, जाति या सम्प्रदाय नहीं। परन्तु जाति के सङ्गठन में यदि उपयोगिता का अभाव है तो इनमें व्यावहारिकता की शून्यता है। उग्र विचारवालों में विचार के अतिरिक्त और कोई समानता नहीं, संयत विचारवालों में पर्याप्त साहस नहीं और रूढ़िवादियों में व्यवहारकुशलता नहीं। समाज को ऐसा अपरूप रूप देने का कुछ श्रेय पाश्चात्य सभ्यता को भी देना होगा, क्योंकि उसके अभाव में ऐसे परिवर्तन प्राकृतिक ढङ्ग से आते। एक विदेशीय संस्कृति में पला समाज जब शासक के रूप में आ जाता है तब शासित जाति के सङ्गठन में कुछ आकस्मिक परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक ही है। कोई भी पहले से प्रतिष्ठित संस्कृति न एकदम पराजय स्वीकार कर सकती है और न विजेय में एकान्त विश्वास ही रखती है। शासक और शासित समाज का सङ्घर्ष उच्छृङ्खल भी हो सकता है और संयत भी यह ऐतिहासिक सत्य है। किसी समय भारतीय संस्कृति और समाज को मुस्लिम संस्कृति से लोहा लेना पड़ा था और उस अग्निवर्षा से वह अक्षत निकल आई। इस विजय का कारण उस सङ्घर्ष का वाह्य और उच्छृङ्खल होना ही कहा जा सकता है। किसी जाति की संस्कृति उसके शरीर का वस्त्र न होकर उसकी आत्मा का रस है, इसीसे न हम उसे बलात् छीन सकते हैं और न चीर-फाड़ कर फेंक सकते हैं। उस रस का स्वाद बदलने के लिए तो हमें उससे अधिक मधुर औषधि पिलाना पड़ेगी। जब-जब बाहर की संस्कृति विवेकशून्य होकर आई, तब-तब उसे पराजय ही हाथ लगी, परन्तु जब उसने विवेकबुद्धि से काम लिया, तब वह अपने पीछे विजय की ज्वलन्त कहानी छोड़ती गई है।

पाश्चात्य संस्कृति ने हमें युद्ध की चुनौती न देकर मित्रता का हाथ बढ़ाया, इसीसे हमारा उससे कोई वाह्य सङ्घर्ष भी नहीं हुआ। वह हमारी अनेक सामाजिक संस्थाओं में प्रवेश पाते-पाते हमारे हृदय में प्रविष्ट हो गई और इस प्रकार बिना किसी संघर्ष के भी हमारे जीवन को उतना ही प्रभावित कर सकी, जितना स्वयं हमारी संस्कृति कर सकती थी। उसकी उपयोगिता या अनुपयोगिता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जाता रहा है और कहा जाता रहेगा, परन्तु इतना दोनों ही दशाओं में सत्य है कि उसने हमारे सामाजिक दृष्टिकोण को बहुत बदल दिया है। शासक संस्कृति होने के कारण यह अन्य संस्कृतियों के समान हमारी संस्कृति में विलीन होना नहीं चाहती, अन्यथा इससे हमारे विकास में कोई विशेष बाधा न पहुँचती। वर्तमान परिस्थितियों में उसने हमारे शिथिल समाज के भीतर एक ऐसे समाज का निर्माण कर दिया है, जिसकी आत्मा भारतीय और शरीर अभारतीय जान पड़ता है। इसे न हम साथ ले चल सकते हैं और न छोड़ सकते हैं। वह पश्चिमीय विचारधारा में बहकर भी उससे शासित नहीं होता और भारतीयता में जीवित रह कर भी उससे प्रभावित नहीं होता।

सङ्गठन की इन असुविधाओं के साथ-साथ विषम अर्थ विभाजन और स्त्री की स्थिति समाज की नींव को खोखला किये दे रही हैं। इसका उत्तरदायित्व समाज और शासन-विभाग दोनों पर है सही, परन्तु उस वैपरीत्य से उत्पन्न अव्यवस्था का अधिकांश समाज को मिलता है। केवल शक्ति से शासन हो सकता है, समाज नहीं बन सकता, क्योंकि इसकी भित्ति मनुष्य के स्वच्छन्द सहयोग पर स्थिर रहती है। निरङ्कुश शासन, शासक का अन्त कर सकता है, परन्तु निरङ्कुश समाज मनुष्यता को समाप्त कर देता है।



भारत की प्राक्ऐतिहासिक सभ्यता

[श्री० नगेन्द्रनाथ घोष, एम० ए०, एल० टी०]

प्राचीन भारतीय सभ्यता के विषय में कुछ विशेष बातों के जानने के पूर्व सिन्ध नदी की घाटी में मिली हुई भारत की प्राचीन सभ्यता की द्योतक सामग्रियों का जान लेना परमावश्यक है। प्राक्ऐतिहासिक काल की सभ्यता की प्राचीन वस्तुएँ, जो कि बिलोचिस्तान के कलात स्टेट में प्राचीन ऐतिहासिक 'नाल' नामक स्थान में ज्ञात हुई हैं, ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भारत के पश्चिमोत्तर सीमा की सभ्यता को प्रमाणित करती हैं। जितनी वस्तुएँ एकत्रित की गई हैं उनमें ताँबे की चीजें, हथियार, मालायें और सुन्दर रँगे हुए पात्र हैं। इन वस्तुओं से उस काल की जो सभ्यता प्रकट होती है, वह उस सभ्यता से भिन्न है जो मोहनजोदरो में खोदी जाने से मिली है, और जिसका कि वर्णन हम आगे करेंगे। इसका बहुत कुछ साम्य फ़ारस और मेसोपोटामियाँ की रँगी हुई कोठियों से है। ये प्राचीन वस्तुएँ क्वेटा के अजायबघर में सुरक्षित हैं। हरप्पा और मोहनजोदरो में जो खुदाई हुई है उसका परिणाम बहुत अच्छा हुआ। खुदाई द्वारा निकले हुए पदार्थो से एक उच्चकोटि की सभ्यता तथा शिष्टता का पता चला है। इससे यह बात पूर्णरूपेण सिद्ध होती है कि सिन्ध नदी की घाटी के इन स्थानों के निवासी प्राक् ऐतिहासिक काल में बहुत सभ्य थे। इन दोनों स्थानों में मिली हुई धातुओं द्वारा जिस सभ्यता का पता चला है वह तात्कालिक तथा देखने में समान प्रतीत होती है, और दोनों स्थान सिन्ध नदी की घाटी की एक ही रेखा पर वर्तमान भी हैं। हरप्पा पञ्जाब के मान्टगोमेरी जिले में तथा मोहनजोदरो सिन्ध नदी के नीचे सिन्ध प्रान्त के लरकाना जिले में स्थित है। आर्कलोजी (पुरातत्व) के भूतपूर्व डाइरेक्टर सर जॉन मारशल द्वारा विस्तृत तथा सम्यक् रूप से वर्णित तीन भागों में प्रकाशित ग्रन्थ से, जिसमें मोहनजोदरो की खोज का वर्णन है, यह ज्ञात होता है कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों द्वारा मालूम किया हुआ वहाँ पर एक सुन्दर नगर था। समय का पता उस मुहर द्वारा चलता है, जो कि ईसा के ३५०० वर्ष पूर्व मेसोपोटामिया की एक मुहर से मिलती-जुलती है। मकान सूर्य की प्रचण्ड और तप्त किरणों द्वारा पकाई गई ईंटों तथा कीचड़ से बनाये जाते थे। सड़कें आजकल के नगरों की सड़कों की तरह कक्षाबद्ध बनी हुई थीं। अधिकांश मकानों में कूप थे, जिससे गृहस्थी का कार्य सरलतापूर्वक चलता था। इन कूपों के पार्श्व में स्नानागार बने हुए थे। शहरों में नालियाँ बनी हुई थीं, जो कि प्रत्येक मकान के पीछे की सड़कों तक चली गई थीं और वहाँ से सड़क के किनारे से बहने वाली गहरी नालियों से मिलकर नगर की बाहरी सीमा तक चली जाती थीं। इस बात का पता उस काल के बने हुए चित्रों से चलता है। भवनों की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई तथा बनावट का ढङ्ग और आकृति देखकर इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि इन स्थानों के निवासी उच्च कोटि का जीवन व्यतीत करते थे। लोगों के सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन का कलेवर शिष्ट तथा चातुर्यपूर्ण था। सामाजिक तथा राजनैतिक विषयों में उन लोगों ने बड़ी उन्नति की थी। इन बातों का प्रमाण वहाँ की बहुत सी इमारतों तथा स्तम्भयुक्त विशाल कमरों द्वारा चलता है, जो कदाचित् बड़ी बड़ी सभाओं के लिए बने-

हुए थे, जिनमे राज्य-सम्बन्धी समस्याएँ हल की जाती थीं।

लोग मूर्तिपूजा करते थे। इस सिद्धान्त की पुष्टि शिव की मूर्ति से होता है, जो आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। मिट्टी के चित्रों में भली-भाँति बनी हुई शीर्ष की सजावट और अनेकों प्रकार के पहनाये हुए आभूषण, जैसे गले का हार और श्रवण-कुण्डल आदि इस बात को भली भाँति प्रदर्शित करते हैं कि उस समय देवियों की भी पूजा होती थी। अनेक मुहरों द्वारा, जिन मुहरों का चित्र मिट्टी का बना हुआ है, इस बात का उदाहरण मिलता है कि उस समय जानवरों की भी पूजा होती थी। बड़ी बड़ी भव्य मूर्तियाँ भी इस बात को प्रकट करती है। एक अर्द्ध मनुष्य तथा अर्द्ध गाय की शक्ल का जन्तु जिसे सुमेरियन ईश्वर यूकिडू कहते है, तथा अर्द्ध मनुष्य और अर्द्ध पशु के रूप के नागे भी इसी कोटि में आ जाते है। मोहनजोदरो में भी देवी देवताओं जैसे सूर्य आदि की पूजा के प्रमाण स्पष्ट रूप से मिलते हैं।

लोग घरेलू जानवरों, भेड़, कुक्कुट, भैंसा, ऊँट, हाथी तथा मृग आदि को पालते थे, यह बात मुहरों पर बने हुए उनके चित्रों से सिद्ध होती है। वे लोग चीते तथा बन्दरों से परिचित थे। मिट्टी के बर्तनों की खोज से, जिसमें अन्न के चिन्ह पाये जाते है, यह बात सिद्ध की जाती है कि सिन्ध नदी की घाटी के लोग गेहूँ और जौ की खेती करते थे। खुदाई के समय भिन्न-भिन्न प्रकार के मिले हुए आभूषणों द्वारा अन्वेषक इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि वे सोने, चाँदी, ताँबे तथा जस्ते को उपयोग में लाना जानते थे। वे एक प्रकार की बहुमूल्य धातु, हाथी-दाँत, हड्डा तथा सीपी के आभूषण पहनते थे। रुई और ऊन का लम्बा चोगा (लबादा) पहनते थे। इन बातों से यह व्यञ्जित होता है कि वे केवल सभ्य और शिष्ट ही नहीं थे, वरन् धनवान तथा समृद्धिशाली भी थे।

लोग बहुत धार्मिक तथा विचारवान थे। इस बात का अनुमान अत्यधिक संख्या में वर्तमान समय में भी सुरक्षित मनोरम मन्दिरों द्वारा किया जाता है। इन मन्दिरों में लोग माँ और तीन सिर वाली शिव-मूर्ति की पूजा करते थे।

युद्ध में प्रयोग किये जाने वाले अस्त्र-शस्त्र धनुष-बाण, भाला, रेल तथा कुल्हाड़ा आदि थे। इसी प्रकार के हथियारों की चर्चा ऋग्वैदिक काल के आर्यों द्वारा ऋक्संहिता में हुई है। परन्तु तलवार तथा अन्य शरीर-रक्षक हथियार जैसे कवच तथा टोप आदि जिन का प्रयोग ऋग्वैदिक काल के आर्य किया करते थे, सिन्ध नदी की घाटी के वासी नहीं करते थे, क्योंकि ये चीजें मोहनजोदरो में नहीं मिली हैं। खेलने की भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं जैसे ढोल, सीटी, झुनझुना, काठ की छोटी गाड़ी, छोटे-छोटे अन्न रखने के बर्तन तथा जल के घड़े आदि से यह पता चलता है कि लड़कों के खेलने तथा उनके सुख और प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करने का क्या महत्व है, इस बात को वे भलीभाँति जानते थे। जुआ खेलने के बहुत से सामान पाये जाते है, जिससे इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि वे द्यूत क्रीडा के बहुत बड़े प्रेमी थे।

ध्यान देने योग्य खोज पूर्ण वस्तुओं में वे मुहरें है, जिन पर चित्र बनाने का कौशल प्रदर्शित किया गया है, और जिनका प्रयोग प्राक्ऐतिहासिक फारस तथा सुमेरिया में हुआ है। साँड़, भैंसे तथा एक प्रकार के सिंह विशिष्ट कल्पित जन्तु आदि के सुन्दर सुन्दर चित्र मुहरों पर दिखाई देते है, जिससे इस कला में इनका ज्ञान सम्यक् प्रकारेण प्रतीत होता है। ये मुहरें अब भी पुरातत्व की खोज करने वाले उन विद्वानों को भ्रम में डाल देती है जो इनके रहस्य को भली-भाँति नहीं जान पाते। लॉग्डन, स्मिथ तथा गड आदि जैसे सुमेरिन विद्वान इस दुर्बोध विषय को स्पष्ट करने के लिए अत्यधिक काल तक इस कार्य में प्रवृत्त रहे, परन्तु परिणाम बहुत अच्छा न हुआ। ये लोग इस विषय की विशद व्याख्या करने में आगे न बढ़ सके। भारतीय विद्वानों में 'हिन्दू विश्वविद्यालय' के प्रोफ़ेसर डॉक्टर प्राणनाथ जी प्रकट करते है कि 'हमने इस दुर्बोध विषय की जो व्याख्या की है, उसका आधार मात्र वह कुञ्जी है जिसको कि हमने सिन्ध नदी की घाटी, क्रीटन शिलालेख तथा फारस के प्राक् ऐतिहासिक

काल के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा तैयार किया था'। आपका कहना है कि 'सिन्ध नदी की घाटी के शिला-लेखों का प्रारम्भ संस्कृत भाषा से है।' प्रयाग में जो क्रमशः कई सभाएँ हुईं और उन सभाओं में से एक सभा में, जिसके सभापति का पद लेखक ने स्वयं ग्रहण किया था, अपने विचार को प्रकट किया था। विद्वान डॉक्टर ने अपने शब्दों तथा मात्राओं के रूपों द्वारा सिन्ध के शिलालेखों का अर्थ पर्दे पर दिखा कर वर्णन किया था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दुनिया इनके इस सिद्धान्त को कि "सिन्ध नदी की घाटी के शिला-लेखों की उत्पत्ति संस्कृत भाषा से हुई है" नहीं मान रही है। और न यही मानती है कि इनकी व्याख्या के नियम ठीक तथा समुचित हैं। सन्तोषजनक व्याख्या के नियमों द्वारा ही इस प्रश्न का समुचित उत्तर मिल सकता है कि मोहनजोदरो तथा हरप्पा में जो खुदाई हुई है, उसके द्वारा विकसित प्राकृऐतिहासिक सभ्यता भारतीय है अथवा विदेशी। यदि यह सभ्यता विदेशी है तो इससे यह अनुमान स्पष्ट रूप से किया जा सकता है कि जिस तरह ग्रीक लोगों ने तथा अरब-वासियों ने भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा सिन्ध में बहुत थोड़े दिनों तक शासन किया था, उसी तरह यहाँ भी किसी विदेशी जाति ने विजयोपरान्त अल्प काल तक शासन किया होगा एवं थोड़े दिनों तक उस जाति विशेष के ठहर जाने के कारण उसकी सभ्यता का प्रभाव शासित लोगों पर पड़ा होगा। यदि यह सभ्यता भारतीय है तो इससे इसका सम्बन्ध द्रविड़ सभ्यता से होना ही प्रकट होता है।

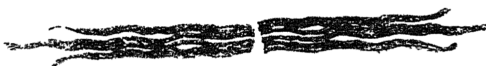
गीत

[श्री० आरसीप्रसाद सिंह]

मेघ-नगर-निवासिनी;
रूपसी तुम कौन हो
आकाश-मार्ग-विलासिनी ?

अश्रुमय संसार में;
बादलों के लोक-दुर्लभ
अन्ध-कारागार में!
वन्दिनी रोती कहो, क्यों
चपल विद्युत-हासिनी ?

सजल दृग-कलि-दल धुले,
विरह का उच्छ्वास भर
सुरचाप के कुन्तल खुले!
विकल वर्षानिल तुम्हारे
शोक से स्मित-भाषिणी!



प्राचीन भारतीय समाज की एक झलक

[श्री० बाबूराम सक्सेना, एम० ए०, डी० लिट्०]

भारतीय समाज का आदर्श स्मृति ग्रन्थों में सन्निहित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, यह चार वर्ण, ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास यह आश्रम, गृह में गृहिणी का एकाधिपत्य आदि कुछ मुख्य-मुख्य बातें सर्व-परिचित हैं।

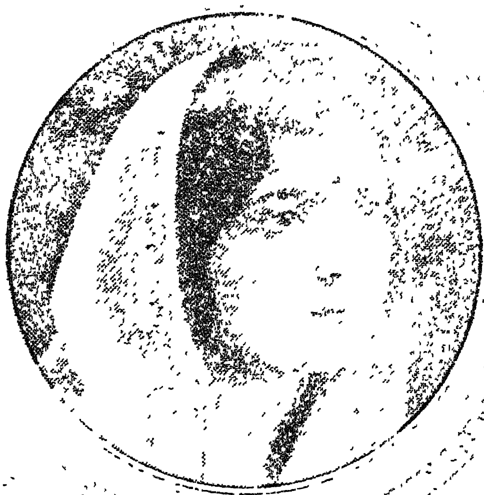
ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि राजनीतिक उथल-पुथल प्राचीन भारत में भी प्रचुर मात्रा में होती रही है, तथापि भारतीय समाज एक सुसङ्गठित अवस्था में बराबर रहा। वर्णपरिवर्तन के उदाहरण दो ही चार मिलते हैं। प्राय आर्यों के इस देश में पैर जमा लेने के कुछ शताब्दियों के भीतर ही जन्म से वर्ण निर्धारित हो गया था। अन्यथा बुद्ध भगवान को गाथाओं पर गाथाएँ इस अभिप्राय से न कहनी पड़तीं कि असली ब्राह्मण कर्म से होता है, जन्म से नहीं। मनुस्मृति में भी बराबर इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि जो ब्राह्मण सन्ध्या वन्दन आदि नित्य- कर्म नहीं करता उसे शूद्र की तरह द्विजों के सब कार्यों से पृथक् कर देना चाहिए।

चारों वर्णों में सब से ज़्यादा अधिकार ब्राह्मण का था। किसी की हत्या कर डालने पर भी केवल देश बहिष्कार ही ब्राह्मण के लिए दण्ड था। (मनुस्मृति ८, ३७८–८१) । अन्य प्रकार से भी ब्राह्मण के अधिकार सर्वोच्च थे। वह अपने वर्ण के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों से भी विवाहार्थ कन्या ले सकते था। क्षत्रियों का लड़ना और लड़ाई में आह्वान होने पर मना न करना श्रेष्ठ धर्म था। दासता की प्रथा का काफी चलन था और दास न भागने पावें, इसकी विविध विधियाँ प्रयोग में लाई जाती थीं। पञ्चम वर्ण चाण्डाल आदि समुदाय के अस्तित्व के काफी प्रमाण मिलते हैं। उनका स्पर्श ही नहीं, उनका दर्शन भी कभी-कभी पाप समझा जाता था (सुत्तनिपात १-७ २५ में मातङ्ग की कथा का उल्लेख)। पञ्चम वर्ण को छोड़कर अन्य वर्णों में अस्पृश्यता अथवा खाने-पीने के विषय में भेद-भाव के प्रमाण नहीं मिलते। छान्दोग्य उपनिषत् मे तो आपत्काल में एक महावत के जूठे उरद एक ऋषि महोदय बड़े स्वाद मे खाते हुए देखे गये हैं।

आश्रमों में ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य का पालन विधिपूर्वक होता था, पर वानप्रस्थ और सन्यास का नहीं। बौद्ध ग्रन्थों में बीसियों उदाहरण मुफ्तखोर मुण्ड परिव्राजकों, जटिलों, नागों और अग्नि-परिचारिकों के समुदायों के आते हैं, जिनका जीवननिर्वाह भिक्षा के द्वारा होता था और जो मस्त घूमते फिरते थे। इस देश में उस समय सम्पत्ति भरी पूरी थी, तभी इनका परिपालन सम्भव था। गार्हस्थ्य का दूसरा नाम घोराश्रम पाया जाता है। सचमुच ही इस प्रकार सभी सम्प्रदायों के भिक्षु परिव्राजकों का परिपालन घोरता लिए हुए ही होता होगा।

स्त्रियों के पढे-लिखे होने के उदाहरण काफी मिलते हैं। कवियित्रियाँ भी यथेष्ट मात्रा में थीं, परन्तु स्त्री-जन साधारण में शिक्षा का अभाव था। अन्यथा स्त्री मात्र से नाटकों में प्राकृत बुलवाना और शिक्षित पुरुषों से सस्कृत का प्रयोग करवाना कोई अर्थ नही रखता।

विवाह में कन्या-प्रदान की प्रथा थी। जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि किसी विवाह सम्बन्ध के स्थिर करने में कन्या की स्वीकृति की कोई प्रथा नही थी। आठ प्रकार के विवाहों में केवल गान्धर्व विवाह में कन्या की सम्मति का उल्लेख आता है, अन्य सात तरह के विवाहों में उल्लेख है केवल कन्या के पिता का और वर का। असवर्ण विवाह की सन्तान का वह मान तथा अधिकार नही था, जो सवर्ण विवाह से उत्पन्न सन्तान का। स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार बहुत सीमित था, भाइयों को बहिनों की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त थे।







साधारण स्थिति के लोगों में पर्दे की प्रथा नहीं थी। स्त्री और पुरुष स्वच्छन्दता से सब कहीं आते-जाते थे। परन्तु राजा-महाराजाओं में अवश्य स्त्रियों पर कड़े बन्धन थे। महाभाष्यकार ने एक सूत्र के उदाहरण-स्वरूप "असूर्यंपश्या राजदाराः" (राजा की पत्नी सूर्य नहीं देख पातीं) का प्रयोग किया है, जिससे स्पष्ट है कि रानियों को वह स्वतन्त्रता नहीं थी जो अन्य स्त्रियों को प्राप्त थी। शकुन्तला जब दुष्यन्त की सभा में आई तो अवगुण्ठन (घूँघट) वाली कही गई है। यह कालिदास का वर्णन है। इसके विपरीत वैदिक काल में राजसूय यज्ञ में राजा के साथ महारानी बैठती थी। नाटकों में रानियों के राजसभा में आने के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। परन्तु "अवरोध" तथा "अन्तःपुर" शब्दों से विदित होता है कि स्त्रियाँ सुरक्षित अलग स्थानों में रहती थीं।

पढ़ाई-लिखाई का प्रचुर प्रबन्ध था। विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त बहुधा ग्रामों में पाठशालाएँ थीं, जिनमें तपस्वी, त्यागी ब्राह्मण पढ़ाने-लिखाने का कार्य करते थे। राजा यथेष्ट रूप में इनकी सहायता करता था। ब्रह्मचारियों की भिक्षा से भी उनकी जीविका का निर्वाह होता था। उपनिषत्काल में ब्रह्मविद्या का ज्ञान दो-एक राजाओं को विशेष मालूम था। उनके पास उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े तेजस्वी ब्राह्मण भी जाते थे। इससे स्पष्ट है कि विद्या-प्राप्ति के लिए वर्णों का अनिष्ट भेद निर्मूल समझा जाता था।

खाने-पीने की चीज़ों में मिष्ठान्न, गुड़धानी, पुरोडाश, खीर, फल, मूल, शाक इत्यादि का उल्लेख बराबर मिलता है। पालि साहित्य में खाद्य और भोज्य, इस प्रकार खाने की चीज़ों के दो भेद किये गये हैं—एक नरम खाना दूसरा कड़ा। जैन ग्रन्थों में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इस प्रकार चार भेद खाने पीने की चीज़ों के हैं। तरह-तरह की सुगन्धों और शर्बतों, सिर में लगाने के तेलों, उबटनों का बराबर उल्लेख मिलता है। बाण के हर्ष-चरित में धूम्रपान का भी एक जगह उल्लेख आता है। वास्तु-शास्त्र में विविध प्रकार के मन्दिरों और घरों का उल्लेख है। महाभारत में उल्लेख है कि हर एक अच्छे गाँव और शहर में एक सभाभवन होता था, जहाँ अतिथि लोग आकर ठहरते थे। सुत्तनिपात की टीका में एक भिक्षु के "सभिय" नाम की टीका करते हुए कहा गया है कि इसकी माता सभा में ठहरी हुई थी, वहीं इसका जन्म हुआ, इसलिये इसका नाम "सभिय" पड़ा। इस सभा-भवन में द्यूत आदि मनोविनोद के खेल भी होते थे। इस प्रकार यह आजकल के क्लब-भवनों की तरह की संस्था थी, जिसमें अतिथिशाला भी सम्मिलित थी।

मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि हर्षवर्धन (६०६—६४८ ई०) के शासन-काल तक इस देश में जात-पाँत का बखेड़ा इस उग्ररूप में नहीं था, जैसा आज है। वर्णों में परस्पर विवाह के उदाहरण दसवीं शताब्दी तक के मिलते हैं। कर्पूर-मञ्जरी के कर्त्ता प्रसिद्ध कवि राजशेखर स्वयं ब्राह्मण थे, परन्तु उनकी गृहिणी चौहान कुल की कन्या थीं। जातियाँ बहुधा पेशे पर निर्भर थीं—तेली, कुम्हार, चमार, ज्योतिषी, कायस्थ आदि शब्द उनके पेशों के द्योतक थे, उनके वर्ण के नहीं। मुसलमानों के पूर्व आई हुई सभी विदेशी जातियाँ आज के भारतीय हिन्दू समाज में अन्तर्हित हैं। कौन कह सकता है कि ब्राह्मणों अथवा क्षत्रियों में कौन-कौन से परिवार आर्य हैं, कौन द्रविड़, कौन शक, कौन यवन और कौन तुर्क अथवा हूण। विवाह और खाने-पीने के बन्धन नहीं थे।

इस प्रकार भारतीय समाज प्राचीन समय में एक जीता-जागता कर्मशील समाज था। आज की तरह निखट्टू, अकर्मण्य, बात-बात में आपस में लड़ने वाला नहीं। इतना निश्चय है कि मुसलमानों के आक्रमण के समय तक काफ़ी गिरावट आ चुकी थी। उस समय कुछ दूरदर्शी महानुभावों ने समाज को छोटी-छोटी टुकड़ियों में विभक्त कर दिया, जिसमें विदेशी आक्रमणकारी इसको हड़प न जावें।

वह समय अब नहीं है। भारतीय हिन्दू समाज एक बार फिर अपनी आत्मा की पहचान करने लगा है। आशा है कि अब इसके अङ्ग अलग-अलग परस्पर-विरोधी न रहेंगे और यह एक सर्वाङ्गपूर्ण बलिष्ठ शरीर वाला समाज कहला सकेगा।



[श्रीमती तोरनदेवी शुक्ल 'लली']

क्षण-क्षण परिवर्तनमय जग मे क्या पीड़ा है क्या रोदन ?

पीडा कब कितनी जानी हे चिरसुख के दीवानो ने,
पीड़ा का क्या परिचय पाया प्रियतम के मस्तानो ने ?

उनके प्रति होता रहा सदा सुख का ही नित नव नर्तन ।
क्षण-क्षण ...

साधक के अडिग साधना-पथ मे कब आई बाधाये ?
वह थे उनके सुख साज, सजनि जिनको समझी विपदाये !

अणु-अणु मे है आनन्द होगया जहाँ सहज मन पावन ।
क्षण-क्षण .

आने मे थी शान्ति 'लली' जाने का हे सुख सपना,
जो अखिल विश्व मे देख रही वह सब कुछ मेरा अपना,

मङ्गलमय का वरदान यही मङ्गलप्रद सब जड चेतन ।
क्षण-क्षण

पीडा को पीछे छोड़ पा सकी हूँ सुख का मुसकाना,
मेरे जीवन के ध्येय, तुम्हीं आकर मुझसे मिल जाना ।

स्थिर होकर नित रहना सीखो सुन्दरतम ओ भोले मन !
क्षण-क्षण परिवर्तनमय जग मे क्या पीड़ा है क्या रोदन ।

सामाजिक-जीवन की समस्या

[श्री० प्रेमनारायण अग्रवाल, एम० ए०]

विदेशी रीति रिवाज, रङ्ग-ढङ्ग, सभ्यता आदि में टकराने के कारण भारत के सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। जब दो प्रकार की बातें एक दूसरे से सङ्घर्ष करती हैं, तब उनका प्रभाव दोनों पर कुछ न कुछ पड़ा ही करता है। यदि उनमें से एक परतन्त्र हो और दूसरी उस परतन्त्र देश की शासक तो, पराधीन देश पर उस देश की सभ्यता का ही अधिक प्रभाव पड़ता है, जो बहुत व्यापक होता है। दासत्व में रहने के कारण भारत के सामाजिक जीवन पर इङ्गलैण्ड की सभ्यता का भारी असर हुआ है और यह धीरे-धीरे व्यापक रूप धारण करता जा रहा है।

इधर कुछ वर्षों से कितने ही कारणों से भारत के सामाजिक क्षेत्र में विशेष-विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे है। सम्भवतः शिक्षा का प्रचार, विदेश-यात्राएँ, विदेशी रङ्ग-ढङ्ग से प्रभावित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि आदि इसका कारण हैं। जिन बातों का असर अभी तक थोड़े व्यक्तियों तक होता, वे अब समाज के अङ्ग प्रत्यङ्ग में प्रवेश करने की कोशिश कर रही हैं।

एक ओर भारत के सामाजिक-जीवन में यह परिवर्तन हो रहे हैं और दूसरी ओर भारत में गरीबी बढ़ रही है। इन दोनों से जो परिस्थिति उत्पन्न हो रही है वह बड़ी गम्भीर है। गरीबी के न बढ़ने पर सामाजिक तब्दीलियाँ देश के पिछड़े हुये जीवन को आगे बढ़ाने में तथा राष्ट्रीय-विकास के मार्ग में लाभदायक हो सकती थीं परन्तु गरीबी के बढ़ने में उनका उल्टा असर हो रहा है। बजाय कुछ लाभ के, हमारी राय में, नुकसान ही हो रहा है। नये-नये परिवर्तनों को अपनाने के लिये अधिक धन की आवश्यकता होती है, जिसका यहाँ अभाव है और यह अभाव बढ़ता ही जा रहा है।

विदेशी सभ्यता के कारण शिक्षित समाज का जीवन-मान ऊँचा उठता जा रहा है। उनका सम्बन्ध अपने समाज से छूट रहा है और एक नवीन समाज का निर्माण हो रहा है, जिसमें अधिकतर सरकारी नौकर हैं और हैं कुछ और ऊँची-ऊँची तनख्वाह पाने वाले भारतीय। इस नवीन निर्मित समाज की दशा अभी विचित्र है। न तो वह कोई स्वतन्त्र रूप धारण कर सका है, और न उसका सम्बन्ध किसी अन्य समाज से है। अभी तो यह परिवर्तन मात्र है, कुछ समय बाद अवश्य यह एक स्वतन्त्र अस्तित्व कायम कर सकेगा।

इस नये सङ्गठित समाज तथा भारत के असली समाज के बीच में एक समाज और है, जो आगे बढ़ कर नये समाज में जज़्ब होना चाहता है। इस समाज की संख्या बहुत बड़ी है और पहिले वाले की कम। अभी तक इनकी स्थिति ऐसी है, जो किधर की भी नहीं कही जा सकती। पीछे तो रहना वह नहीं चाहते, आगे बढ़ने के लिये कितने ही साधनों का अभाव है। इस परिस्थिति के कारण उनका जीवन अत्यन्त सङ्घर्षमय हो रहा है। पीछे वालों से उनका अधिक सम्पर्क है बजाय आगे वाले से, क्योंकि आगे वाला समाज अधिक Aristocratic होता है।

आगे बढ़े हुये समाज में नये प्रकार की रीति रिवाजें प्रचलित होती जा रही हैं। उनका सामाजिक जीवन

अपने ढङ्ग से सङ्गठित हो रहा है। उन्होंने पुरानों को छोड़ कर नये नये तरीकों को अपना लिया है। बीच के समाज के तौर-तरीके न तो पिछले समाज के हैं और न नये समाज के, इससे उनकी परिस्थिति में एक भीषणता आ जाती है और परेशानियां भी बढ़ जाती हैं।

जीवन को आनन्द में व्यतीत करने के लिये प्रत्येक समाज में कुछ नियम-क़ायदे सदा से होते आये हैं। बिना उनके जीवन में कटुता, उच्छृङ्खलता, नीरसता आदि अनेक बातें आ जाती हैं, जिससे मनुष्य को अपना जीवन व्यर्थ तथा भार सा प्रतीत होने लगता है। पग-पग पर उसे अनेक प्रकार की दिक़्क़तों का अनुभव होता है।

ऊपर हम लिख ही चुके हैं कि नये आगे बढ़े हुए समाज ने भी अपने जीवन को सफल तथा आनन्दमय बनाने के लिये नियम निर्माण किये हैं। पिछड़े हुये समाज में नियम पुराने ज़माने से चले आ रहे हैं। समयानुसार उनमें परिवर्तन भी होते रहे हैं, परन्तु इस समय का एक समाज उन्हें पसन्द न करके पृथक हो गया। प्राचीन समाज के व्यक्ति अपने नियम-क़ायदों को बहुत पवित्र मानते हैं और अन्ध-विश्वास के साथ उनका पालन करने में ज़रा भी नहीं सकुचाते। इसमें बहुतेरी बेवक़ूफ़ी की बातें भी शामिल हो गई हैं, उनको भी मानना वे अपना कर्तव्य और धर्म समझते हैं। आजकल कितनी ही ऐसी सामाजिक कुरीतियों तथा रूढ़ियों के प्रति ज़बरदस्त आन्दोलन किया जा रहा है, जिससे वह मिट जायँ या उनमें समयानुकूल परिवर्त्तन हो जायँ। समाज सुधारकों को अपने मिशन में बहुत कुछ सफलता भी मिली है और बराबर मिलती ही जावेगी। परन्तु दूसरे बीच वाले समाज के लोगों की हालत अजीब है। अपनी परिस्थिति के डाँवा डोल होने के कारण वह अपने लिये किसी प्रकार के नियम क़ायदे नहीं बना सके हैं। कभी वह पिछड़े समाज के नियम मानने लगते हैं और कभी आगे बढ़े हुये समाज के। ऐसा करने में उनका एक ही सिद्धान्त मालूम होता है कि उनका स्वार्थ पूर्ण हो। अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये वह सब कुछ करने को तैयार रहते हैं। उस समय न तो उन्हें अपनी परिस्थिति का ज्ञान रहता है और न दूसरों की परिस्थिति का।

वास्तव में समाज तथा व्यक्ति का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। बिना समाज के व्यक्ति रह नहीं सकता। उसे सामाजिक प्राणी कहा गया है। साधु-सन्यासी आदि के अलग रहने का समाज पर कोई असर नहीं पड़ता और न इस छोटे से समुदाय के कारण मनुष्य-समाज टूट ही सकता है। जब मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और बिना इसके अलग नहीं रह सकता, तब उसने ऐसे नियम बनाये जिससे समाज में किसी प्रकार की गड़बड़ न होकर मनुष्य को अपने जीवन को सफल करने में सहायता ही मिले। जितने भी सामाजिक बन्धन हैं, वे इसी दृष्टि से बनाये गये थे कि उनसे मनुष्य को अपने विकास में भरपूर सहायता मिले तथा ऐसी कोई भी बात न होने पावे, जिससे उसके रास्ते में रोड़े अटकें, रोड़ों को हटाना ही उनका सदा से उद्देश्य रहा है। यदि समाज में नियमबद्धता नहीं होगी, प्रत्येक व्यक्ति अपने मनोनुकूल कार्य करेगा, न उसे दूसरे की परवाह और न अपने भविष्य की चिन्ता होगी, तो यह परिस्थिति बड़ी भयानक होगी, जिसकी कल्पना से शरीर काँप उठता है।

परन्तु परिस्थितियों के बदलने से हमारे बीच के समाज के व्यक्ति इन नियम-क़ायदों की उतनी परवाह नहीं कर रहे हैं जितनी उनके पूर्वजों ने की थी और जो उन्हें अपने लाभ की दृष्टि से करनी चाहिये। अपने स्वार्थ के कारण ही वे ऐसा कर डालते हैं। समाज छोटी-छोटी बातों की उपेक्षा कर देता है, जिससे उनकी आदतें बिगड़ती जाती हैं और दूसरे लोगों को उस प्रकार की भूलें करने के लिये प्रोत्साहन मिल जाता है। कुछ लोग तो बाद में सँभल जाते हैं, पर कुछ ज़िन्दगी भर ऐसा ही करते रहते हैं।

समाज के लाभ के लिये इस प्रकार की भावनाओं को बढ़ने नहीं देना चाहिये। यदि हम उनके छोटे-छोटे कार्यों को छोड़ भी दें, उनकी परवाह न करें, तो भी उनकी इस विचार-धारा को तो रोकना ही पड़ेगा। किसी भी दिन यह बहुत आगे बढ़ सकती है और यदि आगे

न भी बढ़े तो भी, उनके विचारों का फैलना ही समाज के लिये अहितकर है।

वर्तमान वातावरण में पले हुये युवक, जिनको उच्च अङ्गरेज़ी-शिक्षा मिली है, और जिनके पास यथेष्ट आय के साधनों का अभाव है, इस विचार-धारा से जल्दी प्रभावित हो जाते हैं। अपने लिये भी एक स्थान बनाने की उनको फ़िक्र होती है और ऐसा करने में उन्हें उनकी स्वार्थ-सिद्धि की नीति अधिक उपयोगी प्रतीत होती है। समाज की उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं होती; वह चाहे रहे या चला जाय। यौवन का गर्म ख़ून जोश उत्पन्न करता है, उसकी हिलोरों में वह अपने को ही देख पाते हैं। प्रायः उनके सारे कार्य एकतरफ़ा होते हैं। समाज पर उनका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। आने वाली सन्तान के सामने जब यह बातें आती है, तब वह इस प्रवृत्ति को आवश्यक मान कर इसी के अनुकूल अपने आचरण भी बना लेते हैं। इस समय के युवकों में इस प्रकार की धारणा ही विद्यमान है। उनसे पहिले आये हुये युवकों ने, जो अब जीवन में भली प्रकार प्रवेश कर चुके हैं, और जो अब उससे सन्तुष्ट से हैं, इसी नीति को अपनाया था। वर्तमान पीढ़ी को वह तरीक़े एवं आदर्श उपयोगी मालूम पड़ते हैं और वह बिना किसी प्रकार का आगा-पीछा सोचे उनको अपना रहे हैं। इस एकतरफ़ा जीवन से जो नुक़सान पहुँचा है, समाज में उसके भी चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे हैं।

कुछ लोगों का ख़याल है कि जो व्यक्ति निजी स्वार्थ में लग कर काम करता है समाज की उपेक्षा करता है, उसका प्रभाव समाज पर नहीं पड़ता। हमारी समझ में यह बात बिल्कुल ग़लत है। स्वार्थ के प्रश्नों को छोड़ कर हम साधारण उदाहरण पर ही विचार कर सकते हैं। स्वार्थ के प्रश्नों का प्रभाव समाज के विभिन्न पहलुओं पर पड़ता है और प्रायः यह गहरा होता है। यदि एक मनुष्य ख़ूब शराब पीता है, और शराब में अपना सर्वस्व स्वाहा कर डालता है तो लोग कह सकते हैं कि उसने अपना ही नाश किया है। समाज को या अन्य किसी व्यक्ति को उसके कार्यों से क्या मतलब ! पर ऐसा नहीं होता। व्यावहारिक जीवन का अनुभव कुछ और ही बात कहता है। शराबी व्यक्ति के सम्पर्क में कुछ न कुछ व्यक्ति आवेंगे ही, उनपर उनका प्रभाव पड़ेगा। कोई शराब पीने लगेगा, किसी को उसकी बकझक पर गुस्सा आवेगा, किसी को उसके उन कामों से नुक़सान पहुँचेगा जो वह नशे की दशा में करेगा। तात्पर्य यह है कि समाज पर उसका प्रभाव पड़ेगा। यही कारण है कि समाज ऐसे कामों को बुरा समझता है। बहुतेरे सामाजिक नियमों को जो बहुत ही आवश्यक होते हैं, सरकारी क़ानून भी बना दिया जाता है; ताकि वह कड़ाई के साथ इस्तेमाल में लाये जा सकें और जनता उनको तोड़ने में उतनी आज़ादी से काम न ले। जब इस प्रकार के व्यक्तियों की आदतें समाज के लिये बहुत हानिकारक होने लगती हैं और उनकी संख्या बढ़ने लगती है तब सरकार को उनके रोकने के लिये क़ानून बनाना पड़ता है।

हमारे समाज को वैसे भी कितने ही प्रकार की बुराइयों ने खोखला बना डाला है, जिनके कारण हिन्दू जाति बुरी तरह से कमज़ोर हो गई है। अशिक्षित समाज में इन सामाजिक कुरीतियों ने ज़बरदस्त अड्डा जमाया है। अनेक प्रकार के प्रयत्न किये जा रहे है, फिर भी वह उनके शिकञ्जे से अभी तक मुक्त नहीं हो सके हैं। शारदा क़ानून बन जाने पर भी बाल-विवाहों की संख्या में कमी नहीं होती मालूम पड़ती। सहालग के दिनों में सैकड़ों ब्याह ऐसे हो जाते हैं, जिन्हें देख कर हृदय काँप उठता है।

शिक्षित तथा आगे बढ़े हुये समाज में इन कुरीतियों की संख्या घट रही है और वे अपने जीवन को समयानुकूल ढालने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु उनमें नये-नये प्रकार की बुराइयाँ आ रही हैं। इनमें से बहुतेरी कुरीतियाँ विदेशों से आगई हैं जो भारत के राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से लाभदायक नहीं कही जाकर कुरीतियाँ ही कही जावेंगी। इनमें लिप्त समाज उनकी हानियों को अभी भले ही न समझ सके, पर थोड़े समय बाद वह उनको महसूस कर सकेगा। जो समाज इनसे दूर है, वह इनकी बातों को अभी तक उसी प्रकार समझ रहा है जिस प्रकार वह पिछड़े हुये समाज के

दोषों को समझता है।

पिछड़े हुये समाज में जो कुरीतियाँ हैं, उनको जड़-मूल से नष्ट करने के लिये भारी प्रयत्न किया जा रहा है, जो सर्वथा सराहनीय है। परन्तु इस नये समाज की बुराइयों की ओर जनता का ध्यान उतना नहीं गया है, जितना जाना चाहिये। नवीन समाज की कार्यवाही से भी एक समूह परिचित हो चुका है और वह उनसे शङ्कित होकर चिन्तामग्न है। इसके सम्बन्ध में भी कभी-कभी कुछ सुनने-पढने को इधर-उधर मिल जाता है। परन्तु अधिक नहीं। हमारी राय में इस पर भी उतना ही ध्यान देने की आवश्यकता है। अभी नई बुराइयाँ अधिक व्यापक नहीं हो सकी हैं और आसानी से रोकी भी जा सकती हैं। अधिक समय व्यतीत हो जाने पर जब वह भी गहरी जड़ें जमा लेंगी, तब उनको उखाड़ फेंकने में भी काफी समय, शक्ति और धन का व्यय होगा।

जिस समस्या की ओर हमने संक्षेप में पाठकों का ध्यान खींचना चाहा है वह एक अलग ही वस्तु है। बुराइयों से सामाजिक-जीवन खोखला हो सकता है, समाज को हानि पहुँच सकती है, पर इस प्रवृति से सामाजिक-जीवन ही नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। इसका प्रहार अधिक गहरा पड़ेगा। यदि यही प्रवृति इसी गति से बढती गई तो शीघ्र ही हमें एक नई परिस्थिति का सामना करना पड़ेगा जो सामाजिक बुराइयों की अपेक्षा अधिक अनिष्टकारी होगी। सामाजिक कुरीतियों को हम सह सकते हैं, पर सामाजिक-जीवन को बरबाद होते देखना असम्भव है। बिना इसके मनुष्य-जीवन पर क्या बीतेगी, इसकी कल्पना पाठक-गण स्वयं कर सकते हैं।

परदेशी

[श्री० चन्द्रप्रकाश वर्म्मा 'चन्द्र']

मैं परदेशी अपना पथ पहिचान गया!

ममता में सुकुमार हृदय को कस डाला था,
कुछ को सङ्गी बना स्नेह उनसे पाला था,
यहाँ अकेले सभी—आज यह जान गया।
मैं परदेशी०—

बहा, यहाँ से वहाँ, वासना के प्रवाह में,
था विवेक से हीन फूल ही दिखे राह में,
अब पथ के शूलों पर मेरा ध्यान गया।
मैं परदेशी०—

मैं राही था, चलने में बस मुझे शान्ति थी,
यहाँ बसेरा किया हाय! सब ओर भ्रान्ति थी;
मैं अपनी पिछली भूलों को मान गया।
मैं परदेशी०—

यहाँ रहा मैं सदा विवश, भूला, भरमाया,
लो! सहसा चल पड़ा छोड़ सब ममता-माया,
इस पथ से फिर आने का अरमान गया।
मैं परदेशी०—



सामाजिक वहिष्कार

[श्री० जगदीशचन्द्र शास्त्री, काव्यतीर्थ]

अनन्त काल से मनुष्य की यह प्रवृत्ति रही है कि वह दूसरों के मुख से अपने विषय में कुछ सुन सके। वह जानना चाहता है कि वह जो कुछ अच्छा या बुरा करता है, उसके विषय में लोगों की क्या राय है? कुछ महान् आत्माओं को छोड़ कर छोटे से लेकर बड़े तक सभी अपना नाम अमर करने के लिये बड़े-बड़े परोपकार के कार्य करते हैं। बड़े-बड़े लेखक और कवि इसलिये अपनी अमर लेखनी को कष्ट देकर अमर कृति लिखते हैं, जिससे उनकी यश-सुरभि इस मर्त्यलोक में सदा फैलती रहे, कभी मरे नहीं। अनेक व्यक्ति शीत, ग्रीष्म, वर्षा की परवा न करके कष्टसाध्य कार्य में लगे रह कर असह्य कष्ट सहते हैं। हमारे अधिकांश कार्यों के पीछे यह इच्छा छिपी रहती है कि लोग जल्दी न भूल जाएँ, मरने के बाद भी हमारे नाम को याद करें, हमारे लिये आठ-आठ आँसू रोकर हमारी स्वर्गीय आत्मा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करें। जो लोग यह कहते हैं कि हम निन्दा से नहीं डरते, वे प्रायः सत्य नहीं कहते। देखते-देखते कितने शैतान भगवान बन जाते हैं और कितने ही भगवान शैतान! आज लोगों के लिये कुछ कीजिये—असंख्य उपकार कीजिये—कल यदि आप उनके प्रेम-पात्र नहीं बन सके तो झट आप देशसेवक, समाज-सेवक से देश-द्रोही और समाज-शत्रु हो जायँगे।

निन्दा और स्तुति दो वस्तुएँ इस संसार में ऐसी हैं, जो अच्छे और बुरे काम करवाती हैं। कुछ इने-गिने व्यक्तियों की बात हम नहीं कहते, पर अधिकांश व्यक्ति अपनी स्तुति कराने के लिये परोपकार के काम करते हैं और अधिकांश व्यक्ति निन्दा के डर से ही ऐसे अनेक कार्य नहीं करते, जिनको उनकी अन्तरात्मा ठीक समझती है। तात्पर्य यह कि लोक-निन्दा समाज के पास एक बड़ा हथियार है, जिसका प्रयोग समाज सफलता से करता है, पर उससे भी कहीं जबर्दस्त हथियार समाज के पास है वहिष्कार—जो एक प्रकार से अमोघ है।

सामाजिक वहिष्कार का प्रयोग आज से नहीं, बहुत प्राचीन काल से चला आता है। यद्यपि वेद, उपनिषद्, स्मृति वल्कि पुराण-काल का समाज भी आज विश्रृङ्खल हो गया है। जन-संख्या की वृद्धि, और नये नये मतमतान्तरों के जन्म ने पुरातन रूढ़ियों को एक ज़बरदस्त धक्का लगा कर समाज जैसे सुन्दर पुरुष का अस्थिपञ्जर भी नहीं रहने दिया है, पर सामाजिक वहिष्कार का भय अब भी उसी तरह बना हुआ है। शिक्षित-समाज को, जिन्होंने शहरों में अपना घर बना लिया है, जाने भी दें, तो भी यदि हम अछूत कहलाने वाली जातियों—धोबी, हज्जाम, चमार आदि को देखें तो जान सकेंगे कि उनको अब भी सामाजिक वहिष्कार का कितना भय है! अब भी जब उनकी पञ्चायत बैठती है तो समाज के पंचों का निर्णय क्या हाईकोर्ट के जजों के निर्णय से कम महत्व रखता है? नहीं, उससे भी बढ़कर। क्योंकि बिना पुलिस की सहायता के वे अपने फ़ैसले को मनवाते हैं। उस पञ्च-परमेश्वर के आगे किसकी मजाल है जो चूँ भी कर सके? आप जङ्गली जातियों को देखिये—कोल, भील, संथाल, हबशी और सीमाप्रान्त के उजड्ड अफरीदियों को देखिये, उन सबका सङ्गठन कितना ज़बरदस्त है! समाज केवल 'वहिष्कार' के नाम पर दोषी को कौन-कौन सा दण्ड नहीं देता? व्यभिचार आदि पापों के लिये इतिहास में

हम कड़े से कड़े दण्ड पढ़ते हैं, परन्तु ये असभ्य जातियाँ इसी अमोघ अस्त्र का व्यवहार करके समाज को इन महा पापों से बचाती हैं।

अभी तीन चार महीने हुए (शायद अप्रैल के प्रथम सप्ताह में) पूज्य महात्मा गाँधी जी ने अपने 'हरिजन' में अफ़गानिस्तान के पठानों के जीवन में "Wonderful If True" शीर्षक लेख लिखा था। पूज्य महात्मा जी को डॉक्टर खान साहब ने निम्नलिखित बातें बतलाई थीं —

"The secret of their (Frontier tribes) strength lies in their chaste lives They marry both men and women after full maturity Union out of wedlock is punishable by death The injured party has the right to take the life of the wrong doer"

अर्थात्—"सीमा-प्रान्त के असभ्य लोगों का नैतिक जीवन बड़ा पवित्र है। जब लड़के लड़की पूर्ण युवा हो जाते हैं, तभी विवाह करते हैं। अपातिव्रत्य, व्यभिचार और अविवाहित प्रेम उनमें नाम को नहीं है। यदि ऐसा कोई अपराध पाया जाता है, तो उसका दण्ड मृत्यु ही है। जिस व्यक्ति का उस घटना से सम्बन्ध होता है, वह उस पापी के प्राण लेने का अधिकार रखता है।" यह बातें कोरी कपोल-कल्पना नहीं हैं। इसके बाद ही दिल्ली के अङ्गरेजी पत्र 'Hindu out look' में हिन्दू महासभा के मन्त्री श्री० गणपतराय ने अपने बचपन की घटना लिख कर उपर्युक्त बातों का समर्थन किया था। वह घटना इस प्रकार है—"अफ़गानिस्तान के लोग ६ महीने अपने देश में और ६ महीने भारत में रहते हैं। जब वे काफिले बनाकर नीचे आते हैं, तो रास्ते में विवाह आदि करते हैं। वे प्राय सायङ्काल जमा होकर जलसे करते हैं और गाते नाचते हैं। एक ऐसे ही काफिले में एक दुर्घटना हो गई। डेराइस्माईल जिले का एक मुसलमान व्यापारी उस काफिले के साथ हो लिया। एक दिन काफिले के लोग अपनी सभा कर रहे थे। घर में अकेली नव-वधू थी। उसका नव-विवाहित पति देर तक अपने साथियों के साथ नाच-रङ्ग में लगा रहा। इधर उस नये व्यक्ति ने उस अकेली स्त्री के साथ व्यभिचार किया। पति के लौटने पर यह खबर सारे कैम्प में फैल गई। आखिर अपराधी पकड़ा गया। विचार हुआ और उसे प्राणदण्ड दिया गया। लोगों ने देखते-देखते उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये।"

यह घटना इसलिये लिखी गई है कि जो जातियाँ हमारी दृष्टि में असभ्य हैं, उनका सामाजिक-सङ्गठन कैसा है! उनमें नैतिक-बल कितना है! हम पूछना चाहते हैं कि यह आजकल की नग्न सभ्यता, उच्छृङ्खल समाज क्या अशिक्षितों के सङ्गठित समाज से अच्छी है? शिक्षित व्यक्ति को आप जाति से निकाल तो दीजिए, वह क्या अपने पाप को स्वीकार करेगा? कल ही वह सरकारी अदालत में जाकर आप पर, पञ्च पर, पञ्चायत के सब पञ्चों पर मान हानि का दावा कर देगा? वहाँ से हुक्म इमतनाई ले आएगा। आप उसके बहिष्कार की चर्चा भी नहीं कर सकेंगे।

इसी सिलसिले में हमें एक ताजी घटना याद आती है। अभी तीन-चार वर्ष हुए होंगे, आर्यसमाज के एक सदस्य पर मांसाहार, मद्यपान तथा आचरण सम्बन्धी दोष लगाये गये। जाँच-कमीशन बैठा और उसने इन सब बातों को ठीक पाया। साधारण सभा का अधिवेशन बुलाया गया। यह सभा जिस दिन होने वाली थी उसी दिन प्रातः समाज के अधिकारियों एवं प्रमुख व्यक्तियों को अदालत का हुक्म मिला कि उक्त महाशय ने जज साहब की अदालत में इस बात की दर्खास्त दी है कि आर्यसमाज को कोई हक नहीं कि वे किसी को सभा की सदस्यता से खारिज कर सकें, इसलिये वे लोग अदालत के फैसले तक इस विषय पर कोई विचार नहीं कर सकते।

यह सब शिक्षित बुद्धि का चमत्कार है। जैसे यूरोप के विज्ञानवेत्ता जहरीली गैसों से बचने का भी उपाय निकाल चुके हैं—उन्होंने ऐसी नकाब बनाई है, जिससे अब जहरीली गैस का भी कोई डर नहीं, इसी प्रकार मस्तिष्क से सामाजिक बहिष्कार तो क्या, इससे भी भयङ्कर दण्डों से बच निकलने के उपायों का आविर्भाव हो गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या शिक्षा ही "सामाजिक वहिष्कार" नामक महत्वपूर्ण संस्था के पतन का कारण है या कोई और भी कारण है ? हम यह तो पहले ही कह चुके हैं कि आज का समाज आज से दो-चार, दस सौ वर्ष पहले का समाज नहीं है। आज लोग बिरादरी में उस कड़ाई से जकड़े नहीं हैं। न बहुत से लोग सुनसान स्थानों में रहते है, जहाँ धोबी के न आने पर धोबी न मिले, हज्जाम के बाल न काटने पर दूसरा हज्जाम वहाँ फटके ही नहीं और कुल-पुरोहित के छोड़ जाने पर दूसरा पुरोहित धार्मिक कृत्य कराने न आये। अब तो धोबी, हज्जाम और पुरोहित सदा बकुल-ध्यान लगाये रहते है कि पहला कब छोड़े तो उनकी बन आए। हरिजन आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में हमारे गाँव के कुछ उत्साही नवयुवकों ने डोम आदि अस्पृश्य जातियों का गाँव के देव-मन्दिर में प्रवेश करा दिया। वहाँ पहले ही कुछ पार्टीबाज़ी थी। एक पार्टी को दूसरी पार्टी से बदला लेने का स्वर्ण-संयोग मिला। वे लाख प्रयत्न करने पर भी हज्जाम और पुरोहित जी को जीविका छोड़ने के लिये तैयार न कर सके, पर इतना उनके मस्तिष्क में बैठा दिया कि वे लोग यदि धर्मभ्रष्टों के साथ खायेंगे तो जातिच्युत हो जायेंगे। इस बात की भनक किसी प्रकार दूसरी पार्टी के लोगों को मिल गई। उन्होंने हज्जाम और पुरोहित को निकाल दिया, उनके स्थान पर नये व्यक्ति रख लिये। बाद को तो ये निकाले गये पण्डित और हज्जाम रात-दिन खुशामद करने लगे। हज्जाम तो गाँव में दो ही थे, इससे कुछ लोगों ने उसे फिर रख लिया, पर पुरोहित जी तो सदा के लिये अपने आधे यजमानों से हाथ धो बैठे। सारांश यह है कि सामाजिक अवस्था में परिवर्तन, आवश्यकताओं की वृद्धि भी इस महत्वपूर्ण 'वहिष्कार' संस्था के पतन का कारण है। शहरों के लोग तो इस बात की कभी चिन्ता ही नहीं करते कि वे अपने पड़ोसी को जानें, उसकी खबर लें। फिर समाज ही कहाँ रहा, जिससे उनका कभी वहिष्कार हो।

परन्तु सामाजिक वहिष्कार के पतन का सबसे बड़ा कारण इस पवित्र संस्था का दुरुपयोग है। लोगों ने व्यक्तिगत विरोध, ईर्ष्या-द्वेष का प्रतिकार 'वहिष्कार' के द्वारा करना शुरू किया। बाबा-आदम के ज़माने की रूढ़ियों और नियमों में हम बीसवीं सदी में भी संशोधन करना नहीं चाहते। वेश्या का उच्छिष्ट खानेवाला समाज द्वारा वहिष्कृत नहीं किया जाता, पर उसी स्त्री को नियमपूर्वक घर में रखने वाला अधर्मी क़रार दिया जाता है। मांस-भक्षण में कोई बात नहीं, पर किसी अस्पृश्य के हाथ का छुआ भोजन अभक्ष्य है। पारिवारिक अत्याचारों के बीच परिवार के व्यक्तियों की कुटिल काम-वासना का शिकार होने वाली विधवा पापिनी है, उसके पेट का बच्चा समाज का कलङ्क है, पर कल ही बड़े-बड़े शहरों की अटारियों पर बैठकर धर्म का खुला व्यापार करनेवाली विधवा का कोठा धर्म-मन्दिर है। हम पूछते हैं—कहाँ है समाज ? कहाँ है समाज का दण्ड ? फिर किसका वहिष्कार और कैसा वहिष्कार ? यह ढोंग कब तक चलता। इसीलिए आज वहिष्कार होता है किसका ? जो समुद्र पार कर आया, जिसने विधवा-विवाह किया, जिसने किसी अछूत का छुआ पानी पिया। यही वहिष्कार है, जिसका अन्त हो रहा है—जितनी जल्दी यह दम तोड़ दे, अच्छा है।

आज महात्मा गाँधी जी कॉङ्ग्रेस मिनिस्टरों को राय देते हैं कि वे बिना पुलिस के शासन करें। क्या सामाजिक बुराइयों का अन्त करने के लिए समाज का पुनर्निर्माण करने और प्राचीन काल के 'वहिष्कार' को पुनः अपने स्थान पर ला बिठाने की आवश्यकता नहीं है ? आज उस 'पञ्च परमेश्वर' की आवश्यकता है, जो बिना किसी पुलिस की सहायता से लोगों से अपनी आज्ञा का पालन करा सकें। इधर आठ-दस वर्षों से मुक़द्दमेबाज़ी से लोगों को बचाने के लिये ग्रामों में 'यूनियन बोर्ड' बनाये गये थे, पर वहाँ की अवस्था क्या है ? अधिकांश पञ्च क्या करते हैं ? क्या वे लोगों की सहायता करते हैं ? ये सब संस्थायें निरर्थक सिद्ध हो चुकी हैं। राजनैतिक अपराधों को जाने दीजिए, सामाजिक कुरीतियों का अंत करने के लिये तो इसी मृत संस्था 'सामाजिक वहिष्कार' को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है। पर यह कब हो सकता है ? जब समाज अपने पैरों पर आप खड़ा हो

पुण्य को पुण्य और पाप को पाप समझे। यही नहीं, पुण्य और पाप का परिभाषा भी समय के अनुसार हो। उसकी मनमानी व्याख्या न करने के लिये हमें धर्म का असली रूप समझना होगा, हृदय को सङ्कीर्ण नहीं, उदार बनाना होगा। भगवान मनु ने जिसको धर्म कहा है उसका अपना आदर्श बनाना होगा।

"विद्वद्भि सेवित सद्भि नित्यमद्वेषिरागिभि ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥"

अर्थात्— राग-द्वेषादि से रहित विद्वान् महात्माओं ने जिस धर्म का सेवन किया है और उनकी अन्तरात्मा ने जिसको अच्छा समझा है, उस धर्म को सुनो।

वह धर्म क्या है, यह प्रत्येक व्यक्ति अपने आप समझे। जो भगवान् मनु ने कहा है, उसी की पुष्टि महाकवि कालिदास ने की है —

"सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय ।"

धर्म क्या है, आप अपने ही हृदय से पूछना चाहिए। यदि हमारी अन्तरात्मा बिल्कुल काली नहीं हो गई है तो वह स्वय ही कह देगी—यह पुण्य है—यह पाप है! समाज के कर्णधारों के लिये यह चिन्ता का समय है। उन्हें चाहिए कि वे समाज के सङ्गठन मे ऐसा बल पैदा करें, उसमें ऐसे निष्पक्ष नेता पैदा करे जो 'पञ्च-परमेश्वर' के नाम को चरितार्थ करें और पाप और दुराचार को मिटाने में समर्थ हो सकें। हमें सामाजिक बहिष्कार के अमोघ अस्त्र का सहारा लेना पडे या किसी इससे भयङ्कर दूसरे अस्त्र का, परन्तु समाज का सङ्गठन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है, जिससे हम गौरव से बाल्मीकि के शब्दो में कह सकें —

"नरा स्वदारनिरता, नार्यश्चासन् पतिव्रता ।
सुव्रता धृतिमन्तश्च नरा आसस्तथा स्त्रिय ॥

☾ ☾ ☾

जीवन-सङ्गीत

[स्वर्गीया प्रभादेवी माथुर]

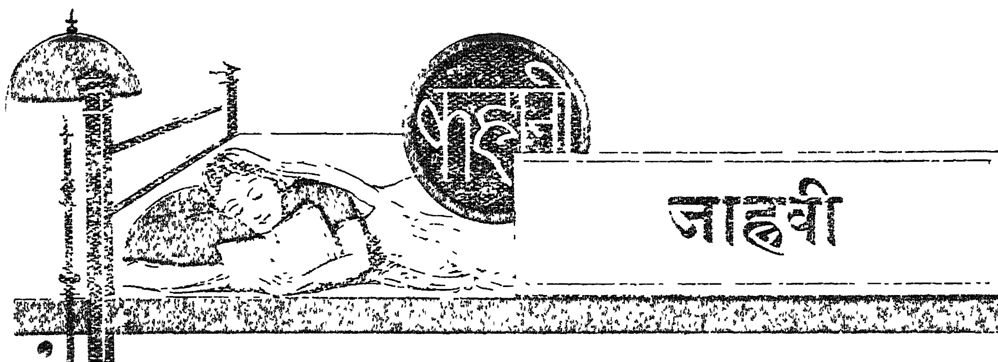
उठ रहीं सूने गगन में
तारिकायें झिलमिलातीं,
वह स्मरण आज सोई
भावनाओं को जगाती!

शून्य सी पतझार बेला
गीत मुझको गा न आते,
आज जीवन में सजनि
वे भी न बन मधुमास आते!

नाचती स्वप्निल-दृगो में
छाँह की तसवीर किसकी?
दे रही मुझको सुनाई
वह चरण की चाप किसकी,

हाय! आहों से भरा है
करुण जीवन गान मेरा,
हो रहा इस गीत जग में
प्रिय उसासों का सबेरा!





जाह्नवी

[श्री० जैनेन्द्रकुमार]

आज तीसरा रोज़ है। तीसरा नहीं, चौथा रोज़ है। वह इतवार की छुट्टी का दिन था। सवेरे उठा और कमरे से बाहर की ओर झाँका तो देखता हूँ, मुहल्ले के एक मकान की छत पर काँव-काँव करते हुए कौवों से घिरी एक लड़की खड़ी है और बुला रही है, "कौवो आओ, कौवो आओ।" कौवे बहुत काफ़ी आ चुके हैं, पर और भी आते जाते हैं। वे छत की मुँडेर पर बैठे अधीरता से पङ्ख हिला-हिला कर बेहद शोर मचा रहे हैं। फिर भी उन कौवों की संख्या से लड़की का मन जैसे भरा नहीं है। बुला रही है—"कौवो आओ, कौवो आवो।"

देखते-देखते छत की मुँडेर कौवों से बिल्कुल काली पड़ गई। उनमें से कुछ अब उड़-उड़ कर लड़की की धोती से जा टकराने लगे। जिस पर लड़की गाने लगी—

"कागा चुन-चुन खाइयो... ..।"

साथ ही उसने अपने हाथ की रोटियों में से तोड़-तोड़ कर नन्हें-नन्हें टुकड़े चारों ओर फेंकने शुरू किए। गाती रही—"कागा चुन-चुन खाइयो.........।"

वह मग्न मालूम होती थी और अनायास ही उसकी देह थिरक कर नाच-सी आती थी। कौवे चुन-चुन खा रहे थे और वह गा रही थी।

"कागा चुन-चुन खाइयो......।"

आगे वह क्या गाती है, कौवों के कलरव और उनके पङ्खों की फड़फड़ाहट के मारे साफ़ सुनाई न दिया। कौवे लपक-लपक कर मानों टूटने से पहिले उसके हाथ से टुकड़ा छीने ले रहे थे। वे लड़की के चारों ओर ऐसे छा रहे थे, मानों वे प्रेम से उसको ही खाने को उद्यत हों। और लड़की कभी इधर, कभी उधर झूम कर घूमती हुई ऐसे लग्न-भाव से गा रही थी कि जाने क्या मिल रहा हो।

रोटी ख़त्म होने लगी। कौवे भी यह समझ गए। जब एक टुकड़ा हाथ में रह गया, तब वह गाती हुई, उस टुकड़े को हाथ में फहराती हुई ज़ोर-ज़ोर से दो-तीन चक्कर लगा उठी। फिर उसने वह टुकड़ा ऊपर आस्मान की ओर फेंका और बहुत से कौवे एक ही साथ उड़कर उस पर झपटे। उस समय उन्हें देखती हुई लड़की हँस कर चीखती हुई सी आवाज़ में गा उठी—"दो नैना मत खाइयो मत खाइयो......ओरे, पीउ मिलन की आस।"

रोटियाँ ख़तम हो गईं। कौवे उड़ चले। लड़की एक-एक कर उनको उड़ कर जाता हुआ देखने लगी। पल भर में छत कोरी हो गई। अब अकेली उसके बीच में वही लड़की खड़ी थी। आस पास बहुत से मकानों की बहुत-सी छतें थी, जिनपर कोई होगा, कोई न होगा। पर लड़की दूर अपने कौवों को उड़ते जाते हुए देखती रह गई या न जाने क्या देखती रह गई। गाना समाप्त हो गया था। धूप अभी फूटी ही थी। आसमान गहरा नीला था। उसके ओंठ खुले थे, दृष्टि स्थिर थी। जाने भूली सी वह क्या देखती रह गई थी।

थोड़ी देर बाद उसने मानो जग कर अपने आस-पास के जगत पर देखा। इसी की राह में क्या मेरी ओर

भी देखा ? देखा भी हो, पर शायद मैं उसे नहीं दीखा था। उसके देखने में सचमुच कुछ दीखता ही था, यह मैं कह नहीं सकता। पर कुछ ही पल के अनन्तर वह मानो वर्त्तमान के प्रति, वास्तविकता के प्रति चेतन हुई। और फिर बिना देर लगाये चटचट उतरती हुई नीचे अपने घर में चली गई।

मैं अपनी खिड़की में खड़ा-खड़ा चाहने लगा कि मैं भी देखूँ, कौवे कहाँ-कहाँ उड़ रहे हैं, और वे कितनी दूर चले गये हैं। पर मुश्किल से मुझे दो-एक ही कौवे दीखे। क्या वे कहीं दीखते भी हैं? वे निरर्थक भाव से यहाँ बैठे थे, या वहाँ उड़ रहे थे। वे मुझे मूर्ख और घिनौने मालूम हुए। उनकी काली देह और काली चोंच मन को बुरी लगी। मैंने सोचा कि नहीं, अपनी देह मैं कौवों से नहीं चुनवाऊँगा। छि, चुन-चुन कर इन्हीं के खाने के लिए क्या मेरी देह है? देह मन्दिर नहीं है? मानव-देह और कौए—छि!

जान पड़ता है, खड़े-खड़े मुझे काफ़ी समय खिड़की पर ही हो गया, क्योंकि इस बार देखा कि ढेर के ढेर कपड़े कन्धे पर लादे वही लड़की फिर उसी छत पर आ गई है। इस बार वह गाती नहीं है। पर वहाँ पड़ी एक खाट पर उन कपड़ों को पटक देती है। फिर उन कपड़ों में से एक एक को चुन कर झटक कर वहीं छत पर सुखा देती है। छोटे-बड़े उन कपड़ों की गिनती काफी रही होगी। वे उठाये जाते रहे, झटके जाते रहे, फैलाए जाते रहे, पर उनका अन्त शीघ्र आता न दीखा। आखिर सब ख़त्म हो गये तो लड़की ने सिर पर आये हुए धोती के पल्ले को पीछे किया। उसने एक अङ्गड़ाई ली, फिर सिर को ज़ोर से हिला कर अनबँधे अपने बालों को छिटका लिया और धीमे-धीमे वहीं डाल कर उन बालों पर हाथ फेरने लगी। कभी बालों की लट को सामने लाकर देखती, फिर उसी को लापरवाही से पीछे फेंक देती। उसके बाल गहरे काले और लम्बे थे। मालूम नहीं, उसे अपने बालों पर सुख था या दुख था। कुछ देर वह उँगलियाँ फेर-फेर कर अपने बालों को छिटकाती रही। फिर चलते-चलते एकाएक उन सब बालों को इकट्ठा समेट कर झटपट जूड़ा सा बाँध, पल्ला सिर पर खींच वह नीचे उतर गई।

इसके बाद मैं खिड़की पर नहीं ठहरा। घर में छोटी साली आई हुई है। इसी शहर के दूसरे भाग में रहती है और ब्याह न करके कॉलेज में पढ़ती है। मैंने कहा—"सुनो, यहाँ आओ।"

उसने हँस कर पूछा—"यहाँ कहाँ?"

खिड़की के पास आकर मैंने पूछा—"क्यों जी, जाह्नवी का मकान जानती हो?"

"जाह्नवी! क्यों, वह वहाँ है?"

"मैं क्या जानता हूँ, कहाँ है? पर देखो, वह घर तो नहीं है?"

उसने कहा—"मैंने घर नहीं देखा। इधर उसने कॉलेज भी छोड़ दिया है।"

"चलो अच्छा है।"—मैंने कहा और उसे जैसे-तैसे टाला। क्योंकि वह पूछने-ताछने लगी थी कि क्या काम है, जाह्नवी को मैं क्या—कैसे—कितना जानता हूँ। सच यह था कि मैं रत्ती भर भी उसे नहीं जानता। एक बार अपने ही घर में इसी साली की कृपा और आग्रह पर एक निगाह देखा है। बताया यह गया था कि यह जाह्नवी है, और ख़ुशी से मैंने मान लिया कि वह जाह्नवी ही होगी। उसके बाद की सचाई यह है कि मुझे कुछ नहीं मालूम कि उस जाह्नवी का क्या बन गया और क्या नहीं बना। पर किसी सचाई को बहनोई के मुँह से सुन कर स्वीकार कर ले तो सचाई क्या? तिस पर ऐसी सचाई कि नीरस। पर ज्यों त्यों मैंने उसे टाला।

बात-बात में मैंने कहना भी चाहा कि ऐसी ही तुम जाह्नवी को जानती हो, ऐसी ही तुम साथ पढ़ती थीं, कि कह दो मालूम नहीं, लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं।

इसके बाद सोमवार हो गया, मङ्गलवार हो गय और आज बुध भी होकर चुका जा रहा है। चौथा रोज़ है। हर रोज़ सवेरे खिड़की के पार दीखता है कि कौवे काँव-काँव छीन-झपट कर रहे हैं और वह लड़की उन्हें रोटी के टुकड़ों के मिस कह रही है—

"कागा चुन-चुन खाइयो।"

मुझको नहीं मालूम कि कौवे जो कुछ उसका खायँगे, उसे कुछ भी इसका सोच है। कौवों को बुला रही है—"कौवो आओ, कौवो आओ।" आग्रह कह रही है—'कौवो खाओ, कौवो खाओ;" वह ख़ुश है कि कौए आ गए हैं और वे खा रहे हैं; कौवों को खिलाने का आग्रह-पूर्ण निमंत्रण देते हुए भी मानों उन्हें ताकीद यही करना चाहती है कि—

"ये दो नैना मत खाइयो......।"

जो तन चुन-चुन कर खा लिया जायगा, उसको खा लेने में ऐ मेरे कौवो! ख़ुशी से मेरी अनुमति है। वह खा-खू कर तुम सब निबटा देना। लेकिन भाई! इन दो नैनों को छोड़ देना! वे निरर्थक नहीं है, निराश नहीं हैं। क्या तुम नहीं जानते कि उन नैनों में एक आस भरी है, जो पराए के बस है! वह नैना पीव की बाट में हैं। ऐ कौवो! वे मेरे नहीं हैं, मेरे तन के नहीं है। वे पीय की आस भरे रखने के लिए हैं। सो उन्हें छोड़ देना।

आज सबेरे भी मैंने यह सब कुछ देखा। कौवों को रोटी खिला कर वह उसी तरह नीचे चली गई। फिर छोटे-बड़े बहुत से कपड़े धोकर लाई। उसी भाँति उन्हें झटक कर सुखा दिया। वैसे ही बाल बिखरा कर थोड़ी देर डोली, और सहसा ही उन्हें जूड़े में सँभाल कर नीचे भाग गई।

जाह्नवी को घर में एक बार देखा था। पत्नी ने उसे ख़ास तौर से देख लेने को कहा था। और उसके चले जाने पर पूछा था—क्यों, कैसी है?

मैंने कहा था—"बहुत भली मालूम होती है। सुन्दर भी है। पर क्यों?"

"अपने बिरजू के लिए कैसी रहेगी?"

बिरजू दूर के रिश्ते में मेरा भतीजा होता है। इस साल एम० ए० में पहुँचा है।

मैंने कहा—"अरे ब्रजनन्दन! वह इसके सामने बच्चा है।"

पत्नी ने अचरज से कहा—"बच्चा है? बाईस बरस का तो हुआ!"

"बाईस छोड़ बयालीस का हो जाय। देखा नहीं, कैसे ठाट से रहता है। यह लड़की देखो कैसी सफ़ेद साड़ी पहनती है। बिरजू इसके लायक कहाँ है? यों भी कह सकती हो कि यह बेचारी लड़की बिरजू के ठाट के लायक़ नहीं है।"

बात मेरी कुछ सही, कुछ व्यङ्ग थी। पत्नी ने उसे कान पर भी न लिया। कुछ दिनों बाद मुझे मालूम हुआ, पत्नी जी की कोशिशों से जाह्नवी के माँ-बाप से (माँ के द्वारा बाप से) काफ़ी आगे बढ़ कर बात कर ली गई है। शादी के मौक़े पर क्या देना होगा, क्या लेना होगा, एक-एक कर सभी बातें पेशगी तै होती जा रही हैं।

इतने में सब किये-कराये पर पानी फिर गया। जब बात किनारे तक आ गई थी, तभी हमारे ब्रजनन्दन के पास एक पत्र आ गया। उस पत्र के कारण सब चौपट हो गया। और इस रङ्ग में भङ्ग हो जाने पर हमारी पत्नी जी का मन पहले गिर कर चूर-चूर सा होता जान पड़ा, पर फिर वह उसी पर ख़ुश मालूम होने लगीं।

मैं तो मानो इन मामलों में अनावश्यक प्राणी हूँ ही। कानों-कान मुझे ख़बर तक न हुई। जब हुई तो इस तरह:—

पत्नी एक दिन सामने आ धमकीं। बोलीं—"यह तुमने जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया?"

मैंने कहा—"जाह्नवी के बारे में मैंने पहले से क्या नहीं बतलाया, भाई?"

"यही कि वह ऐसी है?"

मैंने पूछा—"ऐसी कैसी?"

उन्होंने कहा—"ज़्यादा बको मत, जैसे तुम्हें कुछ नहीं मालूम!"

मैंने कहा कि—"अरे, यह तो कोई हाईकोर्ट का जज भी नहीं कह सकता कि मुझे कुछ भी नहीं मालूम। लेकिन आख़िर जाह्नवी के बारे में मुझे क्या मालूम है, यह तो मालूम हो!"

श्रीमती जी ने अकृत्रिम आश्चर्य से कहा—"बिरजू के पास ख़त आया है, सो तुमने कुछ भी नहीं सुना?

आजकल की लड़कियाँ ... बस कुछ न पूछो। यह तो चलो भला ही हुआ कि मामला खुल गया। नहीं तो ... ।"

क्या मामला, कहाँ कैसे खुला और भीतर से क्या कुछ रहस्य बाहर हो पड़ा, सो सब बिना जाने मैं क्या निवेदित करता। मैंने कहा—"कुछ बात साफ भी कहो।"

उन्होंने कहा—"वह लड़की आशनाई में फँसी थी। यह पढ़ी-लिखी सब एक जात की होती हैं।"

मैंने कहा—"सबकी जात-बिरादरी एक हो जाय तो बखेड़ा टले, लेकिन असल बात भी तो बताओ।"

"असल बात जाननी है तो जाकर पूछो उसकी महतारी से। भली समधिन बनने चली थी। वह तो मुझे पहले से ही दाल में काला मालूम होता था। पर देखो न, कैसी सीधी-भोली बातें करती थी। वह तो देर क्या थी। सब हो ही चुका था। बस लगन-मुहूर्त की बात थी। राम-राम! भीतर पेट में कैसा कालिख रक्खे है, मुझे पता न था। चलो, आखिर परमात्मा ने इज्जत बचा ली। वह लड़की कहीं घर में आ जाती तो मेरा मुँह अब दिखाने लायक रहता?"

मेरी पत्नी का दर्शनीय मुख क्यों—किस भाँति दिखाने लायक न रहता, सो उनकी बातों से समझ में न आया। उनकी बातों में रस कई भाँति का मिला। कुछ देर के बाद मैंने उनसे तथ्य पाने का प्रयत्न भी छोड़ दिया। और चुपचाप पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म की बातें सुनता रहा। पता लगाने पर मालूम हुआ कि व्रजनन्दन के पास खुद लड़की यानी जाह्नवी का पत्र आया था! पत्र मैंने स्वयं देखा। उस पत्र को देख कर मेरे मन में कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो ... ? मुझे यह अपना सौभाग्य मालूम नहीं हुआ कि जाह्नवी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्र की बात कई बार मेरे मन में उठी है। और घुमड़ती रह गई है। ऐसे समय चित्त का समाधान उड़ गया है, और मैं शून्य-भाव से, हमें जो शून्य चारों ओर से ढके हुए है, उसकी ओर देखता रह गया हूँ।

पत्र बड़ा नहीं था। सीधे सादे ढङ्ग से उसमें यह लिखा था कि आप जब विवाह के लिए यहाँ पहुँचेंगे तो मुझे प्रस्तुत भी पायँगे। लेकिन मेरे चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं है। और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता मुझमें नहीं है। एक अनुगता आपको विवाह द्वारा मिल जायगी, लेकिन विवाह द्वारा वैसी सेविका नहीं मिलनी चाहिए। धर्मपत्नी चाहिए! वह जीवन-सङ्गिनी भी हो। वह मैं हूँ या हो सकती हूँ, इसमें मुझे बहुत सन्देह है। फिर भी अगर आप चाहें, आपके माता-पिता चाहें, मेरे माता पिता चाहें तो प्रस्तुत मैं अवश्य हूँ। विवाह में आप मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को रोकूँगी नहीं। अपने को दे ही दूँगी और आपके चरणों की धूलि माथे से लगाऊँगी, आपकी कृपा मानूँगी, कृतज्ञ होऊँगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी माँग उठा लेंगे, मुझे छोड़ देंगे तो भी मैं कृतज्ञ होऊँगी। निर्णय आपके हाथ है, जो चाहें करें।

मुझे व्रजनन्दन पर आश्चर्य आकर भी आश्चर्य नहीं होता। उसने दृढ़ता के साथ कह दिया कि मैं यह विवाह नहीं करूँगा। लेकिन उसने मुझसे अकेले में यह भी कहा कि चाचा जी, मैं विवाह करूँगा ही नहीं। करूँगा तो उसी से करूँगा। उस पत्र को वह अपने से अलहदा नहीं करता है। और मैं देखता हूँ कि उस व्रजनन्दन का ठाट-बाट आप ही आप कम होता जा रहा है। सादा रहने लगा है और अपने प्रति सगर्व बिल्कुल भी नहीं दीखता है। पहिले विजेता बनना चाहता था और डींग की बातें करता था, अब विनयावनत दीखता है और आवश्यक से अधिक बात नहीं करता। एक बार एक प्रदर्शिनी में मिल गया। मैं तो देख कर हैरत में रह गया। व्रजनन्दन एकाएक पहचाना भी न जाता था। मैंने कहा—"व्रजनन्दन, कहो क्या हाल है?"

उसने प्रणाम करके कहा—"अच्छा है।"

वह मेरे घर पर भी आया। पत्नी ने उसे बहुत प्रेम किया। और बहुत बहुत बधाइयाँ दीं कि ऐसी लड़की से शादी होने से चलो भगवान ने समय पर रक्षा कर दी। जाह्नवी नाम की लड़की की एक-एक बात बिरजू की

चाची को मालूम हो गई है। वे बातें—ओह! कुछ न पूछ बिरजू भैया! मुँह से भगवान किसी की बुराई न करावे। लेकिन..."

फिर कहा—"भई, अब बहू के बिना काम कब तक हम चलावें, तू ही बता। क्यों रे, अपनी चाची को बुढ़ापे में भी तू आराम नहीं देगा? सुनता है कि नहीं?"

व्रजनन्दन चुपचाप सुनता रहा।

पत्नी ने कहा—"और यह तुझे हो क्या गया है? अपने चाचा की बात तुझे भी लग गई है क्या? न ढङ्ग के कपड़े, न दीन की बातें! उन्हें तो अच्छे कपड़े-लत्ते सोभते ही नहीं हैं। तू क्यों ऐसा रहने लगा है, रे?"

व्रजनन्दन ने कहा, "कछ नहीं चाची! और कपड़े धर रक्खे हैं।"

अकेले पाकर मैंने भी उससे कहा—"व्रजनन्दन, बात तो सही है। अब शादी करके काम में लगना चाहिए। और घर बसाना चाहिए। है कि नहीं?"

व्रजनन्दन ने मुझे देखते हुए बड़े-बूढ़े की तरह कहा—"अभी तो बहुत उमर पड़ी है चाचा जी।"

मैंने उस बात को ज़्यादा नहीं बढ़ाया।

अब खिड़की के पार इतवार को, सोमवार को, मङ्गलवार को और आज बुधवार को भी सवेरे ही सवेरे छत पर नित-नित रोटी के मिस कौवों को पुकार कर बुलाने, खिलाने वाली यह जो लड़की देखता रहा हूँ, क्या वह जाह्नवी है? जाह्नवी को मैंने एक ही बार देखा है, इसलिए मन को कुछ निश्चय नहीं होता है। क़द इतना ही था; लावण्य शायद उस जाह्नवी में कुछ अधिक रहा होगा। पर यह वह नहीं है, जाह्नवी ही नहीं है, ऐसा दिलासा मैं मन को तनिक भी नहीं दे पाता हूँ। सवेरे ही सवेरे इतने कौवे बुला लेती है कि ख़ुद दीखती ही नहीं। काले-काले वे ही वे दीखते हैं। और वे उसके चारों ओर ऐसी छीन-झपट सी करते हुए उड़ते रहते हैं मानों बड़े स्वाद से, बड़े प्रेम से चोंथ-चोंथ कर उसे खाने के लिए आपस में बदा-बदी मचा रहे हों। पर उनसे घिरी वह कहती है—"आओ कौवो, आओ।" जब वे आ जाते हैं तो गाती है।

"कागा चुन-चुन खाइयो............"

और काग जब इकट्ठे के इकट्ठे काँव-काँव करते हुए चुन-चुन कर खाने लगते हैं और फिर भी खाँउँ-खाँउँ करते उससे भी ज़्यादा माँगने लगते हैं तब वह चीख मचा कर चिल्लाती है—

कि ओ रे कागा, नहीं, ये—

"दो नैना मत खाइयो,
मत खाइयो
पीव मिलन की आस।"

गीत



[श्री० नरेन्द्र शर्मा, एम० ए०]

आज उज्ज्वल चाँदनी को दिन समझ कर,
सो नहीं पाते विकल खग !
प्राण ! जैसे स्वप्न को ही सच समझ कर
नींद से हूँ मैं गया जग !

पूर्णिमा है रात आधी, शीश पर शशि-बिम्ब आया,
पेड़ के पैरों पड़ी अब घूम-फिर कर श्रान्त छाया !
मैं विजन के वृक्ष-सा ही शशि-सदृश तुम दूर हो चिर,
किन्तु मेरे भाव छाया-से नहीं अब भी हुए थिर !

दूर हैं वे चरण पावन, मैं निराश्रित बिना साधन,
ग्रथित सुधि के सिन्धु में अब भ्रमित भँवरों में हुआ मन !
थक गया हूँ चाहता हूँ, लूँ कहीं विश्राम क्षण भर,
किन्तु पैरों में गिरूँ किसके तुम्हें मैं छोड़ सुन्दर !

दूर हो तुम, दूर ही से भेजती निस्सार सपने,
व्यर्थ है पर स्वप्न मिथ्या, दो बढ़ा आचरण अपने,
अचिर सपनों का करूँ क्या जाग जिनको भूल जाऊँ ?
नींद दो जिससे जगूँ निज को अकेला ही न पाऊँ !

मैं अकेला, देख शशि को आह भर
जागता हूँ, सो रहा जग,
किन्तु किस अज्ञात की पद-चाप सुन कर
कर उठे रव अब जगे खग !



हमारा समाज और स्त्री जाति

[श्री० ऋषभदास जैन, एम० ए०]

प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न भावों, विचारों अथवा स्थितियों के लोग या भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले अपने कुछ पृथक् समुदाय बना लेते हैं। एक ही स्थान पर रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का व्यवसाय आदि करने वाले लोगों के समूह को 'समाज' के नाम से पुकारा जा सकता है अथवा वह संस्था भी जो बहुत से लोगों ने मिलकर किसी विशिष्ट उद्देश्य से स्थापित की हो, 'समाज' कहलाने की अधिकारिणी हो सकती है। प्राचीन काल में भिन्न-भिन्न धार्मिक विचारों अथवा भावों के द्योतक लोगों के समूह 'सम्प्रदाय' विशेष के अन्तर्गत कहे जाते थे। 'सम्प्रदाय' का अर्थ होता है—कोई विशेष धर्म सम्बन्धी मत अथवा किसी मत विशेष के अनुयायियों की मण्डली। परन्तु धीरे-धीरे यह 'सम्प्रदाय' और 'समाज' शब्द आगे चलकर समान अर्थ के द्योतक बन गये; जैसे किन्हीं विशेष प्रकार के धार्मिक विचारों और सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखने वाले आज विशेष सम्प्रदायवादी न कहला कर आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, जैन समाजी इत्यादि नामों से सम्बोधित किये जाने लगे हैं। यद्यपि ऐसी भी सामाजिक संस्थाओं का अभाव नहीं है, जो व्यवसायों तथा स्थितियों के आधार पर बनी हैं, परन्तु इनका भी किसी न किसी धार्मिक संस्था विशेष से सम्बन्ध होने के कारण इनके आचार-विचार, रीति-रिवाज भी उसी संस्था विशेष के जन-समूह के अनुरूप हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—दही-दूध का व्यवसाय करने वाले एक ग्वाला को हम आभीर समाज के अन्तर्गत स्थान देंगे, जो कि हिन्दू धर्मानुयायी हैं। परन्तु यदि यह अपना धर्म परिवर्तन करके ईसाई हो जावे तो इसके रहन-सहन, आचार-विचार, रीति रिवाज सब कुछ धीरे-धीरे ईसाई वर्ग के ही अनुरूप हो जावेंगे। भारतवर्ष में अनेक धर्मों की उत्पत्ति तथा विदेशी धर्मों के आगमन और प्रचार के उपरान्त कुछ ऐसी ही परिस्थिति यहाँ पैदा हो गई। इसलिये धीरे-धीरे भिन्न-भिन्न व्यवसायों, भावों, विचारों और स्थितियों के आधार पर बने समाजों ने यदि पूर्ण रूप से नहीं तो आंशिक रूप से अवश्य ही अपना अस्तित्व भिन्न-भिन्न धार्मिक संस्थाओं अथवा समाजों में डुबो दिया। फलतः आज के समाज विशुद्ध जातीयता के केन्द्र न रहकर साम्प्रदायिकता के केन्द्र बन गये और एक ही व्यवसाय करने वाले अथवा एक ही जाति के लोग एक ही धर्म के अनुयायी न होने के कारण एक दूसरे से बहुत दूर जा पड़े। इस प्रकार प्रेम का स्थान घृणा और विद्वेष ने ग्रहण किया। जिसके फलस्वरूप सामाजिक सङ्गठन ही ढीला न हुआ, प्रत्युत एक बड़ी मात्रा में राष्ट्रीयता की भावना को भी धक्का लगा। धार्मिक एकता का सामाजिक एकता और सङ्गठन पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। वास्तविक शक्ति 'एकता' में ही है और उसी को हम सङ्गठन के नाम से पुकारते हैं। जहाँ भिन्न-भिन्न विचारों का उदय हुआ कि उनमें सङ्घर्ष होना अनिवार्य हो जाता है। इन भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों और विचारों के बीच भयङ्कर सङ्घर्ष का प्रत्यक्ष प्रमाण हमको आज के पश्चिम यूरोप की अराजकता में निश्चित रूप से मिल

जायगा। जिस समय से भारत में अनेक धर्मों की उत्पत्ति तथा विदेशी धर्मों के विरुद्ध आन्दोलन स्वरूप धार्मिक क्रान्ति मचनी प्रारम्भ हुई, उसी समय से हमारे समाज अपने विनाश पथ पर चल पड़े। उनका सङ्गठन छिन्न भिन्न हो गया। समाज की धर्मान्धता और क्रूरता ने धर्म परिवर्तन की क्रांतिकारी और विनाशकारी मनोवृत्ति को और प्रोत्साहन दिया, जिससे रही-सही कमी भी पूरी हो गई।

सच तो यह है कि धर्म और समाज तथा उनकी प्रगति में पुरातन काल से ही बड़ा गहरा सम्बन्ध रहा है और भिन्न-भिन्न समाजो ने अपने निर्बल अङ्गों (व्यक्तियों) के साथ धर्म की आड़ लेकर बड़ी क्रूरता और पाशविकता का खेल खेला, जिसके फलस्वरूप दिनोंदिन सामाजिक सङ्गठन सर्वनाश की ओर अग्रसर हुआ और अन्त में आकर निर्जीव सा ही हो गया। अत्याचार की इन रक्त-रंजित गाथाओं से आज भी साहित्य के पृष्ठ रँगे हुए हैं।

यों तो समाज और धर्म की व्युत्पत्ति, विकास और उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अनेक अनुमान लगाये जाते हैं, परन्तु हमारा अपना मत इस विषय में यह है कि समाज की भावना का उदय धर्म से बहुत पहले हो गया होगा। सभ्यता से बहुत पहले हमारे पूर्वज जिस वातावरण में रहते होंगे, उसमें अनुमानत लूट-खसोट और छीना-झपटी का बाज़ार खूब गर्म होगा। वे एक दूसरे की धन-सम्पत्ति का आदर करना न जानते होंगे। दिन-दहाड़े एक दूसरे की धन-सम्पत्ति, भोजन, और यहाँ तक कि स्त्रियों का भी अपहरण कर लेना उनके लिये एक साधारण सी बात होगी। इस बर्बर मनोवृत्ति के अवशेष सभ्यता के इस युग में भी यथेष्ट रूप से मिलते हैं। फिर उस समय जैसी भयङ्कर अवस्था होगी, उसकी केवल एक कल्पना ही की जा सकती है। संसार के इतिहास के उस युग में, जब जीवन के लिये भयङ्कर सङ्घर्ष* की आवश्यकता थी तथा जीवन धारण वही कर सकता था, जो अपने से निर्बल को रहने न दे लोगों का शान्ति-पूर्वक रहना असम्भव हो गया होगा, क्योंकि क्षणिक सुखों के लिये तथा अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिये वे हत्या और डाकेजनी जैसे जघन्य पापों के करने में भी चूकते न होंगे। इससे उस समय के जन-समूह में भारी असन्तोष के चिह्न उदय हुये होंगे, जिसके फलस्वरूप एक ऐसी संस्था की कल्पना की गई होगी, जो कि आचरण सम्बन्धी कुछ नियम बनावे और उस उच्छृङ्खल जन-समूह की बर्बर मनोवृत्तियों पर नियंत्रण रख सके। फलत 'समाज' की भावना तथा आचार सम्बन्धी नियम कार्य-रूप में परिणत हुये होंगे। आगे चल कर हमारे पूर्वजो को जीवन के लिये घोर सङ्घर्ष करने के पश्चात् जिस समय भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपनी टोलियाँ बनाकर स्थायी रूप से शान्तिपूर्वक रहने का अवसर प्राप्त हुआ होगा, उसी समय लोगों को भारत के आदिम निवासियों के समय-समय पर होने वाले आक्रमणों से बचने के लिए पारस्परिक सहायता और सहयोग की आवश्यकता का अनुभव हुआ होगा। जिसके फलस्वरूप इनमें सामाजिक सङ्गठन की भावना ने भी घर किया होगा। "आवश्यकता सब-आविष्कारों की जननी है।"

भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहने पर भी आर्यजनों के धर्म, सामाजिक और राजनैतिक संस्थाएँ तथा रीति-रिवाज एक से ही थे। ऋग्वेद के समय में आकर धर्म की भावना का भी उदय हुआ, यद्यपि उसका वह आदि-रूप आजकल के धर्म के रूप से बहुत भिन्न था। ऋग्वेद के आर्यों को परलोक की उतनी चिन्ता न थी जितनी उनके वंशजों को ४००-५०० वर्ष पीछे हुई। वे मुख्यतः इसी जीवन की परवाह करते थे, यहीं आनन्द करना चाहते थे। परन्तु यह स्थिति बहुत समय तक नहीं रह सकती थी। उनकी जीवन-सरिता के अबाध तथा स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित होने में बड़ी कठिनाइयाँ थीं। आचरण सम्बन्धी नियमों का यथार्थ रूप में पालन न होने के कारण उनके हृदयों में एक आशङ्का, एक भय की सृष्टि होगई, जो उनके आनन्दपूर्वक जीवन बिताने में बाधक होती थी, जबकि आनन्दपूर्वक जीवन बिताना ही उनका चरमध्येय था। यही उनका धर्म या और यही कर्म। इसके फलस्वरूप यह आचरण सम्बन्धी नियम, जिनको आज हम कर्तव्यशास्त्र अथवा Ethics के नाम से पुकारते हैं, धर्म के रङ्ग में रँगे गये, जिससे

* Struggle for Existence and survival of the fittest

उनका प्रभाव अधिक व्यापक हो और लोगों के हृदय में आदर और श्रद्धा के साथ भय का भी सञ्चार करें। उनको इस कार्य में आशातीत सफलता मिली और समाज की उच्छृङ्खलता को दूर करने में किसी सीमा तक वे समर्थ भी हुये। इस प्रकार धर्म और समाज में एक अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित हो गया, जो आज तक उसी रूप में हमें मिलता है। ऋग्वेद में भी समाज के नैतिक आदर्श की बड़ी ऊँची से ऊँची कल्पना इसी आधार पर की गई है। इस आदर्श के अनुसार सब लोगों को चाहिये कि हेल-मेल से रहें और 'ऋत्' अर्थात् सत्य अथवा यों कहिये धर्म को अपने जीवन का अवलम्बन बनायें। ऋग्वेद में 'ऋत्' और 'सत्' इन दो शब्दों पर अधिक ज़ोर दिया है। विद्वानों का मत है कि 'ऋत्' का अर्थ है 'प्राकृतिक नियम' किन्तु यह 'सत्' का पर्यायवाची शब्द नहीं है, जैसा कि आजकल के लोग समझते हैं। 'सत्' का प्रयोग आजकल के ही रूप में होता था। यह केवल वाणी से ही नहीं, वरन् मनसा-वाचा-कर्मणा समझा जाता था। ऋग्वेद के अनुसार आदमी क्या, देवता भी धर्म का पालन करते हैं। स्वयं देवताओं ने अपने लिये कड़े नियम बना रक्खे हैं। इसके अतिरिक्त देवता कभी इन्द्र के नियमों का उल्लङ्घन नहीं करते। विश्व में जो कुछ है उस सबका आधार 'ऋत्' है। देवता, मित्र, वरुण अनृत को जीत कर 'ऋत्' का पालन करते हैं। देवता वरुण के नियम सदा सत्य हैं। वरुण तो अनृत से स्वभावतः घृणा करता है और ऋत् को बढ़ाता है। अनेक मंत्रों में झूठ की निन्दा की गई है और झूठा अपराध लगाने वाले को शाप दिया है। आर्यों ने 'ऋत्' का सिद्धान्त प्रकृति से सीखा था।

सामाजिक समस्या का ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक विवेचन करते समय हमको उससे सम्बद्ध सभी समस्याओं पर यथेष्ट रूप से विचार करना होगा। इनमें से दो समस्याएँ प्रमुख हैं—(१) स्त्री-समस्या (२) वरुण अथवा जाति समस्या। इस लेख में दोनों समस्याओं की विशद विवेचना सम्भव नहीं है, इसलिये इनमें से प्रथम विषय अर्थात् 'स्त्री-समस्या' का प्रतिपादन हम यहाँ पर करेंगे; क्योंकि दोनों विषयों को साथ-साथ उठाने से सम्भव है कि लेख अधिक लम्बा होकर अरुचिकर हो जावे।

विषय प्रतिपादन की सुविधा के लिये ऋग्वेद की रचना के समय से आज तक के समय को हम नीचे लिखे क्रम के अनुसार कालों में विभाजित कर लेंगे, जिससे सामाजिक सङ्गठन के अन्तर्गत स्त्री-जाति के क्रमिक विकास अथवा ह्रास को हम स्पष्ट रूप से देख सकें। स्त्री-जाति की ऐतिहासिक विवेचना में इस प्रकार इससे बड़ी सहायता मिलेगी —

(१) प्राचीन युग (१८०० पू० ई० —१ पू० ई०)
   (अ) वैदिक काल (१८०० पू० ई०—१२०० पू० ई०)
   (ब) ब्राह्मण काल (१२०० पू० ई०—६००पू० ई०)
   (स) बौद्ध काल (६०० पू० ई०—१ पू० ई०
   महाभारत और रामायण काल।

(२) मध्ययुग (१ ई०—१८०० ई०)
   (अ) पौराणिक काल (१ ई०—६०० ई०)
   (ब) राजपूत काल (६०० ई०—१२०० ई०)
   (स) यवन काल (१२०० ई०—१८०० ई०)

(३) नवयुग अथवा सुधार-काल
   (१८०० ई० के बाद से आज तक)

ऋग्वेद के समय में आर्य कुटुम्ब का जीवन पैत्रिक सत्ता और स्त्री-सम्मान के सिद्धान्तों के आधार पर अवलम्बित था। पिता या पितामह एक तरह का गृहपति होता था, जिसकी प्रधानता घर के और लोग भी मानते थे। गृहपति से उदारता और वीरता की आशा की जाती थी। पिता के मरने पर बड़ा लड़का गृहपति होता था। साधारणतया वह कुटुम्ब की सम्पति का स्वामी समझा जाता था, पर कभी-कभी भाइयों में बँटवारा भी हो जाता था। भाइयों का एक बड़ा कर्तव्य था कि विवाह होने तक बहिनों का पालन-पोषण करें। इसी से संस्कृत में भाई के लिये "भ्रातृ" शब्द का प्रयोग किया है, अर्थात्—"भरण करने वाला"। जिन लड़कियों के भाई नहीं होते थे, उनको कभी-कभी बड़ी विपत्तियों का सामना करना पड़ता था। सङ्गठन के सिद्धान्त और व्यवहार में स्त्रियों का पद बहुत ऊँचा था। किसी तरह का पर्दा नहीं था, साधारण जीवन के अतिरिक्त समाज के मानसिक तथा धार्मिक नेतृत्व में भी स्त्रियों का हाथ था।

जैसी कुछ शिक्षा उन दिनों उपलब्ध थी उसके द्वार समान रूप से स्त्रियों के लिये भी खुले थे । जिन स्त्रियों में धार्मिक साहित्य रचने की शक्ति थी, उनको अपनी इस प्रवृत्ति के अनुसार चलने में कोई रोक न थी । कई स्त्रियाँ ऋषि थीं जिनकी रचनाएँ पुरुषों की भाँति 'ऋग्वेद-संहिता' में आज तक सम्मिलित है । साहस और वीरता में भी स्त्रियाँ कम नहीं होती थीं । कोई-कोई तो समर-भूमि में जाकर पुरुषों की भाँति शूरता दिखाती थीं। विवाह के मामले में भी उनको बड़ी स्वतंत्रता थी । बहुधा जवान स्त्री-पुरुष आपस में मिला-जुला करते थे, अपनी रुचि के अनुसार प्रेम करते थे और कभी-कभी पसन्द के अनुसार ही एक दूसरे से विवाह भी कर लेते थे । इस प्रकार के विवाहों के सम्बन्ध में "गन्धर्व विवाह" का उल्लेख बाद को भी मिलता है । प्राचीन समय में राजा लोग बहुधा इस प्रकार के विवाह किया करते थे, इसमें वर और कन्या दोनों ही बिना किसी की सम्मति के विवाह के पवित्र बन्धन में बँध जाते थे । इस प्रकार के विवाहों के उल्लेख क्षत्रिय राजकुमार और राजकुमारियों के सम्बन्ध में बहुधा मिलते हैं । ऐसे विवाहों का सम्पादन या तो कन्या के माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध छिप कर हुआ करता था, जैसे कृष्ण और रुक्मिणी का, अथवा किसी परिस्थिति विशेष में जब कि युवक और युवती अनायास ही प्रेम के बन्धन में बँध गये हों और किसी कारणवश दोनों को शीघ्र ही एक दूसरे से वियुक्त होना पड़े—जैसे शकुन्तला और दुष्यन्त का । कोई-कोई स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य पर फूली न समाती थीं और अपने प्रेमियों के चित्त प्रसन्न करने में भी बड़ी कुशल होती थीं । कभी-कभी प्रेमी युवक और युवतियाँ छिप कर मिलने का प्रयत्न करते थे । युवक और युवतियों को अभी विवाह की स्वतन्त्रता थी, परन्तु उनका प्रेम समवर्ग या समकक्ष के ही सेज के मिलने-जुलने वाले से होता था । यूरोप और अमेरिका आदि देशों में अब भी ऐसा ही है । इन उल्लेखों से एवं विवाह के बाद ही होने वाले संस्कारों से स्पष्ट है कि इन दिनों बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित न थी । ऋग्वेद में न तो कहीं बाल-विवाह का उल्लेख है और न कोई ऐसी बात है, जिससे बाल-विवाह का तनिक भी अनुमान हो सके । इसके विपरीत एक उल्लेख से प्रतीत होता है कि स्त्रियाँ कभी-कभी अधेड़पन के बाद विवाह करती थीं । कोई कोई तो ऐसी भी थीं, जो विवाह से बिलकुल इनकार कर देती थीं और अपने पिता या भाई के साथ रहती थीं । विधवा-विवाह होता था । परित्याग अथवा तलाक़ (Divorce) की प्रथा प्रचलित थी ।

सास-ससुर, देवर और ननद के साथ रहते हुये भी बहू का प्रभाव बहुत था । अपने पति के साथ वह मन्त्र पढ़ती थी, यज्ञ करती थी, दान देती थी, सोमरस बनाती थी और पीती थी । स्त्री घर की स्वामिनी थी, वह घर का प्रबन्ध करती थी और बहुत से कामों के अतिरिक्त ताने-बुनने का भी काम करती थी । एक मन्त्र में इन्द्र के द्वारा यह अवश्य कहलाया गया है कि स्त्रियों की बुद्धि कमजोर होती है और उनका चित्त अधिक संयम पसन्द नहीं करता । पर साधारणतया स्त्रियों का बहुत आदर-सम्मान था ।

ब्राह्मण काल में वैदिक-काल की अपेक्षा स्त्रियों के सम्बन्ध में विशेष भिन्नता नहीं मिलती । इस काल में भी पर्दे का उल्लेख नहीं मिलता । बाल विवाह की भी प्रथा नहीं थी । विधवा विवाह होता था । परित्याग अथवा तलाक़ की प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता , यद्यपि इससे पूर्वकाल में इसका स्पष्ट उल्लेख है । सम्भव है, स्त्री अथवा पुरुष में से किसी ने इस प्रथा से अनुचित लाभ उठाना चाहा हो और इसके दुरुपयोग के उदाहरण अनेक मिलने लगे हों, जिसके फल-स्वरूप आर्यों ने तङ्ग आकर इस प्रथा को रोक देना ही अधिक श्रेयस्कर समझा हो । इस काल में 'नियोग' का भी उल्लेख मिलता है । 'नियोग' प्राचीन आर्यों की एक प्रथा थी, जिसके अनुसार यदि किसी स्त्री का पति न होता या उसे अपने पति से सन्तान न होती थी तो वह इच्छा होने पर अपने देवर या पति के और किसी गोत्रज से सन्तान उत्पन्न कर सकती थी, परन्तु उसमें समाज से पहिले आज्ञा ले लेनी आवश्यक थी । मनुस्मृति में नियोग के विषय में बड़ी विशद विवेचना मिलती है । हमारी समझ में 'नियोग' की इस प्रथा का उद्गम आर्यों की विवाह के सम्बन्ध में उस धारणा से है,

जिसके अनुसार विवाह का वास्तविक उद्देश्य ही 'सन्तानोत्पत्ति' है। यदि विवाह करने पर सन्तानोत्पत्ति नहीं हुई तो एक प्रकार से विवाह का उद्देश्य ही विफल हो गया। सच तो यह है कि उस समय के आर्यों को अपनी आबादी को बढ़ाने की आवश्यकता थी। उनकी आबादी बहुत सीमित थी और उनको अनार्यों को परास्त करके अपनी सभ्यता तथा राज-सत्ता का प्रसार कर उस सत्ता को भारत-व्यापी बनाने की हार्दिक चाह थी। उनकी इस इच्छा की पूर्ति तभी हो सकती थी जब उनकी आबादी शीघ्र से शीघ्र बढ़े। इस लक्ष्य की साधना के लिए उन्होंने उसके साधनों की नैतिकता को सर्वथा ही भुला दिया। नैतिक दृष्टि से ऐसा कार्य कभी श्रेयस्कर नहीं कहला सकता। परन्तु उनके सामने तो समस्या यह थी कि स्त्री की सन्तानोत्पादन की वह शक्ति, जो उसके पति के अभाव अथवा उसकी अयोग्यता के कारण निरर्थक हुई जाती है, क्यों न नष्ट होने से रोकी जावे और क्यों न समय की आवश्यकता के अनुसार उससे समाज तथा आर्य सभ्यता को लाभान्वित करने का प्रयत्न किया जावे। यही नियोग की प्रथा का मूलाधार प्रतीत होता है। अन्यथा ज्ञानी तथा बुद्धिमान आर्य जन समुदाय कभी ऐसे नैतिक दृष्टि से नीच कार्य को प्रोत्साहित न करते। हमारा पूर्ण विश्वास है कि यदि यह आर्य वर्ण ब्राह्मण-काल में न होकर आज के समय में होता तो निश्चय ही वह 'नियोग' को प्रचलित करने की मूर्खता न करता, परन्तु समय मनुष्य से सभी कुछ करा देता है। नीति भी यही कहती है कि समय तथा उसकी आवश्यकताओं के ही अनुसार सामाजिक तथा धार्मिक नियमों में तथा और सभी बातों में यथा-इष्ट परिवर्तन होने चाहिये और समय की प्रगति से क़दम मिला कर चलना सीखना चाहिये। नीति के इसी सिद्धान्त को हम इस काल में अपने पूर्वजों द्वारा कार्यान्वित होते हुये देखते हैं। इस काल में स्त्रियों को काफ़ी स्वतन्त्रता थी। लड़कियों की शिक्षा साधारणतया घर पर ही होती थी, किन्तु समाज में उनका पद लड़कों की बराबरी का न था। यद्यपि इस बात का प्रयत्न किया जाता था कि लड़कियों को हेय न समझा जावे, फलस्वरूप विवाह के समय लड़के वाला लड़की वाले को दहेज दिया करता था, जिससे कि लड़की का स्थान समाज में गिरने न पावे।

महाभारत में बहुत जगह स्त्रियों की बड़ी प्रशंसा की गई है और उनका पद भी बहुत ऊँचा समझा गया है। स्त्रियाँ, पुरुषों को कर्म और वीरता का उपदेश देती हैं। पतियों को यश और शूरता के मार्ग पर चलने का आदेश देती हैं। निःकर्मण्यता और दुराचार पर उनको ख़ूब फटकारती हैं। यद्यपि कुछ कुलीन घरों की महिलाएँ कदाचित बाहर बहुत नहीं आती-जाती थीं, पर मेलों में स्त्रियों के भी स्वतन्त्रता पूर्वक घूमने का उल्लेख मिलता है। महाभारत में स्त्रियों का बड़ा आदर किया गया है। पुरुषों के धर्म, अर्थ और काम का आधार स्त्री को माना है, परन्तु फिर भी यह अवश्य कहा गया है कि स्त्रियाँ स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं हैं। पिता, पति और पुत्र को उनकी रक्षा करनी ही चाहिये। महाभारत में बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी। विवाह के लिये प्रायः माता-पिता की आज्ञा ली जाती थी। पर कभी-कभी युवक-युवती अपने भाग्य का निपटारा आप ही कर डालते थे। क्षत्रिय कन्याएँ बहुधा स्वयम्बर करती थीं। पति के मर जाने या खो जाने पर स्त्रियों को दूसरा विवाह करने का अधिकार रहता था। महाभारत में भी नियोग की प्रथा का उल्लेख मिलता है।

रामायण से पता चलता है कि उस समय कोई-कोई स्त्रियाँ कठिन तपस्या किया करती थीं। राजकुमारियाँ बहुधा स्वयंवर करती थीं, पर पिता की शर्त कभी-कभी ऐसी होती थी कि उनको वरने की कोई स्वतन्त्रता न रह जाती थी। साधारण श्रेणी के व्यक्तियों को अपनी कन्याओं के लिये योग्य वर न मिलने पर कभी-कभी बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ता था; जिससे कन्या उनको भार स्वरूप हो जाती थी। स्त्रियों को बाहर आने-जाने की भी स्वतन्त्रता थी। रामायण में व्यक्तिगत चरित्र का आदर्श बहुत ऊँचा रक्खा है।

बौद्ध-धर्म के आविर्भाव काल में स्त्रियों की अवस्था में विशेष परिवर्तन दिखाई पड़ता है। बाल-विवाह तथा पर्दे का इस काल में कोई उल्लेख नहीं मिलता। विधवा-विवाह का तो स्थान-स्थान पर उल्लेख है। इस काल में

समाज में स्त्रियों का स्थान पीछे पड़ने लगा। इसके दो कारण मुख्य थे—पहला तो यह था कि क्षत्रियों में बहु विवाह का प्रथा चल गई थी, जिसमें स्त्रियों के सम्मान में कमी आना स्वाभाविक ही था, इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह भी था कि बौद्ध तथा जैन धर्म ने सन्यास का ऐसा राग अलापा जिससे लोगों की श्रद्धा गृहस्थाश्रम पर से उठ कर सन्यास पर जाने लगी। फलतः स्त्रियों के प्रति भी विरक्ति का भाव पैदा हुआ, क्योंकि सन्यास-प्रधान वातावरण की विरक्त अवस्था में स्त्रियों से बाधा पड़ती थी, अतएव उत्तर बौद्ध साहित्य में स्त्रियों की बड़ी निन्दा की गई है। स्त्रियों और शूद्रों के लिये सन्यास नहीं था। सती का उल्लेख भी सब से पहले बौद्ध काल में ही मिलता है। धीरे-धीरे यह प्रथा बढ़ने लगी और स्त्रियों के प्रति विरक्ति का भाव इसमें सहायक हुआ।

राजपूत-काल में स्त्रियों का स्थान समाज में और भी गिर गया। स्त्रियों की इस गिरती हुई अवस्था का मुख्य कारण देश में विदेशियों का आगमन था। जब इन विदेशी आक्रमणकारियों को विजय पर विजय मिलती गई, तो इस स्वर्गोपम देश की हरी-भरी उपजाऊ भूमि तथा स्वास्थ्यप्रद जलवायु को देख कर यह लोग यहाँ बसने लगे। यह विदेशी आक्रमणकारी भारतवर्ष में केवल अपना धर्म फैलाने के उद्देश्य से आये थे। उनका इरादा यहाँ बसने का नहीं था, इसीलिये उनके साथ आई हुई स्त्रियों की संख्या भी बहुत थोड़ी थी। दूसरे सैनिक-जीवन में बीबी और बच्चों का साथ लिये-लिये फिरना सम्भव भी नहीं था। जब वे यहाँ बस गये तो उनके विवाह आदि भी यहीं की स्त्रियों से होने लगे। पराजित वर्ग प्राणों के भय से तथा शासित वर्ग की कृपा का भाजन बनने तथा उसमें रुपया, जायदाद और बड़े बड़े ओहदे पाने के प्रलोभन में पड़ कर अपनी कन्याएँ इन विधर्मियों को सौंप देते थे। परन्तु ध्यान रहे कि इन विवाहों में आदर्श हिन्दू विवाहों जैसा महत् उद्देश न था। इन विवाहों के अन्तराल में पाशविक वासनाओं की तृप्ति की भीषण वृत्ति ही प्रधान रूप से क्रीड़ा करती थी, तथा संसार-यात्रा में एक दूसरे के सहायक बनने की चिन्ता न थी। फलतः पुरुष के हृदय में स्त्री के लिये वह सम्मान कदापि नहीं हो सकता था जिसका उल्लेख स्थान-स्थान पर प्राचीन साहित्य में मिलता है। इस नई परिस्थिति के उत्पन्न होने का फल यह हुआ कि राजपूतों में भी लड़कियाँ हेय दृष्टि से देखी जाने लगीं, क्योंकि उनके होने से कुल में कलङ्क लगने का भय था। इस काल में स्त्रियों के पढ़ने का भी उल्लेख मिलता है। पर्दे का अभी तक अभाव था, परन्तु आगे चल कर इस पर भी विदेशियों का प्रभाव पड़े बिना न रह सका। राजाओं की स्त्रियाँ दरबारों में आती थीं। स्त्रियों का पुरुषों के साथ मेलों, उपवनों और जल-विहार में जाने का भी उल्लेख काम-सूत्रादि में मिलता है। वे शस्त्र धारण कर घोड़ों पर सवार होती थीं। ऐसी भी आर्य-ललनाओं का उल्लेख मिलता है जिन्होंने समर-भूमि में जाकर अपने अद्भुत साहस, कौशल तथा वीरता से विलासी और कामान्ध यवन शासकों के दाँत खट्टे किये थे। इस काल के अन्त में बाल-विवाह तथा पर्दे की प्रथा प्रचलित होने लगी। इस नई परिस्थिति के उत्पन्न होने में मुसलमानों के आगमन का बहुत प्रभाव पड़ा। क्योंकि जनता के सामने अब सब से बड़ी समस्या स्त्री जाति की रक्षा की थी। विधवा-विवाह की प्रथा यद्यपि पहले की तरह इस काल में प्रचलित न थी, परन्तु उसका एकदम अभाव भी न था।

परन्तु यवन-काल में आकर परिस्थिति ने सर्वथा नया रूप धारण किया। स्त्री-रक्षा के लिये अनेक नियम बनाये गये, जैसे बाल विवाह और पर्दे की प्रथा। पर्दे की प्रथा का कारण एक तो आत्म रक्षा था और दूसरे अनुकरण। पर्दे की प्रथा मुसलमानों में प्रचलित थी, इसी का अनुकरण हिन्दुओं ने भी किया। इस काल में स्त्री-पुरुषों का सम्पर्क कम हो गया, अतएव गृहस्थी का उद्देश्य भी पूर्ण रूप से पालन न हो सका। इसका प्रभाव यह हुआ कि संस्कृति की दृष्टि से स्त्री-पुरुष दोनों भिन्न हो गये और स्त्री जाति की अवनति होने लगी। सती-प्रथा का भी अत्यधिक प्रचार आत्म-रक्षा की भावना के ही कारण हुआ।

नवयुग के आने पर सामाजिक क्षेत्र में भी बहुत से आन्दोलन हुये। इन आन्दोलनों में आर्य-समाज का सब

से अधिक हाथ रहा और उसको इसमें आशातीत सफलता भी मिली। स्त्री-समस्या से सम्बन्ध रखने वाले यों तो बहुत से आन्दोलनों का आर्य-समाज ने नेतृत्व किया, परन्तु इनमें तीन प्रमुख हैं—(१) विधवा-विवाह को प्रोत्साहन (२) स्त्री-शिक्षा का प्रचार तथा (३) पर्दा प्रथा का बहिष्कार। यद्यपि इसका प्रभाव ऊँची श्रेणी के तथा पढ़े-लिखे मध्यम श्रेणी के लोगों तक ही रहा और इन आन्दोलनों का प्रभाव युगों से रूढ़ियों के दलदल में फँसी हुई जनता के ऊपर यथेष्ट रूप में न पड़ सका तथापि हम इनके सराहनीय उद्योग तथा परिश्रम की सराहना किये बिना नहीं रह सकते।

यद्यपि सभी दिशाओं में स्त्री जाति ने थोड़ी-बहुत उन्नति की है, तथापि इनमें पर्दा-निवारण और अशिक्षा को दूर करने के मार्ग पर उसने काफ़ी क़दम बढ़ाया है। कॉङ्ग्रेस के आन्दोलनों ने स्त्री-जाति में एक नई स्फूर्ति भर दी और वे सार्वजनिक कार्यों में भी भाग लेने लगी हैं। मेलों, उपवनों तथा अन्य विनोद-स्थानों में जाना भी अब पहले के समान बुरी दृष्टि से नहीं देखा जाता है। इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्त्री-समाज के उज्ज्वल भविष्य की परिचायिका है। परन्तु तब भी एक सब से बड़ी कमी शेष है, वह है स्त्री-जाति के सम्मान की। पुरुष-वर्ग हमेशा से इस क्षीण और निर्बल जाति पर अपना प्रभुत्व जमाये रख कर इस पर जो अत्याचार करता आ रहा है, उसका अभी तक अन्त नहीं हुआ है। यद्यपि धीरे-धीरे पुरुषों के हृदय में स्त्री-जाति का आदर पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है, परन्तु इतना यथेष्ट नहीं है। समाज के शस्त्रागार में अब भी बहु-विवाह, दहेज-प्रथा इत्यादि ऐसे घातक हथियार शेष हैं, जिनका केवल एक वार स्त्री-जाति के सदियों से सञ्चित आत्म-सम्मान को मिट्टी में मिला देने में समर्थ है। दहेज की घातक प्रथा का सब से बुरा परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों का स्थान समाज में बहुत गिर गया। माता-पिता के लिये लड़की का होना अभिशाप हो गया। घर में तो उसका आदर इस प्रकार जाता रहा और पति-गृह में पति महोदय तथा उनके अन्य परिजन इस मांस के टुकड़े को इतना अर्थहीन इसलिये समझने, लगे क्योंकि माता-पिता को ही उसका बोझ सह्य न था और उस आफ़त को टालने के लिये पति महोदय को पुरस्कार-स्वरूप उन्होंने धन की बड़ी गठरी भी दी। इतना धन—जितना कि कोई अपने घर से गन्दी से गन्दी वस्तु हटवाने के लिये भी न देगा। मैंने अपनी आँखों इस प्रथा के भयङ्कर परिणाम देखे हैं और यह निश्चय कह सकता हूँ कि इस विनाशकारी प्रथा ने अनेकों खाते-पीते कुटुम्बों को दाने-दाने का मुहताज कर दिया। उनका अपराध केवल यही था कि उन्होंने एक कन्या को जन्म दिया था। इसी प्रथा ने सैकड़ों हिन्दू कुल-बालाओं को आत्म-हत्या की शरण लेने पर भी मजबूर कर दिया, क्योंकि वे अपने कारण कुटुम्ब पर आती हुई सर्वनाश की ज्वालाओं को इस प्रकार निवारण करने का साहस रखती थीं। इसी प्रथा के फल के हलाहल विष की आग से आज भी अनेकों आर्य-ललनाएँ नरक की यन्त्रणाएँ भोग रही हैं, क्योंकि उनके पिता के पास इतना धन नहीं था, जो योग्य वर प्राप्त कर सकते। फलतः उनको अपने घर से यह आफ़त टालने के लिये ६० वर्ष के बूढ़े बाबा का ही कृपा-भाजन बनना पड़ा। बहु-विवाह की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति के समाचार अभी हाल ही में समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं। सहारनपुर में इस बीमारी का बड़ा ज़ोर है। कॉङ्ग्रेस और आर्यसमाज ने इन विवाहों का प्रदर्शनों द्वारा तीव्र विरोध किया, परन्तु सब निरर्थक। वर अथवा कन्या पक्ष वाले कोई भी इस जघन्य पाप से लज्जावश भी विरत नहीं हुये। इस प्रकार के समाचार किसी भी सहृदय को मार्मिक वेदना पहुँचाने में समर्थ होते हैं। कितना अच्छा हो कि हमारा हिन्दू समाज इन कलङ्कों को तथा इनके साथ ही साथ और कलङ्कों को भी अपने शरीर से जल्दी से जल्दी धो डाले, अन्यथा बहुत दिन नहीं हैं जब उसे उस भयङ्कर सामाजिक क्रान्ति का सामना करना पड़ेगा, जो उसको सर्वनाश के अनन्त सागर के गर्भ में लीन करके ही चैन लेगी।



गीत

[श्रीमती सरोजिनी शर्मा]

प्राण ! उर की सीप खोलें !
हेम-मन्दिर सी बनी अब शून्य थी जो रङ्गशाला,
यामिनी ने आ सँजोयी देव ! जगमग दीपमाला,
आज इस नव आरती मे दो हृदय तम-ताप धोले !

हास मे सुषमा, रुदन मे चिर-प्रलय की वृष्टि होती,
नूपुरो के हास मे सङ्गीत की शुभ सृष्टि होती,
आज उस सङ्गीत मे वाणी मिला दो प्राण बोले !

सत्य-शिव सौन्दर्यमय के पद्म-पद की धूलि आली,
ले उसे सिन्दूर सा मैं आज भर दूँ माँग खाली,
आज फिर दो मुक्त खग इस डाल से उस डाल डोलें !

आज हो उन्मुक्त नभ से विश्व को कुछ छोंह देलें,
यदि वीथियो मे दो विहंगम श्रांत खेलें,
फिर पङ्ख डाले नीड़ मे दो नीद सोले !

सन्देश देकर रूठ जावे विश्व-माया,
वट के तले हम लें बचा निज स्वर्ण-काया,
र वह प्रलय का शीत अपनी शक्ति तोलें !
प्राण ! हम तुम कण्ठ खोले !



भारतीय महिलाओं का भविष्य

श्री० कुंवर राजेन्द्रसिंह

यह असम्भव है कि समय की गति रुक जाय, यह भी असम्भव है कि समय की गति के साथ हमारी परिस्थिति में परिवर्तन न हो और यह उससे भी ज्यादा असम्भव है कि परिस्थिति के साथ ही साथ हमारा दृष्टिकोण न बदले। अङ्गरेज़ी में एक कहावत है कि 'प्रकृति में ठहराव नहीं है'—या तो आगे बढ़ो या पीछे हटो। सब ही देशों में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रत्येक परिवर्तन को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और यह उनका अटल विश्वास होता है कि जो कुछ अभी तक होता आया है, बस वही ठीक है। उनकी भी संख्या कम नहीं होती है, जो बड़े से भी बड़े परिवर्तन से असन्तुष्ट रहते हैं और यह सोचते हैं कि हमें और तेज़ी से आगे बढ़ना चाहिये था। इन दोनों चरमपन्थियों के बीच का जो रास्ता है, उस पर भी चलने वालों की कहीं कमी नहीं होती। अङ्गरेज़ी के एक विद्वान् का कहना है कि संसार में उन्नति हो ही नहीं सकती है, अगर हर एक आदमी एक ही ढङ्ग से सोचे। दृष्टिकोण की भिन्नता उन्नति का मुख्य कारण होती है।

जब से हमारे देश की महिलाओं ने राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में काम करना शुरू किया है, तब से पुरुष-समाज के सामने कुछ नये प्रश्न उपस्थित हो गये हैं। पहला प्रश्न पर्दे का है। पुराने ज़माने में हमारे देश में पर्दे की प्रथा नहीं थी। यह कहीं भी शायद लिखा नहीं मिलेगा कि बाप के घर से श्वसुराल जाने में युवरानी सीता के पीनस पर इतने मोटे-मोटे पर्दे पड़े थे कि निगाह का तो अन्दर जाना दूर रहा, हवा का भी प्रवेश असम्भव था। इसके प्रतिकूल यह लिखा मिलता है कि लङ्का से अयोध्या आने में वह पुष्पक विमान पर अपने पति के साथ थीं। यदि कहा जाय कि उस ज़माने में औरतें बेकार बाहर नहीं निकलती थीं तो वही बात आज भी है। क्या बेकार है और क्या बेकार नहीं है, इसका निर्णय कठिन है। आवश्यकताओं में भी परिवर्तन होता रहता है और वह भी समय के साथ बदलती रहती हैं। जो आज अनावश्यक मालूम होता है, सम्भव है वही दस रोज़ बाद आवश्यक मालूम हो। समय बदलता गया और परिस्थिति में परिवर्तन होता गया। हिन्दुस्तान पर विदेशी आक्रमण करने लगे। मर्दों में राजमद सब से बुरा है और फिर एक विजेता का। आक्रमण करने वाले सफलता के नशे में चूर होते थे, उस समय कौन किसकी सुनता; और कमज़ोर की कब किसने सुनी है।

हिन्दुस्तान पर हमला करने वालों की निगाह केवल मुल्क और रुपया पर ही नहीं थी—उनकी नज़रें यहाँ की स्त्रियों पर भी थीं और उस समय यदि पर्दे की प्रथा प्रचलित हो गई तो कोई ताज्जुब की बात नहीं है। इस में भी कुछ ताज्जुब नहीं कि उस समय पर्दे की प्रशंसा में हज़ारों गीत गा डाले गये। उस समय ज़माने का वही रङ्ग था और जो कुछ आवश्यकतानुसार लिखा गया था वही ठीक था। तब आबरू बचाने के लिये पर्दे के सिवा और किसका सहारा था। परन्तु अब पर्दे की आवश्यकता नहीं रह गई है। अनुदार विचार के लोगों का यह मत है कि जो कुछ लिखा मिलता है वही ठीक है। यह कोई तर्क नहीं है। यह मानना पड़ेगा कि किसी पुरानी पुस्तक या लेख का आयोजन या आलोचना हम समयानुकूल करते हैं। आधुनिक दृष्टि से देखने के लिये हम बाध्य हैं। जिस आदेश से या उपदेश से हम सहमत नहीं होते, हम तुरन्त कहने लगते हैं कि

यह तब लिखा या कहा गया था, जब संसार का विचार-प्रवाह दूसरा था और जिसमे सहमत होते है उसके लिये यह कहते है कि प्राचीनता में पवित्रता है। किसी ने खूब कहा है कि जिन्हे हम सिद्धान्तों के नाम से पुकारते हैं वे वास्तव में हमारी सुविधाएँ है।

पर्दे के प्रश्न के साथ ही शिक्षा का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इस पर अब भी मतभेद है कि लड़कियो को शिक्षा किस प्रकार की दी जाय। कुछ का अब भी यही कहना है कि लड़कियों को सिर्फ खाना बनाना और सीना पिरोना जानना चाहिये और यदि पढाना अनिवार्य समझा जाय तो बस इतना कि "किचकिधा" पढ ले। यह उनका कहना है, जो अपने विचारों में शताब्दियों पीछे है। जो अधिक आधुनिक है वह यह चाहते है कि लड़कियाँ श्रीमतियाँ नही वरन् मैडम बन जॉय। उनके भी विचारों में अब परिवर्तन हो रहा है और अब वह भी यह खयाल करने लगे है कि सिर्फ शेक्सपियर और मिल्टन के जानने से काम नहीं चलेगा, सूर और तुलसी को भी जानना आवश्यक है। शिक्षा देशानुकूल होना चाहिये। प्रत्येक देश का दृष्टिकोण पृथक् पृथक् होता है और उसको बिल्कुल बदल देना असम्भव है। अच्छी खासी उनकी भी संख्या है, जिनका यह कहना है कि शिक्षा आधुनिक होने पर भी इस ढङ्ग की हो कि "तुम जरा अपने तईं भूल न जाना हरगिज !" यह तब ही सम्भव है जब हम यह जानें कि हम पहले क्या थे और अब क्या हैं। भूतकाल हमको उत्साहित करने और उद्योगी बनाने में बड़ी सहायता करता है। यह हमारा क्षमा के योग्य अभिमान है कि हमारा देश आदर्श महिलाओं का जन्मस्थान रहा है। किसी ने खूब कहा है—"सीता सती गार्गी सुकन्या सम जायी जौन ताकी समता में पुनि देश तुच्छ सारे हैं।" हमारी महिलाएँ किसी का प्रतिरूप क्यों बनें? वह स्वय उपमा उपमेय हैं। किसी देश का स्त्री-समाज आकाश-तोलन यन्त्र का काम देता है। जैसा स्त्री-समाज होगा वैसा ही वह देश होगा। रोम देश का उदाहरण लीजिये। ज्यों-ज्यों वहाँ के महिला-समाज में कुरीतियाँ आती गई, त्यों-त्यों वह देश अपनी गुरुता और महत्ता खोता गया और उच्चातिउच्च शिखर से गिर कर अधोबिन्दु तक पहुँच गया। दुख तो यह है कि हम स्वयं समझने लगे हैं कि हम कभी कुछ नहीं थे और जो कुछ हुए है वह तब ही से हुए हैं जब से ओं नम सिद्धम् का स्थान ए. बी सी. डी ने ले लिया है।

कभी कभी यह भी सुनने और पढ़ने मे आता है कि पढी लिखी कन्याएँ अपने घरों में जा करके अपने पतियों पर प्रभुत्व जमाएँगी और दाम्पत्य जीवन सुखमय नहीं होगा। यह प्रश्न कई दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। यह विवाद रहित है कि शिक्षा—चाहे लड़का हो या लड़की, दोनों के लिये समान रूप से लाभदायक है, तो फिर कोई वजह नहीं मालूम होती है कि लड़कियों को क्यों उस लाभ मे वञ्चित रखना चाहिये। पानी की लहर से समय की लहर और भी बलवती होती है।

यदि हम अपनी लड़कियों और बहिनों को शिक्षा न दें तो तमाम उम्र उन्हें घर ही में बैठा रहना पड़ेगा। शादी तय करने के समय पहले प्रश्न यही पूछा जाता है कि लड़की की शिक्षा क्या है। जिन घरों में दहेज लेने की प्रथा है वहाँ लड़कों के इण्ट्रेंस पास होते ही यह खयाल होने लगता है कि अब अमुक रकम का हाथ आना निश्चित हो गया है। शिक्षित पति और अशिक्षित पत्नी में अनबन होने की अधिक सम्भावना है। चाहे जो कहा जाय परन्तु यह एक यथार्थता है कि योग्य सदैव अयोग्य पर शासन करेगा—चाहे वह पति हो या पत्नी, पिता हो या पुत्र, मालिक हो या नौकर। यदि पत्नी पढ़ी-लिखी है और पतिदेव केवल काठ के पुतले है तो यह कैसे बचाया जा सकता है कि वह उन पर शासन न करे। यदि पति के हुकूमत करने से दाम्पत्य प्रेम नहीं भङ्ग होता है तो पत्नी के हुकूमत करने पर उसके भङ्ग होने की क्यों आशङ्का की जाती है।

पर्दा और शिक्षा से जुड़ा हुआ हिन्दू स्त्रियों के अपहरण किये जाने का प्रश्न है। प्रत्येक देश में प्रत्येक जाति और वर्ग का यही कोशिश रहती है कि जिसकी जन-सख्या कम है, वह बढ़ जाय और जिसकी अधिक है वह सुरक्षित रहे। प्रजासत्तात्मक शासन में उसी की बन आता है जिसकी सख्या अधिक होती है। इस ध्येय

को सामने रख कर हिन्दू-समाज ने कभी कुछ नहीं किया है। दिन पर दिन हिन्दुओं की संख्या घटती जाती है। यदि यही हालत रही तो वह दिन दूर नहीं है कि जब कुछ बनाये नहीं बनेगा। यह भी विचार करने के योग्य है कि अपहरण केवल हिन्दू स्त्रियों ही का होता है, उन्हीं बेचारियों पर सब आफ़तें आती है, और आवें किस पर ? जिन्होंने कभी घर के बाहर का दरवाज़ा नही देखा है, जिनको किसी भाषा के वर्णमाला का एक अक्षर भी नही मालूम है, जिनको घर के अन्दर ही घूँघट निकाले रहना पड़ता है तो क्या आश्चर्य है कि यदि घर से निकलते ही वह धोखेबाज़ों और जालसाज़ों के फन्दे में फँस जाँय।

एक और कारण है कि केवल हिन्दू ही स्त्रियों के लिये जाल बिछाया जाता है। यह सबको मालूम है कि जहाँ स्त्री का घर से बाहर पैर निकला, परिस्थिति चाहे जो हो, बस यह समझ लिया जाता है कि वह भ्रष्टा हो गई और उस घर में फिर उसका स्थान नहीं रह जाता है। यहाँ तक देखा गया है कि वह निर्दोष है, पति समझता है कि वह निर्दोष है, परन्तु अपवाद-वादी, जिनकी संख्या किसी देश में और किसी समय में कम नहीं रही है, चैन नहीं लेने देते हैं। अपने को व्यास और वशिष्ठ के प्रतिनिधि समझने वाले, संसार भर की बुद्धि का अपने को भण्डार जानने वाले, अपने को जगद्गुरु मानने वाले, हर एक के मामले में हस्तक्षेप करने वाले और अपनी काली करतूतों पर न निगाह डालने वाले पुरानी पुस्तकें उलटना शुरू कर देते है, जो मुद्दतों से न खोली जाने की वजह से कीड़ों का भोजनालय बनी होती हैं और उसमे से कहीं भूला-भुलाया एक श्लोक छाँट लिया जाता है, जिसका अर्थ वह ख़ुद भी नहीं समझते, और उससे यह प्रमाणित करते हैं कि घर से दस क़दम भी बाहर जाने वाली स्त्री चरित्र-भ्रष्टा हो जाती है। ईश्वर की महान अकृपा से ऐसे ही लोग हमारे धर्म के स्तम्भ हैं। जो कुछ पढ़ाने वाले ने पढ़ा दिया था, उसी की रट लगा रहे हैं। न इसकी ख़बर है कि और आचार्यों ने क्या लिखा है, न इसकी ख़बर है कि जब लिखा गया था तब दुनिया का क्या रङ्ग था और अब क्या है। बस फ़िक्र इसकी है कि अपनी मुट्ठी गर्म हो जाय, भविष्य अगर किसी का चौपट होता हो तो हो। जिस स्त्री का न बाप के घर ठिकाना हो और न पति के घर तो वह क्या करेगी ? सिवा उस रास्ते पर जाने के, जो घृणित और लज्जा-जनक है। इस पथ की निन्दा में जो कुछ कहा जाय वह ठीक है, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि 'आरत काह न करे कुकर्मा।' प्रलोभन में आकर्षण होता है; ऋषियों और मुनियों तक के पैर डिग गये।

दूसरी तरह की स्त्रियाँ जो भगाने वालों के जाल में फँसती हैं, हिन्दू विधवाएँ होती हैं। अभाग्यवश हिन्दू-समाज में विधवाओं का कोई स्थान नहीं है। उनको दोनों वक़्त पेट भर खाना देना अखर जाता है। सहानुभूति प्रकट करना, सान्त्वना देना और शांति प्रदान करना तो दूर रहा उसके साथ ऐसा कठोर और दया-रहित बर्ताव किया जाता है कि तमाम दिन उसे रोते बीतता है। घर की नौकरानियाँ तक उस पर आक्षेप करती है। वह हर एक काम करने वाली दासी समझी जाती है। अगर घर में कोई उत्सव हो तो वह बेचारी नहीं देख सकती है, कोई शुभ कार्य्य हो तो उसके नज़दीक नहीं जा सकती है—उसका स्थान चूल्हे के सामने और उसके लिये घर के फटे पुराने कपड़े हैं और वह भी सैकड़ों झिड़कियों के बाद मिलते हैं। ऐसी परिस्थिति से कौन सन्तुष्ट रहता है। किसी पर दोषारोपण करने में, आक्षेप करने में या बुरा-भला कहने में हम यह भुला देते है कि कल्पित संसार से वास्तविक संसार भिन्न है।

हमारे देश की स्त्रियों की अभी वही हालत है, जो एक नज़रबन्द की होती है। जब तक यह हालत रहेगी तब तक इस देश की वह उन्नति असम्भव है, जो और देशों ने की है। कौन ऐसा क्षेत्र है, जिसमें हमारी महिलाओं ने काम नहीं किया है, यहाँ तक कि युद्धों में भाग लिया है और इस बहादुरी से दुश्मनों का मुक़ाबिला किया कि उनके छक्के छूट गये। महाराज यशवन्तसिंह के स्वर्गवास हो जाने पर औरङ्गज़ेब उनकी महारानी को देहली से नहीं जाने दिया चाहता था और उन्होंने यह इरादा कर

लिया था कि वह जायँगी। दृढ-प्रतिज्ञ की ईश्वर सहायता करता है। महारानी ने अपनी लड़की को सीने में बाँध लिया और अपने चार-छे शूरवीरों को साथ लेकर निकल पड़ीं। एक हाथ में लगाम और दूसरे में तलवार थी। फौज रास्ता रोकने के लिए खड़ी थी—उसी के बीच में वह काटती-छाँटती निकलती चली गई। आप ही को न मालूम कैसे यह शक हो गया था कि आपके पति, जो वीरों में अग्रगण्य थे, युद्धस्थल से भाग आये हैं। उन्हें आते देख महारानी ने महल का फाटक बन्द करवा दिया था। यह सम्भव नहीं है कि ऐसों के पति या पुत्र कायर हों। अब स्त्रियों की तो कौन कहे, पुरुषों ने भी तलवारों और बन्दूकों की सिर्फ तस्वीरें देखी होंगी। पुराने ज़माने में माँ बहिन की अनुपस्थिति में युद्धस्थल में जाने के पहले पत्नी पति के हाथ में तलवार देती थी और कहती थी कि मारना और मरना। इन्हीं और ऐसे ही शब्दों की बदौलत उस बहादुरी से वह लोग लड़ते थे कि जिसकी दूसरी मिसाल अभी तक दुनिया के सामने नहीं है।

राजनैतिक क्षेत्र का अपने ही देश का उदाहरण लीजिए। अपने ही देश की अनेक महिलाएँ राष्ट्रीयता की पुजारिनें बनी हुई हैं और कौन सी ऐसी आफतें हैं जिनका सामना सहर्ष उन लोगों ने नहीं किया है—जेल-खाने गई, लाठी की बौछारें बरदाश्त कीं, लेकिन अपने रास्ते से नहीं हटीं। उचित शिक्षा दी जाय और अवसर दिया जाय तो पुरुषों का हाथ बटाने के लिये हमेशा वह तैयार रहेंगी। स्त्रियों में कोमलता और मृदुता के साथ ही साथ वह दृढ़ता भी होती है कि उसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

ईश्वर करे कि हमारे स्त्री समाज का रास्ता अकंटक हो और वह फिर वही उच्च स्थान प्राप्त कर सकें जो कभी उनका था और जिसका आज भी भारतवर्ष को उचित अभिमान है।

चाह !

[कुमारी मनोरमा देवी]

बूँद बूँद भर दे !
स्नेही यह मेरा मरु का कण रस-सागर कर दे !

सुख दुख की हों सुन्दर लहरें, जीवन वारापार,
हिल्लोलित हो लहर-लहर पर यह अपना संसार !
पाप-पुण्य की जर्जर तरिणी, प्राणों की पतवार,
बैठे हों दो प्राण सम्हाले अपना-अपना भार !

इस जीवन में यही कामना दे तो यह वर दे,
आँखों में आँसू मन में विश्वास अमर कर दे !
बूँद बूँद भर दे !



हमारे सौभाग्य और भाग्यहीनता की अनोखी परख

[श्रीमती रजनी देवी]

समाज कब, क्यों और कैसे बना, यह तो इतिहासकार बता सकेंगे। हमारे लिये तो इतना जान लेना पर्याप्त है कि समाज की शक्ति ही समस्त संसार के मानवी जीवन का परिचालन करती है। जहाँ प्रकृति अपने बच्चों के रग-रग में आहार-विहार और स्वच्छन्दता की मादकता भरती है, वहाँ समाज इन्हें पार्थिव बन्धनों में बाँध कर लोक और परिस्थिति के अनुसार सुसङ्गठित करता है। दूसरे शब्दों में समाज शासक भी कहलाता है।

शासन वही करता है जो बलवान होता है। पुरुष को प्रकृति ने ही बलवान बनाया है। इसीलिये पुरुष-समाज ही मानवी जीवन पर शासन करने वाला समाज बना। इसने अपनी सुविधा और स्वार्थ को सम्मुख रख कर नियम बनाये और सब ने उन्हें मान्य समझ कर पालन किया। ये नियम प्रिय भी थे, अप्रिय भी। परन्तु शासक शक्ति का विरोध ही कौन करता?

पुरुष समाज के अधिष्ठाता बने, इसलिये सांसारिक दृष्टि में वे स्त्रियों से श्रेष्ठ माने जाने लगे। उन्होंने स्त्रियों के जीवन को जान-बूझ कर सङ्कुचित बना कर रक्खा और युग-युगान्तर में इसी ने परिपाटी का रूप धारण किया तथा फिर यह परिपाटी हमारी दैनिक दिनचर्या से घुल-मिल गई। पुरुषों का जन्म सार्थक समझा जाने लगा और स्त्रियों का निरर्थक अथवा दासता के योग्य।

स्त्री-पुरुष के विभेद की भावना हममें हमारे जन्म से भी पहले आरोपित कर दी जाती है। किसी ऐसी अभागिनी अबला से पूछिये जिसने कन्या को जन्म दिया हो। उसके लिये सारा संसार एक यातना का केन्द्र बन जाता है। उसपर प्यार और स्नेह बरसाने वाले निकट से निकट सम्बन्धी शुष्क और कटु बन जाते हैं, मानो उसने किसी गो-हत्या का अपराध कर दिया हो। स्त्रियाँ तो उसे विशेष रूप से हीन समझने लगती हैं। क्या आपने बधाइयों में सुना नहीं है:—

मेरी मालन गूँध लाई हार, जच्चा लचकावनिया!
जो गोरी तुम पूत जनो, मेरी प्यारी जी—
कमरे में बिछाऊँ तेरी खाट,
तेरे मन की पूँछूँ बात,
सन्दूकों की ताली तेरे हाथ,
तुझे नेकलेस दूँ बनवाय,
बूरा की पिलाऊँ तुझे पात, जच्चा लचकावनिया!
जो गोरी तुम धी जनो, मेरी प्यारी जो
सड़कों पै बिछाऊँ तेरी खाट,
तेरे मन की न पूछूं बात,
तुझे पीहर दूँ पहुँचाय,
तुझे गुड़ की पिलाऊँ पात, जच्चा लचकावनिया!

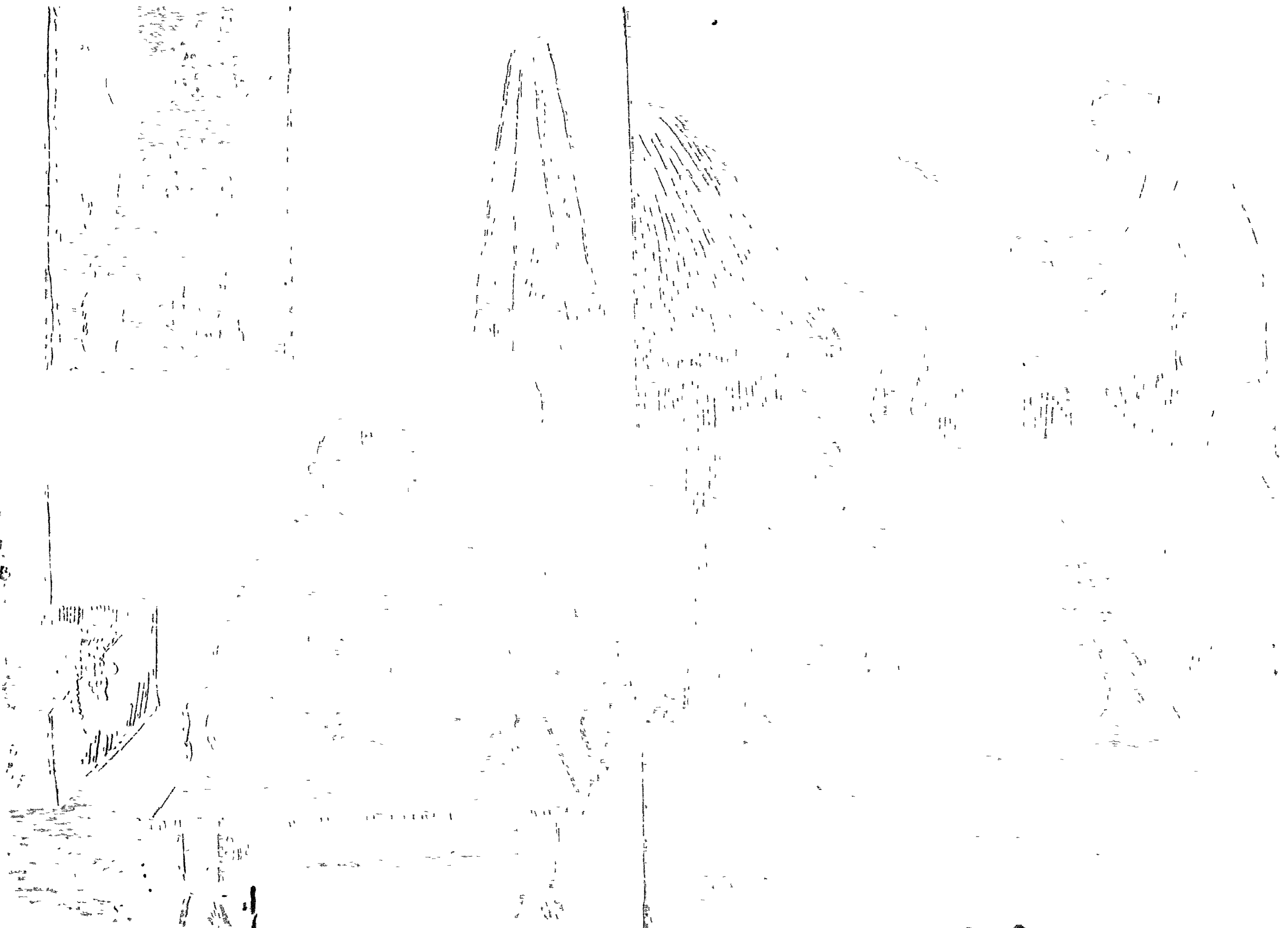
भला सोचिये तो, कितना अन्तर है पुत्र और पुत्री के जन्म की आशा मात्र में! अभागिनी अबला यदि पुत्र की जननी बनेगी तो पति उसे प्यार करेगा, सब उसे वस्त्राभूषण देंगे, स्वादिष्ट भोजन देंगे और उसका सम्मान करेंगे। परन्तु यदि वह कन्या की माता बनेगी तो पिता के घर भेज दी जायगी, सड़कों पर निकाल दी जायगी; कोई उसके मन की बात तक न पूछेगा। एक बार उस दुःखार्त जननी के हृदय से तो पूछिये, उसने कितनी यातना सही है, उसने कितनी पीड़ाओं को अमृत समझ कर पी लिया है! सब जानते हैं कि अपनी

सन्तान को पुत्र अथवा पुत्री का रूप देना उस जननी की क्षमता के बाहर है। फिर भी उसका इतना तिरस्कार किया जाता है, फिर भी उस पर इतना अत्याचार किया जाता है। कुछ ऐसे सहृदय कुटुम्ब मिलेंगे अवश्य जहाँ उसका खुले रूप से तिरस्कार नहीं किया जाता, जहाँ केवल भाग्य और परमेश्वर की विमुखता का बहाना लेकर हृदय को सान्त्वना दे ली जाती है। परन्तु वहाँ भी पुत्र को जन्म न देना अभाग्य की बात अवश्य समझी जाती है। इस संसार में आकर पुत्र चाहे मर ही क्यों न जाय, नौ महीनों की सहनशीलता चाहे अन्त में सूनी क्यों न रह जाय, पुत्र को जन्म देने वाली जननी सदव ही भाग्यशालिनी समझी जाती है। उधर स्वस्थ से स्वस्थ और सुन्दर से सुन्दर कन्या को भी जन्म देना समाज की आँखों में एक ऐसा घोर अपराध करना है जिसे वह कदापि क्षमा नहीं कर सकता। यह है हमारी भाग्यहीनता और सौभाग्य की अनोखी परख। एक गुलाब के फूल सी सुकुमार और देव-कन्या सी प्रवीण पुत्री के स्थान पर एक काने-कुबड़े असुन्दर पुत्र को ही सौभाग्य का लक्षण समझा जाता है। प्राय कहानियों में हमने माताओं को अपनी पुत्रियों से कहते सुना है—"अगर तेरी जगह मेरे कोई लङ्गड़ा-लूला लड़का होता तो मैं अपनी कोख को धन्य समझती।"

देखा आपने, किस तरह पुत्र और पुत्री का विभेद बेचारी माताओं के हृदय पर शिशु-प्रसव से पहले ही अङ्कित कर दिया जाता है, और किस तरह इन्हीं वातावरणों में पल कर बच्चे स्वय अनुभव करने लगते हैं कि पुत्र होने के कारण वे सबकी आँखों के तारे बन गये हैं या पुत्री होने के कारण वे अपने साथ दुर्भाग्य और दासता बाँध लाई हैं। यह तो स्वय प्रकृति का उपहास है।

पुत्रवती होने से अधिकांश स्त्रियों में एक अद्भुत अहङ्कार की भावना उत्पन्न हो जाती है। मैंने अनेक स्त्रियों को व्यङ्ग रूप से कहते सुना है —"क्या करें, हमें तो लड़की का बड़ा चाव है। लड़की होती तो हम उसके कान बिंधवातीं, सुन्दर-सुन्दर कपड़े पहनातीं और जी भर कर अपने मन के अरमान पूरे करती।" लेकिन उनसे कहिये कि वे अपने हृदय पर हाथ रख कर बोलें, कन्यावती होने की सम्भावना मात्र से वे काँप उठेंगी। ये शब्द तो उन भाग्यहीना अबलाओं पर तीर चलाने के लिये होते हैं, जिनकी गोद में परमेश्वर ने एक फूल दिया है, लेकिन जिसकी पखुड़ियों को मसल कर लोग उसके काँटों का ही तीखापन बखानते हैं।

पुत्रों के जन्म पर तो कई दिनों तक भाँति-भाँति के बाजे बजते हैं, महीनों मधुर गान होते हैं, बड़े-बड़े जलसे किये जाते हैं, दावतें दी जाती हैं, गरीबों को खैरात बाँटी जाती है। परन्तु बेचारी कन्या के जन्म पर मङ्गल-गान तक की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जहाँ मुरझाते हुये हृदयों को भी पुत्र-जन्म उमङ्ग और उत्साह से सींच देता है, वहाँ आशा में खिले हुए हृदय भी कन्या-जन्म के तुषार से मानो निर्जीव हो जाते हैं। उस समय प्रतीत होता है, जैसे विपदा ने अपना काला अञ्चल फैला कर सारे घर की ज्योति छिपा दी हो। सब के मुखों पर उदासी छा जाती है, हाथ-पैर ढीले पड़ जाते हैं, किसी काम को करने की उमङ्ग ही नहीं उठती। कभी-कभी तो प्रसूतिका और प्रसूत को खाना-पानी देना भी भार हो जाता है। मालूम होता है, मानो कोई अमङ्गल हो गया हो, किसी पाप का घड़ा फूट गया हो। हँसना तक अच्छा नहीं लगता, अपनी खिसियाहट उतारने के लिये बलात् कहना पड़ता है—"अजी, लड़का लड़की तो सब एक बराबर हैं, यह भी परमात्मा की देन है, वह भी परमात्मा की देन है, उसकी देन को तो गोद पसार कर लेना चाहिये।" लेकिन लेना कोई गोद सिकोड़ कर भी नहीं चाहता। कहीं-कहीं तो कन्याओं की संख्या अधिक होने पर उनकी मृत्यु की कामना खुले शब्दों में की जाने लगती है और कहीं-कहीं जानबूझ कर असावधानी-वश कन्याओं को मार ही डाला जाता है। चतुर्दिक वातावरण का माताओं के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है, सब की भर्त्सनाएँ और व्यङ्ग-वाक्य सुनते-सुनते उनकी छाती इतनी अधिक छिद जाती है कि जिन्हें उन्होंने अपना खून पिला कर पैदा किया है उन्हीं की मृत्यु-कामना करने में वे सङ्कोच नहीं करतीं। बहुत सी जगह तो कन्याओं



साधु बाबा का वैभव

परिश्रमी किसानों की दरिद्रावस्था

सन्तान-पालन



प्राचीन | आधुनिक

शिष्टाचार के दो रूप



पुरुष का पर-पत्नी के प्रति

स्त्री का अपने पति के प्रति

अतिथि-सत्कार (१)

गाँव में

अतिथि-सत्कार (२)



शहरों में

भारतीय-पुरुष का बोझ

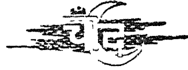
विद्यार्थी-जीवन में गृहस्थ बनने वाले अभागे युवक

भारतीय-स्त्रियों का बोझ

सामाजिक कुसंस्कारों से दबी असहाया भारतीय महिला

सुधारक की गति

'नौ दिन चले अढ़ाई कोस'



को पत्थर की उपाधि दी जाती है—"गुलाब सब सींचते हैं, कीकर कौन सींचता है?" तात्पर्य यह है कि पुत्रों के लालन-पालन में चतुराई और प्यार की आवश्यकता है। वह तो बाग़ का फूल है, यदि लगन और तत्परता से उसे न सींचा जायगा, तो वह मुरझा जायगा। और बेचारी कन्या? वह तो जङ्गली घास है, उसे चाहे कितना ही पैरों तले क्यों न रौंदो, वह तो बेहया की तरह आपसे आप बढ़ जायगी और न भी बढ़े तो क्या? अगर पददलित होते-होते वह मिट भी जाय तो क्या? आपने तो लोगों को कहते सुना ही होगा—"लड़कियाँ बहुत कम मरती हैं; जिनकी यहाँ चाह है, उनकी वहाँ भी चाह है।" ठीक है, परमेश्वर के पास उनकी चाह हो या न हो, कम से कम इस दुष्ट दुनिया में तो उनकी चाह होती नहीं। कहा भी जाता है—"पुत्र भाग्यहीन का मरता है, और पुत्री भाग्यवान की।"

हमारे जीवन के कण-कण में समाई हुई इस कुत्सित भावना का ही यह फल है कि पुत्रों को तो प्रारम्भकाल से ही ठूँस-ठूँस कर घी-दूध और बादाम के हलवे खिलाये जाते हैं और कन्याओं को साधारण मिठाई तथा अच्छा भोजन देने में भी सङ्कोच होता है; इस भय से कि कहीं वे चटोरी न हो जायँ। पुत्र के लिये बढ़िया-बढ़िया कपड़े बनते हैं और कन्या के लिये "बाप के घर बेटी गूदड़ लपेटी" वाली कहावत दोहराई जाती है। पुत्र की इच्छाओं को पूर्ण करना माता-पिता को सुखप्रद प्रतीत होता है, परन्तु कन्या के लिये तो यही सोचा जाता है कि वह दूसरे घर का धन है, उसका दब कर रहना ही ठीक है। क्यों नहीं, कन्या बेचारी को तो दूसरों के घर जाना है, उसे तो गुलामी के पाठ पढ़ने ही चाहिये। जहाँ पुत्र के छोटे से छोटे रोग पर भी घर भर चिन्तित हो उठता है, वहाँ कन्या के असाधारण से असाधारण रोग में भी घर की ही जड़ी-बूटियों से काम लेना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। जहाँ पुत्र के लिये उच्च शिक्षा की व्यवस्था की जाती है, भाँति-भाँति के मनोरञ्जनों की सामग्रियों में सैकड़ों रुपये व्यय किये जाते हैं, वहाँ कन्या को "सदा सास-ससुर तथा पति की सेवा करना, उनको कभी अपने को निर्दोष प्रमाणित करने तक के लिये भी उत्तर न देना, उनका कटु से कटु वाक्य सहना भी तुम्हारा धर्म है"—ऐसी-ऐसी ही दो-चार अच्छी-बुरी गृहस्थी की बातें बताकर माता-पिता अपने कर्त्तव्य का अन्त समझ लेते हैं।

एक बार किसी अभागिनी विवाह योग्य कन्या के माता-पिता से पूछिये, वे आँखों में आँसू भर कर आपको उत्तर देंगे—"लड़की सयानी हो गई; हम तो आज चार साल से वर को ढूँढ़ते ढूँढ़ते थक गये। कम्बख़्त की तक़दीर ही ऐसी है।" उधर किसी भाग्यशाली पुत्र के माता-पिता से पूछिये; वे गर्व से सिर उठा कर कहेंगे—"भई! अभी तो वह बी० ए० में पढ़ रहा है। पहले तो उसे एम० ए० करना है, ब्याह की बात तो होती ही रहेगी। और असल पूछिये, तो साहब! अभी लड़का ही तैयार नहीं होता; कहता है कौन अभी से इस झञ्झट में पड़े, कुछ दिन तो आज़ादी से खेल-खा लें।" कुछ तो आप से और भी दून की हाँकेंगे।—"अरे भई, लोग तो शादी के लिये टूटे पड़ रहे हैं। फलाने रायबहादुर साहब ने तो सगाई भी भेज दी थी। उनकी लड़की थी भी बड़ी सुन्दर। लेकिन भला हम बिना सोचे-समझे कैसे शादी कर दें। लड़का तो एक ही ठहरा, किससे-किससे ब्याह की बातें करें। ये लड़की वाले तो पीछे पड़ जाते हैं, नाकों दम कर देते हैं।" कितना अन्तर है इन दोनों उत्तरों में! एक ही ईश्वर के बनाये हुए दो व्यक्ति, एक ही जाति और शायद एक ही मर्यादा के, परन्तु एक दर-दर भीख माँगता फिरे और दूसरा व्यङ्ग की हँसी हँसता हुआ उसे ठुकरा दे। यही समाज का बनाया हुआ नियम है। यही पुरुष जाति का न्याय है। एक ओर पुत्र को बढ़ते देख कर दिन पर दिन ख़ून बढ़े, दूसरी ओर कन्या को सयानी होते देख, रात की नींद और दिन की भूख भाग जाय। यह नियम है अथवा नर्ककुण्ड?

पुत्र और पुत्री के अन्तर की महामारी भारतवर्ष का ही शाप है। शिक्षित और सभ्यतम देशों में कन्या एक बहुमूल्य रत्न से भी अधिक प्यारी होती है और उसकी क़ीमत यही होती है कि सौ-सौ वैभवशाली नवयुवक उसके पैरों की धूल लेते फिरते हैं।

जहा तक मेने सोचने को चेष्टा का है, मुझे इस महामारी के तीन मुख्य कारण दिखाई दिये है—(१ पुत्र और पुत्री की वैवाहिक परिपाटी मे अन्तर (२) कन्या और पुत्र मे वश चलाने की परम्परा में भेद और (३' भारतीय स्त्रियो की घोर अशिक्षा।

पुत्र और पुत्री के विवाह की परिपाटी के सम्बन्ध मे हमारी मनोवृत्ति इतनी दूषित हो गई है कि उसने हमारे जीवन को ही अन्धकारमय बना रक्खा है। पुत्र के विवाह के समय हमारे हृदय मे असीम उल्लास भरा होता है, ऐसा प्रतीत होता है मानो वैभव का सारा कोष ही हमारे चरणों पर निछावर हो रहा हो। सच्चो बात तो यह है कि पुत्र के विवाह से एक नई बहू आती है, जो घर का काम काज सम्हालनी है और बूढ़ी सास तथा छोटी ननदों को आराम पहुँचाती है। सास को बहू के आने का चाव होता है, कारण वह उसकी सेवा करेगी, उसके पुत्र की प्रसन्नता का साधन बनेगी और उसके बुढापे में सहारा देगी। ननद-देवर को भाभी के आने का चाव होता है। कारण, वह उनका सुख-दुःख में साथ देगी, उनकी सखी और मित्र के स्थान की पूर्ति करेगी। इतना ही नहीं, पुत्र के विवाह में यह भी प्रलोभन होता है कि उसमे घर में धन और वैभव का प्रकाश फैलता है। सम्पत्ति भी मिलती है और सेविका भी। भला इससे बढ कर और क्या चाहिये ? कहाँ साधारण सेविकाओं तक के लिये धन का व्यय करना पड़ता है, कहाँ शिक्षित और सुन्दर सेविकाएँ स्वयं आती हैं और अपने साथ धन लाती हैं।

परन्तु बेचारी कन्या के विवाह की तो सोचिये। अभागिनी के जन्म के साथ ही साथ माता-पिता पर धन की चिन्ता का आक्रमण होता है। बेचारे उसी समय से अपना पेट काट कर पैसा-पैसा जोड़ने लगते है। अपनी आकांक्षाओं को दबा कर अपने जोवन की आवश्यकताओं तक से वञ्चित रह कर वे जो छोटी सी सम्पत्ति जोड़ पाते हैं, वह भी अन्त में उनकी नहीं रह जाती। घर से धन भी जाता है और पुत्री भी। एक ओर तो ब्याह के व्ययों की मार बहुत दिनों तक नहीं सम्हलने देती, दूसरी ओर घर में अँधेरा छा जाता है। यह तो हो नही पाता कि कुछ दिनों के लिए वे जामाता को अपने ही घर बुलाकर अपने जी के अरमान निकालें या कन्या को ही अपनी इच्छा के अनुसार बुलाकर कुछ दिनों घर की सोती लक्ष्मी को जगाये रक्खें। ससुराल मे तो जमाई का जाना मानो राजा का किसी दास के घर जाकर रहना है। भला समाज इसकी कब आज्ञा दे सकता है।

फिर बहू पर सास ससुर का अधिकार होता है। यह तो उनकी इच्छा पर निर्भर है कि वे उसे भेजें या न भेजें। चाहे माँ बाप की याद में लड़की दिन रात तड़पा ही क्यो न करे, विवाह के बाद तो उसका एकमात्र धर्म यही रह जाता है कि वह आजीवन सास-ससुर, पति और दूसरे कुटुम्बियों की अनवरत सेवा करती रहे। इसलिये अपनी पुत्री को विदा करते समय अधिकांश माता-पिता यही समझ लेते है कि उससे वे अन्तिम बिदा ले रहे है। यह है माता-पिता का उस कन्या पर अधिकार, जिसके जीवन के निर्माण में वे अपना अस्तित्व तक मिटा बैठते हैं।

एक बात और है। कन्या का विवाह करना आवश्यक होता है, पुत्र का नहीं। निर्धन माता-पिता अपने पुत्रों को कुँवारा रख सकते है, परन्तु कन्या का विवाह तो भीख माँग कर, अपना घर बार बेंच कर भी करना पड़ता है। भला किसमें इतना साहस है कि अपनी कन्या को अविवाहित रख कर वह समाज के तिरस्कार और अपमान का लक्ष्य बने ? कन्या के दसवें वर्ष में पदार्पण करते ही समाज की क्रूर आँखे घूरने लगती हैं। कही दुर्भाग्यवश दो-चार वर्ष और बीत गये तो मानो माता-पिता के लिये नर्क का कुण्ड खुल गया—"सयानी लड़की को छाती पर बिठा रक्खा है।" "किसी दिन नाक कटेगी तब मानेंगे"—एक-एक व्यक्ति की भर्त्सना, एक-एक व्यक्ति का लाञ्छन सहना पड़ता है। लज्जा और बदनामी के मारे सिर उठाना मुश्किल हो जाता है। इस तरह अपने जीवन के क्षण-क्षण को दूभर बनाना किसे सह्य हो सकता है ?

इस परम्परागत प्रणाली का परिणाम यह होता है कि वर-पक्ष की दृष्टि में कन्या-पक्ष की लेश-मात्र भी

मर्यादा नहीं रह जाती। पुत्र वाले तो कन्या वालों से कहने जाते नहीं कि हमारे पुत्र से अपनी कन्या का विवाह करो। बेचारे कन्या वाले ही याचना करते फिरते हैं। कन्याओं का विवाह करते समय वे स्वयं विनम्र बन कर वर-कुटुम्बियों का अपने स्वामी की भाँति आदर करते हैं; हर तरह उन्हें प्रसन्न और सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते हैं। अपने लिए रहने को घर और खाने को अन्न तक न छोड़ कर उनकी इच्छाएँ पूर्ण करते हैं, उनके पैरों तक को पूजने में अपना सौभाग्य समझते हैं। ठीक है, धनी के सम्मुख याचक की प्रतिष्ठा ही क्या हो सकती है?

परन्तु ध्यान से तो सोचिये, कौन याचक है और कौन दानी? कन्या-पक्षवाले अपनी रत्न-सी कन्या का ही दान नहीं करते, अपितु उसके साथ वस्त्र, आभूषण, बर्त्तन तथा भोजन तक देते हैं और वरपक्ष वाले इन्हीं दानों को हाथ फैला कर लेते हैं। खुलेआम, सहस्रों स्त्रियों और पुरुषों के समाज में बैठकर वे एक लोभी याचक की भाँति ग़रीबों तक से दान लेते हैं और फिर भी अभिमान से सिर ऊँचा उठा कर दानी को ही याचक कहने का साहस रखते हैं! कितना झूठा मद है यह! कन्यावालों की नम्रता का दुरुपयोग करके वे अपनी आँखों पर काल्पनिक उच्चता का पर्दा डाले रहते हैं और इतना नहीं समझ पाते कि फलमय वृक्ष का यह स्वभाव ही है कि वह नत होकर रहे।

कन्या के माता-पिता को एक और कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वर-पक्ष वालों की माँगें इतनी अधिक होती हैं कि कन्यावालों को अच्छा घर-वर ढूँढ़ना ही दुर्लभ हो जाता है। वर-पक्ष वाले, चाहे उनका पुत्र कुरूप हो या कुपढ़, दुर्व्यसनी हो या दुराचारी, वे स्वयं भी चाहे अप्रतिष्ठित हों या निर्धन, कन्या-पक्ष वालों में सभी गुणों को ढूँढ़ते हैं। कन्या वाले ख़ूब धनवान हों, जिससे उन्हें ख़ूब धन दे सकें; प्रतिष्ठित हों जिससे उनसे सम्बन्ध करने में उनकी प्रतिष्ठा बढ़े। कन्या भी कमला-जैसी सुन्दरी हो, जिससे उनके साधारण रूपवाले पुत्र का जीवन सुखमय बने; शीलवान हो, जिससे अयोग्य पति और अत्याचारी सास-ससुर के कटु वाक्यों और लात-घूँसों को सहे; गृहस्थी के कार्य में निपुण हो, जिससे ससुराल में आते ही अपनी सास ननदों को आराम की गद्दी पर बैठा दे। समाज ने उनके दिमाग़ इतने ऊँचे चढ़ा रक्खे हैं कि उन्हें कन्याओं को ढूँढ़ने की चिन्ता ही नहीं रहती उनके पास आप से आप दिन में बीसियों प्रस्ताव आते हैं! वे तो दूकानदार की भाँति ही अपनी वस्तु का मूल्य ठहराते हैं। जो अधिक मूल्य देगा, उसी की वस्तु हो सकेगी। औरों को अपना-सा मुँह लेकर लौट जाना पड़ता है।

इन्हीं कठिनाइयों में पिसते-पिसते माता-पिता का भी हृदय वज्र बन जाता है और वे अपनी कन्याओं को ईश्वरीय कोप का सङ्केत समझने लगते हैं। उन्हें बार-बार यही ध्यान आता है—पुत्र तो कमा कर खिलाता है, सेवा करने के लिये बहू लाता है और जीवन के सुखमय निर्वाह के लिये धन बटोर लाता है। अभागिनी कन्या तो जाती ही है, अपने साथ घर का सारा धन और कुटुम्बियों की प्रतिष्ठा भी ले जाती है। इतना ही नहीं, विवाह के बाद उन्हें अपनी कन्या के कल्याण के लिये सदैव वर-पक्ष के सामने सिर झुका कर रखना पड़ता है। वे जानते हैं कि यदि वर-पक्ष वालों को वे सन्तुष्ट न रख सके तो उनकी कमियों का फल उनकी सुकुमार और निर्दोष कन्याओं को भोगना पड़ेगा। इस प्रकार जब घर से कन्या जाती है, धन जाता है और दूसरों का दास बनना पड़ता है तो भला कौन कन्या के जन्म को अपने सुख, आशा अथवा आकांक्षा का साधन समझेगा?

पुत्र और कन्या की श्रेष्ठता और हीनता का एक दूसरा कारण भी है। धर्म की आड़ में समाज ने हमारे पूर्वजों के हृदय में यह बात जमा दी थी कि पुत्रोत्पत्ति से ही माता-पिता को स्वर्ग मिलता है। यह भावना आज भी हमारे देशवासियों के मस्तिष्क से नहीं निकल पाई है। आज भी उनका यही विश्वास है कि पुत्रहीन माता-पिता को नर्क की यातना भोगनी पड़ती है। पुत्र ही अपने माता-पिता का दाह करता है और कहा जाता है कि उसके हाथों का पानी पाकर माता-पिता भव-सागर तर जाते हैं। परन्तु बेचारी कन्या के धर्म-कर्म

का प्रभाव माता-पिता पर नहीं पड़ता। मृत शरीर को भूमि पर रखने समय कन्या का हाथ नहीं लगाने दिया जाता, लोग कहते हैं कि इससे मृत आत्मा के स्वर्ग-लाभ में बाधा पड़ता है। निस्सन्देह जब ऐसी एकांगी भावनाएँ हमारे मस्तिष्क में जन्म से ही भर दी जाती हैं, तो क्यों न सभी अपने सुख और मुक्ति के लिये पुत्र की ही आकांक्षा करेंगे, क्यों न सभी उनसे अपनी सात पीढ़ियों तक की मृत आत्माओं को सन्तुष्टि देना चाहेंगे? फिर, पुत्र से ही तो वंश का नाम चलता है, कन्या तो अपने पति के घर चली जाती है, दूसरे की सम्पत्ति बन जाती है। उस पर अपना अधिकार ही क्या होता है? पुत्र बड़ा होकर घर का काम सम्हालता है और समय आने पर स्वयं घर का स्वामी बनता है। पुत्र से जो सन्तान होती है वह भी अपने ही घर रहती है, उससे वंश-परम्परा जीवित रहती है। कन्या की सन्तान से हमारा क्या सम्बन्ध? उस पर तो उसके सास ससुर का अधिकार होता है। इसीलिये हमारे देश के कानूनों तक में यही सिद्धान्त रक्खा गया है कि कुटुम्ब की सम्पत्ति के स्वामी पुत्र ही हो सकते हैं, कन्याएँ नहीं। सामाजिक और धार्मिक बन्धनों के साथ ही साथ जब कन्याओं के सुख और समृद्धि पर कानून तक के प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं तो उनके पास अपनी लज्जा और मर्यादा को सुरक्षित रखने के लिये रह ही क्या जाता है, जिसके बल पर वे संसार की प्रतिकूल शक्तियों से संग्राम करने का साहस करें। पति की वासना की सन्तुष्टि, मशीन की भाँति सन्तान-जनन और हँस कर या रोकर सारे कुटुम्ब की सेवा, ये ही तो उन अभागिनियों के अवलम्ब रह जाते हैं!

हमारे तिरस्कार का तीसरा और सबसे बड़ा कारण हमारी अशिक्षा है। मुझे इस बात का दृढ़ विश्वास है कि यदि भारतीय ललनाएँ साहस करके अपने इस अभाव को दूर करने का प्रयास करें तो फिर समाज उन्हें इस प्रकार पद-दलित न कर सके। भारतवर्ष की यह एक परिपाटी सी हो गई है कि पुत्रों को प्रारम्भ से ही सब तरह की शिक्षा देने की चेष्टा की जाती है। घर पर माता-पिता स्वयं पढ़ाते हैं, आवश्यकता पड़ने पर शिक्षक रक्खे जाते हैं, उन्हें स्कूल में भेजा जाता है और बाद में कॉलेज तथा यूनीवर्सिटी में। उनकी शिक्षा पर जितना भी व्यय किया जा सकता है, किया जाता है। क्यों? किस आशा में? इसी आशा में न कि वे अपनी शिक्षा के बल पर धन कमायेंगे, परिवार का पालन करेंगे, जनक-जननी को उनकी वृद्धावस्था में सहायता देंगे, स्वयं दो रोटी खाकर दूसरों को भी खिलायेंगे? लेकिन कन्या तो बैठी-बैठी खायेगी, सारे कुटुम्ब पर एक भार-सा बनी रहेगी! यदि भारतीय महिलाएँ पुरुषों के मस्तिष्क से इस कुभावना को सदैव के लिये निकाल सकें कि कन्याएँ सिर्फ भार बन कर ही नहीं रहना जानतीं, बल्कि वे अपनी बल-बुद्धि से भी धनोपार्जन करके अपना तथा दूसरों का पेट पाल सकती हैं, तो उनके प्रति पुरुष-समाज ने जो निकृष्टतम भावनाएँ बना रखी हैं वे कपूर की भाँति उड़ती हुई दिखाई दें। यदि कन्याएँ सुशिक्षा प्राप्त करके स्वयं अपने मस्तिष्क से अज्ञानान्धकार को दूर कर सकें, यदि वे ज्ञान के प्रकाश से अपने कुटुम्ब को आलोकित कर सकें और उच्च पदों पर आसीन होकर अपने पति तथा पिता दोनों वंशों की प्रतिष्ठा बढ़ा सकें तो आजकल उनकी जो दुर्दशा है वह शीघ्र ही दूर हो जाय। फिर तो वर और वर के कुटुम्बी स्वयं उनके पद-रज की लालसा करते फिरें, उन्हें अपनी पत्नी और कुलवधू बनाने में अपना सौभाग्य समझें। तब उन्हें न अपनी आत्मा पर पत्थर रख कर किसी भी योग्यायोग्य पति के साथ जीवन भर दुःख और निराशा की यातना सहनी पड़े, न समाज के सपूतों के मुँह से निकले हुए हवाई लाञ्छनों से ही भयभीत होना पड़े। उस समय सभी उनका आदर और सम्मान करेंगे। इस प्रकार अपने को शिक्षित बना कर स्त्रियाँ अपना मूल्य बढ़ा सकती हैं, अपने को दुर्लभ बना सकती हैं। शिक्षित और चतुर पत्नी पाकर पति अपना भाग्य सराहेंगे, उन्हें अपने पैरों की बेड़ी न समझ कर अपने दिन-प्रति दिन के जीवन का सच्चा साथी समझेंगे। सास ससुर उन्हें अपने घर की लक्ष्मी समझ कर पूजेंगे, दासी समझ कर फटकार नहीं बतायेंगे। फिर माता पिता स्वयं पुत्र-पुत्री के विभेद को भूलने लगेंगे।

बाबू हरिदास जी



हिन्दी समाचार-पत्रों के पाठकों में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जिसने मथुरा की प्रसिद्ध हरिदास एण्ड कम्पनी के प्रोप्राइटर बाबू हरिदास जी वैद्य का नाम न सुना हो। क्योंकि 'चिकित्सा-चन्द्रोदय', 'स्वास्थ्य रक्षा' और 'भर्तृहरि-शतक' आदि आपकी लिखी हुई पुस्तकों की आलोचना करते हुए हिन्दी के प्रायः सभी प्रतिष्ठित पत्रों ने आपकी प्रशंसा की है। वास्तव में श्री हरिदास जी संसार के तभावान व्यक्तियों में हैं और अपने अध्यवसाय द्वारा उन्होंने धन, मान, ख्याति और यश सभी सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त किये हैं। आप मथुरा के प्रतिष्ठित वैश्य-कुल के भूषण और अङ्गरेज़ी, फ़ारसी, संस्कृत, उर्दू तथा हिन्दी आदि कई भाषाओं के पण्डित हैं। इसके अलावा आप आयुर्वेद-शास्त्र के कुशल ज्ञाता और व्यवसाय-बुद्धि-विशारद भी हैं।

यद्यपि आपकी जन्मभूमि मथुरा है और आजकल आप वहीं रहते भी हैं; परन्तु आपकी कर्मभूमि तो कलकत्ता ही है। क्योंकि यहीं रह कर आपने अपने अनुपम अध्यवसाय और परिश्रम द्वारा, बिना किसी तरह की पूँजी और किसी रिश्तेदार की सहायता के प्रचुर धन और ख्याति उपार्जित की है।

आज से ३०-३५ वर्ष पूर्व, कलकत्ता के हरीसन रोड पर, एक छोटे से आकार-प्रकार में, आपने अपना व्यवसाय प्रारम्भ किया और देखते देखते प्रसिद्ध व्यवसायी बन गये। उस समय हिन्दी-साहित्य के विकास का प्रारम्भ मात्र था। न तो यहाँ हिन्दी का कोई अच्छा प्रकाशक था और न अच्छे साहित्य का निर्माण ही हो रहा था। इसी समय हरिदास एण्ड को० ने "नरसिंह प्रेस" की स्थापना की और समयोपयोगी सुन्दर पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ किया। "हिन्दू पञ्च" के संस्थापक स्वर्गवासी श्री रामलालजी बर्मन की "आर० एल० कम्पनी" भी "हरिदास एण्ड को०" की सहगामिनी थी और दोनों फ़र्मों ने प्रकाशन-क्षेत्र में एक तहलका सा मचा दिया था। इन दोनों प्रकाशकों की बदौलत पुस्तकों की छपाई और सफ़ाई में जान सी आ गई। थोड़े ही दिनों में दर्जनों सुन्दर, सुसज्जित और उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हो गईं और इस तरह हिन्दी-साहित्य भण्डार की पूर्ति के साथ इन दोनों लब्ध-प्रतिष्ठ प्रकाशकों ने यथेष्ट ख्याति उपार्जित कर ली।

इसी समय श्री हरिदास जी ने फ़ारसी के मशहूर शायर शेखसादी शीराजी की मशहूर पुस्तक "गुलिस्ताँ" का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। आपकी मशहूर पुस्तक "स्वास्थ्य-रक्षा" शायद इससे पहले ही छप चुकी थी। साहित्य-संसार

में आपकी इन पुस्तकों—विशेषत "स्वास्थ्य रक्षा" का खूब आदर हुआ। देखते देखते उसके कई संस्करण बिक गये और बिकते जाते हैं। अब तक शायद उसके ग्यारह या बारह संस्करण हो चुके हैं, जो उसकी उपयोगिता और श्री हरिदास जी की विद्वत्ता के द्योतक हैं।

परन्तु श्री हरिदास जी ने हिन्दी साहित्य को जो महान् और मूल्यवान रत्न प्रदान किया है, वह है आपकी प्रसिद्ध पुस्तक "चिकित्सा-चन्द्रोदय" जिसकी प्रशंसा में हिन्दी के प्राय सभी प्रतिष्ठित-पत्रों ने अपने कालम के कालम रङ्ग डाले हैं। वास्तव मे "चिकित्सा-चन्द्रोदय" है भी एक अनुपम ग्रन्थ। इसके द्वारा हिन्दी साहित्य के गौरव की वृद्धि तो हुई ही है, साथ ही इसके द्वारा श्री हरिदास जी के सुयश और सुख्याति को भी अमरत्व प्राप्त हुआ है। इस विशाल चिकित्सा-ग्रन्थ के अब तक सात हिस्से प्रकाशित हो चुके हैं, जिनका मूल्य अजिल्द का ३९॥) रुपये हैं। मानो विशाल चिकित्सा शास्त्र को मथ कर आपने अनुपम रत्न का उद्धार किया है। इसमें चिकित्सा शास्त्र के सभी अङ्गों और उपाङ्गों पर विशद प्रकाश डाला गया है। इस एक ही पुस्तक को अच्छी तरह पढ़कर हिन्दी भाषा का साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी चिकित्सा शास्त्र का पण्डित या निपुण वैद्य हो सकता है। वैद्यक-शास्त्र की शायद ही कोई ऐसी बात हो, जो इस पुस्तक में न दी गई हो। एक मनुष्य किसी गुरु के पास बैठ कर आधी ज़िन्दगी तक चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करके जैसी योग्यता प्राप्त कर सकता है, इस ग्रन्थ को ध्यान से पढ़कर अल्प समय में ही वह उतनी योग्यता प्राप्त कर सकता है। श्री हरिदास जी की उदारता से इस ग्रन्थ रत्न का प्रचार भी खूब हुआ है। महाराजाधिराज के महल से लेकर गरीब की झोंपड़ी तक 'चिकित्सा चन्द्रोदय' पहुँच चुका है, और इसे पढ़ कर हज़ारों व्यक्ति स्वच्छन्दता-पूर्वक चिकित्सा व्यवसाय कर रहे है। इस पुस्तक की बदौलत हज़ारों बीमार अकाल-मृत्यु से बचे हैं। एक ही आदमी ने इस पुस्तक मे बताई हुई विधि द्वारा कालभुजङ्गों के डसे हुए १९० आदमियों की जानें बचाई है। रोज़ी रोज़गार के अभाव में जो बेकार बैठे थे, ऐसे हज़ारों आदमी इस पुस्तक की बदौलत सैकड़ों रुपये माहवारी उपार्जन कर रहे हैं। कितने ही दानशील व्यक्तियों ने चिकित्सा-चन्द्रोदय की प्रतियाँ ख़रीद कर परोपकारार्थ वितरण की है। दो बार स्वयं हरिदासजी ने ही इन अद्वितीय ग्रन्थों की क़ीमत आधी कर दी थी, ताकि लोग इससे लाभ उठावें और साधारण लोगों में इसका प्रचार हो। फलस्वरूप लाखों रुपये की पुस्तकें बिकीं। फिर भी माँग बढ़ती ही गई और लोग चाहते है कि फिर एक बार आधी क़ीमत कर दी जाये। हमारा भी अनुरोध है कि वैद्य जी एक बार फिर आधी क़ीमत की घोषणा करें। ग्राहकों से कुछ पेशगी लेकर उनके नाम दर्ज कर लें और जब यथेष्ट ग्राहक हो जायें, तो पुस्तक को फिर छपा लें और लोगों को भेज दें। इससे देश का उपकार होगा, आपकी कीर्ति बढेगी और पुस्तक का भी प्रचार होगा। इस पुस्तक की एक-एक सम्पूर्ण प्रति यदि हिन्दी भाषा-भाषी प्रत्येक गाँव मे पहुँच जाये, तो जनता का विशेष उपकार हो सकता है। आशा है, श्रीहरिदास जी हमारे इस निवेदन पर विचार करे गे।

श्री हरिदासजी चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन-शील पण्डित ही नहीं, एक अनुभवी चिकित्सक भी है। आपकी औषधि से इन पंक्तियों के भी लेखक ने विशेष उपकार पाया है। आपने सैकड़ों ऐसे मरीज़ों की जानें बचाई हैं, जो मौत के पंजे मे फँस चुके थे और बडे-बडे डाक्टरों ने जिन्हें लाइलाज कह कर छोड़ दिया था। 'अर्जुन' के रियासत और किसान अङ्कों मे ऐसे लोगों के कितने ही प्रशंसा-पत्र छपे हैं। वास्तव में हरिदासजी इस सम्बन्ध मे भी अपना सानी नहीं रखते। आपके हाथ में यश है। जिस

रोगी को हाथ में लेते हैं, उसे चङ्गा करके ही छोड़ते हैं। आपकी चिकित्सा-विद्या की तारीफ़ करते हुए पटने के सहयोगी 'योगी' ने ठीक ही लिखा था कि—

"मलिकुल मौत अड़ा था, कि मैं जाँ लेके टलूँ!
और मसीहा की यह ज़िद थी, कि मेरी बात रहे!!"

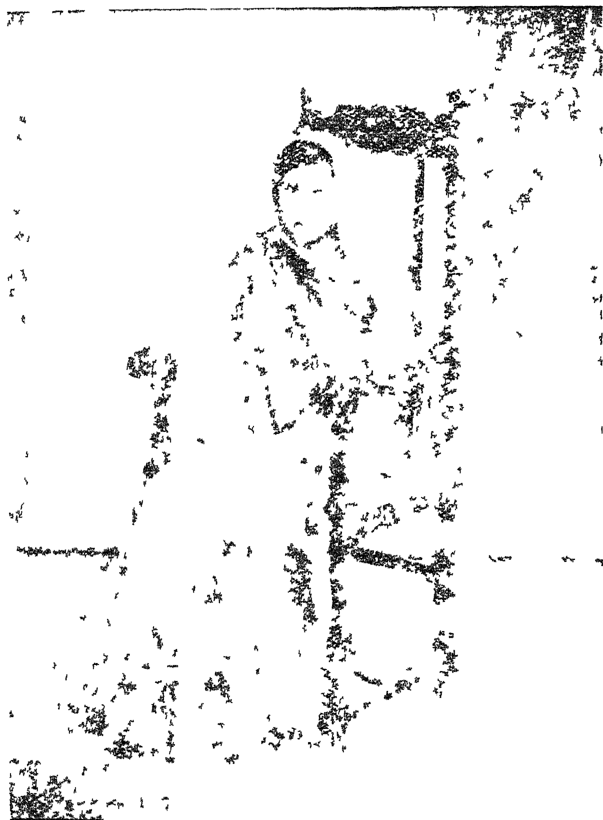
हमें यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई कि आपने अपनी छोटी पुत्री श्रीमती चमेली देवी को भी चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा दी है और वे भी पिता की तरह ही सुयश और सुख्याति प्राप्त कर रही हैं। प्रति दिन दो-तीन सौ मरीज़ाओं का इलाज करती हैं और उन्हें सौ प्रति-सौ सफलता प्राप्त होती है। वैद्यजी ने इन्हें "प्रेक्टिकल नॉलेज" का भी ख़ूब अभ्यास कराया है। श्रीमती चमेली देवी ही आपके आयुर्वेद विभाग की सञ्चालिका हैं। बड़ी योग्यता से अपना काम करती हैं और अब तक बहुत से असाध्य रोगों की भी सफलतापूर्वक चिकित्सा कर सकी हैं। आपकी सफलता से सन्तुष्ट होकर श्री वैद्यजी ने अपने अनुभूत गुप्त से गुप्त योग भी चमेली देवी को बता दिये हैं। हमारी आन्तरिक कामना है कि श्रीमती चमेली देवी भी पिता की तरह ही यथेष्ट ख्याति और सुयश प्राप्त करें।

भर्तृहरि शतकत्रय का हिन्दी अनुवाद श्री हरिदासजी की साहित्यिक विद्वत्ता का निदर्शन है। उसे पढ़कर आश्चर्य होता है कि, एक व्यवसाय-कुशल वैद्य में इतनी साहित्यिक सरसता कैसे आ गई और काव्य-साहित्य के इतने अध्ययन का आप को अवसर कैसे मिला? इस पुस्तक में आपने हिन्दी, अंग्रेज़ी और फ़ारसी के बहुत से कवियों की उक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिनसे आपकी साहित्य-मर्मज्ञता का पता चलता है। आपका यह अनुवाद भी हिन्दी में अपना सानी नहीं रखता।

श्री हरिदास जी असाधारण परिश्रमी व्यक्ति हैं। दिन-रात व्यवसाय में लगे रहकर भी आपने साहित्य की सेवा की है और वृद्धावस्था में भी एक मज़बूत नवयुवक की भाँति काम कर सकते हैं। चिकित्सा चन्द्रोदय जैसे बृहद् ग्रन्थ की रचना आपने उस उम्र में की है, जिस उम्र में लोग माला लेकर राम नाम जपा करते हैं। परमात्मा करे श्री हरिदास जी दीर्घजीवी हों और बहुत दिनों तक देश का उपकार करते रहें और उनका सबसे प्यारा एकमात्र उत्तराधिकारी राजेन्द्र शतायु होकर पिता के क़दमों पर चले!

नन्दगोपालसिंह सहगल
जनरल मैनेजर, चाँद प्रेस लि०, इलाहाबाद





श्रीमती चमेलीदेवी हरिदास जी की एकमात्र सुयोग्य पितृभक्त पुत्री है। इनको वैद्य जी ने हिन्दी, सस्कृत, बङ्गला की ऊँचे दर्जे की तालीम दी है। थोडी-बहुत अङ्गरेज़ी भी जानती हैं। आयुर्वेद मे पूर्ण रूप से दक्ष हैं। हर रोज़ दो-ढाई सौ मरीज़ स्त्री-बच्चों की चिकित्सा करती हैं। स्त्रियों के इलाज मे आपने विशेष निपुणता प्राप्त की है। कितने ऐसे मरीजों को, जिन्हे सिविलसर्जन तक लाइलाज कह कर छोड चुके थे, आपने अच्छा कर दिया। क्षय, तपेदिक या 'टी० बी०' के इलाज मे खूब अभ्यस्त हैं।

श्री० हरिदास जी के यहाँ जितनी दवाइयाँ बनती हैं वे सब श्रीमती चमेली-देवी द्वारा ही प्रस्तुत होती हैं। ये औषधियाँ कैसी शास्त्रानुकूल और अचूक होती हैं, यह हरिदास जी की देश-व्यापी कीर्ति से विदित हो सकता है। वैद्य जी ने आर्त प्राणियों पर अनुकम्पा रखने की प्रवृत्ति इनके हृदय मे उत्पन्न की है और इस समय तक ये वैद्यजी की सेवा ऐसी सलग्नता से करती आई हैं, जैसा कि प्राचीन-काल की पितृ-भक्ति की कथाओं मे पढने मे आता है। इसमे सन्देह नही कि हमारे समाज मे ऐसी विदुषी, गुण-सम्पन्ना और परोपकारिणी देवियों की सख्या अल्प ही है। दीन-दुखियो की आप जिस प्रकार सहायता कर रही हैं, वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

उन्हें अपनी सभी सन्तानें प्यारी लगेंगी और वंश चलाने की अन्ध-परम्परा भी नई ज्योति के प्रकाश में पड़ कर अधिक दिनों तक न ठहर सकेगी।

पुत्र-पुत्री के इस विकट अन्तर के कारण भारतवर्ष का बहुत ह्रास हो रहा है। यदि यह विभेद मिट जाय तो भारतवर्ष की वह अगणित संख्या, जो आजकल ठोकरों से ठुकराई जा रही है, पुरुषों के बराबर खड़ी होकर भारत को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दे। भारत की कन्याएँ कभी भी पुरुषों से कम नहीं रही हैं। यदि कभी श्रीराम ने अवतार लिया है, तो सीता जी भी अपने निराले आदर्श से उनके सम्मुख एक अद्वितीय दीप्ति का परिचय देती रही हैं। यदि वाल्मीकि और वशिष्ठ जैसे ज्ञानी उत्पन्न हुए हैं तो अनसूया और गार्गी जैसी महान् शक्तियाँ भी संसार को चमत्कृत कर गई हैं। फिर अभी क्यों वे पुरुषों से पीछे रह कर और देशों में भारत और हिन्दू-धर्म पर लाञ्छन लगा रही हैं? क्यों नहीं वे एक बार फिर दिखा देतीं कि भारत की ललनाएँ पुरुषों से वीरता, शिक्षा तथा देशप्रेम में कम नहीं हैं?

अन्धकारमय भविष्य

[श्रीमती विष्णुकान्ता देवी अवस्थी, विदुषी, साहित्य-रत्न]

कुछ दिन पहले अगर पूछ लेते तुम अभिलाषा मेरी,
रख देती मानस के वन से चुन-चुन फूलों की ढेरी।
अब क्या पूछ रहे हो मुझसे, मेरी अभिलाषा का हाल,
बिछा हुआ है उस बसन्त पर पतझड़ के पत्तों का जाल।

उड़ते हैं वे उच्छ्वासों से इस निर्जन में चारों ओर,
तब निस्तब्ध निशा में उठती है करुणा की एक हिलोर।
फूँक-फूँक धरती हूँ पग, पर काँटे हैं बिछते जाते,
इन सन्तप्त पदों पर लोचन भी खारा जल बरसाते!

मैंने कभी न अवहेला की इस कठोरतम बन्धन की,
उठी जहाँ सो गई वहीं पर चिर-अभिलाषा जीवन की।
अब केवल उसकी समाधि पर दीप जलाने जाती हूँ,
इतना भी निर्बाध्य रूप से, विश्व न क्यों कर पाती हूँ?

श्री० शङ्करसहाय
सक्सेना,
एम० ए०, एम०
कॉम०

ग्राम-सुधार और स्त्री-समाज

भारत में आज 'ग्राम-सुधार" आन्दोलन ने भारतीयों के मस्तिष्क को जिस प्रकार पकड़ रक्खा है, उस प्रकार पिछली एक शताब्दी मे किसी भी आर्थिक तथा सामाजिक आन्दोलन ने देश का ध्यान आकर्षित नही किया। आज जो गवर्नर-जनरल से लेकर गाँव के पटवारी तक को जिह्वा पर "ग्राम-सुधार" शब्द है, वह इसी आन्दोलन का प्रभाव है। ग्राम सुधार आन्दोलन की यकायक नौकरशाही इतनी भक्त कैसे बन गई, यह भारतवासियों से छिपा नही है। बम्बई कॉङ्गरेस में महात्मा गाँधी ने ग्राम उद्योग-सङ्घ की योजना रक्खी और भारत-सरकार के कान खड़े हुए। भारत-सरकार डरी कि कहीं कॉङ्गरेस का ग्रामीण जनता पर भी प्रभाव न जम जावे। उसी वर्ष एक करोड़ रुपया ग्राम सुधार आन्दोलन को चलाने के लिए बजट में रख दिया गया। प्रान्तीय सरकारों ने भी इस ग्राट में अपनी शक्ति-अनुसार कुछ रुपया मिलाकर ग्राम सुधार का खेल खेलना आरम्भ किया। कॉङ्गरेस महात्मा गाँधी के नेतृत्व में बहुत पहले से ग्रामों की ओर बढ़ रही थी। खद्दर आन्दोलन, हरिजन आन्दोलन, तथा मादक निषेध आन्दोलन, ग्राम सुधार आन्दोलन की भूमिका मात्र थे। ग्राम-उद्योग सङ्घ के द्वारा कॉङ्गरेस ने इस ओर एक निश्चित रूप से प्रयत्न करना आरम्भ किया है। परन्तु आज जो सार्वजनिक कार्यकर्ताओं तथा सरकार की एक समान दृष्टि गाँवों की ओर जा रही है उसका मुख्य कारण राजनैतिक है। नवीन शासन-विधान में जो असंख्य ग्रामीणों को मताधिकार प्राप्त हो गया है, उसने हमारे राजनीतिज्ञों और सरकार को विवश कर दिया कि वह शहरों की लुभावनी चकाचौंध से बच कर क्षण भर के लिए नगरों द्वारा शोषित तथा निर्जन सदृश्य जीवन-रहित ग्रामों की ओर भी देखें।

किसी कारण से भी हो, आज दो शताब्दियों के उपरान्त भारत राष्ट्र के कर्णधार राष्ट्र के जीवन-श्रोत गाँवों की शोचनीय दशा को देखकर विचलित हो उठे है, यह शुभ चिन्ह है। उपेक्षित ग्रामीण, जिसको हम मनुष्य न समझने का अभ्यास करते आये थे, उसे मनुष्य जैसा जीवन व्यतीत करने का अधिकार है—हमारी धारणा में यह महत्वपूर्ण परिवर्तन ही शुभ सूचना है।

ऊपर की पंक्तियों से यह निष्कर्ष न निकाला जावे कि भारत-सरकार के ग्राम-सुधार को ओर आकर्षित होने के पूर्व ग्राम-सुधार कार्य की ओर किसी का ध्यान ही नहो गया। कतिपय व्यक्तियो ने इसके पूर्व ही ग्राम-सुधार के कार्य की महत्ता को समझा या और अपनी शक्ति भर उन्होंने इस समस्या को हल करने का प्रयत्न भी किया। कवीन्द्र रवीन्द्र के श्रीनिकेतन की ग्राम-सुधार योजना, श्री डैनियल हैमिल्टन के द्वारा स्थापित सुन्दरबन की आदर्श कालोनी, श्री ब्रायन की गुरगाँव वाली योजना, दक्षिण तथा विशेषकर मालाबार प्रान्त में नेशनल कौन्सिल ऑफ वाई० यम० सी० ए० के ग्राम-सुधार केन्द्र, गोदावरी जिले में श्री सत्यनारायण का राम-मन्दिर, दक्षिण में श्री देवधर ट्रस्ट तथा सर्वेण्ट आफ इण्डिया सोसायटी का ग्राम-सुधार कार्य, बनारस में श्री मेहता की योजना, जयपुर राज्यान्तर्गत वनस्थली में ग्राम-सुधार कार्य तथा सहकारिता विभागों

द्वारा स्थापित जीवन सुधार सहकारी समितियाँ (Betterliving Cooperative Societies) इस कार्य को पहले से कर रहे थे।

भारत में ग्रामों की समस्या बहुत उलझी हुई है और आज जो बहुत से कार्यकर्ता इस कार्य में लगे हुये हैं, उन्होंने इस समस्या को भलीभाँति समझा नहीं है। प्रत्येक ग्राम-सुधार आन्दोलन में लगे हुये कार्यकर्ता को निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिए।

(१) ग्राम-सुधार कार्य का फल यह होना चाहिए कि गाँव की स्थायी उन्नति हो, न कि जब तक कार्यकर्ता गाँव में है और बाहर से धन व्यय किया जा रहा है तब तक दबाव से या डर से गाँव में चमक-दमक दिखलाई दे, और एक-दो वर्ष के उपरान्त कार्यकर्ता के हट जाने पर गाँव पुरानी दशा को लौट जावे। यह तभी हो सकता है कि जब ग्राम-सुधार की भावना स्वयं ग्रामीणों में उत्पन्न हो, बाहर से गाँवों पर सुधार लादने से स्थायी सफलता कभी प्राप्त नहीं हो सकती। आजकल ग्राम-सुधार गाँव वालों पर ऊपर से लादा जा रहा है। इसका फल यह हो रहा है कि सुधार-कार्य गाँव वालों को छूते तक नहीं और थोड़े दिनों के उपरान्त सारा किया-धरा नष्ट हो जाता है। श्री ब्रायन की गुरगाँव वाली योजना का परिणाम यही हुआ। उनका गुरगाँव से तबादला होते ही वहाँ का सारा कार्य ठण्डा पड़ गया और गाँवों की पहले जैसी दशा हो गई।

(२) एक दूसरा प्रश्न भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण है। ग्राम-सुधार एक-एक समस्या को लेकर चलने से हो सकता है अथवा सब समस्याओं को एक साथ हाथ में लेने से। अभी तक ग्राम-सुधार कार्य टुकड़े-टुकड़े करके करने का प्रयत्न किया गया है। कोई गाँव के स्वास्थ्य और सफ़ाई को लेकर चल रहा है तो कोई मुक़दमेबाज़ी को मिटाना चाहता है तो तीसरा ऋण की समस्या को हल करना चाहता है। यह सब कार्य प्रशंसनीय है, परन्तु पूर्ण सफलता तभी मिल सकती है जब कि सब समस्याओं के विरुद्ध एक साथ युद्ध छेड़ दिया जावे।

(३) तीसरी समस्या धन की है। भारतवर्ष में वही योजना सफल हो सकती है जिसके द्वारा कम से कम धन व्यय हो। लगभग सात लाख गाँवों की दशा सुधारने के लिए हमें अनन्त धन-राशि की आवश्यकता होगी। अतएव मितव्ययिता की ओर हमें विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। जिस पद्धति से इस समय कार्य हो रहा है, उससे यह प्रतीत होता है कि कार्य-कर्ताओं को केवल उन थोड़े से गाँवों का सुधार करना है जिनमें वह कार्य कर रहे हैं। राष्ट्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर ही हमें किसी पद्धति का अनुसरण करना चाहिए।

इस लेख में लेखक को ग्राम-सुधार की वर्तमान प्रचलित योजनाओं की आलोचना करना अभीष्ट नहीं है; वह इस लेख में केवल यह दिखलाने का प्रयत्न करेगा कि जितनी भी ग्राम-सुधार योजनाएं देश में चल रही हैं उनमें ग्रामीण स्त्रियों की अपेक्षाकृत उपेक्षा की गई है और उसका परिणाम यह हो रहा है कि ग्राम-सुधार कार्य कभी भी स्थायी रूप से सफल नहीं हो सकता। इससे यह भाव न निकाला जावे कि प्रचलित योजनाओं में केवल यही एक दोष है, दोष और भी हैं; परन्तु यह एक महत्त्वपूर्ण दोष है। अतएव लेखक यह दिखलाने का प्रयत्न करेगा कि ग्राम-सुधार कार्य स्थायी रूप से तभी सफल हो सकता है जब कि हम ग्रामीण स्त्रियों को अपने कार्य का केन्द्र बनावें।

ग्रामीण स्त्री शहरी स्त्रियों की भाँति अपने पतियों पर आर्थिक-भार स्वरूप नहीं हैं। उत्पादन कार्य में उनका उतना ही मूल्यवान भाग है जितना कि पुरुषों का। खेती-बारी के अतिरिक्त (जिसमें कि ग्रामीण स्त्री का स्थान कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है) अन्य बातों में स्त्री का स्थान ग्राम-जीवन में सर्वोपरि है। ग्राम-जीवन की कोई ऐसी समस्या नहीं है जिससे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से स्त्रियों का सम्बन्ध न हो। आप ग्राम्य जीवन की कोई समस्या ले लीजिए, जब तक कि आपको गाँव के महिला-वर्ग की सहानुभूति प्राप्त नहीं होती तब तक वह समस्या हल नहीं हो सकती। हमारे ग्राम-सुधार-आन्दोलन की यही सबसे बड़ी कमी

है कि कार्यकर्ताओं ने ग्रामीण महिलाओं की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है।

यदि देखा जावे तो ग्राम-सुधार कार्य का केवल एक ही उद्देश्य है धन, जन तथा शक्ति के दुरुपयोग को मिटाना और उसके सदुपयोग के लिए वातावरण तैयार करना। संक्षेप में हम गावों की भिन्न-भिन्न समस्याओं का यहाँ दिग्दर्शन कराना उचित समझते हैं, जिनके कारण ग्रामीण निराशावादी बन गया है और उसका जीवन पशु तुल्य हो गया है। प्रथम अत्यधिक भूमि तथा अन्य कर और सरकारी कर्मचारियों का अपमान-जनक व्यवहार। इस समस्या का हल तभी हो सकता है कि जब सरकार इधर ध्यान दे अथवा सङ्गठित किसान-आन्दोलन सरकार को इस ओर ध्यान देने के लिए विवश कर दे। दूसरी समस्या ग्रामीण ऋण तथा पूँजी की है। कुछ तो आर्थिक कारणों से और कुछ अपव्ययी होने से किसान आज बुरी तरह ऋण ग्रस्त है। महाजन क्रमश उसको जोंक की भाँति चूसता रहता है। इस समस्या को हल करने के लिए भी राज्य की सहायता की आवश्यकता होगी। परन्तु भविष्य में वह फिर एड़ी से चोटी तक कहीं ऋण-ग्रस्त न हो जावे, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह मितव्ययी बने। मुकदमेबाज़ी, विवाह तथा मृत्यु के अवसर पर जाति बिरादरी के भोज, स्त्रियों के लिए आभूषण तथा अन्य सामाजिक कार्यों पर जो अप-व्यय होता है वह रोकना होगा और ग्रामीण को यह पाठ पढ़ाना होगा कि जब फसल अच्छी हो तो उसे कुछ रुपया बचा कर रखना चाहिये, नहीं तो अकाल पड़ने पर वह फिर ऋणी हो जावेगा। यह तो सर्वमान्य बात है कि आप किसानों को चाहे कितना समझाइये कि जाति-बिरादरी के भोजों पर, आभूषणों पर तथा अन्य सामा-जिक कार्यों पर ऋण लेकर धन व्यय करना बुरा है, परन्तु जब तक कि किसानों की स्त्रियाँ इस सुधार को स्वीकार नहीं कर लेतीं तब तक यह आन्दोलन सफल नहीं हो सकता। किसान इस अपव्यय को रोक सके, यह उसकी शक्ति के बाहर की बात है। ग्रामीण स्त्रियों का जो आभूषणों से प्रेम है वह निरर्थक नहीं है। हिन्दू स्त्रियों को विशेष कर, तथा अन्य जाति की स्त्रियों को भी अपने पति की मृत्यु के उपरान्त उसकी सम्पत्ति का कोई भाग नहीं मिल सकता। आभूषण उसका स्त्री-धन होता है, इस कारण स्त्रियाँ अधिक से अधिक आभूषण चाहती है। अस्तु जब तक स्त्रियाँ इसके लिए तैयार न हों कि यह सुधार हो, और जिस वर्ष फसल अच्छी हो उस वर्ष कुछ रुपया बचाकर सहकारी बैङ्क मे जमा किया जावे, तब तक गाँवों में मितव्ययता का प्रचार नहीं हो सकता।

तीसरी महत्वपूर्ण समस्या गाँव की सफाई तथा स्वास्थ्य की है। तनिक गाँवों की ओर जाइये, गाँव के समीप पहुँचते ही दुर्गन्धयुक्त वायु के कारण आपको साँस लेना कठिन हो जावेगा। मक्खियों की बहुतायत, दुर्गन्धयुक्त वायु, गन्दे पानी से भरे हुए गड्ढे तथा गन्दगी को देखकर आप यह अनुमान लगा सकते हैं कि गाँव समीप आ गया है। बरसात के उपरान्त सारा गाँव का गाँव जूड़ी-बुखार से पीड़ित होता है और भयङ्कर रोग गाँव में अपना डेरा जमाये रहते है। गाँव की स्त्रियाँ मकानों की मरम्मत करने के लिए समीपवर्ती स्थानों से मिट्टी खोद लेती है, उसका फल यह होता है कि क्रमश छोटे-छोटे तालाब गाँव के चारों ओर बन जाते हैं, बरसात का पानी इन तालाबों में भरता है और रोगों के कीटाणुओं के वह उद्गम-स्थान बन जाते हैं। यही कारण है कि गाँवों में जूड़ी बुखार तथा अन्य रोगों का ऐसा भयङ्कर प्रकोप होता है। गाँव में अधिकतर गोबर के कण्डे बना लिए जाते हैं, जो कि आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त हानिकर है। यदि उसी गोबर की खाद बनाकर खेतों में डाली जावे तो अधिक लाभदायक सिद्ध हो। बरसात के दिनों में जब कि कण्डे बनाने का धन्धा बन्द हो जाता है, तो किसानों की स्त्रियाँ उस गोबर को इकट्ठा करके ढेर लगा देती हैं और उसका खाद बनाया जाता है। खाद के ढेर मक्खियों को उत्पन्न करते हैं और गाँव की वायु को दुर्गन्धयुक्त बना देते हैं। गाँव के बालकों की आँखों को देखिये, अत्यन्त मैली और खराब होती हैं। कारण यह है कि गाँव के वायुमण्डल में गन्दगी, रेत, कूड़े तथा धूल के छोटे-छोटे कण उड़ते रहते है और वे बालकों की आँखों में पड़ते हैं। इस कारण उनकी आँखे आप अधिकतर खराब पावेंगे। गाँवों में एक और भी पद्धति है, स्त्री-

पुरुष अधिकतर शौच के लिए बाहर मैदान में जाते हैं। प्रातःकाल सूर्य निकलने से पूर्व शौचादि से निवृत्त हो जाना, उधर रात्रि पड़ने पर शौच के लिए जाना प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है। इस प्रकार मैदानों में शौच जाना भी गाँव की गंदगी को बढ़ाता है। मल स्त्री-पुरुषों के पैरों के सम्पर्क में आता है और एक प्रकार का रोग, जिसे हुकवर्म (Hook-Worm) कहते हैं, फैलता है। जब मल सूख जाता है तो वह वायु के झोंकों के साथ गाँव के भोजन, बच्चों की आँखों तथा जानवरों की आँखों और चारे में पड़ता है। गाँव में नालियाँ तो होतीं नहीं, घर में स्नान तथा रसोई-घर के लिए काम में लाया हुआ पानी घर के समीप ही सूखता रहता है और गंदगी बढ़ाता है। वर्षा में तो गाँव की गलियाँ तथा मकान आधे दलदल बन जाते हैं। गाँव की सफ़ाई के लिए आवश्यकता इस बात की होगी कि समीपवर्ती गड्ढे पटवा दिये जावें, भविष्य में वहाँ से मिट्टी न निकाली जावे। खाद गड्ढों में बनाई जावे, जो कि ऊपर से मिट्टी द्वारा ढके रहें। और गाँव के एक सिरे पर गड्ढों के रूप में शौचगृह (Pit-Latrins) बनवाये जावें, जो कि स्त्री और पुरुषों के लिए पृथक हों। गाँव की सफाई के लिए प्रति सप्ताह एक दिवस नियत किया जावे, जिस दिन गाँव की सफाई हो। परन्तु यह तो मानी हुई बात है कि जब तक गाँव की स्त्रियाँ इस सफाई-आन्दोलन से सहयोग नहीं करतीं, तब तक वह सफल नहीं हो सकता। अतएव सफाई का प्रचार गाँवों में तभी हो सकता है जब कि स्त्रियों को उसकी उपयोगिता ज्ञात हो जावे।

यही नहीं, गाँवों में औषधि इत्यादि की कोई भी सुविधा नहीं होती। ग्राम-सङ्गठन की कोई योजना बिना इस प्रकार की सुविधा प्रदान किए अधूरी ही समझी जावेगी। मान भी लिया जावे कि सहकारी औषधालय (cooperative Hospitals) समितियाँ स्थापित करके यह समस्या हल की जा सकती है (सहकारी औषधालय समितियाँ समीपवर्ती चार-पाँच गाँवों के परिवारों के सदस्य बनने पर सङ्गठित हो सकती हैं) तो भी स्त्रियों की समस्या तब तक हल नहीं होगी, जब तक कि कोई स्त्री-चिकित्सक नियुक्त न हो। प्रसव-काल में अनाड़ी और गन्दी गाँव की बूढ़ी दाइयों की कुशलता के कारण जो असंख्य मातायें और बच्चे हमारे देश में प्रतिदिन मरते हैं उसका अनुमान लगाने से ही हृदय काँप उठता है। बच्चों का ठीक-ठीक लालन-पालन तथा स्त्रियों की चिकित्सा का प्रबन्ध तभी हो सकता है कि जब ग्राम-सुधार-योजना में उस समस्या के हल करने के लिए भी उपाय सोचा जावे।

स्थायी रूप से ग्राम्य जीवन को अधिक सुखद बनाने के लिए यह आवश्यक होगा कि ग्रामीण जनता की आय को बढ़ाया जावे। इसके लिए वैज्ञानिक ढङ्ग की खेती (अर्थात् उत्तम बीज, उत्तम खाद, तथा यन्त्र) किसान अपनावें, यह आवश्यक होगा। वैज्ञानिक ढङ्ग की खेती को सफलतापूर्वक करने के लिए खेतों की चकबन्दी (Con-solidation of land holdings), गड्ढों में खाद बनाना, उचित सूद पर पूँजी मिलना, अथवा किसान के पास यथेष्ट पूँजी होना, बैलों की उचित देख-भाल, तथा अधिक परिश्रम की आवश्यकता होगी। ग्रामीण स्त्रियों के बिना यह समझे कि प्रचलित पद्धति में यह क्रान्तिकारी परिवर्तन किस प्रकार लाभदायक सिद्ध होगा, ग्रामों में सफलतापूर्वक इसका प्रवेश हो ही नहीं सकता।

ग्रामीण जीवन को अधिक आकर्षक, सुन्दर, रहने योग्य बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि किसान परिवार खेती-बारी के अतिरिक्त किसी गौण धन्धे (Subsidiary Industry) को अपनावे कि जिससे अवकाश के समय कुछ आय हो सके। प्रत्येक किसान के घर के साथ एक गृह-वाटिका लगाने का नियम रहे, जिसमें घर के लोग फूल, साग तथा कुछ फलों को अपने घर के लिए उत्पन्न कर सकें। गृह-वाटिका आन्दोलन ग्राम-सुधार योजना का आवश्यक अङ्ग बनना चाहिए, इससे बहुत से लाभ हैं। गाँव में कोई भी मनोरञ्जन की वस्तु नहीं होती, अतएव गाँव वालों का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और लड़ाई-झगड़े में उन्हें आनन्द आने लगता है। भारतवर्ष में अत्यधिक मुक़दमे-बाज़ी का एक यह भी कारण है। अतएव ग्राम-सुधार-

योजना में मनोरञ्जन के साधन उत्पन्न करना भी आवश्यक होगा। ग्रामीण खेलों का पुनरुत्थान, छोटे-छोटे नाटक खिलवाना तथा गृह वाटिका, मनोरञ्जन की एक अच्छी सामग्री बन सकते हैं और इससे ग्रामीण जीवन को सरस बनाने में सहायता मिलेगी। साथ ही घर के लिए कुछ फूल, साग तथा फल प्राप्त हो सकेंगे। इन सभी कार्यों में ग्रामीण महिलाओं की सहायता की आवश्यकता होगी।

यदि यह मान भी लिया जावे कि कतिपय सुधार ग्राम्य-जीवन में बिना स्त्रियों की सहायता के हो सकते हैं, तो भी उन सुधारों को जीवित रखने तथा उन्हें स्थायित्व प्रदान करने के लिए यह आवश्यक होगा कि ग्रामीण स्त्रियों को इस आन्दोलन से सहानुभूति हो और वे उसकी सहायक हों। परन्तु यह तभी हो सकता है जब कि ग्राम की छोटी बच्चियों तथा उनकी माताओं की शिक्षा तथा उनमें प्रचार-कार्य पर उतना ही ध्यान दिया जावे, जितना कि पुरुषों तथा लड़कों पर दिया जाता है। यदि ग्राम-सुधार के उत्साही कार्यकर्ताओं ने केवल पुरुषों में काम करके ही ग्राम सुधार करने का निश्चय कर रक्खा है, जैसा कि इस समय दिखलाई देता है, तो यह आन्दोलन नितान्त असफल होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

ग्राम-सुधार-योजना में कार्यकर्ताओं को स्त्री-मितव्ययिता समितियाँ स्थापित करने का ध्यान रखना चाहिए। स्त्रियाँ ही उन समितियों की सदस्य हों और वे ही उसका प्रबन्ध करें। इन सहकारी समितियों का प्रधान कार्य यह हो कि वे स्त्रियों में मितव्ययिता की भावना उदय करें। जब कभी फसल अच्छी हो और स्त्रियों के हाथ में कुछ रुपए आ जावें तो जेवर बनवाने अथवा जाति-बिरादरी के भोज पर व्यय करने के स्थान पर वह उसे समिति में जमा कर दें। समिति एक छोटी सी सदूकची प्रत्येक सदस्य को दे और वे सदस्य स्त्रियाँ जब कभी सम्भव हो, उसमें पैसे इत्यादि डालती रहें। प्रति मास वह सन्दूकची समिति के कार्यालय में लाई जावे और वह धन उस स्त्री-सदस्य के नाम जमा कर लिया जावे। आवश्यकता पड़ने पर समिति ऋण भी दे। समिति सामाजिक अवसरों पर अधिक व्यय करने, मुकदमेबाज़ी में तथा जेवरों पर व्यय करने के विरुद्ध स्त्रियों में वातावरण उत्पन्न करे। आरम्भ में कठिनाई अवश्य होगी, परन्तु यदि एक बार प्रचार के द्वारा ग्रामीण स्त्रियों को समिति की उपयोगिता का विश्वास दिला दिया गया तो फिर स्त्रियाँ उसे अपना लेंगी और यह समितियाँ अत्यन्त सफल हो सकेंगी। जब इस प्रकार की समितियाँ सफलतापूर्वक कार्य करने लगें और ग्रामीण महिलाओं को उनके कार्य-सञ्चालन का अनुभव हो जावे तब महिला सहकारी स्टोर्स (भण्डार) खोले जा सकते हैं, जो कि अपने सदस्यों को गृह की आवश्यक वस्तुएँ उचित मूल्य पर देंगे और घर के खर्चे में कमी हो सकेगी। विदेशों में इस प्रकार के स्टोर्स अधिक सख्या में खोले गए हैं, परन्तु भारतवर्ष में इसके लिए कुछ समय की आवश्यकता है।

साख समितियों के अतिरिक्त प्रत्येक ग्राम में महिला-सुधार सहकारी समिति की स्थापना होना आवश्यक है। इस समिति का कार्य होगा कि वह स्त्रियों तथा लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध करे, घरों की सफाई, बच्चों के लालन पालन, स्वास्थ्य रक्षा, गृह-वाटिका आन्दोलन को चलावे। यह ध्यान में रखने की बात है कि लड़कियों के साथ-साथ उनकी माताओं की शिक्षा भी अत्यन्त आवश्यक है, नहीं तो यह आन्दोलन शिथिल हो जावेगा। वास्तव में यदि देखा जावे तो आन्दोलन की बहुत कुछ सफलता शिक्षा के ऊपर निर्भर है, अतएव जहाँ लड़कों की शिक्षा पर ध्यान दिया जा रहा है, वहाँ स्त्रियों तथा लड़कियों को शिक्षा की ओर से उदासीन रहना घातक होगा। गाँव की सफाई तथा स्वास्थ्य-रक्षा के लिए जो समिति पुरुषों के लिए बनेगी उसके साथ यह समिति सहयोग करेगी। महिला-सुधार सहकारी समिति का मुख्य कार्य उन बातों का, जो कि गाँव की सफाई के लिए आवश्यक है, महिलाओं में प्रचार करना और सफाई-आन्दोलन के लिए उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त करना होगा। समीपवर्ती गाँवों की महिला-सुधार सहकारी समितियाँ मिल कर एक नर्स अथवा लेडी डॉक्टर को नियुक्त करें, जो कि उन गाँवों की दाइयों को शिक्षा देने, कठिन केसेज़ को अपनी देख-रेख में कराने, बच्चों के

लालन-पालन विषयक जानकारी का प्रचार गाँवों की स्त्रियों में करने, स्त्री-रोगों में स्त्रियों की चिकित्सा करने तथा स्वास्थ्य-रक्षा आन्दोलन को चलाने में सहायक होगी।

दुर्भाग्य की बात तो यह है कि अभी तक हमारा ध्यान इस ओर गया ही नहीं है और न हम इसके महत्त्व को ही समझते हैं। ग्राम-सुधार आन्दोलन में काम करने वाले अधिकतर पुरुष ही हैं, अतएव उनसे यह भूल हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि महिला आन्दोलन का नेतृत्व करने वाली महिलाएँ भी इस ओर से उतनी ही उदासीन हैं जितने कि पुरुष। जहाँ कि अखिल भारतवर्षीय महिला-सम्मेलन इस बात की दिन-रात चिन्ता करता है कि महिलाओं को प्रत्येक विभाग में सरकारी नौकरियाँ मिलें, उन्हें पुरुषों के समान ही राजनैतिक अधिकार प्राप्त हों, महिलाओं के सामने जो सामाजिक कठिनाइयाँ हैं, वह दूर हों, वहाँ महिला-आन्दोलन (Feminist movement) के नेताओं के मस्तिष्क में यह बात नहीं उठती कि भारतवर्ष की करोड़ों स्त्रियाँ गाँवों में, कारखानों में, चाय और क़हवे के बाग़ों में ऐसा कठिन तथा दुखपूर्ण जीवन व्यतीत कर रही हैं कि जिसका ध्यान करते ही हृदय को धक्का लगता है। ग्रामीण स्त्रियों की कठिनाइयाँ भी अगणित हैं। कल्पना की आवश्यकता नहीं है, किसी गाँव में एक दिन जाकर ग्रामीण महिलाओं के दैनिक जीवन का अध्ययन कीजिये, आपको ज्ञात होगा कि जितना अधिक परिश्रम भारतीय ग्रामीण स्त्री करती है, उतना परिश्रम संसार के किसी भी सभ्य देश की स्त्री नहीं करती। होना यह चाहिए था कि भारतीय शिक्षित महिलाएँ ग्रामीण स्त्रियों के कठोर जीवन को अधिक सरस, आकर्षक तथा सुखमय बनाने के लिए माँग उपस्थित करतीं और जिस समय ग्राम-सुधार आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था, उस समय सरकार तथा सार्वजनिक कार्यकर्ताओं तथा देश के नेताओं को वे विवश कर देतीं कि ग्राम-सुधार योजना में महिलाओं की समस्याओं का भी विचार किया जावे। किन्तु महिला-आन्दोलन वास्तव में शहर की महिलाओं के अधिकारों को प्राप्त करने का आन्दोलन है, अतएव ग्रामीण महिलाओं को उससे कुछ सहायता न मिल सकी।

'देवदास'

[श्री० शान्तिप्रिय द्विवेदी]

हे देवदास, हे चिर उदास,
'पारुल' के उर के महोच्छ्वास!
तुम महाशून्य के अधिवासी,
क्यों भव-सागर में लिया वास?
किस अमृत-लाभ के लिये बन्धु!
कर गये गरल पर गरल पान?
हे तप्त-शप्त, क्या मिला तुम्हें,
केवल विषाद का महादान!

इस ज्वाल-सिन्धु में कौन आह
चल सका अरे, ले मृदुल प्राण?
हे सरल हृदय, ले तरल प्रणय,—
मिल सका किसे कब कहाँ त्राण?
चिर प्रेम-चिता की शैय्या पर
लपटों ने तुमसे रचा रास;
वह करुण कथा, वह तरुण व्यथा,
बन गई नियति का एक हास!





[श्री० राजनाथराय, एम० ए०, बी० एस-सी०]

कुछ इस तरह के भी आदमी संसार में पाये जाते हैं, जो किसी न किसी तरह के शासन के नीचे उत्तरदायित्व-हीन जिन्दगी बिताना ही पसन्द करते हैं। जिन्हें अपने समीप का काम छोड़ अधिक सोचने विचारने की कठिनाई नहीं भाती। पशुपति भी ऐसा ही आदमी था। किस समय खेत मे हल चलाने का उपयुक्त अवसर है, किस खेत में क्या बोया जाय कि उपज अच्छी हो, आदि बातों में तो वह कभी भी किसी का शासन स्वीकार नहीं कर सकता। अपने पिता के जमाने के सीखे हुए इस ज्ञान को उसने अपनी इस ओर की सहज प्रवृत्ति के कारण और बढ़ा ही लिया है। परन्तु खेत और मैदान की उसकी यह सुलझी और निश्चित बुद्धि घर मे आकर अन्य लौकिक विषयों के सामने कुण्ठित हो जाती थी। और ठीक इसी कारण तो उसे अपने ऊपर किसी न किसी शासन की आवश्यकता थी।

माता की मृत्यु के उपरान्त जब से गृह-प्रबन्ध का भार भाभी पर आ पड़ा है, तब से आज तक, लम्बे पन्द्रह वर्षों तक, इसी भाभी की ही राय सर्वमान्य होती आई है। पशुपति का ध्यान कभी भी इस शासन के भले-बुरे पर नहीं गया। दिन भर बाहर रहता। दिन की रोटी प्राय बाहर ही बनाता। शाम को घर में अपने भतीजे रघुनाथ के साथ दूध-रोटी एक ही थाली मे खाता। दशहरे के अवसर पर और लोगों के साथ उसे भी नयी धोती, नए कुर्ते और दो-एक रुपए मिल जाते। उसे फिर कमी ही किस बात की थी? खाने-पीने के लिए वह स्वयं पैदा कर ही लेता, मेले-ठेले और बनिये की माँग पूरी करने के लिए भैया हर महीने में रुपए भेजते ही थे। इस तरह भाभी के शासन-काल के पन्द्रह वर्ष बीत गये।

इस बीच में छोटी बहू ने भी कभी किसी तरह का अप्रिय उपद्रव नहीं खड़ा किया। पति खाना जुटाते थे तो क्या, उसके शृङ्गार और शौक के सामान तो जेठ जी ही के रुपए करते थे, और जेठानी के हाथ से ही तो उन रुपयों का खर्च होता था। फिर उसे क्या, किसी का भी शासन रहे!

लेकिन जब बड़े भाई की एक साधारण सी बीमारी में ही अचानक एक दिन मृत्यु हो गई, और रो-धो क्रिया-कर्म कर लेने के बाद भी पन्द्रह-बीस दिन बीतने को आये, तो घर के प्रत्येक समझदार व्यक्ति ने देखा कि कुछ नितान्त नये प्रश्न सिर खड़ा कर रहे हैं। देवरानी के तीक्ष्ण कानों ने इनकी पदध्वनि सुनी। जेठानी की सतर्क नज़रों से भी इनके खड़े होने का प्रयत्न छिपा नहीं रह सका। लेकिन पशुपति कुछ भी सुन न सका, कुछ भी देख न सका—वह समझदार ही कब था! दश वर्ष के रघुनाथ ने भी कुछ नहीं जाना, क्योंकि उससे अभी जानने-सुनने की आशा ही नहीं की जा सकती। घर का चौका-बर्तन करने वाली रामू की माँ तो नासमझ कही नहीं जा सकती, फिर वह क्यों न जान सके! ये बातें तो उसके लिए नवीन नहीं थीं। कितने ही घरों का हाल वह अपने चालीस वर्ष के सुदीर्घ जीवन में देख चुकी है। धीरे-धीरे घर के बाहर पड़ोस में भी इसकी चर्चा धीमे स्वर मे प्रारम्भ होकर ऊँची हो उठी। परन्तु नासमझ पशुपति अब भी बेखबर था।

रघुनाथ जरा देर तक सोता था। सुबह उठकर, मुँह-हाथ धो-धोकर, कुछ दाना मुँह में डालने के बाद अपनी गाय का गर्म किया हुआ दूध पीता। बाकी दूध दोपहर को खाने के साथ खाता। यही नित्य नियम था।

उस दिन वह अभी सो ही रहा था, दूध अभी आग पर बैठाया ही गया था कि छोटी बहू ने अपने कमरे के द्वार से रामू की माँ को पुकार कर कहा—सुनती हो रामू की माँ, आज दूध मेरे कमरे में ले आना। अभी, जल्दी, चाहे जितना ही गर्म हो।

रामू की माँ ने कुछ आश्चर्यित होकर पूछा—कितना ले आऊँ छोटी बहू ?

"तू पूछ रही है कितना ले आऊँ ? तो क्या समझती है कि चुल्लू भर दूध से ही मेरा काम चल जाएगा। मैं तुम्हें बतला देना चाहती हूँ कि सुबह का कुल दूध मुझे रोज़ चाहिए ही। इस घर में तो यह है कि कोई मरे चाहे जिये, दूसरों को क्या ? तो मैंने भी आशा त्याग दी है; अपने ही अपना ध्यान रखना होगा। वैद्य ने बतलाया है कि मुझे दूध ही फ़ायदा करेगा।"—यह कहती हुई छोटी बहू अपने कमरे में चली गई।

रामू की माँ यह तो समझ गई कि सारा का सारा दूध छोटी बहू को चाहिए ही, लेकिन वह तब भी यह नहीं समझ सकी कि देखने-सुनने में भली-चङ्गी छोटी बहू के शरीर में किस वैद्य ने ऐसी व्याधि ढूँढ़ निकाली है कि मरने-जीने तक की बात उठ खड़ी हो गई है। छोटी बहू की स्पष्ट आज्ञा सुनकर भी वह चुपचाप खड़ी रही।

बड़ी बहू लड़के के लिए दाना साफ़ कर रही थीं। उन्होंने सिर नीचे किए ही सब सुना, परन्तु उसी तरह चुप बैठी रहीं।

"बड़ी बहू, तो दे आऊँ ?"

छोटी बहू ने अपने कमरे के भीतर से ही नौकरानी का यह हाड़ जला देने वाला प्रश्न सुना। जैसे जो कुछ हैं, वह बड़ी बहू ही; वह कुछ भी नहीं। आग-बबूला हो उठी—बाप रे बाप, यह कैसा घर है कि नौकर-चाकर तक बात नहीं सुनते। मैं जानती हूँ कि किसके बल पर यह कूद रही है। अगर मैं एक-एक की ख़बर न लूँ तो कहना।... इसी स्वर में कुछ देर तक कहती गई। इतनी देर के बाद अब सिर उठा कर बड़ी बहू ने चेष्टाकृत शान्त स्वर में कहा—"रामू की माँ, तुम खड़ी क्या देख रही हो ? छोटी बहू बुला रही है न ?" यह कह कर फिर दाने को साफ़ करने में लग गई।

"लेकिन लड़का उठेगा तो क्या होगा, बड़ी बहू ?"

बड़ी बहू ने सिर नीचा किये हुए ही कहा—तू दे न आ। मैं उसे देख लूँगी। एक दिन दूध नहीं मिलेगा तो मर नहीं जाएगा। और मर भी जाय तो..." इतना कहते-कहते वह रुक गई। चेहरा जैसे सफ़ेद हो गया हो। यह कहती हुई दासी भी कि "राम-राम, भला ऐसा भी कहा जाता है, बहू"—तेज़ी से दूध देने चली गई।

लेकिन दासी के दूध ले आने पर छोटी बहू ने जो महाकाण्ड का अभिनय उपस्थित किया, वह वर्णनातीत है। क्रुद्ध सिंहनी की तरह पलङ्ग से उठ कर तेज़ी से सारा का सारा दूध दासी के हाथ से लेकर उसी के शरीर पर उड़ेल दिया। "बज़ात कहीं की ! चली है हिमाक़त दिखाने। आज आने दो उन्हें, तो सब को मज़ा चखाती हूँ।"—यह कह कर धम् से चारपाई पर गिर कर रोना शुरू कर दिया।

आज सुबह ही सुबह की इन तमाम असम्भावनीय घटनाओं ने रामू की माँ को कैसा कर दिया था, यह तो वह स्पष्ट नहीं समझ सकी, परन्तु बहू का अकारण गाली देना और फूट-फूट कर रोना तो वह एकदम ही नहीं समझ सकी। किसके 'आने की ओर' बहू का सङ्केत है, यह तो वह ख़ूब समझ गयी, परन्तु आज तक जिस व्यक्ति के सामने घर की सभी बातों का निर्णय होता चला आया है, उसकी न्याय-बुद्धि की एकबारगी ही अवहेला करके, एक नये अनुभवहीन व्यक्ति के सामने जो यह सब रखने का प्रस्ताव किया जा रहा है, उसकी सार्थकता में सम्पूर्ण रूप से सन्देह न होने पर भी, वह एकदम से विश्वास भी नहीं ला सकी।

"बाप रे बाप, ऐसा तो ग़ुस्सा ही नहीं देखा। सारा कपड़ा ख़राब हो गया है।"—बड़बड़ाती हुई वह धीरे-धीरे कमरे के बाहर चली गयी। बड़ी बहू दाना साफ़ हो जाने पर भी उसी तरह उसमें अपने को अटकाए, सिर नीचा किये बैठी रहीं।

रघुनाथ ने दाना खाने के बाद जब दूध माँगा तो माँ ने पुचकारते हुए कहा—बेटा, आज दूध नहीं मिला। कहो तो रोटी बना दूँ, चीनी से खा लेना।

रघुनाथ ने मचलते हुए कहा—मैं रोटी क्यों खाने लगा, मुझे तो दूध ही चाहिए। आज तक तो कभी भी ऐसा नहीं हुआ था कि दूध न मिला हो। चाचा ने आज दूध दुह कर भेजा हो नहीं क्या ?

माँ ने उमड़ते हुये आँसुओं को पीकर बेटे के माथे पर हाथ फेरते हुए कहा—देखो, घाम कितना निकल आया है! तुम्हें स्कूल भी तो जाना होगा। यदि रोटी नहीं खाओगे तो अधिक दाना-गुड़ ही जेब में डाल कर खेलने चले जाओ। और हाँ, देखना मेरी जड़ी, जिसके लिए मैंने तुझसे एक दिन कहा था, जरूर ले आना। मेरा राजा लड़का कितना अच्छा है!

दासी समीप ही बर्तन साफ कर रही थी। भीतर का रोष उमड़-उमड़ कर उसके हृदय को आहत कर रहा था। अब तक बड़ी बहू की गम्भीर मुद्रा देख कर कुछ कहने से अपने को रोके रही, परन्तु जब उसने देखा कि दूध न मिलने का असली कारण नहीं बता कर, बहू लड़के को भुलावा देना चाहती हैं, तब तो वह किसी तरह भी अपने को रोक नहीं सकी। भगवान को सम्बोधन कर, काफी जोर से सुनायी देने लायक स्वर में आप ही आप कहने लगी—"दैया रे, अभी ऐसे अच्छे बाप को मरे हुए पन्द्रह दिन भी नहीं हुए कि बेचारे को दूध मिलना भी मोहाल होगया। अरे इस संसार का "और भी न जाने क्या-क्या कहती, परन्तु बड़ी बहू ने वाक्य को यहीं समाप्त करते हुए रोषपूर्ण शब्दों में कहा—रामू की माँ, क्या बक-बक लगाए हुए हो ?

रामू की माँ तो चुप हो गयी, परन्तु अब तक अपने को सँभाल रखने वाली बहू अब और अधिक सँभाल नहीं सकी। ठीक यही बात, पति के मरने की दुखदायी घटना, वह भी भीतर ही भीतर सोच रही थी, और इस दूध वाली घटना का उद्गम-स्थान कहाँ है और वह कहाँ जाकर निःशेष होगी, यह भी उसके लिए सोचना बाकी नहीं रहा। ठीक उसी अपने ही भाव को दासी के मुँह से इस ढङ्ग से निकलते देखकर वह एकबारगी ही खीझ उठी—जैसे किसी ने उसकी चोरी पकड़ ली हो। लेकिन जब चोरी प्रकट ही हो गयी तो वह अपने उन आँसुओं को भी नहीं रोक सकी, जिन्हें पुत्र के सामने नहीं गिरने देने की अब तक प्राणपण से चेष्टा कर रही थी। न जाने कैसे, न चाहे हुए भी, वे अवरोध के बाँध को तोड़ कर बराबर बहते आने लगे।

रघुनाथ अब तक भी नहीं समझ सका था कि उसके पिता की मृत्यु और उसके सुबह के दूध से क्या सम्बन्ध है। उसके विचार से यदि दूध का सीधा सम्बन्ध गाय को छोड़ कर और किसी से है तो वह केवल चाचा से ही हो सकता है। परन्तु पिता की मृत्यु और माता के आँसुओं का सम्बन्ध तो उसे मालूम हो गया था। इसीलिए अब वह और अधिक झंझट नहीं बढ़ाकर जल्दी-जल्दी जड़ी ढूँढ़ने निकल पड़ा।

लड़के के चले जाने पर बड़ी बहू भी अपने कमरे में जाकर, भीतर से किवाड़ बन्द कर, पड़ रही। कितनी देर तक वे इस तरह पड़ी रहीं, कब उनके आँसू गिरना बन्द होकर, न जाने किन विचारों को हृदय में स्थान दे, तकिये को भिगो कर, गालों पर सूख गये, यह सब उन्हें कुछ भी नहीं मालूम हो सका।

अचानक जब रघुनाथ की आवाज दरवाजे पर सुनायी पड़ी, तो झटपट उठकर किवाड़ खोल दिया। पुत्र ने प्रसन्न चित्त से माँ के हाथ में अपनी मेहनत से खोजी हुई जड़ी रख दी। "माँ, मैं जाकर जल्दी नहा आता हूँ। आज हमारे स्कूल में डिप्टी साहब आएँगे। कुछ पहिले जाना चाहिए।"—यह कह फुदकता हुआ वह कुएँ की ओर भागा।

लेकिन अब तक तो रसोईघर में आग तक नहीं जलायी गयी है। न मालूम क्यों रघुनाथ की माँ को यह भीतर ही भीतर विश्वास सा था कि छोटी बहू की व्याधि दूध पाकर ही सन्तुष्ट हो जाएगी, रसोई में बाधक नहीं होगी।

जब से छोटी बहू इस घर में आयी है, तब से रसोई-घर उसी के जिम्मे रहा है। परन्तु अब तक रसोई बनाने का कोई इन्तजाम न देख कर बड़ी बहू घबड़ा उठीं। सच-

मुच ही जो व्याधि सुबह ही सुबह इतना बड़ा कारड उपस्थित कर सकती है, वह बहू को रसोई बनाने कैसे देती! यह तो उसे समझना ही चाहिए था। तुम्हारा उस व्याधि के विषय में अपना विचार चाहे जो भी क्यों न हो, उस पर चलने से तो काम नहीं चलता। और इस विचार का मूल्य ही क्या है, जब न तो तुम डॉक्टर ही हो और न रोगी ही।

यदि वह इतनी देर इस तरह कमरे में पड़ कर व्यर्थ के आँसू बहाने और मूर्खतापूर्ण विचारों में न पड़ी रहती तो अब तक तो सारी रसोई बन गयी होती। रघुनाथ आ रहा है, उसे जल्दी खाना मिलना ही चाहिए। खाना माँगने लायक़ लड़के के घर में होते हुए माता को आँसू गिराने का मौक़ा तो ढूँढ़ कर ही मिल सकता है।

जल्दी-जल्दी से थोड़ा सा आटा गूँध कर, कड़ाही में घी चढ़ा दिया। दो-एक पूरी निकलते न निकलते रघुनाथ खाने आ बैठा।

"आज पूरी क्यों बना रही हो, माँ?"—उसने आश्चर्य से पूछा।

"आज तुम्हारे डिप्टी जो आने वाले हैं, बेटा। अच्छा खाना-कपड़ा चाहिए कि नहीं!"—कह कर मुसकराने का प्रयत्न करती हुई माता चीनी लाने चली गयी।

ठीक समय पर रघुनाथ साफ़ कपड़े पहन कर, सिर पर एक अच्छी सी टोपी देकर स्कूल चला गया।

उस दिन घर में खाना नहीं बना।

२

शाम को जब चाचा-भतीजा एक ही थाली में खाने बैठे तो रघुनाथ डिप्टी साहब के स्कूल देखने के विषय में बड़े उत्साह से पशुपति को सभी बातें बताने लगा। कैसे-कैसे सवाल करते थे; डर के मारे ठीक जानते हुए भी लड़के कैसे ग़लत जवाब दे देते, और उसके जवाब पर डिप्टी साहब कितना खुश हुए थे। उन्होंने मास्टर से पूछा था कि वह किसका लड़का है; और......

अब तक चाचा चुपचाप सुन रहे थे। विवरण के इस स्थान पर आते ही मुँह चलाना बन्द कर कहा—अच्छा! तो मास्टर ने क्या कहा?

पास में बैठी हुयी माता स्नेह से पुत्र की बातें सुन रही थी। भीतर रसोई-घर में बैठी छोटी बहू भी उत्तर सुनने के लिए कान लगाये बैठी थी। रघुनाथ ने उसी उत्साह से कहा—और क्या कहेंगे? आपका नाम लेकर कहा कि उन्हीं का भतीजा है।

पशुपति तो इतना खुश हो गया कि अपने आसन पर ही एक बार उछल गया। भतीजे की पीठ पर ख़ुशी का एक हाथ मार कर कहा—शाबाश!

भीतर बैठी छोटी बहू ने धीरे से कहा—लौंडा कितना मायावी है। लेकिन मैं भी जानती हूँ, यह सब किसके सिखाने से कह रहा है।

रघुनाथ कहता ही गया—और देखो चाचा, मैं स्कूल भर में सब से साफ़-साफ़ पहन कर गया था। और जानते हो, मैं स्कूल पूरी-चीनी खाकर गया था...इसी समय माता दूध लेकर आयी। पूरी की चर्चा के ठीक बाद ही दूध देख कर अचानक न जाने कैसे रघुनाथ के दिमाग़ में सबेरे की घटना घूम गयी। उसने रूठने के स्वर में धीरे से कहा—लेकिन चाचा, तुमने मुझे आज सुबह दूध क्यों नहीं भेजा था?

"भेजा तो था, रे!"—पशुपति ने आश्चर्य से कहा।

"कहाँ भेजा था! भेजा होता तो मुझे मिलता नहीं?"

अब पशुपति के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। बड़ी बहू की ओर मुँह घुमा कर कहा—क्यों भाभी, क्या बात है? रघुनाथ को दूध क्यों नहीं मिला?

भीतर बैठी छोटी बहू ने सब सुना। आप नहीं कह कर लड़के को कान भरने के लिए सिखा दिया है! मैया रे, यह औरत है कि डायन! ऊपर से इतना चुप और भीतर से इतना दाव-पेंच जानने वाली।

छोटी बहू भीतर ही भीतर ऐंठ कर रह गयी।

थाली में दूध डालते हुए बड़ी बहू ने धीरे से कहा—रघुनाथ की चाची को दूध की जरूरत थी।

"चाची को दूध की जरूरत थी......क्या कहती हो भाभी? और वह दूध की जरूरत इतनी बड़ी थी कि

रघुनाथ के इतने दिन की आदत का ख़याल नहीं किया गया !"

"वे बीमार जो थीं। बैद ने बतलाया है कि दूध उन्हें फ़ायदा करेगा।"

"वह बीमार कब पड़ गयी ? अभी कल तक बिलकुल भली-चङ्गी थीं।"

अब तो छोटी बहू के अभिमान ने खोद-खोद कर मुँह खुलवा ही दिया।

"क्या जो कल अच्छा था, आज बीमार हो ही नहीं सकता ? जो दो-चार क्षण पहले भले-चङ्गे रहते हैं, वे भी दूसरे क्षण अचानक मर जाते हैं। बीमारी और मौत पर क्या वश ? लेकिन नहीं, मैं जानती हूँ कि इसमें किसी का दोष नहीं है। यह सब मेरे जले कपाल के कारण है !"

पशुपति ने आश्चर्य से आँखें फैलाकर कहा—यह क्या बात है अभी ? देखता हूँ, एक साथ ही तमाम बातें बदल गयी हैं। रघुनाथ को दस वर्ष के बीच आज पहली बार दूध नहीं मिला, छोटी बहू अचानक बीमार हो गयीं, और घर के छोटे लोग बड़ों का लिहाज तक भूल गये। यह सब एक ही दिन में कैसे हो गया, भाभी ? मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आता।"

"कैसे समझ में आवे। यदि समझ ही में आता तो दूसरे भेड़ बनाकर कैसे रख सकते !"—भीतर से छोटी बहू की दृढ आवाज सुनायी दी।

पशुपति तो ऐसा घबड़ा गया जैसे उस पर अचानक आक्रमण हो गया हो। वह कितना भी सीधा क्यों न हो, लेकिन ऐसे शब्दों का अर्थ समझ सकता था। घर में जब अलग-विलग होने को होता है तो ऐसी ही बातें पहले प्रवेश करती है।

जल्दी से हाथ-मुँह धोकर बाहर जाते समय कहता गया—"आज का दूध तो हम लोग खा ही गये। शायद छोटी बहू की बीमारी शीघ्र अच्छी नहीं होगी। इसलिए कल तो मैं किसी के यहाँ से थोड़ा दूध भिजवा दूँगा। परन्तु कल से रात ही को दूसरे दिन के लिए दूध रख देना होगा। हाँ, देखना, रघुनाथ बराबर अपनी गाय का ही दूध पीता आया है। कल जो दूसरे का दूध आयेगा, वही छोटी बहू को देना। रघुनाथ अपना दूध पियेगा।"

३

दो एक दिन तो नये प्रबन्ध से काम अच्छी तरह चलता रहा। परन्तु जो नया पति-प्रेम, सुबह की बीमार छोटी बहू को, शाम को बीमारी की हालत में ही रसोई-घर में खींच लाने में समर्थ हो सका, वह पति के दूध की इस कमी को कैसे सहन करता ! भतीजे के लिए चाचा अपना दूध पीना छोड़ दे, यह तो किसी भी गृहस्थ-शास्त्र में नहीं लिखा है। फिर उसी के घर में यह बात क्यों चलेगी ? छोटी बहू भीतर ही भीतर पति की मूर्खता और माँ बेटे की धूर्तता पर जलने लगी। लेकिन उसकी ज्वाला उसी को कब तक जलायेगी ? और लोगों पर भी तो उसका दाह पहुँचना ही चाहिए !

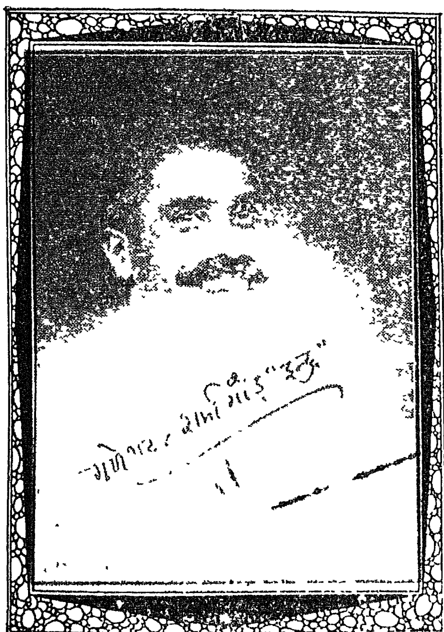
उस दिन दूध वाली घटना ने गृहस्थी की नाव में जो एक साधारण-सी दरार कर दी थी, उसे पशुपति के नए इन्तज़ाम ने दो-चार दिन के लिए बढ़ने से रोक तो दिया, परन्तु दरार यदि बन्द न होगी तो आखिर वह बढ़ेगी ही। हफ्ता दो हफ्ता बीतते न बीतते सभी समझदार आदमियों ने देखा कि सम्मिलित कुटुम्ब की नाव अब और आगे नहीं बढ़ सकती। इस बार पशुपति ने भी इसे अच्छी तरह समझ लिया। रघुनाथ ने तो यह जरूर ही समझ लिया कि घर में कुछ गड़बड़ अवश्य है, परन्तु उस गड़बड़ का अन्तिम रूप क्या होगा, उसका छोटा दिमाग अब भी नहीं समझ सकता था।

एक दिन सन्ध्या को स्कूल से आने पर उसने देखा कि चाची आँगन में खड़ी बर्तन, भाँड़ा आदि बाहर भिजवा रही है। रामू की माँ ने उसे आश्चर्य में खड़े देखकर कहा—"खड़े क्यों हो बेटा, जाकर कुछ पानी-वानी पी लो। चाचा तुमसे अब अलग रहेंगे। तुम लोग इसी मकान में रहोगे। मदों वाले मकान में वे जाकर रहेंगे।" यह कहकर वह बर्तन माँजने लगी।

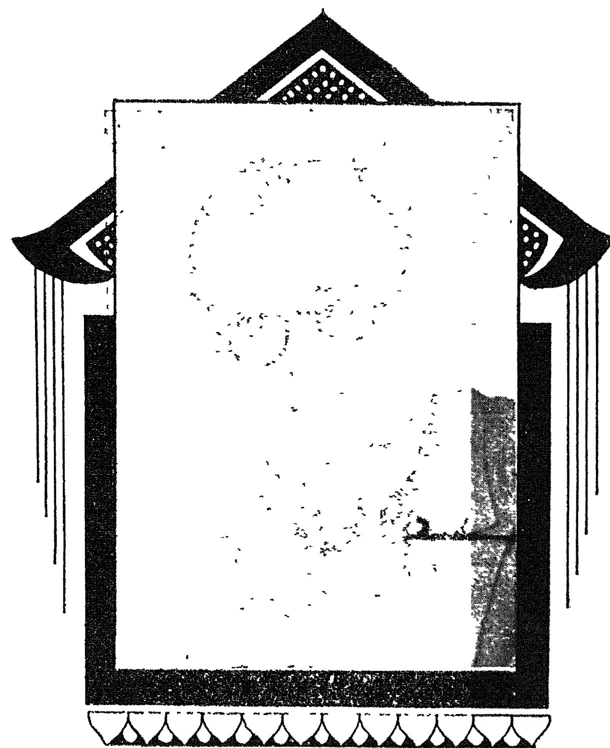
४

अलग होने पर भी पशुपति का वही पुराना नियम जारी रहा—केवल एक परिवर्तन के साथ। अब वह

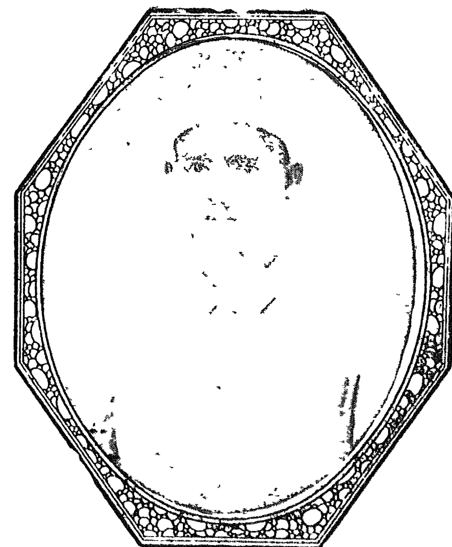
हमारे विशेषाङ्क के कुछ लेखक



श्री० गणेशदत्त शर्मा, 'इन्द्र'
('मध्य-भारत का सामाजिक-जीवन' शीर्षक लेख के लेखक, जो ६७वें पृष्ठ पर छपा है।)



श्री० नन्दगोपालसिंह सहगल
(आपका 'हमारे समाज के उपेक्षित अङ्ग' शीर्षक लेख १५०वें पृष्ठ पर देखिए।)



श्री० शङ्करदयालु श्रीवास्तव, एम० ए०
(आपका 'संयुक्त-प्रान्त का महिला-समाज' लेख ७६वें पृष्ठ पर प्रकाशित हुआ है।)

सवेरे ही घर छोड़ देता और संध्या को अँधेरा होने पर गाँव में आता। घर में भी उसके लिए कोई विशेष परिवर्तन नहीं था, भाभी का शासन पत्नी के शासन में बदल गया था। परन्तु कोई देखने वाला देख सकता था कि उसके चेहरे पर, भौंहों से थोड़ा ऊपर हटकर, चिन्ता ने अपनी सीमा-रेखा डाल दी थी। प्रारम्भ में उसने रघुनाथ के लिए दूध का वही पुराना नियम ही जारी रखना चाहा, परन्तु स्त्री के प्रबल विरोध के कारण वह विचार त्याग देना पड़ा। हाँ, एक बात वह अवश्य कर देता था, भाभी के हिस्से की जगह-ज़मीन की देख-रेख कर देता और जो थोड़ी-बहुत मालगुज़ारी मिलती, पहुँचवा देता। इस विषय में स्त्री की ओर से भी कोई वैसा विरोध नहीं हुआ।

दो-एक दिन के बाद ही रघुनाथ को चाचा के देखने की तबीयत करने लगी। सुबह तो उनसे भेंट हो ही नहीं सकती, यह वह जानता था। इसीलिए अलग होने के तीसरे ही दिन, संध्या को, स्कूल से आने पर वह चाचा के घर की ओर चल पड़ा।

चाचा का घर उसके घर से चार सौ गज़ की दूरी पर था। देखा कि आँगन में बैठी चाची किसी पड़ोसिन से बातें कर रही हैं। उसे देख कर चाची ने रूखे भाव से पूछा—इधर कैसे आए, रघुनाथ?

"क्या चाचा अभी नहीं आये हैं?"—रघुनाथ ने ज़रा हिचकते हुये पूछा।

"वे तो इस वक़्त कभी भी नहीं आते।"—इतना कह कर चाची अपनी सङ्गिनी से बातें करने लगी।

रघुनाथ थोड़ी देर तक खड़ा रहने के बाद उदास मन से धीरे-धीरे घर के बाहर निकल गया। बाहर होते-होते उसने सुना, उसकी चाची कह रही हैं। तुम नहीं जानतीं बहन, यह लड़का बड़ा छलछन्दी है। वह ज़रूर कुछ न कुछ मतलब से ही आया था। अपनी माँ का लड़का है कि नहीं!

रघुनाथ की आँखों से दो बूँद आँसू निकल पड़े।

लेकिन मन ही मन छोटी बहू, न जाने क्यों रघुनाथ से डरती भी ख़ूब थी। उस डर के मूल में यह था कि अब भी उसे अपने पति की स्थिरता के विषय में पूरा विश्वास नहीं था। कहीं यह लड़का फिर से अपनी सर्व-ग्राही माया फैला न दे, इसलिए उसकी दृष्टि में उसका चाचा से मिलना-जुलना वाञ्छनीय नहीं था।

उस दिन रात को जब पशुपति खाने बैठा तो छोटी बहू ने रोटी डालते हुए ज़रा गरदन घुमाकर कहा—अपने लायक़ भतीजे की बातें सुनीं? हम लोगों के बारे में वह लोगों से क्या कहता फिरता है?

"नहीं तो, क्या कुछ कह भी रहा है?"—पशुपति ने सिर नीचा किये ही कहा।

"कुछ? कुछ नहीं, वह तो ज़हर उगल रहा है। देखने में है तो छोटा, परन्तु उसके काटे का मन्त्र नहीं।"

लेकिन आश्चर्य तो यह है कि पशुपति उसी तरह सिर नीचा किये खाता रहा, उस ज़हर के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने की ज़रा भी उत्सुकता नहीं प्रकट की। छोटी बहू अब भी निरुत्साह न होकर सानुनासिक स्वर में कहने लगीं—मुझे कैसे मालूम होता, वह तो उस दिन कल्लू की माँ उस घर गयी थीं। उन्होंने थाह लेने की नीयत से उससे पूछा कि चाची चाहे कैसी भी रही हो, चाचा तो तुम्हें बहुत प्यार करते थे? इस पर उस अङ्गुल भर के लड़के ने जो जवाब दिया उसे सुनकर तो कल्लू की माँ भी कट कर रह गई। उसने कहा—"प्यार क्या करते थे, ज़रा पूछ-पाछ लेते थे। जिसे भगवान ने अपना लड़का ही नहीं दिया, वह दूसरे के लड़के को क्या प्यार करेगा।" तुम नहीं मानोगे, लेकिन कल्लू की माँ से तुम पूछ सकते हो। यह सब उसी बड़ी रानी के सिखाने-पढ़ाने का परिणाम है! नहीं तो वह लड़का इतनी बड़ी बात जल्दी नहीं कह सकता था, यद्यपि यह बात मैं पहले से ही ख़ूब अच्छी तरह जानती थी कि एक न एक दिन वह ऐसा कहेगा ज़रूर।

इस बार पशुपति ने अपना सिर उठाया। स्त्री की ओर देखते हुए पूछा—क्या ऐसा कहता था?

"और नहीं तो क्या मैं झूठ कहती हूँ?"—स्त्री ने गाल फुला कर कहा।

"नहीं-नहीं, मेरे कहने का यह मतलब नहीं था।"—यह कह कर वह फिर खाने में लग गया।

छोटी बहू ने आदर से एक और रोटी डालते हुए कहा—लेकिन तुम तो ऐसे सरल हो कि एक बार वह आकर 'चाचा' कह कर पुकार दे तो, पानी-पानी हो जाओ।

पशुपति ने चोट खाये हुए अभिमान से सिर उठा कर कहा—क्या तुमने मुझे ऐसा मूर्ख समझ रक्खा है ?

स्त्री ने विजय भरी दृष्टि से पति की ओर देखा, जैसे कह रही हो—छी, छी, ऐसा भी भला सोच सकती हूँ!

हाथ धुलाते-धुलाते छोटी बहू ने लम्बी साँस खींच कर कहा—भगवान ने भाग्य ही नहीं दिया, नहीं तो भला कल का लड़का यह कह सकता था!

पशुपति ने हाथ पोंछते-पोंछते कहा—सो तो है ही।

इस घटना के दो तीन दिन बाद ही रघुनाथ ने निश्चित् किया कि वह यदि कुछ सबेरे उठे तो चाचा से खेत पर भेंट करके स्कूल के समय तक घर भी लौट आ सकता है।

पशुपति ने अपने सबसे बड़े खेत की मेड़ के समीप एक मड़ैया डाल रक्खी थी। यहीं पर उसके बैल आदि रहते थे और एक चरवाहा भी रहता था। दिन का बहुत बड़ा हिस्सा पशुपति का यहीं पर कटता था।

बैल नाद पर भूसा खा रहे थे। पशुपति झोपड़ी के सामने बैठ कर दाँत साफ कर रहा था। इसी समय रघुनाथ पहुँचा। चाचा को दूर से देखते ही जल्दी जल्दी पैर बढ़ाकर लपका। पशुपति का मुँह दूसरी ओर था। रघुनाथ ने सोचा, यदि अचानक वह पीछे से चाचा कह कर पुकार उठेगा तो चाचा कितने अचरज में पड़ेंगे। उस समय उसे चाचा को इस तरह छकाने की जो खुशी होगी, उसका सँभालना उसे अभी से कठिन हो रहा था। लेकिन जब समीप जाकर उसने सचमुच ही 'चाचा' कहकर पुकारा, उस समय चाचा ने मुँह घुमाया तो अवश्य, परन्तु उससे रघुनाथ को खुशी नहीं हुई। पशुपति बिना कुछ कहे, पास का गगरा उठाकर कुँए की ओर चल पड़ा।

रघुनाथ को तो जैसे काठ मार गया। उसे विश्वास ही नहीं हुआ कि यही उसके चाचा पशुपतिनाथ राय हैं, जिनका उसके साथ एक थाली में खाए बिना पेट ही नहीं भरता था। उसने देखा कि थोड़े दिनों के अन्दर ही मानो सारी की सारी दुनियाँ ही बदल गई है, उसने डर कर एक बार अपने को भी देखा कि शायद वह ही तो नहीं बदल गया है!

उसका अभिमानी हृदय भीतर ही भीतर रो उठा। बेहोश सा, किसी तरह अपने को सँभालता हुआ, वह घर लौट कर, माता की गोद में मुँह छिपा कर फूट-फूट कर रोने लगा।

माता सबेरे ही जान गयी थी कि वह चाचा से भेंट करने गया है। उसके सिर को अपनी छाती से चिपकाते हुए, रुँधे गले से उसने पूछा—रोते क्यों हो बेटा! इस तरह रोया भी जाता है ?

बहुत देर के बाद अपने को सँभाल सकने पर उसने उच्छ्वास से भरे हुए गले से कहा—माँ, चाचा ने मुझसे बातें क्यों नहीं कीं ?

यह कह कर वह फिर रोने लगा। रोती हुई माता ने समझाने के स्वर में कहा—इसमें रोने की कौन सी बात है, बेटा। बात ही करनी होती तो अलग क्यों होते।

उस दिन वह स्कूल नहीं जा सका।

५

इसके बाद छ महीने बीत गये। पन्द्रह-सोलह दिन से काफी शीत भी पड़ने लग गयी थी। एक दिन योंही किसी से पशुपति को मालूम हुआ कि रघुनाथ को न जाने कैसे ठण्ढ लग गयी है, आज पाँच-सात दिन से वह बीमार है।

खबर से पशुपति को एक धक्का-सा लगा। उसे वह दिन भूला नहीं था, जिस दिन खेत पर रघुनाथ ने पीछे से 'चाचा' कह कर पुकारा था। उस दिन की उसकी वह निराशा में डूबी हुई विषादपूर्ण आकृति और उसके वे लड़खड़ा कर लौटते हुए पैर उसे भूले नहीं थे। उसने बड़ी चेष्टा करके एक दिन उसे भूल जाना चाहा था, परन्तु कहाँ, कुछ भी तो नहीं भूल सका है। वह तिरस्कृत चेहरा जैसे आज भी अपनी दो बड़ी-बड़ी आँखों के

प्रशान्त मेघमण्डल से, उसकी ओर करुणा-भरी याचना से पुकार रहा है। जैसे आज भी वे नन्हें-नन्हें पैर उसी के हृदय पर लड़खड़ा कर चलने की कोशिश कर रहे हैं।

वह उसी समय रघुनाथ को देखने चल पड़ा। परन्तु जब दूर से ही उस छः महीने पहले के देखे हुए बन्द दरवाज़े पर उसकी नजर पड़ी तो वह अकचका कर खड़ा हो गया। यदि वह अच्छा हो गया हो, और पूछ बैठे कि मैं कैसे पहुँच गया, तो? तब तो भागते जगह भी नहीं मिलेगी।

वह लौट आया।

खाते समय डरते डरते स्त्री से कहा—सुना है कि रघुनाथ बीमार है। मालूम नहीं, कैसी बीमारी है।

छोटी बहू ने गर्दन टेढ़ी कर, मुँह को ज़रा एक तरफ़ खींच कर कहा—बीमार क्या है, ज़रा सर्दी लग गयी है। कल्लू की माँ तो कल ही देखने गयी थीं। कहती हैं, दुबला हो गया है। सो दुबला तो हो ही जाएगा। कोई भी बीमारी आख़िर बीमारी ही तो है।

पशुपति ने समझ लिया कि कोई घबड़ाने की बात नहीं है।

इसके पाँच-छः दिन बाद, इतवार के दिन, पशुपति सूर्य डूबने से प्रायः एक घण्टा पहले अपने आँगन में खाट पर बैठ कर दाना चबा रहा था कि रामू की माँ ने बाहर से ही घबड़ाए हुए स्वर में पूछा—"छोटी बहू, छोटे भैया घर में हैं?" उसके घर में पैठते ही घबड़ा कर पशुपति ने पूछा—क्या बात है, रामू की माँ?

"भैया जल्दी चलो। रघुनाथ तुम्हें बुला रहा है।"—यह कह कर आँचल से अपना मुँह दबा कर वह रो उठी।

पशुपति को तो जैसे काठ मार गया। लेकिन छोटी बहू ने स्थिर भाव से व्यङ्ग-स्वर में पूछा—क्या बात है रामू की माँ, कि आज चाचा की बुलाहट हुई है?

"तुम इसे बुलाहट कहती हो, बहू? सोने-सी देह पन्द्रह दिनों से खाट पर पड़े-पड़े मिट्टी में मिल गयी। तीन दिन से छाती में जो दर्द उठा है, उससे बेचारे को नींद तक नहीं आती! गाँव के सभी लोग देख आए। केवल तुम्हीं लोगों को फ़ुर्सत नहीं मिली, जो सब से अधिक अपने हैं!......आज सवेरे से 'चाचा' की रट लगाए हुए है। अन्त में बड़ी बहू ने बड़ी हिम्मत करके मुझे भेजा है कि मैं तुम लोगों को बुला लाऊँ।"

पशुपति अब और अधिक नहीं रुक सका; स्त्री को रामू की माँ के साथ आने को कह अपने भागता हुआ चला। पति को बहुत देर तक अकेले उस घर के अविश्वासी वातावरण में छोड़ना उचित नहीं समझ कर छोटी बहू भी शीघ्रता से चल पड़ी।

घर के भीतर, एक चारपाई पर रघुनाथ का सूक्ष्म शरीर पड़ा हुआ था। छाती में, हृदय के निकट, ज़ोर-ज़ोर से धड़कन हो रही थी। माता सूने नेत्रों से पुत्र की पीड़ा निस्सहाय भाव से देख रही थी। पशुपति ने रघुनाथ का हाथ अपने हाथों में लेकर पूछा—कैसा जी है, बेटा?

चाचा की आवाज़ सुन कर रघुनाथ ने आँखें खोलीं।

"तुम आ गये, चाचा! बड़ा अच्छा किया। जी अब अच्छा ही है।"

थोड़ी देर तक सब चुपचाप बैठे रहे। छोटी बहू की ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। रघुनाथ ने निर्बल स्वर में कहा—"चाचा, मैं अच्छा तो हो ही जाऊँगा, परन्तु तुम यदि मुझे अपने उस घर लिवा ले चलो तो शायद जल्दी अच्छा हो जाऊँ। ले जा सकोगे, चाचा?" यह कह कर उसने चाचा की ओर आँखें घुमायीं, पशुपति को ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई चीज़ उसके हृदय में पागल सी घूम रही है।

"क्यों नहीं, बेटा! वह भी तो तुम्हारा ही घर है।"—यह कह कर पशुपति ने रामू की माँ को बुलाया।

अब तक छोटी बहू चुपचाप बैठी रोगी को ही देख रही थी। उसने पहले भी लोगों को मरते देखा था। वह मौत को पहचानती थी और उसके अशुभ प्रवेश से डरती भी ख़ूब थी। उसे जानते देर नहीं लगी कि रघुनाथ अब दो-चार दिन का ही मेहमान है। ऐसी हालत में उसे अपने घर ले जाना वह किसी तरह भी पसन्द नहीं कर सकती थी। उसने जल्दी से कहा—रहने दो रामू की माँ! यह भी भला हो सकता है। इन्हें

क्या, कुछ जानते सुनते तो है नहीं । घर में भला मुर्दा ले जाकर क्या होगा !

पशुपति का मुँह विवर्ण हो गया। रघुनाथ भय पूर्ण दृष्टि से चाची को देखता रहा। सिरहाने बैठी माता ने दीवाल से टिककर इस दारुण आघात को सहन किया। उसके ओठ कुछ कहने को फड़फड़ा रहे थे, परन्तु शब्द नहीं निकल सके !

राम की मा घृणा से भर उठी। उसने कहा—छी छी, बहू, भगवान का भी तो खयाल करो।

छोटी बहू ने भी मन में अनुभव किया कि बात अवसर के उपयुक्त नहीं हो पायी है। अपनी पूर्व कही हुयी बात के आघात को कम करने के लिये ज़रा चेष्टा-कृत सहृदयता से उसने कहा—"मुझे क्या दुःख नहीं है, राम की माँ ! परन्तु तुम तो जानती ही हो, ईश्वर हम पर एक तो योंही नाराज है। अभी तक कोई 'माँ' कह कर पुकारने वाला नहीं दिया। फिर तुम्हीं कहो, ईश्वर न करे, यदि वहाँ जाकर कुछ भला-बुरा हो जाय तो फिर मेरे लिए क्या होगा।" यह कह कर बहू ने अपनी आँखें पोंछ लीं। पशुपति तो जैसे संसार की सारी व्यथा, लज्जा और घृणा से ज़मीन में धँसा जाने लगा। लेकिन बड़ी बहू ने इतनी देर के बाद अपने को सँभाल कर रोते हुए कहा—छोटी बहू, ईश्वर के लिए तुम लोग यहाँ से चली जाओ। मेरे बच्चे को अच्छा होने दो !

छोटी बहू तो जैसे फुफकार कर उठ बैठी। पति से यह कहती हुई कि क्या और भी अपमान कराना चाहते हो, शीघ्रता से आँगन पार कर गई। परन्तु पशुपति अब भी वैसे ही बैठा रहा। क्रोध से भरी पति का हाथ पकड़ कर एक तरह से खींचती हुई वह घर के बाहर निकल गई।

घर आने के बाद बहुत देर तक पशुपति चुपचाप बैठा रहा। इस बीच में छोटी बहू न जाने क्या-क्या बक गयी। बिना खाए ही वह चारपाई पर पड़ रहा। नींद क्या आयी, अध-जगा सा पड़ा रहा। दस बजने के लगभग वह अचानक जाग उठा, जैसे उसका शरीर सिहर उठा हो। स्त्री ने पूछा—क्या है ? नींद नहीं आ रही है ?

"नहीं, बड़ी गर्मी-सी मालूम हो रही है। मैं ज़रा बाहर जाऊँगा।"—यह कह कर, बिना इस बात की परवाह किये ही कि स्त्री क्या कह रही है, वह दरवाज़ा खोल कर बाहर निकल गया।

जब पुराने घर के बन्द दरवाजे ने उसको रोका, उस समय उसे मालूम हुआ कि वह कहाँ आया है। वह द्वार खुलवाने जा ही रहा था कि भीतर से दो स्त्रियों की जोर से रोने की आवाज़ सुनायी दी। एक तो बड़ी तीव्र आवाज़, तेज़ी से उठ कर, शून्य वायुमण्डल को चीरती हुयी, न जाने कहाँ जाकर विलीन हो गयी और दूसरी साधारण ऊँचे स्वर में अब तक भी सुनायी पड़ती थी। मातृ हृदय का सम्पूर्ण जोर लेकर वह वेदना से घनघनाती हुई चीख अनन्त के चरणों में शायद कुछ कहने चली गयी, जिसकी प्रतिध्वनि भी लौट कर नहीं आयी। और अपने साथ क्या-क्या लेती गयी, उसे उस सर्वज्ञानी को छोड़ कर और कौन जान सकता है ?

× × ×

रात भर पशुपति न जाने कहाँ-कहाँ घूमता रहा। बहुत सुबह ही घर आकर स्त्री से कहा—सुना तुमने, रघुनाथ मर गया !

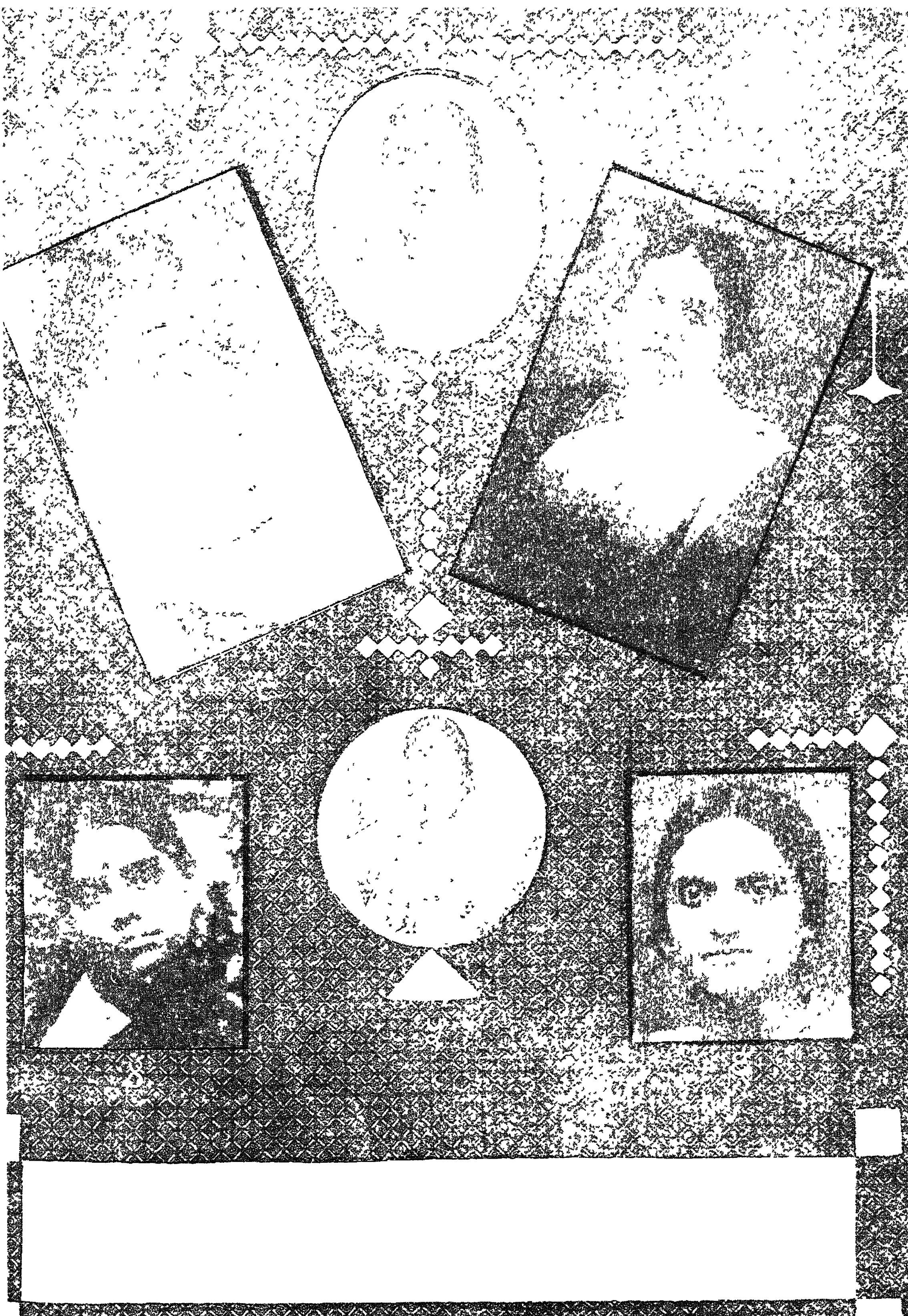
उसकी स्त्री चौंक-सी गयी।

"कल तो अभी अच्छा ही था, फिर आज ही..." कहते-कहते छोटी बहू ने आँखें पोंछ लीं।

"हाँ, यही तो। कल तो अच्छा ही था, फिर न जाने क्या तबीयत में आयी, मर गया।"

थोड़ी देर तक आकाश की ओर देखते रहने के बाद, अचानक अपनी आँखें पत्नी के मुख पर डाल कर कहा—"और तुमने तो कल ही कह दिया था कि मुर्दा ले जाकर क्या होगा। तुमने झूठ थोड़े ही कहा था।"

छोटी बहू पति की वह दृष्टि सहन नहीं कर सकी। आँखें नीची कर कहा—तुम तो ऐसी बातें करते हो जैसे मैं बिलकुल ही पत्थर होऊँ।—यह कह कर उसने रोने का उपक्रम किया।





चिकित्सा-कार्य मे अग्रसर

कुछ महिलाएँ

१—श्रीमती पूनेन लक्वोसे, बी० ए०, एम० बी० बी० एस०, सीनियर सर्जन (ट्रावनकोर)।

२—डॉक्टर मिस कुमुद अमृतलाल मेहता।

३—श्रीमती डॉक्टर मालिनीबाई भालचन्द्र सुखथटकर।

४—कुमारी सुमतिबाई कार्लेकर एल० सी० पी० एस०।

५—डॉक्टर सुशीलाबाई जागीरदार।

६—कुमारी मैत्रेयी बोस, एम० बी० (कलकत्ता)

पशुपति फिर आकाश की ओर देखने लगा। छोटी बहू के रोने पर उसका ध्यान नहीं था। थोड़ी देर रुक कर कहा —"चलो अच्छा ही हुआ। चिन्ता से बचे; क्यों ?"— फिर उसने स्त्री की ओर देखा। छोटी बहू तो घबड़ा-सी गयी।

"यह तुम क्या कह रहे हो ?"—उसने डरते हुए पूछा।

"कुछ नहीं। लाओ थोड़ा दाना-गुड़, खेत पर चलूँ।"

"खेत पर जाओगे ! लाश के साथ तुम्हें जाना चाहिए न। नहीं जाओगे तो लोग क्या कहेंगे ?"— पत्नी ने जैसे समझाते हुए कहा।

"उँह, लोगों के कहने का बड़ा डर मुझे लगा है। और फिर तुम तो उनके लिए हो ही।"—यह कह कर वह ज़ोर से हँस पड़ा। उस हँसी में न जाने क्या था कि छोटी बहू डर कर दो डग पीछे हट गयी। एक बार फिर ज़ोर से अट्टहास कर पशुपति तेज़ी से बाहर निकल गया।

६

अर्थी जब उठी तो लोगों ने देखा कि बाईं ओर आगे पशुपति कन्धा लगाए हुए है। आदमी अधिक नहीं थे, वह अर्थी ही कितनी भारी थी ! बाँस की हरी-हरी सीढ़ी पर, सफेद चादर में लिपटा हुआ, एक बालक का रोग से जर्जरित सूखा शरीर ही तो था !!

जिस समय शरीर जल रहा था, पशुपति, चिता से उठ कर आकाश में जाते हुए, उस कुण्डलीकार धुएँ को बड़े ध्यान से देख रहा था। शायद उसमें रघुनाथ को ढूँढ़ रहा था।

रोग से गल कर, आग में जल कर, धुएँ के साथ आकाश में विलीन होकर, रघुनाथ के छोटे शरीर का जो कुछ भी हिस्सा राख में रह गया था, वह भी गङ्गा में बहा दिया गया। संसार ने उसका कोई भी निशान रहने नहीं दिया। केवल नदी के किनारे की उस धरती ने, जहाँ चिता जलायी गयी थी, उसकी स्मृति-स्वरूप उसकी चिता की काली छाप अपने हृदय पर बिठाली, जिसे लोगों के डाले हुए घड़े का पानी भी धो सकने में समर्थ नहीं हो सका। परन्तु सदा अबाध गति से बहने वाले काल ने उस स्मृति-छाप से कैसी निष्ठुर क्रीड़ा की, उसे जानने की संसार ने कभी चेष्टा नहीं की।

पशुपति ने भी नहा-धोकर शुभ्र वस्त्र परिधान किया। चलने के लिए उठ खड़े होने पर एक वृद्ध सज्जन ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—दुख करने से क्या होता है, बेटा ! यह तो असार संसार है।

"सो तो है ही।"—संक्षेप में कह कर पशुपति ने मुँह घुमा लिया। फिर अचानक, क्या सोच कर, नदी के किनारे-किनारे धारा की दिशा में चल पड़ा।—रघुनाथ की राख भी तो उसी दिशा में गयी थी।

वृद्ध ने चिन्तित स्वर में कहा—उधर कहाँ, बेटा ? घर चलना चाहिए न।

पशुपति ने ज़रा घूम कर मुसकराते हुए कहा— "इसमें क्या सन्देह है, बाबा ! आप लोग चलें, मैं भी आ ही रहा हूँ। और मरना-जीना तो लगा ही हुआ है। उसे लेकर अधिक सोचने-विचारने की क्या ज़रूरत है।" यह कह कर वह उसी दिशा में चलता गया।

वृद्ध के साथ और लोग भी स्थिर होकर घर की ओर फिरे।

× × ×

दिन पर दिन बीतते गये। अब भी छोटी बहू और बड़ी बहू अपने-अपने मकान में अलग-अलग ही रहती हैं। पशुपति फिर लौट कर नहीं आया। वह रघुनाथ को खोजने गया है।

छोटी बहू पूजा-पाठ में अधिक रहती है, लेकिन बड़ी बहू ये सब कुछ भी नहीं करतीं। प्रायः दरवाजे के सामने बरामदे में बैठी हुई, द्वार की ओर देखती रहती हैं। दरवाज़ा भी दिन भर और रात को बहुत देर तक खुला रहता है—कौन जानता है, कब, किस समय, चाचा-भतीजा लौटें, दरवाज़ा बन्द देखेंगे तो क्या कहेंगे !



गीत

[श्री० सुबोध अग्रवाल]

मेरे प्रियतम प्रात मिले थे !
उनकी आशा में सुखमय हो कितने कुसुम-कुमार खिले थे !
मेरे प्रियतम प्रात मिले थे !

मलयानिल वहता, रसमय हो, कोयल की रसना में मिलकर,
किरणें अपना अञ्चल फैला जग में उतरीं जग झिलमिल कर,
प्रात, प्रकृति की नव-जगती में स्वागत को सब द्वार खुले थे !
मेरे प्रियतम प्रात मिले थे !

चञ्चल से चञ्चल लतिकाएँ नद की लोल लहर पर झुक कर—
देख रही थीं अपनी सज-धज (प्रियतम स्वागत को) रुक-रुक कर,
ओस जुटी थी स्वच्छ बनाने उनको जिनके गात खुले थे !
मेरे प्रियतम प्रात मिले थे !

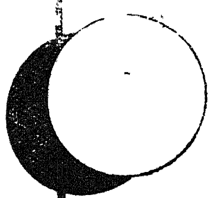
मृदुल-नील-आकाश-पटल पर एक स्वच्छ सा बादल आकर—
कोने में से देख रहा था जग की शोभा सुख अपना कर,
मेरे छोटे से जीवन में किन-किन के अरमान पले थे !
मेरे प्रियतम प्रात मिले थे !

बिखरे पीले पत्तों ने उड़ 'मर-मर' गाया सुध-बुध खोकर,
उधर बिखरती सी कलियों ने राग सुनाया हँस कर, रोकर,
क्या सुखमय क्या दुखमय जीवन, सब स्वागत को प्रात खिले थे !
मेरे प्रियतम प्रात मिले थे !

× × ×

सबने देखा उनको आते, सुखी हुए उनका स्वागत कर,
पर मैं प्रेम-मिलन में तन्मय प्रतिमा सी थी मस्तक नत कर,
एक झलक पाई मैंने पर उसमें प्रीति-प्रपात रले थे !
मेरे प्रियतम प्रात मिले थे !





पञ्जाब की कुछ सामाजिक विशेषताएँ

[श्री० संतराम, बी० ए०]

यों तो मानव-प्रकृति सर्वत्र एक सी है, फिर भी देश, काल और भौगोलिक परिस्थिति के कारण उसमें यत्र-तत्र थोड़ा-बहुत प्रभेद अवश्य देखने में आता है। पञ्जाब का जल-वायु भारत के दूसरे प्रान्तों से अपेक्षाकृत अधिक शीतल है, यहाँ मुसलमानों की संख्या बहुत है और अफ़ग़ानिस्तान एवं बिलोचिस्तान आदि मुस्लिम देशों का सान्निध्य भी इसे प्राप्त है। ऐतिहासिक रूप से यवन, तुर्क, शक, हूण, पठान आदि विदेशी आक्रमणकारियों से जितना पञ्जाब को जूझना पड़ा है, उतना शायद किसी दूसरे प्रान्त को नहीं। इन सब बातों का पञ्जाबियों की प्रकृति और रहन-सहन की रीति पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है।

पञ्जाब के देहातों में स्त्रियाँ सिलवार, सुथनी या घाघरा पहनती हैं। साड़ी-जम्पर का रिवाज केवल बड़े नगरों तक ही परिमित है। पञ्जाब में परदा-प्रथा भी अपेक्षाकृत बहुत कम है। नगरों में स्त्रियाँ खुले-मुँह रहने लगी हैं। परन्तु देहात में घूँघट किया जाता है। स्त्रियाँ अपने निकट सम्बन्धियों से ही परदा करती हैं, बाहर वालों से बहुत कम। मेरे एक उच्च-शिक्षा प्राप्त और उम्र में मुझसे बड़े मित्र का, जिनकी धर्मपत्नी मुझसे घूँघट करती हैं, मत है कि घूँघट अविश्वास का नहीं वरन् सम्मान का द्योतक है। संसार की विभिन्न जातियों में प्रेम एवं सम्मान प्रकट करने की भिन्न-भिन्न रीतियाँ पाई जाती हैं। किसी देश में लोग हाथ मिलाते हैं, किसी में हाथ जोड़ते हैं, किसी में गाल से गाल लगाते हैं। इसी प्रकार हमारे देश की स्त्रियाँ अपने निकट सम्बन्धियों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए मुँह को छिपा लेती हैं।

पञ्जाब में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम है। इसलिए, कुल्लू के पहाड़ी प्रान्त को छोड़कर, शेष समूचे पञ्जाब में बहुपत्नीत्व बिलकुल नहीं पाया जाता। हाँ, कुछ पढ़े-लिखे फ़ैशनेबल लोगों में पहली स्त्री को छोड़ कर दूसरी से विवाह करने का रोग पैदा हो रहा है। इस रोग के फैलने में जो बात सहायता दे रही है, वह सुशिक्षित लड़कियों के लिए सुयोग्य और कमाऊ वरों का न मिलना भी है। योग्य और कमाऊ वर मिलने में कठिनाई होने अथवा उनके भारी दहेज़ की माँग करने के कारण ही लड़कियों के माता-पिता परित्यक्त पत्नी वाले युवकों को लड़कियाँ देने पर विवश होते हैं।

इसके विपरीत, बेकारी के कारण और नागरिक हिन्दुओं के रहन-सहन और रीत-रिवाज का मान-दण्ड बहुत ऊँचा हो जाने के कारण, अनेक युवक आजन्म अविवाहित रहने पर बाध्य हैं। पश्चिमी पञ्जाब में तो हिन्दुओं के लिए विवाह की और भी अधिक कठिनाई है। अपने को कुलीन और उच्च जाति का कहने वाले ब्राह्मण खत्रियों का विवाह बिना "बट्टा" के नहीं होता। अर्थात् एक पुरुष अपनी निकट या दूर की कोई सम्बन्धिनी लड़की दूसरे पुरुष को देता है, तब उसके बदले में वह दूसरा पुरुष अपनी कोई सम्बन्धिनी लड़की पहले पुरुष को देता है। जहाँ कोई ऐसी लड़की न हो वहाँ लड़की के बदले में रुपया देकर काम चला लिया जाता है। परन्तु बहुधा "बट्टे" (बदले) में लड़की ही ली जाती है। विवाह न हो सकने के कारण अनेक लोग मुसलमान भी हो जाते हैं।

कुछ वर्ष हुए, दरिया खेल के एक हिन्दू से जब पूछा गया कि तुम मुसलमान क्यों हो गये, तो उसने हँसकर

उत्तर दिया कि यह प्रश्न मत पूछिये। आग्रह करने पर उसने अपनी आत्म-कथा यों सुनाई —

"हम दो भाई हैं। मैं एक गाँव में दूकान करता था। चालीस-पचास रुपये मासिक कमा लेता था। परन्तु बहुत यत्न करने पर भी मेरा विवाह न हो सका, क्योंकि न तो मेरे किसी निकट सम्बन्धी के यहाँ कोई ऐसी लड़की थी, जिसके "वट्टे" में मेरा विवाह हो जाता और न मेरे पास इतना प्रचुर धन ही था कि मैं रुपया देकर विवाह कर लेता। अस्तु, मैंने अपने विवाह का विचार छोड़कर अपने छोटे भाई के विवाह के लिये प्रयत्न करना आरम्भ किया। परन्तु उसमें भी मुझे सफलता न हुई। अब हम दोनों भाई बहुत दुःखी रहने लगे। इस बीच में गाँव के मुसलमान पड़ोसियों ने मुझे अनेक बार कहा कि तुम मुसलमान हो जाओ, हम तुम्हारा कल ही विवाह कर देते हैं। मैं कई वर्ष तक उनके प्रस्ताव का विरोध करता रहा। विवाह के लिए धर्म छोड़ना मुझे अच्छा न लगता था। मुसलमानों ने कहा, अरे, इस धर्म को लेकर क्या करोगे, जो तुम्हारा विवाह भी नहीं कर सकता। सारी आयु चूल्हा जलाते-जलाते ही बीत जायगी। अन्त को मैंने मुसलमान होने का निश्चय कर लिया। मुसलमान होते ही हम दोनों भाइयों का विवाह हो गया। एक वर्ष बाद मेरी स्त्री मर गई। झट मेरे ससुर के एक सम्बन्धी ने अपनी लड़की मुझे दे दी। अब हम दोनों भाई बाल-बच्चों और नए सम्बन्धियों सहित बड़े आनन्द से रहते हैं।"

पश्चिमी पञ्जाब में हिन्दू मामा और फूफा की लड़की से भी विवाह कर लेते हैं, परन्तु पूर्वी पञ्जाब में इसे पाप समझा जाता है। पूर्वी पञ्जाब में न केवल "पुण्यार्थ" विवाह होते हैं, वरन् लड़की वाले को भारी दहेज भी देना पड़ता है। सुशिक्षित और धनी परिवारों में तो, बङ्गाल की तरह, पञ्जाब में भी लड़के बिकने लगे हैं। इधर लड़कियों में शिक्षा का प्रचार खूब बढ़ रहा है, जिससे उनमें आत्म-सम्मान का भाव जागृत होना अवश्यम्भावी था। इसलिए अनेक लड़कियाँ ऐसे धनलोलुप पुरुषों से विवाह करके अपने को गिराने के बजाय अध्यापिका या डॉक्टरनी बन कर स्वाधीन जीवन बिताने को अच्छा समझने लगी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ एक ओर कथित उच्च समाज में वरों के अभाव का अनुभव हो रहा है वहाँ दूसरी ओर साधारण लोगों को विवाह के लिए लड़कियाँ नहीं मिलतीं। अनेक ऐसे पढ़े-लिखे धूर्त भी हैं जो एक जगह सगाई करते हैं और वहाँ से रुपया ऐंठने के बाद दूसरी, तीसरी और चौथी जगह सगाई करते हैं और हर जगह से रुपया प्राप्त करते हैं।

पञ्जाब में यद्यपि छूत-छात है, परन्तु उतनी कड़ी नहीं जितनी कि दूसरे प्रान्तों में। जात पाँत के बन्धन तो दिन पर दिन बहुत ढीले हो रहे हैं। प्रति वर्ष अच्छे-अच्छे परिवारों में जात-पाँत तोड़ कर अनेक विवाह होते हैं। बिरादरी या समाज की ओर से उनका कोई विरोध नहीं होता। वरन् ऐसे अन्तर्वर्णीय विवाहों का प्रचार करने के लिये लाहौर में जात-पाँत-तोड़क मण्डल नाम की एक विशेष संस्था भी है। आर्य विवाह एक्ट पास हो जाने से अब ऐसे विवाह कानून की दृष्टि में भी जायज़ हो गये हैं।

भारत के विभिन्न प्रान्तों के सम्बन्ध में एक लोकोक्ति है—

मूर्ख को मालव भलो, ढोंगी को गुजरात।
पण्डित को पूर्व भलो, ज्ञानी को पञ्जाब॥

पञ्जाब के सम्बन्ध में जो बात ऊपर कही गई है वह बहुत कुछ ठीक ही है। पञ्जाब में ज्ञान-ध्यान छाँटने वालों की अच्छी मान्यता होती है। आर्यसमाज के प्रचार से लोग तर्क-वितर्क ख़ूब करते हैं। लेक्चर सुनने और लेक्चरबाजी करने दोनों का लोगों को शौक़ है।

पञ्जाब में गहने और कपड़े से बड़ा प्रेम है। क्या स्त्री और क्या पुरुष, दोनों बहुमूल्य रङ्गीन और भड़कीले कपड़े पहनना बहुत पसन्द करते हैं। जितना सोना अकेला पञ्जाब गहनों के लिए खरीदता है, उतना शायद भारत के सारे प्रान्त भी मिल कर नहीं खरीदते। गुजरात और महाराष्ट्र में स्त्रियाँ अधिकतर मणि-मुक्ता पहनती हैं, परन्तु पञ्जाबी स्त्रियाँ सोने पर मुग्ध हैं। कॉलेज के विद्यार्थी इतने बढ़िया और फैशनेबल कपड़े पहनते हैं कि देखने पर डिप्टी कलेक्टर मालूम होते हैं।

पञ्जाब में खाने-पीने का भी ख़ूब शौक है। शायद काठियावाड़ के सिवा भारत का और कोई भी दूसरा प्रान्त पञ्जाब के बराबर गेहूँ और घृत का सेवन नहीं करता। अनेक प्रान्त तेल और नारियल के सिवा घी को मुँह तक नहीं लगाते।

पञ्जाब की जनता यू० पी० के समान, बड़े-बड़े ताल्लुक़ेदारों और दरिद्र हलवाहों, इन दो श्रेणियों में नहीं बँटी है। यहाँ प्रत्येक किसान की प्रायः अपनी निज की भूमि है। वह ज़मींदार कहलाता है। यू० पी० में जहाँ ज़मींदार का अर्थ बहुत सी भूमि का स्वामी, तअल्लुक़ेदार समझा जाता है, वहाँ पञ्जाब में इसका अर्थ साधारण किसान ही है। इसका परिणाम यह है कि पञ्जाब में लोग न तो बम्बई के समान धनकुबेर हैं और न यू० पी० की तरह लँगोटी-धारी कङ्गाल। यहाँ मध्यम श्रेणी ही अधिक है। इससे पञ्जाब के देहात में वह दीनता और दरिद्रता नहीं, जो यू० पी० के देहातों में देखने को मिलती है। हाँ, पञ्जाब के भी जिन गाँवों में एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह भूमि का स्वामी है और दूसरे लोग उसकी रैयत है, वहाँ जनता को भारी अपमान और हीनता का अनुभव करना पड़ता है।

पञ्जाबी लोग अच्छे परिश्रमी हैं, परन्तु स्त्रियाँ अपनी गुजराती और महाराष्ट्र बहिनों के समान फ़ुरतीली और उद्यमी नहीं। पञ्जाबी स्त्रियाँ स्वच्छता में भी उनका मुक़ाबला नहीं करतीं। उनमें विनोद और रसिकता की मात्रा भी कम है।

पञ्जाबी लोग मिलनसार हैं। वे बाह्य उपचार की परवाह न करके झटपट दूसरे प्रान्त वालों से मेल-जोल पैदा कर लेते हैं। वे बङ्गालियों और मद्रासियों के सदृश अलग-अलग नहीं रहते। उनकी जिह्वा की अपेक्षा उनका हाथ अधिक चलता है। विचार को कार्य में परिणत करते उन्हें अधिक समय नहीं लगता। इनमें कुछ अक्खड़ता भी रहती है। पञ्जाब के सिख श्रमजीवी अमेरिका और न्यूज़ीलैण्ड आदि विदेशों में बहुत बड़ी संख्या में गये हैं। ये लोग बड़े साहसी और उद्यमी हैं।

पञ्जाब की एक विचित्रता यह है कि पुरुष तो उर्दू व फ़ारसी पढ़ते हैं और स्त्रियाँ हिन्दी, संस्कृत। पत्नी को चिट्ठी लिखने के लिए ही पति हिन्दी का थोड़ा-बहुत अभ्यास करता है। म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सभी स्कूलों में आरम्भ से उर्दू ही पढ़ाई जाती है। हिन्दी की पढ़ाई का प्रबन्ध कहीं-कहीं बड़े नगरों में ही है। हाँ, कन्या-पाठशालाओं में सर्वत्र हिन्दी है। इसलिए कहें तो कह सकते हैं कि पञ्जाब में हिन्दी का अस्तित्व देवियों के ही प्रताप से है। और स्त्री-शिक्षा में पञ्जाब यू० पी० से बहुत आगे है।

पञ्जाब में किसी निकट सम्बन्धी के मर जाने पर स्त्रियाँ खड़ी होकर ताल-स्वर के साथ गाल, छाती और रानों को हाथों से पीटती हैं। इसे "सियापा" कहते हैं। "सियापा" करती हुई स्त्रियाँ ऐसी देख पड़ती हैं, मानों कोई सेना की टुकड़ी क़वायद कर रही है। यह प्रथा यू० पी०, बङ्गाल, महाराष्ट्र और मद्रासादि दूसरे प्रान्तों में नहीं पाई जाती।

मधु-गीत

[श्री० हरेन्द्रदेव नारायण]

आज मधु की रात,
मुग्ध, चिर रव-हीन पल्लव, भ्रमरमय जलजात।

स्वप्नमय दृग-युग अचञ्चल, प्राण मधु से आज गीले,
मधुकरी, तू आज क्षण भर, भूल जग, मधु-प्याल पीले,
नील नभ के कुञ्ज वन मे मुग्ध हो उडु-भ्रमर स्वप्निल
चाँदनी की बालिका हँसती विभामय, दृग सजीले।

स्वर्ग का आभास मिलता सृष्टि के चिर-मूक कण मे
विश्व-मानव, मूक, विस्मित, ले दिशा का गात!
मधुर पुलकित रात!

नव-जलज के अङ्क मे मृदु-चाँदनी की किरण सोती,
कल्पना-सी बात आती, रागिनी-सी लीन होती,
विहँग मौन चञ्चु-युग मे गान का सागर समेटे
देखता हूँ मै अकेला स्वप्नमय है सृष्टि होती।

आज मेरे प्राण भी मधु-स्वप्न-मय ही हो रहे है
सिहरता है मुग्ध, पुलकित, तरुण मेरा गात!
मधुर, मञ्जुल रात!

स्वप्न से निर्वाक् तरु-दल, मधु-मदालस, मुग्ध कण-कण,
बज रहा है कुन्द-वन मे मधुकरी का वलय-कङ्कण,
धवल-राका-हास से पुलकित जगत का शून्य-प्रान्तर
आज जैसे प्राण को हँस दे रहा कोई निमन्त्रण।

प्रणय-मद विह्वल हृदय हम तुम विहँस ले, प्राण, क्षण भर
फिर सकेगा लौट क्या यह मधुर-यौवन-प्रात!
शान्त, स्वप्निल रात!!

मितव्ययिता के दो रूप



प्राचीन



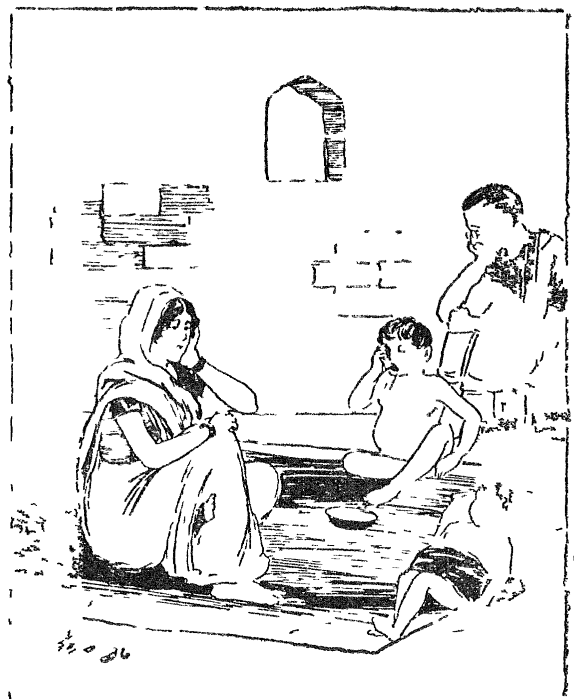


आधुनिक

घर और बाहर



बाहरी ठाठ



भीतर की अवस्था

तब और अब



प्राचीन स्वयंवर



आजकल का कन्या-दान

हमारा दाम्पत्य-जीवन



पत्नी-पूजा

पति-पूजा

अनमेल जोड़ी



नं० १



नं० २

अनमेल जोड़ी



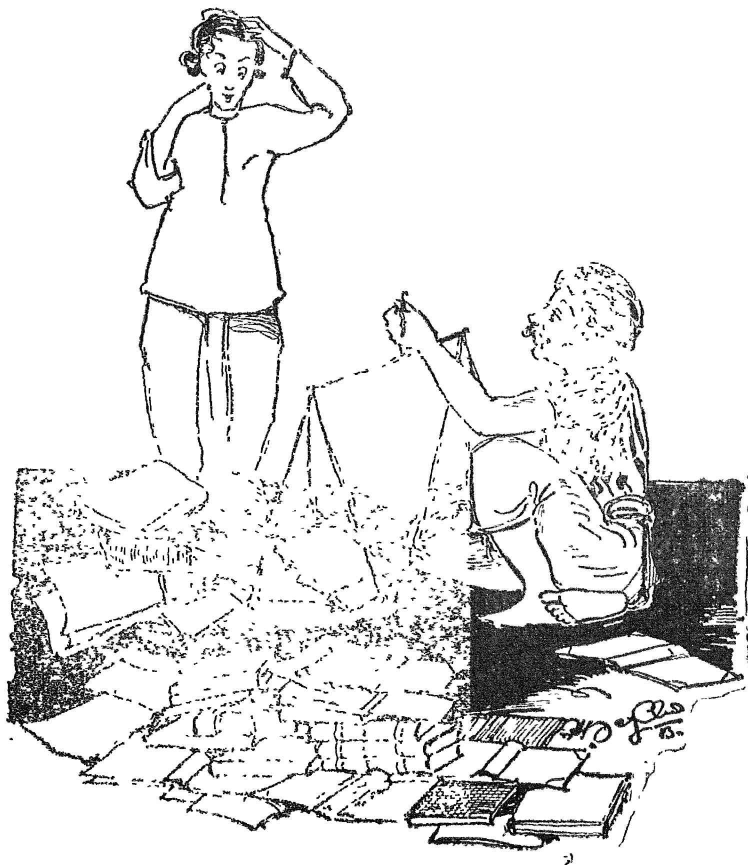
नं० ३

नं० ४

शिक्षा का आदि और अन्त



परिश्रम

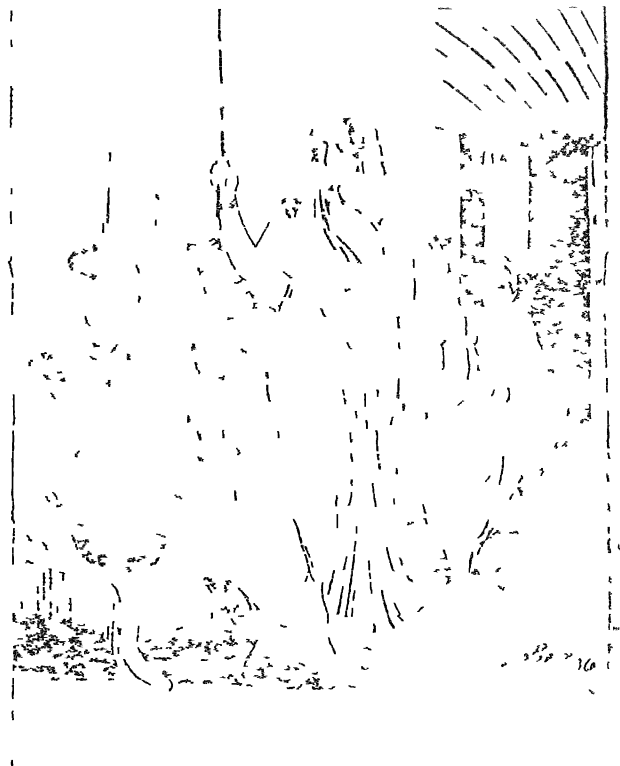


परिणाम

सभ्यता के दो रूप



विदेशों में



हमारे देश में

राजस्थान की नारियाँ

[श्री० मुकुटबिहारी वर्मा]

राजस्थानी महिलाओं की वीरता की गाथाएँ तो हमने बहुत पढ़ी हैं ; लेकिन इस ज़माने में उस वीरता को प्रत्यक्ष देखने का सौभाग्य शायद ही किसी को हुआ हो। आज तो वहाँ जो हालत नज़र आ रही है, उसे देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या कभी उनका वीराङ्गना होना भी सम्भव था ? राजपूत-जीवन को दुनिया में गौरवान्वित करने वाले उनके गुणगायक कर्नल टॉड तथा प्राचीन और आधुनिक अन्य इतिहास-वेत्ताओं की बातों पर हम अविश्वास नहीं करना चाहते, बल्कि उन्हें आगे के लिए प्रोत्साहन का एक बहुत बेशक़ीमत और कारगर ज़रिया मानते हैं ; मगर राजस्थान के वर्त्तमान नारी-जीवन की वास्तविकता से हम कैसे इन्कार करें !

यों तो आज सारे हिन्दुस्तान की स्त्रियाँ दुनिया में पिछड़ी हुई और कूपमण्डूक मानी जाती हैं ; लेकिन राजस्थान की स्त्रियों की स्थिति तो उनसे भी कहीं नीची है। स्त्रियों की रमणीयता और मनोरमता के हामी प्रान्तों और देशों में भी चाहे धीरे-धीरे उन्हें मुक्ति (Emancipation) मिलती जाती हो, लेकिन स्त्रियों की वीरता के केन्द्र राजस्थान में आज वे पूरे बन्धन में हैं। बम्बई-कलकत्ता की तरह किसी दम्पति (पति-पत्नी) को आज़ादी के साथ सैर-सपाटे करने की तो कल्पना ही मुश्किल है, किन्तु घरों का वातावरण भी ऐसा नहीं जो यह कहा जा सके कि उन्हें 'घर की रानी' होने और 'घर पर शासन करने' का सौभाग्य प्राप्त है। इसके विरुद्ध, ज़ाहिरा जो हालत है उससे तो यही प्रतीत होता है कि घर और समाज में स्त्रियों का दर्जा नगण्य है और 'ज़रख़रीद दासी' या 'सन्तानोत्पत्ति की मशीन' से अधिक वे और कुछ नहीं हैं। और यह बात साधारण श्रेणी की स्त्रियों पर ही लागू नहीं होती, बल्कि उच्च श्रेणियों का भी यही हाल है, जैसा कि एक बार अख़बारों में प्रकाशित किन्हीं महारानी साहिबा की करुण-कथा से सर्वविदित हो चुका है।

राजस्थानी महिलाओं की आज जो दशा है, संक्षेप में, उसे इस प्रकार क्रमबद्ध किया जा सकता है :—

(१) शिक्षा का उनमें प्रायः सर्वथा अभाव है और विशाल दुनिया के सम्पर्क से वे बिलकुल वञ्चित हैं; जिसके फलस्वरूप उनमें कूपमण्डूकता और मिथ्या विश्वासों का बोलबाला है।

(२) समाज में उनका अपना कोई ख़ास दर्जा नहीं है; जिससे सामाजिकता का उनमें अभाव है और शिक्षा एवं सामाजिकता के अभाव में कुसंस्कार एवं अव्यावहारिकता का प्राबल्य है।

(३) कूपमण्डूकता, मिथ्या विश्वास आदि के कारण उनमें आत्म-विश्वास का अभाव है; जिससे वे प्रायः असहाय और अबला बनी हुई हैं।

(४) शिक्षा और सामाजिकता के अभाव में वे दुनिया की मौजूदा प्रवृत्तियों और आधुनिक रुचि, अरुचियों से अनभिज्ञ-अपरिचित होने के कारण, आधुनिक दृष्टिकोण से, अनाकर्षक और असुन्दर हैं।

(५) रूढ़ियों की ग़ुलाम होने के कारण उनकी पोशाक और रहन-सहन में आधुनिकता बिलकुल नहीं है, बल्कि कुछ ऐसी विचित्रता है जो आधुनिक नेत्रों को लज्जाहीनता प्रतीत होती है।

(६) युक्त प्रान्त की तरह, शहरी रूप में, परदा नहीं है, लेकिन जो रूप है वह कुछ कम हास्यास्पद नहीं—जैसे साधारण स्त्रियाँ मुँह पर डेढ़ हाथ का घूँघट काढ़ेंगी, पर पेट खुला रहने की परवाह नहीं करेंगी, और बड़े घरों की स्त्रियाँ जब चलेंगी तो उनके ऊपर और आगे-पीछे कनात लगी हुई साथ-साथ जायगी।

इन्हीं सब बातों का परिणाम है कि सांसारिक जीवन में राजस्थानी महिलाओं की ख्याति नहीं सुनाई पड़ती न तो आज उनके पुत्रों को उनसे प्रेरणा मिलती है, न पतियों को, और न भाइयों को। उनका जीवन 'आँचल में दूध और नयनों में पानी' मात्र हो रहा है और घर में स्त्री जाति यानी कन्या का जन्म एक तरह का अभिशाप समझा जाता है—यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो लुके-छिपे अब तक भी कन्या वध की क्रूर प्रथा विद्यमान है, जिसका मुख्य कारण निश्चय ही विवाह में कन्या के साथ दिये जाने वाले दहेज की कुप्रथा और वर-पक्ष द्वारा कन्या-पक्ष को सब तरह नीचा दिखाने तथा दबाने की बेहूदा पद्धति है।

लेकिन राजस्थानी महिलाओं में सब बुराइयाँ ही बुराइयाँ हैं, ऐसा कहना वास्तविकता को गलत रूप में रखना और अपनी बहनों के साथ अन्याय करना होगा। यह ठीक है कि उनका ऊपरी रूप आज आकर्षक और उन्नत नहीं है, लेकिन अपनी महान परम्परा की विरासत का बीज अभी भी उनमें मौजूद है, यह उनके सम्पर्क में आया हुआ कोई भी व्यक्ति मानेगा। उनकी प्रत्यक्ष निर्लज्जता केवल उनकी रूढ़िग्रस्तता और शिक्षा-हीनता का ही परिणाम है, अन्यथा शील और सङ्कोच में वे दुनियाँ की किसी भी स्त्री से कम नहीं है और सतीत्व का पुराना रूप चाहे आज न हो, पर पतिनिष्ठा और पवित्रता का अभाव नहीं है। रङ्ग-रूप और वेष-भूषा के आधुनिक न होते हुए भी लावण्य उनमें है और शारीरिक गठन ऐसी है, जिसमें रोगों का मुकाबला करने और मेहनत-मशक्कत के काम करने की क्षमता है। चूल्हे और चक्की को उन्होंने अभी भी सर्वथा तिलाञ्जलि नहीं दी है, जिससे अपने पति और पुत्रों को वे सुपाच्य और सत्वयुक्त आहार खिलाती है। अलावा इसके, सामाजिकता में चाहे वे अपने पुरुषों के साथ न हों, किन्तु जीवन-निर्वाह के खेती आदि कामों में वे उनका काफी हाथ बँटाती है।

यही कारण है कि 'अबला' और 'असहाय' होते हुए भी वे 'निर्जीव' नहीं है और अपनी पराधीन-परवश स्थिति में भी वे दुनिया का आनन्दोपभोग करती हैं। चेहरे पर उनके प्रफुल्लता मिलेगी, उगती हुई उम्र के साथ जवानी का जोश लहरें मारता हुआ नजर आयेगा, और भारी मुसीबतों में भी संयम की शान्ति उनके मुँह पर दिखाई देगी।

जहाँ ऊपरी तड़क-भड़क का अभाव है, वहाँ हृदय की सुन्दरता और निर्मलता उनमें मौजूद है। स्वार्थ और छल-कपट की जगह समवेदना और सहानुभूति के दर्शन होंगे और अक्खड़ता की जगह पारस्परिक मान का इतना खयाल कि कुत्ते को भी ललकारते वक्त 'कुतराजी' कहते हुए सुनें तो उसमें आश्चर्य की कोई बात न होगी।

इस प्रकार राजस्थानी महिलाओं का बहिरङ्ग जितना खराब और अवाञ्छनीय है, अन्तरङ्ग उतना बुरा नहीं है। लेकिन प्रत्यक्ष जगत् में बहिरङ्ग पर ही ज्यादा ध्यान जाता है और उसी से किसी व्यक्ति या जनता की उन्नति या अवनति का अनुमान लगाया जाता है, इसलिए यह बहुत जरूरी है कि अपने अन्तरङ्ग की अच्छाई के साथ राजस्थानी महिलाएँ अपने बहिरङ्ग पर भी समुचित ध्यान दें। अगर हम विकासवाद को अमान्य न करें, तो जीवन-सङ्घर्ष में कायम रहने के लिए आधुनिक परिस्थितियों का अपने जीवन में सामञ्जस्य करना ही होगा। शिक्षा तो ऐसी चीज है, जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों ही के विकास में सहायक होती है और इसलिए आवश्यक है। शिक्षा प्राप्त करके उनमें यह तमीज (विवेक) आनी चाहिए कि दुनिया की निगाह में क्या तो लज्जा है और क्या निर्लज्जता, जब उनमें आत्म-विश्वास की भावना आयगी तो उससे जहाँ एक ओर कूपमण्डूकता और मिथ्या विश्वासों का नाश होगा, वहाँ वे 'अबला' से 'सबला' बनेंगी और आत्म-शक्ति का भान करके स्वाधीनता की साँस लेंगी, जिससे समाज में भी नगण्य

न रहकर वे अपने उपयुक्त और समुचित दर्जे की अधिकारिणी बनेंगी। इस प्रकार जब वे हानिकारक बन्धनों से छूटकर स्वाधीन हो जायँगी, तो अपने अन्तरङ्ग की सुन्दरता और निर्मलता के साथ बहिरङ्ग की उपयुक्तता का सामञ्जस्य करके ऐसा रूप धारण करेंगी, जिससे उनके प्रियतम और भाई प्रेरणा प्राप्त करेंगे, उनकी सन्तान उनके सद्भाव और सद्गुणों की विरासत पाकर राजस्थान का भविष्य उज्ज्वल करेगी, और पतियों, भाइयों तथा सन्तानों की उच्चता एवं ख्याति से स्वयं उनका मान और यश भी सुदूरव्यापी एवं चिरस्थायी होगा।

भूली कहानी

[श्री० मुरलीधर श्रीवास्तव, बी० ए०, एल- एल० बी०, साहित्यरत्न]

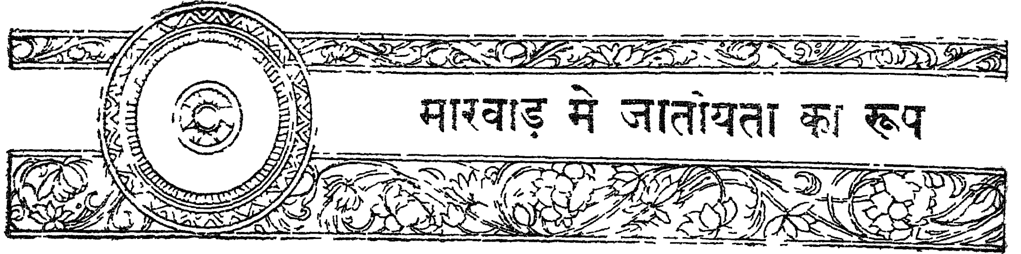
नित तरङ्गित हो रहा था
प्रेम-मय मेरा सरोवर,
भर रहे कण-कण सुरभि से
प्राण में अरविन्द खिल कर;
मृदु प्रणय-संलाप को
दुहरा रही भ्रमरावली थी,
गा रही थी कोकिला भी
कण्ठ में उन्माद भर कर;
सुन सकूँगा क्या वही उन्माद-
मधु से सिक्त वाणी ?
क्या न, अब दुहरा सकूँगा,
फिर वही भूली कहानी !

फूट पड़तीं पाटलों की
कोमला कलियाँ मनोहर,
सरस अधरों का उषा की
अरुणिमा सा राग लख कर,
छू उन्हें फिर फिर सलज
विधु-रश्मियाँ परिहासिनी सी,
जा रही थीं व्योम को
पुलकित प्रणय सन्देश लेकर;
है अभी तक किशलयों की
मृदु रगों में कुछ निशानी,
क्या सुना सचमुच सकूँगा,
वह सरस बीती कहानी ?

पल, घड़ी, दिन, वर्ष क्या है
बीतते मैंने न जाना,
स्वर्ग क्या ? अमरत्व क्या ?
निर्वाण क्या ? कुछ भी न माना !
इस धरा में स्वर्ग पाने
के लिए हठ एक ठाना,
और पहचाना नहीं तब
कौन है अपना-विराना !
छीन ली किस निर्दयी ने,
रसभरी मेरी जवानी,
आज सपना रह गई है,
हाय वह बीती कहानी !!

फूलते जैसे विटप हैं
नित कुसुम सुकुमार लेकर,
नित-नवल मृदुभाव से भर
था खिला यौवन निरन्तर;
था भरा मद, पर न छाया
भी पड़ी थी वेदना की,
उस हृदय के कुञ्ज पर
नन्दन विपिन शतशः निछावर;
जो कभी था सत्य अब वह
बन चुका है स्मृति-कहानी !
क्या सुना सकते हृदय,
फिर आज वह भूली कहानी ?





मारवाड़ मे जातीयता का रूप

[श्री० उपाध्याय]

यों तो मारवाड़ी समाज के गुण, अवगुणों पर बहुत कुछ कहा जाता रहा है, परन्तु इस समाज मे पाई जाने वाली जातीयता पर अब तक पर्याप्त प्रकाश नही डाला गया। इस रोग के कारण मारवाड़ की उन्नति मे जितनी बाधा पडती है, उतनी अन्य किसी दोष से नहीं। आज जब अन्य जातियां जीवन-सङ्घर्ष की प्रतिस्पर्द्धा में आगे निकल रही हैं, मारवाड़ी जाति वहीं खड़ी है। वह अन्य जातियों के समक्ष एक शताब्दि पीछे है। यदि अब भी इस त्रुटि की ओर ध्यान न दिया जायगा तो देश और जाति की अविरोध गति में अनिवार्य रुकावट पड़ती रहेगी इसमे सन्देह नहीं।

भारतवर्ष मे मुख्य पाँच धर्म—हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, बौद्ध और जैन हैं, पर अकेली हिन्दू जाति में ही लगभग ८७४५ के जातियां हैं। कोई आश्चर्य नहीं, यदि विदेशी सरकार ने हिन्दू जाति की हीनता बतलाने के लिये अनेकों जातियों की कल्पना करके इस सख्या में वृद्धि कर दी हो, पर हम स्वयं देखते है कि एक ब्राह्मणों में ही दो हजार के लगभग जाति-उपजातियाँ हैं। इसी प्रकार क्षत्रियों में ५६० के करीब उपजातियाँ हैं। अकेले साधु लोगों में धर्म, पन्थ,सम्प्रदाय के नाम से सैकड़ों विभाग हैं। इसी विभाग, शाखा उपशाखा का रूप मारवाड़ में भी पाया जाता है। हिन्दुस्तान के अन्य विभागों एव प्रान्तों में जातीयता का रूप इतना भयङ्कर नही है, वरन् उनमें प्रान्तीयता अधिक पाई जाती है। यह प्रान्तीयता भी राष्ट्रीयता का रङ्ग लगने पर कुछ नष्ट होता जाती है। मारवाड़ में राष्ट्रीयता का नाम ही नहीं है। एक तो वैसे ही मारवाड़ सब से अलग पड़ा हुआ है, फिर इस छोटे से सङ्कीर्ण क्षेत्र मे जातीयता का द्वेष बहुत अखरता है। इसको देख कर सहसा हमें 'आठ कन्नोजिया तेरह चूल्हा' वाली कहावत स्मरण हो आती है।

मारवाड़ स्टेट की सन् १९३१ की जन-गणना के हिसाब से इस समय लगभग दो सौ जातियों का पता लगता है। परन्तु जो जातीयता का भाव पाया जाता है उसका समावेश कतिपय चार-पाँच जातियों तक ही परिमित है। इनमें ओसवाल, पुष्करणे, राजपूत, पञ्चोली और मुसलमान मुख्य है। यह जातीयता का भाव जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त स्थिर रहता है। सरकार की ओर से भी इसको प्रोत्साहन मिलता है। यहाँ के राज्याधिकारी भी कुछ अंशों में इस रोग के लिये उत्तरदायी है।

जन्म से ही बालक के मस्तिष्क पर उसके घरेलू वातावरण में जातीयता विद्वेष का अनिवार्य प्रभाव पडता है। उस समय वह इतनी बुद्धि और ज्ञान नहीं रखता है कि इसके अर्थ को समझ सके, पर उस दूषित वायु का प्रभाव उसके विचारो को कुत्सित बना देता है। घर पर माता-पिता, चाचा, ताऊ एव अन्य अभिभावकों के वार्तालाप से उसे इतना ज्ञान अवश्य हो जाता है कि हमारी जाति पर अन्य जातियों की वक्र दृष्टि है, वे उसे समूल नष्ट करने के भगीरथ प्रयत्न में कटिबद्ध है। वह अनभिज्ञता में मन ही मन सङ्कल्प करता है कि मैं अपनी जाति के प्रहारियों का सहार करूँगा। कुछ वयस्क होते ही उसे अपनी जाति के स्कूल मे भरती कराया जाता है। इस समय राजपूत, उनके दरोगा यानी रावणा राजपूत, ओसवाल, महेश्वरी, अगरवाल, पुष्करणे,

मुसलमानों, पञ्चोली और मालियों की पृथक्-पृथक् पाठशालाएँ प्रस्तुत हैं; जिनमें अधिक सङ्कुच और प्रतिस्पर्द्धा के भाव रखने वाली जाति के तो हाईस्कूल तक स्थापित हैं, जैसे पंचोलियों का 'सर प्रताप हाईस्कूल', ओसवालों का 'सरदार हाई स्कूल', पुष्करणों का 'पुष्टाकर हाईस्कूल' और राजपूतों का 'नोबल हाईस्कूल'। इन स्कूलों में मुख्यतः अपनी जाति के विद्यार्थी ही प्रविष्ट किये जाते हैं। इसका यह कारण नहीं है कि उनका समस्त व्यय जाति के कोष से चलता हो। नहीं, राजकोष से सभी स्कूलों को एक भारी रक़म दी जाती है। जिन जातियों के नाम शेष रह गये हैं, उनके मिडिल स्कूल हैं। इसका एक अर्थ यह भी है कि नगण्य जातियों का ज़ोर कम है, उनका न कोई स्कूल है न राजसत्ता में ही अधिक हाथ है। इस प्रकार के जातीय स्कूलों में शिक्षा पाकर, अपने जातीय बोर्डिङ्गों में रह कर, अपनी जाति के लिये खेल, कला-कौशल में इनाम पाने की प्रतिद्वन्दिता में पल कर मारवाड़ के युवकों में बचपन का अमिट प्रभाव और भी गहरा हो जाता है। वह विद्यार्थी जीवन में अपनी बचपन की प्रतिज्ञा को बारम्बार स्मरण करता है।

जहाँ भारतवर्ष में विद्यार्थियों की कोई जाति ही नहीं होती; वे अपनी जाति को विद्यार्थी जाति के नाम से ही पुकारते है, वहाँ मारवाड़ के युवकों में विद्यार्थी जाति में भी जातीयता का विभाग पाया जाता है। कई बार तो यहाँ तक देखा गया है कि खेल-कूद और विनोद के अवसर पर वैमनस्य के कारण आपस में मारपीट, लड़ाई-झगड़ा, गाली-गलौज हो जाता है। पुष्टीकर हाईस्कूल और सरदार हाई स्कूल का मैच है तो वह दो स्कूलों का मैच न होकर दो जातियों का मैच हो जाता है। परीक्षा के नतीजे निकलने के अवसर पर यहाँ के मनुष्य यह प्रश्न नहीं करते हैं कि अमुक स्कूल से कितने विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए अथवा असफल हुए? वरन् वे यही पूछते हैं कि कितने ओसवाल अथवा पञ्चोली पास हुए? हमारी जाति का नतीजा कैसा रहा; यही जिज्ञासा रहती है।

स्टेट की नौकरियाँ

स्कूलों द्वारा पुष्ट किये गये प्रभाव को नौकरियाँ दिलाने में और भी प्रज्ज्वलित किया जाता है। जिस महकमे में जिस जाति का बड़ा अफ़सर पहुँच जाता है उस विभाग में अन्य जाति वालों का मार्ग बन्द हो जाता है और अपने स्वजातीय भाइयों के लिये अविरोध गति से चयन (Selection) किया जाता है। इसके प्रमाण-स्वरूप हम देखते हैं कि स्टेट के कई विभागों में एक ही जाति का साम्राज्य या शासन है। एक विभाग के दफ़्तर में पुष्टीकर ब्राह्मणों का ज़ोर है तो दूसरे में ओसवालों का आतङ्क है और तीसरे में पञ्चोलियों का प्रभुत्व है। इन विभागों में अपनी-अपनी जाति के युवकों को ही लिया जाता है। ऐसे समय में जब अफ़सरों का परिवर्तन होता है तो बड़ी भयङ्कर समस्या हो जाती है। नया अफ़सर पुराने क्लर्कों को हटाने की चेष्टा करके स्वजातीय सज्जनों को भरने का भरसक प्रयत्न करता है। इस प्रकार के कार्य में सरकार की ओर से कोई रुकावट नहीं डाली जाती है। मुश्किल उन जातियों की है, जिनकी संख्या अल्प है। उन ग़रीबों के होनहार से होनहार बालक और युवक पढ़ने से वञ्चित रह जाते हैं और जीवन-निर्वाह की समस्या बड़ी कठिनता से हल कर पाते हैं।

सन् १९३१ से नौकरियों में भी जातीयता के नाम से चुनाव होने लगा। इसके पहले सभी जातियों को समान रूप से लिया जाता था, पर अब जिस जाति के जितने ही अधिक व्यक्ति होते हैं, उसी अनुपात से हाकिम, डॉक्टर इत्यादि लिए जाते हैं। यहाँ की सरकार ने जातिवार स्कूलों को ही सहायता नहीं दी है, वरन् म्यूनिस्पैलटी के चुनाव में भी जातीय बटवारे के हिसाब से मेम्बरों की संख्या नियुक्त की है।

अभिवादन और वेश

जातीयता का द्वेष इतना गहरा है कि प्रत्येक जाति का अभिवादन चिन्ह पृथक्-पृथक् है। मारवाड़ की समस्त जातियों के अभिवादन की नामावली (लिस्ट) दी जाय तो वह बहुत बड़ी और श्रमकारी (Monotonous) हो जायगी। अतः हम मुख्य-मुख्य चार-पाँच जातियों के

अभिवादन शब्द अथवा वाक्यो का दिग्दर्शन कराके अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे। एक राजपूत अन्य राजपूत से मिलेगा तो 'जय माता जी की' कहेगा, एक चारण भाट 'जय करनी जी का' कहेगा। इसी प्रकार दो पचोली मिलेंगे तो 'जय श्री जी का' कहेंगे, दो ओसवाल मिलेंगे तो 'मुजरो सा' कहेंगे, दो पुष्करणे मिलेंगे तो 'पगे लागू' कहेंगे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ये आपस में ही इन अभिवादन के वाक्यों का प्रयोग करते है, वरन जिस किसी से भी मिलेंगे अपने जातीय अभिवादन से सम्बोधन करेंगे। दफ्तरों में प्राय देखा जाता है कि कोई नवीन अपरिचित के आते ही क्लर्क उसके अभिवादन वाक्य से जान जाते है कि वह किस जाति का है। आप एक पचोली से नमस्ते कहिये, वह आपसे 'जय श्री जी' की कहेगा। भारतवर्ष के अनेकानेक धर्मो मे अपने-अपने अभिवादन के चिन्ह है जैसे आर्य-समाज वालों का 'नमस्ते', राधास्वामी वालों का 'राधास्वामी', सिक्खो का 'सत श्री अकाल' पर वह हिन्दू धर्म की उपजातियों अथवा किसी भी उपजातियों में इस प्रकार का पृथक्करण करने का यन्त्र नही है। धर्मो की ध्वजा की भाँति यहाँ की जातियों की वेष-भूषा भी कुछ अशों में पृथक् है। यद्यपि अङ्ग्रेजी के अध्ययन और पाश्चात्य प्रभाव से आवरण के कड़े नियम ढीले पड़ गये हैं। पढे-लिखे व्यक्ति एक ही प्रकार की ड्रेस रखने लगे है, फिर भी अभ्यस्त आँखों को, कौन मनुष्य किस जाति का है, यह पहिचानने में देर नहीं लगती है। यह अन्तर चाल-ढाल, वस्त्रों के चयन, उनके पहनने के ढङ्ग से तुरन्त ज्ञात हो जाता है।

क्या स्त्रियाँ इस रोग से वञ्चित हैं?

अब तक हमने पुरुषो के विषय मे ही कुछ कहा है। स्त्रियों के विषय में कहने के लिये बड़े साहस की आवश्यकता है। मारवाड़ में सभी उन्नत जातियों मे भयङ्कर पर्दा है। केवल पुष्करणों और कतिपय दूसरे ब्राह्मणों में पर्दा नहीं है। पर राजपूतों, चारणों, पचोलियों और ओसवालो मे कड़ा पर्दा है। स्त्रियों में अभिवादन की कैसी प्रथा है, इसमें हम अनभिज्ञ हैं, पर अन्य बाते अनुभव मे अवश्य ज्ञात हो गई हैं। जातीयवार स्कूलों का रोग पुरुषों तक ही परिमित या सीमित नहीं है। पुष्करणे, ओसवाल, मुसलमान और मालियो की कन्याओं के लिये पृथक् पृथक् पाठशालाएँ है। उनमें उनकी जाति के सिवाय अन्य जाति की कन्याएँ नहीं ली जाती हैं। वस्त्रावरण भी सबका पृथक् सा ही है। कन्याओं के जातीय स्कूलों को सरकार से सहायता मिलती ही है, पर स्वय यहाँ के राज्याधिकारियो ने भी हिन्दू गर्ल्स स्कूल और मुसलिम गर्ल्स स्कूल एक ही भवन में खोल रखे है। कोई यह प्रश्न करने वाला नहीं है कि क्या एक हिन्दू बालिका और यवन कन्या के लिये भूगोल, इतिहास, स्वास्थ्य-नियम, विज्ञान, गणित, रेखागणित, बीजगणित, शिल्प कला, सीना-पिरोना, कसीदा, क्रिोसिये का काम और पाक-शास्त्र अर्थात् भोजन-विज्ञान एक से नही है। यदि कोई अन्तर है तो मातृ-भाषा मे है। हिन्दू लड़की हिन्दी पढेगी और मुसलिम कन्या उर्दू। पर जब एक स्कूल में दो जातियो के पृथक्-पृथक् स्कूल होंगे तो प्रेम-भाव बढेगा अथवा द्वेष-भाव, यह किसी से छिपा नही है। फिर भी सन्तोष का विषय है कि महिलाओं मे पुरुषों जितना द्वेष नहीं है। न इनके बैरभाव से कुछ अधिक हानि ही है। पर अबोध बालको पर जो प्रभाव माता की गोद में पड़ता है, वह आजन्म अमिट रहता है। यदि स्त्रियाँ इस दोष से वञ्चित रहे तो पुरुषों में भी कुछ प्रेम उत्पन्न हो सकता है।

श्मशान में जातीयता

मृत्यु मनुष्य को सब कुछ भुला देती है। मरने पर मनुष्य इस असार ससार से प्रस्थान कर जाता है, उसके सङ्गी-साथी, सहयोगी-असहयोगी, मित्र-शत्रु सब सहानुभूति दर्शाते है। ऐसे अवसर पर जातीय भेद-भाव, धर्म सम्बन्धी भिन्नता कुछ काल के लिये काफूर हो जाती है। भारतवर्ष मे दो प्रकार की अन्त्येष्टिक्रिया होती है, एक दाह-कर्म और दूसरा दफनाना। इस मोटे भेद की भिन्नता दो सम्प्रदायों में है, पर जिन धर्मो में दाह कर्म होता है उनकी श्मशान भूमि एक ही स्थान पर होती है। किसी भी प्रान्त मे यह नही कहा जाता है कि श्मशान भूमि का अमुक भाग ओसवालों का है, अमुक

श्री मालियों का, अमुक सम्मानित राजपुत्रों का और अमुक वेश्याओं का। एक ही स्थान पर सबकी चिताएँ जलाई जाती हैं ; परन्तु मारवाड़ में श्मशान भूमि में भी जातीयता का जमघट है। दाह-भूमि के भी जाति-वार पट्टे (परवाने) बनवा रखे हैं। भिन्न-भिन्न जातियों ने श्मशान भूमि में धूप और मेंह इत्यादि से रक्षा पाने के लिये पृथक् पृथक् मकान भिन्न-भिन्न पट्टा शुदा ज़मीन पर बनवा रखे हैं। इस पद्धति से समाज की अनेक प्रकार से हानि है; श्मशान भूमि का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। जैसा कि हम कह चुके हैं कि इस समय लगभग २०० से अधिक जातियों का अस्तित्व सरकारी जनसंख्या की रिपोर्ट से पाया जाता है, इनमें से यदि ५० के लगभग मुसलमानों की जातियाँ निकाल भी दी जाँय तो १५० से अधिक हिन्दुओं की मुख्य-मुख्य जातियाँ बच रहती हैं। अब यदि प्रत्येक जाति के लिये ३०'×२०' भूमि का टुकड़ा दाह-कर्म के लिए काफ़ी मान लिया जाय तो लगभग एक वर्ग मील भूमि भी इस कार्य के लिये पर्याप्त न होगी। बम्बई-कलकत्ता में रहने वाले मारवाड़ी किस प्रणाली से दाह-कर्म करते हैं, यह हम अधिकारपूर्वक नहीं कह सकते, पर सुना जाता है कि यह रोग मारवाड़ की सीमा तक ही सीमित है।

उपचार और उपसंहार

यहाँ तक तो हमने जातीयता के रोग का दिग्दर्शन कराया, पर इसका निदान बतलाना भी अति आवश्यक है। यह कोई ऐसा असाध्य रोग नहीं है जिसका उपचार ही न हो सके। सर्व-प्रथम इन जातीय पाठशालाओं के नियमों में परिवर्तन करना होगा। हम नहीं चाहते कि ये विध्वंस कर दी जाँय और मारवाड़ के युवक विद्या से वञ्चित रह जाँय। विद्या का पढ़ना अति आवश्यक है, पर उस विद्या से, जो द्वेषभाव जाग्रत करती हो, अशिक्षित रहना उत्तम है। यदि इन स्कूलों में जातीय बालकों को लेने वाली रोक हटा कर उसके निकटवर्ती बालकों को लेने का अनिवार्य नियम बना दिया जाय तो एक प्रकार से बहुत कम बालक अशिक्षित रह जाँयगे। दूसरे जिन बालकों को अपनी जातीय पाठशालाओं में पढ़ने के लिये मीलों दूर जाना पड़ता है, उनको अपने निकट के स्कूल में जाने से समय और धन की बचत होगी। हर्ष का विषय है कि ये जातीय स्कूल शहर के एक स्थान में न होकर पृथक्-पृथक् कोने में हैं। यदि वर्ग अर्थात् वार्ड-वार बटवारा हो जाय तो शिक्षा की उन्नति अधिक हो सकती है। युवकों में इस भाव का विलोप हो सकता है कि मैं ओसवाल हूँ, वह पंचोली है, तुम राजपूत हो इत्यादि-इत्यादि। खेल-कूद में आपसी प्रतिस्पर्धा किसी जाति विशेष की न होकर केवल एक संस्था के प्रति ही रहा करेगी, जिसका अस्तित्व उस काल तक ही होगा जब तक हमारा उस संस्था से सम्बन्ध है। इस समय जाति का सम्बन्ध समस्त जीवन तक बना रहता है, अतः अध्ययनकाल की घटनायें आजीवन चुभा करती हैं। अध्यापकों को भी एक सुविधा हो जायगी। इस समय उन्हे जाति के सम्पन्न बालकों को कमजोर और अयोग्य होते हुये भी उत्तीर्ण करना पड़ता है, अनुत्तीर्ण करने पर उन पर सङ्कट आ पड़ता है, नौकरी से पृथक् होना पड़ता है, नोटिस मिल जाता है। तब यह सब न हुआ करेगा। यह सब कार्य सरकार के सहयोग के बिना होना कठिन है। शिक्षा पर उसका नियंत्रण है ही, संस्थाओं पर अपना संरक्षण और रख ले। इसी प्रकार नौकरियों आदि में पक्षा-पक्षी को हटाकर योग्यता और कर्त्तव्यपरायणता देख कर पद दिये जाँय। जो योग्य और शिक्षित हों उनको ही सरकारी पद दिये जाँय, फिर चाहे उनकी जाति कितनी ही अल्प-संख्यक अथवा बहु-संख्यक क्यों न हो। रही म्यूनिसिपैल्टी की मेम्बरी, इसके तो (वार्ड) हल्के-वार होने में ही राजा और प्रजा, नगर एवं नागरिकों का हित है। जितना भी शीघ्र हो सके, इस जातीय चुनाव को निर्मूल किया जाय। अपनी जाति पर विशेष कृपा रखने वाले पर थोड़ा सा भी अङ्कुश रहेगा तो यह पक्षपात एकदम बन्द हो सकता है। आशा है कि मारवाड़ी सज्जन और मारवाड़ की सरकार हमारे कथन पर ध्यान देगी और इस जातीयता का अन्त कर मारवाड़ी समाज को समुन्नत बनाने में सहायक होगी।



नारी

विश्व-सृजन के प्रथम कामना से होकर सतप्त अधीर
बाहु-पाश मे भर वसुधा को नभ ने गुप्त मंत्र गंभीर—
फूँका ज्योंही शून्य मूर्त्तता मे अमूर्त्तता भर साकार,
शाश्वत् मे चेतन को बाँधे देवि ! हुआ तेरा अवतार !

प्रथम श्वास लेते ही तेरे लहरी जग मे सुरभि-तरङ्ग,
देख प्रथम-मुसकान विश्व के अंग-अंग मे आये रङ्ग ।
ऊषा ने मधुमय लाली ली और साँझ ने स्वर्ण अपार,
चदा ने चादी की आभा ऋतुओं ने चित्रित शृंगार ।

किन्तु प्रथम वङ्किम चितवन जब डाली तुमने जग की ओर,
काँप उठा-ब्रह्माण्ड शून्य मे उठने लगी अनङ्ग हिलोर ।
अपनी ही अन्तर-ज्वाला से हुआ विलोड़ित सागर-नीर,
चमक उठी विद्युत मेघों मे, बीध गये अग-जग मे तीर ।

पर जब तेरी रूप-ज्वाल को विश्व न क्षण भर सका सँभाल,
अपने को झट दो अङ्गों मे बाँट लिया तुमने तत्काल ।
होने लगा पृथक् उस क्षण से ओज माधुरी का सम राज,
नर ने लिया रुधिर का प्याला, तुमने मधु-मदिरा का साज !

सुधा अधर, मे, विष आँखों मे, आँचल मे पयस्विनी धार,
देखा इस छोटे से तन मे जग ने सृजन और सहार
अन्तर्ज्योति विरत योगी ने, भक्तो ने राधा अभिराम,
चतुर नायिका कवि के मन ने साधक ने सायुज्य ललाम !

वनी अप्सरा स्वर्ग-लोक मे, स्वप्न लोक मे परी अजान,
वन्य लोक मे लता लचीली, वरुणो मे सरिता गतिवान् ,
मर्त्य लोक मे बन व्रजवनिता, की ज्योंही। माया विस्तार,
निर्विकार भी रूप-लुब्ध हो बना स्वयं मानव सविकार !

कितनी अग्नि-परीक्षाएँ दीं और लिये कितने वनवास,
पर यम से भी छीन लिया था तुमने पुरुष काल का ग्रास ।
करुणा तेरे अश्रु-विन्दु से सरल हृदय से भक्ति-उदार,
संयम तेरे आत्म-दमन से हुआ सहन से क्षमा प्रसार !

× × ×

जिस झाँकी को सिन्धु मथन कर देख विमोहे सुर दानव,
जिस झाँकी को देख एक दिन भूले थे शङ्कर ताण्डव,
जिस झाँकी पर वार दिये ऋषियो ने चिर-सञ्चित सुख-साज,
उस झाँकी को दिखा एक पल मुझको मत्त बना दे आज !

[श्री० नगेन्द्र, एम० ए०]

युक्तप्रान्त का महिला-समाज

[श्री० शङ्करदयालु श्रीवास्तव]

युक्तप्रान्त के महिला-समाज का पृथक् वर्णन करने का यह अभिप्राय नहीं है कि भारत के अन्य प्रान्तों से यहाँ की स्त्रियों की अवस्था में बहुत अधिक अन्तर है अथवा यहाँ की समस्याएँ अन्य प्रान्तों की स्त्री-सम्बन्धिनी समस्याओं से सर्वथा भिन्न हैं। अशिक्षा, परदा, विधवाओं की दुरवस्था, वैवाहिक पराधीनता, बालविवाह, शारीरिक उन्नति के प्रति उदासीनता, आभूषणों से प्रेम, अन्धविश्वास आदि बुराइयाँ हमारे देश में सभी प्रान्तों में पाई जाती हैं, कहीं कम मात्रा में और कहीं अधिक मात्रा में। इस दृष्टि से विचार करने पर सभी प्रान्तों के सम्मुख प्रायः एक ही से प्रश्न उपस्थित हैं, किन्तु तो भी विभिन्न विषयों में भिन्न-भिन्न प्रान्तों की स्थिति में कुछ न कुछ विभिन्नता अवश्य है। उदाहरणार्थ, बिहार तथा संयुक्त प्रान्त में परदे का रिवाज बहुत ज़्यादा है, गुजरात, मद्रास तथा बङ्गाल में कम है। स्त्री-शिक्षा का प्रचार बिहार और युक्तप्रान्त की अपेक्षा बङ्गाल और मद्रास में अधिक है। हमारे प्रान्त की स्त्रियों का पहनावा तथा रहन-सहन भी देश के कुछ अन्य प्रान्तों से बहुत कुछ भिन्न है। इन्हीं सब विभिन्नताओं को दृष्टि में रख कर हम युक्तप्रान्त के महिला-समाज की अवस्था का वर्णन यहाँ पृथक् करेंगे।

शिक्षा

स्त्री-शिक्षा-प्रचार की दृष्टि से हमारा प्रान्त अन्य कई प्रान्तों से पिछड़ा हुआ है। लड़कियों के लिये १९३४-३५ में ६ कॉलेज, १५ सरकार द्वारा स्वीकृत हाईस्कूल, ५७ अङ्गरेज़ी मिडिल स्कूल, २२७ वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल तथा १७२७ प्राइमरी स्कूल थे। ७६८१२ लड़कियाँ लड़कों के स्कूलों तथा कॉलेजों में शिक्षा पाती थीं। छोटे-बड़े सभी स्कूलों और कॉलेजों के अन्दर पढ़ने वाली लड़कियों की संख्या उस वर्ष २,०१,१३३ थी। हमारे प्रान्त में स्त्रियों की कुल संख्या क़रीब २ करोड़ तीस लाख है। जन-संख्या के हिसाब से प्रतिशत '८६ लड़कियाँ शिक्षा पाती हैं। इसका अर्थ यह है कि १०० पीछे १ को भी शिक्षा नहीं मिलती। पुरुष-छात्रों को उसी वर्ष १०० पीछे ५·५ को शिक्षा मिलती थी। इन आँकड़ों के साथ ज़रा पश्चिम के उन्नतिशील राष्ट्रों के शिक्षा-प्रचार पर ध्यान दीजिए, जहाँ १०० पीछे ८०-६० व्यक्ति शिक्षित हैं। शिक्षा की दृष्टि से हमारे और पश्चिम के समाज की अवस्था में आकाश-पाताल का अन्तर है। जो समाज शिक्षा में इतना पिछड़ा हुआ है, वह अपनी उन्नति कैसे कर सकता है।

इस बात को सभी विचारशील व्यक्ति स्वीकार करते हैं कि देश और समाज की उन्नति का सर्व प्रधान साधन शिक्षा ही है। शिक्षा ही अज्ञानान्धकार का विनाश कर लोगों को प्रकाश-पथ पर अग्रसर करती है। वह उद्योग-धन्धों की उन्नति में सहायक होती तथा अनेक प्रकार के उपयोगी आविष्कार करने की प्रतिभा प्रदान करती है। शिक्षा की बदौलत समाज का अन्धविश्वास दूर होता और पुरानी रूढ़ियाँ नष्ट होती हैं। यूरोपीय राष्ट्रों ने वास्तव में शिक्षा ही के सहारे सारे संसार में अपनी प्रभुता स्थापित की और अपनी अतुल उन्नति की है। यूरोपीय देशों की महिलाएँ शिक्षा की बदौलत भारतीय स्त्रियों की अपेक्षा कितना आगे बढ़ी हुई हैं। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम करती हैं। शायद ही कोई काम ऐसा हो जिसे पुरुष करते हों और स्त्रियाँ न करती हों। अगर हमें अपने समाज की

उन्नति करना है तो स्त्री-शिक्षा-प्रचार का कार्य बड़े ज़ोरों के साथ करना होगा। शिक्षा-प्रचार के बिना उन्नति की आशा करना कोरा स्वप्न ही है।

इसमें सन्देह नहीं कि बीसवी शताब्दी मे हमारे देश और प्रान्त मे पर्याप्त जाग्रति उत्पन्न हो गई है और कम से कम शिक्षित लोग अपनी बहू-बेटियों को थोड़ी-बहुत शिक्षा देने लगे है। हमारे प्रान्त में ५ विश्वविद्यालय है और सभी विश्वविद्यालयों की सर्वोच्च कक्षाओं में कुछ न कुछ महिलाएँ प्रति वर्ष शिक्षा पाती और उपाधि परीक्षाएँ पास करती हैं। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ, मेरठ, आगरा आदि बड़े-बड़े नगरों में बहुसंख्यक लड़कियाँ हाई स्कूलों तथा कॉलेजों में शिक्षा ग्रहण करती है। छोटे-छोटे शहरों में भी बालिका पाठशालाएँ स्थापित हैं और बहुत सी लड़कियाँ उनमे पढ़ने के लिए जाती हैं। २५ वर्ष पहले की अवस्था के साथ अगर वर्तमान अवस्था की तुलना की जाय तो निस्सन्देह हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि स्त्री-शिक्षा के प्रचार में पर्याप्त उन्नति हुई है, किन्तु जब हम ऐसी लड़कियों और स्त्रियों की संख्या पर दृष्टि डालते है, जिन्हें नाम-मात्र को शिक्षा नहीं प्राप्त हुई है, तो हमें उस पर्याप्त उन्नति को नगण्य उन्नति कहने के लिए विवश होना पड़ता है। नगरों में तो आपको बहुत सी लड़कियाँ स्कूल आते-जाते दिखाई पड़ती हैं, किन्तु ज़रा देहातो में जाकर देखिए तो मालूम होगा कि वहाँ अशिक्षा का कितना विस्तृत साम्राज्य स्थापित है। इस बात पर हमें सदैव ध्यान रखना होगा कि हमारा देश गाँवों का देश है। नगरों की संख्या बहुत कम है और अधिकांश जन-संख्या गाँवों में ही निवास करती है। १९३६ ई० में शिक्षा पाने वाली कुल लड़कियों की संख्या २ लाख १५ हज़ार थी। इनमें से केवल ३८ हज़ार लड़कियाँ देहातों में शिक्षा पाती थीं। एक तरफ़ नगरों और गाँवों की लड़कियों की संख्या का स्मरण रखिए और दूसरी तरफ़ इस बात पर ध्यान दीजिए कि नगरों और देहातों की शिक्षा पाने वाली लड़कियों की संख्या में कितना अन्तर है, तब आपको मालूम हो जायगा कि देहात में स्त्री-शिक्षा का प्रचार कितना कम है। हमारी निर्धनता एवं अज्ञानता, सरकार की उदासीनता एवं कृपणता तथा परदे की सख्ती ही शिक्षा-प्रचार की मन्द गति का कारण है। जब तक प्रान्त भर में अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की योजना सङ्गठित रूप से कार्यान्वित न की जायगी, तब तक अशिक्षा दूर न होगी। कतिपय म्यूनिसिपल तथा ज़िला बोर्डों ने चुने हुए क्षेत्रों में अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का प्रचार आरम्भ अवश्य किया है, किन्तु अभी तक कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं प्राप्त हुई है।

वर्तमान स्कूलों और कॉलेजों में लड़कियों को जो शिक्षा दी जाती है, वह उनकी आवश्यकता के अनुकूल नहीं है। उनके लिये प्रायः वही पाठ्य क्रम निर्धारित किया गया है, जो बालकों के लिए निर्दिष्ट है। लड़कों और लड़कियों को एक ही विषयों की शिक्षा दी जाती है। स्त्रियों के लिए गृहविज्ञान, सिलाई, सङ्गीत, पाकशास्त्र, शिशु-पालन आदि विषयों का ज्ञान कितना आवश्यक और उपादेय है, यह बतलाने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन तो भी बहुत कम स्कूलों मे इन विषयों की शिक्षा देने की व्यवस्था होगी। हमारे प्रान्त में लड़कियों की शारीरिक उन्नति पर काफी ध्यान नहीं दिया जाता। उन्हें आत्म-रक्षा करने की शिक्षा नहीं दी जाती। महाराष्ट्र और गुजरात की लड़कियों को लाठी, तलवार आदि का उपयोग करना सिखाया जाता है। उन्हें और भी कई प्रकार के व्यायाम सिखाए जाते हैं, लेकिन हमारे यहाँ लड़कियों के शारीरिक गठन की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता है। कॉलेजों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाली महिलाएँ यूरोपीय महिलाओं का अनुकरण कर क्रीम, पाउडर, लिपस्टिक आदि वाह्य सुन्दरता के कृत्रिम उपादानों का व्यवहार करती है, किन्तु उनकी तरह स्फूर्ति, शारीरिक शक्ति तथा स्वास्थ्य लाभ करने का प्रयत्न नहीं करती।

परदा

परदे का रवाज वैसे तो भारत के प्रायः समस्त प्रान्तों में थोड़ा-बहुत प्रचलित है, किन्तु परदे की सख्ती में बिहार के बाद हमारे युक्तप्रान्त का ही नम्बर आता है। इलाहाबाद, बनारस तथा लखनऊ जैसे बड़े-बड़े

नगरों में हम स्त्रियों को सड़कों और बाज़ारों मे देख सकते हैं। शिक्षित तथा प्रतिष्ठित परिवारों की बहुत सी महिलाएँ बिना परदा के बाहर निकलती हैं, किन्तु अधिकांश स्त्रियाँ परदे में ही रहती हैं। छोटे-छोटे शहरों में प्रातःकाल और सायंकाल के समय भी जब प्रायः सभी सड़कें और बाज़ारें जनाकीर्ण रहती हैं, आपको घरों के बाहर स्त्रियों का दर्शन बहुत कम मिलेगा। देहातों में जहाँ अशिक्षा अधिक मात्रा में है, परदे का रिवाज और भी ज़्यादा है। मज़दूरी करने वाली निम्न श्रेणी की स्त्रियों को छोड़कर अधिकांश स्त्रियाँ परदे में ही रहती हैं। हाँ, वृद्धा स्त्रियाँ तथा प्रौढ़ावस्था वाली वे अभागिनी स्त्रियाँ जो ग़रीब एवं विधवा हैं और जिनके कुटुम्ब में पुरुष सदस्यों का प्रायः अभाव है, घरों के बाहर निकलती हैं। विवाह-योग्य कन्याएँ तथा बधुओं को सख़्त परदे में रक्खा जाता है। मेले और विवाह आदि के अवसरों पर ही वे मकान से बाहर निकलती हैं। अन्यथा उनका कार्यक्षेत्र घर की चहारदीवारी के अन्दर ही सीमित रहता है। उन्हें खुले मैदान की स्वच्छ वायु तथा प्रकाश नहीं प्राप्त होता। चूँकि देहात के अधिकांश मकान बहुत छोटे और सङ्कुचित होते हैं, उनमें काफ़ी दरवाज़े, खिड़कियाँ तथा रोशनदान नहीं होते, अतः घर के अन्दर भी उन्हें हवा और प्रकाश नहीं मिलता। इसका परिणाम यह होता है कि उनका स्वास्थ्य धीरे-धीरे बिगड़ जाता है, उनका शरीर पीला पड़ जाता है और वे अकाल परिपक्व हो जाती हैं। वे विविध रोगों का शिकार बन कर असमय में काल-कवलित हो जाती हैं। बहुसंख्यक स्त्रियाँ अनेक प्रकार की शिकायतों से जीवन भर दुखित रहती हैं। स्त्रियों को परदे में रखकर उन्हें प्रकृति की उन विभूतियों से वञ्चित किया जाता है, जो जीवन-शक्ति प्रदान करती हैं।

शील और सतीत्व की रक्षा के लिए ही समाज में परदे की प्रथा का प्रचलन हुआ है, किन्तु हमारी अशिक्षा और मूर्खता के कारण उसने ऐसा रूप ग्रहण कर लिया है, जो उपहासास्पद प्रतीत होता है। स्त्रियाँ चूड़ी पहिनने के लिए पुरुष चूड़िहारों को अपना हाथ अर्पित कर सकती हैं, फल, तरकारी, रङ्ग, सिन्दूर, कपड़ा आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं को ख़रीदने के लिए फेरी वालों को अकेले-दुकेले में बुलाकर मोलभाव कर सकती हैं, हट्टे-कट्टे पुरुष-नौकरों के सामने सिर खोल कर बालों में तेल-कङ्घी कर सकती है, किन्तु अपने जेठ तथा चचेरे या सगे ससुर से आवश्यकता पड़ने पर मुँह खोल कर बातें भी नहीं कर सकतीं, उन्हें अपने हाथ से एक गिलास जल भी नहीं दे सकतीं। उनके साथ इक्के और ताँगे पर बैठ कर नहीं जा सकतीं। यह सब उपहासास्पद नहीं तो और क्या है! आपने सड़कों पर स्त्रियों को परदेदार इक्कों में जाते देखा होगा। कभी-कभी आपने देखा होगा कि इक्के की एक ओर परदे के बाहर कोई पुरुष बैठा हुआ है—जो साधारणतः परदे में बैठी हुई स्त्री का पति, भाई या और कोई सम्बन्धी होता है—वह समझता है कि इक्के पर पूरी क़िलाबन्दी कर दी गई है और किसी पर-पुरुष की दृष्टि क़िले के अन्दर बैठी हुई स्त्री पर नहीं पड़ सकती। किन्तु इक्के की दूसरी ओर क़िले की दीवार को तोड़ कर—परदे को ऊपर उठा कर अन्दर बैठी हुई रमणी आँखें फाड़-फाड़ कर बाहरी जगत की ओर देखती तथा यात्रियों और दूकानदारों की दृष्टि को बरबस अपने सुन्दर मुख-मण्डल की ओर आकृष्ट करती रहती है। इसमें उनका दोष नहीं है, क्योंकि मकान में बन्द रहने वाली स्त्रियों के लिए यह स्वाभाविक है कि वे बाह्य जगत को देखने के लिए उत्सुक और लालायित हों। परदे के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात और है। बहुत सी स्त्रियाँ, स्त्रियों को परदे के बाहर होते देख कर चिढ़तीं और नाक-भौं सिकोड़ती हैं। उनके दिमाग़ में यह बात घुस गई है कि परदा करना प्रत्येक स्त्री का अनुपेक्षणीय धर्म या कर्त्तव्य है। मुँह से परदा हटा कर चलना-फिरना महा अधर्म तथा घोर पाप है। अगर जेठानी या सास, बहू को परदे के नियम को भङ्ग करते हुए देखती है तो वह फ़ौरन टोक देती है। इससे भी विचित्र बात यह है कि स्त्रियाँ, स्त्रियों से ही परदा करती हैं। दूसरे घरों की स्त्रियों के आते ही बहुत सी बहुएँ हाथ भर का लम्बा घूँघट काढ़ कर बैठ जाती हैं और उनसे बोलते हुए शरमाती हैं।

हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में परदे की प्रथा अधिक है। शिक्षा के प्रचार तथा राष्ट्रीय जाग्रति के फल स्वरूप बहुसंख्यक हिन्दू महिलाओं ने तो परदे को त्याग दिया है परन्तु उन मुसलमान स्त्रियों की संख्या, जिन्होंने परदे का परित्याग किया है, अभी बहुत कम है। बहु-सख्यक शिक्षित मुसलमान भी परदे के कट्टर समर्थक प्रतीत होते हैं। अगर हिन्दू स्त्रियाँ घूँघट काढ़ती हैं, तो मुस्लिम स्त्रियाँ शरीर पर बुरका डाल कर बाहर निकलती हैं। जब तक परदे की यह प्रथा समाज से दूर नहीं होगी तब तक हमारे प्रान्त या देश की न तो सर्वाङ्गीय उन्नति हो सकेगी और न स्त्रियाँ कूपमण्डूकता से बाहर निकल सकेंगी। एशिया के उन देशों ने भी, जो आज स्वतन्त्र और उन्नतिशील बन गये है, परदे का परित्याग कर दिया है। जापान और टर्की इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

वैवाहिक पराधीनता

जहाँ तक विवाह का सम्बन्ध है, सभी प्रान्तों की अवस्था प्राय एक ही सी है। किसी भी प्रान्त की स्त्रियों को हमारे देश में वैवाहिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। भारत की सभी स्त्रियाँ इस मामले में अपने माता पिता तथा अन्य अभिभावकों के अधीन हैं। वे अपनी लड़कियों के लिए जो वर खोज कर ठीक कर देते हैं, उन्ही के साथ विवाह हो जाता है। कन्याओं को अपनी इच्छा प्रकट करने का कुछ भी मौका नहीं दिया जाता। पढ़ी-लिखी लड़कियो को अपने अधिकार का कुछ ज्ञान अवश्य हो गया है, किन्तु उसके उपयोग का साहस उनमें अभी तक उत्पन्न नही हुआ है। नगरों में कुछ सुशिक्षित लड़कियाँ ऐसी जरूर पाई जाती हैं, जो अपने पति के चुनाव के सम्बन्ध में अपनी इच्छा प्रगट करती हैं। कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी हैं, जो अविवाहित रहकर अपना जीवन यापन करना चाहती हैं। किन्तु ऐसी स्त्रियों की सख्या अभी नगण्य सी है। अधिकाश पढ़ी-लिखी लड़कियाँ अभी इस विषय में स्वतन्त्र नहीं बन सकी हैं। यूरोपीय समाज की लड़कियों की भाँति भारतीय कन्याओं को वैवाहिक स्वतन्त्रता प्रदान करना उचित होगा अथवा अनुचित, यह विषय अभी तक विवाद-ग्रस्त बना हुआ है। किन्तु अगर यूरोपीय शिक्षा-प्रणाली के वातावरण में लड़कियो को शिक्षा प्रदान करने का क्रम बना रहा तो आश्चर्य नहीं कि भविष्य में भारतीय कन्याओं को भी कुछ अंशों में विवाह के मामले में स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाय।

तिलक और दहेज का रवाज हमारे प्रान्त में इतना अधिक प्रचलित है कि कुटुम्ब में दो चार लड़कियों का उत्पन्न हो जाना ईश्वरीय अभिशाप समझा जाता है। लड़कियों का विवाह करने में माता-पिता तथा घर के अन्य लोगों को तबाह हो जाना पड़ता है। उन्हें अपनी हैसियत से बहुत अधिक खर्च करने के लिए बाध्य होना पड़ता है और वे ऋणग्रस्त हो जाते है। यह अवस्था वास्तव मे बहुत ही शोचनीय है और इसका यथा-सम्भव शीघ्र अन्त होना चाहिये। किन्तु मालूम होता है कि तिलक और दहेज की कुरीति बिना सङ्गठित आन्दोलन किये तथा बिना कानून निर्माण किये शीघ्र दूर न हो सकेगी। आश्चर्य की बात तो यह है कि जो लड़की की शादी के समय तिलक-दहेज की रस्म को खराब समझता है और चाहता है कि यह रवाज सदा के लिये मिटा दिया जाय, वही अपने लड़के के विवाह के अवसर पर भारी दहेज माँगता है और अपनी माँग के पूरी किये जाने के लिये अकड़ता है। बाल-विवाह की कुरीति भी हमारे देश में सर्वत्र प्रचलित है। सन् १६३१ ई० मे ५ वर्ष तक की अवस्था वाली विवाहिता लड़कियों की संख्या ८ लाख २ हजार थी। इनमें करीब ४५,००० ऐसी थीं, जिनकी अवस्था १२ महीने से अधिक नहीं थी। ५ से १० तथा १० से १५ वर्ष तक की अवस्था वाली विवाहिता लड़कियों की सख्या क्रमश ४२ लाख तथा ७२ लाख ६६ हजार थी। उस वर्ष हमारे युक्त-प्रान्त में ५ से १० वर्ष की अवस्था वाली २४.४ प्रतिशत लड़कियाँ विवाहित थी। हैदराबाद रियासत मध्य-प्रान्त तथा बिहार-उड़ीसा की अवस्था और भी खराब थी। सीमा-प्रान्त, ट्रावनकोर राज्य, मैसूर तथा आसाम में बाल-विवाह का प्रचलन बहुत कम था। १६३० ई० मे बाल-विवाह-निषेधक शारदा कानून के पास हो जाने पर भी

युक्तप्रान्त तथा अन्य प्रान्तों की अवस्था में अधिक सुधार न हो सका, क्योंकि क़ानून भङ्ग करने वालों को दण्ड देने की समुचित व्यवस्था सरकार ने नहीं की। दुधमुँहे बच्चे-बच्चियों का विवाह करना गुड्डों और गुड़ियों के विवाह के समान है। किन्तु बच्चे निर्जीव पदार्थ नहीं हैं, अतः ऐसे विवाह से उनको तथा उनके द्वारा समाज को बड़ी हानि पहुँचती है। इससे युवकों तथा युवतियों का स्वास्थ्य ख़राब हो जाता है। सन्तानें दुर्बल होती हैं। अगर बाल-बहुएँ अभाग्यवश विधवा हो गईं, तो उन्हें अनेक प्रकार के सामाजिक अत्याचारों का शिकार होना पड़ता है, क्योंकि हमारे यहाँ अधिकांश जातियों में विधवाओं का पुनर्विवाह निषिद्ध है। इन सब बातों की वजह से यह आवश्यक है कि बाल-विवाह एकदम बन्द कर दिया जाय।

अन्धविश्वास

हमारे प्रान्त की स्त्रियों में घोर अन्धविश्वास भी फैला हुआ है। शताब्दियों की अशिक्षा के कारण ही स्त्री-समाज में अन्धविश्वास का साम्राज्य छा गया है। अन्धविश्वास देहातों में ही नहीं, नगरों में भी बहुत पाया जाता है। अगर समाज में प्रचलित सभी अन्धविश्वासों को एकत्रित किया जाय तो एक बड़ा पोथा बनकर तैयार हो सकता है। मेरा ख़याल है कि शायद ही १०० पीछे एक या दो स्त्रियाँ ऐसी निकलें जो अन्धविश्वास से सर्वथा मुक्त हों। अनपढ़ स्त्रियाँ ही नहीं, बहुसंख्यक पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ भी इसकी शिकार बनी हुई हैं। इन अन्धविश्वासों के कारण सारे समाज का जीवन दुखमय हो गया है और हमें बड़ी हानियाँ सहनी पड़ती हैं। शरीर में कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो वह किसी देवी-देवता का प्रकोप अथवा प्रेत-कष्ट ही समझा जायगा। इन रोगों की वैज्ञानिक चिकित्सा न कराकर स्त्रियाँ कल्पित देवी-देवताओं को प्रसन्न करने तथा प्रेत उतारने की ही कोशिश करेंगी। देवी-देवताओं को चढ़ावा चढ़ाकर अथवा पीर-पैग़म्बर की मज़ार पर फूल-बताशे चढ़ाकर रोगों तथा कष्टों के उपराम कराने का प्रयत्न किया जाय तो उससे समाज की अधिक हानि नहीं। किन्तु अन्धविश्वास तो यह फैला हुआ है कि हम अनेक प्रकार के छोटे-मोटे उपचारों से अपना रोग-दुख दूसरे पर उतार कर उनसे मुक्त हो सकते हैं। कितनी स्वार्थपूर्ण, लज्जाजनक, घृणास्पद तथा विनाशकारी मनोवृत्ति है; कुछ ठिकाना है? हम नीचे ऐसे कतिपय अन्धविश्वासों का उल्लेख करते हैं, जो हमारे प्रान्त की स्त्रियों में प्रचलित हैं :—

(१) बहुत सी स्त्रियों का विश्वास है कि अगर पेट में पीड़ा उत्पन्न हो जाय या शरीर में और कोई कष्ट पैदा हो जाय तो पानी, फूल तथा अक्षत आदि उसके ऊपर से उतार कर सड़क पर रख आने से कष्ट शान्त हो जायगा और जो व्यक्ति उस फूल या अक्षत आदि को लाँघता है वह उसी कष्ट से पीड़ित हो जायगा। इसी अन्धविश्वास का फल है कि हम अक्सर सड़कों पर इस तरह की चीज़ें रखी हुई देखते हैं।

(२) बच्चे को भूख न लगती हो या उसका खाना छूट गया हो तो दही-भात या अन्य कोई वस्तु ओइँछ कर चुपके से किसी दूसरे अजान लड़के को खिला देने से उसकी क्षुधा जाग्रत हो उठेगी और वह अजान लड़का उसी कष्ट से पीड़ित हो जायगा।

(३) अगर बच्चा बीमार हो तो उसके शरीर में लगा हुआ तेल पोंछ कर दूसरे लड़के की देह में लगा देने से रोग दूसरे बच्चे के शरीर पर उतर जाता है।

(४) सन्तान प्रसव करने वाली स्त्री की नार आदि पर बैठकर अगर कोई दूसरी स्त्री स्नान कर ले तो पहली स्त्री का बच्चा मर जायगा और उस दूसरी स्त्री का बच्चा जीने लगेगा। यह क्रिया वही स्त्रियाँ करती हैं, जिनकी सन्तानें पैदा होकर मर जाती हों, जीवित न रहती हों।

इसी प्रकार के सैकड़ों, हज़ारों अन्धविश्वास स्त्री-समाज में फैले हुए हैं। दूसरे पर अपना रोग या कष्ट उतार कर जीने की यह अमानुषिक प्रवृत्ति बड़ी ही निन्दनीय है। स्त्रियों के कुछ और अन्धविश्वास इस प्रकार के हैं:—(क) इतवार व मङ्गलवार को अगर कोई माला, सूत, लौंग, धनिया अथवा सुई माँगने आवे

ता उसकी इच्छा पूरा करने मे हानि होती है। (ख) सन्ध्या के समय या चिराग जल जाने पर धोबी को धोने के लिए कपड़ा देने या रुपया देने मे अपने घर की लक्ष्मी घट जाती है। (ग) सन्ध्या समय घर का दरवाज़ा न बन्द रखना चाहिए, नहीं तो लक्ष्मी घर में प्रवेश न कर सकेंगी और लौट जाँयगी। (घ) ऐसे दो नन्हे बच्चों के सिर जिनका मुण्डन न हुआ हो अगर, एक दूसरे से टकरा जॉय तो उनमें से एक बच्चा एक आँख का अन्धा हो जायगा (ङ) किसी के टोना लगा देने से बच्चे का दूध पीना या खाना बन्द हो जाता है, वह कमज़ोर पड़ जाता या उसके दस्त आने लगते हैं, आदि।

जब तक समाज में स्त्री-शिक्षा का पूरा प्रचार न होगा और अज्ञान रूपी अन्धकार न नष्ट होगा तब तक स्त्रियों के अन्धविश्वास भी बने रहेंगे। इन अन्धविश्वासों के कारण हमारा युक्तप्रान्त ही नहीं, सारा देश तबाह हो रहा है। स्त्रियाँ अपने या अपने बच्चों के रोगों की यथासमय डॉक्टरों या वैद्यों से चिकित्सा नहीं कराती और कभी-कभी इसका परिणाम यह होता है कि उनके प्राण चले जाते है। दूसरी हानि यह है कि वे मूर्खता-पूर्वक अपना रुपया-पैसा तथा धन व्यर्थ के उपचारों में व्यय करती है। तीसरे, स्त्रियों में परस्पर सन्देह और अविश्वास का भाव बना रहता है। उन्हे भय बना रहता है कि ऐसा न हो कि कोई स्त्री हमारे बच्चे पर कोई टोना-टुटका कर दे। इस सन्देह और अविश्वास के कारण से कभी-कभी स्त्रियों में भयङ्कर कलह उत्पन्न हो जाता है और उनमें सदा के लिए शत्रुता हो जाती है। ऐसी अवस्था में समाज के प्रत्येक शिक्षित एवं विचारवान व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह स्त्रियों के अन्धविश्वास को दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करे।



आभूषण-प्रेम

जैसा कि प्रारम्भ में उल्लेख किया गया है, हमारे प्रान्त की स्त्रियों को आभूषण से बड़ा प्रेम है। एक विदुषी लेखिका का कथन है कि आभूषण स्त्रियों की गुलामी के चिह्न है। आभूषणों के प्रचलन का वास्तविक कारण चाहे जो भी हो, लेकिन साधारणत यह ख़याल किया जाता है कि शरीर की सुन्दरता को बढ़ाने के लिये ही गहने पहनने का रवाज चला है। धीरे-धीरे इस रवाज ने इतना बल पकड़ा और आभूषणों के प्रति स्त्रियों का प्रेम इतना बढ गया कि वे अपने शरीर के प्राय सभी अङ्गों को तरह-तरह के आभूषणो से सजाने लगी। वे आपादमस्तक गहनों से अलकृत बन गईं। पैर, पैर की अँगुलियाँ, कमर, वक्षस्थल, कण्ठ, नाक, कान, ललाट, सिर, हाथ की अँगुलियाँ, कलाई, पहुँचे सभी सोने चाँदी के अलङ्कारों से सजाए जाने लगे। नेत्र खाली थे, अब उन पर चश्मे पहने जाने लगे है। गहने स्त्रियों के लिए प्राण के समान प्रिय वस्तु बन गये हैं। समाज में शायद ही कोई ऐसी अभागिनी स्त्री हो जिसके पास एक भी गहने न हों। इन आभूषणों में बहुत काफी धन खर्च होता है और धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या वास्तव मे आभूषणों से स्त्रियों के शरीर का सौन्दर्य बढ जाता है? सम्भव है कि दो-एक खास खास गहनों के पहिनने से कुछ स्त्रियों का सौन्दर्य अधिक बढ़ जाता हो, किन्तु अधिकाश आभूषण तो बिल्कुल बेकार और भद्दे लगते है। बहुसख्यक स्त्रियों को अपने शरीर और वस्त्रो की सफाई की कुछ भी परवाह नहीं होती। वे मैले-कुचैले कपड़े धारण कर गन्दी बनी रहती है। ऐसी स्त्रियाँ कभी भी सुन्दर नहीं दिखायी पड सकतीं, चाहे वे अपने शरीर पर मन भर वजन के गहने क्यों न लाद लें। सुन्दरता प्राकृतिक गुण है। गहने, पाउडर तथा क्रीम आदि कृत्रिम साधनों से शरीर का सौन्दर्य कभी नहीं बढता। जिसको ईश्वर ने सुन्दरता प्रदान की है, वह इन साधनों के प्रयोग के बिना ही सुन्दर दिखाई पड़ती है। सन्तोष की बात है कि पढी-लिखी स्त्रियाँ धीरे-धीरे भद्दे गहनों को त्याग रही है और दो-एक हल्के गहनों से ही अपने शरीर को अलकृत करने का प्रयत्न करती हैं। आशा है कि आभूषणो का अनुचित प्रेम शिक्षा-प्रचार के साथ-साथ दूर हो जायगा।



विश्व-बोध

[श्री० गौरीशङ्कर मिश्र 'द्विजेन्द्र']

रचे क्या तूने वेद-पुराण,
नीति, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान,
निखिल शास्त्रों के विविध-विधान,
छन्द, रूपक, कविता, आख्यान;
हृदय की जो न हुई पहचान!
जगत्! धिक् तेरे ये सब ज्ञान!!

सघन जलधर के अन्तर-बीच
जला करती ज्वाला-गम्भीर,
उसी को पल-पल में जब हाय!
तुझे घन दिखलाता उर चीर,
चौंक तू कह उठता सोल्लास—
अरे, यह तो है तड़ित्-विभास!

सतत तपता रहता दिन-रात
प्रखरतमज्वाला में गिरि-कूट,
हृदय से उसके करुणा-धार,
निकल पड़ती जब सहसा फूट,
उसे कह कर सरिता नादान,
समझता अपने को मतिमान!

जाग पड़ती जब वाड़व-ज्वाल
खुले नभ का पा झंझावात,
गरज उठता सागर गम्भीर
धड़क उठता मानस अज्ञात!
उसी हृत्स्पन्दन को अविराम!
लहर का तू देता है नाम!!

तुझे करने जब दुःखोन्मुक्त
दिवस करता है सङ्गर घोर,
तिमिर होता आहत निरुपाय
रुधिर से रँग जाता नभ-छोर,
उसे ऊषा की मृदु मुसकान!
समुद कहता रे तू नादान!

किसी निर्मम दुख का आघात
जगाता जब सोया सन्ताप,
फूट कर कोमल हृदय अशांत
भाव बन बह चलता चुपचाप,
उसे कविता कहते नादान!
तनिक भी सकुचाता तू क्या न?

किसी का हृदय न कोई हाय! सका है सचमुच अब लौं जान!
इसी से तो प्रेमी जग-बीच कहाता है पागल नादान!
जगत्! धिक् तेरे ये सब ज्ञान!
हृदय की जो न हुई पहचान!!



कहानी

आत्मघात

[श्री० भगवतीप्रसाद वाजपेयी]

उस दिन से दिवाकर बिल्कुल बदल गया है। वश रहते, वह किसी पर नाराज नहीं होता, किसी को मारता नहीं। किंकर्तव्य-विमूढ हो-होकर वह अपराध के प्रकृत कारण की खोज करने लगता है। दुर्घटनाओं और विपत्तियों से व्याकुल होकर वह अपने वातावरण को क्षुब्ध नहीं होने देता, वरन् वस्तुस्थिति को तुरन्त समझ कर अपने तात्कालिक धर्म को ही देखता है। जीवन के साधारण, नित्य के, व्यवहारों में 'हाँ' कहने की अपेक्षा 'ना' कहने की ओर उसकी अब अधिक प्रवृत्ति है। कुछ लोगों की धारणा है कि यह भी दिवाकर के जीवन का एक प्रयोग है। किसी भाव से अत्यधिक प्रभावित होकर वह एकाङ्गी बन गया है। परन्तु बात क्या है, इसे कोई नहीं जानता।

× × ×

उस दिन।

—बाबू भैया! ओ बाबू भैया!!

एक क्षीण, कम्पित आर्द्र स्वर और मौन। साठ-पैंसठ वर्ष की एक बुढ़िया। सिर में छोटे-छोटे कटे हुए-श्वेत केश, गड्ढों में धँसी ज्योति-शिथिल आँखें, मैले चिथड़ों से आवृत जर्जर गात। निपट फटे-पुराने बोरों के कुछ टुकड़े और कार्ड बोर्ड के बने टूटे, जूतों के ढक्कन।

कानपुर का एक राजपथ, जो आगे बढ़ कर मेस्टन रोड को छै रास्तों के केन्द्र से मिलाता है। एक ओर जनाना हास्पिटल अपना पुरातन कीर्ति लिये स्थित है और दूसरी ओर कोतवाली का विशाल भवन निर्मित हो रहा है। ढाई बजे दोपहर का समय, झलझलाती पावस की धूप। इक्का-दुक्का आदमी ही आता-जाता है।

दिवाकर हेड पोस्ट आफिस गया था। सेविङ्ग बैङ्क से उसे आज कुछ रुपये निकालने थे। लौटता हुआ इधर से आ निकला, तो उसे सुन पड़ा, पीछे से यह क्षीण स्वर—बाबू भैया! ओ बाबू भैया!!

दैन्य दुर्दशा-ग्रस्त, इस प्रकार के प्रपीड़ित समाज के साथ दिवाकर की कोई सहानुभूति नहीं, यह बात नहीं है। तो भी ऐसे अवसरों पर वह सोच लिया करता है—उँह! यह तो संसार है। एक से एक बढ़ कर दीन-दुखी प्राय मिलते ही रहते हैं। किस-किस की ओर देखा जाय? अतएव उसने चाहा कि वह आगे बढ़ जाय। किन्तु ...।

उसके चिन्तन में अकस्मात् एक किन्तु आकर उपस्थित हो गया। रौद्र मुख, लाल-लाल आँखें, भौंहें तनी हुईं।

— पाषाण कहीं के मानवता के अपवाद! तुम भी कहोगे कि मैं मनुष्य हूँ!

दिवाकर के भीतर आग की भट्ठी-सी धधक उठी।

लौट कर बोला—क्या है बुढ़िया?

"बेटा-बेटा! आह!"

वह कराहने लगी। उसका स्वर मन्द पड़ गया। दिवाकर कुछ ग्रहण कर सका, कुछ नहीं। तब वह वहीं बैठ गया।

बुढ़िया बोली—कोई सब चुरा ले गया—सब! अ अ!!

उसकी आँखें भर आयीं।

"क्या क्या था?" - दिवाकर ने पूछ दिया।

"एक चदरा! जिसमें कुछ सत्तू बँधे थे और तीन पैसे।"

जैसे बिच्छू ने डङ्क मार दिया हो। निमेष मात्र में दिवाकर क्रोध और घृणा से इतना उत्तप्त हो उठा कि अपने आपको सम्हाल रखना भी उसके लिए दुष्कर हो गया। विवर्ण मुख, चिनगारियाँ उगलती हुई आँखें और तीक्ष्णस्वर से उसने कह दिया—वह आदमी नहीं हो सकता। जानवर होगा।—कुत्ता! कुत्ता भी जान-बूझकर ऐसा करना पसन्द न करता।

फुटकर पैसे उसके जेब में न थे। एक दुअन्नी थी। यही उसको देकर वह चल दिया।

रास्ते में—

—आह! इतना दुःख! एक निराश्रिता वृद्धा तक को तुम इतना दुःख देते हो; और कहलाते हो दयाधाम! तुम्हारी सृष्टि में ऐसे-ऐसे नर-पिशाच बसते हैं कि अस्थियों के ऐसे ढाँचे तक को आघात पहुँचाये बिना नहीं चूकते! और तुम कहलाते हो जगदीश! निरङ्कुश, यही तुम्हार न्याय है। तुम सोते हो—या पीनक में हो, अपने मनोराज्य में, अफ़ीमची कहीं के! इस प्रकार के दीन-दुखियों को तुम उठा ही क्यों नहीं लेते, ज़ालिम!

—परीक्षा।

—तो, तुम मानवता की परीक्षा लेते हो—न्याय के काँटे पर तोल कर अपराधी से उसका कर्म-भोग लेते हो, तुम शासक रूप में शिव हो, क्योंकि तुम्हें दण्ड भी देना होता है।—दूध का दूध और पानी का पानी पृथक्-पृथक् करके दिखलाना होता है।

दिवाकर के भीतर दहकती हुई भट्ठी प्रशान्त पड़ गयी। वह अपने काम में लग गया।

२

बीस वर्ष पहले—

उस समय कामता की माँ के घर सब कुछ था। उसका स्वामी रामधन एक अच्छा खासा किसान था। उसके द्वार पर बैलों की जोड़ी थी, दो गायें, एक भैंस। उसके दो पुत्र थे। बड़ा कामता था; वह पिता के साथ खेती का काम किया करता। छोटा था केदार, वह उन दिनों पढ़ रहा था।

कामता की माँ के वे सोने के दिन थे। उसके ऊपर काम की कोई जिम्मेदारी न थी। उसके जी में आता, इधर-उधर के काम कर देती; न जी में आता, बैठी, पड़ी रहती। वह दही जमा लेती, मट्ठा फेर लेती। त्योहार आता, तो रसोई तैयार करा लेती। बहू के काम में, जो उससे बन पड़ता, सहायता दे देती। इच्छानुसार वह व्रत पूजन करती और जब जी में आता, सत्यनारायण की कथा सुन लेती। ख़र्च के लिए उसके हाथ में दस-बीस रुपये बने ही रहते।

कुछ दिनों के बाद केदार का भी विवाह हो गया। अब कामता की माँ के एक के बजाय, दो बहुएँ हो गयीं। उसका आँगन बहुओं की पायल की झनकार से निरन्तर गुञ्जित रहने लगा।

उन दिनों केदार टाउन स्कूल की शिक्षा समाप्त करके जिला स्कूल में अङ्गरेज़ी पढ़ रहा था। उस समय अपनी नव-भार्या को लेकर, उसके जीवन में, नारी के रूप में एक नया संसार निर्मित हो उठा। बड़ी छुट्टियों में तो सदा की भाँति वह घर आता ही था, पर अब उसकी एक दिन की छुट्टी भी घर आये बिना न चूकती थी।

केदार की उस नव भार्या का नाम था चमेली। स्वरूप में वह अपने नामानुरूप आकर्षक थी। केदार जब घर आता तो उसको छेड़ने के लिए चमेली के फूलों की एक माला भी लिये आता। चमेली उसे देख कर मुसकरा देती। कहती—तुमको कुछ शरम भी नहीं लगती। कोई देखे तो क्या कहे?

केदार कई बार टाल गया, उसने कोई उत्तर नहीं दिया। एक बार उसका जी न माना। बोला—कैसी शरम? तुमको देखकर तो शरम नहीं लगती। तुम भी तो चमेली हो!

चमेली बोली—तुमको न लगे, तुम पुरुष जो हो। लेकिन मुझे तो लगती है और इसको भी लगती है; इस माला को भी। तभी तो वह मुरझा जाती है।

केदार ने लक्ष किया—चमेली कभी चूकती नहीं! सदा निरुत्तर ही किये रहती है। वह जब छुट्टी बिता

कर स्कूल जाता तो निरन्तर उसी की बातें सोचा करता। झीने परिधान के भीतर से झाँकता हुआ उसका नर्वल यौवन, काजल की हलकी रेखाओं से आवृत उसके प्राण-प्रद मृगलोचन, कनकलता सा उसका वर्ण-विन्यास एक क्षण को भी उसे भूलता न था। उसके प्यार की एक-एक बात पर वह घण्टों विचार किया करता। वह सोचता, उसने कहा था—अब इस प्यार को थोड़ा कम कर दो। बहुत अधिक प्यार करना अच्छा नहीं होता . तुम जब चले जाते हो तब मेरा जी बहुत घबड़ाने लगता है।

उसने सोचा यह बात क्या है, जो उसने कहा—बहुत प्यार करना अच्छा नहीं होता।

—तो, प्यार करने में भी क्या कोई बुराई है?

—पगली। कैसी उल्टी बात कह गयी! अरे प्यारी वस्तु तो प्यार करने के लिए बनायी ही गई है। प्यार ही उसका जीवन है। एक बार जिसको प्यार किया, जीवन भर के लिए किया। थोड़ा किया कि अधिक। उसके लिए न्यूनाधिक का विवेक क्यों? जीवन है तो प्यार भी है। प्यार के बिना जीवन की स्थिति क्या?

—वह अबोध है अभी। जानती नहीं कि प्यार तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है—गहरा ही होता रहता है। जीवन का वही चरम सुख है।

—तो उसने यह क्यों कहा कि तुम जब चले जाते हो तो मेरा जी बहुत घबड़ाता है।

—ठीक तो कहा उसने। इधर मेरा जी भी तो कम नहीं घबड़ाता। सोचने लगता हूँ, कहीं उसको कुछ हो न जाय—कहीं वह बीमार न पड़ गयी हो!

सन् १८ का वह युद्ध-ज्वर। महामारियों के भारतीय इतिहास में उसने जो अक्षय कीर्ति अर्जन की, उसकी तुलना नहीं हो सकती। उसकी पिशाच-वृत्ति ने उस समय जो महा विकराल रूप धारण किया, उसके स्मरण मात्र से आज भी चेतना धूमिल हो उठती और मांस-पेशियों की प्रगति विकृत हो जाती है।

पिता की बीमारी का समाचार पाकर वह तुरन्त घर आया। पर आते-आते वह उन्हें पा न सका। सात मील दूर, पास ही, रिन्द नदी बहती थी। उन दिनों उसमें कहीं-कहीं थोड़ा-थोड़ा पानी था। गाँव के दस-पाँच व्यक्तियों के साथ कामता अपने पिता के शव को लेकर नदी पर पहुँचा। केदार भी साथ गया।

लोगों ने देखा, यत्र-तत्र इतने शव पड़े बदबू कर रहे हैं कि वहाँ ठहरना मुश्किल है। गिद्ध, कुत्तों और कौवों के द्वन्द युद्ध चल रहे हे। विकृत मांस की नोच-खसोट का चरम वीभत्स दृश्य देख कर केदार स्तम्भित हो उठा। कई बार उसके मन में आया और गया—उफ! मानव-देह की यह दुर्गति! जो कमनीय कलेवर सुगन्धित साबुन से मल-मल कर धोया जाता है—सुवासित इत्र-तैलों से जिसकी निरन्तर प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, उसका यह अन्त!

किसी तरह पिता की अन्त्येष्टि क्रिया करके कामता घर लौटा। केदार का हृदय दुर्भावनाओं की आशङ्का से योंही अर्धमृत हो रहा था। घर आते-आते वास्तव में उसने अपनी प्रियतमा को अस्वस्थ पाया। दूसरे दिन प्रातःकाल उसका भी स्वर्गवास हो गया। उसका शान्ति संस्कार तो किसी तरह केदार ने किया, किन्तु वह फिर स्थिर रह न सका। मालूम नहीं वह कहाँ चला गया? उसका कहीं कुछ भी पता न चल सका।

दिन चलते गये।

कामता को अपनी ससुराल में थोड़ी ज़मीन मिल गयी। वह वहीं रहने लगा। कुछ दिनों तक तो वह माँ को ख़र्च भेजता रहा। पर फिर धीरे-धीरे वह भी चुप हो गया।

३

दूसरे दिन दिवाकर लाटूश रोड से घर आ रहा था। मूलगञ्ज में उसे एक परिचित सज्जन देख पड़े। खड़े खड़े वह उनसे बातें करने लगा। किन्तु वार्तालाप का विषय जल्दी समाप्त होता न देख कर वह एक परिचित दूकान के सामने पड़ी हुई बेंच पर बैठ गया।

उसी क्षण।

"एक पैसा"—ध्वनि ने उसे ध्यानान्तरित कर दिया।

दिवाकर ने मुँह फेर कर देखा, उसकी अवस्था अधिक नहीं जान पड़ती; यही सैंतीस-अड़तिस होगी। नङ्गे बदन, कमर में एक लुङ्गी; फटी, मैली इतनी कि बदबू उगलती हुई। बढ़ी दाढ़ी के काले-काले बाल चमक रहे हैं। जान पड़ता है निकट काल में उन्होंने यथेष्ट सेवा पायी है। सिर के बाल कुछ बड़े हुये हैं, किन्तु इतने नहीं कि मुड़ कर, करवँट लेकर, सो सकें। सीने पर काले बालों का एक कुटुम्ब पनप रहा है। अँगुलियों के नाखून सफ़ाई के साथ कटे हैं। दाँत इतने साफ़ हैं कि मोती से झलकते हैं। श्यामवर्ण के गोल मुँह में आँखों की भाषा बड़ी सजीव प्रतीत होती है। दृष्टिक्षेप में उद्बुद्ध शान्तता और निर्मोह-जन्य विरक्ति की छाप है।

किन्तु दिवाकर का ध्यान इन सब बातों पर तो बाद को गया। पहले-पहल जिस बात ने उसको इतना अध्ययन करने की प्रेरणा की, वह थी उसके शरीर भर में मुद्रित, दूर से ही पुकार-पुकार कर अपना परिचय देती हुई सिफ़लिस—हाँ सिफ़लिस!

हालाँकि दिवाकर को उसके शरीर की दुर्गन्ध बड़ी तीक्ष्ण जान पड़ी, तो भी उसने रूमाल निकाल कर नासिका के छिद्रों से नहीं लगाया। बस, चरम सचेष्ट होकर वह उसे देखता ही रहा।

तब उसी क्षण उसने कह दिया—एक पैसा दे दीजिये।

"ओह! कितनी आत्मीयता!—वाणी में कितनी मिठास!" लक्ष करके दिवाकर ने देखा, उसकी मुद्रा, होंठ और मुक्त दन्तावलि से एक अभिनव दीप्ति फूट पड़ी है। तत्काल उसने उत्तर दिया—पैसा मैं अभी देता हूँ, लेकिन यह तो बतलाओ, तुम्हारा नाम क्या है?

वह पहले कुछ बुदबुदाया, किन्तु दिवाकर उसे ग्रहण नहीं कर सका। किन्तु दिवाकर जब तक कुछ और पूछे, उसने उत्तर दे दिया—मेरा नाम "कुछ नहीं।"

—यह कैसा उत्तर? यह भी सम्भव हो सकता है कि तुम्हारा नाम कुछ न हो!

—हाँ, हो क्यों नहीं सकता? सभी कुछ हो सकता है। जैसे इस दूकान में शीशे के गिलास हैं, चीनी के बर्तन, प्याले, jugs और आज इन्हें आप इन नामों से पुकारते हैं। किन्तु कल अगर इन चीजों के टुकड़े-टुकड़े हो जाँय तब उनमें से किसी एक को आप कौन सी संज्ञा देंगे? क्या आप बता सकेंगे कि वह किसका टुकड़ा है? वे सब कूड़ेखाने में फेंक दिये जाँयगे—तब वे प्याला, तश्तरी jug आदि में से कुछ भी तो नहीं कहला सकते। नाम तो पड़ते-पड़ते पड़ता है। पड़ जाने पर, पलक मारते मिट भी जाता है। फिर नाम तो एक कल्पना है, एक मानी हुई बात। उसका स्थायित्व क्या? जैसा पड़ा, वैसा न पड़ा। इसके सिवा नामों में विविधता भी होती है। कोई किसी वस्तु को किसी एक नाम से पुकारता है, दूसरा दूसरे नाम से। मताधिक्य का Record कौन रखता है?

दिवाकर अवाक् हो गया! इस प्रकार का उत्तर और यह वेश! उसी क्षण पैसा उसने उसके हाथ पर रख दिया। पैसा पाकर जब वह चलने लगा, तो दिवाकर से फिर भी यह कहे बिना नहीं रहा जा सका कि कुछ भी हो; अब तो बता दीजिये अपना नाम!

किन्तु उसने अन्य प्रश्न उठने का अवसर न देकर, चलते हुए कह दिया—अभी तक मेरा नाम नहीं पड़ा।

४

तीसरे दिन प्रातःकाल दिवाकर घूमकर लौट रहा था। संयोग से वह जनाना हास्पिटल के निकट से गुजरती हुई उसी सड़क से आ निकला। उस दिन की वह बुढ़िया अब भी उसी स्थान पर बैठी थी। किन्तु थोड़े अन्तर से एक ओर भीड़ लगी हुई थी। कुतूहल से वह भी आगे बढ़कर उसी वृन्द में जा मिला। उसने देखा, एक शव है लावारिस। म्युनिस्पल बोर्ड के स्वीपर्स उसको ठेले पर ले जाना चाहते हैं।

दिवाकर उसे देखते ही पहचान गया। उसके होंठ एकदम से काले पड़ गये हैं। लाल-लाल डोरे वाली वे ज्वलन्त आँखें खुली की खुली ही रह गयी हैं। मुँह से

बहुत सा फेन निकल कर कुछ तो सूखकर सड़क की भूमि को तर कर गया है, कुछ अब बह रहा है!

जैसे चिता धू-धू कर जल उठती है, वैसे ही दिवाकर उस व्यक्ति की यह गति देखकर भीतर ही भीतर धधकने लगा। उसके मन में अनेक सङ्कल्प-विकल्प आये और गये। उसने कहना चाहा कि इस व्यक्ति का अग्नि संस्कार मैं करवा दूँगा। आप लोग व्यर्थ का कष्ट न करें, किन्तु विचारों के अबाध मन्थन में वह तुरन्त कर्तव्य-रत हो न सका।

एक चादर उसके ऊपर पड़ी हुई थी। एक स्वीपर ने झटके से उसे अलग कर दिया, तो उसके एक छोर में बँधी कोई चीज़ दीवाल की ईंट से टकराकर कट्-सा शब्द कर उठी। खोलने पर उसमें निकले तीन पैसे और एक बादामी कागज़ का टुकड़ा, जिसमें कच्ची, ढीली अफीम के कत्थई वर्ण के दाग थे।

जन-समूह में से तरह-तरह की आवाजें उठने लगीं। एक वृद्ध ने कह दिया—जैसी करनी वैसी भरनी।

किसी ने मुँह बिचका कर उपेक्षा से कह दिया—सिफ़लिस का रोगी!

एक बाबू साहब बोले—इन कम्बख्तों को मरना भी नहीं आता।

तब तक वह बुढ़िया भी आ गई थी। ठेले पर जब वह शव रख कर उसी चदरे से ढक दिया गया, तो बुढिया चिल्ला उठी—अरे! यह चदरा तो मेरा है। मुझे देते जाओ। किन्तु क्षण भर में उसने कह दिया—लेकिन अब यह मेरे किस काम का! ले जाओ, ले जाओ।

५

इसी समय भीड़ चीरते हुए एक व्यक्ति ने आकर शव पर पड़े हुए मुँह की ओर के चदरे को उलट दिया। मुख देखते ही मर्माहत होकर बोल उठा—ओह! तुम हो!

उसके नेत्रों से आँसू टपकने लगे। कण्ठ-रुद्ध क्षीण स्वर से उपस्थित जन-समूह को सम्बोधन करते हुए उसने कह दिया—मेरे गुरुदेव हैं। इनका संस्कार मैं करूँगा। कहा करते थे—निर्वाण होने से कुछ दिन पूर्व, मैं कुछ दिनों के लिए, भ्रमण करूँगा। मेरी चिन्ता न करना। ऐसे रोग से आक्रान्त थे, किन्तु हम लोगों के बहुत आग्रह करने पर भी कोई चिकित्सा नहीं की। बोले—अपराध का प्रकृत-दण्ड भोग करूँगा। सदा ज्ञान की खोज में रहे, जीवन की प्रत्येक दिशाओं को अनुभव करके देखा। प्राय कहा करते थे—किसी को बहुत अधिक प्यार करना भी अच्छा नहीं होता।



उत्तर-भारत में महाराष्ट्रीय ब्राह्मण

[श्री० नारायण श्यामराव चिताम्बरे]

भारतवर्ष के इतिहास में महाराष्ट्र का एक विशेष और महत्वपूर्ण स्थान है। उन दिनों जब भारत में परतन्त्रता का अखण्ड साम्राज्य था, तब सर्वप्रथम इसी महाराष्ट्र ने स्वतन्त्रता का बिगुल बजाया था। उस समय महाराष्ट्र के नवयुवकों ने, वृद्धों ने, कन्याओं ने, माताओं ने उस पवित्र अनुष्ठान में समान भाग लिया था। स्वतन्त्रता के प्रीत्यर्थ उन्होंने जो रक्त की होली खेली थी, उसकी लाली अब तक नहीं धुल पाई है। उसी महाराष्ट्र के निवासी ब्राह्मण-समाज की प्रांतीयता, सामाजिक व्यवहार और आर्थिक अवस्था का दिग्दर्शन कराना असामयिक न होगा।

उत्तर भारत में

वह सर्वप्रथम तब आये जब अठारहवीं शताब्दी के मध्य में पेशवा ने उत्तर-भारत में प्रथम मुसलमान व तदनन्तर राजपूतों से लोहा लेने के लिये चढ़ाइयाँ की थीं। तब जीते हुए प्रदेश की शासन व्यवस्था के लिये पेशवा का अपने प्रान्त के प्रतिनिधि रखना स्वाभाविक था। उसी समय से उत्तर-भारत के निकट सम्पर्क में महाराष्ट्र के निवासी आये। एक बात विशेष रूप से यह ध्यान में रखनी चाहिये कि महाराष्ट्र के निवासी 'विजेता' की हैसियत से उत्तर-भारत में आये थे। और चूँकि पेशवा महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे, इसलिये उस समय महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों का ही प्राबल्य अधिक था।

प्रान्तीयता

वैसे तो भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में प्रान्तीयता का जोर है, फिर महाराष्ट्र उसके लिये अपवाद कैसे हो सकता है? प्रान्तीयता का भूत इन लोगों के सिर पर भी सवार रहता है। उत्तर-भारत के कतिपय लोगों से इन पंक्तियों के लेखक को मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण समाज के विरुद्ध कितनी ही शिकायतें उन्होंने की हैं। उनका विस्तृत विवेचन यहाँ करना असम्भव है। फिर भी उनकी शिकायतों का सारांश यह है कि :—

(१) महाराष्ट्रीय लोग उत्तर-भारत के लोगों पर हुकूमत करते हैं।

(२) उत्तर-भारत के लोगों के साथ उनका व्यवहार प्रेम-पूर्ण नहीं होता।

(३) खान-पान के मामलों में हमेशा यह लोग अपमानजनक व्यवहार करते हैं।

(४) इस प्रान्त के निवासी हो जाने पर भी यहाँ के लोगों से मिल-जुल कर नहीं रहते।

(५) महाराष्ट्रीय स्त्रियों का व्यवहार उत्तर-भारत की स्त्रियों के साथ प्रेम-पूर्ण तो होता ही नहीं है, वरन् अपमानकारक होता है। यानी वह उन्हें छूती तक नहीं है।

भारतवर्ष का कोई भी प्रान्त इन दोषों से बरी नहीं है। छुआछूत, खान-पान में भेद, अपने जाति के विषय में सीमित भाव हर एक प्रान्त में मौजूद हैं, फिर अकेले महाराष्ट्र को ही बदनाम करना उसके साथ अन्याय करना है। परन्तु फिर भी उत्तर-भारत के निवासी महाराष्ट्रियों को अब सचेत हो जाना चाहिए। प्रान्तीयता का समूल नाश करने के लिये भारत के तमाम प्रान्त प्रयत्नशील हैं, तब महाराष्ट्रियों को भी पीछे न रहना चाहिये।

सामाजिक व्यवहार

महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों में प्रमुखतया पाँच भेद हैं। यजुर्वेदी, देशस्थ, कोंकणस्थ, कन्हाडे, सारस्वत (शेनवई)। यजुर्वेदी ब्राह्मण यजुर्वेद के मानने वाले हैं। शेष चार ऋग्वेद को मानते हैं। सारस्वत ब्राह्मणों को छोड़कर शेष चारों में खानपान में कोई भेद नहीं है। वह एक दूसरे के यहाँ भोजन कर जा सकते हैं। कच्ची-पक्की का कोई भेद नहीं। सारस्वत ब्राह्मण चूँकि मांसाहारी हैं, इस लिये उनके यहाँ भोजन करना मना है। बाकी ब्राह्मण शाकाहारी हैं।

विवाह जरूर अपनी ही जाति में होगा। यानी यजुर्वेदी ब्राह्मण अपनी पुत्री का विवाह अपनी ही जाति में करेगा। उसी तरह देशस्थ, कोंकणस्थ व कन्हाडे भी। पर अब शनैः शनैः यह भेद नष्ट हो रहा है। फिर भी अभी यह प्रथा सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई है।

उपनयन-संस्कार, विवाह-संस्कार व गर्भाधान संस्कार, यह तीन संस्कार महाराष्ट्रियों में खूब धूम-धाम से मनाये जाते हैं। खूब रुपया भी खर्च किया जाता है। इन संस्कारों के कर्म वेदोक्त रीति से किये जाते हैं। पुरोहित विद्वान होता है और उसका अध्ययन भी काफी होता है। वेदों की आज्ञानुसार यथाविधि कर्म जैसे इस जाति में होते हैं वैसे कदाचित् ही और किसी जाति में होते होंगे। पर अब महाराष्ट्रीय ब्राह्मण पुरोहितों को अपना धार्मिक दृष्टिकोण विशाल कर देना चाहिये। प्रान्तीयता तथा व्यर्थ जात्याभिमान को तिलाञ्जलि देकर भारतीयता को ही अपना प्रमुख ध्येय बना लेना चाहिये।

उपनयन, विवाह, गर्भाधान आदि संस्कारों में वेदोक्त कर्म के अलावा और भी रूढ़ि-निर्मित कार्य किये जाते हैं और उन कार्यों के करने में पानी जैसा पैसा बहाना पड़ता है। वेदोक्त धार्मिक कार्यों में तो धन अधिक मात्रा में खर्च नहीं होता, इन रूढ़ि निर्मित व्यवहारों में ही धन का खर्च बहुत अधिक होता है। आर्थिक अवस्था का तनिक भी ध्यान न करके वह खर्चा किया जाता है, क्योंकि इन रूढ़ियों को सामाजिक रूप प्राप्त हो गया है। समाज के डर से यह सारी रूढ़ियाँ करना ही पड़ती है। रूढ़ि की शृङ्खलाएँ तोड़ने की शक्ति अभी इन लोगों में उत्पन्न नहीं हो सकी है और चूँकि महाराष्ट्रीय स्त्रियाँ बारात में जा सकती हैं, इसलिये इन रूढ़ियों में से अधिकांश रूढ़ियों की प्रवर्तिकाएँ यह स्त्रियाँ ही हैं। उत्तर-भारत में तो बारात में स्त्रियाँ नहीं जा सकतीं, पर महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों में वह सहर्ष जा सकती हैं। क्षण भर के लिये रूढ़ियों को अलग रख दिया जावे तो स्त्री और पुरुषों का वह आनन्दमय सम्मेलन आँखों के सम्मुख हर्ष की सृष्टि किये बग़ैर नहीं रहेगा। महाराष्ट्रीय स्त्रियाँ परदे से मुक्त होने से पुरुष-समाज के साथ रह कर प्रत्येक कार्य में समान भाग ले सकती हैं।

दहेज की प्रथा भी इन लोगों में जोरों पर है। महाराष्ट्रीय भाषा में दहेज को 'हुंडा' कहते हैं। यह 'हुंडा' दो प्रकार का होता है, एक 'नकद' रुपयों के रूप में, दूसरा वस्तुओं के रूप में—जैसे सोने, चाँदी व पीतल के बर्तन देना, वस्त्राभूषण देना आदि जिसे 'करणी' कहते हैं। जब वधू का पिता वर के घर पर विवाह सम्बन्ध पक्का करने जाता है, उसी समय वर का पिता अपना विचार प्रगट करता है कि वह हुंडा यानी नकद रकम इतनी लेगा व 'करणी' इतने रुपयों तक की होनी चाहिए। कभी-कभी यह भी होता है कि नकद रकम ठहर जाने पर फिर 'करणी' करने की आवश्यकता नहीं। विवाह के प्रथम ही यह सारी करार-दाद हो जाती है।

इस राक्षसी प्रथा का महाराष्ट्रियों में खूब प्रचार है और इस जाति के अत्यन्त निर्धन होने से अब स्थिति बहुत भयानक हो उठी है। अभी समाचार-पत्रों में समाचार पढ़ा था कि निर्धन पिता के हुंडा न दे सकने के कारण झाँसी व सागर की दो महाराष्ट्रीय कन्याओं ने आत्म-हत्या करके अपने पिता का दुख दूर किया। यह समाचार पढ़ कर हृदय पर जोर का आघात होता है। इसका दोष किसे दिया जाय। इस पाप का प्रवर्तक कौन है? नव-युवक! किसी भी जाति का उत्थान उस जाति के नवयुवकों की कर्तव्य-तत्परता पर अवलम्बित है। रूढ़ियों के विनाश के प्रति नवयुवकों का उदासीन रहना उनकी अकर्मण्यता का परिचय देता है। दुख है कि सागर और झाँसी में एक भी ऐसा नर पुंगव सम्मुख नहीं आया कि

जो उस दरिद्र पिता को सांत्वना देकर, 'दहेज' की रक़म न लेकर उसकी पुत्री के साथ विवाह करता। ऐसे समय नवयुवकों का कर्त्तव्य है कि वह अपने पिता के विचारों का विरोध करें और दहेज की रक़म लेने से इन्कार कर दें। परिणाम-स्वरूप अगर उन्हें पिता घर से निकाल दे तब भी उन्हें अपने दृढ़ निश्चय से विचलित नहीं होना चाहिए। नवयुवक ही देश का उद्धार करने में समर्थ होते हैं। देश का भाग्य उनके ही बाहुबल व मस्तिष्क के उच्च विचारों पर निर्भर है। सामाजिक क्रान्ति की सफलता भी उनके ही प्रयत्नों का परिणाम होती है। मैं महाराष्ट्रीय नवयुवकों के साथ-साथ देश के नवयुवकों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित करता हूँ कि वह इन रूढ़ियों की शृङ्खलाएँ तोड़ने के लिए क्रान्ति का बवण्डर खड़ा कर दें और देश को इन सामाजिक बन्धनों से मुक्त करें।

महाराष्ट्रियों में त्योहारों की संख्या भी विपुल है। रोज़ कोई न कोई त्योहार होता ही है। आप किसी मराठा राज्य की छुट्टियों की लिस्ट उठाकर देखिये तब पता चलेगा कि इन लोगों में त्योहारों की किस क़दर धूम है। इन त्योहारों को धार्मिक व सामाजिक स्वरूप प्राप्त हो जाने से उनको मनाना अनिवार्य हो गया है। किसी भी त्योहार को मनाने में धन खर्च होता ही है। इस कारण भी यह समाज दिन ब दिन कङ्गाल हो रहा है। इनको भी मिटाने के लिये नवयुवकों को प्रयत्नशील होना चाहिए।

महाराष्ट्र की स्त्रियाँ

पुरुषों की अपेक्षा महाराष्ट्र की स्त्रियाँ अधिक धर्म-प्रधान हैं। जिस धर्म का वह पालन करती हैं, उसकी परिभाषा करना सरल नहीं है। उसपर एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखी जा सकती है। 'सोला'* पहिन कर देव-पूजा करने में उनका धर्म है, या महीने में १५ दिन उपवास करने में उनका धर्म है या पुराण व कथा सुनने में उनका धर्म है। रास्ते में चलते समय किसी कपड़े पर पैर पड़ जाये तो 'विटाल झाला' कह कर स्नान करने में उनका धर्म है। एक या दो नहीं, ऐसी अनेक बातें हैं। देश की अवस्था का उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं, धर्म की ग़लत भावनाओं का पालन करने में उनका जीवन बरबाद हो रहा है। उनका दृढ़ विश्वास है कि इन धार्मिक बातों को अपनाने से ही हम पुण्य का सञ्चय अधिक करके सीधी स्वर्ग को जा सकेंगी। इस धार्मिक दृढ़ता के कारण उनमें छुआछूत के सम्बन्ध में विचित्र कल्पनाएँ निवास कर रही हैं। औत्तरीय किसी भी जाति की स्त्री को वह नहीं छू सकतीं। न वह उसके हाथ का पानी पी सकेंगी। यदा-कदा किसी औत्तरीय स्त्री से मिलने का अवसर ही आ जाये तो उसे अलग बिठावेंगी। ग़लती से कहीं हाथ लग गया तो उस स्त्री के चले जाने के बाद पहनी हुई साड़ी निकाल कर रख देंगी और उसे धुलवाकर फिर उपयोग में लावेंगी। उत्तर-भारत के किसी भी जाति के स्त्री-पुरुष को 'रांगडा' कह कर पुकारेंगी। उत्तर-भारत की स्त्रियाँ इसमें अपना अपमान समझती हैं और उनकी यह अपमान की भावना अधिकांश में सत्य है। महाराष्ट्र की शिक्षिता बहनों से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे इस ओर ध्यान दें। उत्तर-भारत की स्त्री के भी हृदय है—वह हृदय, जिसमें ईश्वर-प्रदत्त कोमल भावनाएँ निवास करती हैं। इस कटुतर अपमानजनक व्यवहार से अगर उनका स्वाभिमान जागृत हो जाये, उनकी कोमल भावनाएँ उस आघात से निनादित हो उठें, तो आश्चर्य नहीं। ऐसे घृणित व्यवहार को, जो मनुष्यों से घृणा करना सिखाता है, धार्मिक-स्वरूप देना, धर्म की बिडम्बना है, कोरा दम्भ है। इसी व्यवहार से दो सौ वर्ष पर्यन्त महाराष्ट्र, औत्तरीय जनता के साथ न मिल सका; प्रेम सम्पादन न कर सका। विजय के घमण्ड में उन्होंने यह समझा कि उत्तर-भारत की जनता हमारी सेवा के लिये है। एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य के प्रति यह भावनाएँ क्या देश के उत्थान में सहायक हो सकेंगी? यह भावनाएँ तो देश को रसातल को पहुँचा कर ही चैन लेंगी।

आभूषण व वेष-भूषा

एक समय था, जब महाराष्ट्रीय स्त्री नख से शिख तक आभूषणों से लदी हुई होती थी। पर अब वह

* सोला—रेशम का वस्त्र, जो स्नान करने पर पहिना जाता है।

स्थिति नहीं रही। शिक्षा के प्रचार ने तमाम गहनों को कम कर दिया है। आज की महाराष्ट्रीय स्त्री के लिये गहनों की संख्या बहुत कम है। हाथ मे सोने की दो दो चूड़ियाँ, गले में एकदानी, व मङ्गल सूत्र, कान में मोतियों की कुडी। सर्व-साधारण में गहनों का यही चलन है।

महाराष्ट्रीय स्त्रियाँ सोलह हाथ लम्बी सकच्छ साड़ी पहनती हैं। पहले चोली पहनती थीं, अब उसका स्थान कोंपरी और ब्लाऊज ने ले लिया है। किर्लोस्करवाडी से निकलने वाले 'स्त्री' नामक मासिक पत्र में गत तीन चार महीनों से इस विषय पर काफी मार्मिक चर्चा की गई कि महाराष्ट्रीय स्त्री के लिये सकच्छ साड़ी पहिनना अधिक उपयुक्त है या विकच्छ साड़ी पहिनना। महाराष्ट्र के कितने ही समाज-सुधारकों ने इस वाद-विवाद में भाग लिया है। उसका निष्कर्ष यह निकल सकता है कि सकच्छ साड़ी पहिनना, कला की दृष्टि से, स्वास्थ्य की दृष्टि से, सौन्दर्य की दृष्टि से उपयुक्त है, फिर भी किसी समय विकच्छ साड़ी पहनी जाय तो हर्ज नहीं है।

विधवाओं की अवस्था

महाराष्ट्र में भी दयनीय है। महाराष्ट्रीय विधवा देवियों पर एक बार आप दृष्टि दौड़ा दीजिये। आपको अब भी पचास फीसदी मुण्डन की हुई विधवाएँ दीखेंगी। उनको पान खाने का अधिकार नहीं, नये वस्त्र पहनना उनके लिये मना है। माङ्गलिक कार्यों में उनका विचरण करना अमङ्गल समझा जाता है। घर के लोगों का व्यवहार उनके साथ बहुत कड़ा होता है। एक नौकर की स्थिति से भी उसकी अवस्था बदतर होती है। स्थानाभाव के कारण मैं अधिक लिखने में असमर्थ हूँ। इतना अवश्य है कि महाराष्ट्रीय सुशिक्षित स्त्री-समाज का ध्यान इस ओर गया है और उनके अथक परिश्रम का फल है कि विधवा-विवाह की उपयुक्तता को लोगों ने समझ लिया है।

शिक्षा

महाराष्ट्रीय जनता में शिक्षा का ख़ूब प्रचार है। शिक्षा के महत्व को उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया है। पुत्र की तरह पुत्रियों की शिक्षा की ओर भी वह सजग हैं। और उसका परिणाम यह हुआ कि और जातियों की अपेक्षा महाराष्ट्रीय शिक्षिता महिलाओं की सख्या अधिक है। महाराष्ट्र में लेखिकाओं की संख्या भी अधिक है।

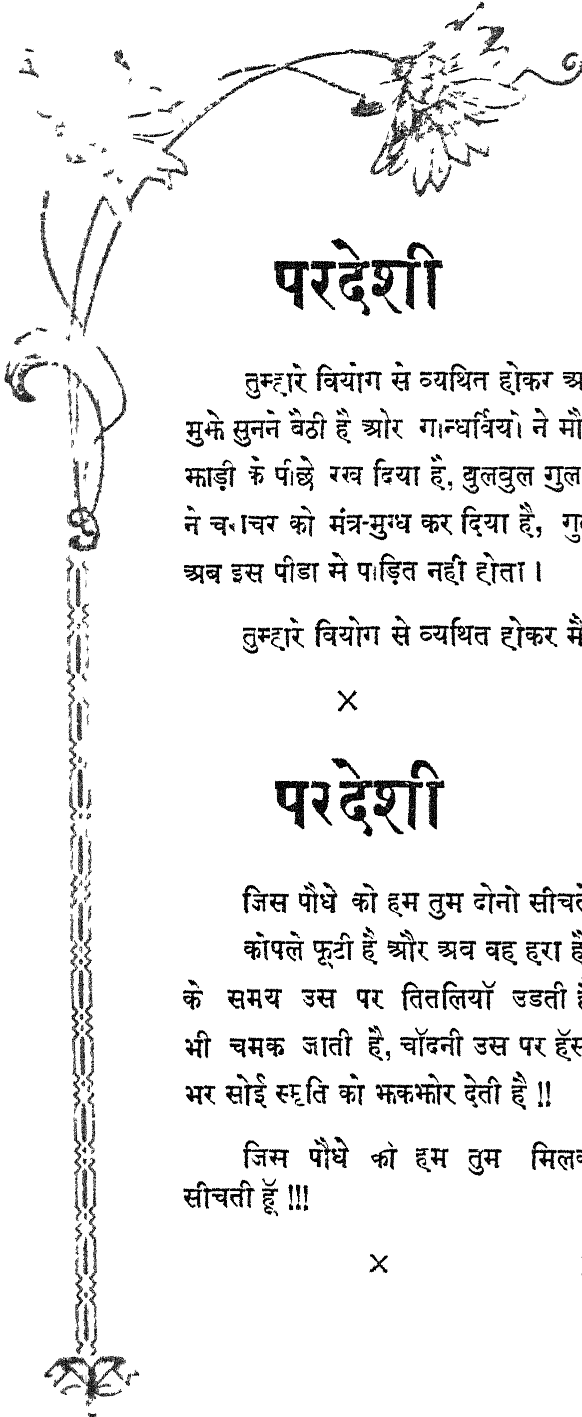
महाराष्ट्रीय स्त्री-पुरुष सम्बन्ध

मेरे एक परम मित्र कहा करते हैं कि—'महाराष्ट्र की स्त्री सच्ची सेविका है।' वास्तव मे उनका कहना अधिकाश मे सत्य है। सेवा-धर्म अगर किसी को सीखना हो तो महाराष्ट्रीय स्त्री से सीखे। पर उनका यह सेवा-धर्म पति में ही केन्द्रित है। महाराष्ट्रीय स्त्री की दिनचर्या का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उसके सारे कार्य एक नौकरानी के हैं। दिन भर वह अथक परिश्रम करके पतिदेवता को प्रसन्न करने में प्रयत्नशील रहती है। प्रातःकाल झाड़ा-बुहारी से लेकर रात के बिछावन बिछाने पर्यन्त सारे कार्य वह अपने हाथ से करेगी। जिसने एक बार उनकी दिनचर्या का अध्ययन किया होगा वह द्रवीभूत हुए बिना न रहेगा। परन्तु इस सेवा-धर्म के अन्तर्गत स्त्रियों की अज्ञानता भी अन्तर्निहित है। जो स्त्रियाँ सुशिक्षित नहीं है, जिनका ज्ञान घर की चहारदिवारी के अन्दर कैद है, वह पति की अनुचित व उचित सारी आज्ञाओं का पालन करती हैं। पति के प्रीत्यर्थ मर जाना ही उनका धर्म है। पति के विरुद्ध एक शब्द भी उच्चारण करना उनकी दृष्टि में पाप है। पति के लिए—फिर चाहे वह शराबी हो, व्यभिचारी हो, अवगुणों का मूर्ति ही क्यों न हो—उसके लिये मर-मिटना ही उनका चरम लक्ष्य है। पुरुष जाति इस आचरण को 'त्याग' नाम देकर उन्हें गौरव देती है। इसी 'त्याग' का पाठ उन्हें रात-दिन पढाया जाता है और उनके सच्चे कर्तव्य पर परदा डाल दिया जाता है। मैं विश्वास के साथ लिख रहा हूँ कि इसी 'त्याग' के जादू से मन्त्र-मुग्ध होकर ही महाराष्ट्रीय स्त्री यह सारे कार्य परिश्रमपूर्वक आनन्द के साथ करती है। इसके विरुद्ध शब्द उच्चारण करना तो उसने जाना ही नहीं। अपने इस निर्जीव जीवन से उसने ऊपर

उठने की जरूरत महसूस नहीं की। देश की वास्तविक अवस्था, धर्म के सच्चे स्वरूप का दर्शन उन्हें कब होगा, यह परमेश्वर ही जाने। पति की सेवा के अतिरिक्त इस जगत में हमारा और कोई कर्तव्य है यह, वे नहीं जानतीं, न उन्हें यह समझने ही दिया जाता है। देश, धर्म, स्वतन्त्रता चाहे रसातल को चले जायें, पर पति की सेवा में अन्तर नहीं पड़ना चाहिये। वरना उन्हें बतलाया गया है कि नरक में कुम्भीपाक का स्थान महराज यम उनके लिये अभी से तैयार करके रखेंगे। तो क्या यह 'त्याग' है ? नहीं, यह निष्ठुर 'पाप' है। सच्चे कर्तव्य से विमुख करके किसी को ग़लत रास्ते पर ले जाना पाप नहीं तो और क्या है ?

आर्थिक अवस्था

किसी भी जाति की आर्थिक अवस्था का वर्णन करते समय उस जाति के व्यवसाय पर ध्यान देना आवश्यक है। सदा से ब्राह्मणों का व्यवसाय भिक्षा-वृत्ति रहा है। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण भी किसी समय कथा-पुराण बाँच कर पेट की ज्वाला शान्त किया करते थे। पर वह समय बदला, महाराष्ट्र में स्वातन्त्र्य युद्ध आरम्भ हुआ और महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों ने भी उसमें तन-मन-धन से हाथ बँटाया। पेशवा भी ब्राह्मण थे। जिस समय मराठा साम्राज्य का सूत्र पेशवा के हाथ में था, उस समय राज्य-व्यवहार में ब्राह्मणों की ही संख्या अधिक बढ़ी। उत्तर-भारत में भी ब्राह्मण पेशवा के साथ अधिक संख्या में आये। पेशवा ने उन्हें नौकरियाँ दीं तथा वह यहीं रहने लगे और उनका पेशा नौकरी बन गया। मराठी शासन-सत्ता नष्ट होने पर भी इनको नौकरी की ही धुन रही। इसका परिणाम यह हुआ कि आज के अधिकांश महाराष्ट्रीय ब्राह्मण सरकारी नौकरी में हैं। मराठा राज्यों में तो वह अस्सी फ़ीसदी की संख्या में हैं। बड़ी-बड़ी तनख्वाह वाले अफ़सरों की बात जाने दीजिये, वह इने-गिने ही होते हैं। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण क्लर्कों की संख्या ही अधिक है। क्लर्कों की आर्थिक अवस्था का विशद वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। समाज के भय से उनको सारे सामाजिक कार्य करने पड़ते हैं। त्यौहार मनाने पड़ते हैं। विवाह आदि कार्यों में भी पैसा खर्च करना ही पड़ता है। २०-२५ रुपये माहवार पाने वाला मनुष्य यह सारे कार्य सफलतापूर्वक कैसे कर सकता है। पर वह करता है—उसे करना पड़ता है। इस कारण महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों की आर्थिक अवस्था अत्यन्त दयनीय है।



परदेशी

तुम्हारे वियोग से व्यथित होकर अब मै गाने लगी हूँ ! प्रकृति निस्तब्ध होकर मुझे सुनने बैठी है और गान्धर्वियो ने मौन साधी है, वन-बाला ने अपना तम्बूरा झाड़ी के पीछे रख दिया है, बुलबुल गुलाब को भूल गई है । इस स्वतन्त्र रागिनी ने चराचर को मंत्र-मुग्ध कर दिया है, गुलामी के बन्धन खुल पडे है और कोई अब इस पीडा मे पीड़ित नहीं होता ।

तुम्हारे वियोग से व्यथित होकर मै गाने लगी हूँ !!!

× × ×

परदेशी

जिस पौधे को हम तुम दोनो सीचते थे, अब मै अकेली उसे सीचती हूँ !

कोपले फूटी है और अब वह हरा है, परन्तु फूल अब तक नहीं आये ! सध्या के समय उस पर तितलियॉ उडती है और कभी-कभी एकाध जुगुनू बाला भी चमक जाती है, चॉदनी उस पर हॅसती है, और उसकी श्वासे मुझमे जीवन भर सोई स्मृति को झकझोर देती है !!

जिस पौधे को हम तुम मिलकर सीचते थे, उसे अब मै अकेली सीचती हूँ !!!

× × ×

(अप्रकाशित 'परदेशी' से)

—दिनेशनन्दिनी

मध्यभारत का सामाजिक जीवन

[श्री० गणेशदत्त "इन्द्र" आगर]

मध्य-भारत को भारत का वक्षस्थल कहा जा सकता है। इसका क्षेत्रफल ७०३६७ वर्गमील है; और जन संख्या कोई ६५ लाख के क़रीब है। यह सब देशी रियासतों से घिरा हुआ है। दो-चार अङ्गरेज़ी छावनियों के अतिरिक्त यहाँ कोई अङ्गरेज़ी अमलदरामद नहीं है। जिन स्थानों में अङ्गरेज़ी छावनियाँ हैं, वे भी रियासतों से किन्हीं शर्तों पर किसी अवधि तक के लिए ही नियुक्त हैं। मध्य-भारत का महू नामक स्थान अङ्गरेज़ी सेना का मुख्य केन्द्र है। मध्य-भारत में २९ रियासतें हैं, जिनमें ग्वालियर, इन्दौर, रीवाँ और भोपाल मुख्य बड़ी-बड़ी रियासतें हैं। सब रियासतों को मिला कर वार्षिक आय कोई ६ करोड़ रुपए है। यहाँ की पृथ्वी बड़ी उपजाऊ होने के कारण यह भाग भारत में बड़े महत्व का है। राजनैतिक दृष्टि से भी यह भाग भौगोलिक स्थिति के कारण बड़े ही काम का रहा है। यही कारण है कि इस प्रान्त पर देशी रियासतें ज्यों की त्यों सुरक्षित है। विदेशी आक्रमकों की दृष्टि यहाँ की काली मिट्टी पर सदा गड़ी रही है। और यदि सन् १८५७ का विप्लव न हुआ होता तो मध्य-भारत का मानचित्र लाल रङ्ग से रङ्गा हुआ दिखाई देता। मध्य-भारत की चतुस्सीमा, उसकी काली मिट्टी, पर्वत और नदियाँ, झीलें और दुर्ग इत्यादि अनेक बातें ऐसी हैं, जिनका इतिहास में बड़े महत्त्व का स्थान है। विन्ध्या जैसा प्रसिद्ध पर्वत मध्य-भारत के दक्षिण पार्श्व का प्रहरी है। सतपुड़ा पश्चिम के कोने में और कैमूर की पहाड़ियाँ पूर्व में हैं। इस प्रदेश में नर्मदा, क्षिप्रा, चम्बल, सोन, गम्भीरी, चामला, पार्वती, नेवी, अहूर, काली सिन्ध, बागेड़ी, माही, आदि प्रसिद्ध और बड़ी नदियाँ रात-दिन कलकल नाद करती हुई बहा करती हैं। प्राचीन काल में, उदयगिर, माण्डव, कञ्चनपुर प्रभृति अनेक राजधानियाँ इस भाग पर थीं। आज उनका नामो-निशान नहीं है और उनकी जगह जङ्गल हो गए हैं। विक्रम की उज्जयिनी और भोजराज की धारा नगरी मध्य-भारत में ही है। उज्जैन, इन्दौर, भोपाल, रीवाँ रतलाम, ग्वालियर, पन्ना, चँदेरी, आदि बड़े-बड़े प्रसिद्ध नगर मध्य-भारत में हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य इस प्रान्त के कई स्थानों में इतना सुन्दर और हृदयग्राही है कि उसका वर्णन करना कठिन है। विन्ध्याचल के आस-पास तो निसर्ग देवी सुन्दर शृङ्गार किये थिरकती दिखाई पड़ती है।

मध्य-भारत में सब कुछ है। हिमालय से भी पहले का वृद्ध विन्ध्यगिरि, गङ्गातुल्य नदी नर्मदा, शस्य श्यामला वसुन्धरा, माण्डव जैसा अभेद्य दुर्ग, बाघ कन्दराओं की शिल्प कला, जल-प्रपात, उज्जयिनी जैसी पुराण-प्रसिद्ध नगरी, इत्यादि सब कुछ है, परन्तु इन विशेषताओं के साथ ही साथ यदि कहीं यहाँ सामाजिक जागृति भी होती तो मध्य-भारत सोना और सुगन्ध बन जाता। सारा मध्य-भारत देशी रियासतों से समाकुल होने के कारण राजनैतिक जीवन-जाग्रति का तो यहाँ लेशमात्र नहीं है। हाँ, इन्दौर में कॉङ्गरेस कमेटी स्थापित है, और वह मन्थर गति से स्टेट पॉलिसी को ध्यान में रखकर अपना सीमित कार्य भी करती है, परन्तु वहाँ भी राज्य की ओर से "सभाबन्दी क़ानून" द्वारा सार्वजनिक जीवन को कुचल डालने का कार्य चलता रहता है। देशी रियासतों में सफ़ेद टोपी तूफ़ान की निशानी, खद्दर-पोश राज्य का शत्रु,

कॉङ्गरेस का हामी राजद्रोही, स्वतन्त्र विचारों का व्यक्ति क्रान्तिकारी, समाज सुधारक अवारा-गर्द, अन्याय का विरोधी बदमाश, हिन्दू-सभा झगड़ों की जड़, आर्य-समाज राजद्रोहियों का गुट, और सभा-सोसाइटियाँ अमनो अमान को नष्ट करने वाली समझी जाती है। देशी राज्यों के शिक्षा-विभाग—वे शिक्षा-विभाग, जहाँ से नागरिक बन कर निकलने चाहिए, अत्यन्त कमज़ोर है। बच्चों के सफेद टोपी पहन कर स्कूलों में आने पर ऐतराज़ किया जाता है। पुस्तकें रखने के झोलों पर भारत का चित्र और तिरङ्गे झण्डे का चित्र देख कर स्कूल के अध्यापक और इन्स्पेक्टर आदि के क्रोध का पारा आसमान से टकराने लगता है। 'वन्देमातरम्' वाक्य का उच्चारण तक पाप माना जाता है। रियासतें अपनी आय का उतना भी अंश अपने राज्य की जनता को शिक्षित बनाने में व्यय नहीं करतीं जितना कि वे निजी ख़र्च में व्यय करती हैं। मध्यभारत में शिक्षा का अत्यन्त अभाव है। देहातों की बात तो दूर, क़स्बों और शहरों तक में जन-संख्या के अनुपात से यथेष्ट शिक्षा संस्थाएँ, पाठशालाएँ नहीं हैं। इन्दौर और ग्वालियर का शिक्षा विभाग अन्य राज्यों की अपेक्षा उन्नत है। रीवाँ भी इस ओर आगे क़दम बढ़ा रहा है, बाक़ी राज्यों की दशा दयनीय है।

साक्षर वयस्क मनुष्यों के ज्ञानार्जन के साधनों का मध्यभारत में नितान्त अभाव है। पुस्तकालय, वाचनालय, बड़े-बड़े शहरों में और क़स्बों में थोड़े-बहुत दिखाई पड़ते हैं। उनमें यथेष्ट पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें नहीं होतीं। मध्य-भारत में एक भी ऐसा विशाल पुस्तक-संग्रहालय नहीं है, जहाँ आवश्यकतानुसार साहित्य मिल सके। देशी रियासतें अख़बारों के सम्बन्ध में अत्यन्त अनुदार नीति को काम में लाती हैं। जिस पत्र-पत्रिका ने राजा और राज्य-प्रबन्ध के सम्बन्ध में दोष दिखाए कि उसे राज्य में आने से रोक दिया! होना तो यह चाहिए कि यदि समाचार पत्र सत्य बात की ओर सङ्केत करते हैं, तो उन दोषों का परिमार्जन करना चाहिए, अन्यथा उसका प्रतिवाद करना चाहिए, या उस पर मिथ्या आक्षेप करने के अपराध में मुक़द्दमा दायर करना चाहिए। पत्र-पत्रिकाओं को राज्य में आने से रोक कर प्रजा के सार्वजनिक जीवन पर प्रहार नहीं करना चाहिए। सरकारी कर्मचारियों की सार्वजनिक जागृति को नष्ट करने की एक निन्दनीय मनोवृत्ति यह भी देशी रियासतों में पाई जाती है कि वे अनुचित कार्यों की ख़बरें और आलोचना पत्र-पत्रिकाओं में छपी देखकर उसके सम्वाद-दाता को या लेखक को ढूँढने का जी-तोड़ प्रयत्न करते हैं और चाहे जिस सार्वजनिक कार्यकर्ता पर अपना सन्देह रखकर उसे येन-केन कष्ट देकर सार्वजनिक उन्नति में बाधा डालते रहते हैं।

मध्य-भारत में सभी जाति और धर्म के लोग रहते हैं। हिन्दू-मुसलमानों की संख्या अनुपात से वही है जो सारे भारतवर्ष की है। ईसाई मिशनरी भी इधर अपना काफ़ी प्रचार करने में लगे हुए हैं। इन दिनों मिशनरियों का प्रचार-कार्य विशेष रूप से हो रहा है। प्रचार-पद्धति जो इधर देहातों में काम में लाई जाती है, वह नितान्त छल कपटपूर्ण होती है। आर्यसमाज का मध्य-भारत में कोई विशेष प्रचार नहीं है। आर्य-समाज के द्वारा समाज-सुधार का कोई काम इधर व्यवस्थित रूप से नहीं हो रहा है। विधवा-आश्रम और विधवा-भवन बदनामी और बदइन्तज़ामी के शिकार हो गए हैं। सर गङ्गाराम विधवा ट्रस्ट की शाखाएँ और उप-शाखाएँ बड़े-बड़े शहरों और क़स्बों में स्थापित हैं, परन्तु कार्यकर्त्तागण विशेष कुछ करते दिखाई नहीं पड़ते! अनाथालय तो एक-दो के सिवाय हैं ही नहीं, जो हैं वे भी दीन-हीन अवस्था में हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि मध्य-भारत में अनाथ बच्चे ही नहीं! हैं, सैकड़ों हैं, हजारों हैं, परन्तु समाज उनकी ओर से बेख़बर है, उसे उनकी तनिक भी चिन्ता नहीं। मध्य-भारत में 'शिशु संरक्षण गृह' का पूर्ण अभाव है। सैकड़ों जारज शिशु इधर-उधर पड़े मिलते हैं, जो मरे हुए होते हैं या जिन्हें कुत्ते-कौवे खा जाते हैं। समाज के लिए कितनी लज्जा की बात है कि ऐसे बच्चों की रक्षा के लिए ७० हज़ार वर्गमील के विस्तृत प्रदेश में एक भी "शिशु-रक्षा गृह" नहीं है!

यद्यपि स्त्री-शिक्षा का विगत दस वर्षों की अपेक्षा अब प्रचार अधिक है, तथापि बड़ौदा, मैसूर प्रभृति

देशी राज्यों की अपेक्षा यहाँ अत्यन्त न्यून है। अभी आरम्भिक शिक्षा की ओर स्त्री-शिक्षा ने क़दम बढ़ाया है। इन्दौर और ग्वालियर राज्यों में स्त्री-शिक्षा उन्नतावस्था में है। इनके अतिरिक्त रीवाँ, भोपाल आदि रियासतों में भी इस ओर वहाँ के शिक्षा विभाग दिलचस्पी ले रहे हैं। परन्तु यह स्त्री-शिक्षा क़स्बों और शहरों तक ही सीमित है। देहातों में जब कि पुरुष जाति की शिक्षा का ही अभाव है तो वहाँ स्त्री-शिक्षा कैसे हो सकती है? संक्षेप में इतना ही कहना काफ़ी होगा कि इधर स्त्री-शिक्षा का अभी-अभी श्रीगणेश हुआ है और इस सम्बन्ध में पहले जो दक़ियानूसी विचार थे, वे अब दिखाई या सुनाई नहीं पड़ते।

मध्यभारत में पर्दा-प्रथा अधिक नहीं है। जो भी पर्दा-प्रथा है वह देशीय नहीं बल्कि जातीय है। शहरी मुसलमानों, कायस्थों और बोहरा जाति के मुसलमानों में पर्दे के रवाज का कुछ कड़ाई से पालन किया जाता है। मारवाड़ियों में यद्यपि पर्दा है, तथापि उसका होना न होना एक सा है। मध्यभारत की मुसलमानी रियासतों में अपने शासकों की रीति-नीति के अनुकरणार्थ पर्दे का रिवाज कुछ अधिक है, जैसे भोपाल, जावरा, बावनी आदि। इन रियासतों में भी मुसलमानों में ही पर्दा अधिक है, अन्य जातियों में नहीं। मराठों और गुजरातियों में पर्दे का नामोनिशान नहीं है। परन्तु ऐसे मराठे और गुजराती जो पर्दापोषक समाज में मिल-जुल से गए हैं, पर्दा करने लगे हैं। उनके घरों की स्त्रियाँ भी घूँघट निकाले बाज़ार वग़ैरह में निकलती हैं। परन्तु ऐसे लोग अल्प संख्या में हैं।

इधर के देहातों में पर्दा नहीं है। स्त्रियाँ पुरुषों के साथ खेतों में, जङ्गलों में काम करती हैं। वे इतना ही पर्दा करती हैं कि आत्मीय पुरुषों को देख कर या जान-पहचान वाले मर्द को देखकर घूँघट का पल्ला मुँह के आगे कर लेती हैं और अपना काम यथापूर्व करती रहती हैं।

समाज के भयानक कोढ़ "बाल-विवाह" का मध्यभारत में ख़ूब जोरशोर है। समाज-सुधारकों ने और सभा-सोसाइटियों ने इसकी रोक के अनेक प्रयत्न किए, परन्तु सफलता बहुत कम मिली। बालविवाह करने का लोगों को कुछ शौक सा है। अपने छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चों को ब्याहने में वे तनिक भी विचार नहीं करते। उन्हें समझाइए तो वे भाग्य और ईश्वर का आश्रय लेकर समझाने वालों की बातों को व्यर्थ सिद्ध कर देते हैं। परिणामतः मध्यभारत में बाल-विवाह ख़ूब प्रचलित है और पढ़े-लिखे और समझदार लोगों के यहाँ भी बाल-विवाह हो जाते हैं। इस समाजोच्छेदक प्रथा के विरुद्ध कई रियासतों ने जैसे—ग्वालियर, इन्दौर आदि ने—राज्य में क़ानून भी बनाए, परन्तु लोग उनकी अवहेला करके "बाल-विवाह" का शौक पूरा करते हैं। जो उमर लड़के-लड़कियों के विवाह की क़ानून में नियुक्त की गई हैं, उनसे छोटी उम्र के बच्चों की उतनी उम्र साबित करने में तन-मन-धन व्यय करके भी उनका विवाह कर ही डालते हैं। देहातों में तो राज्यों के इन क़ानूनों की क़तई पाबन्दी नहीं होती। वे जातियाँ, जिनमें नातरे, घरवासे (पुनर्विवाह) होते हैं, बाल-विवाह से जरा भी नहीं डरते। उन्हें समझाइए तो कह देते हैं कि हम लोगों में तो नातरा होता है। वे इस बात पर ज़रा भी नहीं विचारते कि बाल-विवाह मृत्युकारक या स्वास्थ्य-विघातक ही नहीं, बल्कि भावी पीढ़ियों को भी निर्बल बनाकर विनाश के मुख में ढकेलने वाला है।

वृद्ध-विवाह भी इधर ख़ूब होते हैं। परन्तु वे ही बूढ़े लड़कियाँ पाते हैं, जो लड़की के पिता-माता को कुछ देते हैं। इधर लड़कियों का पैसा लेने की प्रथा प्रायः सभी जातियों में है। सैकड़ों से लगाकर हज़ारों तक में अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार सौदा पटाते हैं। इस प्रकार के विवाहों का जो परिणाम होता है, वह होता ही है। रुपए-पैसे के प्रलोभन में पड़कर अनमेल विवाह ख़ूब होते रहते हैं। इस प्रकार के विवाहों के लिए अभी तक किसी राज्य ने कोई क़ानूनी प्रतिबन्ध नहीं लगाया है। इस प्रकार की बातों की रोक के लिए सुधारक राज्यों को शीघ्र ही ऐसे क़ानूनों की रचना करनी चाहिए, जिनसे यह कन्या-विक्रय बन्द हो।

विधवाओं का अनुपात मध्यभारत में वही है, जो समस्त भारत का है। मध्यभारत में लगभग १२-१३

हज़ार विधवाएँ है। इनमें छोटी-छोटी बच्चियाँ और तरुण स्त्रियाँ भी है, जो हिन्दू समाज के नाम पर अपनी आँखों से गर्म आँसू बहाती है। इन दीन अबलाओं के उद्धार का समाज कोई उपाय नही सोच रहा है। जब कोई उपाय सामने लाए जाते है तो समाज के पोंगापन्थी लोग धर्म की ओट में इन विधवाओं के कण्ठ कुण्ठित छुरी से रेतने का प्रयत्न करते हैं।

आज समाज में अछूतों की समस्या एक गहन विषय बना हुआ है। इस समस्या की गुत्थी ब्रिटिश भारत में बहुत कुछ सुलझ चुकी है। परन्तु मध्य भारत में देशी राज्यों के कारण यह अभी ज्यों की त्यों बनी हुई है। ग्वालियर और इन्दौर इस दिशा में अपने उदार विचार रखते हैं। ग्वालियर के रीजेन्सी शासन के समय शिक्षा-विभाग में एक ऐसा नियम बन चुका है कि सरकारी पाठशालाओं में सभी जाति के बालक बिना किसी भेद-भाव के, ख्वाह वे हरिजन हों, शिक्षा पा सकेंगे। साथ ही अनेक हरिजन स्कूल राज्य की ओर से चल रहे हैं। उज्जैन में, अखिल भारतीय हरिजन-सङ्घ की एक शाखा-सभा भी है, जो इस सुधार में काफी प्रयत्नशील है।

मध्य-भारत की एक खास कुरीति का जिक्र छोड़ जाना बड़ी भारी भूल होगी। वह है "नुकता"। इसे औसर या मौसर भी कहते हैं। यह कुरीति यहाँ प्रत्येक जाति में खूब प्रचलित है। यहाँ तक कि मुसलमान लोग भी इसके शिकार हो रहे है। यह किसी की मृत्यु के बाद जाति भोज के रूप में किया जाता है। सैकड़ों-हज़ारों रुपये बर्बाद हो जाते है। अमीर लुट जाते हैं और गरीब मर जाते हैं। घर में भले ही खाने के लिये दाने न हों, किन्तु फिर भी कर्जा लेकर, मकान बेच कर, जेवर बेच कर यह काम किया ही जाता है। हैसियत से भी ज़्यादा मिठाइयाँ वगैरह बना कर लोगों को खिलाया-पिलाया जाता है। कई लोग लोटे, थाली, घड़े, परात वगैरह बर्तन भी बाँटते है। नुकते में दूर-दूर के लोग बुलाये जाते है और वे आते हैं। बूढ़े मनुष्यों के मरने पर ही नुकता किया जाता हो, सो नही, यहाँ तो जवान मौतों पर भी लोग लड्डू उड़ाने का आयोजन कर ही लेते है। यद्यपि प्रत्येक जातीय महासभा द्वारा नुक़ता-निषेधक प्रस्ताव पास हो चुके है और हो रहे हैं, परन्तु देखा यह जाता है कि जातीय सभाओं में प्रमुख भाग लेने वाले भी नुकता नही बन्द कर सके। इन्दौर रियासत ने नुक़ता-कानून बना कर इसकी रोक की है, किन्तु वह कानून आशाजनक सफल नहीं हुआ। एक तो कानून की कुछ कमज़ोरी और दूसरे लोगों को नुक़ता-प्रेम भी ज़्यादा है। मृत व्यक्ति के नाम पर नुकता नाम न रख कर सत्य-नारायण की कथा, गङ्गाजली खोलना, वेदी जी की सवारी निकालना आदि की आड़ बना कर निर्भयता से नुकते का कार्यक्रम पूर्ण होता है। कानून में एक बड़ी भारी निर्बलता यह भी है कि सरकारी फीस शायद एक सौ रुपया दाखिल करके नुकते की इजाज़त सरकार से प्राप्त की जा सकती है।

यद्यपि हिन्दू रियासतों में मुसलमानों के हितों का और उनके सुधार का उसी उदारता से ध्यान रखा जाता है, जिससे कि हिन्दुओं का, किन्तु मुसलमानी राज्यों में हिन्दुओं की उन्नति में रोड़े अटकाए जाते हैं। उदाहरण के लिए भोपाल राज्य हमारे सामने है, वहाँ की हिन्दू-जनता राज्य के अड़ङ्गों और अनुचित एवं पक्षपातपूर्ण व्यवहारों से अपनी सामाजिक, धार्मिक अथवा नैतिक किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकती। राज्य की ओर से जाति और धर्म का पक्षपात छोड़कर प्रजा को उन्नति की ओर अग्रसर होने की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये। मध्य-भारत एजेन्सी की समस्त छोटी-बड़ी रियासतों को सङ्गठित होकर अपनी प्रजा को सामाजिक सुधार का अव-सर देना चाहिए और स्वयं कानून बना कर समाज को सुपथ पर लगाना चाहिए। यदि यह सङ्गठन-स्वप्न असम्भव है तो अन्य राज्यों को अपने प्रगतिशील बड़े राज्यों का अनुकरण कर अपनी प्रजा को लाभ पहुँचाना चाहिए।



विसर्जन



[श्री० महेश्वरीप्रसाद]

इस मृग-जल में बुझ न सकेगी प्यास सतत जीवन की,
मिट-मिट कर फिर बन जावेगी अमिट चाह यह मन की;
विफल-प्रतीक्षा-रज बटोर कर मारुत उड़ा करेगा;
पथिक ! रहेगी याद किसे कल उस बिखरे कन-कन की !

भग्न निमिष में चित्र रहेगा प्रिय सवाक एकाकी,
दिवस-ढेर में छिप जायेंगी मधु-स्मृतियाँ भी बाकी;
पावस मात्र सतत आयेगा कलश अश्रु से भर कर;
धूल-क़ब्र में पड़े हुए प्यासों का बन कर साकी !

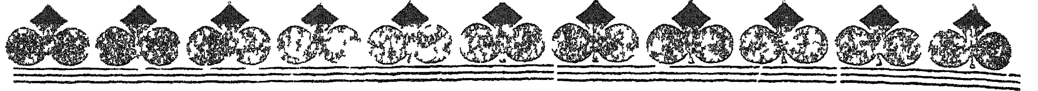
  

बीज अङ्कुरित शत स्मृतियाँ ले झाँकेंगी हरियाली,
चाह-पल्लवों से झूमेंगी विस्मृत डाली-डाली;
अर्क-जवासे के अन्तर में तदपि जलेगी ज्वाला !
अमिट प्यास को तृप्त न कर पायेगी वारिद-प्याली !!

तुहिन-कणों में किन्तु रहेगी अङ्कित प्रेम-कहानी,
मुखर रहेगी प्रात-पद्म में मूक प्रेम की वाणी;
प्रथम रश्मि में भासित होगी पावन उर की ज्वाला,
नक्षत्रों में रह जायेगी उसकी अमर निशानी !





बुन्देलखण्ड की स्त्रियाँ और उनमें प्रचलित प्रथाएँ

[सौ० निर्मला कं० पण्ड्या]

मध्यप्रदेश के सुदूर उत्तरीय जिले, नर्मदा के उन्नत ओर, महाकोशल के मस्तक के बिन्दु रूप होकर पन्ना रियासत और मध्य-भारत की विभिन्न रियासतों के साथ बुन्देलखण्ड का निर्माण करते हैं। रीवाँ के इस कोण से—झाँसी, ओरछा और छतरपुर का विस्तृत प्रदेश—छत्रसाल की रङ्गभूमि के रूप में बुन्देल-वीरों की गाथाओं का केन्द्र-स्थल रहा है। सिङ्गौरगढ़ का किला—गढ़ा मण्डला और जबलपुर के निकटवर्ती मदन-महल के ध्वंसावशेष आज भी अकबर की समकालीन, बुन्देल वीर-रमणी रानी दुर्गावती की वीरता और विस्तृत भूतकाल के आधिपत्य की स्मृति दिलाते हैं। रानी ने शहंशाह अकबर के प्रतिनिधि आसफखाँ के साथ खुले मैदान में जो लोहा लिया था और अपने स्त्रीत्व की रक्षा के लिये, प्राण-प्यारे राज्य के लिये जो रक्त के छींटे अपनी मानवी देह से बरसाये थे—वे भारतीयता के गौरव स्तम्भ के रूप में आज भी हमारे वर्तमान बुन्देलखण्ड के जङ्गलों में दृष्टिगोचर हो सकते हैं। इसके पश्चात् तीन शताब्दी बाद की महाराष्ट्र-कुल-सन्ध्या के रूप में इसी भूमि पर झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई का गौरवयुक्त मस्तक रणचण्डी के रूप मे एक बार फिर 'सर ह्यू रोज़' देख सका था। इसी वीराङ्गणा-प्रसविनी भूमि की स्त्रियों का उल्लेख ही हमारा आज का विषय है।

वर्तमान बुन्देलखण्ड

प्रकृति के भाण्डार से परिपूर्ण, नदी के भैरव-निनाद, पर्वत-मालाओं के गम्भीर गर्जन और जङ्गल के पेड़ों का मूक सङ्गीत आज भी हमारी बुन्देलखण्ड की सम्पत्ति है। परन्तु आज वे अतीत के दिन बीत गये है। आज इस जङ्गली और बर्बर भूमि मे हमें अतीत की रमणियों की उपस्थिति का आभास भी नहा मिलता। आज वहाँ दासता, पुरुषों और पूँजीपतियों के पशुवत आचरण और समाज के बिखरे कलङ्क—कुरीतियों, कुप्रथाओं और अन्ध-रूढियों के रूप मे दीख पड़ते है। म्लेच्छ-समुदाय के प्राचीन भय-रूप घूँघट, अन्धविश्वास और बलिदान के काले बादल आज उस सुन्दर प्रान्त को घेरे हुये हैं। पुरुषों की व्यभिचार-मयी चेष्टाएँ, पूँजीपतियों की अटूट शक्तियाँ एव जङ्गली वातावरण हमारी गौंड़ीय ग्रामीण बहिनों को उठने का अवसर ही नहीं देतीं। उनमें अशिक्षा, दासता और असभ्यता या बर्बरता की जञ्जीरें पड़ी हुई हैं, जो उन्हे वर्तमान जागृति से दूर—बहुत दूर एक ऐसे गहरे गह्वर में डाले है जहाँ से उठकर प्रकाश में आना कठिन ही नहीं, असम्भव है। सामयिक सुधार के प्रयोग वहाँ तक अपनी समधुर भारती पहुँचा ही नहीं सकते। इधर अमरकण्टक की—प्राकृतिक वैभव से घिरी हुई पर्वत माला में धर्मपिता एल्विन (Father Elvin) के सदुपदेश—प्रेम, सेवा एवं सङ्गठन के रूप में गौंड़-जाति में कुछ प्रभाव उत्पन्न जरूर करते हैं। पिता का स्नेह और उनकी भारतीय सस्कृति से श्रद्धा, उनके अपने त्यागमय जीवन में एक अनुपम अनुभूति की रचना कर आसपास के वातावरण में एक निर्मल संसार की सृष्टि करते हैं, परन्तु यह सब तो अभी प्रारम्भ-स्वरूप ही—प्रयोग मात्र ही मालूम पड़ता है।

हाँ, तो हमारी बुन्देल-नारियाँ अपनी साम्प्रतिक अवस्था से ही सन्तुष्ट हैं। उन्हे पाश्चात्य भावनाओं से प्रेरित

नवीन जागृति का ज्ञान-दान नहीं मिला, उन्हें इसकी खबर ही नहीं है। उनमें अभी भी पूर्व-पुरातन असभ्यता, जङ्गलीपन की भरमार है। वे अभी भी सृष्टि-आरम्भ में, वैज्ञानिक पाषाण-युग में जीवन व्यतीत करती हैं। उनका धन्धा जङ्गली ही है; खेती और मज़दूरी का पेशा ही उनका अवलम्ब हो गया है। वे अभी तक पुराने व्यञ्जनों का उपयोग करती हैं। मिट्टी और काठ के बर्तन 'कठौता' आदि के रूप में आज भी कहीं-कहीं देखने को मिल सकते हैं। पत्थर के बर्तन भी आज दिन उनके जीवन की कुछ सामग्री विशेष कहे जा सकते हैं। 'चकमक' का उपयोग आज भी हमें देखने को मिल सकता है। सूखी रोटी और नमक ही उनका आहार देखा गया है। घास का छप्पर लकड़ियों के सहारे माटी के लोंदों की सहायता से उनके घर का निर्माण करता है। जङ्गली पुष्प, फल और डण्ठल उनके आभूषणों में गिने जा सकते हैं। हाँ, मिल की दो धोतियाँ विशेष ही, नमक, तेल और कभी-कभी गुड़, नारियल के साथ उनके साप्ताहिक बाज़ार का सौदा कहलाती हैं।

सङ्गठन

परन्तु इतनी निम्न स्थिति होते भी उनमें सङ्गठन हद दर्जे का है। गाँव में प्रत्येक परिवार एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं और उनका लेन-देन जाति-विशेष के उद्यमों द्वारा ही होता है। लोधी परिवार ऐसे नियमों से सुदृढ़ है, जो उनमें विभिन्नता नहीं आने देता। यही हाल धोबी, चमार, राजगोंड़ आदि जातियों का भी है। अपने निजी धन्धे पर उनका अटल विश्वास और प्रेम रहता है। जब उनके किसी सुहृद से कोई अपराध बन पड़ता है तो वह जाति-बहिष्कृत कर दिया जाता है और कभी-कभी तो अन्य जातियों तक से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। ऐसे समय उसे बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता है। अपराधी का न्याय जाति-पञ्चों और गाँव के प्रधान मुखियाओं द्वारा होता है। कहना नहीं होगा कि अपराध ज्यादातर व्यभि-चार श्रेणी का होता है। और न्याय का मूलमन्त्र भोज देना अथवा गाँव के मन्दिर अथवा माता के नाम पर चन्दा देना ही है। भोज कई प्रकार का होता है और उसका निश्चय पञ्चों पर निर्भर रहता है। 'रोटी देना' ऐसे भोजों का नाम है। कभी-कभी ऐसे भोजों के लिये अपराधी के सिर पर पुश्त दर पुश्त के लिये कर्ज़ का भारी बोझ हो जाता है। गाँव के कमीनों और नाई, धोबी, बसोर, मेहतर तथा अन्य निम्न जाति के धन्धों की श्रेणियों को भी इस भोज के साथ काफ़ी ख़ुश रखना पड़ता है। भिक्षुकों और विशेषकर 'साईं' या मुसलमान-फ़क़ीरों को भी ऐसे अवसरों पर काफ़ी रक़म बाँधी जाती है। फ़क़ीरों की रक़म शायद मुसलमानी राज्य की प्रतिनिधि रीति मालूम पड़ती है। वर्ष के उत्सवों पर ऐसे लोगों को भोज, सीधा और 'कलेवा' देना भी यहाँ की प्रचलित प्रथा है।

धोबी लोग तो यहाँ तक सङ्गठित हैं कि वे अपनी जाति के बल पर अपने मालिकों पर कभी-कभी हड़ताल तक कर देते हैं और इसलिये बेचारे मालिकों को अपनी उदारता स्वरूप इनकी माँगें सदा पूरी करने में ही अपना अवलम्ब क़ायम रखना पड़ता है। कुम्हारों, गड़रियों और कारियों की अपनी निजी पृथक् पृथक् रीतियाँ और सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। नाई और बसोरों का एक अलग 'सूतिका-गृह' का सम्बन्ध है, जो कभी-कभी निराले ही प्रश्न उठाता रहता है। काछी और कहारों की श्रेणियाँ भी अपना पृथकत्व रखे है, परन्तु सबका अन्तिम सम्बन्ध हमारे विश्व-बन्धुत्व की याद दिलाता है। घूँघट-प्रथा सर्वतोमुखी है। गाँव के बड़े लोगों से पर्दा रखना स्वाभा-विकता है, परन्तु चूँकि इन्हें सब काम आप ही अपने करों से करना पड़ता है, इसलिये आवागमन बन्द नहीं होता। सबेरे पानी के लिये जाती युवतियाँ, सिर पर और बगल में घड़े सम्भाले, लम्बा घूँघट डाले जब निकलती हैं, तब बड़ा ही रोचक दृश्य उपस्थित होता है। कभी-कभी निर्जनता में उनका भला मुखड़ा पल भर के लिये ही खुल पाता है कि पुनः किसी की उपस्थिति उस पर्दे को जहाँ का तहाँ शीघ्रता में लटका देती है। कुएँ का जमघट इन ललनाओं की बातचीत का, उनके विचारों, टीकाओं और गाँव की घटनाओं के आक्षेपों और समालोचनाओं का केन्द्र-स्थल है। इन कोकिल-कण्ठों में कभी-कभी रस के साथ कर्कश गाली गलौज और

वाग्युद्ध के रूप में झगड़े की नौबत भी आ पहुँचती है। और आलोचनाएँ 'बजी का साँप' बनकर विकट रूप धारण कर लेता है। आत्मनिर्भरता इनमें बहुत चट-बट कर है। विवाहोपरान्त पुत्र और माँ-बाप का सम्बन्ध टूटते देर नही लगती। और नवीन दम्पति शीघ्रता से अपना घर न्यारा कर अपनी खिचडी आप पकाने लग जाते है। ऐसे अवसरों पर सास और बहू का नृशसताओं से भरा आचरण बड़े ही वेदर्द दृश्य उपस्थित करता है। अन्धविश्वास की इनमें कमी नही है। और यही विश्वास दैवी घटनाओं एव महामारियो का सफलता से विश्लेषण करता है। बलिदान की भावना इन्ही विश्वासो का प्रतिफल है।

वैवाहिक रूढियाँ

इनका विवाहोत्सव भी मनोरञ्जन की सामग्री है। 'मड़वा और मायना' का सुअवसर अनेकों को आकृष्ट करता है। बरात आगमन एक विशेष महत्त्व की चीज समझी जाती है—उनका आदर-सत्कार सफलतापूर्वक कर सकना ज़रा कठिन है। मियाने अथवा डोले मे वर-वधू की विदा अपनी अलग विशेषता रखती है। परन्तु ये सब प्रदर्शन अपनी स्थिति के प्रतिकूल बहुत आगे बढ़ा लिये जाते है, जिनका परिणाम कर्ज का बोझ है।

हमें वृद्धाओं को छोड कर बहुत कम विधवाएँ देखने को मिली। इसका कारण यहाँ की 'कर लेने की रीति' है। जिस स्त्री का पति मर जाता है वह अपने बाल-बच्चो को लेकर किसी भी अपनी जाति के और कभी-कभी पर-जाति तक के, अविवाहितों अथवा विधुरों से नाता जोड लेती है। इसमें पुरुष ही प्रधान भाग लेता है। परन्तु कभी-कभी इसका परिणाम बहुत ही भयङ्कर देखा गया है। इस रीति में एक तो सहूलियत बहुत है—मनमाना जोड़ा चुना जा सकता है, दूसरे खर्चा भी कम पडता है। केवल जाति में अपना अस्तित्व कायम रखने के लिये निश्चित भोज देना पड़ता है—'एक या दो रोटी देना' ही काफी है। हाँ, एक को छोड़ कर दूसरा घर बसाने में तीन रोटी की भी नौबत आ जाती है। खर्चे का सम्पूर्ण भार पुरुष के मत्थे पड़ता है। एक प्रथा 'भेंट' भी इस मौके पर उल्लेखनीय है। जब कभी कोई स्त्री अपने किसी सम्बन्धी से (विशेषकर नैहर के) अकस्मात् मिलता है तो वह उससे खूब चिपट कर चिल्लाती है। सम्बन्धी धीरे-धीरे समझा कर यह अभिनय शान्त करता है और फिर दृश्य बदल कर हास्य की निर्मल धारा बहने लग जाती है। इसमें कृत्रिमता बहुत ज़्यादा है और ऐसे रोचक दृश्य साप्ताहिक बाजारों, मेले ठेले और उत्सवों में खूब देखने को मिल सकते है।

सामाजिक कुरीतियाँ

बाल-विवाह, अनमेल-विवाह और वृद्ध-विवाह की यहाँ बड़ी बुरी प्रथा है। कुरमी-परिवार में मैंने तो कई बार पाँच वर्ष के बालक को पन्द्रह वर्ष की कुमारी के साथ वैवाहिक बन्धन में बधते देखा है। और जब यह दम्पति घाट-पूजन को नारी-कण्ठो की सङ्गीत सुधा के गानों-बाजों और पूजन सामग्री के साथ गाँव में निकलते है तो कभी-कभी मेरी आँखों से दो बूँद आँसू जबर्दस्ती ही ढुलक पड़ते हैं। एक ठाकुर को मैंने अपना आठवाँ विवाह अस्सी वर्ष की उम्र में एक नव-वर्षीय बालिका के साथ करते देखा है और वह भी जब उसके पूरे सात—विवाहित, पुत्र-पौत्रादि सहित—युवक चालीस वर्ष को पार करते हुए सन्तान रूप में थे। मृत्यु के अवसर का करुण दृश्य भी कुरीतियों से हीन नहीं है। सन्तानोत्पत्ति का समय भी अनेकानेक कुप्रथाओं से घिरा हुआ है।

इधर व्यभिचार की मात्रा बुन्देलखण्ड के गाँवों में बहुत बढ़ी-चढी है। जिनका सबूत अदालतो के मुकदमों, सजायाफ्तो की गणना और लिस्ट से भलीभाँति मालूम किया जा सकता है। गाँव के बडे लोगो के लड़के इनमें विशेष भाग लेकर महात्त्वाकाङ्क्षी कहलाने का दावा रखते है (?) किसी सुखी परिवार की बहू-बेटी आये-दिन भगा ले जाई जाती है। मुझे याद है, एक सन्तोषी ब्राह्मण परिवार की सुख, अमन-चैन और शान्ति में पली हुई कुल-वधू अपने ही दूर के देवर द्वारा—एक दढ़ियल ठाकुर की सहायता और उत्साह से घर से फुसलाकर—लालच देकर भगाई गई। गाँव के जङ्गलों में—'हार' में उस देवर की नृशसता और पाशविक

अत्याचार-स्वरूप बलात्कार के दृश्य खून के दाग़ों के रूप में देखे गये और कुछ दिन मानवीय सन्तुष्टि और तृप्ति के पश्चात् वह २५ चाँदी के टुकड़ों में एक बाग़ी राव को बेच दी गई, जहाँ से उसका अन्त बेढ़नी अवस्था में—वेश्या के रूप में हुआ। गाँवों में व्यभिचार वृत्ति की स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही होते हैं और जिनका खुलेआम सम्बन्ध पारिवारिक अशांति एवं सन्तान की कुशिक्षा का कारण होता है। कम से कम मुझे अपने गाँव में बहुत ही कम ऐसे चरित्रवान भलेमानुष मिले, जिन्होंने अपने जीवन में 'एक पत्नीव्रत' का पालन किया हो। स्त्रियों का सतीत्व तो योंही बरसात का बहता पानी है, जो अनेकानेक सम्बन्धों से दूषित होकर गाँव के सबसे गँदले तालाब-रूप वातावरण में मिल जाता है।

धार्मिक विश्वास और उत्सव

इनका धार्मिक अन्ध-विश्वास बहुत चढ़-बढ़ कर है। किसी भी आपत्ति के पड़ने पर उसे एक धार्मिक रूप दे दिया जाता है। और फिर देवी-सुमरन, बैठक बैठना, हवन और पूजा आदि आरम्भ हो जाता है। बकरे का बलिदान, पण्डों की पेट-पूजा एवं नारियल तथा बताशों की खपत ऐसी ही धार्मिक कृतियों के साधन विशेष है। गाँव में एक 'मडुलिया,' 'देवी-मठ' या मन्दिर (?) ज़रूर रहता है। 'मसान बाबा', 'सिद्ध बाबा', 'मजीट बाबा' और 'हरदौल-बाबा' इनकी पूजा और श्रद्धा का समुचित लाभ उठाते हैं। जहाँ-तहाँ पत्थरों, कङ्कड़ों आदि के रूप में हज़ारों बाबा नज़र आते हैं और राहगीर उनका यथोचित सत्कार कर तब आगे बढ़ता है। उनका विश्वास है कि उनकी यथोचित पूजा—नारियल फोड़कर और 'खुरी' चढ़ाकर न की जावेगी तो वे रूठ कर कोई नयी आपत्ति ला देंगे। हमारा एक खेत गाँव से ज़रा दूर है, वहाँ तक सड़क या गाँव की कच्ची 'सैर' ज़रा ख़राब है। कहते हैं कि यदि कटनी के पश्चात् 'लाँक' की गाड़ी बिना 'खैर-बाबा' को नारियल चढ़ाये लायी जाती है तो उसका उलट जाना क़रीब-क़रीब निश्चित है। लोगों को पीपल के पेड़ पर आये-दिन भूत-बैताल नज़र आया करते हैं। विशेष-विशेष उत्सवों और अवसरों पर गाँव के परिवार इन बाबा-स्थलों आदि पर जाकर 'गकरियाव' (बाटी बनाकर वहीं पूजा के पश्चात खाना) करते हैं। सक्रान्ति के सुअवसर पर किसी पहाड़ी नदी के किनारे अच्छा जमघट लगता है और भगतें (ईश्वरीय-गान) ढोलक, खञ्जड़ी के भैरव निनाद तथा तम्बाकू और गाँजे की दम के साथ होती हैं। उनसे कम से कम मेरे तो तन्तु सिहर उठते हैं और एक उत्तेजना सारे शरीर में फैल कर अचेतनता सी ला देती है।

'जवारे' निकलना बुन्देलखण्ड का विशेष उत्सव है। कजली, दीवाली के बाद, रामनवमी के दिन और कुछ ऐसे ही अवसरों पर गेहूँ के बीज खप्परों पर—टूटी टोकिनियों पर बो देते हैं। ६-७ इञ्च के पौधे हो जाने पर, धूमधाम से इनको स्त्रियों के सिरों पर रखकर, गाँव के पण्डे की अध्यक्षता में, गाजे-बाजे, जलते खप्परों, त्रिशूलों और तलवारों आदि के भयङ्कर साज के साथ ये गाँव भर में घूमते हैं। विशेष-विशेष दरवाज़ों पर इनका प्रदर्शन पूजा आदि के साथ होता है। वहाँ कुछ भयङ्कर प्रदर्शन, साँकल (जलती हुई घी डालकर) सूँटना, कोड़े अपनी देह पर बरसाना, जाँघ पर धार की बल तलवार रखकर नारियल फोड़ना और गाल, जीभ, पेट आदि पर 'बान-छेदना, (त्रिशूल) आदि अनेकों ऐसे ही खेल होते हैं। 'भाव' लेना एक प्रधान चीज़ है। इसमें शरीर काँपने लगता है—देवी का स्वरूप भावुक व्यक्ति पर शासन करता है। हाव-भाव के साथ घटनाओं के प्रकोप का कारण बताकर, भविष्य-वक्ता के रूप में कुछ बताकर समुचित पूजा-आराधना और उपहार के पश्चात् यह अभिनय शान्त होता है। यह रूप हमारे वर्तमान दम्भ की दृष्टि से झूठा ढकोसला मात्र प्रतीत हो सकता है, परन्तु कभी-कभी इसमें सत्यता और विश्वास की मात्रा भी पाई गई है।

माता, विशूचिका आदि महामारियों को देवताओं का प्रकोप मानकर हमारी बहिनें मनौती मानकर, सबेरे नहाकर गीले वस्त्रों में पानी से भरे हुये लोटे को गीले आँचल से ढाँक कर देवी को ढारने बड़े तड़के निकलती है। गण्डा, तावीज़ और 'भूभूत' उनको रोगों से मुक्त करने के विशेष साधन हैं। और इनका प्रभाव भी उनपर

विश्वास-स्वरूप बहुत होते देखा गया है। वर्तमान स्वास्थ्य-साधन उनके पास फटकने भी नहीं पाते। टीका से उन्हें घृणा है और वे भरसक बच्चों को उससे बचाने की चेष्टा करती हैं। उनका विश्वास है कि इसमें गौ-रक्त है जो हिन्दुओं में सरकार द्वारा ज़बर्दस्ती डाला जाता है। कुएँ की लाल दवा का प्रयोग भी प्रतिबन्धक रूप में उनके कोप-भाजन का कारण हो जाता है। परन्तु सरकारी अफसरों और विशेष कर पुलिस के कर्मचारियों पर भय-रूप उनकी विशेष श्रद्धा है। उनका गाँव में प्रवेश ही किसी नवीन घटना का संकेत है। वे कहते हैं कि आकस्मिक मृत्यु के पीछे कोई देवी-प्रकोप जरूर छिपा रहता है। अस्तु।

मनोरञ्जक उत्सव

ऐसे तो साल में अनेकों उत्सव होते हैं, परन्तु बरसात दीवाली, होली और संक्रांति उनके विशेष त्यौहार हैं। कारण इनमें और कृषि में कुछ न कुछ सम्बन्ध है। होली का त्यौहार सबसे मनोरञ्जक है। फाग के सुअवसर पर गाँव में 'राई' (ग्रामीण नाच, गान या जल्सा) की बड़ी भरमार रहती है। इनके 'कबीर' कभी-कभी अश्लीलता की हद तक पहुँच जाते हैं। 'परिया बाँधना' एक और मजेदार उत्सव है, जिसमें गाँव की ललनाएँ और बड़ी बूढ़ियाँ तक पुरुष-समुदाय के साथ भाग लेता है। गुड़ की भारी वजनदार 'परिया' कुछ पैसों रुपयों आदि के साथ काठ के ऊँचे, चिकने खम्भे से बाँध दी जाती है। स्त्रियाँ इस खम्भे के आस-पास अस्त्र-शस्त्र से भूषित—बाँस, डण्डे और लक्कड़ लेकर खड़ी हो जाती हैं और खम्भे को घेर कर उसकी रक्षा करती हैं। पुरुषों का समुदाय गाजे-बाजे, हो-हल्लड़ आदि के साथ खम्भे का चक्कर काटता है और मौका मिलने पर औरतें उनकी अपने शस्त्रों से पूजा करती जाती हैं। साहस और मौका मिलने पर कोई भी युवक एक, दो या बारा-बारी से उस काठ पर चढ़ने की चेष्टा करता है और उस पर ललनाओं के डण्डे, बाँस आदि बराबर बरसा करते हैं। यदि कोई युवक खम्भे पर चढ़कर परिया छोड़ सका तो सफलता मिलती है, रुपये उसके होते हैं और गुड़ स्त्रियों में बाँट दिया जाता है। सुनते हैं, दमोह ज़िले के डिप्टी कमिश्नर ने एक बार १००) विजेता के लिये उपहार-स्वरूप परिया के साथ बाँधकर इस मनोरञ्जक उत्सव को कुछ वर्ष पहिले अच्छा सफल रूप दिया था।

ये कुछ उत्सव बेचारे बुन्देलखण्ड-वासियों के हैं, जिनमें उन्हें जीवन की कठिनताओं, कार्य की उलझनों और काम से कुछ घड़ियों के लिये छुट्टी मिल जाती है। और वे इसका आनन्द ख़ूब उत्साहित होकर मनोरञ्जन रूप में ले लेते हैं। यही थोड़ा सा समय उन्हें वेदनाओं, नृशंसताओं और संसार के प्रपञ्चों से दूर रख, भुलाकर उनके मन को हरा कर देता है। सचमुच कठोर जीवन की यह मनोरञ्जक प्रवृत्ति मानवता की अमूल्य निधि है।



बिहार का महिला-समाज

[आचार्य श्री० राधारमण शर्मा, शास्त्री, काव्यतीर्थ, आयुर्वेद-रत्नाकर]

भगवती सती सीता, गार्गी और मैत्रेयी जैसी प्रातः स्मरणीय चिर-अमर रमणी-रत्नों की जन्मभूमि बिहार के आधुनिक महिला-समाज के सम्बन्ध में क्या लिखा जाय, समझ में नहीं आता! एक युग था, जब अपने अलौकिक ज्ञानालोक से सारे विश्व को आलोकित कर उसे अमर प्रेम-पीयूष पिलाने वाले अहिंसा धर्मोपदेष्टा भगवान बुद्ध को जन्म देने वाला बिहार भारत के समस्त प्रान्तों में अग्रगण्य था। न्यायदर्शन के रचयिता गौतम तथा सांख्यदर्शन के जन्मदाता कपिल मुनि, चार्वाक् आदि के मोहजाल से भारतवासियों का उद्धार करने वाले कुमारिल भट्ट और उदयनाचार्य, वार्तिककार वररुचि और स्मृतिकार याज्ञवल्क्य, वेदान्ततत्व के अद्वितीय उपदेष्टा जीवन्मुक्त महर्षि विदेह और व्याकरण के सर्वमान्य आचार्य पाणिनि, न्यायाचार्य चाणक्य और ज्योतिषाचार्य आर्यभट्ट आदि-आदि जैसे अद्वितीय शास्त्रनिष्णात विद्वानों की जन्मभूमि होने का गौरव रखने वाला बिहार न केवल ऐतिहासिक, धार्मिक या बौद्धिक दृष्टिकोण से ही, बल्कि सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से भी अत्यन्त समृद्ध, उन्नत और विकसित प्रान्त माना जाता था। बिहार की सभ्यता, बिहार की संस्कृति, बिहार का विज्ञान और बिहार की विभूति दूसरों के लिए ईर्ष्या की वस्तु थी और संसार के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय 'नालन्दा' के अधिकारी बिहार के उत्कर्ष को सभी सहर्ष एकमत स्वीकार करते थे।

ऊपर लिखे बेजोड़ विद्वानों के अतिरिक्त जाने कितने ऐसे महिलामणियों का आविर्भाव भी इस बिहार में हो चुका है, जिनके कीर्ति-सौरभ से आज भी भारत का दिगदिगन्त सुरभित हो रहा है। उदाहरणार्थ पतिव्रताग्रगण्य सती सीता और मीमांसाचार्य मण्डन मिश्र एवम् परिव्राजकाचार्य शङ्कर स्वामी के बीच होने वाले शास्त्रार्थ में मध्यस्थ होने के योग्य किसी पुरुष के न मिल सकने पर मध्यस्था बनकर शङ्कराचार्य को परास्त करने वाली भारती-स्वरूपा भारती का नाम ले लेना ही काफ़ी होगा।

भारती के बाद मिथिलानरेश शिवसिंह की धर्मपत्नी लक्ष्मीदेवी (लखिया ठकुराइन) का नाम भी साधिकार लिया जा सकता है, जिन्होंने कविकुल गुरु कालिदास के रघुवंश के सम्बन्ध में कहा था—"किं रघुवंशमपि काव्यम्? तस्यापि टीका? साऽपि संस्कृतमयी?" क्या रघुवंश भी काव्य ही है? अगर हो भी तो क्या वह इस योग्य है कि उसकी टीका लिखी जाय और वह भी संस्कृत में? लखिया देवी के बाद और भी शीला, विज्जा आदि अनेकों विदुषी-रत्नों द्वारा विभूषित होने का गौरव इसी प्रान्त को प्राप्त हो चुका है और इस प्रकार बिहार का पुरुष-समाज ही नहीं, महिला-समाज भी बेजोड़ और चिर-प्रशंसनीय रहा है। किन्तु खेद है—'जिन दिन देखे वे कुसुम गयी सो बीत बहार!'

जिस बिहार का इतना गौरवपूर्ण अतीत रहा है, उसका वर्तमान अनेकों बातों में आज उत्कृष्ट रहकर भी सामाजिक दृष्टिकोण से दिन पर दिन हेय और अपकृष्ट होता जा रहा है। राजनैतिक, धार्मिक, बौद्धिक आदि मामलों में बिहार को निस्सन्देह आज भी उल्लेखनीयता प्राप्त है, फिर भी सामाजिक दृष्टिकोण से तो वह पिछड़ा हुआ है ही। सामाजिक दृष्टिकोण से बिहारी पुरुषवर्ग में ही अभी वह जागृति, वह नवजीवन पाया नहीं जाता, समय के तक़ाजे के मुताबिक जिसका

होना जरूरी था या जिसका सुन्दर अस्तित्व अन्य प्रान्तों में दृष्टिगोचर होता है, फिर विहार के महिला-समाज की चर्चा क्या चलायी जाय !

धार्मिक अन्धविश्वास, पुराना वेकाम रूढ़ियों और कुछ अन्य उन सामाजिक दुष्प्रथाओं के अतिरिक्त, जो प्राय सर्वत्र एक सी पायी जाती है, कुछ ऐसी प्रथाएँ या दुष्प्रथाएँ भी हैं, जो बिहारी महिलाओं की अपनी विशेषता है। मैं उनका आवश्यक वर्णन आगे चलकर करूँगा। पहले उनकी वेश-भूषा के सम्बन्ध में ही कुछ लिखना उचित समझ रहा हूँ। वेश भूषा के आधार पर बिहारी महिलाओं की दो श्रेणी बनानी पड़ेगी। एक उनकी जो पाश्चात्य शिक्षा के फलस्वरूप पाश्चात्य फैशनों को भी अपना चुकी हैं और अब जम्पर, ब्लाउज, पेटीकोट, पाउडर, लिपस्टिक, शू आदि फैशन के आधुनिक उपकरणों का पूर्ण उपयोग करने लगी हैं। ऐसी स्त्रियों का अन्य प्रान्त की ऐसी स्त्रियों से वेश-भूषा के आधार पर कोई पृथक्करण नहीं किया जा सकता। भिन्न-भिन्न प्रान्तों की ऐसी स्त्रियों का समूह एक जगह एकत्र हो तो उनमें भेद बतलाना कठिन हो जायगा। सब एक सी जचेंगी। हाँ, इस श्रेणी के अतिरिक्त दूसरी श्रेणी की स्त्रियों में कुछ स्वाभाविक प्रान्तीय अन्तर दिखाई पडेगा। इस श्रेणी की स्त्रियाँ वे होती हैं, जो बिहारी पोशाक पहनती है, देहातों में रहती हैं, और पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा और उसके परिणाम-स्वरूप पाश्चात्य फैशन से अभी काफी दूर है। ऐसी स्त्रियों की पोशाक होती है—साड़ी के ऊपर एक 'झुल्ला' बस। हाँ, गहनों की बहुतायत जरूर होती है। गहनो का शौक बिहारी स्त्रियों में अन्य प्रान्त की स्त्रियों से स्वभावत कुछ अधिक होता है और यह बात उच्च जाति की स्त्रियों और छोटी जाति की स्त्रियों में एक समान पायी जाती है। यह बात दूसरी है कि उच्च जाति वाली स्त्रियों के गहने सोने के बने होते है, या चाँदी के, और नीची जाति की स्त्रियाँ अपना शौक काँसा के बने गहनों से ही पूरा कर लेती हैं। किन्तु सच पूछा जाये तो गहनों के इस भेद का आधार-स्तम्भ जाति नहीं बल्कि धन है। नीची जाति की धनी स्त्रियाँ भी उसी प्रकार सोने-चाँदी के गहने पहना करती हैं जिस प्रकार ऊँची जाति की धनी स्त्रियाँ पहनती है। साड़ी पहनने के ढङ्ग में भी बिहारी स्त्रियों की एक अपनी स्टाइल होती है, जो महाराष्ट्र, गुजरात, बङ्गाल आदि की स्त्रियों की स्टाइल से एकदम भिन्न और यू० पी० की स्त्रियों की स्टाइल से थोड़ा भिन्न होती है। थोड़ा ध्यान से देखते ही इस विभिन्नता का पता चल जाता है। रहा झुल्ला, वह तो बिहार की अधिकांश स्त्रियों का—उन स्त्रियों का, जो ऊपर लिखे अनुसार अभी पाश्चात्य शिक्षा और उसके सहचर पाश्चात्य फैशन से अपरिचित हैं, और जिनकी संख्या अभी ६५ फी सदी है, अपना पहनावा ही ठहरा। जहाँ तक मैंने देखा है, इस प्रकार के झुल्लों के पहनने का रिवाज और किसी प्रान्त की स्त्रियों में नहीं है। इस प्रकार अपने पहनावे के कारण बिहारी स्त्रियों में वह तड़क भड़क नहीं पायी जाती, जो पञ्जाब या दूसरे प्रान्तों की स्त्रियों में पायी जाती है।

दुर्भाग्य और सौभाग्यवश बिहार में स्त्री-शिक्षा अभी नगण्य है। दुर्भाग्यवश इसलिए कि शिक्षा के अभाव से यहाँ की स्त्रियाँ अभी वैसी सभ्य, सुसंस्कृत और जमाने की रफ्तार की जानकार नहीं हो पायी है, जैसी उन्हें होनी चाहिए, या जैसी कुछ प्रान्तो की स्त्रियाँ हो चली है, और सौभाग्यवश इसलिए कि आधुनिक शिक्षा के परिणाम-स्वरूप होने वाली फैशन की अनिवार्य फिजूल खर्चों से वे और उनके पति महाशय बचे हुए हैं, 'हसीनाने जहाँ के मुश्किलात' से वे सुरक्षित है। किन्तु वर्तमान शिक्षा के परिणाम-स्वरूप होने वाली अनिवार्य फिजूलखर्चों और 'हसीनाने जहाँ के मुश्किलातों' के बावजूद भी अब उन्हें मूर्खा बनाकर तो रक्खा नहीं जा सकता। उन्हें शिक्षित और सुसंस्कृत तो बनाना ही होगा। शिक्षा की आधुनिक प्रणाली पाश्चात्य शिक्षण प्रणाली के आधार पर अवस्थित होने के कारण पूर्व के लिए—सीता और सावित्री, सती और दमयन्ती, मैत्रेयी और भारती के भारत के लिए—अनुपयुक्त, अनुचित और भारतीय संस्कृति और भावनाओं की प्रतिकूल तो है ही, किन्तु यदि वह अनुपयुक्त, अनुचित और भारतीय भावनाओं की विरोधी है तो समस्त भारत के लिए, न कि केवल बिहार के लिए। इसलिए जब तक

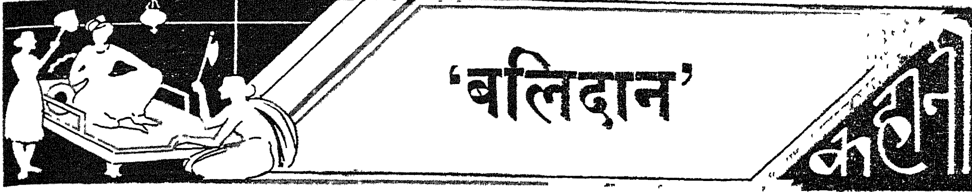
की कमजोरी मानी जा सकती है, पर कमजोरी होने पर भी यह अस्वाभाविक नहीं है। हर्ष की बात है कि इस दुष्प्रथा की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। पुरुषों के अतिरिक्त वे स्त्रियाँ भी, जो शिक्षित हो गई है, इस दुष्प्रथा की घातकता का अनुभव करने लगी है, और वे इस दुष्प्रथा को जीवित रखने के स्थान पर उसे मिटाने में ही सहयोग प्रदान करने लगी है।

शिक्षा की ओर आज बिहारी महिलाओं का ध्यान आकृष्ट हुआ है, इसलिए आशा हो रही है कि इसके अभाव के कारण जो कुरीतियाँ, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि अभी प्रचलित है, यथाशीघ्र मिट जायेंगी, किन्तु इसके लिए अभी काफी समय चाहिए। पर्दे की प्रथा स्वयम् एक दुष्प्रथा तो है ही, शिक्षा-प्रचार में भी यह सब से अधिक बाधक है। बिहार की भद्र महिलाओं को अपना सारा जीवन पर्दे मे बिताना पड़ता है, खास कर नव विवाहिता बधुओं को! नव-विवाहिता बधुओं को इस पर्दे का इस सख्ती से पालन करना पड़ता है कि उनके विवाह का उल्लास तो बहुत कुछ मिट जाता ही है, उनके स्वास्थ्य पर भी इसका बहुत ही हानिकर प्रभाव पड़ता है। वे 'हिस्टीरिया' आदि रोगों की शिकार बन जाती है। बिहार के कुछ घरों में तो पर्दे का इतना सख्त रिवाज है कि नववधुएँ घर के व्यक्तियों से भी पर्दा करती हैं, वे घर में भी स्वतन्त्रतापूर्वक घूम फिर नहीं सकतीं। उन्हें सारा दिन एक कोठरी में ही काट देना होता है। यह पर्दा-प्रथा की 'अति' है, जो अत्यन्त घृणित, घातक और निन्दनीय है। ऐसी ही पर्दा प्रथा की कट्टरता के कारण बिहार के गत ऐतिहासिक भूकम्प के समय सैकड़ों हजारों-महिलाओं को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

पर्दा-प्रथा को मिटाने के लिए भी बिहार में आन्दोलन प्रारम्भ हो गया है, किन्तु अभी इसके मार्ग में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ है। इसीलिए यह आन्दोलन यथावश्यक सफल नहीं हो रहा है। इसके लिए जबर्दस्त प्रचार और आन्दोलन की आवश्यकता है, तभी इस दिशा में मनोवाञ्छित सफलता मिल सकेगी। सम्भव है, कुछ दिनों के बाद इस दुष्प्रथा का लोप बिहार से हो जाये और सम्भव क्यों ऐसी पूर्ण आशा है, किन्तु इस समय तो सखेद, पर निस्सङ्कोच कहना ही पड़ेगा कि उस दुष्प्रथा के मामले मे अभी बिहार सबसे आगे है।

अब इस लेख को समाप्त करने के पूर्व मैं दो शब्द महिला-समाज से भी कह देना चाहता हूँ। यदि बिहार की महिलाएँ अपने गत गौरव को भुला नहीं देना चाहतीं, यदि वे चाहती हैं कि बिहार का सामाजिक जीवन भी राजनैतिक जीवन की तरह उल्लेखनीय और महान् बने, यदि वे अन्य प्रान्त की महिलाओं की पंक्ति में बैठ कर गौरव प्राप्त करना चाहती है, तो वे शिक्षा प्राप्त कर उन्नति के पथ पर अग्रसर हो, कुरीतियों को शीघ्र छिन्न-भिन्न कर डालें। किन्तु एक बात का ध्यान रखना होगा, शिक्षा—जिस पर दुर्भाग्यवश आज पाश्चात्य छाप लगी हुई है—को ग्रहण करने में वे उसकी बुराइयों को ग्रहण न कर ले। शिक्षा पश्चिमीय सभ्यता का परवाना बनने मे ही पूर्ण नहीं होती। स्त्रियाँ समार में गौरव प्राप्त करने के लिए, सस्कृत होने के लिए शिक्षा ग्रहण करें, पर अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता को स्मरण रखते हुए—इसी में कल्याण है।





[श्रीमती शिवरानी देवी]

श्री प्रभादेवी का नाम लखनऊ में बच्चों से लेकर बड़े बूढ़े तक जानते हैं। जब से गांधी-आन्दोलन शुरू हुआ, तब से एक दिन भी ऐसा नहीं हुआ कि प्रभादेवी ने आराम किया हो या बैठी हों।

जब हजरतगञ्ज में गोली चली थी, तब उनके रान से गोली आरपार हो गई थी। साइमन साहब जब लखनऊ में पधारे थे, उस समय प्रभादेवी स्त्रियों के जलूस के साथ गई थीं। उस जलूस पर पड़ी डण्डों की मार से ज्यादा चोट आई थी, जिससे वह मरते-मरते बची थीं, तीन दिन तक अस्पताल में बेहोश पड़ी रहीं। उसके साथ बहुत सी स्त्रियों को चोट आई थी। लेकिन उसका स्थान विशेष था। अच्छी होते ही उसी दिन अस्पताल में प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक ज़िन्दा रहूँगी तब तक तन-मन-धन से देश-सेवा करूँगी।

२

आज एसेम्बली की वोटिङ्ग। जो-जो मेम्बर खड़े हुये हैं, सबकी तरफ़ से इष्ट-मित्रों ने महीनों दौड़-धूप करके रात-दिन एक कर दिया है, फिर भी वोटरों का मुँह सीधा नहीं हुआ और हार खानी पड़ी है। इधर प्रभादेवी बहुमत के साथ चुन ली गई। शाम को जब वोटिङ्ग खतम हुई तो पण्डित शोभाराम जी कॉङ्ग्रेस प्रेसिडेन्ट साहब आकर प्रभादेवी को बधाई देते हुये हँस कर बोले—आप लोगों ने तो घर पर आसन जमाया ही था, यहाँ पर भी हम लोगों से आगे हो गईं। आज बाबू रामधारी बहुत वोट से हारे हैं, आप तो इधर चली आईं, उधर जब वोटरों की गणना हुई तो वे पागल हो गये, यहाँ तक कहते थे कि मैं आत्महत्या कर लूँगा। इधर कई आदमी उनको समझा रहे थे कि ऐसा नहीं करना चाहिए, हार-जीत तो हुआ ही करती है। इसी बीच आपके महिलाश्रम की सेक्रेटरी श्री रम्भादेवी मारे ख़ुशी के फूली नहीं समाती थीं, मैं तो डरता था कि कहीं इन देवी जी का हार्ट फेल न हो जाय। और आपने तो लखनऊ में स्त्रियों की खासी पलटन तैयार कर दी है। सब की सब रामधारी जी को देख कर हँसती थीं। उस बेचारे के साथ हमदर्दी करनी तो दूर रही, उल्टे उस पर मरने के लिए बौछार छोड़ती थीं।

प्रभा हँसकर बोली—'यह सब महात्मा जी का प्रसाद है, भला मैं किस योग्य हूँ?

पण्डित जी—नहीं, देवी जी, यह सब आपकी मेहनत का फल है, मैं तो दावे के साथ कहता हूँ कि जैसी ताक़त इधर आप लोगों में आई है, वैसी अभी पुरुषों में नहीं आई। चाहे हम पुरुषों की हार भले ही हुई हो; लेकिन इस लड़ाई में स्त्रियों की विजय ही हुई है। आज का उत्साह देखकर हम आश्चर्य में आ गये हैं।

प्रभा—पण्डित जी, आज मुझे ख़ुशी नहीं हुई है, आज तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि मेरे सिर बड़ा भारी-सा बोझ रखा गया है। इसकी ख़ुशी उस दिन मालूम होगी, जब मैं अपनी बहनों की कुछ सेवा कर सकूँगी।

पण्डित जी—जब आपका ऐसा विचार है तो ईश्वर आपके विचारों को पूरा करेगा।

प्रभा—यह सब आप लोगों का आशीर्वाद है।

पण्डित जी की आँखें सजल हो गईं।

३

एक हजार स्त्रियों का जलूस एक अच्छी गाड़ी को फूलों से सुसज्जित करके निकला। उन सभी स्त्रियों के हाथों में एक-एक माला थी, सबने माला

पहना कर जय-जय के नारे लगाते हुए प्रभादेवी को फूलों से ढाँक दिया।

प्रभा—जो कुछ आप लोगों ने मेरे लिए किया, और जो पद दिया है, सचमुच उसके योग्य मैं नहीं हूँ, फिर भी आप लोगों ने दिया, मेरे ऊपर विश्वास किया तथा आदरपूर्वक मेरा सम्मान किया। मैं अपने को आप लोगों की एक तुच्छ मक्खिका समझती हूँ, और हूँ भी सेवा के लिए ही। आप सब लोगों को मैं धन्यवाद देती हूँ, और जब तक जिन्दा रहूँगी, इस सम्मान के लिए सदैव कृतज्ञ रहूँगी।

तब सभी स्त्रियाँ एक स्वर में बोलीं—हम लोग आपको इस गाड़ी पर बैठा कर जलूस के साथ पूरे शहर में घुमाना चाहती हैं। और आपकी इस कृपा के लिए हम लोग हमेशा शुक्रगुजार होंगी।

प्रभा—प्रिय बहनो! मैं ऐसा अन्याय नहीं करूँगी, मैं आप लोगों के साथ पैदल चलने को तैयार हूँ, अब और बोझा मेरी बहनें निर्बल बहनों के सिर नहीं रखेंगी। इसके लिए मुझे पूरा विश्वास है।

सभी ने सुनकर सिर झुका लिया।

आगे-आगे प्रभादेवी थीं, उनके पीछे कई हज़ार स्त्रियों और पुरुषों का जलूस था। सब लोगों के मुँह से भारतमाता के गीत और जय-जय के नारे निकलते थे। जनता की सेवा देखकर और प्रभा का रूप देखकर तो ऐसा मालूम होता था कि भारतमाता की आत्मा प्रभादेवी में आ गई है। इस प्रकार पूरा शहर घूमता हुआ जलूस अमीनाबाद पार्क में आया तथा प्रभादेवी ने सबको धन्यवाद दिया।

४

प्रभा भी अपने घर आ गई थी। ख़ुश होकर लौटी तो कर्तव्य का बोझ सिर पर रखकर एसेम्बली में यह प्रस्ताव रखा कि जितना अधिकार पुरुषों को मिला है उतना ही अधिकार स्त्रियों को मिलना चाहिए, क्योंकि इन दोनों का सम्बन्ध दुनिया के लिए ज़रूरी है। कोई इन दोनों में से एक को हीन समझ कर रहना चाहे तो नहीं रह सकता। इसलिए दोनों का अधिकार बराबरी का हो, चाहे सामाजिक हो चाहे राजनैतिक, चाहे साम्पत्तिक हो चाहे धार्मिक, स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार मिलना चाहिए। कुछ ज़्यादा नहीं चाहिए। अभी तक ऐसा था कि अपने ज़ख़्मों का भी दर्द नहीं होता था, लेकिन अब वह जमाना नहीं है, अब तो किसी के दर्द को देखकर भी पीड़ा होने लगती है। अब के और पहले के ज़माने में जमीन-आसमान का-सा अन्तर हो गया है। तब कोई वजह नहीं है कि हम मनु जी की मनुस्मृति के नाम को लेकर रोएँ। फिर रोएँ क्यों? अब रोने का ज़माना नहीं है। बहुत दिनों तक तो त्याग किया, उसी त्याग के पीछे अपने को मिटा भी दिया, परिणाम भी कुछ नहीं निकला। समय का तकाजा है कि पुराने विचारों में परिवर्तन किया जावे।

५

प्रभादेवी के प्रस्ताव पर वोट लिए गये तो बहुत ही कम वोट मिले, जो कि नहीं के बराबर थे। प्रस्ताव बहुमत से गिर गया। प्रभादेवी जल्दी हार मानने वाली नहीं थी। पूछा—आप यह कह सकते हैं कि जो कुछ प्राचीन शास्त्रों और मनुस्मृति में लिखा है वही ठीक है और वही व्यवहार सबके साथ हो रहा है?

सभापति साहब बोले—नहीं, उसमें कुछ सुधार हुये हैं और होते जा रहे हैं।

'जब मालूम है कि हुये हैं और होते जा रहे हैं, तब क्यों इस प्रस्ताव को गिरा दिया गया?"

'अभी इसका समय नहीं आया है।'

'समय अपने आप नहीं आता है, बुलाने से आता है, काम करने से आता है। हाथ पर हाथ रख कर बैठने से कभी काम नहीं होगा, हाँ, मैं यह मानती हूँ कि बहुत से कट्टरपंथी ऐसे होते हैं जिनको न अपने दर्द की पीड़ा होती है और न दूसरों की होती है, मगर सब ऐसे नहीं हैं।'

'आपका कहना बहुत ही ठीक है, किन्तु मैं भी बहुत दिनों की चली हुई मनुस्मृति की प्रणाली को बगैर गुरुजनों की राय लिये हुये हटाने में असमर्थ हूँ।'

'मैं कब तक इसका इन्तज़ार करूँ, क्या आप बतला सकते हैं?'

'कम से कम छः महीने में बतला सकता हूँ।'

'बहुत ठीक, मैं तब तक और काम करूँगी और आपके जवाब का इन्तज़ार भी करूँगी।'

'मैं यथा-साध्य कोशिश करने का वचन देता हूँ।'

'मुझे विशेष आशा नहीं है। क्या महात्मा जी ने हरिजनों के लिए अनशन नहीं किया, उनको कट्टरपन्थी जो जी में आता था कहते थे, गालियाँ बकते थे। जब ऐसे महात्मा की नहीं सुनी गई, तब मेरी क्या हस्ती है?'

'तब आप कैसे आशा करती हैं कि कभी बराबर का अधिकार मिलेगा?'

'माँगने से नहीं मिलेगा, तब मरने से मिलेगा। जब तक हम मरना नहीं जानती हैं, तभी तक हम मार नहीं सकती हैं, और न अपना उद्धार ही कर सकती हैं; क्योंकि अधिकार तो हमेशा से बलिदान से मिलता रहा है। जब हम पुरुषों के बराबर अधिकार चाहती हैं तब हम क्यों आशा करें कि हमारी कोई मदद करे। हमको तो अपने पैरों पर खड़ा होना सीखना चाहिए, फिर अधिकार तो बलिदान और सङ्गठन से सदैव मिलता आ रहा है, और मिलेगा ही। वही बलिदान और सङ्गठन हमको करना पड़ेगा।'

'आपका कहना ठीक है। जब तक हममें बलिदान की शक्ति नहीं आएगी, तब तक हम अधिकारों से बहुत दूर रहेंगे। श्रद्धा और भक्ति भले ही मिल जाय; लेकिन अधिकार नहीं मिलेगा।'

'श्रद्धा और भक्ति सौ में दो-एक चाहते हैं और अधिकार तो सभी चाहते हैं। उसी को स्त्रियाँ भी अब चाहती हैं। और मैं कहती हूँ, क्यों न चाहें? यह तो कोई न्याय की बात नहीं है कि जिस चीज़ की आपको ज़रूरत है, उसकी दूसरों को बिल्कुल ज़रूरत न हो। स्वराज्य मिलने पर भी आप ज़मीन ही पर रहेंगे और अब से ज़्यादा काम करना पड़ेगा, इससे बहुत ज़्यादा ज़िम्मेदारी आपके सिर हो जायगी, फिर भी उसको हम प्यार करते हैं। इसका कारण यह है कि आदमी का यही जीवन सराहनीय है। आदमी खाये भी और सुख की नींद भी सोये और कुछ काम भी न करे, किन्तु अपने मान-अपमान को न समझे तो उसका ज़िन्दा रहना और मरना दोनों बराबर है। जीवन के तो यही माने हैं कि जब तक ज़िन्दा रहो; हाथ-पैर चलाते रहो।'

'देवी जी, मैं आपके कथनानुसार क़ायल हो चुका हूँ, किन्तु मजबूर हूँ; क्योंकि जब तक बहुमत से आपका प्रस्ताव पास नहीं हो जायगा, तब तक मैं कुछ नहीं कर सकता।'

'सभापति जी! यह सब एक दिन का काम नहीं है, इसके लिए दस-पाँच हज़ार स्त्रियों का बलिदान चढ़ाना पड़ेगा। ठीक भी है, क्योंकि जो चीज़ जितनी ही आसानी से मिलती है उतनी ही आसानी से निकल भी जाती है, जैसे रिश्वत का पैसा निकल जाता है। अब मेरा मेम्बरी से इस्तीफ़ा है। मुझे जनता ने जिस काम के लिए चुना था, जब मैं उनका काम नहीं कर सकती हूँ तो यहाँ रहना व्यर्थ है और जनता को धोखा देना है। मेरी आत्मा ऐसा करने को तैयार नहीं है और न मैं कर सकती हूँ। आप लोगों को भी दोष नहीं देती हूँ, क्योंकि आप लोग भी मजबूर हैं। जो कुछ कष्ट दिया उसके लिए क्षमा चाहती हूँ। मेरा यह त्याग-पत्र स्वीकार कीजिए। फिर कभी कुछ सेवा कर सकूँगी तो अपने को धन्य समझूँगी।'

६

प्रभादेवी ने आज से कई साल पहले से स्त्रियों में यह शक्ति भर दी है कि अब उसके साथ सौ-दो सौ स्त्रियाँ मरने-जीने को तैयार हैं। जब से प्रभादेवी एसेम्बली से इस्तीफ़ा देकर चली आई हैं, तब से स्त्रियों को खल रहा है और सबके शरीर में भीतर ही भीतर आग सुलग रही है, अब ज़रा सा झोंका भी उसे प्रज्ज्वलित कर सकता है।

आज लखनऊ पार्क में स्त्रियों की मीटिङ्ग है। जब सब स्त्रियाँ जमा हो गईं तो प्रभादेवी स्टेज पर खड़ी हुईं। उनके एक-एक शब्द में बिजली भर देने की ताक़त थी। असंख्य वर्षों से मूक, असंख्य दुःखिनियों के विचार मानो उनके मुख से प्रकट होकर सभा में गूँजने लगे:—

'आपको मालूम है कि क्यों हमारी इतनी बहनें वेश्याएँ होती हैं, क्यों इतनी बहनें भिखारिन होकर दर-

दर घूमती है? इसका कारण यही है कि उनका कोई स्थान नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि वे दुनिया मे व्यर्थ हैं, जन्म से लेकर मरने दम तक उनका कहा घर नहीं है। उनको तो पुरुषों की दया पर रहना पड़ता है। जब कोई कहता है कि उनको पुरुषों के बराबर अधिकार मिलना चाहिए तो उसके उत्तर में यह मिलता है कि मनुस्मृति मे लिखा नहीं है। दुनिया भर की मनुस्मृति टूट-फूट गई और दुनिया भर में उथल-पुथल मच गई, लेकिन हमारी हिन्दू स्त्रियों को अभी तक इसका रोना लगा ही है।

'मै यह नहीं कहती हूँ कि अब सभी स्त्रियों को रोना है, लेकिन साथ ही साथ अब ऐसे सपूत भी नही हैं, जो कि स्त्रियों को पूजते हों। हमको अधिकार तो उन बहनों के लिए चाहिए, जो दर-दर मारी फिरती है। उसमें सभी का फायदा है। तब किसी को समझाने या तकलीफ देने का मौका नहीं मिलेगा, किसी की दया पर रहना पाप है, इससे आत्मा कमजोर होती है और हम मिटते जाते है। फिर जो घर और गृहस्थी बनती है, वह स्त्री और पुरुष दोनों मिल कर बनाते हैं। उसी समय मालूम होता है कि ये कौन हैं, परन्तु इतने पर भी स्त्री का कोई अधिकार नहीं, यह एक लज्जा की बात है। इसलिए इसकी हमको ज़रूरत है कि जीवन का अर्थ समझे।

'जब अपने पेट के बच्चे तक हमारे नहीं होते तो दूसरों की कौन चलावें! एसेम्बली से मैं प्रतिज्ञा करके आई हूँ कि जब तक स्त्री और पुरुष का बराबर अधिकार नहीं हो जायगा, तब तक मेरा अनशन जारी रहेगा। अगर तब भी न होगा तो मैं अपने प्राण का अन्त इसी में कर दूँगी। मेरे साथ वही बहनें आवें जिनको अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी हो। क्योंकि प्राण देना है, हँसी-खेल नहीं है। और अधिकार भी मामूली चीज नहीं है, जो आसानी से मिल जाय। अब मैं अपनी उन बहनों को धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने कई साल से इस आन्दोलन में मेरा साथ दिया है। मैं आशा ही नही, बल्कि पूर्ण विश्वास रखती हूँ कि मेरे बाद यह काम बराबर जारी रहेगा।'

उसी समय एक हज़ार स्त्रियों ने आकर अनशन करने के प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत किया।

प्रभा ने रोका, सबको साथ-साथ नहीं चलना चाहिए। क्योंकि अभी बहुत सी बहनों का बलिदान होगा, तब जाकर अधिकार मिलेगा।

सभी स्त्रियाँ एक स्वर मे बोलीं—अपना-अपना कर्तव्य अलग-अलग है भ कार्य में आगा-पीछा करना मूर्खता है। हम सब आपको देवी समझती है। और आप से पहिले हम लोगों का बलिदान होगा, क्योंकि बाद में हमको कोई रास्ता दिखाने वाला भी नहीं मिलेगा।

प्रभा—मैं आप सब की हृदय से कृतज्ञ हूँ, परन्तु मार्ग दिखाने वाले को ही आगे जाना होता है। मेरे बाद इसी दिशा में बढ़ते जाना आप लोगों का कर्तव्य होगा। इसलिए आप लोग मुझे क्षमा करें।

७

आज लखनऊ शहर में बड़ी सनसनी है कि आज से एक हज़ार स्त्रियों का अनशन होगा और अनशन भी ऐसा है कि जिसमें जीवन-मरण की प्रतिज्ञा है। अब देखना है कि मनु जी की मनुस्मृति रहती है या स्त्रियों की प्रतिज्ञा। है दोनों महान्!

प्रभादेवी आज सुबह स्नान करके तैयार हो गई, अपने घर में सबको समझा दिया कि मेरे आने का कोई निश्चय नहीं है। मुमकिन है, आज मै इस घर को हमेशा के लिए छोड़ती हूँ।

घर में बेटी-बहुएँ सभी घबड़ा गईं और बोली—हम लोग नहीं जाने देंगी।

तुम लोग कैसी बातें करती हो, मै तो आशा करती हूँ कि मेरे बाद ही तुम सब मेरा स्थान लोगी। और तुम्हा सब क्यों, मुझे तो आशा है कि मेरे बलिदान के बाद अभी बहुत सी स्त्रियों का बलिदान होगा और होना चाहिए। जब दुनिया मे हमारा कोई स्थान ही नहीं है तो आखिर इस बेइज्ज़ती से जीने में क्या फायदा है, इससे तो मौत अच्छी है।'

बिटिया और बहुएँ बोलीं—तो हम सब का भी यही अन्त होगा।

प्रभा—तुम्हारा कर्तव्य भी निश्चित है, प्रतिज्ञा करो कि उससे विचलित न होगी।

८

प्रभादेवी एसेम्बली के द्वार पर पहुँचीं, तो देखा वहाँ पहुँचने के पहले ही बहुत बड़ी भीड़ जमा हो गई थी, जिसमें एक हजार स्त्रियाँ अनशन करने को तैयार थीं, 'वन्देमातरम्' और जय-जयकार के नारों से कान फटे जाते थे।

प्रभा ने कहा—'प्रिय बहनो! हम सब का एक साथ अनशन करना ठीक नहीं है, क्योंकि अनशन करने वाली बहनों के लिए यही अन्त नहीं है। काम तब तक जारी रखना होगा, जब तक कि हमको पुरुषों के बराबर अधिकार नहीं मिल जाता। अगर हम लोगों ने एक साथ ही अनशन किया तो इसका यह फल होगा कि हमारे बाद इस आन्दोलन को कोई चलाने वाला भी न रहेगा; क्योंकि यह काम साल दो साल का नहीं है और न हज़ार पाँच सौ स्त्रियों से हो सकता है।

ज़मीन तैयार रहेगी तो खिलाड़ी बहुत से मैदान में उतर आवेंगे, और फिर दस-दस, पाँच-पाँच अपना-अपना खेल ख़तम करके चले जावेंगे। यहाँ तो हम सभी खिलाड़ी हैं। जो जैसा खेलना चाहता है, वह वैसा खेलता है। कौन कैसा खेलता है, इससे तो हमको बहस नहीं है। हम क्या खेलते हैं, इसकी हमको चिन्ता है।

मैं अनुरोध करती हूँ कि मेरे साथ कुल दस बहनें अनशन करें, और बहनें गाँव-गाँव में जा-जाकर सङ्गठन करें, सबको समझावें, क्योंकि यह काम भी कम महत्व का नहीं है। जो अन्याय हम युगों से सहती आ रही हैं वही समाज को और अधिक अन्याय करने के लिये प्रोत्साहन देता रहा है। आज हमें उसी का प्रायश्चित करना है।

अब मेरे साथ सिर्फ़ दस बहिनें आवें, शेष अपने-अपने काम में मशगूल हो जाँय और सच्चे हृदय से प्रतिज्ञा कर लेवें कि जब तक स्त्रियों को उनका उचित स्थान न मिल जायगा, तब तक शान्ति की नींद नहीं सोवेंगी।'

प्रभा के ये शब्द बड़े ही मार्मिक और जोशीले थे। कोई बीस हज़ार स्त्री और पुरुषों की आँखों में आँसू भर आये, गर्व से सिर ऊँचा होगया। उनमें बहुत सी वेश्याएँ भी थीं। आज उनको अपने ऊपर सच्चा पश्चात्ताप हो रहा है कि हम लोगों ने भोग में पड़ कर अपना जीवन कितना चौपट कर दिया है। यह सब देवी हैं, इन्हीं सबका जीवन सफल है। यही इच्छा होती थी कि प्रभादेवी के पैरों पर सिर रख कर आँसुओं से इनको नहला देवें। लेकिन शर्म से हिम्मत नहीं पड़ती थी।

९

आज लखनऊ में दस दिन से दस स्त्रियाँ अनशन कर रही हैं, ठीक एसेम्बली-भवन के सामने। शहर भर में सनसनी फैली हुई है। क्या होगा, किसी की समझ में कुछ नहीं आता है। सभी नेताओं को तार पर तार भेजे जाते हैं और जल्दी आने का अनुरोध किया जाता है। महात्मा जी भी घबड़ाते हैं। सबसे जीतना तो आसान होता है, लेकिन घर में जीतना बड़ा मुश्किल हो जाता है।

× × ×

महात्मा जी आँखों में आँसू भर कर प्रभादेवी से बोले—देवी, मैं तुमसे वादा करता हूँ कि मैं स्त्रियों के लिए पुरुषों से ज़्यादा अधिकार रखूँगा। तुम अनशन तोड़ दो। अगर मेरे भाइयों को इस पर भी आपत्ति होगी तो मैं भी तुम्हारे साथ अनशन करूँगा। हाय! जब भारत की माताओं का बलिदान हो जायगा, तब हम अपना जीवन किस प्रकार बितावेंगे। कदापि नहीं। इन्हीं के नाम पर तो आज हिन्दू जाति जीवित है।

प्रभादेवी के निष्प्रभ नेत्रों में ज्योति आगई, मानो बुझने के पहले दीपक जल उठा—बापू जी, अब मेरा खेल तो ख़तम हो गया, मैं चलती हूँ। परन्तु जीत हमारी ही हुई।

प्रभादेवी के साथ की शेष स्त्रियों को डॉक्टर ने अपने हाथ में लिया। शाम होते-होते प्रभा की अर्थी और उसी अर्थी के साथ मनुस्मृति की भी अर्थी निकली। लगभग उस समय पचास हज़ार आदमी रहे होंगे। सबके मुँह से यही निकलता था कि मनुस्मृति पर करोड़ों नहीं, बल्कि अगणित बलिदान हुए।

बङ्ग देश पर एक दृष्टि

[श्री० सतीशचन्द्र घोष]

बङ्ग का उल्लेख महाभारत में है। अङ्ग-बङ्ग व कलिङ्ग ये तीन प्रदेश एक दूसरे से मिले हुए थे। उस काल में ब्राह्मण यहाँ आकर वास करते थे, किन्तु वे आचार-भ्रष्ट से थे। क्षत्रिय भी अपने गौरव से पतित हुए थे। उसके बाद बौद्ध प्रभाव से हिन्दू आचार-व्यवहार, पूजा-पद्धति सब बदल गये। भृगु कथित मनुसंहिता में लिखा है— यदि तीर्थ-यात्रा के सिवाय अन्य उद्देश्य से कोई मनुष्य बङ्ग में जावे तो उसे प्रायश्चित करना पड़ता है। आर्य लोग बङ्ग को हीन समझते थे, क्योंकि यहाँ मङ्गोल, द्राविड़ व अनार्य जाति के लोग बहुत ज़्यादा थे। जो आर्य यहाँ बस गये थे वे भी इन जातियों के साथ मिल गये और आचार-व्यवहार, पूजा-पद्धति में आर्य व अनार्य भाव का समिश्रण हो गया। जाति भेद की प्रथा केवल ब्राह्मणों में थी, और सब जातियों में इसका बन्धन बहुत ही शिथिल था। जरूरत पड़ने पर राजा लोग दूसरी जाति वालों को ब्राह्मण बना लेते थे, इसका भी उदाहरण मिलता है। लेकिन इसका प्रयोग कम होता था। राजतरङ्गिणी में गौड़ मण्डल व गौड़ राज्य की राजधानी पौण्ड्रवर्धन का विवरण है। ४०० ई० से ७०० ई० के शेष तक बङ्ग बहुत खण्ड-राज्यों में विभाजित था। बौद्ध धर्म का प्रभाव ख़ूब था। चीनी परिव्राजक फाहियान ४०० ई० में यहाँ आये थे। उन्होंने लिखा है कि बौद्ध धर्म की अवस्था अच्छी थी, बहुत से बौद्ध मठ और सन्यासी यहाँ पाये जाते थे।

फाहियान व हुयेनसाङ्ग के लेखों से पता चलता है कि उस समय के बङ्गवासी नाना प्रकार के जलयान व युद्ध-पोतों के निर्माण व चलाने में निपुण थे, और दूर देशों तक जाकर वाणिज्य करते थे। इन्होंने खास करके ताम्रलिप्त का (जिसका दूसरा नाम तमोलुक है) वर्णन किया है। यह बन्दरगाह एक खाड़ी के मुहाने पर बङ्ग के दक्षिण-पूर्व बङ्ग सागर में स्थित है। उस वक्त वह एक समृद्धिशाली नगर था और यहाँ का वाणिज्य व्यापार अच्छा था। सिंहल, मलय, चीन इत्यादि देशों तक बङ्ग-वासी जाते थे।

वर्तमान समय में बङ्गाल के ब्राह्मणों में तीन श्रेणियाँ है—राढ़ी, वारेन्द्र व वैदिक। राढ़ी व वारेन्द्र में तीन विभाग है—कुलीन, श्रोत्रिय व वंशज। श्रोत्रिय व वंशजों की संख्या ज्यादा है। श्रोत्रिय व वंशज की कन्या का विवाह कुलीन से करना श्रेष्ठ समझा जाना था, यही लोकाचार था। कुलीन कन्या का विवाह कुछ इने-गिने ब्राह्मणों से हो सकता था। इसलिये बहुत अविवाहित प्रौढ अवस्था की कन्याएँ ब्राह्मणों में मिलती थीं। यह समाज के लिये कल्याणकर न था, खास कर जब कन्याओं को न विद्या न कोई उद्योग-धन्धा सिखाया जाता था। पहले-पहल कौलीन्य प्रथा अच्छी थी। जो ब्राह्मण सदाचारी, विद्वान व वेदज्ञ होते थे, वे कुलीन कहलाते थे। लेकिन १६ वीं शताब्दी के बाद से अवस्था बिगड़ गई और क्रमश खराब होती गई। यह हालत अङ्गरेजी शासन के आरम्भ होने के बाद कुछ काल तक रही। और श्रेणी के ब्राह्मण कुलीन को बेटी देना गौरव समझते थे। इसलिये कुलीन पण लेकर विवाह करते थे। एक एक कुलीन की ५० ६० तक स्त्रियाँ होती थीं। एक कुलीन की स्त्रियों की उमर १० वर्ष से लेकर ६० वर्ष तक होती थी, और पति महाशय की अवस्था १२ वर्ष से ८० वर्ष तक। स्वामी केवल दो या तीन स्त्रियों को अपने साथ रखता था, जिनसे बहुत ज़्यादा रकम मिलती थी। बाकी सब अपने नैहर में पड़ी रहती थी।

बङ्ग की बहुत अनार्य जातियाँ क्रमश हिन्दू हो

गई हैं। ब्राह्मणों ने अनार्यों के गाँवों में घूम कर उनको बीज बोना, रोगों की चिकित्सा व दवा करना और धर्म की सरल बातें सिखला दीं। इस तरह से वे हिन्दू-समाज के अन्तर्गत कर लिये गये। पहले उनका स्थान शूद्र से नीचा रहता था। जब उनके आचार-व्यवहार कुछ सभ्य हो गये और धर्मभाव की कुछ उन्नति हो गई, तब उन्हें शूद्र की पदवी मिलती थी। इन अनार्यों के साथ उनके कुछ देव-देवियाँ भी हिन्दू-धर्म में आ गये। नाग, नागराज वासुकि, भूत-प्रेत व उनके अधीश्वर, भूतेश्वर, मृत्यु-देव यम, चेचक व हैज़ा के देवता, वृक्ष, पर्वत, वन व गाँव के देवता—यह सब पूजे जाने लगे।

बङ्गाल के ग्राम-निवासियों की हालत पुराने समय से एकसाँ चली आती है। ६० फ़ीसदी लोग गाँव में बाँस व खर-निर्मित घरों में रहते हैं। उनका पहनावा है—गाढ़ा या खद्दर की बनी हुई घुटने तक एक धोती व एक अङ्गोछा या दुपट्टा। जाड़े में कुर्ता व चादर व्यवहार करते हैं। अङ्गरेज़ी राज्य के आरम्भ काल तक विद्यार्थी पाठशाला में ताड़पत्तों पर लिखित पोथी पढ़ते थे। उच्च जातियों में भी विद्या का प्रचार बहुत कम था। ग्राम-निवासी खेती, मेहनत-मज़दूरी व कपड़े बिनने के काम अधिकतर करते थे। इसके अतिरिक्त वे कुश्ती लड़ना, लाठी, तलवार व बल्लम चलाना सीखते थे, क्योंकि वह अशान्ति का युग था।

ग्राम में स्त्रियों की पोशाक साड़ी व ओढ़नी है। जाड़े में कुर्ता पहनती हैं। गहनों का बहुत शौक है। धनी स्त्रियों के गहने—झूरि, कर्णफूल, कुण्डल, बाली, बेसर, नथ, हार, कण्ठमाला, शङ्ख का कड़ा, कड़ा, बाउटि बाजूबन्द, चूड़ी, अनन्त, करधनी, अङ्गूठी, पायजेब, कड़ा, छल्ला इत्यादि होते हैं।

साधारणतः हिन्दू लोग जन्म-मरण, शादी-ब्याह, यात्रा इत्यादि सब काम ब्राह्मण या पुरोहित के परामर्श से करते हैं। ब्राह्मणों से पूजा-पाठ कराना और उनको पूजना ज़रूरी समझा जाता है। क्योंकि वे अशुभ ग्रह व नक्षत्र के दोष का खण्डन करते हैं, और देव-देवियों को सन्तुष्ट रखते हैं।

आजकल भी बङ्ग के हिन्दुओं में वर की तरफ़ से पण-ग्रहण प्रथा प्रचलित है। विवाह-बाज़ार में वर जितना शिक्षित होता है, या जितनी अच्छी उसकी दुनियावी हालत होती है, उतनी ही ज़्यादा रक़म कन्या-पक्षियों से वसूल की जाती है।

कन्यादान के बाद वर के साथ कन्या की बहिनें, सहेलियाँ और युवतियाँ ख़ूब तमाशा व मज़ाक़ करती हैं, और उसे बेवकूफ़ बनाने की कोशिशें करती हैं। पान में कत्था व चूना के बदले वैसा ही गाढ़ा रङ्ग व बालाई या दही देती हैं। खाट या पलङ्ग के ऊपर—जिसके बीच में बिनावट या तख़्ते नहीं रहते—कौशल से साफ़ बिछौना चौरस व समान करके बिछाती हैं। जब वर उस पर बैठता या लेटता है तो एकदम नीचे चला जाता है।

एक समय था, जब लोग स्त्री-शिक्षा का नाम सुनते ही चौंक उठते थे। स्त्रियों को शिक्षा देना कठिन था, समाज-विरुद्ध था। किन्तु अब इसमें बहुत परिवर्तन हो गया है। अजकल स्त्री-शिक्षा का ख़ूब प्रचार हो गया है। अगणित कन्याएँ व महिलाएँ स्कूलों और कालेजों में पढ़ती हैं। बहुत सी महिलाएँ अध्यापन कार्य करती हैं।

पहले जो लोग विधवा-विवाह करते थे, समाजच्युत हो जाते थे। लेकिन आजकल विधवा-विवाह समाज में कुछ प्रचलित हो गया है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह का क़ानून गवर्नमेण्ट से पास कराया। बहुत से लोग बाल-विधवा-विवाह के पक्ष में हैं।

खान-पान में जातिभेद नहीं है। विवाह में इसका विचार किया जाता है। भिन्न जातियों में कभी-कभी विवाह होते हैं। लेकिन समाज में इसका ज़्यादा विस्तार नहीं हुआ है। ब्राह्मसमाज जातिभेद नहीं मानता और उसमें भिन्न जातियों में विवाह होता है।

शिक्षा व काल के प्रभाव से सामाजिक रीतियों में परिवर्तन हो रहे हैं।



प्रगतिशील आसामी महिलायें

[श्री० शङ्करलाल शर्मा 'विजय']

भारत के पूर्व में बसे हुए कामरूप (वर्तमान समस्त आसाम प्रान्त) देश की रमणियाँ अनादि-काल से प्रगतिशील रही हैं। यहीं बेहुला, दमयन्ती, रुक्मणी, उषा आदि वैदिक काल की विदुषी देवियाँ हुई थीं। यद्यपि काल-प्रवाह ने यहाँ भी परिवर्त्तन किये हैं, तथापि विशेष खेदजनक परिवर्त्तन नहीं हो पाया।

असहयोग आन्दोलन के पूर्व कालचक्र में पड़ कर भारत के अन्य प्रान्तों की महिलाएँ जब अपने गृह-शिल्पों को भूल सी गई थीं, उस समय भी यहाँ चरखा चल रहा था। ये अपने ही घर पर रुई की खेती करती हैं। चरखे की सहायता से उसका सूत निकालतीं और उसी सूत के कपड़े बुन कर पहनती हैं। खरीद कर कपड़ा पहनना ये जानती तक नहीं थीं, यद्यपि वर्त्तमान समय में नवशिक्षिताएँ इस ओर से उदासीन दिखलाई पड़ती है। फिर गाँधी जी के चरखा-आन्दोलन ने जब अन्य प्रान्तो की महिलाओं को उनके प्यारे चरखे का महत्व समझाना शुरू किया तो यहाँ की स्त्रियों को गर्व था कि इन्हें इसके महत्व को समझाने की जरूरत नहीं पड़ी। वृद्धाएँ तो सारे दिन चरखे ही के साथ वार्तालाप करती रहती हैं और तरुणियाँ गृहकार्य से अवकाश मिलने पर सूत कातती हैं।

आसामी महिलाएँ गृहशिल्प में बड़ी दक्ष हैं। क्या पाक-शास्त्र, क्या संतति-रक्षा-शास्त्र सभी में ये निपुण हैं। इनके बनाये हुए अरण्डी के थान और चादरादि यहाँ से अन्य प्रान्तों को जाते हैं और उनमें से एक एक का मूल्य भी बहुत होता है। इनके काढ़े हुए बेल-बूटे और अन्य वस्तुएँ बड़ी ही सुन्दर होती हैं। आसाम की बनी जो अरण्डी चादरें समस्त देश में विख्यात हैं और जिनकी देशी-विदेशी सभी लोग प्रशंसा करते हैं, वे आसामी महिलाओं के हाथ की कारीगरी का ही नमूना होती हैं।

ये थोड़े खर्च ही में अपने जीवन को बड़ी ही सुन्दरता के साथ व्यतीत कर सकती हैं। इनकी वेश-भूषा, इनका रहन-सहन और इनकी खाद्य-सामग्री बड़ी ही सरल और कम खर्चीली होती है। इनका परिधान है—एक मेखला और एक चादर। पर आजकल कोई-कोई एक वस्त्र और अधिक पहनती है और वह है 'ब्लाउज'।

निम्न श्रेणी की स्त्रियाँ खुद ही हाट-बाजार करती है। अपनी वस्तुओं का खुद ही व्यापार करती हैं और ऐसी चतुराई के साथ करती हैं कि पुरुष भी हैरान हो जाते हैं। संक्षेप में निम्न श्रेणी की ये स्त्रियाँ, अपने कार्य-क्षेत्र में पुरुषों से पीछे नहीं है।

साल भर के सभी त्योहारों में 'वैशाख बीहू' (अर्थात् वैशाख सक्रान्ति) और 'माघ बीहू' (अर्थात् माघ संक्रान्ति) का आसामी समाज में बड़ा महत्व है, यही इनका राष्ट्रीय त्योहार है। आसामी स्त्रियाँ पर्व के आगमन के कुछ दिनों पहले ही से इसके मनाने की तैयारियाँ करने लगती है और बड़ी धूमधाम के साथ इसे मनाती हैं। आसाम के गीतों में 'बीहू-गीत' ही सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। ये गीत बड़े ही भावपूर्ण और मधुर हैं। स्त्रियाँ बड़ी ही मनोहर रागिनी और अपूर्व भावभङ्गीमय नृत्य के साथ इन्हें गाती हैं।

आसाम में स्त्रियों की शिक्षा के लिये प्रायः सभी मुख्य शहरों में गर्ल्स हाईस्कूल हैं। शिलौंग में कन्याओं को उच्च शिक्षा देने की उत्तम व्यवस्था है। सेण्ट एन्थनी और लेडीवीन कॉलेजों में इण्टरमीजियट तक की शिक्षा दी जाती है। सेण्ट एडमण्ड कॉलिज में कैम्ब्रिज तथा अन्य स्थानीय उच्च परीक्षाओं के सिवाय कुछ समय से बी० ए० और बी० टी० परीक्षाओं की पढ़ाई की भी व्यवस्था की गई है, जिसका उद्देश्य यह है कि आसाम की



कन्याशालाओं के लिये योग्य अध्यापिकाएँ पर्याप्त संख्या में प्राप्त हो सकें। कहना न होगा कि आसामी महिलाएँ इन शिक्षा-संस्थाओं से भली प्रकार लाभ उठा रही हैं। इनके अतिरिक्त सहशिक्षा के भी कॉलेज वर्तमान हैं, जिनमें एक बड़ी तादाद में बालिकाएँ और युवतियाँ पढ़ती हैं। इन्हें गृहशिल्प की शिक्षा घर ही पर दी जाती है और इसके लिये अलग स्कूल भी खोले गये हैं। आसामी महिलाएँ उच्च-शिक्षा प्राप्ति की ओर विशेष रूप से सचेष्ट हैं।

विगत स्वाधीनता-संग्राम में भी आसामी महिलाओं का महत्वपूर्ण सहयोग था। इन्होंने गाँव में काङ्ग्रेस का प्रचार-कार्य करने का काम अपने हाथों में लिया था और अन्यायपूर्ण सरकारी आज्ञाओं की अवहेलना करके साहस का परिचय दिया था। इस संग्राम में कुछ को जेलयात्रा भी करनी पड़ी।

आसाम की महिलाओं में साहित्य-सेवा और ललित कलाओं का भी प्रचार बढ़ रहा है। कई विदुषी रमणियों ने तो साहित्यिक क्षेत्र में अच्छा नाम कमाया है। इनकी भाषा मार्जित, उच्चकोटि के भाव और रचना मौलिक होती है। आजकल वहाँ की कई लेखिकाएँ सुन्दर कहानियाँ लिखती हैं। गायन और नाट्य-कला में भी कई महिलाएँ काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं।

पश्चिमीय शिक्षा-पद्धति में पालित आसामी युवतियों पर आधुनिक सभ्यता का रङ्ग सवार है। यह भी उन दुर्गुणों से, जिनमें फ़िज़ूलख़र्ची, गृहकार्य में उदासीनता और धर्म की ओर से अरुचि आदि प्रधान हैं, अपने को बचा नहीं पाई हैं। सभा-सोसाइटियों के वातावरण की ओर भी ये द्रुतगति से अग्रसर हो रही हैं। प्रति वर्ष इनका अपना 'आसाम महिला-सम्मेलन' भी होता है। सम्मेलन के अतिरिक्त प्रति तृतीय वर्ष इनकी अपनी 'कामरूप महिला-शिल्प-प्रदर्शनी' भी होती है, जिसमें गृहशिल्प की अच्छी नुमाइश होती है, जो सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण और उपयोगी है।

आसामी महिलाएँ हिन्दी की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुई हैं और कितनी ही तो 'प्रयाग महिला-विद्यापीठ' से हिन्दी की उपयोगी शिक्षा ग्रहण कर, विद्यापीठ की परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो आई हैं और कुछ अब भी विद्यापीठ में अध्ययन कर रही हैं।

यद्यपि आसाम भारत के प्रमुख प्रान्तों से दूर एक कोने में पड़ा है; उसका अधिकांश भाग पहाड़ों और जङ्गलों से भरा है तथा वहाँ की अनेक जातियाँ अभी तक असभ्यावस्था में हैं, तो भी थोड़े ही वर्षों में वहाँ की महिलाओं ने शिक्षा, साहित्य और सामाजिक विषयों में जैसी प्रगति की है, वह प्रशंसनीय है। वे लोग गृह-शिल्प में तो अन्य अनेक प्रान्तों की बहिनों से आगे बढ़ी हैं, और हम आशा करते हैं कि भविष्य में इस विषय में और भी उन्नति करके भारतीय महिलाओं के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करेंगी।

कुमाऊँ का पहाड़ी समाज

कूर्मांचल (अर्थात् कुमाऊँ प्रान्त) के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में जन-साधारण में ऐसी भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं, जो गर्हित होने के साथ ही हास्यजनक भी हैं। इस अज्ञता का मूल कारण है वास्तविक सत्य की खोज के प्रति हमारे देश-वासियों की स्वाभाविक उदासीनता की सङ्कीर्ण मनोवृत्ति। पाश्चात्य देशों में लोग अपने देशों से सहस्रों मील दूर अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, एशिया आदि महादेशों के दुर्गम केन्द्रों में प्रवेश करके वहाँ के निवासियों के सामाजिक जीवन से घनिष्ठ रूप से परिचित होकर अपने देशवासियों को भी उसकी यथार्थता से परिचित कराये बिना चैन नहीं पाते। पर हम लोग अपने ही देश (बल्कि अपने ही प्रान्त) के अन्तर्गत एक विशिष्ट समाज के वास्तविक जीवन के सम्बन्ध में यथार्थ तथ्यों से अवगत होने का न तो प्रयत्न करते हैं, न उस यथार्थता से परिचित होने की कोई विशेष इच्छा ही रखते हैं, और नितान्त अज्ञ लोगों द्वारा फैलाई हुई भ्रान्तियों को आँख मूँदकर सत्य के बतौर स्वीकार कर लेते हैं।

मुझे याद है, प्राय तीन वर्ष पूर्व 'चाँद' में किसी एक लेखक की एक कहानी छपी थी, जिसमें एक स्थान पर एक व्यक्ति भङ्ग की तरङ्ग में अपने एक साथी से कहता है—"अल्मोड़े की किसी पहाड़िन से शादी कर लो और जब चाहो तब छोड़ दो।" इस कथन से यह स्पष्ट है कि उक्त कहानी-लेखक की सम्मति में अलमोड़े के समाज का बन्धन बहुत शिथिल है। यह धारणा ऐसी भ्रान्त तथा सङ्कीर्ण मनोवृत्ति की परिचायक है कि इसकी जितनी निन्दा की जाय, थोड़ी है। जो लोग कूर्मांचली समाज की वास्तविक स्थिति से भलीभाँति परिचित हैं, वे जानते हैं कि वहाँ का स्त्री समाज कितना सभ्य, सुसंस्कृत तथा सौष्ठव-सम्पन्न है। मैं भारत के प्राय· सभी प्रान्तों में भ्रमण कर चुका हूँ। इसलिये थोड़े बहुत अधिकार के साथ कह सकता हूँ कि गृहलक्ष्मी का जो सुपवित्र, निर्मल, मङ्गलमय स्वरूप कूर्मांचली महिलाओं में पाया जाता है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं दिखाई देता और कल्याणीया मातृ-जाति के प्रति वास्तविक श्रद्धा, भक्ति तथा पूजा का जो भाव कुमाऊँ प्रान्त के पुरुषों में देखा जाता है वह अतुलनीय है। सामाजिक बन्धन भी (जिसे मैं सांस्कृतिक आभिजात्य तथा मनुष्योचित कौलीन्य के लिए परमावश्यक समझता हूँ) उस तरफ विशेष रूप से सुसङ्गठित तथा दृढ़ है। आभिजात्य तथा कुलीनता का वहाँ के लोगों को इतना खयाल रहता है कि जो कूर्मांचली पुश्तों से नीचे देश में आकर बस गये हैं, वे भी कभी भूलकर कूर्मांचल-समाज को छोड़कर अन्य किसी भी समाज से रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं रखते। यदि कभी कोई किसी कारण से ऐसा कर बैठे तो समाज से वह सदा के लिए अनिवार्यत बहिष्कृत कर दिया जाता है। राष्ट्रीय दृष्टि से यह बात भले ही प्रशंसनीय न हो और कूर्मांचलियों की यह अपने ही समाज के भीतर बद्ध रहने की प्रवृत्ति एक विशेष दृष्टिकोण से भले ही सङ्कीर्णता की परिचायक मानी जाय, पर इससे पूर्वोक्त कहानी-लेखक की यह भ्रान्त धारणा मूलत खण्डित हो जाती है कि कोई भी व्यक्ति चाहे तो "अल्मोड़े की किसी पहाड़िन से शादी करके जब चाहे तब छोड़ दे।" कोई बाहर का व्यक्ति

वहाँ की किसी स्त्री से (अस्पृश्य जाति की स्त्रियों के अतिरिक्त) विवाह कर ही नहीं सकता है, तब छोड़ने की नौबत ही कैसे आ सकती है !

'पहाड़' तथा 'पहाड़ी' शब्द बड़े अस्पष्ट तथा व्यापक अर्थ में व्यवहृत होते हैं। जिस हिमपर्वत-श्रेणी के सम्बन्ध में कालिदास ने "पूर्वापरौ तोयनिधीऽवगाह्य" कहकर एक समुद्र से लेकर दूसरे समुद्र तक जिसका विस्तार बताया है (और यह विस्तार प्रायः उतना ही है जितना कि काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक) उसके सम्बन्ध में यदि कोई व्यक्ति यह अनुमान करे कि उसके एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक सर्वत्र एक ही प्रकार का सामाजिक जीवन वर्तमान है तो इससे अधिक मूर्खता और कुछ हो ही नहीं सकती। शिमला, मसूरी, दार्जिलिंग, शिलाङ्ग आदि विभिन्न पहाड़ी स्थानों के सामाजिक जीवनों में एक-दूसरे से बहुत भिन्नता पाई जाती है। और कूर्माचल प्रान्त का सामाजिक जीवन तो सब पहाड़ी स्थानों के जीवन से मूलतः भिन्न है। बात यह है कि अन्यान्य पार्वतीय स्थानों के अधिवासी अधिकांशतः वहाँ के मूलनिवासी हैं, पर कूर्माचल के अधिक संख्यक अधिवासी वहाँ के आदिम निवासी नहीं हैं। वर्तमान कूर्माचलियों के पुरखे कन्नौज, महाराष्ट्र तथा गुर्जर प्रदेशों से आकर स्वाध्याय तथा आध्यात्मिक संस्कृति की ऐकान्तिक साधना के लिये कुमायूँ में आकर बस गये थे। वहाँ के अधिक संख्यक ब्राह्मण कान्यकुब्ज हैं और वहाँ के क्षत्रिय तथा वैश्य भी कन्नौज तथा उसके आस-पास के स्थानों से आकर वहाँ बसे हैं। केवल शूद्र-श्रेणी के लोग वहाँ के आदिम वासियों के अवशिष्ट चिन्ह-स्वरूप हैं। पर उनमें भी भारत के अन्यान्य प्रान्तों के हरिजनों की अपेक्षा अधिक सभ्यता तथा संस्कृति पाई जाती है।

कूर्माचल का पहाड़ी समाज शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता तथा नीतिमत्ता में सर्वदा युक्तप्रान्त में अग्रणी रहा है। विषयान्तर होने पर भी मैं इस सम्बन्ध में यहाँ पर दो-एक बातों का उल्लेख आवश्यक समझता हूँ। कुमाऊँ के निवासियों ने विख्यात कवि-भूषण का आदर उनके जीवित-काल में किया था। भूषण के युग में पहाड़ का मार्ग अगम होने पर भी कुमाऊँ के तत्कालीन राजा चन्द तथा उनके परिषद् वर्ग की विद्वत्ता की धाक सभी हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में फैली हुई थी। भूषण को भी इस बात का पता था, इसलिए वह यात्रा की कठिनाई की कुछ भी परवा न कर कुमाऊँ के राज-दरबार में पहुँचे थे। हिन्दी का सर्व-प्रथम साप्ताहिक पत्र अल्मोड़े से निकला था जो 'अल्मोड़ा अखबार' के नाम से प्रसिद्ध रहा है। अल्मोड़े के नागरिक तथा देहाती स्त्री-समाज में विशुद्ध हिन्दी के जो अनेक सुन्दर गीत अनेक पीढ़ियों से प्रचलित पाये जाते हैं, उनमें सुरुचि, परिमार्जित भाषा तथा सुसंस्कृत भावधारा का जैसा मनोहर समन्वय पाया जाता है, वैसा युक्तप्रान्त के अन्य किसी भाग में प्रचलित महिला-गीतों में मैंने नहीं पाया। ऐसी संस्कृति, सुरुचि तथा शालीनता का 'ट्रैडीशन' जिस समाज में वर्तमान हो, वहाँ के सम्बन्ध में यह धारणा कर लेना कि वहाँ के सामाजिक तथा नैतिक बन्धन शिथिल हैं, संकीर्ण मनोवृत्ति का द्योतक नहीं तो और क्या है?

कुमाऊँ के कृषक-सम्प्रदाय में भी नैतिकता का आदर्श कैसा उन्नत है, इसके यथेष्ट प्रमाण उन लोगों को प्राप्त हैं जो उनके भीतरी जीवन से भलीभाँति परिचित हैं। अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वहाँ प्रत्येक कृषक-स्त्री सब समय अपने पास एक हँसुवा रखे रहती है और वहाँ की अदालतों में कृषक-रमणियों द्वारा गुण्डों पर हँसुवे से आक्रमण के मामले पेश होते रहते हैं। युक्तप्रान्त के अन्यान्य स्थानों में देखा जाता है कि शिवरात्रि से लेकर होली के अवसर तक जब कहीं किसी मेले में स्त्री-पुरुष एकत्रित होते हैं, तो हमारे श्रमजीवी तथा कृषक भाई स्त्रियों को लक्ष्य करके जघन्य तथा अश्लील भाषा में 'कबीर' गाने लगते हैं और उक्त नामधारी महात्मा की मिट्टी खराब करते हैं। पर कुमाऊँ पहाड़ के कृषकों को मैंने कभी किसी भी मेले के अवसर पर स्त्रियों के प्रति एक भी अपशब्द काम में लाते हुए नहीं सुना। इसमें सन्देह नहीं कि वे प्राकृतिक प्रकाश की तरह उन्मुक्त अवस्था में निर्बाध गति से गीत-वाद्य द्वारा राग-रंजमय जीवन बिताते हैं, पर नैतिक बन्धन कभी ढीला नहीं होने देते। वहाँ के कृषक-कवि मेलों में स्वरचित प्रेम-गीत

गाते हैं और आशु-कवियों की तरह बहुत से गानों को तत्काल प्रेरणा पाकर रच देते हैं। पर इन गीतों में अश्लीलता की गन्ध नहीं रहती और उनमें अक्सर प्रेम-वेदना पीड़ित छायावादी कवियों के भाव पाये जाते हैं। इस नियम में कभी-कभी व्यतिक्रम तथा अपवाद पाया जा सकता है। पर इस सम्बन्ध में अङ्गरेजी की यह मसल याद रखनी होगी :—"Exception proves the rule"

कूर्माचल के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में सबसे अधिक भ्रान्त धारणा वहाँ की नायक-जाति के विषय में पायी जाती है। कुछ व्यक्तियों ने यह अफवाह इस ढङ्ग से फैला रक्खी है जिससे यह सन्देह सा होने लगता है कि सारे कुमाऊँ प्रान्त में केवल नायक ही नायक बसे हुए हैं। पाठकों को मालूम होगा कि नायक एक विशेष जाति है, जो अपनी लड़कियों से पेशा करवाने के लिए बदनाम हैं। यह जाति कुमाऊँ में भी किसी हद तक वर्तमान है, इसमें सन्देह नहीं, पर युक्तप्रान्त के अन्यान्य स्थानों में तथा बिहार में भी यत्र-तत्र बहुसंख्या में वर्तमान है। एक अङ्गरेज विशेषज्ञ ने जो किसी उत्तरदायित्व-पूर्ण सरकारी पद पर प्रतिष्ठित रहा है, अपनी एक पुस्तक में इस सम्बन्ध में लिखते हुए कुमाऊँ का कहीं उल्लेख तक नहीं किया है, पर लिखा है कि युक्तप्रान्त तथा बिहार में सर्वत्र इनका निवास है। पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि कुमाऊँ में केवल दो-तीन ही गाँव हैं, जहाँ नायक लोग न्यूनाधिक संख्या में निवास करते हैं। पर अब दिन पर दिन उनका ह्रास बड़ी तेज़ी से होता चला जाता है। इसका कारण यह है कि युक्तप्रान्त के बड़े-बड़े ज़मींदार तथा ताल्लुकेदार बड़े चाव से उनकी लड़कियों से विवाह करने लगे हैं और कुछ रियासतों में वे रानियों के पदों पर प्रतिष्ठित हो चुकी हैं।

अल्मोड़े की तरफ़ कटारमल नामक एक गाँव है, जो नायकों के निवास के लिए प्रसिद्ध था। उसी तरफ़ ग्रीक युग में निर्मित एक प्राचीन हिन्दू मन्दिर है। एक बार उस मन्दिर के दर्शनार्थ मैं उस ओर गया था। वहाँ जाकर कौतूहलवश यह विचार उत्पन्न हुआ कि नायकों की बस्ती में जाकर उनके सम्बन्ध में प्रचारित बातों की यथार्थता का पता लगाऊँ। जाने पर मालूम हुआ कि सारी बस्ती सूनी पड़ी है। केवल एक घर में एक बुढ़िया का पता चला। उससे ज्ञात हुआ कि अब कोई नायक वहाँ नहीं रहा। नाना कारणों से वे क्षयीभूत हो चुके थे। जो शेष रह गये थे वे उस गाँव के बदनाम होने के कारण वहाँ से हट कर कहीं दूसरी जगह चले गये थे और अपनी ही समश्रेणी के लोगों के साथ अपनी लड़कियों का विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके इस निश्चय से नया जीवन बिताने लगे थे कि यदि उनके समाज का कोई व्यक्ति कभी भूल कर अपनी लड़की से पेशा करवायेगा तो वह समाज द्वारा दुर्दशा के साथ बहिष्कृत किया जायगा। क्या ही अच्छा हो, यदि युक्तप्रान्त तथा बिहार के नाना स्थानों में बसी हुई सभी नायक जातियाँ ऐसा ही निश्चय कर लें!

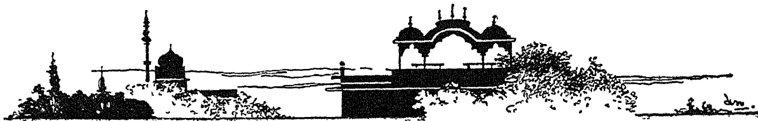
अल्मोड़े में नायकों का उल्लेख होते ही मैं विशेष रूप से कटारमल का ही नाम सुनता था। वहाँ जाकर जब यह हाल देखा तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। यही हाल शेष दो-एक गाँवों का भी है। बस केवल इतने ही से छिद्र-बुद्धि 'समाजोद्धारकों' ने यह मूलतः असत्य धारणा लोगों में फैला दी कि कुमाऊँ में नायक जाति की लड़कियाँ बहुसंख्या में पेशा करती हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि नायक लड़कियों की संख्या कुमाऊँ में इस कदर कम है तो देहली, लखनऊ आदि दो-एक बड़े शहरों में पहाड़ी वेश्याएँ क्यों पाई जाती हैं। बड़े शहरों में स्वभावतः देशभर की वेश्याएँ आकर बसेंगी, इसमें आश्चर्य की क्या बात है! यदि कूर्माचल की कुछ वेश्याएँ वहाँ बस गईं तो क्या इसका यह अर्थ समझ लेना चाहिए कि सारे कुमाऊँ पहाड़ में वेश्याएँ भरी पड़ी हैं? क्या इन स्थानों में युक्तप्रान्त, बिहार, पञ्जाब, काश्मीर, सिन्ध आदि नाना प्रदेशों की वेश्याओं ने अपना जमघट नहीं बना रक्खा है! आँकड़ों से पता चलता है कि कुमाऊँ प्रदेश की वेश्याओं की संख्या अन्यान्य स्थानों की तुलना में नगण्य है। कलकत्ता शहर में प्रायः तीस हज़ार वेश्याएँ निवास करती हैं, जिनमें तीन चौथाई बङ्गालिनें हैं। यदि इस तथ्य से कोई व्यक्ति

इस परिणाम पर पहुँचे कि सारा बङ्गाल देश वेश्यामय है तो कैसा अनर्थ होगा !

बड़े शहरों में जो पहाड़ी वेश्याएँ पाई भी जाती हैं, उनमें नायक जाति की एक ही आध कोई लड़की हो तो हो, वर्ना वे सब पहाड़ की डोमनियाँ होती हैं, जिनका स्थान हरिजन-समाज में भङ्गिनों से कुछ ही ऊपर है पहाड़ की डोमनियों का रङ्ग काफ़ी गोरा-उजला होता है। उन्हें इस क्षेत्र में विशेष सुविधा है और यथेष्ट लाभ है। अपने साधारण जीवन में सवर्णों द्वारा उन्हें किस प्रकार निर्यातित होना पड़ता है, यह बात किसी से छिपी नहीं है ; अतएव वेश्यावृत्ति द्वारा उन्हीं सवर्णों को अपना दास बनाकर उनकी प्रतिहिंसात्मक प्रवृत्ति को यथेष्ट सन्तोष होता है । दूसरा लाभ यह है कि बेकारी तथा तङ्गी के इस युग में उन्हें आवश्यकता से अधिक धन की प्राप्ति होती है ; क्योंकि वे अपेक्षाकृत 'सुन्दरी' होने के कारण अन्यान्य वेश्याओं से सहज ही में बाज़ी मार ले जाती हैं। इन डोमनियों में कुछ वेश्याएँ अपने को नायक-जाति की बतलाया करती हैं, क्योंकि वे जानती हैं कि यह विशेष जाति अकारण 'ख्याति' प्राप्त कर चुकी है। सङ्गीत-वाद्य में उनकी निपुणता देखकर राजा-रईस लोग उनकी बात पर आँख मूँदकर विश्वास कर लेते हैं। जो लेखक-गण कुमाऊँ के स्त्री-समाज के सम्बन्ध में मनमानी बातें लिखते हैं और 'समाज-सुधार' के सिलसिले में 'पहाड़ी वेश्याओं' का उल्लेख करते हैं, उन्हें इन्हीं डोमनियों से अपने लेखों का मसाला मिलता है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कुमाऊँ पहाड़ का सामाजिक जीवन भारत के अन्याय पार्वत्य प्रदेशों के जीवन से बिल्कुल भिन्न है। यहाँ सनातन आर्य-संस्कृति का मूल आदर्श परिपूर्ण मात्रा में वर्तमान है। इसमें सन्देह नहीं कि अब यूरोपियन सभ्यता ने भारत के सभी उन्नत प्रदेशों की तरह वहाँ भी प्रकोप दिखाना शुरू किया है, तथापि वहाँ की शिक्षिता महिलाओं ने इस सभ्यता के प्रवाह में अपने को न बहाकर प्राच्य तथा पाश्चात्य आदर्शों के समन्वय को ऐसी सुन्दरता तथा शालीनता से अपनाया है जो अपूर्व है और भारत में सर्वत्र अनुकरणीय है। जो कुप्रथाएँ भारत के अन्यान्य स्थानों में पाई जाती हैं, वे न्यूनाधिक परिमाण में कुमाऊँ प्रदेश में भी अवश्य किसी न किसी रूप में अभी तक वर्तमान हैं, तथापि बहुत से सामाजिक विषयों में यह प्रदेश बहुत पहले से आदर्श-स्वरूप रहा है। दहेज-प्रथा कुमाऊँ में कभी नहीं रही है और वर्तमान लेखक ने अब तक बाल-विवाह का नामोनिशान वहाँ कहीं नहीं पाया। दोष कहिए या गुण कहिए, कूर्माचल के सामाजिक जीवन की जो एक भयङ्कर विशेषता है वह है उसका कठोर नैतिक बन्धन और पारसी समाज की तरह वहाँ के लोगों में अपने पार्वतीय समाज के भीतर ही बद्ध रहने की प्रवृत्ति।



काश्मीरी समाज और संस्कृति

भारतवर्ष में चार मुख्य जातियां हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इन्हीं में से काश्मीर देश के निवासी ब्राह्मण 'काश्मीरी ब्राह्मण' कहे जाते हैं। काश्मीर में केवल ब्राह्मण तथा मुसलमान दो ही जातियाँ हैं, यही इस देश की विशेषता है। काश्मीरी ब्राह्मणों तथा पूर्व, पश्चिम और दक्षिण के ब्राह्मणों के परस्पर रीति-रिवाज, रहन-सहन, बोलचाल तथा खान-पान सभी बातों में विभिन्नता पाई जाती है। यह विभिन्नता जलवायु तथा देश-काल के कारण है। प्रथम तो काश्मीर शीतप्रधान देश है, दूसरे इस पर मुसलमानों का प्रभाव बहुत पड़ा। यही कारण है कि काश्मीरी जाति में छुआछूत का विचार अधिक नहीं है, और खानपान में भी मास-मछली आदि से कोई विशेष परहेज नहीं है।

काश्मीरी समाज के नियम अन्य समाजों की भाँति कठोर कभी भी नहीं थे। धार्मिक विषयों मे वैदिक रीति का पालन होता था और अब भी है। जाति-भेद बिलकुल नहीं था। समस्त काश्मीरी ब्राह्मण एक थाली में भोजन करने वाले हैं। यह भेद नहीं है कि कौल आगा के साथ, आगा दर के साथ, दर नहरू के साथ या परस्पर एक दूसरे का छुआ भोजन न करें, जैसा कि पूर्वीय तथा पश्चिमीय ब्राह्मणों में है। समस्त काश्मीरी ब्राह्मण खानपान में समान हैं, कोई भेद नहीं। बस इतना ही नियम है कि काश्मीरी ब्राह्मण हों। छुआछूत का विचार न होते हुए भी इस जाति में दो सभाएँ थीं, एक 'बिशन सभा', दूसरी 'धर्म-सभा'। इन दो सभाओं के होने का कारण यह था कि छुआछूत का विचार परस्पर काश्मीरी भाइयों में नहीं माना जाता था, पर अन्य जातियाँ जैसे मुसलमान, ईसाई, वैश्य, यहाँ तक कि पूर्वीय तथा पश्चिमीय ब्राह्मणों के साथ भी खानपान का व्यवहार नहीं था। यदि कोई व्यक्ति विलायत से वापस आया और बिना प्रायश्चित किये अपने सम्बन्धियों में मिला लिया गया तो उन लोगों का समूह 'बिशन सभा' के नाम से प्रसिद्ध होता था, और फिर अन्य व्यक्ति चाहे 'धर्म-सभा' की ओर के हों, यदि एक बार भी उन 'बिशन सभा' वालों के साथ खानपान में सम्मिलित हो जावें, तो उनकी गणना भी उन्हीं में की जाती थी, और उनसे भी खानपान का व्यवहार बन्द हो जाता था। किन्तु परस्पर मिलने-जुलने में कोई भेद-भाव नहीं था। छुआछूत का अधिक विचार न होते हुए भी इतना सामाजिक बन्धन अवश्य था। इसे चाहे सामाजिक नियमों की कठोरता समझा जाय अथवा दृढ़ता। छुआछूत का विशेष रूप से कोई विचार न होने का एक कारण यह भी है कि काश्मीरी जाति का सम्पर्क आरम्भ से ही मुसलमानों से अधिक रहा, यहाँ तक कि काश्मीरियों की भाषा भी उर्दू ही मानी जाती है।

परदा-प्रथा के विषय में भी यही बात है। इस समाज में परदा-प्रथा कभी नहीं थी, परन्तु स्त्री-सुलभ नम्रता तथा शीलता का अभाव नहीं था। पूर्ण स्वतन्त्र होते हुए भी उस समाज की स्त्रियों में स्त्रीत्व का अभाव नहीं था।

किसी भी जाति की उन्नति के कुछ न कुछ साधन अवश्य होते हैं, उनमें से सामाजिक बन्धन भी एक साधन है। जब किसी जाति को सामाजिक नियमों का डर नहीं रह जाता तो यह निश्चय है कि उसकी उन्नति का मार्ग रुक जाता है। समाज का भय मनुष्य-मात्र के लिये बहुत बड़ी बात है। यह सामाजिक बन्धनों की ही विशेषता थी कि काश्मीरी जाति रूप, गुण तथा रीति-रिवाज आदि में प्रसिद्ध थी।

बड़े दुःख का विषय है कि जो जाति इतनी प्रसिद्ध और उदाहरण-स्वरूप थी, वही जाति आज पतन की ओर जा रही है। इस जाति के पतन का मुख्य कारण मेरी समझ में तो यही है कि अब इस जाति में सामाजिक बन्धन कुछ रहे ही नहीं हैं, और साथ ही स्वच्छन्दता भी पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। सभी एक ही धारा के प्रवाह में बहे जा रहे हैं, जिसकी जो इच्छा हुई किया, कोई पूछने वाला नहीं।

परदा-प्रथा के बारे में पहिले कहा जा चुका है कि इस जाति में परदा-प्रथा नहीं थी, किन्तु स्त्रीत्व तथा स्त्री-सुलभ शीलता का अभाव नहीं था। स्वतन्त्रता-पूर्वक घूमती रहें, परन्तु किसी का साहस नहीं होता था कि आँख उठा कर उनकी ओर देखे। उसी समाज की स्त्रियों ने इस स्वतन्त्रता का ऐसा सदुपयोग किया कि अब जहाँ-तहाँ उन्हीं की चर्चा सुनी जाती है। स्वच्छन्दता की भी एक सीमा है। इन्द्रलोक की अप्सरा बन कर बाहर घूमना ही स्वतन्त्रता नहीं है। परदा न करने के अर्थ यह नहीं हैं कि स्त्री-सुलभ लज्जा को भी तिलाञ्जलि दे दी जाय। यह उच्छृङ्खलता सामाजिक बन्धनों की शिथिलता के कारण ही सम्भव हो सकी। जिस समाज में स्त्रियों का इतना अधिक सम्मान था और अन्य समाजों की अपेक्षा अब भी बहुत है, वही समाज अपनी बहिनों की हँसी करने में अब कुछ सङ्कोच नहीं करता।

विवाह-प्रथा की ओर दृष्टि डालिये तो वहाँ भी यही हाल है। पहिले की भाँति न अवस्था का विचार है न गोत्र अथवा कुल का ही। लड़कियों का बीस-बाईस वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहना तो बिलकुल साधारण बात है। इस जाति में पच्चीस, अट्ठाईस और कहीं-कहीं तीस-तीस वर्ष की भी कुमारियाँ बैठी हैं। ऐसी अवस्था में, जब कि लड़कियों को आधी से अधिक आयु इस प्रकार व्यतीत करनी पड़ती है, उस पर वर्तमान समय की शिक्षा तथा स्वतन्त्र वातावरण में रहना पड़ता है, उनसे यह आशा करना कि वे अपने मार्ग से न विचलित हों, कहाँ तक ठीक है? यदि उनमें कुछ दोष आ गए हैं तो इसमें दोष समाज का है, उनका नहीं। समाज के कुछ विकृत नियम ही इस जाति को पतन की ओर ले आने में सहायक हुए हैं। जब तक आठ-दस हज़ार रुपया न हो या कम से कम छः हज़ार रुपया न हो, लड़की का विवाह होना असम्भव-सा है। सुधार सुधार की ध्वनि तो बहुत सुन पड़ती है, परन्तु मालूम नहीं होता कि क्या सुधार हो रहा है। इस समाज का नियम था कि दिजहक तथा जोड़ा भी वर के साथ जाता था और उसी को पहनाकर कन्या-दान लेकर वर-पक्ष वाले सहर्ष अपने घर लौट आते थे। केवल फूलों की एक माला तथा नम्रता का व्यवहार ही कन्या-दान के लिये यथेष्ट था। इतने ही से कन्या के माता-पिता अपनी पुत्री को पूर्ण रूप से सुखी देख कर सन्तुष्ट तथा सुखी होते थे। पर अब इस समाज की यह दशा है कि हज़ारों खर्च करने पर भी वह सुख प्राप्त होना कठिन हो जाता है। बड़े आदमी (पैसे वाले) किसी न किसी रूप से वर-पक्ष वालों को अधिक धन पहुँचा देते हैं। हाँ, जो नियम बने हैं कि बरात के दिन का इतना तथा गरासुन आदि अन्य अवसरों पर इतना देना चाहिए, उस प्रकार न देकर अन्य ढङ्ग से उससे अधिक देकर साधारण स्थिति वालों को और कष्ट में डाल देते हैं। किन्तु कहते यही हैं कि हमने यह सुधार किया। जिस समाज में परस्पर सहगोत्रियों में विवाह सम्बन्ध नहीं हो पाता था, परस्पर भाई-बहिन का नाता मानते थे, उसी समाज के नवयुवक तथा नवयुवतियाँ भाई-बहिन का नाता होते हुए भी विवाह करने का साहस करने लगे हैं। यह समाज का दोष नहीं तो किसका कहा जाय! जबकि लड़का अथवा लड़की के लिये न तो विवाह की अवस्था निश्चित है, न सामाजिक भय अथवा सङ्कोच, तो उस समाज में इस उच्छृङ्खल स्वतन्त्रता का परिणाम और क्या हो सकता है? जिस समाज में अपनी ही जाति में विवाह-सम्बन्ध करते समय ऊँच-नीच कुल का विशेष रूप से ध्यान रक्खा जाता था, उसी समाज की यह दशा है कि ईसाई, एङ्गलो-इण्डियन व किसी भी जाति में विवाह-सम्बन्ध करने में सङ्कोच नहीं है। जो जिसकी इच्छा हो करे, कोई पूछने वाला नहीं। इन बातों का फल यह हो रहा है कि धीरे-धीरे उनकी सामाजिक विशेषताओं का

लोप होता जाता है। प्राचीन आवश्यक संस्कार भी धीरे-धीरे मिटते जा रहे हैं।

बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस वर्ष के लड़के हो गए हैं, परन्तु उपनयन संस्कार नहीं हुआ। उसका भी कारण यही है कि सब से पहिला सवाल धन का होता है। कम से कम हज़ार रुपया हो तो जनेऊ हो, इससे कम में होना असम्भव है चाहे तीस वर्ष की अवस्था क्यों न हो जाय। इन संस्कारों के न होने से विशेष हानि है या होने से लाभ, यह प्रश्न नहीं है। सभी संस्कार या रीतियाँ एक जीवित जाति का इतिहास हैं। उनका एक-मात्र उपयोग यही है कि वे जाति के भिन्न भिन्न व्यक्तियों के आचरण में एक साम्य उत्पन्न कर दें। काश्मीरी जाति इन्हें भुला कर धीरे धीरे अपने इतिहास को भूलती जा रही है। इस समाज का सिद्धान्त तो केवल यही रह गया है कि — "Eat drink and be merry" इस प्रकार पतन के गर्त में जाते हुए इस समाज को देख कर हृदय द्रवित हो उठता है। जो समाज उच्चता के शिखर पर था, संसार में उदाहरण-स्वरूप था, उसी समाज की यह दशा हो रही है !!

काश्मीरी सौन्दर्य संसार में प्रसिद्ध था। स्त्री हो अथवा पुरुष, कैसे ही जन समूह में खड़े हों, दूर ही से पहिचाने जाते थे कि अमुक व्यक्ति काश्मीरी है। उसी समाज के लोगों को अब काश्मीरी कहते लज्जा आती है। न वह रङ्ग-रूप है, न वह विशेषताएँ। जिस समाज ने अपना देश, वेष-भूषा, भाषा, अधिक कहाँ तक कहें, बहुत सी जगह तो अपने रीति-रिवाज तक छोड़ दिये हैं, उस समाज का अस्तित्व कब तक क़ायम रह सकता है! देश छोड़ने की बात न्यारी है, क्योंकि जीविका के कारण ऐसा प्रायः होता रहता है, वेष-भूषा के लिये भी कह सकते हैं कि 'जैसा देश वैसा भेष', जो काश्मीरी भाषा छोड़ कर उर्दू को अपनाया तो यह समय की आवश्यकता थी। परन्तु अन्य उपयोगी सामाजिक तथा सांस्कृतिक नियमों के परित्याग का क्या कारण है? बङ्गाली, पञ्जाबी, बिहारी, और सभी पूर्वीय तथा पश्चिमीय लोग अपनी वेष-भूषा, रीति रिवाज आदि को अपनाए हैं। किन्तु काश्मीरी जाति ही एक ऐसी जाति है, जिसे अपना अस्तित्व बनाये रखने की ओर तनिक भी ध्यान नहीं है। सब कुछ होते हुए अब तक स्त्रियों में सौभाग्य चिन्ह 'दिजहरू' पहनना आवश्यक समझा जाता था, यद्यपि इसके पहनने अथवा न पहनने से कोई विशेष लाभ अथवा हानि नहीं है, केवल इस जाति में यह विशेष सौभाग्य-चिन्ह समझा जाता था, नवीन सभ्यता के अनुसार इसे भी तिलाञ्जलि दी जा रही है। इस प्रकार सामाजिक, धार्मिक सभी विषयों का यही हाल है। एक प्रतिष्ठित तथा उन्नत जाति इस प्रकार अवनति की ओर जा रही है, इसका कारण सामाजिक बन्धनों की शिथिलता ही है। यदि समाज इस ओर विशेष ध्यान न देगा तो निश्चय है कि कुछ वर्षों में इस जाति का अस्तित्व ही मिट जायगा। संस्कृति की रक्षा के लिये समाज का निर्माण हुआ है और समाज के विकास के लिए संस्कृति का जन्म हुआ। संस्कृतिहीन समाज केवल मनुष्यों का समूह मात्र है।





[श्रीमती निर्मला मित्रा]

"झनन-झनन-झन् !" निस्तब्ध-रात्रि के शेष-याम पर, टेलीफ़ोन का तार नीरव कमरे में, अकस्मात, मानो आर्तनाद कर उठा। पिछली रात की टूटी-सी नींद छुटने में देर न लगी; समरेन्द्र चट पलङ्ग पर से उतर कर टेलीफ़ोन थाम कर खड़ा हुआ—"प्लीज... .."

"गाड़ी गिर पड़ी है—तुरन्त ही घटनास्थल पर पहुँचो।"

"हरे राम, यह क्या हो गया !"—फ़ोन हाथ से छूट पड़ने से बचा, सारी देह शिथिल हो गई, पैर लड़खड़ा उठे, आँखों में अँधेरी छा गई, और समरेन्द्र हाथों से माथा थामे धप् से बिछौने पर बैठ गया।

पेशावर से उसकी मामी इसी ट्रेन से चली आ रही थीं और वह कुछ अकेली नहीं, समरेन्द्र की भावी वधू को भी साथ ला रही थीं। कन्या के आ जाने पर विवाह यहीं होगा, यह तय हो चुका था। वजह यह थी कि कन्या की विधवा माता बहुत ग़रीब है, सो बरातियों का खर्च वहन करने में असमर्थ है। लेकिन 'लड़की ला-जवाब है' यह समरेन्द्र की मामी ने लिखा था, और वे कन्या को लेकर इसी ट्रेन से चल पड़ी हैं, इस आशय का टेलिग्राम भी कल शाम को समरेन्द्र पा गया है—तो निस्सन्देह दुर्दैव के कठिन आघात से—समरेन्द्र कुछेक क्षण के लिए स्तब्ध-सा हो रहा।

लेकिन, समरेन्द्र रेल का डॉक्टर है, 'डिउटी' में बँधा हुआ आदमी शोक को लेकर बैठ नहीं सकता, फिर उसे देखना भी तो है, उनमें से एक भी बच पायी या नहीं ! तो 'ट्राली' पर सवार होकर, जब वह घटनास्थल पर पहुँचा, तब भी उजियाला न हो पाया था। जहाँ गाड़ी के डिब्बे ज़्यादा धकमधक् हुए है, वहीं पर कुल मज़दूर और रेल-कर्मचारियों की भीड़ जम रही थी। अधमरे, अधकुचले यात्रियों का करुण-आर्तनाद, प्रकृति के अन्तःस्थल तक पहुँच, प्रतिध्वनि को मर्मान्तक बना उस घटना को विश्व में वितरण कर रहा था। इस परम कारुणिक दृश्य के बीच से डॉक्टर समरेन्द्र भी गुज़र रहा था। एकाएक उसके नौकर भानुसिंह ने हाथ की लाठी टेक दी, और बिजली-लाइट दो-एक बार एक ओर फेर कर बोला—"बड़ी मुश्किल से एक साबूत लाश नज़र पड़ी, इसे देखते चलिए .."

उस भीषण भीषणता के बीच में, यह एक माधुर्य-प्रतिमा ! एक परम रहस्य-सी अक्षत तरुणी-देह लाइन से छिटक कर दूर जा पड़ी थी। समरेन्द्र घुटने टेक कर बैठ गया, धमनी की गति की परीक्षा की, फिर बोला—'भानुसिंह इन्हें उठा लो।'

भानु सानन्द कह उठा—'माँ जी ?'

'नहीं, यह माँ जी नहीं, यह एक बङ्गाली लड़की है, बहुत सम्भव है जो माँ जी के साथ आ रही थी, वही हो, क्योंकि इस लाइन से बङ्गाली बहुतायत से आया-जाया नहीं करते !'

'तो हुज़ूर, इन्हें कहाँ पर पहुँचाएँ—अस्पताल ?'

'नहीं, कोठी पर ले चलो, मैं तुरन्त आता हूँ।'

× × ×

तरुणी के शरीर पर कोई विशेष चोट नहीं थी, फिर भी उसकी चेतना कई दिनों तक ग़ायब रही। समरेन्द्र अपनी अक़्ल से डॉक्टरी की कई एक विधियों का प्रयोग करते-करते थक गया—मकान पर कोई नहीं, सिर्फ़

भानुसिंह और वह । कभी घबड़ाकर समरेन्द्र भानु से पूछ बैठता—'क्यों भानु, यह वही तो है रे ?'

'ज़रूर-ज़रूर, इस बात में तो कोई फर्क है ही नहीं ।'

'मगर, मेरी मामी का तो कोई पता न लगा रे ?'

'आप भी कैसी बातें करते हैं, वहाँ सूरत पहचानने के लिये क्या डिब्बों ने एक भी सूरत साबूत छोड़ी थी ! देखा था आपने, मृतकों के शरीर तो पिण्ड के पिण्ड, मास के लोथे बन गए थे ।'

समरेन्द्र सिहर कर नीरव हो जाता । हाँ, ऐसा ही हुआ है—और यह तरुणी निःसन्देह वही है—और उसका अन्तर्यामी भी—अन्दर से सहयोग देकर कह उठता—'हाँ-हाँ वही है ।'

समरेन्द्र कमरे में आता—एवम् अपने ही मसहरी-दार पलङ्ग पर, अचेतन उस तरुणी को देख-देख कर मुग्ध हो उठता । आवेग में भरकर पास बैठ जाता, फिर उसके सिर पर परम स्नेह से हाथ फेर चलता । कभी उसके चूर्ण कुन्तलों को सहला देता, कभी तटस्थता से उसे उढ़ा देता—समरेन्द्र न हो तो, कल इसका पति कहलाएगा—किन्तु भानु तो है, दिन रात आग की अँगीठी, सेंकने को पहला, टिञ्चर की शीशी, दवा की पुड़िया आदि लेकर पचासों बार कमरे में आता है, तो चाहिए ही इसे कुछ आवरण की आड़ ।

समरेन्द्र ने कई रोज़ की छुट्टी ले ली । दिन-रात की 'एटेण्डेन्स' की इसे आवश्यकता है, अस्पताल में एक भी 'नर्स' खाली नहीं, रेल के इतने अधमरे, अधकुचले घायलों की सेवा करना कोई एकाध का काम थोड़े है, दूसरे शहरों से 'स्पेशल नर्स' और बुलाई गई हैं ! ऐसी दशा में एक मरीज़ के लिए एक 'नर्स' सरकार समरेन्द्र के हवाले कर दे, ऐसी कोई युक्ति नहीं, तो समरेन्द्र छुट्टी लेकर खुद ही अपनी भावी पत्नी की सेवा में लग गया ।

आठ रोज़ बीत गये और आज तरुणी को कुछ चैतन्य आता दिखाई दिया, पर अब भी कोई पूर्ण चेतना नहीं आई थी । थोड़ी-थोड़ी हिल-डुल रही है, पलकों में मृदु-मृदु कम्पन जग रहा है, ओठों पर भी दर्द की बिलक का बीच-बीच में आभास मिल रहा है ।

समरेन्द्र आज उसके निकट से क्षण भर के लिए नहीं हटा—कहीं यह न हो कि 'सेन्स' आए और तरुणी एकाएक उठ कर ही बैठ जाए । उससे फिर 'शॉक' लगने का खौफ़ रहेगा—फिर वह स्थिति बड़ी खतरनाक ठहरेगी, आदि-आदि सोचते ही सोचते उसकी आँखें झप गईं ।

मगर हुआ वही । समरेन्द्र की आँखें लगीं कि तरुणी की आँखें खुल गईं । कमरे में उज्ज्वल रोशनी जगमगा रही थी । तरुणी ने पहले सोचा, रेल का कमरा, फिर उसने पड़े-पड़े सब बातों को याद किया और घबड़ा कर ज्यों उठने लगी, तो बिछौने के निकट ही किसी पुरुष को देखा । तरुणी के भय-विह्वल दुर्बल कण्ठ से निकल पड़ा—'ओ बाप रे !'

समरेन्द्र झट से उठ बैठा और उसके मुँह पर झुक कर बोला—'क्यों-क्यों ?'

पसीने में तर होकर तरुणी ने आँखें मूँद ली थीं । समरेन्द्र ने सिर पर पङ्खा डुलाया, नब्ज़ देखी, 'स्मेलिङ्ग साल्ट' की शीशी नाक के पास पकड़ी ।

तरुणी गहरी साँस भर कर बोली—'मैं कहाँ ..'

समरेन्द्र के मुँह से निकल पड़ा—'अस्पताल' ।

स्वभावतः ही अव्यवस्थित मस्तिष्क आक्रान्त हो आया । तरुणी के नेत्र-पल्लव धीरे-धीरे फिर मुँद गए ।

किन्तु दूसरे ही दिन परिपूर्ण ज्ञान से तरुणी पूछ बैठी—'आप' ?

'मैं डॉक्टर हूँ ।'

'ओ, किन्तु यह तो अस्पताल नहीं है ?'

'नहीं, यह मेरा ख़ास 'क्वार्टर' है, कुछ अच्छी हो जाओ, फिर सब घटना जान सकोगी ।'

× × ×

कई रोज़ और बीत गये । तरुणी अब कुछ उठ-बैठ सकती है, मगर चेहरा बिलकुल फक पड़ गया है, और रहती है एकदम उदास, विषण्ण, सन्ध्या की विषादित कमलिनी सी और समरेन्द्र भी अब अन्दर एकदम नहीं आता । उसे महा शङ्का है, अपनी माँ की बात पूछ कर वह रोएगी, बिलखेगी । डॉक्टर समरेन्द्र सोचता है, उससे फायदा यह होगा कि अत्यन्त मनोवेदना से तरुणी फिर से खाट पर पड़ जाएगी, तो कुछ दिन सामने

न जाना ही अच्छा है, और अपनी भावी पत्नी की सेवा के लिये अब भानु को हटा कर उसने एक दाई रख दी । तरुणी के सुख, सुविधा और उत्फुल्लता के लिए समरेन्द्र ने कोई कमी न रख छोड़ी । 'हैमिल्टन' के यहाँ से 'अर्जेन्ट आर्डर' से उसने सबसे बढ़िया डिज़ाइन की सोने की चूड़ियाँ, 'ब्रेसलेट' 'हेयरपिन' और 'ब्रोच' मँगवाईं । कलकत्ते के सब से बड़े 'क्लाथ-मर्चेन्ट' के यहाँ से साड़ियाँ और ब्लाउज़ पीस आ पहुँचे । समरेन्द्र ने नौकरानी के हाथ उन्हें अन्दर पहुँचाया, किन्तु तरुणी देख कर रो पड़ी—'ओ दाई, तुम्हारा डॉक्टर कहाँ...?'

बाहर खड़ा भानु बोल उठा—'जी, वह तो दौरे पर निकल गए हैं ।'

'तो जब आएँ, तभो मुझ तक पहुँचाओ ।'

'जी...'

फिर कई दिन कट गए । अन्तर्वेदना में पीड़ित तरुणी चुपचाप नभोमण्डल को ताककर सोच रही थी—उस रात मैंने देखा, यह डॉक्टर मेरे पलङ्ग के निकट सो रहा था । तो वह क्या मेरा दृष्टि-विभ्रम था, या मेरी अचेतनता की विकारमय विश्रान्ति ! हे भगवान, ऐसा ही हो । वह मेरे विकृत मस्तिष्क का प्रलापमय स्वप्न ही रहे, और सच हुआ तो ? तरुणी बार-बार सिहर उठी, काँप गई, दिल ही दिल में आर्त-करुण शब्दों में अन्तर्वेदना से बोली 'फिर मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, और मेरी तसल्ली के लिए मेरे पास अब क्या रहा !' और आशाहत तरुणी की आँखों से टप्-टप् आँसू टपक पड़े ।

ठीक उसी समय समरेन्द्र आकर खड़ा हुआ । "ऐं, रोती हो ? भला रोना क्यों ? जो होने को था, सो हो गया । उसी को सोचकर दिन-रात रोना कोई अच्छी बात नहीं, बड़ी मुश्किल से अच्छी हुई हो, फिर बीमार पड़ जाओगी । इस बात को ख़ुद ही सोच सकती हो ।—अरे—हाँ, चूड़ियाँ तो कई दिन हुये भिजवाई थीं, पहनी क्यों नहीं ? और साड़ियों में क्या एक भी पसन्द न आई ?"

तरुणी कह बैठी—"पहले मेरे पिता की ख़बर दीजिए, वे जीवित हैं या मृत ?"

समरेन्द्र एकदम आसमान से गिरा । आँखें फैला कर पूछा—"तुम्हारे पिता ?"

"जी, मैं पिता जी के साथ तीर्थ से लौट रही थी !"

समरेन्द्र समझ गया, कहीं भारी गड़बड़ हो गई है । और ज़रा निश्चय करने के लिए पूछा—"तुम पेशावर से नहीं आ रही थीं ?"

"नहीं ।"

समरेन्द्र का माथा ठनक उठा, भारी गड़बड़ होगई इतनी बड़ी चूक, इतनी सांघातिक ग़लती भी होती है ! वह उल्टे पाँवों लौट कर कहता गया—"और कुछ दिन ठहरो, अख़बारों में छपवाकर तुम्हारे पिता को ढूँढ़ना पड़ेगा ।"

लेकिन तरुणी के पिता जी का कोई पता दुनिया में न मिला ।

समरेन्द्र सूखा चेहरा लेकर अन्दर पहुँचा, बोला—"नौकरानी और भानु को साथ देता हूँ, यह तुम्हें अच्छी तरह से घर तक पहुँचा आयेंगे ।"

तरुणी उदास नेत्र उठा कर बोली—"घर ही तो कहीं नहीं है !"

समरेन्द्र चमक पड़ा—"ऐं ! घर नहीं है ? एक स्थिति, एक देश, आत्मीय-स्वजन......?"

"नहीं-नहीं, मेरा कोई नहीं है—एक दूर के रिश्ते की बुआ मैमनसिंघ में है, अरक्षित अवस्था में रह कर, इतने दिनों बाद मैं वहाँ जाऊँगी तो वह और पड़ोस के लोग मुझे झाड़ू मार कर गाँव के बाहर कर देंगे—उपत कर अवमानना मुझे मोल नहीं लेनी है ।"

इस गर्विता तरुणी की तरफ़ देख कर समरेन्द्र आशा, उत्साह से कह उठा—"तब ?"

"देखिए, किसी आश्रम में जगह कर सकें तो..."

समरेन्द्र व्यथित हो उठा । अभिमान में भर कर बोला—"मगर, आश्रम में ही तुम क्यों रहने चलीं, तुम्हारी जिन्दगी तो ख़ासी मर्यादा से कटेगी । अगर, मञ्जूर करोगी तो, विवाह करके मैं तुम्हें धर्मपत्नी बनाने को तैयार हूँ ।"

तरुणी कपाल में कराघात करके बोली—"ओ तक़दीर ! मेरे कपाल का सिन्दूर पहले ही पुछ चुका है ।"

और भीत, त्रस्त, सशङ्कित समरेन्द्र क्षोभ, ग्लानि, लज्जा से भर कर कमरा छोड़ कर भाग आया, फिर अपने कमरे में पड़ कर आँसुओं के साथ सोचने लगा—त्रिहटा की ट्रेन-दुर्घटना जो विपत्ति मेरे सिर मढ़ गई, उसे मैं अब वहन करूँ किस प्रकार से···!



दक्षिण भारतीय नायर समाज की विशेषतायें

[श्रीमती पी० जानकी देवी]

दक्षिण भारत में नायर जाति एक प्रमुख जाति गिनी जाती है। मलावार में यद्यपि अन्य जातियाँ भी पेट-पालन के लिये आकर निवास करने लगी हैं, तो भी मुख्यत नायर जाति ही पायी जाती है, और वही मलावार की मूल निवासी समझी जाती है।

विद्वानों का कथन है कि साहित्य समाज का प्रतिविम्ब है। प्राचीन मलयाल-साहित्य से हमें यह पता चलता है कि पहले नायर समाज बहुत ही उन्नत दशा में था। मलावार के इतिहास से पता चलता है कि नायर जाति युद्ध-विद्या, वाणिज्य तथा कृषि आदि सब क्षेत्रों में अति कुशल थी। जब पोर्चुगाल का नाविक 'वास्कोडिगामा" पहले पहल हिन्दुस्थान में आया था तब मलावार के कोचीन, कालीकट आदि के निवासी पोर्चुगाल वालों के साथ बड़ी कुशलतापूर्वक व्यापार करते थे। कोचीन, ट्रावनकोर आदि मलयाल राज्यों के इतिहास से पता चलता है कि नायर जाति पुराने समय से ही बड़ी युद्ध-कुशल और स्वाभिमानी थी। आजकल भी नायर सैनिकों का मान कुछ कम नहीं है।

नायर समाज में वर्णव्यवस्था का जोर अन्य समाजों की अपेक्षा बहुत अधिक है। नायर जाति के अन्दर ही किरियन, पल्लीचान, शूद्र आदि लगभग ६४ जातियाँ हैं। इनमें एक-एक जाति के फिर कई एक भेद हैं। किरियन और शूद्र अपने को ऊँच समझते हैं और अन्य जाति के नायरों के घर में खान-पान का व्यवहार नहीं रखते। अन्य नायर जातियाँ उपर्युक्त दो जातियों के घर में खाना खाने में कोई बुराई नहीं समझतीं। लेकिन उन दोनों जातियों को छोड़ कर बाकी जातियों के साथ खान-पान का व्यवहार नहीं रखती हैं। इधर एक बात ध्यान देने योग्य है कि खान-पान का यह परहेज़ केवल स्त्रियों के लिये अनिवार्य रहता है; पुरुषों के लिये नहीं। पुरुष नायर समाज की सब जातियों के घर में खा सकता है; चाहे वह उच्च मानी जाय या नीच। इस समाज में वर्णव्यवस्था का यह विचार पहले बहुत अधिक था, जिसके कारण समाज की उन्नति में बाधा होती रही। लेकिन आजकल लोग वर्णव्यवस्था की बुराइयों को समझने लगे हैं, फलत अब नायर समाज में पहले के समान जाति-बन्धन नहीं रह गया है।

इस समाज के रीति-रिवाज अन्य समाजों के रीति-रिवाजों से एकदम भिन्न हैं। लोग कहते हैं कि मलावार में स्त्रियों का राज्य है। यद्यपि यह अक्षरश· सत्य नहीं है, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मलावार में स्त्रियों का मान अधिक होता है। स्त्री ही घर की स्वामिनी समझी जाती है। नायर समाज में वंश पिता की ओर नहीं चलता है, वरन् माता की ओर। मलावार के कोचीन, ट्रावनकोर, कालीकट आदि राज-घरानों में भी यही नियम चलता है। राजा की मृत्यु के बाद वहाँ उसका लड़का राज्य का उत्तराधिकारी नहीं होता, राजा का छोटा भाई या भाञ्जा ही राज्य का अधिकारी बनता है।

घर में स्त्री और पुरुष अर्थात् भाई और बहन दोनों का समान अधिकार होता है। लेकिन पुरुष की पत्नी या सन्तान को घर में कोई अधिकार नहीं रहता। घर की सम्पत्ति की अधिकारी बहन की सन्तान ही होती है। यही कारण है कि बच्चों के ऊपर पिता का उतना अधिकार नहीं रहता जितना कि मामा या माँ का रहता है। अपनी माँ या मामा का घर ही स्त्री का घर होता है, न कि पिता या पति का घर। अन्य समाजों में जैसे स्त्रियाँ साल में कुछ दिन मायके में आकर रहती हैं, उसी प्रकार नायर समाज में स्त्रियाँ साल भर में कुछ दिन या एक-दो महीने ससुराल में बड़े आदर के साथ

रहती हैं। घर भर में उम्र में जो सब से बड़ा होता है चाहे वह पुरुष हो, चाहे स्त्री, उसका मान घर के अन्य व्यक्तियों से अधिक होता है। इस कारण सब से बड़ी बहू का मान भी अन्य बहुओं की अपेक्षा अधिक होता है। और यदि घर का सब से बड़ा पुरुष घर पर ही रहता है, कोई नौकरी नहीं करता है, तो उसकी स्त्री भी अधिकतर ससुराल में ही रहती है। अपने पति के जीवन-काल में वह ससुराल के अन्य व्यक्तियों पर अपना हुक्म भी चलाती है। फिर भी जैसे ही उसके पति का देहान्त हो जाता है, तुरन्त ही उसे ससुराल छोड़ जाना पड़ता है। उसके बाद ससुराल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यदि पति सम्मिलित कुटुम्ब में रहने वाला है और यदि वह अपने जीवन-काल में अपनी स्त्री और सन्तान के लिए कुछ सम्पत्ति एकत्र करने के पहले मर जाता है तो उसकी स्त्री और बच्चों को उसकी सम्पत्ति की एक पाई भी नहीं मिलती। यही कारण होगा कि नायर-समाज में स्त्री अपने पति के जीवन-काल में अपनी ननद और ननद के बच्चों को कष्ट देने का या उनके ऊपर अपना हुकुम चलाने का भरसक प्रयत्न करती है, और मामी को भाञ्जे और भाञ्जियाँ घृणा और भय की दृष्टि से देखते हैं।

नायर-समाज में पर्दे की प्रथा बिल्कुल नहीं है। नायर स्त्री काम पड़ने पर किसी भी पुरुष के सामने जाने या उसको अपनी कठिनाई बताने में सङ्कोच नहीं करती। समाज ने उनको एक हद तक स्वतंत्रता दे रखी है, लेकिन वे इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नहीं करतीं। इसी कारण समाज में उनकी इज्जत भी बनी रहती है।

शादी के विषय में भी नायर-समाज में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही स्वतंत्रता है। पहले शादी के विषय में स्त्री को ही स्वतन्त्रता रहती थी, पुरुष को नहीं। मामा या बड़ा भाई जिस लड़की के साथ उसकी शादी निश्चय कर दे, उसी के साथ शादी करने के लिए पुरुष बाध्य था। कभी-कभी स्त्री अपनी इच्छा के विरुद्ध भी अपने मामा के कथनानुसार वर को स्वीकार करने के लिये मजबूर की जाती थी। मामा का वचन दोनों को ही अवश्य मानना पड़ता था। मामा के सामने पिता को भी अपने बेटे-बेटियों की शादी के बारे में कुछ कहने का अधिकार नहीं था। लेकिन आजकल यह बात नहीं रही। आजकल स्त्री और पुरुष दोनों ही एक दूसरे को जब पसन्द कर लेते हैं तभी शादी होती है। नायर-समाज में बाल-विवाह की प्रथा कभी नहीं थी। सयानी होने पर भी लड़की की शादी न हो तो इसमें कोई बुराई नहीं समझी जाती, और यदि लड़की अपनी इच्छा से आजीवन कुमारी ही रहे तो भी लोग कोई टीका, टिप्पणी नहीं करते। जब लड़के की उमर २५-२६ साल की होती है और लड़की की कम से कम सोलह-सत्रह की, तभी उनकी शादी की बातचीत चलती है। तब वर-पक्ष के लोग लड़के के योग्य वधू ढूँढ़ने लगते हैं। मित्रों द्वारा योग्य लड़की का पता लग जाने पर लड़के वाले लड़की का घरबार आदि देखने जाते हैं। यदि उनको लड़की और लड़की का घरबार सब पसन्द आगया तो लड़की के घर वालों के साथ शादी की बात-चीत चलाते हैं और लड़की वालों को अपने घर आने के लिये निमन्त्रण भी देते हैं। उसके बाद लड़की के मामा-बाप वग़ैरह लड़के के घर जाते हैं और लड़के के घरबार, चाल-चलन आदि के बारे में सब बातें मालूम कर लेते हैं। यदि दोनों पक्ष के लोगों को एक-दूसरे का चाल-चलन और घरबार पसन्द आ गया तो यह बात लड़के और लड़की से कही जाती है। उसके बाद लड़का अपने दो-तीन मित्र या सम्बन्धियों के साथ लड़की देखने आता है। लड़का और लड़की दोनों ही एक-दूसरे को देख लेते हैं और यदि दोनों ने एक-दूसरे को पसन्द किया तो शादी तै हो जाती है। यदि लड़का या लड़की इनमें किसी एक को दूसरा पसन्द नहीं आया तो वह शादी नहीं होती। शादी तै होने के बाद दोनों की जन्म-पत्रिकाएँ मिला लेते हैं और यदि कोई दोष निकले तो उसका प्रायश्चित भी कर लेते हैं। फिर शादी के एक या दो सप्ताह के पहले एक शुभ दिन में लड़के की बड़ी बहन, मौसी, माँ आदि कुछ सम्बन्धिनियाँ लड़की के घर में पान-सुपारी लेकर जाती हैं और शादी के लिये शुभ दिन निश्चित कर आती हैं। शादी के दिन लड़की के घर धूमधाम से तैयारियाँ होती हैं। मुहल्ले के प्रतिष्ठित लोग,

बिरादरी वाले और लड़की के घर के सम्बन्धी निमन्त्रित किये जाते हैं। ठीक समय पर वर अपने बहनोई और मित्रों के साथ वधू-गृह में प्रवेश करता है। वर के साथ पिता, मामा, बड़ा भाई आदि कोई नहीं जाता और न वर के घर की कोई स्त्री ही जाती है। वर और उसके साथी मण्डप या जो स्थान उनको बिठाने के लिये तैयार कर रखा गया है, वहाँ बिठाये जाते हैं। उसके बाद लड़की अपनी सहेलियों के सङ्ग मण्डप में प्रवेश करती है। फिर सब लोगों के सामने वर, बधू के हाथ में एक जोड़ा देना है। उसके बाद माला डालना, अँगूठियाँ बदलना आदि भी होता है। लेकिन अधिकतर कपड़ा देने मे ही शादी हो जाती है। उसके बाद भारी दावत होती है और सब लोग अपने-अपने घर जाते हैं। दूसरे दिन मुहल्ले भर में पान-सुपारी (जो वर साथ लाता है) बाँटी जाती है। शादी के दस-पन्द्रह दिन बाद वर के घर का कुछ स्त्रियाँ आकर वधू को ससुराल ले जाती हैं। ससुराल में कुछ दिन आदर के साथ रहने के बाद बहू फिर अपने पति के साथ मायके में—अपने घर में ही आती है। यदि पति कहीं नौकरी करता है और अपनी स्त्री को अपने पास रखने की हैसियत रखता है तो वह अपनी स्त्री को साथ ले जाता है। नहीं तो जैसा पहले लिखा है, वधू कभी-कभी कुछ दिन के लिये ससुराल जाती है और मान के साथ रहती है। वर अक्सर वधू-गृह में आया-जाया करता है। शादी होने के बाद स्त्री के पहनने-ओढ़ने और साबुन-तेल आदि के लिए ऊपरी खर्च देना वर का कर्तव्य समझा जाता है। यदि पुरुष की मृत्यु के समय स्त्री ससुराल में रही हो तो, पहले उसको पति की लाश के साथ ही ससुराल छोड़ जाना पड़ता था। लेकिन आज-कल पति की लाश के सङ्ग ही स्त्री को मायके नहीं भेजते। जब सोलहवें दिन मृतक की सारी क्रियायें समाप्त हो जाती हैं तो स्त्री अपने घर भेजी जाती है। उसके बाद यदि ससुराल वाले कभी एक बार उसे आदर के साथ ससुराल में लिवा लावें तो वह शादी आदि के अवसर पर ससुराल में जा सकती है, नहीं तो वह कभी ससुराल में पैर ही नहीं रख सकती। नायर समाज में भाई के लड़के के साथ बहन की लड़की का, और बहन के लड़के के साथ भाई की लड़की का ब्याह सर्वसम्मत हो कर हो जाता है। शादी के समय किसी पुरोहित या गुरु का होना आवश्यक नहीं समझा जाता, लेकिन वर और वधू शादी के समय ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर उनका आशीर्वाद लेते हैं। उनमें सधवा स्त्रियों की कुछ अलग पहचान नहीं रहती। न वे माँग में सिन्दूर लगाती हैं, न कोई मङ्गल का चिह्न ही पहनती हैं। विधवा होने के बाद भी उनकी वेष-भूषा में कोई अन्तर नहीं होता। कमारी, विधवा और सधवा सबकी वेष-भूषा एक ही समान रहती है। नायर समाज में दहेज की प्रथा नहीं है। समाज में बहु-विवाह और विधवा-विवाह दोनों ही की प्रथा है। स्त्री में कोई दोष देखें तो उसका त्याग करके दूसरी शादी करने के लिये पुरुष स्वतंत्र है। उसी प्रकार पुरुष के त्याग देने पर यदि इच्छा हो तो स्त्री भी दूसरे पति को स्वीकार करने के लिये स्वतंत्र है। नायर समाज में जैसे विधुर दूसरी शादी करने के लिये स्वतंत्र है, उसी प्रकार विधवा भी दूसरा विवाह कर सकती है। परन्तु बन्धन न रहने पर भी नायर समाज के स्त्री और पुरुष दोनों ही एक से ज़्यादा विवाह करने में अपना अपमान समझते हैं। आपको नायर समाज मे बहुत कम ऐसी स्त्रियाँ मिलेंगी, जो विधवा होने पर या पति के त्यागने पर दूसरी शादी करने के लिये तैयार हों। हाँ, यदि बहुत ही कम उमर में विधवा हो गयी हो या पति ने छोड़ दिया हो तो दूसरी बात है। पहले तो पति स्त्री को जब चाहे तब छोड़ सकता था और छोड़ने के बाद स्त्री और बच्चों का ऊपरी खर्च भी देने के लिये वह बाध्य नहीं था, लेकिन आजकल, मलाबार के राज-नियमों के अनुसार पति चाहे स्त्री को छोड़ भी दे, तो भी अपने बच्चों और स्त्री के ऊपरी खर्च के लिये एक रकम देने के लिये वह बाध्य है।

नायर समाज की स्त्रियों का पहनावा बहुत साधारण सा होता है। धवल वस्त्र धारण करना उनकी एक विशेषता है। स्त्रियाँ आभूषणों और बर्त्तनों में फिजूल रुपया खर्च करती हैं। पहले तो पास रुपया न रहने पर

क़र्ज़ा लेकर भी ज़रूरत से ज़्यादा बर्तन ख़रीदने या आभूषण बनवाने में वे कोई बुराई नहीं समझती थीं। लेकिन आजकल बर्तन और ज़ेवरों की ओर उनका ध्यान कुछ कम होने लगा है। फिर भी गला, हाथ, नाक, कान आदि अङ्गों में कम से कम एक-एक आभूषण तो वे अवश्य पहन लेती हैं। स्त्री का गला नङ्गा रहे तो बहुत ही बुरा समझा जाता है। चाँदी का ज़ेवर केवल पैर में और बच्चों की कमर में ही पहना जाता है। गले या हाथ में चाँदी या पीतल का ज़ेवर ग़रीब से ग़रीब भी नहीं पहनते।

नायर समाज में त्योहारों और संस्कारों की भरमार है, जिनको मनाने में पहले पैसा पानी की तरह बहाया जाता था। ग़रीब से ग़रीब क्यों न हों, क़र्ज़ा लेकर इन त्योहारों को न मनावें तो लोग अपना बड़ा अपमान समझते थे। साल भर में एक या दो नहीं, कई एक बड़े त्योहार हैं, जिनको धूम-धाम से मनाना नायर लोग अपना परम-कर्त्तव्य समझते थे। मलयालम् में एक कहावत है जिसका अर्थ है, कि 'घरबार बेच कर भी त्योहार मनाना चाहिये।'

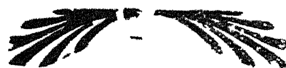
नायर समाज के कई एक संस्कार भी ऐसे हैं जो बिलकुल निरर्थक और मूर्खता की निशानी मालूम होते हैं। घर में बच्चा या बच्ची पैदा होने पर बड़ी ख़ुशी मनायी जाती है। बच्चा होने के अट्ठाईसवें दिन दावत होती है। छठवें महीने में अन्नप्राशन संस्कार और वर्षगाँठ मनाने में नायर-समाज रुपया फूँकने में अपना बड़प्पन समझता है। घर के हर एक व्यक्ति की वर्ष-गाँठ चाहे वह बच्चा हो, स्त्री हो, या बूढ़ा, बड़ी धूम-धाम से मनायी जाती है। लड़की की उमर दस साल की होने के पहले बड़ी धूम-धाम से एक मांगल्य सूत्र धारण कराते हैं। पहले यह क्रिया बड़ी धूम-धाम से हज़ारों रुपया ख़र्च करके की जाती थी। गोत्र का ही कोई लड़का या माँ लड़की के गले में एक शुभ मुहूर्त्त में मांगल्य सूत्र पहनाती है। उसके बाद चार दिन लड़का और लड़की घर के एक कमरे में बिठाये जाते हैं और घर में भारी दावत होती रहती है। चौथे दिन दोनों को किसी दूर की नदी या तालाब में नहला कर अपनी हैसियत के अनुसार हाथी, घोड़ा, बाजे आदि जुलूस के साथ घर में लाते हैं और मुहल्ले भर के लोगों को दावत देकर पान-सुपारी बाँटते हैं। इसके बाद उस लड़के या लड़की दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फिर भी नायर समाज में लड़की सयानी होने के पहले यह संस्कार न हुआ हो तो बड़ी भारी त्रुटि और अपमान समझा जाता था और अनेक घर इस संस्कार को धूम-धाम से मनाने के कारण तबाह हो गये हैं। लेकिन अब न मालूम नई रोशनी में आँखें खुलने के कारण अथवा ग़रीबी के पञ्जों में पड़ने की वजह से, नायर समाज इस संस्कार को निरर्थक समझने और इसकी उपेक्षा करने लगा है। लेकिन अब भी नायर-समाज के पुराने विचार के लोग यह संस्कार किसी देव-मन्दिर में जाकर ही करा देते हैं। मलाबार के किसी भी विष्णु-मन्दिर में आप जाँय तो माङ्गल्य सूत्र-धारण के लिये लायी गयी कम से कम तीन-चार लड़कियाँ आपको दृष्टि-गोचर हो जाँयगी। इसी प्रकार निरर्थक दूसरा संस्कार लड़की के पहले पहल के ऋतु-स्नान का है। इसमें भी चार दिन तक लड़की को सजा-धजा कर एक अलग कमरे में बिठाते हैं और मुहल्ले भर के ही नहीं, जो कोई यह बात सुनता है वह इतनी उत्सुकता से लड़की को देखने आते हैं मानो वह नुमाइश की कोई चीज़ हो या ज़ू का कोई अजीब जानवर। चौथे दिन माङ्गल्य सूत्र धारण संस्कार के समान ही फ़िज़ूलख़र्ची और आडम्बर के साथ उसका स्नान और दावत होती है। लड़की का ब्याह, गर्भाधान संस्कार आदि में भी नायर-समाज रुपया फ़िज़ूल फूँक देता है। मर जाने पर भी आदमी के पीछे रुपया बहाने में यह समाज अपना गौरव समझता है। जिस दिन आदमी मर जाता है, उस दिन से लेकर सोलह दिन तक बिरादरी के सब लोग मृतक के घर में रहते हैं, जिनको खिलाने-पिलाने में मृतक के घर वालों को बहुत रुपया ख़र्च करना पड़ता है। सोलहवें दिन बड़ी भारी दावत होती है, जिसमें हज़ारों रुपया ख़र्च हो जाता है। इन सब संस्कारों के अलावा नायर-समाज की स्त्रियाँ व्रत, उपवास आदि धर्मानुष्ठान में भी काफ़ी रुपया ख़र्च कर डालती हैं। इस सब फ़िज़ूलख़र्ची के कारण ही मला-

वार के सुजल, सुफल, सब प्रकार से सुसम्पन्न और भूमण्डल का स्वर्ग कहलाने पर भी नायर-समाज आज गरीबी के पञ्जों में पड़ गया है। लेकिन सन्तोष की बात है कि गरीबी का रुचि ने अब नायर समाज की आँखें खोल दी हैं और वह अब इन बेमतलब त्योहारों और संस्कारों की ओर उपेक्षा दिखाने लगा है।

नायर-समाज में चाय पीने की आदत लोगों में अधिक पायी जाती है। गरीब से गरीब किसान ही क्यों न हो, उसके घर में भी रोज दो वक्त चाय अवश्य बनती है। बच्चे, बूढ़े, स्त्री, पुरुष, सब चाय पीने के आदी होते हैं। एक दिन वे चाहें तो खाना खाये बिना रह सकेंगे, लेकिन एक वक्त की भी चाय छोड़ना उनके लिये मुश्किल होगा। नायर समाज में मित्र और सम्बन्धियों का आदर भी चाय से ही किया जाता है। यदि कोई अपने मित्र के घर जाय तो मित्र का पहला काम उसको चाय पिलाना ही होता है। जिस प्रकार उत्तर भारत में कोई किसी के घर जाय तो उसको सुपारी दी जाती है, उसी प्रकार मलावार में चाय दी जाती है। जिस प्रकार इधर पान की दूकान हर जगह पायी जाती है और पान खाने वाले एक पैसा खर्च करके दो बीड़ा पान पा सकते हैं, उसी प्रकार मलावार के कोने-कोने में आपको चाय की दूकान मिलेगी, जहाँ दो पैसा देने से आपको किसी भी वक्त एक प्याला चाय तैयार मिलेगी। दुःख की बात है कि चाय की बुराइयों को जानते हुए भी नायर समाज उसकी आदत को छोड़ने की कोशिश नहीं करता, वरन् दिन पर दिन उसमें अधिक लिप्त होता जाता है।

नायर समाज में पुराने समय से ही बालक और बालिकाओं के लिए विद्याभ्यास समान रूप से आवश्यक समझा जाता था। पाँच साल की अवस्था में दोनों का ही विद्यारम्भ कर देते थे और स्कूल या उपाध्याय के पास भेजे जाते थे। दस-बारह साल की अवस्था तक वे अपनी भाषा में सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। उसके बाद लड़की को घर पर ही संस्कृत, गाना, सिलाई आदि की शिक्षा दी जाती थी और उसे एक सुगृहिणी बनने के लिये जिन बातों की जरूरत है, वे सब बातें सिखायी जाती थीं। लड़के को जिस कारीगरी की ओर उसकी रुचि हो, उसके अनुकूल शिक्षा देते थे। पुराने समय में नायर समाज की स्त्रियाँ नौकरी की ओर ध्यान न देती थीं, न कोई स्त्री नौकरी ही करती थी। लेकिन आजकल स्त्रियों का भी ध्यान नौकरी करने और अपने को स्वावलम्बी बनाने की ओर लगा है और समाज ने उनको ऐसा करने का स्वातन्त्र्य भी दे रक्खा है।

बड़े खेद की बात है कि नायर समाज में एकता की भारी कमी पायी जाती है। बहुत पुराने समय से ही इस समाज में यह दोष पाया जाता है। साधारण गृहस्थों में ही नहीं, मलावार के राजा, रईस आदि सब में हम यह दोष पाते हैं। इतिहास से पता चलता है कि जब वास्कोडिगामा मलावार में आया था और कोचीन के महाराजा और कालीकट के जामोरिन दोनों ही पोर्चुगाल के साथ व्यापार करके अपने राज्यों की व्यापारिक उन्नति करना चाहते थे, तो आपस की स्पर्धा और ईर्षा के कारण दोनों राज्यों में भारी हलचल मची थी। यह दोष आजकल भी नायर समाज में पाया जाता है। सब अपनी अपनी उन्नति चाहते हैं, यह भी ठीक है कि समाज व्यक्तियों से बना हुआ है और जब हर एक व्यक्ति की उन्नति हो जायगी तो समाज की उन्नति अपने आप ही हो जायगी। फिर भी जब लोग अपनी ही उन्नति करने में तत्पर रहते हैं और दूसरों की उन्नति में बाधा डालने की कोशिश करते हैं, तो उस समाज की उन्नति उतनी जल्दी नहीं हो सकती। नायर समाज में पति के भान्जे की उन्नति स्त्री की नजर में और भाई के लड़के की उन्नति बहन की नजर में खटक जायगी। अतः उस समाज में द्वेष कहाँ तक है, यह आप समझ सकते हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि यह द्वेष का भूत जो समाज की उन्नति में बाधक रहता है, बहुत जल्दी नायर-समाज से उठ जाय।



सौराष्ट्र की सामाजिकता

[श्रीमती सरोजिनी मेहता]

साठ से अधिक नगर और बारह सौ से अधिक ग्रामों में फैले हुए गुजराती समाज के विषय में कुछ निश्चित मत दे देना सम्भव नहीं है, क्योंकि सभी जातियों, उपजातियों तथा ग्रामीण और नागरिकों के रहन-सहन और रीत-रिवाजों में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य ही रहता है। उत्तर में मारवाड़ के मरु और राजपूताना, पूर्व में विंध्य, सतपुरादि पर्वतों और पश्चिम में अरब समुद्र से घिरे गुजरात प्रान्त की भूमि कृषिप्रधान है, अतः वहाँ के निवासी स्वभाव में कृषकों के अधिक निकट जान पड़ते हैं। पञ्चनद-वासियों के समान उन्होंने शत्रुओं का मार्ग तलवार की नोकों से नहीं रोका, यह कुछ अंशों में सत्य है, परन्तु उनसे अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए सुदृढ़ सङ्गठन करने में वे नहीं चूके, यह उनके जाति और धर्म सम्बन्धी कड़े बन्धनों से प्रकट हो जाता है।

गुजरात की जनसंख्या में ८६ प्रतिशत हिन्दू हैं, जो धर्म, संस्कृति आदि में अन्य प्रान्त-वासियों के समान हैं। समाज में स्त्री-पुरुष की स्थिति सारे भारतवर्ष में एक सी है। गुजरात भी इस नियम का अपवाद नहीं। जितना पुत्र का जन्म आनन्द देता है उतना कन्या का नहीं, क्योंकि पुत्र से वंश चलता है और पितृऋण उतरता है। शिक्षा आदि में भी उतना ही अन्तर रक्खा जाता है। कन्या की शिक्षा की चिन्ता नहीं की जाती। बस गृह के कुछ कार्य सिखाकर ही माता-पिता सन्तुष्ट हो जाते हैं।

सन्तान के जन्म के साथ ही माता-पिता विवाह के विषय में सोचने लगते हैं, अतः बाल-विवाहों की संख्या कम नहीं जिससे सन्तान और माता दोनों की ही असमय मृत्यु होती रहती है। विवाह के विषय में पुरुष और स्त्री दोनों समान रूप से परतन्त्र हैं। अपनी ही जाति में से गुरुजनों द्वारा चुने हुए जीवन-सङ्गी को स्वीकार करना ही होता है। यदि कोई इसके विपरीत ऐसा साथी खोज लेता है, जो जाति द्वारा निश्चित नियमों से वर्ज्य है तो समाज उसे बहिष्कार का दण्ड देता है। नागरिक-समाज में यह नियम चाहे शिथिल होते जान पड़ते हों, परन्तु वास्तव में वे उतने अधिक शिथिल नहीं हुए हैं। हिन्दू-समाज की विधवा और विधुर से कौन परिचित न होगा! गुजराती-समाज में विधवा की स्थिति तनिक भी स्पृहणीय नहीं है। विधुर पुरुष का विवाह करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य-सा समझा जाता है, परन्तु विधवा स्त्री चाहे वह बालिका हो चाहे युवती अनन्य पातिव्रत्य का पालन करने के लिए बाध्य है। पुरुष की विधुरता उसके अभाग्य का परिणाम नहीं होती, परन्तु स्त्री का वैधव्य उसके अनेक जन्मजन्मान्तर के पापों का दण्ड-सा माना जाता है। जीवन की अनेक असुविधाएँ सह लेने में ही उसका निस्तार नहीं हो सकता, वरन् वह इतनी निकृष्ट समझी जाने लगती है कि किसी भी माङ्गलिक-कार्य में उसका मुख-दर्शन अशुभ और उपस्थिति वर्ज्य है। परन्तु यह आजीवन वैधव्य का नियम उच्च जातियों में ही प्रचलित है, नीच जातियों में विधवा का विवाह स्वाभाविक ही माना जाता है।

समाज में स्त्री की सम्मति का कोई मूल्य नहीं समझा जाता। उसका एक ही चरम कर्तव्य है—पति की इच्छा के अनुकूल चलना। अपने सारे व्यक्तित्व को उसमें मिटा कर जो स्त्री पति के विचार और धारणा के अनुरूप अपना जीवन बना लेती है, समाज की दृष्टि में

वहाँ सराहनीय है और जो ऐसी छाया न बन सकी, उसके सहस्रों गुण मिट्टी में मिल जाते हैं। समाज-स्त्री को आदेश भर देता है उसका मतमतान्तर सुनने का उसके पास अवकाश नहीं। यदि स्त्री ने अपनी राय देने की भूल की तो वह अपनी स्थिति और अधिक गिरा लेती है। गृह में वह स्वामिनी है अवश्य, परन्तु उसमें भी पति की रुचि ही मार्ग-दर्शिका बनी रहती है। प्राय स्त्री को पति की अनुचित आज्ञा के विरुद्ध भी कुछ कहने का साहस कम होता है। धर्म की दृष्टि से गृह-देवता की पूजा उसका कर्त्तव्य है, परन्तु इसके उपरान्त वह अपनी रुचि के अनुसार किसी सम्प्रदाय विशेष का अनुसरण करने के लिए स्वतन्त्र है। उसका पति के इष्ट से भिन्न देवता की उपासना करना बुरा नहीं माना जाता और न उसके मन्दिर विशेष में जाने में किसी को आपत्ति होती है।

पारिवारिक जीवन में गुजरात के स्त्री-पुरुष उद्योगी, चतुर और सद्भाव रखने वाले हैं। पहनावे में स्त्री की सारी और पोलका उसके स्वाभाविक सौन्दर्य को अधिक बढ़ा देता है। नागरिक पुरुषों के पहनावे पर पाश्चात्य परिधान का कुछ प्रभाव पड़ा है, परन्तु ग्रामीण-समाज ने अभी अपनी टोपी-पगड़ी को हैट और धोती को पैंट में बदल देने का स्वप्न नहीं देखा।

गुजरात में स्त्री युक्तप्रान्त, बङ्गाल और बिहार के समान चहारदीवारी मे घिरी नहीं रहती अत उसका जीवन अधिक स्वच्छन्द है। अन्य प्रान्तों में बसे हुए गुजराती इस रीति को अपनाकर इसे बड़प्पन का चिह्न मानने लगे है, परन्तु गुजरात प्रान्त की स्त्री पर इस बड़प्पन का भार नहीं लादा गया है। वह स्वच्छन्दता-पूर्वक बाहर-भीतर का कार्य करती है। इससे उसकी शारीरिक दशा अन्य पर्दापसन्द प्रान्तों की स्त्रियों की शारीरिक दशा से अच्छी है। गृह की स्वच्छता-सजावट देखना तथा भोजन बनाना खिलाना आदि कार्य उसकी दिनचर्या में प्रमुख हैं। सन्तान-पालन तो सभी स्त्रियों का जन्म-सिद्ध अधिकार है, गुजरात की स्त्री भी इस अधिकार को अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार वहन करती है। सबके सुशिक्षिता होने पर यह कर्तव्य और भी सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकता था, परन्तु जहाँ तक वात्सल्यप्रेम का सम्बन्ध है, माता को कहीं कुछ सीखने नहीं जाना पड़ता।

सौराष्ट्र का समाज कलाप्रिय भी है। यह कुछ अंशों में सत्य है कि सौराष्ट्रीय चित्रकला, सङ्गीत कला आदि पर व्रज तथा मुस्लिम और राजपूतों का प्रभाव इतना अधिक पड़ा है कि उसे शुद्ध सौराष्ट्रीय कहना कठिन है। उत्तर भारतीय उनकी जिस कला से विशेष रूप से परिचित हैं वह गरवा नृत्य है। यहाँ दो प्रकार के नृत्य विशेष रूप से प्रचलित हैं—रास-नृत्य और गरवा-नृत्य। रास-नृत्य कृष्ण से सम्बन्ध रखता है और गरवा शक्ति-पूजा से। गरवा-नृत्य के कई रूप हैं। कभी एक डलिया में मिट्टी भर कर उसमें ज्वार या धान बो दिये जाते हैं और उनके उग आने पर उस डलिया को काष्ठ की माण्डवी में रख कर उसके चारों ओर नृत्य करते हैं, कभी एक या अधिक, बहुत से छिद्र वाले घड़ों के भीतर दीपक जलाकर उन्हें बीच में रखते हैं। कभी-कभी नृत्य करने वाले बीच में कुछ न रखकर गरवा या माण्डवी को अपने-अपने मस्तक पर रखते हैं। इस नृत्य में कभी बहुत से व्यक्ति भाग लेते हैं, कभी दो नृत्य करते हैं और कभी एक व्यक्ति ही पर्याप्त होता है। स्त्री और पुरुष दोनों में यह नृत्य प्रचलित है, परन्तु स्त्री-पुरुष साथ-साथ इस नृत्य में भाग नहीं लेते। केवल कभी-कभी विशेष उत्सव के अवसर पर घर का बड़ा-बूढ़ा अपनी स्त्री के साथ मस्तक पर गरवा या माण्डवी रख कर नाचने वाली स्त्रियों के बीच में खड़ा रहता है। गरवा गीत की एक विशेष लय है, जो हमारे क्रमागत भारतीय सङ्गीत से कुछ भिन्न है। यह नृत्य सौराष्ट्र के लोक-जीवन से सीधा सम्बन्ध रखता है।

साहित्य के विषय में कुछ कहने का यह स्थान नहीं है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गुजरात को भी अन्य प्रान्तों के समान अपने पूर्वज—संस्कृत-साहित्य—से ही साहित्य के उपकरण मिले हैं। प्रारम्भिक गुजराती साहित्य ने केवल संस्कृत साहित्य

में सन्निहित विचारों और धारणाओं की व्याख्या मात्र ही की थी। परन्तु आधुनिक साहित्य ने लोक-जीवन का अध्ययन कर उसकी समस्याएँ समझने और उन्हें सुलझाने का प्रयत्न किया है और करता जा रहा है। स्त्रियाँ भी साथ देने का प्रयत्न कर रही हैं, परन्तु ऐसी स्त्रियों की संख्या अब तक गिनी जाने योग्य है। ग्रामीण स्त्रियों में अब भी उतनी जागृति नहीं जितनी होनी चाहिए। यहाँ भी रूढ़ियों की वही स्थिति है, जैसी अन्य प्रान्तों में मिलती है। संस्कृति की रक्षा के लिये बने हुए नियम अपनी विशेषता और अर्थ खो चुके हैं। अब उनका पालन आदत के कारण होता है, उपयोगिता के कारण नहीं। लक्ष्यरहित कार्यों के समान वे हमारे विकास को न बढ़ा कर भ्रम और कष्ट को बढ़ा देते हैं, जो किसी भी जीवित समाज के लिए वाञ्छनीय नहीं।

विधवाएँ

[श्री० लक्ष्मीनारायण गुप्त 'कमलेश']

क्षण भर उनको चैन नहीं दिन रैन तपन है,
चुन-चुन रखने योग्य वेदना का कन-कन है;
विरह-वह्नि से व्यथित जल चुका जिनका तन है,
उनका जग में हुआ शलभ ही सा जीवन है!

फटता है सुन कर हृदय जिनकी करुण-कहानियाँ,
दासी से लघु हो रहीं, कभी रहीं जो रानियाँ!

जग ने माना उन्हें अचेतन जड़ शरीर ही,
तन पोषण-को उन्हें मिला है अश्रु-नीर ही;
उनका है उपमान जाल में बद्ध कीर ही,
अबला, मानी गईं किन्तु हैं अमर वीर ही!

चिनगारी चित में सदा सुलग रही सन्ताप की,
क्या जाने कब जग उठे ज्वाला उनके शाप की!!

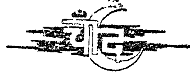


दलितों में वैवाहिक कुरीतियों का परिणाम

[श्री॰ ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल']

हमारे देश में दलित जाति की समस्या कितनी भयङ्कर है, यह किसी से छिपा नहीं है। इस युग में महात्मा गाँधी के आन्दोलन से दलितों की समस्या बहुत कुछ हल हो रही है और सम्भवत भविष्य में और भी सुधार की आशा है। दलित जाति के लोग उच्चवर्ण वालों के अत्याचार के सदियों से शिकार हो रहे थे। पग-पग पर उन पर अत्याचार किया जाता था और उन्हें समाज में यथोचित अधिकारों से वञ्चित रखा जाता था। किन्तु अब वे, शिक्षा, राजनीति और समाज सुधार में काफी दिलचस्पी लेने लगे हैं और कितने ही अछूत पढ़-लिख कर राजनैतिक और सामाजिक सेवा कर रहे हैं। यह ठीक है कि राजनैतिक वातावरण बड़ी शीघ्रता से परिवर्तनशील हो गया है और इससे वे बहुत कुछ कानूनन् अधिकारों से युक्त हो जायेंगे, किन्तु सामाजिक वातावरण अब भी अन्धकारमय है। सामाजिक वातावरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन का आन्दोलन शताब्दी पूर्व से हो रहा है। आर्य समाज और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अछूतों की उन्नति और सुधार के लिए बहुत कुछ आन्दोलन किया, किन्तु अन्य आन्दोलनों के कारण समाज-सुधार की समस्या का आन्दोलन कुछ पिछड़ सा गया और इस समय भी गाँवों में—जहाँ करोड़ों की सख्या में अछूत निवास करते हैं—इनकी सामाजिक समस्या बड़ी जटिल हो रही है।

गाँवों के दलितों में सबसे जटिल समस्या है वैवाहिक—बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, स्त्रियों का भगाया जाना और विवाह के अवसर पर अत्यधिक अपव्यय। सच पूछा जाय तो दलितों में विवाह की वास्तविक क्रिया की समाप्ति में बहुत कम व्यय होता है। दहेज की भी रीति है, किन्तु उच्च वर्ण वालों की भाँति नहीं। इसका कारण उनकी गरीबी है। वे दहेज में भी अधिक धन नहीं दे सकते। लड़की वाला प्राय अपनी लड़की को लेकर लड़के वाले के घर आता है और वहीं विवाह की रस्म पूरी होती है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि जो लड़की वाला सम्पन्न होता है, वह लड़के वाले से बारात लाने को कहता है, किन्तु यह रीति प्राय कम प्रचलित है। इस अवसर पर सब से अधिक खर्च होता है भोज में अथवा खाने खिलाने में। लड़की वाले की ओर के लोग तो रहते ही हैं और लड़के वाला अपनी बिरादरी के प्राय सभी जानते हुए लोगों को आमन्त्रित करता है और उन्हे दो-तीन दिन तक दो-दो बार भोजन कराता है। इस भोजन व्यय में उसके सैकड़ों रुपये पर पानी फिर जाता है। इसके लिए उसे कर्ज लेना पड़ता है। हमने कोई दलित ऐसा नहीं देखा जो विवाह के अवसर पर कर्ज न लेता हो। गाँठ की कमाई तो स्वाहा हो ही जाती है, कुछ महाजन का कर्ज भी उसके सिर पर लद जाता है। दूसरे कामों में जो व्यय इन अवसरों पर होता है वह है नाच, तमाशा और शराब। दलितों में इन तीनों की प्रथा ब्याह के समय बड़ी भयङ्करता से फैली हुई है। चमारों का नाच, प्राचीन कला की दृष्टि से अद्भुत ही होता है और उस अवसर पर जो गीत होते हैं उनमें एक विशेष रस होता है। दो-एक रात बड़ा जश्न रहता है, किन्तु उनकी गरीबी को देखते हुए, इस अवसर पर जो व्यय होता है उससे बड़ा दु ख होता है। इसी नाच-तमाशे में शराब का पीना भी जारी रहता है। विवाह के बाद जब लड़के वाला व्यय का हिसाब लगाता है तो उसके पैर के नीचे से धरती खिसक जाती है, सैकड़ों रुपये उस पर कर्ज हो जाता है, जिसकी पूर्ति वह वर्षों में पेट काट कर करता है। कितने दलित



तो ऐसे हैं, जो इसी क़र्ज़ के पूरा करने के लिए, घर पर अपनी स्त्री और बच्चों को छोड़ कर, बम्बई और कलकत्ता, रुपया कमाने चले जाते हैं। वहाँ से रुपया भेजते रहते हैं और घर तक लौट कर नहीं आते। महाजन ब्याज और बक़ाया बराबर बाक़ी रखते हैं। परिणाम यह होता है कि उसका जीवन बरबाद हो जाता है और उसके बच्चे मारे-मारे फिरते हैं। घर-द्वार, लोटा-थाली सब कुछ बिक जाता है। लड़के वाले को एक बहू के लाने में बड़ी कठिनाई में पड़ जाना पड़ता है।

बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और अनमेल-विवाह की समस्या भी दलितों में बड़ा भयङ्कर रूप धारण किये हुए है। दलितों में प्रायः बालक-बालिकाओं का विवाह बहुत छोटी उम्र में होता है। वे बच्चे यह भी नहीं जानते कि विवाह है क्या चीज़। माता-पिता सगाई करने के बाद विवाह कर देते हैं। कितनी ही जगह तो यहाँ तक देखा गया है कि बच्चा होने के पहले ही विवाह की बात पक्की कर ली जाती है। अर्थात् दो स्त्रियों के जब बच्चा होने को होता है तो उनके पति आपस में यह पहले ही से तय कर लेते हैं कि यदि एक के लड़का हो और दूसरे के लड़की तो वे आपस में ब्याह कर देंगे और उसी वक्त सगाई भी हो जाती है। किन्तु यदि भाग्य के फेर से दोनों के लड़कियाँ हुईं या लड़के तो फिर उन लोगों को अपने लड़के-लड़कियों के विवाह के लिए दूसरे के यहाँ जाना पड़ता है और विवाह की रस्म पूरी की जाती है। इसका परिणाम उन लड़के लड़कियों पर पड़ता है। थोड़े ही दिनों में वे बच्चे पति और पत्नी के रूप में रहने लगते हैं और उन्हें यह भी पता नहीं रहता कि वे एक दूसरे के कौन हैं। यदि दुर्भाग्य से लड़का मर जाता है तो उस बच्ची को छोटी उम्र में वैधव्य का तनिक भी ज्ञान नहीं रहता। परिणाम यह होता है कि बड़ी होने पर वह भाग जाती है या उच्च या नीच वर्ण वालों के द्वारा भगा दी जाती है। कितनी ही स्त्रियाँ अपना दूसरा विवाह कर लेती हैं और कितनों ही के माता-पिता उनका ब्याह किसी और से कर देते हैं।

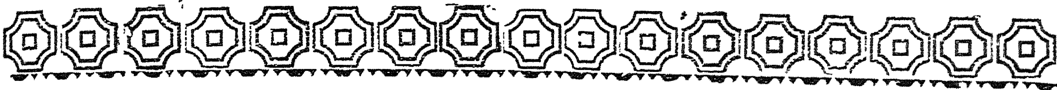
वृद्ध-विवाह और अनमेल विवाह का प्रचलन भी गाँवों में काफ़ी है। जिस वृद्ध की पत्नी मर जाती है वह दूसरा विवाह प्रायः कर लेता है। सब से अधिक चिन्ता उसे गृहस्थी की देख-भाल और खाने की रहती है। वह दिन भर मज़दूरी करता है, ऐसी दशा में वह महसूस करता है कि बिना ब्याह के काम नहीं चल सकता। कौन खाना बनावे और कौन घर-द्वार की देख-भाल करे। बिरादरी और गाँव वाले भी प्रायः उसे ब्याह करने के लिए मजबूर करते हैं।

दलितों में वृद्ध-विवाह प्रायः उन्हीं औरतों से होता है, जो या तो विधवा होती हैं या कहीं से भाग कर आती हैं। इस विवाह में वृद्ध फिर काफ़ी रुपया क़र्ज़ लेकर व्यय करता है और बिरादरी को भोज आदि देता है। क़िस्मत से यदि वृद्ध की मृत्यु हो जाती है तो फिर स्त्री या तो भाग जाती है या फिर कोई दलित उसे भगा कर ब्याह कर लेता है। इस प्रकार स्त्रियों की अवस्था बड़ी सङ्कटापन्न हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वृद्ध या अधेड़ उम्र वाले दलित, एक स्त्री, लड़के-लड़कियों और बहुओं के होते हुए भी दूसरा ब्याह कर लेते हैं। लेकिन ऐसा तब होता है जब उस पुरुष की, उसके लड़के, बहुओं से नहीं पटती। घर में दूसरी स्त्री के आ जाने से बड़ा कलह मचा रहता है और सारा जीवन हाय-हाय और सङ्कटापन्न अवस्था में बीतता है। अनमेल-विवाह की, वृद्ध-विवाह की ही भाँति दशा है। यदि लड़की बड़ी और लड़का छोटा होता है तो, लड़की की दशा शोचनीय हो जाती है। प्रायः जहाँ ज़मींदारों का राज्य है या उच्च वर्ण के धनी लोगों का अधिकार है, वहाँ उन लड़कियों पर भयानक अत्याचार किये जाते हैं। बाहर के कुछ लोग ऐसी लड़कियों को बहका ले जाते हैं। उन्हें प्रलोभन देते हैं और सुदूर प्रान्तों में ले जाकर बेच भी डालते हैं। उन ग़रीबों के पास न तो धन होता है और न शक्ति ही। लड़की के भगा ले जाने पर वे चुप होकर बैठ जाते हैं। उनकी सुनवाई नहीं होती और न उनके पास समय ही होता है कि वे इस तरह के काम में दौड़-धूप करें; क्योंकि जिन्हें रोज़ कमाना और खाना है, उन्हें इतनी फ़ुर्सत कहाँ!

किसके पास फरियाद करने जाएँ। अदालत जायँ तो कैसे जायँ! पैसे होते नहीं। इस काम के लिए कर्ज़ मिलता नहीं और हर जगह जाने में उनको फजीहत ही होती है।

इस प्रकार के विवाहों और रस्मों का एक बड़ा भयानक दुष्परिणाम हो रहा है। प्रायः दलित जाति की स्त्रियाँ भाग जाती हैं और प्रलोभन देकर व्यवसायी अथवा स्त्रियों के क्रय-विक्रय करने वाले उन्हें भगा ले जाते हैं। आज भारत में विधवाश्रम और स्त्री-अनाथालयों की संख्या कम नहीं है। रोज विज्ञापन निकला करते हैं। किन्तु सरकारी रिपोर्टों और अन्य समाचारों से यह जाना गया है कि इन आश्रमों और अनाथालयों में दलित जाति की स्त्रियों की संख्या अधिक रही है। कहने का मतलब यह नहीं है कि भारतवर्ष में सभी स्त्री अनाथालय और विधवाश्रम ऐसे हैं जहाँ स्त्रियों का क्रय विक्रय होता है, किन्तु ऐसों की संख्या अधिक है, जहाँ स्त्रियाँ क्रय-विक्रय की शिकार हो रही हैं। उन पर बड़े-बड़े अत्याचार होते हैं और कभी-कभी उन्हें भूखों भी मरना पड़ता है। अब तो समुद्रपार टापुओं में दलालों के ज़रिये स्त्री पुरुषों को बहका कर भेजने का काम बन्द हो गया, नहीं तो जब यह काम ज़ोरों पर था, उस समय कितनी ही दलित जाति की स्त्रियाँ बहका कर टापुओं में भेज दी गई और आज तक वापस नहीं आई। ऐसी दशा में अब भारतवर्ष में स्त्रियों को भगाकर, क्रय-विक्रय वाले, सुदूर प्रान्तों में ले जाते हैं और वहाँ किसी के हाथ नकद दाम में बेच देते हैं। यह काम प्रायः पञ्जाब प्रान्त में अधिक हो रहा है। इस प्रकार के क्रय-विक्रय के विवाहों से स्त्रियों पर बड़ा अत्याचार होता है। कितनी जहर खाकर मर जाती हैं, कितनी ही मार डाली जाती हैं, कितनी ही मौका पाकर फिर भाग जाती हैं और गुण्डों और दुष्टों के हाथ में पड़कर अपना सर्वस्व खो बैठती हैं। कितनी ही ऐसी स्त्रियों की मृत्यु बड़ी सङ्कटापन्न दशा में हो जाती है।

यह सब वैवाहिक कुरीतियों का ही परिणाम है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उच्च वर्ण वालों में वैवाहिक कुरीतियों का भयङ्करता नहीं है या दलित जाति की स्त्रियों की भाँति उनकी स्त्रियों पर अत्याचार नहीं होता, किन्तु अधिकांश में दलित वर्ग में ही इसके दुष्परिणाम की अधिकता है और इस जाति की स्त्रियों को अधिक आपत्तियाँ उठानी पड़ती हैं। समाज का यह अज्ञान और कुपरिणाम स्त्रियों को ही सहना पड़ता है। समाज-सुधार के नेता अछूतों में खान-पान, मेल-जोल बढ़ाने और उच्च वर्ण के सहयोग का अच्छा प्रचार-कार्य कर रहे हैं, किन्तु उनके भीतर, उनके समाज में फैली हुई भयानक रीति-रस्मों के सुधार की ओर कम ध्यान देते हैं। आजकल भीतरी समस्या के सुलझाने के लिये विशेष प्रयत्न नहीं हो रहा है। आज दलित समाज की जो दीनावस्था है, वे जो दरिद्रता के शिकार हो रहे हैं, उनकी स्त्रियों पर जो अत्याचार हो रहे हैं, उसमें सामूहिक रूप से सुधार करने की बड़ी आवश्यकता है। जीवन में विवाह का बड़ा महत्व है। यदि दलितों के विवाह की रस्मों में फेर-फार हो जाय और उन्हें वर्तमान वैवाहिक-प्रथा के कुपरिणाम बताये जायँ तो अवश्य उनका सङ्कट दूर हो सकता है। जहाँ सरकार किसानों के उद्धार की बड़ी नायाब योजना बना रही है, वहाँ गाँवों में यदि सामाजिक सुधारों का भी काम अपने हाथ में ले ले तथा बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, स्त्रियों का क्रय-विक्रय और उनके भगाये जाने आदि का पूर्ण नियन्त्रण का प्रबन्ध करे तो दलितों में पुरुष और स्त्रियों का जीवन सुखमय हो जाय। वे अपव्यय और अत्याचार से बच जायँ। किन्तु समाज-सुधार के नेताओं की बनिस्बत सरकार और उसका कानून, इन लोगों की सामाजिक समस्या को अधिक हल कर सकता है और उनकी दशा में सुधार कर सकता है।



वेश्याओं के उद्धार के लिए एक नवीन आश्रम की आवश्यकता

[श्री० सज्जनलाल अग्रवाल, एम० ए०, एल- एल० बी०]

भारतीय स्त्री-समाज में वेश्याएँ बड़ी घृणा की दृष्टि से देखी जाती हैं। कोई भी भला आदमी उनके सम्पर्क में नहीं आता और न उनके साथ देखा जाना ही पसन्द करता है। इसके कारण भी प्रत्यक्ष हैं। उनके निकट आकर विरला ही पुरुष होगा, जिसका नैतिक पतन न हुआ हो। यद्यपि वे इतनी हेय समझी जाती हैं, तो भी संयुक्त प्रान्त तथा अन्य स्थानों में मुश्किल से ऐसा नगर मिलेगा जहाँ वे पर्याप्त संख्या में न पाई जाती हों। बहुतों की राय में तो वे समाज की आवश्यक अङ्ग हैं, जिसको मनुष्य ने अपनी नीच पशु-वृत्ति की तृप्ति के लिये क़ायम किया और अब तक उसको जीवित रखे हुये है।

वेश्या बनने के कारणों का अनुसन्धान करने पर पता चलता है कि कोई भी स्त्री स्वेच्छा से वेश्या-वृत्ति ग्रहण नहीं करती। सामाजिक बन्धनों तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण स्त्रियों को वेश्या बनना पड़ता है। कौन नहीं जानता कि हिन्दू विधवाएँ और अन्य स्त्रियाँ जिनसे जीवन में एक-दो बार ग़लती हुई है, घर से निर्वासित होने के पश्चात् धीरे-धीरे वेश्याओं के मुहल्लों में पहुँच जाती हैं। हिन्दू-समाज की सर्वव्यापी जाति व्यवस्था ने वेश्याओं की भी एक जाति की सृष्टि कर डाली है, जो अपनी लड़कियों से वेश्यावृत्ति कराना अपना प्राचीन धर्म समझती हैं। देहात की बेड़िनें इसकी उदाहरण हैं। निम्न-श्रेणी के गुण्डे तथा पतिता स्त्रियाँ भी अपने जीवकोपार्जन के लिये वेश्याओं की संख्या बढ़ाने में बड़ा भाग लेते हैं। यह भी एक अप्रिय सत्य है कि समाज जिन स्त्रियों को अपने से दूर करके वेश्या बनने पर विवश करता है और उनको नीचे गिराता है, वे ही स्त्रियाँ अपने बाहरी आकर्षक रूप से समाज के बड़े लोगों को नीचे गिराती हैं और इस प्रकार अपना बदला चुकाती है।

बहुत से लोगों का मत है कि स्त्रियाँ अपने ही कर्मों से वेश्या होती हैं और वेश्याओं का उद्धार सम्भव नहीं है। वे इतनी पतित है कि यदि कोई उनको उठाने जावे तो वह स्वयं पतित हो जावेगा। यह वेश्याओं के पूर्व जन्म का फल है, जिसे उन्हें भोगना ही पड़ेगा। किन्तु किसी भी तर्क से यह बात सिद्ध नहीं होती।

यदि यह मान लिया जाय कि स्त्रियाँ स्वयं वेश्या बनना नहीं चाहतीं और वे सामाजिक आर्थिक कारणों ही से इस वृत्ति के करने पर विवश होती हैं, तो समाज का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपनी ऐसी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का सुधार करे जो वेश्यावृत्ति को जन्म देती है। यदि वेश्या बनाने वाली परिस्थितियाँ किसी कारण से दूर नहीं की जा सकतीं तो समाज का यह दूसरा कर्तव्य हो जाता है कि वह ऐसी स्त्रियों को, जो उसी के कुप्रबन्ध के कारण पतित हुई हैं और जो उस गर्त से निकलना चाहती हैं, अपने को सुधारने तथा इज़्ज़त के साथ जीवन निर्वाह करने में पूरी सहायता दे।

वेश्या-समाज में यह देखा गया है कि उनमें पर्याप्त संख्या में ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो वेश्या-वृत्ति को बहुत ही घृणित समझती हैं। जीवन निर्वाह का कोई दूसरा मार्ग न पाकर वे अपनी इच्छा के विरुद्ध भी उसमें पड़ी रहती हैं। यदि उनको धनोपार्जन का कोई रास्ता मिल भी जावे तो भी समाज उनपर हमेशा अँगुली उठायेगा। इस कारण भी वह उस वृत्ति को नहीं छोड़ना चाहतीं।

कुछ वेश्याएँ ऐसी भी हैं, जो स्वयं इस व्यवसाय को करती हे, किन्तु वे यह नहीं चाहतीं कि उनकी सन्तान भी इस काम को करे। वे उनको स्कूलों में शिक्षा देती हैं और भले आदमी के साथ विवाह करने का प्रयत्न भी करती हैं। कुछ स्त्रियों ने इस व्यवसाय को छोड़कर नर्स और दाई तथा डॉक्टरी का काम करना आरम्भ कर दिया है। वेश्याओं में प्राय कुछ समय के बाद यह इच्छा होती हे कि वे किसी एक पुरुष से सम्बन्ध करके अपना जीवन उसी के साथ व्यतीत कर दें। सर्वसाधारण में यह आम ख्याल है कि वेश्याओं के हृदय नही होता, वे केवल लोगों को लूटना ही जानती है। किन्तु कुछ वेश्याएँ पुरुषों से सच्चा स्नेह करती हुई देखी गई है और उन्होंने अपने प्रेमी के लिये अपना सब कुछ त्याग भी दिया है। क्या हृदयहीन स्त्री के लिये ऐसा करना सम्भव है ?

कुछ नगरों में ऐसी भी वेश्याएँ मिलती है, जिन्होंने वेश्या-वृत्ति से ख़ूब धन कमाया है। कुछ दिनों के बाद उनके मन में इससे घृणा उत्पन्न हुई और उन्होंने इसको छोड़ दिया। वे साधारण गृहस्थ की तरह अपना जीवन बिताने लगीं। और अपने में काफी धार्मिक भाव जागृत करके मृत्यु के पूर्व अपनी कुल सम्पत्ति अपने धार्मिक विचार के अनुसार सार्वजनिक और धार्मिक कार्य के लिये छोड़ गईं। वेश्याओं के कई पुत्र शिक्षा पाकर दफ्तरों और कचहरियों में काम करते है और उनको देखकर यह कोई नहीं कह सकता कि उनकी माता कभी कोई वेश्या रही होगी। गत राष्ट्रीय आन्दोलन के समय कुछ वेश्याओं ने अपनी वृत्ति छोड़ दी थी। वे खद्दर पहनने लगीं और आन्दोलन में शामिल हुईं। आन्दोलन बन्द होने पर भी उन्होंने अपने जीवन का ढङ्ग वही रखा और पुन वेश्या का काम नहीं किया।

वेश्याओं में जो कुछ वेश्यायें उपर्युक्त सुधार के काम करती हुई देखी जाती हैं, उसका केवल एकमात्र कारण यही हो सकता है कि हर पुरुष और स्त्री में स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह अपनी उन्नति करे, बुरी बातों से दूर रहे और यदि एक बार गलती हो जाय तो उसको सुधारने का प्रयत्न करे। वेश्यायें भी मनुष्य ही हैं और उनमें भी ऐसे भावों का होना स्वाभाविक है।

समाज के सञ्चालकों और सुधारकों का यह परम पुनीत कर्तव्य है कि वह समाज के प्राणियों में ऐसे उच्च भावों को जागृत करें और प्रोत्साहन दें। जो लोग अपनी दशा सुधारना चाहें उनको यथाशक्ति सहायता दे।

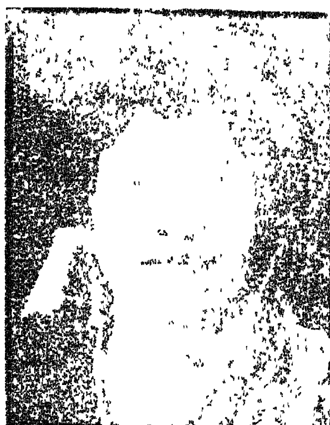
समाज का यह कर्तव्य है कि वेश्याओं को भी अपनी दशा सुधारने, घृणित व्यापार को छोड़ने तथा धार्मिक जीवन व्यतीत करने का अवसर दे। यदि काम ठीक ढङ्ग से किया जाय तो यह बहुत मुश्किल नहीं है। यह काम बहुत सरल भी नहीं है और यदि कोई प्रयत्न बिना सोच-विचार के किया जाय तो वह निष्फल तथा हानिकारक भी हो सकता है। इसलिये जो भी योजना इनके सुधार के लिये तैयार की जाय, उसे बहुत सोच-समझ कर ही काम में लाना उचित होगा।

मेरी राय में इनके लिये एक नई संस्था ही बनाई जाय, वर्तमान स्त्री संस्थाओं और महिला आश्रमों से यह काम नहीं चल सकता। यह संस्थायें विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बनाई गई हैं और उनका कार्यक्रम और नीति अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनी है। वेश्याओं के लिये एक नया आश्रम खोलना नितान्त आवश्यक है।

प्रस्तावित नवीन आश्रम का उद्देश्य यह होना चाहिये कि जो भी वेश्या अपने व्यवसाय को छोड़ना चाहे उसको भर्ती करे और इस प्रकार से उनको आश्रम में रखे और उनको शिक्षा दे कि वे आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर समाज में आदर पा सकें और उनके धार्मिक और सेवा भाव बराबर जागृत रहें, जिससे वे अपने पुराने व्यवसाय में न लौट सकें। उनमें मातृत्व का भाव भी जगाने का प्रयत्न किया जाय।

इस आश्रम को शहर से कुछ दूर ऐसे स्थान में खोलना चाहिये, जहाँ का वातावरण शान्त और प्राकृतिक हो। इसमें काफी भूमि हो। १० बीघे से कम न होनी चाहिये। बहुत बड़ी पक्की इमारतों के बनाने की आवश्यकता नहीं है। मकान सस्ता और साफ सुथरा बनना चाहिये। मकान कच्चा भी हो तो कोई हर्ज नहीं है। मकान पर बहुत ज्यादा धन व्यय करने की आवश्यकता नहीं।











नवीन आश्रम में वही स्त्रियाँ भर्ती होनी चाहिये जो वेश्यावृत्ति को छोड़ कर कोई काम-धन्धा करके पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिये उत्सुक हों। भर्ती करने के पहले उनके सम्बन्ध में काफ़ी खोज कर लेनी चाहिये। आश्रम में अधिक संख्या में वेश्याओं को भर्ती करने का मोह नहीं रखना चाहिये, क्योंकि बिना जाँच-पड़ताल के किसी स्त्री को भर्ती करने से बहुत हानि भी हो सकती है।

आश्रम की प्रबन्धिका ऐसी स्त्री होनी चाहिये जिसमें प्रबन्ध की पर्याप्त क्षमता हो और उसमें सबसे बड़ा गुण हो कि वह अपने व्यवहार और बातचीत में यह प्रगट न करे कि वह बहुत बड़ी है और इन वेश्याओं का सुधार कर रही है। उसका व्यवहार ऐसा होना चाहिये कि आश्रम-वासियों को उनके पूर्व जीवन का कभी स्मरण भी न आवे। बल्कि उनके साथ ऐसा व्यवहार हो जैसे वे उसकी बहनें हैं और कुछ काम सीखती हैं। प्रबन्धिका में Superiority Complex का भाव न होना चाहिये।

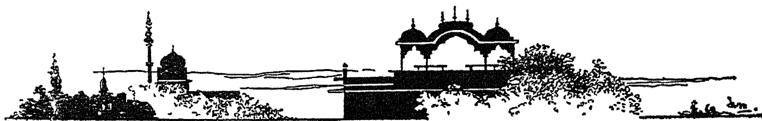
आश्रम-वासियों को हिन्दी की साधारण शिक्षा देनी चाहिये। उनको दाई, नर्स का काम सिखाने का प्रबन्ध होना चाहिये। वे सिलाई तथा मोज़ा, बनियाइन बिनने का काम भी सीख सकती हैं। उनको और भी ऐसे हाथ के काम सिखलाये जा सकते हैं, जिससे वे ५-६ घण्टा प्रतिदिन काम करके छः आने या आठ आने प्रतिदिन उपार्जन कर सकें। उनकी दिनचर्या ऐसी हो कि वे दिन-रात किसी न किसी काम में व्यस्त रहें। आश्रम के सब काम जैसे—भोजन बनाना, सफ़ाई, बाग़ इत्यादि का काम उनको अपने हाथ से करना चाहिये। इससे उनमें आत्मावलम्बन का भाव भी आवेगा और आश्रम का खर्च भी कम होगा।

आश्रम में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि जो स्त्री अपना जीवन आश्रम ही में काम करके बिताना चाहे, वह आजन्म आश्रम में रह सके। जो विवाह करना चाहे उनको उसकी भी सुविधा देनी चाहिये। यदि वे बाहर नौकरी करना अथवा स्वतन्त्र व्यवसाय करना चाहें तो उनको उसकी सुविधा दी जाय; किन्तु इस बात का सदैव ध्यान रहे कि भर्ती होने के बाद कोई स्त्री उस समय तक आश्रम न छोड़े जब तक कि वह साक्षर न हो जावे और कोई ऐसा काम न सीख लेवे जिससे वह अपना जीवन स्वतन्त्रतापूर्वक अपने परिश्रम से उपार्जित धन से व्यतीत करने लायक़ न हो जाय। यदि ऐसा न होगा तो वह पुनः वेश्यावृत्ति करने पर विवश हो जावेगी।

आश्रम में इस बात पर हमेशा ध्यान रखना चाहिये कि इन स्त्रियों में सेवा का भाव जाग्रत हो। यदि वह नर्स या दाई का काम सीखें तो इस भाव से न सीखें कि उससे उनको केवल धन मिलेगा, बल्कि इस भाव से सीखें कि वे अपने बहिन और भाइयों की सेवा कर रही हैं। आत्म-निर्मलता और सेवा आश्रम का Moto होना चाहिये।

आश्रम का आर्थिक प्रबन्ध इस सिद्धान्त पर करना चाहिये कि उसमें रहने वालों के किये हुये काम की इतनी आमदनी हो कि उससे उनके भोजन-वस्त्र और ऊपर के खर्च का काम चल जावे और कर्मचारियों का वेतन तथा भवन बनवाने का व्यय सरकार या जनता देवे।

आश्रम के साथ-साथ सुधारक और प्रतिष्ठित स्त्रियों की एक ऐसी सभा होनी चाहिये जिसके सदस्य वेश्याओं के मुहल्लों में जाकर उनसे मिलें और वेश्यावृत्ति के प्रति उनके मन में घृणा उत्पन्न करें और इज़्ज़त के साथ जीवन व्यतीत करने के साधन का परिचय देवें। आश्रम की सफलता के लिये ऐसी सभा का होना आवश्यक है।



मुस्लिम समाज का सङ्गठन

[श्री० सैयद कासिमअली, साहित्यालङ्कार]

देश में राष्ट्रीय जागृति के साथ ही साथ सामाजिक जागृति भी अनुदिन बढ़ती जाती है, यह प्रसन्नता की बात है। हमारे यहाँ जो दो भिन्न संस्कृति वाले समाज वर्षों से एकत्र रहकर भी एक नहीं हो सके हैं, वे हिन्दू और मुस्लिम समाज हैं। वास्तव में इनके इतने वैमनस्य का कारण मूल सिद्धान्तों की भिन्नता न होकर इनकी एक दूसरे के प्रति भ्रान्त धारणा ही है, जो इन दोनों संस्कृतियों के रूढ़िवादियों ने फैला दी है। ऐसी दशा में आवश्यकता यह है कि दोनों समाजों में एक दूसरे से परिचय प्राप्त करने का उत्साह बढ़ाया जाये, जिससे वे एक दूसरे के अधिक निकट आ सकें। आज से १३५५ वर्ष पूर्व जिस मुस्लिम धर्म की जड़ महात्मा मुहम्मद साहब ने अरब में जमाई थी उसमें उन्हें महान् कष्ट व त्याग-पथ का अनुकरण करना पड़ा था। तभी वे अरब के बर्बर, अशिष्ट, अनाचारी और बिखरे हुए मनुष्य-समूह को एकता के बन्धन में बाँध कर उनमें साम्य स्थापित कर सके थे। उन्होंने एकत्ववाद के सहारे मनुष्यमात्र को समानता और समान सुविधाएँ देकर इस्लाम का आदर्श उच्च किया। इस समय मुस्लिम समाज कट्टर और सङ्कीर्ण मनोवृत्ति वाला जान पड़ता है, परन्तु उसके मुख्य सिद्धान्त रचनात्मक और उदार हैं, इसमें सन्देह नहीं।

ईश्वर को सर्वशक्तिमान और निराकार रूप से मानना, मनुष्यों में ऊँच-नीच का भेद-भाव न रखना, भ्रातृभाव, जकात (दीन-हीनों को आय का $\frac{1}{40}$ भाग देना) आदि प्रकट कर देते हैं कि उनके मूलगत सिद्धान्त सङ्कीर्णता से रहित हैं। इस्लाम का एक ख़ुदा (ईश्वर), एक पैगम्बर (महर्षि), एक धर्मग्रन्थ क़ुरआन, एक भाषा और एक ही सामाजिक कानून है। उसने जाति, स्थान, रङ्ग, गरीब-अमीर का भेद-भाव नहीं रक्खा। एक अफ्रीका का मुसलमान, भारत अथवा टर्की के मुसलमान के साथ खाना खा सकता है और उसी के साथ नमाज़ पढ़ सकता तथा शादी भी कर सकता है। नवाब के साथ मसजिद में एक कुली या फकीर भी नमाज़ पढ़ता है। उस ग़ुलामी के युग में भाईचारे की स्थापना करने के लिए महर्षि मुहम्मद को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा, उनकी अब कल्पना भी कठिन है। महात्मा गाँधी सरीखे नेता भी मुस्लिम समाज के इस समानता के सिद्धान्त से प्रभावित हो चुके हैं। इस्लाम अब चाहे क्षमा भूल गया हो, परन्तु उसके आदि ऋषियों ने अपने त्याग और क्षमा से न्याय, धर्म और सत्य की रक्षा की है। हजरत उमर धर्माचार्य और सम्राट के सिंहासन पर बैठकर अपने इकलौते पुत्र अबूशहमा को धोखे से शराब पी लेने पर ५० कोड़े मरवाते हैं, जिससे शाहज़ादा अबूशहमा तड़प-तड़प कर मर जाता है, परन्तु वह न्याय के सामने पुत्र-स्नेह को बिल्कुल ही नहीं आने देते। जब उन्होंने कानूनन् शराब को छूना ही दण्डनीय बना दिया था, तो किसकी शक्ति थी कि मादक पदार्थों का सेवन करे ?

हजरत मुहम्मद ने जो कि मुस्लिम समाज के संस्थापक थे, सैकड़ों शत्रुओं को क्षमा करके अपनी असीम उदारता प्रकट की है। एक बार दो ईसाई रात बसेरा करने के लिये मसजिद में चले गये और उन्होंने अपनी सण्डे प्रार्थना (ईश वन्दना) भी वहीं पर की। कुछ लोगों ने बावेला मचाया, परन्तु पैगम्बर मुहम्मद ने घोषणा की कि यह स्थान ईश्वर-उपासना के हैं, कोई भी धर्म का व्यक्ति अपने विचारानुसार निःसङ्कोच प्रार्थना कर सकता है। महर्षि मुहम्मद का जीवन-चरित्र सेवा, परोपकार से परिपूर्ण है। वह आतिथ्य-सत्कार करके स्वयं भूखे रहते थे, उनकी उपासना में अद्वितीय शक्ति भरी थी। उनका सादगी का आदर्श भी अनुकरणीय है, क्योंकि वे स्वयं कार्य करते थे और अपनी इकलौती पुत्री फातिमा तथा



अन्य अनुयायियों को भी अपने हाथ से काम करने का उपदेश देते थे। यह उनका सादगी का आदर्श था।

प्रारम्भिक समाज की रूपरेखा

पुरुष में स्त्री से अधिक शक्ति थी, इसलिये सब जगह उसने स्त्री को बहुत से अधिकार देना पसन्द नहीं किया। क्या पूर्व क्या पश्चिम, क्या मुस्लिम क्या हिन्दू-समाज सभी स्थानों और व्यवस्थाओं में पुरुष के अधिकार स्त्री के अधिकारों से अधिक थे। मुस्लिम स्त्री की स्थिति भी दूसरे समाजों की स्त्री से बहुत भिन्न नहीं थी। अरब में पैग़म्बर मुहम्मद से पहले परस्पर लड़ाई-झगड़े में लगी हुई जातियों में ज़न और ज़र का एक ही दर्जा रहा होगा। स्त्री पुरुष की और ज़रूरी चीज़ों की तरह थी, जिन्हें वह अपने सुख के लिये ढूँढ़ता और छीनता फिरता था।

धर्म को सङ्गठन का साधन बनाने में महात्मा मुहम्मद ने जो चतुरता दिखाई, स्त्री की गिरी स्थिति उठाने में भी उन्होंने उसी दूरदर्शिता से काम लिया। उन्होंने पुरुष को अधिकार दिये, परन्तु स्त्री के स्वत्वों की रक्षा करते हुए। आधुनिक समय में हमें जो समानाधिकार की पुकार सुनाई देती है, उसका उस युग में नाम-निशान भी नहीं था। ऐसी दशा में यदि वे स्त्रियों को सब अधिकारों से वञ्चित रखते तो भी किसी को कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु मुहम्मद साहब का मन जो ग़ुलामों के दुख से मोम सा पिघल जाता था, स्त्रियों को ऐसे बन्धनों में जकड़ देने को राज़ी न हुआ, जो उनके जीवन को नष्ट कर देते। परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम स्त्री अपने जीवन में बहुत कुछ स्वतन्त्र हो सकी।

सम्पत्ति—पहले अरब के निवासियों में स्त्री और बच्चे उत्तराधिकार से वञ्चित रहते थे, क्योंकि उनका सिद्धान्त था कि जो बर्छी चला सकता है, वही उत्तराधिकारी है। ऐसे नियम बनने का कारण अरब जाति का लड़ाई-झगड़े में लगे रहना था। जो युद्ध में काम नहीं आते थे, वे व्यक्ति उस समाज में नगण्य समझे जाते थे।

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार बच्चे और निकट सम्बन्धी और उनके न होने पर दूर के सम्बन्धी चाहे वे स्त्री हों चाहे पुरुष, उत्तराधिकारी हो सकते थे। हर एक कन्या को पुत्रों के साथ पिता की सम्पत्ति का कुछ अंश मिलता था।

विवाह—इस्लाम ने विवाह को एक सामाजिक समझौते का ऐसा रूप दिया है, जिसने स्त्री की सारी सुविधाएँ नहीं छीन ली हैं। पुरुष इच्छानुसार एक या एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर सकता था, परन्तु यह कार्य बिना स्त्री की सम्मति के नहीं हो सकता था। जब विवाह होने लगता तो दूल्हा और दुल्हन दोनों से विवाह कराने वाला क़ाज़ी (पुरोहित) गवाहों के सामने स्वीकृति-पत्र लिखाता था। यदि स्त्री को वह पुरुष अयोग्य जान पड़े तो वह विरोध कर सकती थी। उसके अस्वीकार कर देने पर पुरुष उससे किसी प्रकार भी विवाह न कर सकता था। विवाह हो जाने पर भी यदि पति-पत्नी एक दूसरे से सन्तुष्ट नहीं रहते और उस बन्धन से स्वतन्त्र होना चाहते हैं, तो उसमें कोई धार्मिक बाधा नहीं पड़ती थी। इस विषय में भी स्त्री-पुरुष को समान रूप से स्वतन्त्रता मिली है। यदि स्त्री पति को अयोग्य समझती है या पति उसे बिना क़ुसूर सताता है तो वह तलाक़ दे सकती है। तलाक़ में पति की स्वच्छन्दता को रोकने के लिए, विवाह के समय उससे मेहर के रूप में स्त्री के लिए कुछ धन देना निश्चित करा लिया जाता है। यदि वह अपनी उच्छृङ्खलतावश स्त्री को बिना किसी दोष के तलाक़ देना चाहे तो वह धन उसे देना पड़ता है। इसके विपरीत यदि स्त्री उसे अकारण छोड़ना चाहे तो वह उस धन को पाने की अधिकारिणी नहीं रहती। तलाक़ प्राप्त और विधवा दोनों ही पुनर्विवाह के लिए स्वतन्त्र थीं। स्त्री के लिए वैधव्य आवश्यक नहीं, परन्तु ऐच्छिक था। यदि वह अपने पति की स्मृति लेकर जीवन बिता देती तो आदरणीय थी और यदि जीवन की सुविधाओं का विचार कर पुनर्विवाह कर लेती तो भी उसके सम्मान में अन्तर न आता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुहम्मद साहब का विधान और उनके जीवन सम्बन्धी नियम समाज की आवश्यकता समझ कर बनाये गए थे, इसी से वे उन

बर्बर जातियों को एक सूत्र में बाँध कर रख सकें। उनमें से अनेक नियम समय की गति के अनुसार परिवर्तनशील थे, परन्तु परिवर्तन के अभाव में वे कठिन और सड्डाण जान पड़ने लगे हैं।

आधुनिक मुस्लिम समाज

इतने रचनात्मक नियमों के होते हुए भी वर्तमान मुस्लिम समाज की स्थिति प्रशंसा के योग्य नहीं। अब नियम केवल नियम रह गये हे, जिनका अर्थ भी हमें स्मरण नहीं रहा। सुविधायें होते हुए भी मुस्लिम स्त्रियों की अवस्था अच्छी नहीं। वे बेचारी बिना आलोक देखे हुए एक घर में जन्म लेती हैं और बिना सूर्य-दर्शन के दूसरे घर में अन्त को प्राप्त होती हैं। संसार कहाँ जा रहा है, समय में कैसे कैसे परिवर्तन हो चुके, यह सब उनके लिए रहस्य है। बाहर के ज्ञान के लिए क्या कहा जाय, जब उन्हें साँस लेने के लिए साफ हवा मिलना भी कठिन है। कदाचित् आधुनिक मुस्लिम स्त्री के समान विवश कोई स्त्री न मिलेगी। परदे के कारण वह बचपन समाप्त होने के पहले ही पाठशाला छोड़ने पर वाध्य होती है। बड़े घरों में तो घर में भी वह अपने सम्बन्धियों के सम्मुख आने को स्वतन्त्र नहीं। परिणाम यह है कि वह जीवन के लिए आवश्यक ज्ञान ही नहीं प्राप्त कर सकती। ऐसी दशा में स्त्री माता का कर्तव्य भी कहाँ तक पूर्ण कर सकती है, यह विचारणीय है। मुस्लिम समाज के बालक-बालिकाओं को बचपन में ही जो रूढ़िवाद का विष माताओं द्वारा पिला दिया जाता है, वह जीवन भर उनके रक्त से दूर नहीं होता। अपनी संस्कृति के विषय में चाहे वे कुछ न जानें, परन्तु अपनी कट्टरता को बहुमूल्य समझना नहीं छोड़ते। इस समाज को यदि हम धर्म का वास्तविक अर्थ समझाना चाहें या उसे सामयिकता का पाठ पढ़ाना चाहें तो यह कार्य बिना माताओं की सहायता के नहीं हो सकता और यह मातायें बिना अपनी अशिक्षा, परदा आदि व्याधियों से दूर हुए कुछ न कर सकेंगी। उनकी यह भ्रान्त धारणा कि क़ुरान में वैसे ही परदे का आदेश है, जैसा वे करती हैं, भ्रान्त है। अपनी दृष्टि नीची रखना और अपने अङ्गों को ढके रहना पुरुष और स्त्री दोनों के लिये आवश्यक कहा गया है, परन्तु ऐसी जीवित समाधि का आदेश ऐसे समाज में मिलना जो व्यवहार पर आश्रित है, सम्भव नहीं। कदाचित् भारत में मुस्लिम शासकों ने शासितों की दृष्टि पड़ने से बचाने के लिए अपनी स्त्रियों को अन्तःपुर में बन्द रखा और होते-होते यह प्रथा बड़प्पन का चिन्ह बन गई। अन्य जातियों ने भी इस प्रकार स्त्रियों को दूर रखने में बहुत सी सामाजिक सुविधायें देखीं। इस प्रथा के फल स्वरूप मुस्लिम स्त्रियों ने स्वास्थ्य खोया, दुर्बल सन्तानों को जन्म दिया और अपनी अशिक्षा के कारण उनमें विकृत संस्कार भर दिये, जो आगे चलकर समाज और राष्ट्रीयता के लिए घातक सिद्ध हुए।

यह हमारी राष्ट्रीय जागृति का युग है, अतः उसमें यदि माताएँ कर्तव्य का पालन न करेंगी तो हम भविष्य के लिए स्वस्थ और उदार नागरिक कैसे छोड़ सकेंगे? अब यह अनिवार्य हो उठा है कि हम अपने समाज और संस्कृति को समझें और उसे समयानुकूल रूपरेखा दें। हमारे देखते-देखते कितने मुस्लिम देश उन्नति के शिखर पर पहुँच गए, परन्तु हम अब तक पारस्परिक विद्वेष का ही क्रय-विक्रय कर रहे है।

अब जो सुधार व उन्नति हो रही है, उसमें यह भी आवश्यक है कि विद्वत्जन यथार्थ मुस्लिम शिष्टाचार, साहित्य और संस्कृति से परिचित हो सकें। जब तक हिन्दू-मुस्लिम साहित्य एक दूसरे से परिचित न होंगे तब तक हमारे देश में राष्ट्रीय विकास पूर्ण रूप से नहीं हो सकता। यदि हिन्दी-साहित्य के प्रेमी मुस्लिम साहित्य को हिन्दी में लावें, उसे प्रकाशित करें, तो सैकड़ों पाठकों को उससे जानकारी हो जावेगी और हम एक दूसरे के निकट पहुँच सकेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि मुस्लिम-समाज कट्टरता के बन्धनों में जकड़ा हुआ है, परन्तु इसके जिम्मेदार हम ही हैं। जिस समाज के धर्म-ग्रन्थ सभी के प्रति प्रेम का पाठ पढ़ा कर एकता का पथ बतलाते हैं, जिसमें ग़ुलामी, छुआछूत, ऊँच-नीच के भाव वर्ज्य ही नहीं, अपराध हैं, उसे विवेकशील होकर अन्य समाजों के प्रति भ्रातृभाव का व्यवहार करना ही शोभा देगा।

ईसाई समाज और भारतीयता

[मिसेज़ ग्लोरिया दत्त]

इतने दिनों से साथ बहने पर भी जैसे प्रयाग की गङ्गा-यमुना की धाराएँ रङ्ग में अलग-अलग हैं, उसी तरह भारतीय समाजों में ईसाई समाज की दशा है। धर्म के भिन्न होने पर भी एक देश के निवासियों में रङ्ग, रूप, स्वभाव की जो एकता होती है, उसे मिटा डालना कठिन होता है। अबीसीनिया ईसा का अनुयायी होकर भी अबीसीनिया ही रह गया, इटली न बन सका। इसी तरह भारतीय भी भिन्न-भिन्न मत रखते हुए भारतीय ही रहेंगे, यह निश्चय है। फिर भी यह बात न हिन्दू समाज को याद रहती है और न ईसाई समाज को।

हिन्दू-समाज इस समाज को कुछ नीची नज़र से देखता है और उसके कारण भी हैं। यह धर्म कुछ तलवार के ज़ोर से नहीं आया और न पहले उसे समाज में ऊँचा स्थान पानेवालों ने स्वीकार किया। मुस्लिम-सभ्यता ने पहले उन बड़े आदमियों को अपनाया, जो उस समय के शासकों की कृपा चाहते थे। वह धर्म वीरों के द्वारा ही अधिकतर फैलाया गया, इसलिए छोटे आदमी उसके प्रभाव से बहुत कुछ बचते रहे। परन्तु ईसाई मत की दूसरी कहानी है। वह मिशनरियों के द्वारा फैलाया गया और उन्होंने पहले समाज के उन दुःखी मनुष्यों को समझाना ठीक समझा, जिनकी दशा गिरी हुई थी। जिनका किसी समाज में ठिकाना नहीं था, वे ही पहले इस धर्म में दीक्षित हुए क्योंकि यह उनको अधिक सुविधा देने का वचन देता था। नीच जातियों के अलावा कुछ ऊँची जातियों के लोग भी, जिन्हें किसी छोटे क़ुसूर के लिए समाज निकाल देता था, इसमें आ जाते थे। इस तरह हिन्दू समाज की सभी जातियों के कुछ लोगों के इसमें पहुँचने से यह समाज एक अजीब समाज बन गया। अछूत कही जाने वाली जातियों से जिन लोगों ने धर्म परिवर्तन किया, वे बेचारे तो अपनी पहली हालत को भूलने की कोशिश करने लगे; लेकिन ऊँची जाति से आने वाले अपने घमण्ड को न भुला सके। एकता का वचन दिया गया, ज़रूर पर मन की एकता कहने-सुनने से नहीं हो सकती। उसके लिए तो आत्मा का परिवर्तन चाहिये, जो मुमकिन नहीं था।

ऊँची जाति वालों के संस्कार इतने गहरे थे कि उनको मिटाना कठिन था। वे नीच जाति वालों से मिलते और बात करते थे। खान-पान का भी परहेज़ न चल पाता था, पर अपनी उच्चता की रक्षा के लिए शादी-ब्याह ऐसे ही लोगों में करते थे, जो मत परिवर्तन के पहले उच्च वर्ण के हिन्दू थे। इस तरह इस समाज में जातियाँ तो नहीं बनीं, पर श्रेणियाँ बन गईं, जो दिखावे के लिए मिलती थीं, पर वैसे दूर ही दूर रहती थीं।

ऊँच-नीच जातियों के अलावा अलग-अलग प्रान्तों से आये हुए लोग भी अपनी प्रान्तीयता रखना चाहते हैं। एक बङ्गाली ईसाई दूसरे बङ्गाली ईसाई से ही विवाह सम्बन्ध करना चाहे तो अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। हाँ, एकता के विचार से इसे अच्छा नहीं मानेंगे। धीरे-धीरे ऊँच-नीच, ग़रीब-अमीर आदि की दीवारें बनने लगीं, जिन्होंने सबकी समानता मुश्किल कर दी। वर्तमान युग में इस समाज के पास कोई सामाजिक समस्या नहीं है, जिसे सुलझाना ज़रूरी हो। पश्चिमी सभ्यता के साथ-साथ उसे बहुत सी सामाजिक सुविधाएँ भी मिल गई हैं।

सभी श्रेणी के लोगों में शिक्षा का अच्छा प्रचार है। मिशन स्कूलों तथा अन्य स्कूलों में अधिक संख्या में लड़कियाँ शिक्षा पाती हैं। यह समाज समृद्ध नहीं है, इसलिए धनाभाव से उच्च शिक्षा चाहे न दी जा सके,

परन्तु साधारण शिक्षा तो अनिवार्य हो गई है। विवाह का वैसा ही रूप यहाँ है, जैसा पश्चिम के समाजों में मिलता है। लड़के लड़की बड़े होकर जब एक दूसरे को देख सुन लेते हैं, तब उन दोनों का विवाह कर दिया जाता है। विवाह लड़के लड़की की इच्छानुसार होना चाहिए, यह नियम है, परन्तु अकसर माँ बाप की इच्छा भी प्रधान रहती है। कभी-कभी जहाँ माँ-बाप की इच्छा के विरुद्ध विवाह हो जाते हैं, वहाँ बुरे परिणाम भी दिखाई देते हैं। समाज में सफल और असफल दोनों ही प्रकार के विवाह मिलते हैं, परन्तु उनके लिए जिम्मेदार समाज नहीं ठहराया जा सकता। लड़के लड़की एक दूसरे के स्वभाव और गुणों को बिना जाने हुए जब प्रेम-पाश में बँध जाते हैं, तब उन्हें विवाह के लिए स्वतन्त्रता न देने में भी बुराई है और देने में भी। पश्चिम के दम्पति की तरह वे एक दूसरे से शीघ्र थक जाते हैं और उनका विवाहित जीवन असफल हो जाता है। तलाक की सुविधा भी रहती है, परन्तु बड़े घरों के लोग उसे सम्मान की बात नहीं समझते। एक पुरुष अपनी स्त्री के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता। हाँ, पहली को तलाक देकर कर सकता है। स्त्री के लिए भी यही नियम है। तलाक के लिए भी दुराचार, क्रूरता आदि के प्रमाण मिलना आवश्यक रहता है, जिस से पति-पत्नी एक दूसरे के प्रति अन्याय न कर सकें। रोमन कैथलिक सम्प्रदाय वाले तलाक का नियम स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उनके विचार में विवाह का बन्धन केवल सामाजिक बन्धन नहीं है। इसलिए जो एक बार विवाहित हो चुके हैं, उनके आध्यात्मिक बन्धन को कोई तोड़ नहीं सकता। चाहे तलाक के पक्ष में हों चाहे विपक्ष में, परन्तु इस तरह विवाह-बन्धन तोड़ देना किसी को अच्छा नहीं लगता। पश्चिम की जनता भी, अपना आदर्श नहीं बदलना चाहती, यह सम्राट् एडवर्ड के राज्य-त्याग से प्रकट हो चुका है। रूस के तलाक सम्बन्धी सुगम नियम भी सबको अच्छे नहीं लगे। तब फिर भारतीय वातावरण में पले हुए ईसाई समाज में इसका कैसे बहुत आदर हो सकता है! पर इस नियम ने स्त्री की स्थिति कुछ अच्छी कर दी है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

उत्तराधिकार के नियम भी पाश्चात्य समाज के नियमों के समान है। इससे ईसाई स्त्री हिन्दू स्त्री से अधिक अच्छी दशा में है।

परदे का कोई बन्धन नहीं है। स्त्री स्वच्छन्दता पूर्वक बाजार-हाट कर सकती है, घूम-फिर सकती है और इष्ट-मित्रों से मिल सकती है। निर्लज्जता, अशिष्टता और उच्छृङ्खलता जैसे और समाजों में बुरी समझी जाती है, वैसे यहाँ भी इन बुरे गुणों का कोई आदर नहीं करता। विवाह के बाद स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर हो जाता है, जिसकी देखभाल करना और पति-बच्चों को आराम पहुँचाना उसका कर्तव्य हो जाता है। पर विवाहित स्त्री भी बाहर के कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। अगर पति की आय कम है और खर्च अधिक तो स्त्री का कोई कार्य करके उसे सहायता देना बुरा नहीं समझा जाता। कुछ इस समाज की निर्धनता के कारण और कुछ उनकी रहन-सहन का मान (Standard) ऊँचा होने के कारण इस समाज की शिक्षित स्त्रियाँ अधिक संख्या में बाहर कार्य करती हुई मिलेंगी। और कुमारियाँ तो करती ही हैं, क्योंकि जब तक कोई पुरुष उन्हें पत्नी बनाने को तैयार नहीं होता, उन्हें अपनी जीविका के लिए काम करना ही पड़ता है। हिन्दू-समाज की तरह माता-पिता उनके लिए वर तलाशने और रुपये से उनकी कमियाँ पूरी करने को अपना कर्त्तव्य नहीं मानते। उन्हें जीविका के योग्य बना देना ही माता-पिता का कर्तव्य है। उसके बाद जब उन्हें सुयोग्य पति मिलता है, वे विवाह कर लेती हैं, नहीं तो शिक्षा आदि क्षेत्रों में काम करती हैं। सम्भ्रान्त घरों में, जहाँ धन का अभाव नहीं होता, लड़कियाँ अच्छे दहेज के साथ विवाह दी जाती हैं, परन्तु साधारण परिवार की दशा इससे भिन्न है।

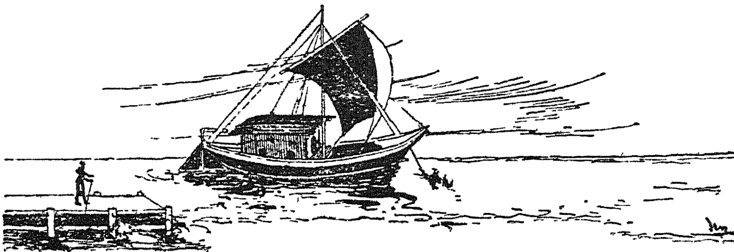
इस समाज में दो प्रकार के व्यक्ति मिलेंगे, एक तो वे जिन्होंने धर्म-परिवर्तन के साथ भारतीयता भी छोड़ दी है और दूसरे वे जो भिन्न धर्म के अनुयायी होकर भी उसे नहीं छोड़ सके हैं। छोड़ने वालों में कुछ दलित जातियों से आये हैं, जिन्हें भारतीय संस्कृति का कोई ज्ञान नहीं था और कुछ ऐसे हैं, जिन्हें पाश्चात्य सभ्यता ने

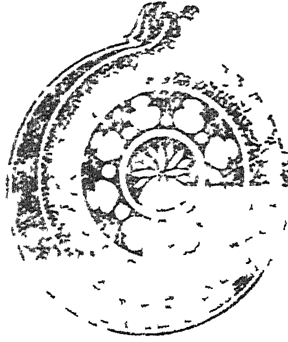
बहुत प्रभावित किया है। भारतीयता को न भूलने वालों में, विशेष कर ऊँचे वर्णों के हिन्दू और ऐसे लोग हैं, जो पाश्चात्य हवा को दोषपूर्ण समझते हैं। इनमें से एक ने वेष-भूषा, रहन-सहन सभी में पश्चिम की नक़ल की है, जो वहाँ रहने वालों के लिये उपयुक्त होकर भी यहाँ के निवासियों के लिए उचित नहीं थी। कृष्णवर्ण वाली स्त्रियों को अङ्गरेज़ी महिला की वेष-भूषा में बहुतों ने देखा होगा। वह वेष-भूषा न भारतीयों की नज़रों में उनका मूल्य बढ़ाती है और न यूरोप के निवासियों के निकट उनका सम्मान बढ़ाती है। प्रायः उलटी-सीधी वेष-भूषा और ग़लत-सलत अङ्गरेज़ी उनका परिचय देती है। भारतीय पुरुषों ने तो पश्चिमीय वेष-भूषा से अपने पहनावे को मिला लिया है, परन्तु अब तक भारतीय स्त्री ने अपनी वेष-भूषा नहीं बदली। हमारे निर्धन देश और समाज के लिए पाश्चात्य रहन-सहन बहुत उपयुक्त भी नहीं है, इसीसे इस परिवर्तन से उन लोगों की कठिनाइयाँ घटने के स्थान में बढ़ गई हैं। रहन-सहन का मान ऊँचा उठा देने से ही कोई समाज ऊँचा नहीं उठ जाता। इस पाश्चात्य रहन-सहन के समर्थकों ने भारतीय समाज से अपने आपको बिल्कुल भिन्न कर लिया है सही, परन्तु पाश्चात्य-समाज में उनका मिलना सम्भव न हो सका। इसलिये अब वह एक भिन्न ही समाज बन गया है। इसके विपरीत भारतीयता के समर्थकों ने धर्म-परिवर्तन करके भी अपनी रहन-सहन आदि में भारतीयता की झलक रखी है। वे वेष-भूषा, रहन-सहन में भारतीय ही जान पड़ते हैं।

पाश्चात्य समाज के दुर्गुण भी उसी समाज में अधिक मिलेंगे, जो उसका अन्धानुकरण करता है। उस समाज में कहीं-कहीं मिलने वाली उच्छृङ्खलता, युवक-युवतियों में आचरण सम्बन्धी शिथिलता आदि ऐसे दोष हैं जिन्हें दूर करना ज़रूरी होता जाता है। जो कुछ अभारतीय है वह सभी अच्छा नहीं और जो कुछ भारतीय है वह सभी बुरा नहीं। इसलिए हर एक समाज को अपने देश का वातावरण देखकर अपना सङ्गठन करना उचित है।

बहुत सी बातें जो किसी दूर देश के लिए उपयोगी हैं, हमारे लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होंगी। आँख मूँदकर उन सबको स्वीकार कर लेना बहुत बुद्धिमानी नहीं है।

इस समय तो सब समाजों को यह ध्यान होना चाहिए कि पहले वे भारतीय हैं तब और कुछ। इसी धारणा से उनका समाज अपने देश की जलवायु में पनप सकेगा। भारतीयता किसी भी मत और धर्म की शत्रु नहीं है और न उसे होना ही चाहिए। यदि ईसाई समाज अपने दृष्टिकोण को उदार रखे और अपनी सार्वजनिक उपयोगिता न भूले तो इससे उसका और राष्ट्र का कल्याण ही होगा।





हमारे समाज के उपेक्षित अङ्ग

[श्री० नन्दगोपालसिंह सहगल]

वर्तमान समय में ससार की राजनीति के प्रधान अङ्ग किसान और मजदूर ही हैं। कहने के लिए इन दिनों बहुत सी विकट अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं, पर वास्तव में उनका सम्बन्ध श्रमजीवियों अथवा किसान मजदूरों से ही है। विभिन्न देशों में किसान और मज़दूरों की जागृति से पूँजीपतियों तथा जमीन-जायदाद के स्वामियों में जा भय का भाव उत्पन्न हुआ है उसीके फल स्वरूप संसार की विभिन्न शक्तियों में कलह की उत्पत्ति हुई है, तथा समस्त संसार में अशान्ति फैली हुई है। इस समय सभी देशों में इन दोनों समूहों को काफी महत्व प्राप्त हो रहा है और किसी न किसी दृष्टि से उनकी अवस्था को उन्नत बनाने की चेष्टा की जा रही है।

किसान

पर हमारे देश की अवस्था कुछ और ही है। यद्यपि यहाँ की जन-संख्या का पौन भाग कृषि-जीवी है और मज़दूरों की सख्या भी काफी बड़ी है, पर उनकी स्थिति अधिकाश में असन्तोषजनक है। एक समय था, जब कि यहाँ कृषि के साथ दस्तकारी की भी प्रधानता थी और यहाँ का बना माल ससार के दूर-दूर के देशों में जाकर बिकता था। इससे यहाँ अर्थ की प्रचुरता रहती थी और लोगों का जीवन सुख पूर्वक व्यतीत होता था। पर विदेशी शासन के आगमन से और उद्योग-धन्धों में नवीन यन्त्रों तथा भाफ अथवा बिजली की शक्ति का प्रयोग आरम्भ होने से यहाँ की दस्तकारियों की अवनति होने लगी। इसके फल से यहाँ के कुछ दस्तकार तो कारखानों के मज़दूर बन गये और शेष खेती की ओर झुक गये। इस कारण कृषि योग्य भूमि का भार बढ़ गया और लोगों को अपेक्षाकृत थोड़ी ही भूमि से जीवन-निर्वाह करने को बाध्य होना पड़ा। हिसाब लगाने से ज्ञात होता है कि एक वर्गमील भूमि से अधिक से अधिक २५० व्यक्तियों का जीवन-निर्वाह उचित रीति से हो सकता है। पर इन दिनों बङ्गाल में ६०८, यू० पी० में ४२७ और मद्रास में ३०० व्यक्तियों को एक वर्गमील भूमि पर निर्भर रहना पड़ता है। अन्य प्रदेशों की भी लगभग ऐसी ही अवस्था है।

भूमि के अभाव के साथ ही कृषकों की दुर्दशा के और भी अनेक कारण हैं। भूमि की अधिक माँग तथा सयुक्त परिवार-प्रथा के टूटने से यहाँ के खेत छोटे छोटे टुकड़ों में बँटते जाते है, जिससे परिश्रम अधिक करना पड़ता है तथा फल थोड़ा प्राप्त होता है। जब कि इङ्गलैण्ड में खेतों का औसत परिमाण २१ एकड़ है, हमारे यहाँ वह केवल चार-पाँच एकड़ है। सरकारी रिपोर्टों से पता लगता है कि यहाँ कितने ही खेत तीस-चालीस वर्ग गज के भी हैं। दूसरी बड़ी कमी कृषि के नवीन सुधरे हुये उपायों की है। अभी तक यहाँ की सरकार कृषि-सम्बन्धी अन्वेषणों पर नाममात्र को व्यय करती रही है और किसानों के पास भी इतना धन नहीं होता कि वे सुधरे हुये औज़ारों और व्ययसाध्य विधियों से काम ले सकें। इसलिये उनको बहुत पुराने ढर्रे के औज़ारों से ही काम चलाना पड़ता है, जिनमें परिश्रम अधिक करना पड़ता है और पैदावार बहुत थोड़ी होती है। दुर्दशा का तीसरा कारण किसानों का कर्ज़दार होना है। सरकारी बैङ्किङ्ग इनक्वायरी कमेटी के मतानुसार भारतीय किसानों

के क़र्ज़ का परिमाण ६०० करोड़ रु० है, जिसका ब्याज कहीं-कहीं तो उनको ६० प्रति सैकड़ा देना पड़ता है। फिर यह क़र्ज़ प्रायः खेती की उन्नति के लिये नहीं, वरन् प्रायः तरह-तरह के अनुचित करों और सामाजिक रस्मों में होने वाली फ़िज़ूलख़र्ची के लिये किया जाता है।

इन ख़राबियों का परिणाम यह हुआ कि किसानों की दशा वर्षों से गिरती ही जाती है। जो एक बार किसी तरह क़र्ज़ के चङ्गुल में फँस जाता है, वह प्रायः आजन्म उससे छुटकारा नहीं पाता। उसे शक्ति से बाहर परिश्रम करना पड़ता है, पर उसे तथा उसके बाल-बच्चों को सुख की सामग्रियों की बात तो दूर, भरपेट अन्न और मामूली वस्त्र भी नहीं मिलते। सच पूँछा जाय तो हमारे शासकों तथा समाज के कर्णधारों की उपेक्षा से किसानों की दशा क्रमशः ऐसी भयङ्कर हो गई है कि अब चेष्टा करने पर भी वर्षों में उसका सुधार हो सकना कठिन है। सुधारक-गण सफ़ाई, स्वच्छता तथा शिक्षा की बातें करते हैं, पर वे यह भूल जाते हैं कि जिन लोगों के पेट में भूख के मारे चूहे कूदते है तथा जो साक्षात् दरिद्रता की मूर्ति बने हुए हैं, उनका ध्यान सुधारों की तरफ़ कैसे आकृष्ट हो सकता है। उनको किसी तरह प्राण-रक्षा के लाले ही पड़े रहते हैं, अनगिनती लोग सचमुच भोजन के अभाव से मर जाते हैं। बीमार होने पर उनकी दवा और सेवा-सुश्रूषा की कोई व्यवस्था नहीं होती। क़र्ज़ देने वाले बौहरों और ज़मींदारों के अकथनीय अत्याचार उनको सहन करने पड़ते हैं। ऐसे लोगों से उन्नति की क्या आशा की जा सकती है। वे अपना ही निर्वाह नहीं कर पाते, देश और समाज के प्रति कर्तव्यों का पालन करने का ख़याल कहाँ से कर सकते हैं। हमारी समझ में इस समय देश की सबसे बड़ी समस्या यही है। जिस देश के ७५ प्रति सैकड़ा लोग इस तरह कठिनाइयों में जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वहाँ दूसरी उन्नति की योजनाओं की सफलता की आशा किस प्रकार की जा सकती है।

मज़दूर

भारतीय मज़दूरों की हालत शायद किसानों से भी ख़राब है। गाँवों में भोजन के अभाव की पूर्ति कुछ अंशों में खुली आबहवा कर देती है, जिससे स्वास्थ्य थोड़ा-बहुत बना रहता है। पर बड़े शहरों के मज़दूरों को तो सारयुक्त भोजन के साथ ही ताज़ी हवा और सूरज की रोशनी तक से वञ्चित हो जाना पड़ता है। इन मज़दूरों की आमदनी गाँवों के मज़दूरों से कुछ अधिक अवश्य होती है, पर शहरों में तरह-तरह के ख़र्च बढ़ जाते हैं तथा अनेक प्रकार के व्यसन भी लग जाते हैं जिससे अक्सर लेखा-जोखा बराबर हो जाता है। इन मज़दूरों के काम करने के घण्टे हाल में सरकारी क़ानून द्वारा कुछ घटा दिये गये हैं, तो भी भारत जैसे गर्म देश के लिये वे अब भी अधिक हैं। मज़दूरों के मकानों की व्यवस्था तो बहुत ही त्रुटिपूर्ण है। इस सम्बन्ध में सरकारी 'इण्डस्ट्रियल रिपोर्ट' में एक स्थान में लिखा है कि "औद्योगिक नगरों में मज़दूरों के रहने के लिये जो 'चाल' बने हैं, वे बहुत ही ख़राब हैं। वे अक्सर दो-तीन मञ्ज़िल के होते हैं और उनमें एक मज़दूर परिवार को केवल एक ही कमरा रहने को मिलता है। इन कमरों में खिड़की वग़ैरह नाममात्र को होती हैं और सदा घोर अँधेरा बना रहता है। तले की मञ्ज़िल के कमरों में सीड़ भी काफ़ी रहती है, क्योंकि आँगन के अभाव से वहाँ धूप और हवा पहुँचती ही नहीं। पानी की व्यवस्था भी असंतोषजनक होती है और पाख़ाना ऐसा ख़राब होता है कि सर्वत्र बदबू आती रहती है।" कारख़ानों में भी स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का पालन बड़ी अपूर्णता के साथ किया जाता है। इन तमाम बातों के फल से इन मज़दूरों के चेहरे फीके और शरीर पीले बने रहते हैं। वे हमेशा बीमार से दिखलाई पड़ा करते हैं और अक्सर बहुत कम उम्र में मर जाते हैं।

हरिजन

भारतीय हरिजनों अथवा दलित जाति वालों की दशा तो पशुओं से भी गई-गुज़री है। दरिद्रता से उत्पन्न होने वाले सब कष्ट तो उनको भोगने ही पड़ते हैं, सामाजिक दृष्टि से भी उनके साथ मनुष्यत्व विहीन बर्ताव किया जाता है। जो लोग कुत्ते-बिल्ली और दूसरे जानवरों का बिना किसी परहेज़ के छू सकते हैं, वे इन नरतन धारी हरिजनों के

छूने से अपने को अपवित्र मान लेते हैं। उनको सार्वजनिक मार्गों, स्कूलों, कुओं और धर्मोपासना के स्थानों से दूर रखा जाता है। इसके साथ ही वे कुछ बहुत ही निकृष्ट पेशों को छोड़कर जीवन निर्वाह का और कोई कार्य भी नहीं कर सकते। इससे उनकी आर्थिक दशा दूसरे गरीब लोगों से भी कहीं अधिक शोचनीय रहती है। इस सम्बन्ध में हरिजन-आन्दोलन में लगी हुई सुप्रसिद्ध महिला-जनसेविका श्रीमती रामेश्वरी नेहरू ने एक स्थान पर हरिजनों की दुरवस्था का जो चित्र खींचा है, वह वास्तव में हृदय को हिला देने वाला है। उन्होंने लिखा था कि "मैं प्रायः भारतवर्ष की दरिद्रता का हाल सुना करती थी और कभी-कभी स्वयं भी उसकी चर्चा किया करती थी, पर मैं उसकी वास्तविकता से ठीक-ठीक परिचित नहीं थी। अब जब से मैंने हरिजनों में काम करना आरम्भ किया है, तब से मुझे इस दरिद्रता के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हुआ है और मैं जान सकी हूँ कि 'करोड़ों भूखों मरने वाले लोगों' का असली मतलब क्या है। इन हरिजनों की अवस्था से एक बार परिचित हो जाने पर फिर उसे भूल सकना असम्भव है। उनके दुबले-पतले और जीर्ण-शीर्ण शरीर, म्लान मुख, उनकी क्षुधित दृष्टि, निराशापूर्ण नेत्र, उनकी शून्य और आनन्द-रहित झोंपड़ियाँ, उनके नङ्गे और मारे-मारे फिरने वाले बच्चे आदि सभी बातें ऐसी हैं, जो एक बार देख लेने पर बराबर आँखों के सामने घूमती रहती हैं।" हम लोग चाहे जितना उन्नति-उन्नति चिल्लाएँ और सुधार की चेष्टा करें, जब तक समाज में ऐसे दीनहीन लोगों का अस्तित्व है, तब तक हमारे सब प्रयत्न बेकार होंगे। हम ऊपर उठने की कितनी भी चेष्टा क्यों न करें, इन पतित बनाये हुये प्राणियों का बोझ हमको नीचे की तरफ ही घसीटता रहेगा। महात्मा गाँधी ने इस तथ्य को दूसरे लोगों की अपेक्षा बहुत अच्छी तरह समझ लिया है और इसीलिए उन्होंने इस कार्य को अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य बना लिया है। यद्यपि हमारे देश में इन दिनों 'समानता' के सिद्धान्त का दावा करने वालों की सख्या बढ़ती जाती है, और लोग अमीर और गरीबों को बराबर कर देने का भी दम भरने लगे है, पर हमको आशा नहीं होती कि इस तरह की बातों से दरिद्रता तथा दुर्दशा के सब से नीचे गर्त्त में पड़े हरिजनों के कष्टों का अन्त हो सकेगा। हमारी समझ में कितनी ही बातें ऐसी है, जिनको हम समाज में बिना किसी बहुत बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये ही कर सकते है। इसके लिये सब से पहले हमको इन दलित लोगों के सम्पर्क में आना चाहिये और भारतीय जनता के स्वभाव में सामूहिकता का भाव उत्पन्न करना चाहिये। अपने निजी कामों में हमें उनसे अनुचित लाभ उठाना और उनकी सेवाओं के बदले में कम से कम देने की प्रवृत्ति छोड़नी चाहिये। हमें अपने निजी जीवन में ही उनकी सेवा के अवसरों का उपयोग करना चाहिये। इन उपायों से स्थिति में निश्चय ही बहुत कुछ सुधार हो सकेगा।

बेकार शिक्षित

बेकारी की समस्या इस समय ससार-व्यापी हो रही है। गत योरोपीय महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप प्रत्येक देश में लाखों-करोड़ों व्यक्ति बेकारी की व्याधि से पीड़ित हैं। उन्हीं कारणों से तथा कुछ अन्य विशेष कारणों से हमारे देश में भी असख्यों शिक्षित और अशिक्षित व्यक्ति बेकार हैं। पर जहाँ अन्य देशों की सरकारों ने इस समस्या को हल करने की ओर पूरा ध्यान दिया है, करोड़ों और अरबों रुपये खर्च किये हैं, हमारे देश में अभी तक बेकारों की गणना भी नहीं की जा सकी है। इनमें अशिक्षित बेकार तो किसी तरह का छोटा-मोटा काम करके कुछ पैसे रोज़ भी पैदा कर लेते हैं, आधा तिहाई पेट खाकर प्राण-रक्षा करते हैं, पर शिक्षित बेकार, समाज द्वारा डाले हुये सस्कारों के कारण इसमें भी असमर्थ रहते हैं। वे छोटी से छोटी नौकरी के लिए राजी हैं, पर शारीरिक काम या मज़दूरी या तो उनसे होता ही नहीं या वे उसे मौत से भी बदतर समझते है। इसका परिणाम आज हम यह देख रहे हैं कि मामूली बीस-पच्चीस रुपये की क्लर्की के लिये हज़ारों एम० ए०, बी० ए० पास युवक टूट पड़ते हैं। यह अवस्था बेकारों के लिए ही नहीं, समाज के लिये भी

शोचनीय है और इसका अन्तिम परिणाम नाश के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

समाज का कर्तव्य

प्रत्येक समाज का यह कर्तव्य है कि वह अपने सदस्यों के भरण-पोषण की उचित व्यवस्था करे। जिस समाज के व्यक्ति काम करने की इच्छा रखने पर भी जीविका का मार्ग नहीं पाते; परिश्रम करने पर भी जिनको उसका उचित प्रतिफल प्राप्त नहीं होता; निर्दोष होते हुये भी अनुचित असमानता तथा भाँति-भाँति के अन्यायों का शिकार होना पड़ता है, उस समाज में सुख और शान्ति का पाया जाना असम्भव है। ऐसे समाज में अव्यवस्था और विद्वेष का वातावरण फैला रहता है और लोगों का जीवन सङ्कटापन्न हो जाता है। समाज के कर्णधारों का यह प्रधान कर्तव्य है कि अन्याय और असमानता के कारणों को दूर करने की चेष्टा करें और ऐसी व्यवस्था करें, जिससे किसी भी दृष्टि से उपेक्षित व्यक्तियों का असन्तोष दूर होकर समाज में न्याय की स्थापना हो सके, क्योंकि न्याय पर स्थापित समाज ही वास्तविक रूप से सुखी हो सकता है।

गीत

[श्री० गङ्गाप्रसाद पाँडे]

रे पागल पिक प्रिय बोल बोल!
जग-जीवन के कटु क्षण-क्षण में,
अपने मन का मधु घोल-घोल!

चिर पुलकित प्रकृति मधुरिमा के—
तुम दिव्य दूत क्यों आज क्लान्त?
मानव मन की विह्वलता से,
क्या बने दुखी हो श्रान्त-भ्रान्त?

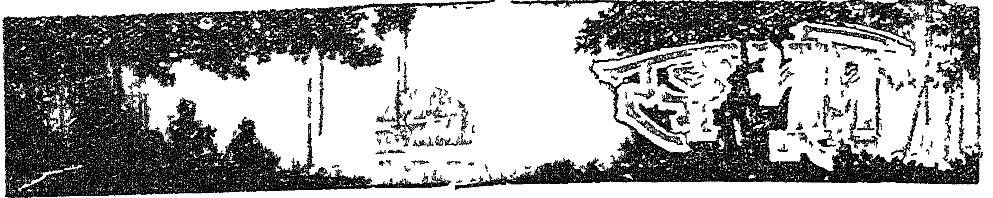
किस व्याधि-व्यथा से तुम पीड़ित;
बोलो रहस्य निज खोल-खोल!

क्या सदय सँदेशा कहता है,
ऐ व्याकुल तेरा करुण मौन?
सुख-दुख की छाया धूप-छाँह—
से बचा बताओ जीव कौन?

मेरे जीवन सा ही फिर है,
तेरे जीवन का आज मोल!

रे पागल पिक प्रिय बोल बोल!





[सम्पादकीय]

स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता

इस समय हमारे देश में स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रश्न बहुत जोरों से उठ रहा है। सभी अग्रगामी विचारों के व्यक्तियों का यह खयाल हो रहा है कि जब तक इस देश की स्त्रियाँ जीविका की दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ी हो सकने योग्य न बनेंगी, तब तक उनका उद्धार हो सकना कठिन है। वर्तमान समय में कन्याओं के विवाह में जो कठिनाइयाँ पड़ रही हैं और जिसके फल-स्वरूप हिन्दुओं की अधिकाश उच्च जातियों में कन्या का जन्म ही अशुभ समझा जाने लगा है, तथा लड़कियों के साथ विवाह के पहले तथा बाद में भी जो कठोर व्यवहार किया जाता है, इस सबका मूल कारण स्त्रियों का पूर्णतया परावलम्बी होना ही है। यदि वे अवसर पड़ने पर अपनी और अपने परिवार की सहायता तथा भरण-पोषण कर सकने की योग्यता रखती हों तो कोई उनके प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार नहीं कर सकता।

पर देश में एक दूसरा भी दल है, जिसकी विचार-धारा इसके विपरीत दिशा में प्रवाहित होती है। वे लोग स्त्रियों के कष्टों और उनकी उपेक्षित परिस्थिति को समझते हुये भी इस बात को समाज के लिये कल्याणकारी नहीं समझते कि स्त्रियों को विशेष रूप से जीविकोपार्जन की शिक्षा दी जाय और स्त्रियाँ बड़ी संख्या में गृह-कार्य को छोड़ कर खाने-कमाने में लगें। उनका कहना है कि यूरोप व अमेरिका के जिन देशों में स्त्रियाँ नौकरियाँ करके जीविकोपार्जन करने भी लग गई हैं, वहाँ भी उनकी कठिनाइयाँ कम नहीं हुई हैं और वे अधिक सुखी नहीं कही जा सकतीं। इस सम्बन्ध में हाल ही में एक लेखक ने 'भारत' में इङ्गलैण्ड की क्लर्क स्त्रियों का उदाहरण देकर बतलाया था :—

"इङ्गलैण्ड में दफ्तरों मे काम करने वाली स्त्रियों की कठिन समस्याएँ बढती जाती हैं। सन् १६०१ में ब्रिटेन में व्यापारिक दफ्तरों में काम करने वाली स्त्रियों की संख्या ५५,७८४ थी। दस वर्षों बाद यही सख्या बढ़ कर ११७,०५७ हो गई। और दस वर्ष बीते तो सन् १६२१ की जनसख्या के आँकड़ों के अनुसार स्त्री क्लर्कों की गणना ४,२६,६२१ तक पहुँची, फिर वही सन् १६३१ में बढ कर ५,७६,६४५ पर पहुँची और आज यह अनुमान किया जाता है कि यह संख्या ६ लाख से कम किसी भाँति नही है। दो बातें विचार करने की है। एक तो यह कि इङ्गलिस्तान और दूसरे पाश्चात्य देशों में गृहस्थी में दिलचस्पी लेने वाली स्त्रियों की सख्या जितनी समझी जाती है, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक है। दूसरे यह कि जो स्त्रियाँ अपने स्वातन्त्र्य का उपयोग आर्थिक सङ्घर्ष में पड़ कर और कमाई के फेर में रह कर कर रही हैं उनकी परिस्थिति चिन्तारहित नहीं है। इन्ही ६ लाख स्त्री-क्लर्कों की स्थिति शोचनीय है और कहा यह जाता है कि जिस प्रकार पुतलीघरों में काम करने वालों की रक्षा के लिये तथा उनके कामों को नियमित करने तथा मालिको पर नियन्त्रण लगाने के लिये कानून बने हैं, उसी प्रकार इन क्लर्कों की रक्षा के लिये भी कानून बनने चाहिये।

. क्लर्कों की सस्थाओं के अधिकारियों के पास जो पत्र इन स्त्रियों के आते रहते हैं, उनमें से अनेक वास्तव में हृदय-विदारक स्थिति बतलाते है। अनेक लड़कियाँ स्वास्थ्य की दृष्टि से भयावह वातावरण में काम करने को विवश होती है। . .. उनके नैतिक पतन की सम्भावना तो सदा बनी ही रहती है।"

उपर्युक्त लेखांश में इङ्गलैण्ड की महिला क्लर्कों का जो चित्र खींचा गया है और उनकी कठिनाइयों पर जो प्रकाश डाला गया है, वह अधिकांश में सच है। यह समझना कि स्त्रियाँ नौकरी करने से वैभवशाली व्यक्तियों के समान जीवन बिताने लगेंगी या उनको जीवन-सङ्घर्ष की चिन्ताओं से मुक्ति मिल जायगी, भ्रम है। पर हमारी सम्मति में इस दुरवस्था का कारण स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं वरन् संसार भर में समाज का दूषित आर्थिक सङ्गठन है। वर्तमान परिस्थिति में इस प्रकार की कठिनाइयाँ तो प्रत्येक श्रमजीवी और साधारण श्रेणी के कार्यकर्ता को सहनी ही पड़ेंगी, क्योंकि व्यवसाय के नियम ही ऐसे हैं। इसका दोष स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता पर रखना अनुचित है। हाँ, इतना हम स्वीकार कर सकते हैं कि स्त्रियों के अधिक संख्या में नौकरी आदि जीविकोपार्जन के धन्धों में लगने से समाज के सम्मुख नवीन प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी, जिनमें से सम्भव है, कुछ वास्तव में अकल्याणकारी भी हों। पर इसके कारण न तो हमारा विकास की गति में अड़ङ्गा लगाना उचित होगा और न स्त्रियों को वर्तमान दुर्दशा में फँसाये रखने की चेष्टा। हम यह नहीं कहते कि अधिकांश स्त्रियाँ वास्तव में नौकरी या अन्य धन कमाने का कार्य करने में ही लगें, पर उनमें इसकी क्षमता अवश्य होनी चाहिये; क्योंकि संसार में परिस्थिति नित्य बदलती रहती है, और जिस व्यक्ति में, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, उसका सामना करने की योग्यता नहीं होती, उसे अवश्य कष्ट उठाना पड़ता है।

*　*　*

जेलखानों का सुधार

संयुक्त प्रान्त की सरकार के जेल तथा प्रकाशन-विभाग के पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी श्री० गोपीनाथ श्रीवास्तव ने जेलों की वर्तमान अवस्था और उनके सुधार के उपायों पर एक वक्तव्य हमारे पास प्रकाशनार्थ भेजा है। उससे विदित होता है कि संयुक्त प्रान्त का जेल विभाग समस्त देश में अधिक बड़ा है। उसके अधीन ५६ जेलें और ३१-३२ हजार क़ैदी हैं। यह संख्या समस्त भारत के क़ैदियों की संख्या की आधी है। यह एक ऐसी बात है, जिस पर इस वक्तव्य को पढ़ने के पूर्व हमारा ध्यान कभी नहीं गया था। संयुक्त प्रान्त सभ्यता तथा संस्कृति में अधिकांश प्रदेशों से श्रेष्ठ समझा जाता है; इसमें जङ्गली और जरायम पेशा जातियाँ भी न्यून संख्या में हैं, फिर भी यहाँ क़ैदियों की संख्या का अधिक होना विचारणीय है। इसका कारण जनता की अवर्णनीय दरिद्रता और शासन-व्यवस्था की त्रुटियाँ ही हो सकती हैं। सन्तोष का विषय है कि कॉङ्ग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने अधिकारारूढ़ होते ही इस महत्वपूर्ण समस्या की ओर ध्यान दिया है और ऐसा कार्यक्रम बनाया है, जिसके अनुसार तीन-चार साल के भीतर एक तिहाई क़ैदियों को छोड़ दिया जाय। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिये उन्हें जनता की क्रियात्मक सहानुभूति तथा सहायता अपेक्षित है और उसी को प्राप्त करने के उद्देश्य से, समस्त परिस्थिति समझाने के लिये यह वक्तव्य निकाला गया है। वास्तव में शासन को राष्ट्रीय बनाना है, तो सब प्रकार के सुधारों और परिवर्तनों में जनता को साथ लेना आवश्यकीय है। इसके बिना स्थायी रूप से कोई सुधार हो सकना असम्भव है। जेल सम्बन्धी सरकारी वक्तव्य का सारांश निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है:—

"गवर्नमेण्ट इस बात का अनुभव करती है कि कारागार को एक ऐसा स्थान बनाना चाहिए जहाँ क़ैदियों को केवल इसलिए भेजा जाए कि वे कुछ समय तक किसी को नुक़सान न पहुँचा सकें। जब तक उन्हें वहाँ क़ैद रक्खा जाये तब तक इस बात की चेष्टा करनी चाहिए और उन्हें इस बात में सहायता देनी चाहिए कि वे अपनी भूलें समझ सकें और सुधरें। इसलिए कारागार केवल रक्षात्मक निरोध के स्थान बनने चाहिए, न कि बदला चुकाने के साधन।........

इसी आधार को लेकर वर्तमान गवर्नमेण्ट जेलों के शासन-प्रबन्ध में पूर्ण और मार्मिक सुधार करना चाहती है, जेल-जीवन के भिन्न-भिन्न विभागों में जो सुधार किए जाने वाले हैं, उन पर यहाँ और इस अवस्था में विचार

करना मेरे लिए उचित न होगा। फिर भी मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति इस विषय पर गौर करे और इस लेख के लेखक के पास अपनी तजवीज़ें भेज दे। हम इन सलाहों को सधन्यवाद ग्रहण करेंगे और जब जेलों के सवाल पर विचार किया जावेगा तो इन तजवीज़ों पर भी उचित ध्यान दिया जावेगा। सारी तजवीज़ें देर से देर में नवम्बर के पहले सप्ताह तक आ जानी चाहिए।

जो लोग हमें अपनी तजवीजो द्वारा सहायता देना चाहते हैं, उनकी सुविधा के लिए मैं यहाँ पर उन विषयों का उल्लेख करता हूँ, जिनके सुधार सम्बन्धी प्रश्न गवर्नमेण्ट के विचाराधीन हे। वे ये है —क़ैदियों का वर्ग-विभाग, क़ैदियों के अफसर और टेकनिकल कर्मचारी, क़ैदियों की मशक्कत और जेलों में व्यावसायिक वस्तुओं का बनाना, जेलों के जुर्म और उनका दण्ड, क़ैदियों की छूट और उनकी सहायता, चिट्ठी और मुलाकात, शिक्षा और जेलों के पुस्तकालय, कपड़ा, क़ैदियों के छोड़े जाने पर सहायता, नाबालिग अपराधी, बोस्टल संस्था, उम्मीदवारी, ज़बानी इकरार पर रिहाई, परोल और अनिश्चित दण्ड तथा जरायम पेशा जातियों के प्रति बर्ताव. ।

यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि हमें बन्धनों में रहकर कार्य करना है और यही कारण था कि सन् १९२९ ई० की यू० पी० जेल एन्क्वायरी कमेटी ने सिफारिश की थी कि गवर्नमेण्ट ने जेल के बजट से जितना भी धन बचाया या कम किया है, उसे वह जेलों पर ही खर्च कर दे। इतना ही नहीं, कमेटी ने यह भी सिफारिश की थी कि जेलों की दशा को सुधारने के लिए गवर्नमेण्ट कर्ज उगाहे, लेकिन यह बात इस समय सम्भव नहीं मालूम होती, फिर भी हम जेलों के समस्त शासन-प्रबन्ध को उस आधार के अनुसार चला सकते है, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। इससे यह सम्भव हो सकेगा कि हम ठीक ढङ्ग पर उन्नति कर सकें। इस काम के लिए जनता का सहयोग आवश्यक है।

अगर पब्लिक की ओर से काफी सहायता और सहयोग नहीं मिला तो आजकल की दशा में क़ैदियों को छोड़े जाने की सारी योजना के विफल होने की सम्भावना है, जैसा कि एक बार पहले हो चुका है। दस हजार क़ैदी, जो छोड़े जायेंगे, उनका क्या होगा? जेल-प्रबन्ध के एक प्रसिद्ध विशेषज्ञ का कहना है कि अपराधी के जीवन का सब से भयानक क्षण वह नहीं होता जब वह बाहरी दुनियाँ से अलग कर दिया जाता है और जेल-खाने के अन्दर बन्द कर दिया जाता है, बल्कि भयानक क्षण वह होता है जब जेल का दरवाजा खुल जाता है और वह बाहर निकलता है, अपने चरित्र और सामाजिक हैसियत को खोकर और महीनों या सालों तक उन सुखों को न पाने से कष्ट उठा कर जिसका वह आदी था। उसके जेल में अपने आवश्यक खर्चों के लिए बहुत कम बल्कि कुछ भी पैसा नहीं होता। जरायम पेशा लोगों की समस्या को ठीक तरह से हल करने के लिए ऐसी संस्थाओं का होना परमावश्यक है, जो क़ैदियों के छूटने के बाद उनकी देखभाल करें. ।"

इसमें सन्देह नहीं कि जेलखाने और क़ैदी किसी भी सभ्य समाज के लिए कलङ्क-स्वरूप हैं। उनकी स्थिति बतलाती है कि उस समाज के बड़े व्यक्ति स्वार्थी और अनुदार हैं, जिसके कारण छोटे व्यक्तियों को विवश होकर नीति-विरुद्ध कार्यों के द्वारा अपना काम चलाना पड़ता है, इसलिए केवल मानवता और सहृदयता के ही नाम पर नहीं, अपने आत्म-सम्मान के रक्षार्थ तथा सुख और शान्ति की वृद्धि के लिये समाज को अवश्य इस दिशा में यथाशक्ति चेष्टा करनी चाहिये।

* * *

कॉङ्ग्रेस मन्त्रि-मण्डलों का उद्देश्य और कर्तव्य

जब से देश के कुछ प्रान्तों में कॉङ्ग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना हुई है तब से जनता में एक विचित्र हलचल और उद्वेग का-सा भाव उत्पन्न हो गया है। पक्षपाती और विरोधी दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के मन में यह धारणा जमी हुई है कि कॉङ्ग्रेसी मन्त्रि-मण्डल पदारूढ़ होते ही कुछ बिलकुल नया काम कर दिखायेंगे और देश की अवस्था को एकदम परिवर्तित कर

देंगे। यही कारण है कि लोग थोड़ी-थोड़ी देर में आशान्वित और निराश होते तथा मन्त्रिमण्डलों की बुरी-भली आलोचना करते दिखाई पड़ते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अभी तक कॉङ्ग्रेस सरकारी कार्य-प्रणाली की अधिकांश बातों के विरुद्ध रही है, उनके विरुद्ध आन्दोलन करती रही है, और उसका उद्देश्य उनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करना ही है। तो भी लोगों को यह नहीं भुला देना चाहिए कि कॉङ्ग्रेसी मन्त्रि-मण्डल भी परिस्थिति के वश हैं। वह आन्तरिक इच्छा होने पर भी उतना ही आगे बढ़ सकते हैं जितने कि साधन उनको प्राप्त हैं। इस सम्बन्ध में महात्मा गाँधी जनता को कई बार चेतावनी दे चुके हैं कि लोग मन्त्रियों को काम करने का मौक़ा दें और व्यर्थ की बातें उठा कर उनके मार्ग में बाधा न डालें। अब पण्डित जवाहरलाल जी ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने एक लेख में नागरिक स्वत्वों का उल्लेख करते हुए कहा है :—

"कॉङ्ग्रेस ने नागरिक स्वत्व, मत प्रकाश करने, सभा करने और अखबार सम्बन्धी स्वतन्त्रता तथा विवेक और धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता पर बार-बार ज़ोर दिया है। हमने विशेषाधिकारों और आर्डिनेन्सों तथा हिन्दुस्तानियों को दबाने के लिये बनाये गये खास क़ानूनों की निन्दा की है और अपने कार्यक्रम में घोषित कर दिया है कि इन अधिकारों और क़ानूनों का अन्त करने के लिये हम सब सभी उपाय करेंगे। प्रान्तों में पदग्रहण करने से इस नीति में अन्तर नहीं पड़ा है, बल्कि इसको कार्यान्वित करने के लिये बहुत कुछ किया भी गया है। राजनीतिक क़ैदी छोड़े गये हैं, कितनी ही संस्थाओं पर से बन्धन हटाया गया है और छापाखानों की ज़मानतें लौटायी गयी हैं। यह सच है कि इस सम्बन्ध में अभी और बहुत कुछ करना बाकी है, जिसके न किये जाने का कारण कॉङ्ग्रेस मन्त्रियों में और काररवाई करने की इच्छा का अभाव नहीं, बल्कि बहुत ज़्यादा कठिनाइयाँ हैं। मगर मुझे भरोसा है कि जल्द ही यह काम पूर्ण रूप से हो जायगा और सभी दमनात्मक तथा असाधारण प्रान्तीय क़ानून रद्द करने की हमारी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी। इस बीच जनता को उन विचित्र कठिनाइयों की याद रखनी चाहिये, जिनमें कॉङ्ग्रेसी मन्त्रियों को काम करना पड़ रहा है और उनको ऐसी बातों के लिये दोष न देना चाहिये जिनके लिये वे ज़िम्मेदार नहीं।

"नागरिक स्वत्व हमारे लिये हवाई महल या सिर्फ़ मौखिक बात नहीं है, बल्कि हम उसे राष्ट्र के नियम-पूर्वक विकास और उन्नति के लिये अत्यावश्यक समझते हैं। यह किसी समस्या को, जिसमें मतभेद हो, हल करने का सीधा मार्ग है, उसके विषय में काररवाई करने का अहिंसात्मक मार्ग है।......

"दबाये गये मत या विचार का अचानक खातमा नहीं होता, वह जितना दबाया जाता है उतना ही ज़ोर बाँध कर बढ़ता है। ऐसे उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। दीर्घ अनुभव ने हमें सिखाया है कि मत और विचार को दबाना सचाई के लिये खतरनाक है।"

जिन अधिकारों के लिये कॉङ्ग्रेस अब तक लड़ती रही है और जनता ने भी जिनके लिये कॉङ्ग्रेस के आदेशानुसार पर्याप्त कष्ट सहन किया है, उनको कार्यान्वित करने की इच्छा अस्वाभाविक नहीं है। इतना ही नहीं, यह हमारा परम कर्तव्य है। पर साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिये कि अधिकारों और स्वतन्त्रता की भी सीमा है। सरकार और जनता का सामञ्जस्यपूर्ण सहयोग ही समाज तथा देश के लिये लाभकारक सिद्ध होगा।

* * *

सनातनियों की अनुदारता

हमें समाचार-पत्रों में यह पढ़ कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि प्रयाग की सुप्रसिद्ध विदुषी तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्री श्रीमती रामेश्वरी नेहरू को द्वारिकापुरी के मन्दिर में जाने से रोका गया। वहाँ कितने ही कट्टर लोगों ने उनके विरुद्ध प्रदर्शन किये और कटु शब्द कहे। उन्होंने इस सम्बन्ध में मन्दिर के प्रबन्धकों से मिलने की इच्छा प्रकट की, पर उनको सूचित किया गया कि मन्दिर की व्यवस्था श्री० शङ्कराचार्य के हाथ में है और

उन्हीं की आज्ञा से उनको रोका गया है। कट्टरों के इस रोष का प्रधान कारण यह था कि श्रीमती रामेश्वरी हरिजन सुधार का कार्य करती हैं और उनके साथ हरिजन सेवक सङ्घ के प्रधान कार्यकर्ता ठक्कर बप्पा भी थे। इससे भी अधिक आश्चर्य और क्षोभ का विषय यह है कि द्वारिका के पास ही बड़ोदा सरकार के अधिकार-भुक्त जो बेट का मन्दिर है उसमें भी उनके साथ ऐसा ही व्यवहार किया गया। बड़ोदा-नरेश सुप्रसिद्ध सुधारक और हरिजनों के उद्धारक हैं। उनकी रियासत के कर्मचारी भी एक हरिजन सेवक के साथ ऐसा व्यवहार करें, यह बात समझ में नहीं आती। यह घटना यद्यपि अभूतपूर्व नहीं है और न हिन्दुओं की वर्तमान सङ्कुचित मनोवृत्ति को देखते हुये अनहोनी ही है, तो भी इस अतिरिक्त कट्टरता की हम घोर निन्दा करते हैं और चेतावनी देते हैं कि सनातनियों का इस प्रकार का कार्य उन्हीं के हित की दृष्टि से अदूरदर्शितापूर्ण है। देश में जो जागरण और पुनर्सङ्गठन की लहर आई है, उसे कोई मानवीय शक्ति नहीं रोक सकती। वह सैकड़ों वर्षों से प्रचलित कुप्रथाओं और सामाजिक अन्याय की प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न हुई है। अब इन प्रथाओं और सामाजिक रीति-रिवाजों में सामयिक परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन होना अनिवार्य है। कट्टर-पंथियों का, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान या किसी अन्य सम्प्रदाय के हों, भला इसी में है कि वे सुधार का कम से कम विरोध करें और सुधारकों का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न करें। यदि ऐसा न किया तो उनको ऐसे सुधारकों का सामना करना पड़ेगा जो केवल बलपूर्वक सुधार ही न करेंगे, वरन् उनके अस्तित्व को हानि पहुँचाने में भी आगा पीछा न करेंगे।

* * *

मद्यपान-निषेध और इस्लाम

सामाजिक हित की दृष्टि से मद्यपान निषेध एक महत्वपूर्ण समस्या है। आज से नहीं, अति प्राचीन काल से समाज के हितैषी विद्वान मद्यपान की निन्दा करते आये हैं और उसके द्वारा होने वाली हानियों से सर्वसाधारण को सावधान करते आये हैं। पर मद्य में मनुष्य की हीन प्रवृत्तियों के लिये एक ऐसा आकर्षण है कि अज्ञान ही नहीं अनेक सज्ञान व्यक्ति भी उसके चङ्गुल में बुरी तरह फँस जाते हैं। ऐसी अवस्था में प्रत्येक सुशासक का यह कर्तव्य है कि वह जनता में मद्यपान की प्रवृत्ति को एकदम बन्द कर दे अथवा उसे ऐसे नियन्त्रण में रखे कि लोग उसकी ओर यथासम्भव जाने की इच्छा ही न करें। इस दृष्टि से वर्तमान समय में सब से अधिक तत्परता मद्रास की प्रान्तीय सरकार ने दिखलाई है और वहाँ क्रमशः पूर्ण मद्य-निषेध की घोषणा कर दी गई है। यह घोषणा इस्लाम-धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार विशेष महत्वपूर्ण है। इस पर सन्तोष और हर्ष प्रकट करते हुए मद्रास-सरकार के सदस्य माननीय श्री० याकूबहसन ने कहा है कि "इस्लाम के अनुयायियों के लिये शराब पीना और बेचना महापाप है। प्रत्येक मुस्लिम का यह कर्तव्य होना चाहिये कि वह लोगों को शराब पीने से रोके। इन दिनों हिन्दुस्तान के बाहर अधिकांश मुस्लिम देशों में शराब पीने की सख्त मनाही है और जिन देशों में नहीं है वहाँ उसके लिये चेष्टा की जा रही है। ऐसी अवस्था में भारत के मुस्लिम-प्रधान प्रान्तों, जैसे पञ्जाब और बङ्गाल में मद्यपान निषेध के लिये किसी तरह की चेष्टा न होना और हिन्दू-प्रधान अथवा कॉङ्ग्रेसी शासन के प्रान्तों में मद्य-निषेध के कार्यक्रम पर आगे बढ़ते जाना निस्सन्देह आश्चर्य का विषय है।" मि० याकूब-हसन ने ठीक ही कहा है कि "मद्रास सरकार ने, जिसमें हिन्दुओं का बहुमत है, ऐसा कार्य किया है जिसे मुस्लिम गवर्नमेण्ट को करना चाहिये था। जिस गवर्नमेण्ट ने इस्लाम के सिद्धान्त के अनुकूल यह कार्य किया है उसका सदस्य होने में मैं गौरव अनुभव करता हूँ।" हम आशा करते हैं कि मद्यपान-निषेध का कार्यक्रम सभी काङ्ग्रेसी प्रान्तों में पूरी तरह काम में लाया जायगा और तब भारत के बचे-खुचे प्रान्तों को भी उनका अनुकरण करना पड़ेगा।

* * *

शिक्षा का माध्यम

पिछले दिनों भारत की राजनैतिक अवस्था में जो परिवर्तन हुये हैं, उनके फल से अनेकों महत्व-पूर्ण समस्याएँ हमारे सम्मुख उपस्थित हो गई हैं। जिन बातों के लिये हम वर्षों से आन्दोलन कर रहे थे, उनको कार्य रूप में परिणत करने का अवसर आने पर अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। ऐसी ही एक समस्या शिक्षा के माध्यम की है। बरसों से यह कहा जा रहा था कि हमारे देश में शिक्षा का माध्यम अपनी मातृ-भाषा होनी चाहिये, न कि कोई विदेशी भाषा। इसमें तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता कि बालकों को विदेशी भाषा द्वारा सब विषयों की शिक्षा देना नितान्त अस्वा-भाविक है। इससे उनकी शक्ति का अपव्यय होता है और वे अधिक परिश्रम में थोड़ा ही फल पा सकते हैं। सन्तोष का विषय है कि वर्तमान कॉङ्ग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का इस तरफ़ पूरा ध्यान है और वे उक्त विचारों को कार्य रूप में परिणत करने की यथाशक्ति चेष्टा कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में नागपुर सेवा-सदन के वार्षिकोत्सव पर उस प्रान्त के शिक्षा-सचिव माननीय श्री० रविशङ्कर शुक्ल ने कहा था :—

"सब से मुख्य समस्या यह है कि अङ्गरेज़ी को अनिवार्य विषय न रखा जाय। जिनकी इच्छा हो वे पढ़ें। जापान या ब्रिटेन में यदि कोई यह कहे कि हिन्दी, फ़ारसी या मराठी द्वारा अपने बालकों को पढ़ाइये तो ऐसे व्यक्ति को पागल समझा जायगा। लेकिन हिन्दुस्तान गुलाम देश है। यहाँ इङ्गलिश के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती है।"

फिर भी हम जानते हैं कि इस परिवर्तन में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा तथा दृढ़ निश्चय और अथक परिश्रम से ही सफलता मिल सकना सम्भव होगा। विशेषकर हमारे यू० पी० और दूसरे भी हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में पाठ्य-पुस्तक रचने वालों को हिन्दी-उर्दू और हिन्दुस्तानी की समस्या को सुलझाना पड़ेगा। फिर प्रत्येक विषय की समुचित पुस्तकें तैयार करना भी श्रमसाध्य है। हमारी सम्मति में तो इस अव-सर पर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की जड़मूल से काया-पलट होना ही आवश्यक है। जब हम शिक्षा-प्रणाली पर सर्वथा ध्यान न देकर अपनी आवश्यकता के अनुकूल बिल्कुल नई प्रणाली का आविष्कार करेंगे तभी कुछ लाभ हो सकता है। उस दशा में मातृ-भाषा को माध्यम बनाना तो सब से पहली बात होगी।

* * *

नागरिकता की शिक्षा

इन दिनों भारतीय समाज का ध्यान अपने भीतर पाई जाने वाली त्रुटियों की तरफ़ विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। समाज-सेवक तथा सुधारक व्यक्ति देश की आर्थिक, शिक्षा-सम्बन्धी और व्यावसायिक उन्नति के लिये सचेष्ट हैं। हानिकारक सामाजिक बन्धनों और जातीय त्रुटियों को दूर करने के लिये भी अनेक संस्थायें काम कर रही हैं। पर खेद है, एक अति आवश्यक समस्या की ओर अभी तक लोगों का ध्यान बहुत कम गया है। वह समस्या है नागरिकता के अधिकारों और कर्तव्यों की शिक्षा सम्बन्धी। इनमें से अधिकारों का ज़िक्र तो कभी-कभी सुनने में आया भी करता है और कुछ समय पूर्व इसके लिये एक 'सङ्घ' की स्थापना भी हुई है, पर नागरिकता के कर्तव्यों के पालन की आवाज़ किसी ने नहीं उठाई है। लोग अधिकार और सब प्रकार की सुविधायें तो चाहते हैं; पर कर्तव्य-पालन का उत्तरदायित्व लेने में हिचकते हैं। यही कारण है कि हमारे यहाँ के शिक्षित और सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने वाले व्यक्ति भी नागरिकों के कर्तव्यों से अनजान देखे जाते हैं। ऐसे लोग अपने आस-पास रहने वालों की सुविधा का खयाल किये बिना अपने आराम पर ही दृष्टि रखते हैं। वे बिना किसी विचार के बीच रास्ते में कूड़ा फेंक देंगे, आने-जाने वालों का खयाल किये बिना गर्द गुबार उड़ा देंगे, अपनी गाड़ी को दूसरों का रास्ता

रोक कर खड़ा कर देंगे. रेलवे स्टेशन, सिनेमा, डाकखाने आदि भीड़ की जगहों में पीछे पहुँचने पर भी दूसरों को ठेल कर पहले अपना काम पूरा करने की चेष्टा करेंगे। इस प्रकार की अनेक बातें हैं, जो हम लोग नागरिकता के सिद्धान्तों और कर्तव्यों के ज्ञान के अभाव से करते रहते हैं। अन्य देशों में बालकों को सब से पहले इन्हीं बातों की शिक्षा दी जाती है, जिससे वे छोटी अवस्था में ही तमीज से रहना सीख जाते हैं और अपने को सुखी बनाने के साथ ही दूसरों को भी प्रसन्न रख सकते हैं। पर हमारे यहाँ बड़े-बड़े अमीर और पदवी-धारी लोगों में भी सैकड़ों ऐसे दिखलाई पड़ते हैं, जिनको अन्य स्त्री, पुरुषों से सभ्यतापूर्वक व्यवहार करना भी नहीं आता और जो अपनी हरकतों से प्रायः लोगों को विरक्त करते रहते हैं। इस अवस्था का सुधार तभी हो सकता है, जब कि हमारे यहाँ भी स्कूलों में बच्चों को आरम्भ ही से नागरिकता की शिक्षा दी जाय और शिक्षक स्वयं उनके सामने श्रेष्ठ नागरिक होने का उदाहरण पेश करें।

*　　*　　*

अनाथालय और विधवाश्रम



इन दिनों देश में अनाथालय और विधवाश्रमों की जैसी दुर्दशा हो रही है, उसका ध्यान आते ही हृदय में विरक्ति-भाव भर जाता है। स्वार्थी लोगों ने इन परम पवित्र परोपकारी संस्थाओं की ऐसी मिट्टी खराब की है कि जनता का विश्वास उन पर से बिल्कुल उठ गया है। इन दिनों ये ठग-विद्या और दुराचार के अड्डे समझे जाते हैं। सामयिक पत्रों के पाठक जानते हैं कि पिछले कई महीनों में कितने ही विधवाश्रमों का रहस्य खुला है। विधवाश्रम के रूप में इनके सञ्चालक खुल्लमखुल्ला स्त्रियों को बेचने का रोजगार करते रहे। वे आवश्यकता पड़ने पर स्त्रियों के साथ बल-प्रयोग भी करते थे और धोखेबाजी तथा चालाकी तो उनके नित्य के काम थे। इसी प्रकार आजकल अनाथालयों को भी लोगों ने भीख माँग कर कमाने का पेशा बना लिया है। हम अपने प्रत्यक्ष अनुभव से कहते हैं कि अनेकों अनाथालयों से अनाथों का हित होने के बजाय घोर अनहित ही होता है। वे कोई भी अच्छा काम सीखने के बजाय तरह-तरह की बुरी आदतें और भीख माँगना ही सीखते हैं। मौजूदा सरकार का यह कर्तव्य है कि वह इन निन्दनीय व्यवसाय का अन्त करे। अब तक जो पुलिस कर्मचारी राजनैतिक आन्दोलन का रहस्य जानने के लिए नियुक्त थे, अब अगर वे इस काम में लगा दिये जाएँ तो यह बुराई बहुत कुछ घट सकती है। हमारा आशय यह नहीं कि ये संस्थाएँ नष्ट हो जायँ, वरन् हमको उनका सुधार ही अभीष्ट है। अगर अनाथालयों में अनाथ बच्चों को उचित शिक्षा देकर खाने-कमाने लायक बनाया जाय, उनको समाज तथा देश के लिये उपयोगी बनाया जाय तो यह कार्य प्रशंसनीय ही समझा जायगा। इसी प्रकार विधवाश्रमों में असहाय स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जानी आवश्यक है, जिससे वे स्वावलम्बिनी बन सकें और जीवन निर्वाह के लिये विवश होकर उनको पतन के मार्ग पर न चलना पड़े। ये स्त्रियाँ बाद में चाहें तो अपना विवाह भी कर सकती हैं, पर इस काम को विधवाश्रम वालों को अपने हाथ में न लेना चाहिये, अन्यथा तरह तरह की बुराइयाँ उत्पन्न होने का भय बना ही रहेगा। ये सुधार तभी हो सकते हैं जब कि वास्तव में परोपकारी और सच्चरित्र व्यक्ति स्वार्थ-त्याग करके इन कार्यों का भार अपने ऊपर लें।

*　　*　　*

मातृत्व की शिक्षा



हमारे देश और समाज में जो अनेक त्रुटियाँ विद्यमान हैं उनमें मातृत्व की समस्या का महत्व किसी से कम नहीं है। साधारण रूप से विचार करने से ही जाना जा सकता है कि यह समस्या जाति की उन्नति का मूल है। जब माताएँ उचित रीति से सन्तान

का पालन-पोषण कर सकने से अनभिज्ञ होंगी तो उस समाज के व्यक्ति किस तरह श्रेष्ठ हो सकते हैं और किस तरह जीवन-संग्राम में अपने प्रतिद्वन्द्वियों का सामना करके सफलता प्राप्त कर सकते हैं। पर हम खेद पूर्वक देखते हैं कि इस सरल और प्रत्यक्ष सत्य की ओर किसी का ध्यान नहीं है। हमारे यहाँ जिस क्षण बालक भूमिष्ठ होता है उसी क्षण से काफी बड़ी अवस्था तक उसे प्रतिकूल परिस्थितियों में ही रहना पड़ता है। यहाँ की देशी दाइयों के सम्बन्ध में इन दिनों काफी चर्चा हो चुकी है। अज्ञान और गन्दगी के फलस्वरूप सदैव हज़ारों बच्चे और ज़च्चायें मरते रहते हैं। यदि बच्चा सौभाग्यवश जीवित रह गया तो उसकी माता और घर के अन्य लोग लापरवाही से अथवा झूँठे मोहवश उसकी अनेकों प्रकार की हानिकारक आदतें डाल देते हैं, जिनका कुप्रभाव उस पर अन्त समय तक देखने में आता है। जो लोग कुछ सम्पन्न होते हैं वे उनको अतिरिक्त मात्रा में गरिष्ट खाद्य पदार्थ खिला कर सदा के लिये मरीज़ बना देते हैं। बच्चों को आभूषण और चमकीले वस्त्र पहनाने का शौक़ किया जाता है पर उनके स्वास्थ्य तथा शक्ति की वृद्धि की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। ऐसी ही और भी अनेकों बातें हैं जो उनके जीवन को कष्टमय और उनके भविष्य को कठिन बना देती हैं। इस अवस्था के प्रतिकार का एकमात्र उपाय कन्याओं को आरम्भ से मातृत्व की शिक्षा देना है। यह शिक्षा अवश्य ही उनके लिये अन्य अनेक विषयों की शिक्षा की अपेक्षा उपयोगी सिद्ध होगी और भावी सन्तान का इससे अकथनीय हित-साधन हो सकेगा।

स्त्री-शिक्षा की जितनी आवश्यकता है उससे कहीं अधिक आवश्यकता मातृत्व की शिक्षा की है क्योंकि इसी के द्वारा वे हमें श्रेष्ठ नागरिक दे सकेंगी।

* * *

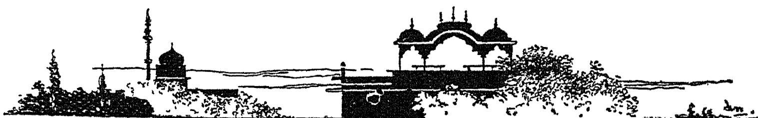
दो शब्द

अपने विषय में कुछ प्रशंसात्मक कहना गर्व, कुछ न कहना अविनय और हीनता प्रकट करना मिथ्या समझा जाता है। अतः समाज-अङ्क के विषय में हम क्या कहें यही समस्या है। विषय की व्यापकता और समय की न्यूनता के ऊपर यदि सम्पादक की नितान्त अनभिज्ञता की छाया न रहती तो सम्भवतः यह अङ्क अपने नाम के उपयुक्त हो सकता।

वर्तमान युग की कठिनाइयों ने समाज की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके जो उपकार किया है वह कदाचित् सुविधाएँ भी न कर सकतीं। युद्ध के लिए नितान्त अनुपयुक्त देश के लिए सामाजिक सङ्गठन ही एक अमोघ अस्त्र है यह हम धीरे-धीरे सीखते जा रहे हैं और सम्भवतः निकट भविष्य में हमारे समाज को फिर सुव्यवस्थित कर्मशीलता प्राप्त हो सकेगी।

प्रस्तुत अङ्क में हमारा लक्ष्य केवल भिन्न-भिन्न समाजों का साधारण और संक्षिप्त परिचय देने तक ही सीमित था। हम इस लक्ष्य से कितनी दूर रह गए यह तो सहृदय पाठक ही बता सकेंगे। हम तो इतनी ही कामना कर सकते हैं कि यह अङ्क सामाजिक विकास के मार्ग में एक ऐसा छोटा शूल ही बन सके जो पैर में चुभकर, आकाश की ओर देखकर चलने वाले की दृष्टि को क्षण भर के लिये पृथ्वी पर खींच लाता है।

जिन सज्जनों के लेख विलम्ब में आने के कारण न दिये जा सके उनसे क्षमा-प्रार्थना है। यदि उनसे ऐसा ही सहयोग प्राप्त होता रहा तो भविष्य में हम इस नाम के उपयुक्त अङ्क भी निकाल सकेंगे।



दो सम्माननीय सरकारी अधिकारियों की सम्मतियाँ

GOVT. OF UNITED PROVINCES

Ministry of Education
United Provinces
Lucknow
December 3, 1937

Dear Sir,

I acknowledge, with thanks, the receipt of the special "Chand" number. I have read perhaps only a page or two and I do not think I shall ever be able to finish it from end to end. My acquaintance, however, with "Chand" is not new. I have known it quite for a long time and I know that it is one of the best Hindi magazines of my country. The special number is surely keeping the standard and is a grand effort. I congratulate the management of the magazine on the production of this issue and wish the magazine every success in future.

Yours Sincerely
(Sd.) Pyare Lal Sharma
(Minister for Education etc.)

LEGISLATIVE ASSEMBLY UNITED PROVINCES

GOVT CHIEF WHIP

29, Council Chamber
Lucknow
19th November, 1937

Madam

Allow me to convey to you my heartiest congratulations on your special issue called 'Samaj Ank'. It is as well produced as it is beautifully written and reflects in an extraordinary degree the artistic craftsmanship and the poetic power of selection which are among the many attributes on account of which the editor, if I may say so respectfully, commands our respectful homage and admiration. Your editorship has lent distinction to this magazine, which, since its very inception, has enjoyed the rare reputation of being the foremost journal in Hindi dedicated to the cause of women. May it prosper under your distinguished gaurdianship.

With profound respects.

Yours truely
(Sd.) V. N. Tiwari
(Govt. Chief Whip)





सन्देह

अग्निमय मेरे हृदय की यह प्रतिच्छाया मनोहर,
या प्रतीची में खिली दिनमान की आभा अरुणतर ?
वेदना से आर्त उर का गूँजता उद्‌गार सकरुण,
तिमिर में पथ खोजता या कर रहा क्रन्दन समीरण ?
विकल मेरे प्राण की प्रतिध्वनि नवीन दिगन्त में है,
या पुलिन पर बिखर फैला रुदन सिन्धु अनन्त में है ?
झर रहा प्रति बूँद में मेरे नयन से क्षार पानी,
कह रही वर्षा गगन के या किसी दुख की कहानी ?

—मूल ले० प्रो० योने नॉगूची

मौन

[श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', एम० ए०, [illegible]]

सो गया उन्मत्त जब वह, मैं खिला तब हास बनकर !

लघु-लहर से चिर-प्रकम्पित रुदन उसके, गान उसके,
सजग आभा से प्रतीक्षा की, सजल मधान उसके—
उमड द्रुत मेरे हृदय में छा गये उच्छ्वास बनकर !
सो गया उन्मत्त जब वह, मैं खिला तब हास बनकर।

स्वप्न उसके ले सलोने क्षितिज को मैंने सजाया,
स्मृति-करों से सुकवि के उर-यन्त्र को मैंने बजाया ;
अश्रु में प्रिय ! मिल गया मैं, विरह-कुसुम-सुवास बनकर !
सो गया उन्मत्त जब वह, मैं खिला तब हास बनकर।

वह प्रलय का रूप—मैं उस रूप का उन्माद-प्याला,
वह बटोही क्लांत—मैं उसके हृदय की अमिट ज्वाला ,
मैं बिछा पथ पर अपरिचित चाँदनी की श्वास बनकर !
सो गया उन्मत्त जब वह, मैं खिला तब हास बनकर।

साधना का दीप झिलमिल, शून्य का इतिहास उन्मन—
धूल-शायित उस वियोगी का करुणतम भग्न जीवन—
मैं मचलता हूँ तुहिन में मरण का उल्लास बनकर !
सो गया उन्मत्त जब वह, मैं खिला तब हास बनकर।

अपनी बात

आधुनिक नारी की स्थिति पर एक दृष्टि

१

मध्य और नवीन युग के सन्धिस्थल में स्त्री ने जब पहले-पहले अपनी स्थिति पर असन्तोष प्रकट किया, उस समय उसकी अवस्था उस पीड़ित के समान थी, जिसकी प्रकट वेदना के अप्रकट कारण का निदान न हो सका हो। उसे असह्य व्यथा थी, परन्तु इस विषय में 'कहाँ' और 'क्या' का कोई उत्तर न मिलता था। अधिक गूढ़ कारणों को छानबीन करने का उसे अवकाश भी न था, अतः उसने पुरुष से अपनी तुलना करके जो अन्तर पाया उसी को अपनी दयनीय स्थिति का स्पष्ट कारण समझ लिया। इस क्रिया से उसे अपनी व्याधि के कुछ कारण भी मिले सही, परन्तु यह धारणा नितान्त निर्मूल नहीं कि इस खोज में कुछ भूलें भी सम्भव हो सकीं। दो वस्तुओं का अन्तर सदैव ही उनकी श्रेष्ठता और हीनता का द्योतक नहीं होता, यह मनुष्य प्रायः भूल जाता है। स्त्री ने भी यही चिरपरिचित भ्रान्ति अपनाई। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, शारीरिक विकास के विचार से और सामाजिक जीवन की व्यवस्था से स्त्री और पुरुष में विशेष अन्तर रहा है और भविष्य में भी रहेगा; परन्तु यह मानसिक या शारीरिक भेद न किसी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है और न किसी की हीनता का विज्ञापन करता है। स्त्री ने स्पष्ट कारणों के अभाव में इस अन्तर को विशेष त्रुटियाँ समझा, केवल यही सत्य नहीं है, वरन् यह भी मानना होगा कि उसने सामाजिक अन्तर का कारण ढूँढ़ने के लिए स्त्रीत्व को भी क्षत-विक्षत कर डाला।

उसने निश्चय किया कि वह उस भावुकता को आमूल नष्ट कर डालेगी, जिसका आश्रय लेकर पुरुष उसे रमणी समझता है, उस गृहबन्धन को छिन्न-भिन्न कर देगी जिसकी सीमा ने उसे पुरुष की भार्या बना दिया है और उस कोमलता का नाम भी न रहने देगी जिसके कारण उसे वाह्य जगत के कठोर सङ्घर्ष से बचने के लिए पुरुष के निकट रक्षणीया होना पड़ा है। स्त्री ने सामूहिक रूप से जितना पुरुष जाति को दिया उतना उससे पाया नहीं, यह निर्विवाद सिद्ध है; परन्तु इस आदान-प्रदान की विषमता के मूल में स्त्री और पुरुष की प्रकृति भी कार्य करती है, यह न भूलना चाहिये। स्त्री अत्यधिक त्याग इसलिए नहीं करती, अत्यधिक सहनशील इसलिए नहीं होती कि पुरुष उसे हीन समझ कर इसके लिए वाध्य करता है। यदि हम ध्यान से देखेंगे तो ज्ञात होगा कि उसे यह गुण मातृत्व की पूर्ति के लिए प्रकृति से मिले हैं। यह अच्छे हैं या बुरे, इसकी विवेचना से विशेष अर्थ न निकलेगा; जानना इतना ही है कि यह प्राकृतिक हैं या नहीं। इस विषय में स्त्री स्वयं भी अन्धकार में नहीं है। वह अपनी प्रकृति-जनित कोमलता को त्रुटि चाहे मानती हो, परन्तु उसे स्वाभाविक अवश्य समझती है, अन्यथा उसके इतने प्रयास का कोई अर्थ न होता। परिस्थितिजन्य दोष जितने शीघ्र मिट सकते हैं उतने शीघ्र संस्कारजन्य नहीं मिटते, यही विचार स्त्री को आवश्यकता से अधिक कठोर बने रहने को विवश कर देता है। परन्तु यह कठिनता इतनी सयत्न होती है कि स्त्री स्वयं भी सुखी नहीं हो पाती। कवच बाहर की वाण-वर्षा से शरीर को बचाता रहता है, परन्तु अपना भार शरीर पर डाले बिना नहीं रह सकता।

आधुनिक स्त्री ने अपने जीवन को इतने परिश्रम और यत्न से जो रूप दिया है वह कितना स्वाभाविक हो सका है, यह कहना अभी सम्भव नहीं।

हाँ, इतना कह सकते हैं कि वह बहुत सुन्दर भविष्य का परिचायक नहीं जान पड़ता। स्त्री के लिए यदि उसे किसी प्रकार उपयोगी समझ भी लिया जावे तो भावी नागरिकों के लिए उसकी उपयोगिता समझ सकना कठिन ही है।

आधुनिकता की वायु में पली स्त्री का यदि स्वार्थ में केन्द्रित विकसित रूप देखना हो तो हम उसे पश्चिम में देख सकेंगे। स्त्री वहाँ आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो चुकी है, अत सारे सामाजिक बन्धनों पर उसका अपेक्षाकृत अधिक प्रभुत्व कहा जा सकता है। उसे पुरुष के मनोविनोद की वस्तु बने रहने की आवश्यकता नहीं है, अत वह चाहे तो परम्परागत रमणीत्व को तिलाञ्जलि देकर सुखी हो सकती है। परन्तु उसकी स्थिति क्या प्रमाणित कर सकेगी कि वह आदिम स्त्री की दुर्बलता से रहित है? सम्भवत नहीं। शृङ्गार के इतने संख्यातीत उपकरण, रूप को स्थिर रखने के इतने कृत्रिम साधन, आकर्षित करने के उपहास योग्य प्रयास आदि क्या इस विषय में कोई सन्देह का स्थान रहने देते हैं? स्त्री का रमणीत्व नष्ट नहीं हो सका, चाहे उसे गरिमा देने वाले गुणों का नाश हो गया हो। यदि पुरुष को उन्मत्त कर देने वाले रूप की इच्छा नहीं मिटी, उसे बाँध रखने वाले आकर्षण की खोज नहीं गई तो फिर स्त्रीत्व की ही उपेक्षा क्यों की गई, यह कहना कठिन है। यदि भावुकता ही लज्जा का कारण थी तो उसे समूल नष्ट कर देना था, परन्तु आधुनिक स्त्री ऐसा करने में भी असमर्थ रही। जिस कार्य को वह बहुत सफलतापूर्वक कर सकी है वह प्रकृति से विकृति की ओर जाना मात्र था। वह अपनी प्रकृति को वस्त्रों के समान जीवन का बाहर का आच्छादन मात्र बनाना चाहती है, जिसे इच्छा और आवश्यकता के अनुसार जब चाहे पहना या उतारा जा सकता है। बाहर के सङ्घर्षमय जीवन में जिस पुरुष को नीचा दिखाने के लिए वह सभी क्षेत्रों में कठिन से कठिन परिश्रम करेगी, जीवन-यापन के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु को अपने स्वेदकणों से तोल कर स्वीकार करेगी, उसी पुरुष में, स्त्री के प्रति जिज्ञासा जागृत रखने के लिए वह अपने सौन्दर्य और अङ्ग-सौष्ठव के रक्षार्थ असाध्य से असाध्य कार्य के लिए प्रस्तुत है। आज उसे अपने रूप, अपने शरीर और अपने आकर्षण का जितना ध्यान है उसे देखते हुए कोई भी विचारशील स्त्री को स्वतन्त्र न कह सकेगा। स्त्री के प्रति पुरुष की एक रहस्यमय जिज्ञासा सृष्टि के समान ही चिरन्तन है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु यह जिज्ञासा उनके सम्बन्ध का 'अथ' है 'इति' नहीं। प्राचीन नारी ने इस 'अथ' से आरम्भ करके पुरुष से अपने सम्बन्ध को ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया जहाँ उन दोनों के स्वार्थ एक और व्यक्तित्व सापेक्ष हो गये। यही नारी की विशेषता थी, जिसने उसे मनोविनोद के सुन्दर साधनों की श्रेणी से उठा कर गरिमामयी विधात्री के ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया।

आधुनिक नारी पुरुष के और अपने सम्बन्ध को रहस्यमयी जिज्ञासा से आरम्भ करके उसे वहीं स्थिर रखना चाहती है जो सम्भवत उसे किसी स्थायी आदान-प्रदान का अधिकार नहीं देता। सन्ध्या के रङ्गीन बादल या इन्द्रधनुष के रङ्ग हमें क्षण भर विस्मय-विमुग्ध कर सकते हैं किन्तु इससे अधिक उनकी कोई सार्थकता हो सकती है, यह हम सोचना भी नहीं चाहते। आज की सुन्दर नारी भी पुरुष के निकट और कोई विशेष महत्व नहीं रखती। उसे स्वयं भी इस कटु सत्य का अनुभव होता है, परन्तु वह उसे परिस्थिति का दोषमात्र समझती है। आज पुरुष के निकट स्त्री प्रसाधित शृङ्गारित स्त्रीत्व मात्र लेकर खड़ी है, यह वह मानना नहीं चाहेगी, परन्तु वास्तव में यही सत्य है। पहले की नारी-जाति केवल रूप और वय का पाथेय लेकर संसार-यात्रा के लिए नहीं निकली थी। उसने संसार को वह दिया जो पुरुष नहीं दे सकता था, अत उसके अक्षय वरदान का वह आज तक कृतज्ञ है। यह सत्य है कि उसके अयाचित वरदान को संसार अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगा, जिससे विकृति भी उत्पन्न हो गई, परन्तु उसके प्रतिकार के जो उपाय हुए वे उस विकृति को दूसरी ओर फेरने के अतिरिक्त और कुछ न कर सके। पश्चिम में स्त्रियों ने बहुत कुछ प्राप्त कर लिया, परन्तु सब कुछ पाकर भी उनके भीतर की चिरन्तन नारी नहीं बदल सकी। पुरुष उसके स्त्रीत्व की उपेक्षा करे, यह उसे भी स्वीकार न हुआ, अत वह अथक मनोयोग

मे अपने वाह्य आकर्षण को बढ़ाने और स्थायी रखने का प्रयत्न करने लगी। पश्चिम की स्त्री की स्थिति में जो विशेषता है उसके मूल में पुरुष के प्रति उसकी स्पर्धा के साथ ही उसे आकर्षित करने की प्रवृत्ति भी कार्य करती है। पुरुष भी उसकी प्रवृत्ति से अपरिचित नहीं रहा इसीसे उसके व्यवहार में मोह और अवज्ञा ही प्रधान हैं। स्त्री यदि रङ्गीन खिलौने के समान आकर्षक है तो वह विस्मय-विमुग्ध हो उठेगा, यदि नहीं तो वह उसे उपेक्षा की वस्तुमात्र समझेगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही स्थितियाँ स्त्री के लिए अपमानजनक हैं। पश्चिमीय स्त्री की स्थिति का अध्ययन कर यदि हम अपने देश की, आधुनिकता से प्रभावित बहनों का अध्ययन करें तो दोनों ही ओर असन्तोष और उसके निराकरण में विचित्र साम्य मिलेगा। हमारे यहाँ की स्त्री शताब्दियों से अपने अधिकारों से वञ्चित चली आ रही है। अनेक राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने उसकी अवस्था में परिवर्तन करते-करते उसे जिस अधोगति तक पहुँचा दिया है वह करुणा की सीमा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कही जा सकती। इस स्थिति को पहुँच कर भी जो व्यक्ति असन्तोष प्रकट नहीं करता उसे उस स्थिति के योग्य ही समझना चाहिए। कोमल तूल सी वस्तु भी बहुत दबाये जाने पर अन्त में कठिन जान पड़ने लगती है। भारतीय स्त्री भी एक दिन विद्रोह कर ही उठी। उसने भी पुरुष के प्रभुत्व का कारण अपनी कोमल भावनाओं को समझा और उन्हीं को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। अनेक सामाजिक रूढ़ियों और परम्परागत संस्कारों के कारण उसे पश्चिमीय स्त्री के समान न सुविधाएँ मिलीं और न सुयोग, परन्तु उसने उन्हीं को अपना मार्ग-प्रदर्शक बनाना निश्चित किया। शिक्षा के नितान्त अभाव और परिस्थितियों की विषमता के कारण कम स्त्रियाँ इस प्रगति को अपना सकीं और जिन्होंने इन बाधाओं से ऊपर उठकर इसे अपनाया भी उन्हें इसका वाह्य रूप ही अधिक आकर्षक लगा। भारतीय स्त्री ने भी अपने आपको पुरुष की प्रतिद्वन्द्विता में पूर्ण देखने की कल्पना की, परन्तु केवल इसी रूप में उसकी चिरन्तन नारी-भावना सन्तुष्ट न हो सकी। उसकी भी प्रकृतिजन्य कोमलता अस्ति-नास्ति के बीच में डगमगाती रही। कभी उसने सम्पूर्ण शक्ति से उसे दबा कर अपनी ऐसी कठोरता प्रकट की जो उसके कुचले मर्मस्थल का विज्ञापन करती थी और कभी क्षणिक आवेश में सारी सयत्न निष्ठुरता का आवरण उतार कर अपने अहेतुक हल्केपन का परिचय दिया। पुरुष कभी उससे वैसे ही भयभीत हुआ जैसे सज्ञान विक्षिप्त से होता है और कभी वैसे ही उस पर हँसा जैसे बड़ा व्यक्ति बालक के आयास पर हँसता है। कहना नहीं होगा कि पुरुष के ऐसे व्यवहार से स्त्री का और अधिक अनिष्ट हुआ, क्योंकि उसे अपनी योग्यता का परिचय देने के साथ-साथ अपने सज्ञान और बड़े होने का प्रमाण देने का प्रयास भी करना पड़ा। उसके सारे प्रयत्न और आयास अपनी अनावश्यकता के कारण ही कभी-कभी दयनीय से जान पड़ते हैं, परन्तु वह करे भी तो क्या करे! एक ओर परम्परागत संस्कार ने उसके हृदय में यह भाव भर दिया है कि पुरुष विचार, बुद्धि और शक्ति में उससे श्रेष्ठ है और दूसरी ओर उसके भीतर की नारी प्रवृत्ति भी उसे स्थिर नहीं रहने देती। इन्हीं दोनों भावनाओं के बीच में उसे अपनी ऐसी आश्चर्यजनक क्षमता का परिचय देना है जो उसे पुरुष के समकक्ष बैठा दे। अच्छा होता यदि स्त्री प्रतिद्वंदिता के क्षेत्र में बिना उतरे हुए ही अपनी उपयोगिता के बल पर स्वत्वों की माँग सामने रखती, परन्तु परिस्थितियाँ इसके अनुकूल नहीं थीं। जो अप्राप्त है उसे पा लेना कठिन नहीं है, परन्तु जो प्राप्त था उसे खोकर फिर पाना अत्यधिक कठिन है। एक में पाने वाले की योग्यता सम्भावित रहती है और दूसरे में अयोग्यता, इसीसे एक का कार्य उतना श्रमसाध्य नहीं होता जितना दूसरे का। स्त्री के अधिकारों के विषय में भी यही सत्य है।

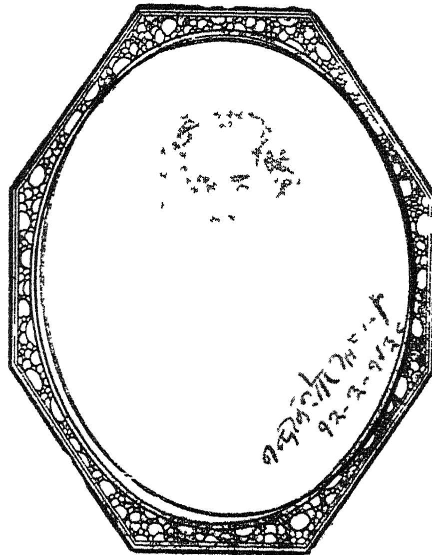


मानव-समाज की आकुल वेदनाएँ

[श्री० नन्दकिशोर तिवारी]

अपहृत नारियों की समस्या

जीवन और जरा, मृत्यु और व्याधि ने देवी प्रकोप अथवा प्रकृति के निर्मम अनुशासन द्वारा मानव-जीवन के करुण अध्याय में क्रन्दन की जो धारा बहायी है, उससे कहीं अधिक व्यापक एव विस्तृत रूप से वह स्वयं अपने हाथों से आप ही पीड़ित, त्रस्त एव अभिशापित है। महामारी और बिसूचिका, भूकम्पों और ज्वालामुखियों ने जिस मात्रा में नर-सहार की योजना आज तक ससार के सामने उपस्थित की है, उससे कही अधिक सख्या में मानव ने स्वय अपने हाथों से केवल युद्ध-क्षेत्रों में मानव एवं मानवता की आहुतियाँ चढाई है। देश-विशेष एव जाति-विशेष के नाम पर एक वर्ग विशेष के स्वार्थ से अन्धा होकर मानव के द्वारा मानव का उत्पीड़न, उसकी हत्या, उसका संहार—ये ऐसे भयावह विष हैं, जो संसार को सुख की नींद से सोने नहीं दे सकते, परन्तु मानवीय संहार से भी अधिक भयावह मानवीयता का सहार है। स्वार्थ से अन्धी मनुष्य की आँखें जब अपने अन्तर में रहने वाले शिव का वहिष्कार कर उसके स्थान पर शैतान की उपासना करने लगती हैं, तभी मानवता के सहार का श्रीगणेश होता है और मानवता के संहार के साथ ही विश्व की समस्त वेदनाएँ अपनी सारी मर्मस्पर्शिता के साथ जाग उठती हैं।



आँसुओं की धारा में जगत की जितनी पीडायें पाली जाती हैं, उनमें सब से अधिक तीव्र एवं मर्मभेदी उन अभागिनी नारियों की अश्रुधारा में बसती हैं, जो मानव-समाज और विशेष कर पुरुष-समाज के अत्याचारों के द्वारा केवल अपने गृहों से ही नहीं, वरन् अपने समस्त सुखों और उन सुखों की कोमल स्मृतियों से अपहृत है।

नारी-अपहरण की समस्या भारत तक ही सीमित हो, यह बात नहीं। यह एक विश्वव्यापी और इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है। यद्यपि हम यह बात अस्वीकार नहीं कर सकते कि भारत तथा अन्य देशों में नारी-अपहरण की समस्याओं के भीतर भिन्न-भिन्न कारण और पृथक्-पृथक् शक्तियाँ काम कर रही हैं, पर कारण एवं शक्तियों के भिन्नत्व से परिणाम में कोई अन्तर नहीं आता। जिस प्रकार भारत में ठीक उसी प्रकार यूरोप तथा अमेरिका मे अपहृत नारियों का जीवन असह्य एवं दूभर है तथा वेश्यालयों अथवा इस प्रकार के अन्य विलासिता-पूर्ण, पाप और व्यभिचार के अड्डों के आडम्बरपूर्ण जीवन में सदैव उनके हृदयों से मौन निश्वास निर्गत होते है।

हाल में ही इस बात का अनुमान किया गया है कि केवल इङ्गलैण्ड तथा वेल्स प्रान्तों से ही प्रति वर्ष कम से कम पच्चास सहस्र युवतियाँ उड़ाई जाती हैं। जिस दायित्वपूर्ण अङ्गरेज़ी पत्र में मैंने यह बात पढ़ी है, उसीमें आगे इस प्रकार लिखा है :—

What happens to the majority of them is not known, but occasionally certain sensational developments indicate pretty clearly the fate that overtakes a large portion of them.

Tempted by alluring offers of what would appear to be attractive and well-paid jobs, many of them find their way into haunts in this country, or places abroad, from which they are unable to extricate themselves.

तात्पर्य यह कि "इन भगाई गई बालिकाओं में अधिकांश के सम्बन्ध में बिलकुल ही पता नहीं लगता; परन्तु कभी-कभी कुछ सनसनीपूर्ण घटनाओं से उन युवतियों में एक बड़ी संख्या का भाग्य सुस्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है।

"प्रलोभक नौकरियों के वादों से—जो कि आकर्षक और भरपूर वेतन वाली नौकरी जान पड़ती हैं—आकर्षित होकर, बहुत-सी युवतियाँ इस देश (ब्रिटेन) तथा विदेशों के अड्डों में फँस जाती हैं, जहाँ से वे अपना उद्धार करने से अपने को असमर्थ पाती हैं।"

इस प्रकार प्रति वर्ष केवल इङ्गलैण्ड तथा वेल्स से कम से कम पचास हज़ार युवतियाँ भगाई जाकर विलासिता एवं व्यभिचार के अड्डों में फँसाई जाती हैं, जहाँ उनका जीवन केवल नारकीय ही नहीं, वरन् जहाँ से उनकी मुक्ति प्रायः असम्भव है। और सब से दुखद तथा घृणित बात तो यह है कि ये युवतियाँ उन्हीं स्थानों से भगाई जाती हैं, जहाँ लोग भूखे, दरिद्र तथा सङ्कटापन्न हैं। इन स्थानों में इन विषाक्त, परन्तु सङ्गठित समितियों के एजेण्ट इन अभागिनी युवतियों की बेकारी का लाभ उठा, उन्हें बड़े-बड़े वेतन वाली आकर्षक नौकरियों का प्रलोभन देकर अपने चङ्गुल में फँसा लेते हैं। इतना ही नहीं, वे उन्हें पथ-व्यय तथा कुछ आगामी रुपये देकर उन पर अपना विश्वास जमा लेते हैं। वे उन्हें दुकानों में, सम्भ्रान्त परिवारों में तथा सिनेमा में अच्छी-अच्छी नौकरियों का वचन देकर उन्हें अपने साथ कर लेते हैं और कुछ दिनों तक इतनी सावधानी तथा मक्कारी से उनके प्रति व्यवहार करते हैं कि कुछ ही दिनों में वे अभागिनियाँ इस बात को समझ लेती हैं कि उनका जीवन पाप-पङ्क में इतना अधिक फँस गया है, जहाँ से उनका आत्म-सुधार एवं उद्धार होना सम्भव नहीं।

यह तो रही ब्रिटेन जैसे सभ्य, सम्पन्न एवं उन्नतिशील राष्ट्र की बात। मिस मेयो की जन्म-भूमि अमेरिका की भयानकता का अनुमान करना कठिन है! अभी हाल में ही संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के पेन्सिल्वेनिया नामक एक राष्ट्र में नारी-अपहरण के केवल एक दृष्टान्त की चर्चा पत्रों में इस प्रकार प्रकाशित हुई थी :—

Mothers of pretty daughters in industrial towns and cities of Pensylvania are living in terror of white-slavers who trap girls in cars and drive them away. The girls destined for a life of shame are never seen again by their parents.

Police have received dozens of reports of well-dressed strangers patrolling the roads trying to lure girls into their cars.

तात्पर्य यह कि "पेन्सिल्वेनिया के छोटे और बड़े व्यावसायिक नगरों की सुन्दर पुत्रियों की माताएँ सदा उन श्वेत-दस्युओं (दास बनाने वाले डाकुओं) के भय में रहती हैं, जो तरुणियों को बलपूर्वक क़ैद कर मोटरों में ले भागते हैं। इन अभागिनी तरुणियों के अदृष्ट में लज्जापूर्ण जीवन व्यतीत करना रहता है और इनके माता-पिता की तरसती आँखें पुनः कभी इन्हें नहीं देख सकतीं।

तरुणियों को अपनी मोटरों में फँसाकर रखने के

प्रयत्न में, सुन्दर वेष-भूषा में सड़कों पर घूमते हुए आगन्तुकों की दर्जनों रिपोर्ट पुलीस को मिली है।"

दर्जनों तरुणियों ने इस प्रकार की घटनाओं के भयानक वृत्तान्त पुलीस से कहे हैं। वे सभी ऐसे पुरुषों के द्वारा सड़कों पर रोकी गई और उन्होंने इन्हें न्यूयार्क (New york) में सिनेमा की अच्छी नौकरियाँ देने का वचन दिया। जेनी वाल्टरसन नामक एक पन्द्रह वर्षीय बालिका ने पुलीस के सामने अपना बयान देते हुए कहा कि जब दो पुरुषों ने उसे 'स्टेज" में अच्छी नौकरी दिलाने का वचन दिया और जब उसने उसे अस्वीकार कर दिया तो वे दोनों पुरुष उसे बलपूर्वक घसीट कर अपनी मोटर में ले गये, पर किसी प्रकार बड़े प्रयत्नों के साथ लड़ती हुई वह अपने को उनके चङ्गुल से मुक्त कर सकी। पुलीस की रिपोर्ट है कि इस प्रकार पेन्सिल्वेनिया के बीस नगरों की तरुणियाँ इन दुष्टों के द्वारा सतायी गई हैं और बहुतों का पुलीस कोई पता न लगा सकी।

इस प्रकार धोखा, कपट, बल तथा अन्य सभी उपायों से समस्त अमेरिका तथा यूरोप में स्त्रियों का बाजार गर्म है। ये स्त्रियाँ प्रकट रूप से वेश्यालयों तथा गुप्त रूप से व्यभिचार तथा पाप के अड्डों की शोभा बढ़ा रही हैं। पाश्चात्य सभ्यता ने आधुनिक संसार को जो-जो अभिशाप दिये हैं, उनमें स्त्री-अपहरण का अभिशाप सब से अधिक कटु तथा विषैला है। और यदि इस अभिशाप की अभिवृद्धि शीघ्र रोकी न जायगी तो मरने वाली पाश्चात्य सभ्यता अपने समय के पहले ही मिट जायगी।

परन्तु नारी-अपहरण की यह समस्या यदि यूरोप तथा अमेरिका में ही सीमित रहती, तो कोई बात न थी। चीन, जापान, भारत तथा एशिया के अन्य देशों में भी मानव-समाज का यह रोग उसकी छाती खोखली कर रहा है। भारत में आज नारी-अपहरण की जो भयावह समस्या है, यदि उसे रोकने का समुचित प्रबन्ध न किया जाय तो हमारी अधोगति की सीमा नहीं। भारतीय नारी-अपहरण की समस्या यूरोप, अमेरिका तथा संसार के अन्य देशों की भाँति केवल विलासिता से ही उत्प्रेरित नहीं है, इसके भीतर "मजहब-परस्ती" का विषैला कीट भी संहार कार्य में लगा हुआ है। भारतीय नारी-अपहरण की समस्या के भीतर कहीं-कहीं हिन्दू जाति की भिन्न-भिन्न सामाजिक दुर्बलताओं का अनुचित लाभ उठाकर मुस्लिम आबादी बढ़ाने के स्वप्न और अन्त में मुस्लिम भारत और मुस्लिम राज्य के हौसले भी छिपे हैं। ये बातें काल्पनिक नहीं हैं, ये बातें मन की गढ़ी हुई निराधार तथा अर्धसत्य नहीं हैं, मेरे पास इन बातों के अकाट्य प्रमाण हैं, मेरे पास इन बातों के ऐसे प्रमाण हैं जिन्हें देख, सुन और जान कर दाँतों तले उङ्गलियाँ दबानी पड़ती हैं। पर वे बातें और वे योजनाएँ किसी अन्य अवसर पर दी जायँगी, यहाँ तो मैं हाल में होने वाली कुछ भारतीय घटनाओं का उल्लेख मात्र करना चाहता हूँ।

इसके पहले कि उन घटनाओं का उल्लेख किया जाय, एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ और वह यह कि नारी-अपहरण के लिये जो भारत में प्रान्तीय तथा अन्तर्प्रान्तीय सङ्गठित मुस्लिम दल हैं, उनमें हिन्दुओं से भी सहायता ली जाती है—ऐसे हिन्दुओं से, जिनका हृदय जातीय और धार्मिक भावनाओं के प्रति मर चुका है अथवा हिन्दू महासभा तथा हिन्दू समाज की अकर्मण्यता के द्वारा जिनकी आत्मा ने जातीय, धार्मिक और सांस्कृतिक कल्याण एवं सङ्गठन की वाणी नहीं सुनी। सच बात तो यह है कि एक मुसलमान किसी हिन्दू को मुसलमान बनाने में जितना सजीव है, उतना एक हिन्दू एक भूले-भटके हुए हिन्दू को हिन्दू-जाति के घेरे में रखने के लिये चैतन्य नहीं। नब्बे प्रतिशत हिन्दुओं ने कभी हिन्दू महासभा का नाम भी न सुना होगा और उन शेष दश प्रतिशत हिन्दुओं में भी शायद ही दश प्रतिशत ऐसे हिन्दू हों जिनकी आत्मा हिन्दू-जीवन के सर्वनाश तथा हिन्दू नारी के अपहरण की भयानक स्थिति पर काँप उठती हो! पर यहाँ इस लेख में इस प्रसङ्ग की आवश्यकता नहीं। यहाँ तो मेरा अभिप्राय केवल इतना ही था कि हिन्दू नारी तथा हिन्दू बालक-बालिकाओं को भगाकर उनके क्रय-विक्रय का जो बाजार भारत में गर्म है, उसमें मुसलमान

गुण्डों ही के सङ्गठित दल का पूर्ण हाथ है और ये गुण्डे इतने धूर्त हैं कि उन्होंने कुछ हिन्दुओं को भी फाँस रक्खा है। ऐसे हिन्दुओं को, जिन्होंने पैसों के लोभ में जातीय एवं धार्मिक कल्याण की भावनाओं का बहिष्कार कर दिया है! अस्तु।

३१ वीं जुलाई सन् १९३५ ई० को अमृतसर के कुछ प्रतिष्ठित हिन्दू वहाँ के असिस्टेण्ट कमिश्नर की अदालत में हिन्द-प्रान्त की रहने वाली शान्ति नामक उन्नीस वर्षीया युवती को ले गये। वह विधवा थी और उसका पति क्वेटा भूकम्प में मर गया था। शान्ति ने कहा कि भूकम्प के बहुत पहले से मैं अपनी नानी के यहाँ रहती थी। जब मेरी नानी को मेरे पति के मरने की ख़बर मिली तो वह मुझे अमृतसर में लाकर छोड़ गयी। जानकी नामक एक युवती ने, जो मेरी सम्बन्धी लगती है, मुझे एक मुसलमान पान वाले के हवाले कर दिया। मैंने दो दिन पान बेंचे। मुझे मालूम हुआ कि जानकी इसी प्रकार औरतों का व्यवसाय करती है। शान्ति ने असिस्टैण्ट कमिश्नर से यह प्रार्थना की कि वे उसे उसके भाई के पास पहुँचा दें, जो मुज़फ़्फ़रनगर जिले के अन्तर्गत खानपुर में रहता है।

तीसरी अगस्त सन् १९३५ ई० को असोसियेटेड प्रेस ने भारत के पत्रों को निम्नलिखित आशय का समाचार भेजा था :—

"सिन्ध के ज़िलों में अपहरण का ज़ोर बढ़ते रहने की ख़बरों से हैदराबाद (सिन्ध) के गाँवों की पञ्चायतें और हिन्दू-महासभा भी इसका प्रतिकार करने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचने लगी है। कहा जाता है कि अन्तर्प्रान्तीय दलों द्वारा स्त्रियों और बच्चों के क्रय-विक्रय का व्यवसाय चलाया जा रहा है। ये लोग आस-पास की रियासतों से औरतों को उड़ा लाते है। सिन्ध की विभिन्न अदालतों में अपहरण के कई मामले चल रहे हैं।"

इस घटना के ठीक एक वर्ष और दो दिन बाद, अर्थात् ५ वीं अगस्त सन् १९३६ ई० को यूनाइटेड प्रेस ने भारत के दैनिक-पत्रों में इस आशय का सम्वाद भेजा था :—

"सिन्ध के बहुतेरे हिन्दू लड़कों और लड़कियों के अचानक लोप हो जाने के रहस्य का, जिसके लिये सिरतोड़ परिश्रम करने पर भी पुलीस पता न लगा सकी थी— भण्डा-फोड़ हुआ है। जीवटराम नामक एक साहसी बालक ने, जो स्वयं मुस्लिम गुण्डों के एक दल के द्वारा भगाया जाकर उनके अधीन बलपूर्वक क़ैद में रक्खा गया था, पुलिस के सामने अपने बयान में उस रहस्य का उद्घाटन किया है। अपना बयान देते हुए उसने पुलीस से कहा कि किस प्रकार मुस्लिम गुण्डों के द्वारा समस्त सिन्ध से हिन्दू बालक-बालिकाएँ भगाई जाकर ख़ैरपुर स्टेट के रानीपुर नामक स्थान में रक्खी जाती हैं। उसने साथ ही यह भी बतलाया कि वे सभी मुस्लिम लिबास में और बहुत कड़े पहरे के भीतर बन्द कोठरियों में रक्खे जाते हैं। इन गुण्डों का उद्देश उन सबों को मुसलमान बनाना ही रहता है।"

पञ्जाब की सी० आई० डी० पुलीस ने १७ वीं मार्च सन् १९३६ ई० को एक सौ हिन्दू बालक तथा बालिकाओं का उद्धार किया, जो पञ्जाब प्रान्तीय गुण्डों के एक सङ्गठित दल के द्वारा भगाये गये थे। इस दल के सदस्य सारे पञ्जाब प्रान्त में फैले हुए थे और बालक-बालिकाओं को मिठाई तथा अन्य प्रलोभनों के द्वारा फुसला कर भगाते थे और फिर अपने साथ रख कर प्रान्त के ही दूसरे परन्तु दूर वाले जिलों में बेंचा करते थे।

विगत पहली जून को लाहौर में बालक-बालिकाओं के अपहरण करने वाले गुण्डों के एक अन्य प्रान्तीय दल को सज़ा हुई। सज़ा पाने वालों में इक्कीस पुरुष और चार स्त्रियाँ थीं। इन दुष्टों के कारावास की अवधि बीस वर्ष से लेकर पाँच वर्ष तक थी।

इस स्थान पर यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि इस घटना के लगभग दो महीने पूर्व लाहौर में ही इस प्रकार के गुण्डों के एक दूसरे दल को भी दस से लेकर पच्चीस वर्षों तक के लिये कारावास का दण्ड मिला था। [दो]नों दलों में दण्ड पाये हुए पुरुषों और स्त्रियों की संख्या

साठ था। ये लोग समस्त उत्तरी भारत तथा देशी रियासतों में सङ्गठित रूप से रहते हुए थे और बहुत धूर्तता के साथ बालक-बालिकाओं तथा स्त्रियों का अपहरण करते थे।

विगत जुलाई को कम्बेलपुर (पञ्जाब) जिले में फतहगञ्ज की पुलीस के द्वारा गुण्डों के अन्तर्प्रान्तीय दल के तीन सदस्य गिरफ्तार किये गये। ये गुण्डे सयुक्तप्रान्त के रहने वाले थे और बहुत दिनों से स्त्रियों को भगाकर उन्हें बेचने का व्यवसाय करते थे। हाल में ही उन्होंने सयुक्त प्रान्त के एटा जिले से एक बालिका का अपहरण किया था और पञ्जाब के भिन्न-भिन्न स्थानों में उसे बेंचने का प्रयत्न किया था। वे तीनों गुण्डे फतेहगञ्ज के एक मन्दिर में साधु के वेश में ठहरे हुए थे। वह बालिका भी उनके साथ थी। उन तीनों गुण्डों में से एक ने उसे अपनी पुत्री बताया था। पर मन्दिर के पुजारी को वह भेद मालूम हो गया और उसने पुलीस को इस बात की सूचना दे दी। पुलीस ने जब उन गुण्डों को गिरफ्तार किया तब उस बालिका ने पुलीस के सामने बयान देते हुए बतलाया कि गुण्डों ने उसे किस प्रकार उसके पिता के घर से भगाया था। इन तीन गुण्डों में एक कहार था। जिसकी खोज अलीगढ की पुलीस इसी प्रकार के एक दूसरे जघन्य अपराध के लिये कर रही थी।

तात्पर्य यह कि स्त्री-अपहरण की समस्या आज विश्वव्यापी है। क्या स्वतन्त्र, क्या ग़ुलाम, सभी देशों में आज गुण्डों के द्वारा जघन्य अपराध हो रहा है। इतना ही नहीं, प्रत्येक देश में इसकी जड़ इतनी दृढ तथा इसकी सीमा इतनी विस्तृत हो गयी है कि आज सब देशों की सरकारें इसे समूल नष्ट करने के लिये तुली हुई हैं। मेरा तात्पर्य स्वतन्त्र देशों की सरकारों से है, जहाँ जनता की आवाज़ का बल है। इस जघन्य अपराध को समूल नष्ट करने के उपाय लीग ऑफ नेशन्स (League of Nations) में भी सोचे जा रहे हैं। स्त्री-अपहरण की समस्या रोकने के लिये केवल जापान-सरकार ने जुलाई सन् १६३४ ई० से उसी वर्ष के दिसम्बर तक अर्थात् छ महीनों में १ लाख २० हज़ार येन खर्च किये थे। साथ ही जापानी सरकार ने अपने पुलीस विभाग को निम्नलिखित आदेश दिये थे —

(१) पुलीस विभाग नौकरी देने वाली गैर सरकारी एजेन्सियों पर कड़ा ध्यान रक्खे, जिससे वे युवतियों को वेश्या कार्य करने के लिये प्रोत्साहित न करें। यदि वे एजेन्सियाँ नौकरी में भरती होनेवालों को पहले ही उनके काया की सूची तथा उन्हें भरती करने वाले मालिकों का नाम न बतलायें, तो उनके विरुद्ध बहुत कड़ी कानूनी कार्रवाई की जाय।

(२) पुलीस विभाग के अफसर स्त्रियों को वेश्यावृत्ति से रोकने के लिये एक दूसरे से पूर्ण सहयोग तथा सम्बन्ध रक्खे। यदि वेश्यावृत्ति के 'लाइसेन्स' (License) के लिये कोई प्रार्थना-पत्र पड़े तो पुलीस उस सम्बन्ध में पूरी-पूरी जाँच करे और इस बात का पता लगाये कि उक्त स्त्री किन कारणों से यह पेशा स्वीकार करना चाहती है। (यदि उसके इस पेशा का कारण आर्थिक सङ्कट ही है तो पुलीस कर्मचारी उस स्त्री के निर्वाह के लिये उचित कार्रवाई करते हैं और सरकार उन्हें किसी न किसी ऐसे कार्य मे लगा देती है, जिससे वह अपना जीवन सुखपूर्वक निर्वाह कर सके और पुन वेश्यावृत्ति जैसे पाप-कार्य की कल्पना भी न करे।)

(३) पुलीस विभाग वेश्यावृत्ति में घसीटी जाने वाली स्त्रियों का पता लगाने के लिये अधिक से अधिक सचेष्ट हो और पुलीस अफसर इस बात का पता लगाने के निमित्त रेलों की यात्रा करें, जिससे स्त्रियाँ छिपे तौर से वेश्यावृत्ति के लिये एक स्थान से दूसरे स्थानों में न ले जायी जाँय।

(४) स्त्रियों और बालक-बालिकाओं के व्यापार रोकने के लिये तथा स्त्रियों को वेश्यावृत्ति से रोकने के लिये पुलीस विभाग प्रत्येक समाज-सुधारक समिति से पूरा सहयोग करे। पुलीस के अफसर इन समितियों के द्वारा वेश्याओं को तथा वेश्यावृत्ति में जाने वाली अन्य स्त्रियों को यह वृत्ति छोड़ देने के लिये प्रोत्साहित करें।

पुलीस विभाग को ऐसे आदेश देने के बाद जापानी सरकार ने नागासाकी, ओमोरी तथा अन्य कई स्थानों मे

वेश्यावृत्ति के लिये लाइसेन्स देने की प्रथा उठा ली। यह रही जापान सरकार की बात। अब ब्रिटिश सरकार की बात सुनिये। ब्रिटेन के मजदूर विभाग की मिनिस्टरी भी पूर्णतः सचेष्ट हो गई है और ग़ैर-सरकारी नौकरी पेशा वालों पर पूर्ण ध्यान रखती है, जिससे किसी प्रकार उनके मालिक उन्हें नैतिक अधःपतन की ओर प्रोत्साहित न करें। प्राइवेट नौकरियों में भर्ती होने वालों की पूरी जाँच पुलीस करती है और सदैव उन पर ध्यान रखती है। ब्रिटेन की सरकार हर उचित उपाय से इस बात के भरपूर प्रयत्न में है कि किसी प्रकार स्त्रियों के अपहरण की समस्या समूल नष्ट हो जाय। ब्रिटेन की पुलीस वहाँ के समाज-सुधारकों तथा समाज-सुधारक समितियों से भरपूर सहयोग रखती है। मजदूर विभाग की मिनिस्टरी प्रकाशन तथा अन्य सभी उपायों द्वारा इस बात की पूरी चेष्टा कर रही है कि युवक-युवतियाँ गुण्डों तथा पाप-समितियों से बचें तथा उचित, आवश्यक एवं नैतिक नौकरियों की ओर अग्रसर होकर अपने सामाजिक जीवन का उचित उपयोग करें।

तात्पर्य यह कि सभी स्वतन्त्र देश की सरकारें आज केवल स्त्री-अपहरण की समस्या को ही जड़मूल से उखाड़ फेंकना नहीं चाहतीं, वरन् वे इस बात के भी प्रयत्न में हैं कि वेश्याओं का सुधार किस प्रकार हो तथा उन्हें सन्मार्ग की ओर किस प्रकार प्रवृत्त किया जाय। इस पुण्य कार्य के लिये वे इस बात का पता लगाती हैं कि अमुक वेश्या ने किन कारणों से यह वृत्ति स्वीकार की और उन कारणों को हटाने में वे प्रयत्नशील भी हैं। यदि कोई वेश्या अपनी पाप-वृत्ति का त्याग कर सन्मार्ग पर जाना चाहती है तो सरकारों की ओर से इस बात का प्रयत्न होता है कि उन्हें ऐसे ठिकाने पर लगा दिया जाय जिससे वे प्रतिष्ठा-पूर्वक अपना निर्वाह कर सकें। ये सरकारें जन-साधारण की रुचि को इस प्रकार परिष्कृत करने में उद्योगशील हैं, जिससे जनता की रुचि पूर्णतः इस प्रकार की पाप-वृत्तियों के प्रतिकूल हो जाय और वेश्यावृत्ति स्वयं निर्मूल हो जाय।

परन्तु इसके विपरीत भारत की क्या दशा है? प्रतिदिन न जाने इस अभागे देश में कितनी स्त्रियाँ भगाई जाती हैं। उन्हें घर-गृह, माता पिता, पति-स्वजन, धर्म-संस्कृति सबों का त्याग करना पड़ता है और इस महान त्याग के बाद अन्त में नारकीय जीवन! भारत-सरकार की आँखें देश में होने वाले इस सामाजिक अन्याचार के प्रति अन्धी हो गई हैं और हों भी क्यों नहीं? क्या जनता ने इसके विरुद्ध, इस जघन्य पापाचार के विरुद्ध आवाज़ उठाई है?

सरकार चाहे इस पापाचार के विरुद्ध सचेष्ट हो अथवा न हो, जनता और विशेषकर हिन्दू जनता का यह परम-पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपनी बहनों की इस अधोगति से रक्षा करे। देश में हिन्दू-महासभा लगभग बीस वर्ष से स्थापित है; पर उसका कार्य वर्ष भर में किसी प्रान्त के एक कोने में एक बार अखिल भारतीय हिन्दू-महासभा का अधिवेशन कर तथा बड़े-बड़े प्रस्ताव पास कर फिर साल भर चुपचाप बैठ जाना ही है। भारतीय नारी-अपहरण की समस्या हिन्दू-जीवन, हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति एवं हिन्दू-सभ्यता के अपहरण की समस्या है; यह ऐसी समस्या है जिस पर अधिक से अधिक ध्यान न देने से और जिसे निर्मूल करने में ही हिन्दू-धर्म और हिन्दू सभ्यता टिक सकती है। भारत में लगभग सात लाख गाँव है। इन गाँवों में बहुत सुगमतापूर्वक चौदह लाख त्यागी कार्यकर्त्ताओं का निर्वाह हो सकता है। यदि महान् हिन्दू जाति के सात-सात लाख त्यागी कार्य-कर्त्ताओं की दो अथवा तीन टोलियाँ अपने जीवन के दो-तीन वर्ष भी ग्रामों में देकर वहाँ की जनता को पूर्णतः सङ्गठित कर उन्हें देश, धर्म, जाति की आवश्यकताओं की ओर प्रवृत्त करें तो पाँच-छः वर्षों में देश की सामाजिक, राजनैतिक एवं सभी समस्याएँ बहुत हद तक सुलझ जायँ। उन कार्यकर्त्ताओं का काम रात्रि-पाठशाला खोलना तथा किसानों और मजदूरों को देश, समाज एवं जाति की स्थिति से परिचित करा कर उनका सङ्गठन करना ही होगा। उस दशा में उन्हें बड़ी सुगमता से अच्छे से अच्छे कार्यकर्त्ता मिल सकते हैं। यदि हिन्दू जाति के महान् नेतागण अपना जातीय सङ्गठन कर सामाजिक सेवाओं और सुधारों के लिये एक "नारायणी सेना" तैयार करें तो इसमें उन्हें करोड़ों स्वयंसेवक मिल सकते

हैं। "नारायणी सेना" के स्वयंसेवकों का उद्देश्य सामाजिक सुधार एवं सेवा ही होना चाहिये। उनका उद्देश्य मातृ जाति की सेवा, उनके अपहरण का निर्मूल करना तथा जाति एवं समाज को अपनी धार्मिक, जातीय एवं राष्ट्रीय आवश्यकताओं के प्रति सचेष्ट करना ही होना चाहिये। "नारायणी सेना" के स्वयंसेवक का सर्व-प्रथम कर्त्तव्य मातृ जाति की प्रतिष्ठा, उसकी पूजा, उसकी सेवा ही होना चाहिये। उसे देश ही नहीं, वरन् संसार की स्त्री-जाति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना चाहिये। उसे किसी भी स्त्री के दुखों का निवारण करने के लिये अपने प्राणों को हँसते-हँसते सङ्कटों में डालना चाहिये। चाहे वह स्त्री हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई अथवा पारसी, भारतीय अथवा विदेशी। उसे हिन्दू धर्म के इस मर्म-भरे सन्देश को जानना, समझना और अनुभव करना चाहिये कि संसार की समस्त स्त्रियाँ माता और भगवती के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। ऐसी व्यवस्था में "नारायणी सेना" केवल हिन्दू जाति के लिये ही नहीं, वरन् सभी धर्मावलम्बियों और संसार के सभी राष्ट्रों के लिये प्यार, पूजा एवं भक्ति की वस्तु हो जावेगी। उसी अवस्था में हिन्दू-मुस्लिम-एकता भी सम्भव है। असङ्गठित हिन्दू जाति को लेकर कॉङ्ग्रेस हज़ार सिर धुनती रहे, चाहे वह हिन्दुओं के प्रति बङ्गाल, पञ्जाब आदि के साम्प्रदायिक निर्णय वाली मनोवृत्ति के द्वारा कितना भी अन्याय क्यों न करे, पर हिन्दू-मुस्लिम एकता होने को नहीं। हिन्दू और मुसलमान, ये दोनों जातियाँ और इन दोनों जातियों की सभ्यता, संस्कृति, धर्म और दृष्टिकोण पूरब तथा पश्चिम की भाँति एक दूसरे से विपरीत, एक दूसरे के विरोधी हैं और ये सभ्यताएँ तथा संस्कृतियाँ न्याय और एकता की तुला पर समरूप से तभी आ सकती हैं, जब हिन्दू जाति के महान् नेतागण अपनी "लीडरी" छोड़कर हिन्दू-जाति को हिन्दू धर्म, भारत-धर्म और विश्व-धर्म की सेवा के लिये सङ्गठित कर जीवित, जाग्रत एवं सचेष्ट करें।

बादल-राग



[श्री० रामइकबालसिंह 'राकेश']

घुमड़ी घन घटा घनघोर !
चकित चपला उचक पल पल झाँकती प्रिय ओर।

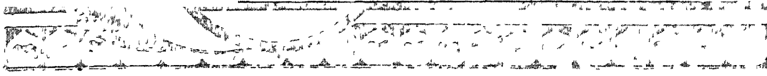
मलय-निसृत-समीर-स्पन्दन,
गहन-नन्दन कुसुम-कम्पन,
बेधती मृदु अङ्गना-उर करुण 'पी-पी' शोर।

व्याप्त उपवन-भुवन-वन-वन,
श्री, सरित-शतदल मुदित मन,
मगन मनसिज मारता छिप सुमन बाण कठोर।

अनिल, तू लाता मधुर मम—
'प्राण' का सन्देश अनुपम,
पुलक तब रखता तुझे इन तरल-लोचन-कोर।



जानवरों के रङ्ग



[श्री० कुँवर राजेन्द्रसिंह जी]

रङ्ग का विषय इतना बड़ा है और इस पर इतनी अधिक खोज की जा रही है कि कल का लिखा हुआ आज पुराना मालूम होता है। क्षिप्र दृष्टि से यदि देखा जाय तो यही मालूम होगा कि रङ्गों का काम केवल किसी चीज़ की सुन्दरता को बढ़ा देने का है, या मनुष्य की सौन्दर्यग्राही आत्मा को सन्तुष्ट करना है। रस्किन ने लिखा है कि शुद्ध और चिन्तनशील मस्तिष्क वही हैं जिन्हें सब से अधिक रङ्ग प्रिय हैं। एक अङ्गरेज़ी लेखक ने रङ्गों को एक पृथक् विषय माना है। हमारे शास्त्रानुसार यह नेत्रों का विषय है। अङ्गरेज़ी भाषा में जब यह प्रकट किया चाहते हैं कि अमुक वस्तु या पदार्थ के प्रभाव से बचना असम्भव है, तो प्रायः उसे 'विषय' के नाम से सम्बोधित करते हैं। एक दूसरे अङ्गरेज़ी विद्वान का कहना है कि मिथ्याभिमान छठा 'विषय' है। यों तो संसार रङ्गमय है, पर यह नहीं है कि अमुक जीवधारी को अकस्मात् कोई रङ्ग प्राप्त हो गया हो। प्रकृति के काम सविधि होते हैं, या यह कहिये कि उसकी विक्षिप्तता में भी विधि होती है। जानवरों को रङ्ग देने में भी विधि-विहीनता नहीं है, उद्देश्य कुछ और ही है।

पश्चिमीय देशों में इस ओर बहुत खोज की गई है। खोज करने वालों का यह कहना है कि शीतप्रधान देशों के जानवरों का प्रायः काला रङ्ग होता है, क्योंकि जाड़ों में काला रङ्ग सर्दी से रक्षा करता है, जैसे गर्मियों में सफ़ेद रङ्ग उष्णता से बचाता है। इसी वजह से हमारे उष्ण-प्रधान देश में सफ़ेद रङ्ग का बड़ा महत्व है। इङ्गलैण्ड में रङ्गों के विषय में अनेक अन्ध-विश्वास प्रचलित हैं और उस दृष्टि से सफ़ेद रङ्ग प्रेम का रङ्ग कहलाता है, और हम भारतवासियों की निगाह से यह शान्ति और शीतलता-सूचक है। अब यह क्रमशः प्रकट हो रहा है कि रङ्गों का काम प्रकृति की सुन्दरता बढ़ाने के अतिरिक्त कुछ और भी है। इरस्मस डार्विन ने लिखा है कि बहुत से जानवरों के रङ्गों से यह प्रतीत होता है कि यह उन्हें अपने शत्रुओं से बचने के लिये प्राप्त हुए हैं, ताकि वह दूसरों का शिकार बनने से छिप कर बच जाँय और दूसरों को अपना शिकार बनाने में सुविधा हो। लार्ड वालसिंघम का अनुभव यह है कि जानवरों के रङ्गों का महत्व प्राणिशास्त्रानुसार बहुत बड़ा है। उन्हीं का यह भी कहना है कि जानवरों के रङ्गों का केवल यही काम नहीं है कि आक्रमण से बचावें या आक्रमण करने में मदद दें, परन्तु यह भी काम है कि जाड़े और गर्मी से रक्षा करें।

जानवरों के रङ्ग दो तरह के कहलाते हैं,—(१) रक्षक, और (२) आघातक। रक्षक रङ्ग वह कहलाता है जो छिपकर आक्रमण से बचने में सहायक होता है और आघातक वह कहलाता है, जो आक्रमण करने में सहायता देता है। यह सब रङ्ग हल्के होते हैं। तेज रङ्गों को अङ्गरेज़ी भाषा में प्रकट करने के लिये कहते हैं कि जैसे वह आपकी तरफ़ ज़ोर से पुकार रहे हों। "ज़ोर से पुकारने वाले" या "कोलाहल कारी" रङ्गों से जानवरों को कोई सहायता नहीं मिलती। प्रायः उनकी संख्या अधिक है, जिनका यह विचार है कि जानवरों को रङ्ग केवल इस वजह से मिले हैं कि वह छिप कर अपनी रक्षा कर सकें, क्योंकि वह रङ्ग और भी बहुत सी चीज़ों के होते हैं, इससे शत्रु की निगाह को वह आकर्षित नहीं करते। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि आक्रमण

से बचने और आक्रमण करने के दोनों उद्देश्य जानवरों के रङ्गों में है। पहले को विशेष और दूसरे को साधारण सादृश्यता कहते हैं। यह केवल रक्षक और आघातक रङ्गों के भेद हैं। लुभाने वाले रङ्ग वह कहलाते हैं, जिनमे किसी जानवर के किसी अङ्ग से सादृश्यता होती है और उसी को देख कर शत्रु की निगाह उस पर पड़ती है। ऐसे भी रङ्ग होते हैं, जो भय का पूर्व बोध करा देते हैं।

जानवर प्रायः बनावटी बोलियाँ बोलते हैं और उनका अभिप्राय नक़ल करने का यही होता है कि वह अपने को आक्रमण से बचावें या आक्रमण करने में सुविधा हो। यह स्वर सादृश्यता कहलाता है। कहा जाता है कि बाजों की गन्ध या दश से बड़े-बड़े हिंसक जानवर डरते हैं।

डार्विन का कहना है कि जानवरों में भी सौन्दर्य्य-ग्राहकता होती है और इसका पता उस समय चलता है जब वह मादा को प्रसन्न किया चाहता है और तब ही वह अपने रङ्ग को इस तरह से प्रदर्शित करता है कि मादा को मनोहारी मालूम हो। यही वह समय है, जब बेचारे जानवर क्या, कुरूप से कुरूप मनुष्य भी अपने को कामदेव से भी अधिक सुन्दर समझने लगता है और यही वह समय है जब उसकी मूर्खता परमोच्च शिखर पर पहुँच जाती है। देवताओं ने भी ऐसे ही अवसर पर ग़लती की है।

१८५१ में फ्रैंसिस गाल्टन ने यह पता लगाया कि साँप और छिपकली जिनमें चमकीले रङ्ग होते हैं, यदि दूर से देखे जाँय और सिर्फ़ उन्हीं पर निगाह न रक्खी जाय तो उनका चमकीला रङ्ग गायब सा हो जायगा और उनका रङ्ग उन रङ्गों में मिल जायगा जो उनके चारों तरफ है। उदाहरण-स्वरूप उन्होंने बतलाया है कि जेबरा (जिसे अपनी चलती भाषा मे 'बनैला गधा" कहते हैं) का रङ्ग उजियाली रात में उस स्थान की चीजों से इतना मिलता-जुलता है कि चाहे उसके साँस लेने से पता चल जाय कि वह निकट है, पर दिखलाई नहीं देगा। यदि काली धारियाँ अधिक होतीं तो वह कोई काला पदार्थ दिखलाई देता और यदि कम होतीं तो सफेद रङ्ग की अधिकता होने की वजह से वह कोई सफेद पदार्थ मालूम होता है। परन्तु उसके रङ्ग के अंशों में इतनी अनुकूलता है कि उसे छिपने में पूर्ण सहायता मिलती है। रङ्गों के और दो भेद किये गये हैं—(१) स्थायी और (२) अस्थायी। प्रथम में कोई परिवर्तन नहीं होता है और द्वितीय में आवश्यकतानुसार जानवर परिवर्तन कर सकता है। प्रकृति का प्रबन्ध कितना पूर्ण है। विशेष रक्षक सादृश्यता के उदाहरण में झींगा कीड़े को बतलाया गया है। यह दो-तीन सौ तरह के इङ्गलैण्ड में होते हैं। परन्तु इनमें बहुत कम तरह के दिखलाई पड़ते हैं, क्योंकि अधिकांश का रङ्ग दरख़्त की पत्तियों से ऐसा मिलता-जुलता है कि उनका पता लगाना असम्भव हो जाता है। यही हाल अपने यहाँ एक बरसाती कीड़े का है। इसका नाम देहात में 'गन्धी' कहलाता है। इसकी दुर्गन्ध से तो इसका पता चलता है, पर इसके और धान के पौधे के रङ्ग में इतनी सादृश्यता है कि खेत में इसका पता लगाये नहीं लगेगा। बरसात में हर एक चीज के साथ कीड़े का भी रङ्ग हरा हो जाता है। यह भी खोज करके जाना गया है कि इन कीड़ों का केवल रङ्ग ही पौधे और पेड़ों से नहीं मिलता है, वरन् आकृति भी टहनियों और शाखों से मिलती है। यह भी लिखा है कि बाजे कीड़ों का नीचे का हिस्सा चपटा होता है और जब किसी पत्ते या पौधे पर बैठते हैं तो उस पर चिपक से जाते हैं। कहा जाता है कि बाज झींगे कीड़ों को अपना रङ्ग बदलने की शक्ति होती है। जब वह नई और हरी डालों पर बैठता है, तब वह अपना रङ्ग हरा कर लेता और जब पुरानी बादामी डालों पर बैठता है तब उसका वही रङ्ग हो जाता है। अपने यहाँ यह गुण गिरगिट में कहलाता है और उसी से मसल हो गई है कि क्या गिरगिट की तरह रङ्ग बदला करते हो।

विलिहम मुलर ने लिखा है कि दक्षिणी अमेरिका की एक तितली अपने को छिपाने के अभिप्राय से अपनी परिस्थिति में परिवर्तन कर देती है। वह पत्तियों को इस तरह खाती है कि वह उसका आकार बन जाती है और उसी में छिप कर बैठती है। उद्योग यही है कि परिस्थिति में परिवर्तन करके अपने अनुकूल बना ले। खोज करने से यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि क्या जो कीड़े इन्हें खाकर जीवित रहते हैं, उनकी दृष्टि इतनी तीव्र नहीं होती है कि इन्हें देख सकें। कहा जाता है कि इन कीड़ों के चुप

बैठने से पता नहीं लगता है कि किस पत्ते पर हैं, पर सर उठाते ही दूसरों के शिकार बन जाते हैं। प्रकृति ने अनुकूल रङ्ग देकर उनकी रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध कर दिया है।

कुछ ऐसे भी पतिंगे होते हैं, जिनका रङ्ग बादामी या हरा होता है और वह अपनी इच्छानुकूल इन दोनों रङ्गों में से किसी एक को ग्रहण कर सकते हैं। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उनकी इच्छा क्यों इन्हीं दो रङ्गों में परिमित कर दी गई है। एक खोज करने वाले ने लिखा है कि उन पतिङ्गों को अपनी रक्षा करने के लिये केवल दो रङ्गों की ही आवश्यकता होती है, क्योंकि पत्तों और टहनियों का रङ्ग हरा होता है और पृथ्वी का बादामी। इसी का नाम तो उत्तम प्रबन्ध है कि आवश्यकता की कोई चीज़ छूट न जाय और अनावश्यक दी न जाय। एक क़िस्म के कीड़े के लिये, जो झाँफे की तरह का होता है, लिखा है कि वह इतनी जल्दी अपना रङ्ग बदलता है कि अगर वह पत्तों से नीचे गिरा दिया जाय तो ज़मीन पर पहुँचते ही उसका रङ्ग बादामी हो जाता है।

एक और तरह की तितली का पता लगा है, जिसके परों का रङ्ग बदला करता है और वही हो जाता है कि जो उस समय पत्तियों का रङ्ग होता है, जैसे बरसात में पत्तियों का रङ्ग हरा होता है और पतझड़ के समय बादामी। एक खोज करने वाले ने, जिसे हिन्दुस्तान की तितलियों का ज्ञान है, यह सन्देह किया कि यहाँ की तितलियों के परों का ऊपरी भाग बहुत चमकीला होता है और वह रङ्ग बदल करके छिपने का प्रयत्न नहीं करती हैं। एक दूसरे का यह कहना है कि जब तितलियाँ उड़ती हैं या सचेत होती हैं तब वह अपने परों का चमकीला रङ्ग प्रदर्शित करती हैं, क्योंकि उस समय उनको अपने शत्रुओं का भय नहीं रहता है। परन्तु विश्राम के समय उनके परों का वही रङ्ग होगा, जो उनके आस-पास की चीज़ों के रङ्ग से मिलता-जुलता होगा। यह देखा गया है कि यह तितलियाँ जैसे ही किसी पत्ते पर बैठीं और पर बन्द किये वैसे ही वह स्वयं एक पत्ती मालूम होने लगती हैं। कहा जाता है कि यह इतनी जल्दी रङ्ग बदल लेती हैं कि बड़ा आश्चर्य होता है। इङ्गलैण्ड में एक तितली अपना वह रङ्ग कर लेती है जो सूखे पत्तों का होता है। इसकी आँखें चमकीली होती हैं, परन्तु उसके सोने के समय उसकी आँखों पर इस तरह बल आ जाते हैं कि आँखें बिलकुल छिप जाती हैं और जिस समय वह उड़ती है तो उसकी आँखें फिर खुल जाती हैं।

खोज से यह भी पता चला है कि इन पतिङ्गों और कीड़ों की रक्षा का प्रकृति ने एक और प्रबन्ध किया है। वह जो बीट करती है, वह पत्तों पर गिर कर इनके रङ्गों और आकार से बहुत कुछ मिलने-जुलने लगता है। एक तरह की मकड़ी जब वह डाल पर बैठती है, तब मालूम होता है कि वह लकड़ी की एक बहुत छोटी सी गाँठ है। यहाँ अपने देश में हरियल और पत्तों के रङ्ग में इतनी सादृश्यता होती है कि पता लगाना बहुत कठिन है, जब तक वह अपना सर न उठाये।

अण्डों का भी रक्षक रङ्ग होता है। इस बात की खोज करने वालों ने बहुत से उदाहरण दिये हैं। इरस्मस डार्विन ने लिखा है कि इस रङ्ग का केवल काम छिपने में सहायता देना है। यह भी लिखा है कि अण्डों को दूर से देखने में पता चलेगा कि उनका रङ्ग घोंसले और उन चीज़ों के रङ्ग से कितना मेल खाता है, जो उसके चारों तरफ़ हैं। नज़दीक से देखने में प्रभाव में बड़ी कमी हो जाती है। यह भी कहा जाता है कि प्रायः अण्डों का बहुत कुछ वह रङ्ग हो जाता है जो जोड़े के समय मादा अनुमान करती है और यह रङ्ग तब तक क़ायम रहता है जब तक प्राकृतिक रङ्ग धारण करने का समय नहीं आ जाता है। यह सम्मति अभी विवाद-रहित नहीं है। कोयल के लिये कहा जाता है कि वह जिस घोंसले में अपने अण्डे रखने ले जाती है तो उनका वही रङ्ग कर लेती है जो उस घोंसले की चिड़ियों के अण्डों का रङ्ग होता है। अपने यहाँ कहा जाता है कि कोयल अपने अण्डे हमेशा कौवे के घोंसले में रख आती है और कौवा उन्हें न पहचान करके उनको पाल देता है।

आघातक रङ्गों के विषय में यह लिखा गया है कि हिंसक जीवों का रङ्ग बहुत कुछ उन रङ्गों से मिलता-जुलता है, जो उसके आस-पास की चीज़ों का रङ्ग होता है। यह

उनका उस समय छिप कर आक्रमण करने में सहायक होता है। हिंसक के भी हिंसक होते हैं। यही प्रकृति का नियम है। उनको भी अपनी रक्षा करने में उस रङ्ग से मदद मिलती है, जब उन पर आक्रमण होने की सम्भावना होती है। साँप, छिपकली और मेंढकों के उदाहरण दिये गये हैं। एक तरह की मछली होती है, जो आक्रमण का भय होने पर कीचड़ ऊपर फकने लगती है। बाजी मछलियाँ अपना आकार एक फल की तरह का बना लेती हैं और उनके निकट जो पतिङ्गे आते हैं वह उन्हें चट कर जाती है। यह भी देखा गया है कि एक ही किस्म की मछली यदि उस नदी या नाले में पकड़ी जाय, जो पथरीला है तो उसका और रङ्ग होगा, पर उसका रङ्ग बदला होगा, यदि उस नदी या नाले की जमीन में बालू अधिक है। एक से दूसरी नदी या नाले में जाने में मछलियाँ अपना रङ्ग बदल देती हैं। रङ्ग बदलने की शक्ति मेंढकों में भी होती है। सर जोजेफ लिस्टर का कहना है कि मेंढक पत्थरों के खोह से निकाल कर देखे गये हैं, तो उनका रङ्ग काला मिला है और जब वह निकाल कर धूप में पत्थर पर रक्खे गये तो उनका रङ्ग बहुत कुछ पत्थर का ऐसा हो गया और पत्थरों की तरह की चित्तियाँ उन पर पड़ गई, और पत्थरों के नीचे फिर पहुँचने पर फिर वही उनका काला रङ्ग हो जाता है। यह भी देखा गया है कि अन्धे मेंढक अपना रङ्ग नहीं बदल पाते हैं। कारण स्पष्ट है। उन्हें आवश्यकता नहीं प्रतीत हो पाती है कि किस रङ्ग से रक्षा होगी। यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य उठता है कि अन्धी मछलियों को खाना कैसे प्राप्त होता है। खोज करने से मालूम हुआ है कि ऐसी हालत में मछलियाँ गन्ध और स्पर्श से काम लेती हैं। 'रस' का स्थान विषय-वर्ग की सूची में है। यह जिह्वा का विषय है। इसका देवता जल है और सबसे अधिक मछली में इसकी आसक्तता होती है। कोई आश्चर्य नहीं है कि यदि उसे पानी में अपनी रक्षा करने के लिये गन्ध और स्पर्श की शक्ति दी गई हो। प्रकृति सब के पेट भरने का प्रबन्ध करती है। यह भी खोज करके जाना गया है कि छिपकलियों और मेंढकों के रङ्ग बदलने की ताकत मरने के पहले जाती रहती है। मनुष्य में भी मरने के पहले बहुत सी शक्तियों का ह्रास हो जाता है और शायद इसी वजह से इस अवस्था को "स्थिर" और "स्थावर" कहते हैं। यह भी जाना गया है कि उन जानवरों में, जिनमें रङ्ग बदलने की शक्ति होती है, उनके अन्धे हो जाने पर उनका प्राकृतिक रङ्ग बजाय गहर के हल्का हो जाता है। जो जानवर अँधियाले में रहता है, उसका असली रङ्ग बहुत कुछ जाता रहता है। इससे यह प्रमाणित किया गया है कि रोशनी का बहुत बड़ा प्रभाव त्वचा पर पड़ता है, रोशनी ही रङ्ग है। जहाँ प्रकाश का अभाव होगा वहाँ सब काला दिखलाई देगा। इसी वजह से काले को प्रकाश की क्षयराशि कहते हैं। इसका भी पता लगा है कि बाज़-बाज़ चिड़ियों का रङ्ग ऋतुओं के अनुसार बदला करता है। हमारे देश में भी कहा जाता है कि खड़ैचे कोई आने-जाने वाली चिड़ियों में से नहीं हैं, यह यहीं रहते हैं, लेकिन अपना रङ्ग बदल लेते हैं। बाज जानवरों में यह शक्ति होती है कि मौसम के अकस्मात् परिवर्तनों के साथ ही अपना अकस्मात् रङ्ग बदल लेते हैं।

बाजे कीड़े और पतिङ्गे ऐसे होते हैं कि उनका रङ्ग उन चीजों से ऐसा मिल जाता है, जो उनके चारों तरफ है कि पता लगाये नहीं लगता है और बाजों का वह रङ्ग होता है कि दूर से पहचाने जा सकते हैं। अब यह प्रश्न है कि जो दूर से पहचाने जा सकते हैं, उनकी रक्षा का प्रकृति ने क्या प्रबन्ध किया है। इस ओर खोज करने वाला का यह कहना है कि उन कीड़ों और पतिङ्गों पर आक्रमण करने वालों की क्षुधा उनके खाने से तृप्त नहीं होती है, या उनमें दुर्गन्ध विशेष होती है या और किसी कारण से वह भीतिप्रद होते हैं। अपने यहाँ भी एक देहाती कहावत है कि 'बगुला मारे पखना हाथ'। बगुले में इतना कम मास होता है और इतने अधिक पर होते हैं कि वही उसकी रक्षा का एक कारण है। बाजों की रक्षा उनके बालों द्वारा होती है, जिनके छूने से हाथ में दाने से पड़ जाते हैं, उनकी उपमा अपने यहाँ के "भँगरे" से दी जा सकती है, जिसके छूते ही दाने पड़ जाते हैं और वह जलन होती है कि घण्टों चैन नहीं पड़ती। यह भी

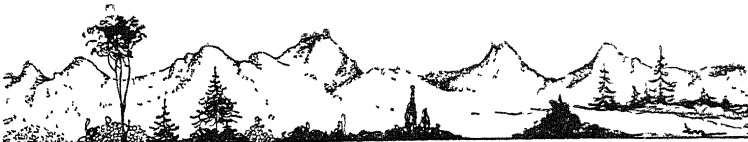
देखा गया है कि उन मौसमों में, जब कीड़े और पतिङ्गे कम होते हैं, जिन बड़े जानवरों के वह आहार हैं उनके रङ्ग में परिवर्तन हो जाता है जिससे उनके शिकार को भय या पूर्व बोध न हो। यह भी पता लगा है कि उन कीड़ों और पतिङ्गों पर भी आक्रमण होता है, (जब और कोड़े-पतिङ्गे नहीं मिलते) जिनमें दुर्गन्ध विशेष होती है। भूखा पेट क्या नहीं कर सकता है।

इसका भी पता लगाया गया है कि जोड़े के समय नर के परों का रङ्ग अधिक चमकीला हो जाता है और इसका बहुत बड़ा प्रभाव मादा पर पड़ता है। कहा जाता है कि तरुण मादा का चिड़ियाँ और पतिङ्गे मीलों से पता लगा लेते हैं—कारण यह नहीं है कि उसके परों के रङ्गों में नवीनता होती है, परन्तु उस समय नर गन्ध से काम लेते हैं, और जहाँ मादा ने किसी को पसन्द कर लिया तो और सब चलते बनते हैं। यह भी एक का मत है कि जिस नर और मादा के बच्चे वन्दित्व में होते हैं, उनके स्वभाव में भी अन्तर होता है और यह अन्तर उनमें अधिक पाया जाता है जो कफ प्रकृति के होते हैं। वही हमारे वैद्यक-शास्त्र का त्रिदोष वाला सिद्धान्त यहाँ भी लागू है। इसका भी पता लगाया गया है कि वन्दित्व में पैदा हुये नर और मादा तितलियाँ जोड़ा नहीं बाँधते हैं, कहाँ स्वतन्त्रता कहाँ वन्दित्व ! कहा जाता है कि जो रङ्ग पतिङ्गे अपनी मादा को प्रसन्न करने में प्रदर्शित करते हैं वह और वक्तों में छिपाये रहते हैं। इन रङ्गों में कुछ विशेष चिन्ह होते हैं, जिनसे मादा पहचान लेती है कि यह नर उसी जाति का है या नहीं, जिसकी वह है। जोड़ा बाँधने में ये बड़ी सावधानी से काम लेते हैं। यदि नर और मादा की जाति में थोड़ा भी अन्तर हुआ, तो जोड़ा नहीं बाँधेंगे। उन्हीं को मनोहारी रङ्ग दिये जाते हैं जो अपनी मादा को दिन में या संध्या के प्रकाश में ख़ुश करते हैं। प्रकृति कोई चीज़ बेकार नहीं देती है।

अपने देश में भी इस ओर बहुत खोज की गयी होगी। जिन्हें घोड़ों के दौड़ाने का शौक है, उनका यह कहना है कि अरबी घोड़े सफ़ेद रङ्ग के ज़्यादा दूर तक दौड़ने वाले होते हैं और जिन घोड़ों के लाल रङ्ग में सफेद रङ्ग भी मिला रहता है, वह अपने देश के घोड़े बहुत तेज़ पर दमदार नहीं कहलाते हैं। कुम्मैद रङ्ग अपने यहाँ बदमाशी का सूचक समझा जाता है। एक अपने यहाँ की कहावत है कि—"वह आठो गाँठ कुम्मैद है।" इस कहावत का उस आदमी के लिये प्रयोग होता है, जो चालाक होता है या जिसमें बहुत से अवगुण होते हैं।

हमारे यहाँ यह भी खोज की गयी थी कि किस रङ्ग की गाय का कैसा दूध होता है। वैद्यक-शास्त्रानुसार काली गाय का दूध वात-नाशक और अधिक गुण वाला है, पीली गाय का दूध पित्त-नाशक तथा वात-नाशक है, सफ़ेद गाय का दूध कफकारक तथा भारी है, लाल तथा चितकबरी गाय का दूध वात-विनाशक है। अन्यच्च, जिन गायों का रङ्ग बछड़े के रङ्ग से मिलता है, उन गायों का दूध प्रशंसा योग्य है। आधुनिक खोज करने वाले अभी यहाँ तक नहीं पहुँचे हैं।*

* इस लेख के लिखने में मुझे 'The Colours of animals' by Edward Bagnall Poulton की पुस्तक से बड़ी सहायता मिली है, जिसके लिये मैं कृतज्ञ हूँ और बृहन्निघण्टु रत्नाकर से भी सहायता मिली है।



किससे विवाह करोगे ?

[श्री० रामनाथ 'सुमन']

यदि तुम उन विवाह-विज्ञापनों पर नजर डालते रहो, जो आजकल समाचार-पत्रों में निकलते हैं, तो तुम्हें कई मनोरञ्जक बातें मालूम होंगी। लड़कों की आवश्यकता के जो विज्ञापन निकलते हैं, उनमें लड़के की शिक्षा एवं उसकी अथवा उसके परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी होने पर सब से ज्यादा जोर दिया जाता है। इसके विरुद्ध लड़कियों में रूप की खोज सबसे पहले की जाती है और उसके बाद यह देखा जाता है कि वह गृह कलाएँ भी जानती है या नहीं। अक्सर लड़कियों की आवश्यकता के विज्ञापनों में उनके फोटो भी साथ भेजने का अनुरोध होता है और यदि वर-पक्ष विशेष 'आधुनिक' हुआ तो यह भी चाहता है कि लड़की लड़के को दिखा दी जाय।

वैसे देखने में यह साधारण-सी बात मालूम होती है, पर इन दो प्रकार के विज्ञापनों के पीछे स्त्री और पुरुष-वर्ग की विवाह-सम्बन्धी दृष्टि एवं प्रवृत्ति छिपी हुई है। आजकल जब ईश्वर की कृपा एवं सुधारकों के शुभ प्रयत्न से परदा उठ गया है, विवाहित जीवन में रूप का स्थान दिन-दिन महत्वपूर्ण होता जा रहा है आजकल का शिक्षित युवक, जो प्राचीनों के नियन्त्रित जीवन पर कटाक्ष करने में बहुत आगे है, अपने मन में एक गुद-गुदी-भरी आकांक्षा जरूर पाल रखता है और वह यह कि उसका विवाह किसी ऐसी सुन्दरी से होगा जो स्वप्न-सी आकर्षक और मदिरा-सी नशा उत्पन्न करनेवाली हो, जिसके कमल-नयनों में यौवन का पराग फूट रहा हो और मुख पर चाँदनी खेल रही हो और जिसे देखकर मित्र ईर्ष्या करें और उसके भाग्य को सराहें। जो युवक सङ्कोची होने का अभिनय करता है और कहता है कि मैं इस विषय में क्या कह सकता हूँ, वह भी यह जानने के लिये तड़पता रहता है कि उसकी भावी पत्नी सुन्दरी है या नहीं? यदि कहीं माँ या और किसी के मुँह से वह सुन लेता है कि उसकी बहू चाँद सी है, तो उसकी बाछें खिल उठती हैं और यद्यपि वह ऊपर से यह दिखाने की ज्यादा से ज्यादा कोशिश करता है कि उसको इन बातों में कोई रस नहीं मिल रहा है और वह अपनी ओर से उदासीन है, किन्तु उसका दिल, असल में उछल रहा होता है।

ऐसा क्यों है? क्या कारण है कि लड़की को देखने जाकर, युवक बिना उसकी योग्यता, उसका स्वभाव, उसकी स्त्रियोचित विशेषताओं को जाने ही, केवल उसके सौन्दर्य पर ही रीझ जाता है और अन्य गुणों की इतनी अपेक्षा नहीं रखता। मैं मानता हूँ कि इतिहास में अत्यन्त प्राचीन काल से पुरुष अपनी इस प्रवृत्ति को बार बार प्रदर्शित करता रहा है। चन्द्रमुखियों पर रीझ कर उसने धर्म को तिलाञ्जलि दी है, मृगनैनियों के लिए इसने हजारों का ख़ून बहाया है। पर तब पुरुष को अपने बुद्धिवादी होने का अभिमान न था। आज की सतति की भाँति उसने बुद्धि को प्रधानता भी न दी थी। आज का युवक तो प्राचीनों की भाँति परम्पराओं का ग़ुलाम नहीं है, उसमें अंधश्रद्धा भी नहीं है और वह किसी बात को तर्क किये बिना मानने को भी तैयार नहीं है। फिर भी एक रूपसी रमणी उसे उन अन्धविश्वासी प्राचीनों से अधिक लुभाती है और रूप की प्रज्वलित शिखा के सामने युवक की आँखों में वह चकाचौंध छा जाती है कि अपने जीवन की एक गम्भीर समस्या पर वह शान्त और निरुद्विग्न होकर विचार नहीं कर सकता। यद्यपि प्राचीन काल में भी पुरुष को रूप ने बार-बार पागल बनाया है, पर उसने पुरुषवर्ग में, समष्टि रूप से,

अपने प्रति प्यास उत्पन्न करने में कभी इतनी सफलता प्राप्त न की थी। आज का औसत शिक्षित युवक सुकुमारियों के पीछे, भौंरे-सा प्रलुब्ध घूमता है। कॉलेजों में रूपवती लड़कियों का पढ़ना मुश्किल हो जाता है।

यद्यपि नारी में भी पुरुष के रूप के प्रति प्रलोभन कुछ कम नहीं, पर स्वभावतः वह पुरुष में साहसिकता, सच्चे पौरुष एवं वीरता की आशा रखती है। लम्बे बहस-मुबाहसे के बावजूद भी यह बात तै सी है कि नारी पुरुषार्थ की शक्ति की पुजारिन है। वह वीरता और साहस चाहती है, वह दुस्साहसिकता को पसन्द करती है, जब युवक नारी के रूप से पागल हो जाता है।

मैं यह नहीं कहता कि जीवन में रूप का स्थान नगण्य है। सम्पूर्ण प्रकृति में रूप का, प्रजनन एवं सृष्टि की क्रिया में, एक विशेष कार्य—'रोल'— है। यदि फूलों में रङ्ग न हो तो तितलियाँ, मक्खियाँ और भौंरे उधर आकर्षित न हों। रङ्गों के आकर्षण से ही पुष्पों के साथ उनका सम्पर्क स्थापित होता है एवं पुष्पों में गर्भाधान की क्रिया होती और यों फल लगते हैं। इसलिए नारी में रूप को देखने की पुरुष-प्रवृत्ति सर्वथा अवाञ्छनीय तो नहीं है; उसका भी एक महत् उद्देश्य है। वह दोनों के प्राकृतिक-संसर्ग को निकट लाने और उसे मृदुल बनाने के लिए है। वह पुरुष में उस ममत्व और उस श्रेष्ठ प्राकृतिक सानिद्धय की भावना को जाग्रत करता है, जिसके बिना स्त्री-पुरुष का सम्मिलित और संयुक्त जीवन न चरितार्थ हो सकता है और न अपने महान् उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता है। प्राणी में जो स्रष्टा है, नवीन जीवन के सृजन की जो भावना है, जो सुप्त चैतन्य है उसे यह स्पर्श करके गुदगुदाता और जगा देता है। और इसके कारण ही पुरुष की कर्कशता किञ्चित् मृदुल और प्रेमल होती है।

परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि जीवन-साथी के चुनाव में रूप ही सर्वश्रेष्ठ आवश्यकता है। यह कहना अतिशयोक्ति हीं होगी कि दाम्पत्य जीवन स्त्री के रूपवती होने से सफल हो जायगा। वस्तुतः विवाहित जीवन में रूप का स्थान, एक सीमा तक होते हुए भी वह बहुत गौण है। यह बिल्कुल सम्भव है कि नारी के रूपवती न होने या कम रूपवती होने पर भी तुम सुखी हो सकते हो और यह असम्भव नहीं कि रूपवती लड़की से विवाह करके भी तुम्हारा जीवन उस अमृत से वञ्चित ही रह जाय, जिसके बिना विवाहित जीवन नरक है। बात यह है कि विवाहित जीवन का सुख स्वप्निल भावनाओं को लेकर मन-प्राण को एकदम शिथिल कर देने पर निर्भर नहीं है। यह काव्य का काल्पनिक आनन्द नहीं है। यह इसी लोक में घोर परिश्रम द्वारा एक ऐसे जीवन का निर्माण करने का प्रयत्न है, जिसमें नारी और पुरुष एकत्र रह कर और संयुक्त होकर अपनी परिपूर्ण अभिव्यक्ति कर पाते और स्वार्थ एवं परार्थ का समन्वय करते हुए जाति (race) के प्रवाह को अविच्छिन्न रखते हैं। यह स्वप्नों और कविताओं का जीवन नहीं; यह वास्तविकताओं और जीवन के प्रच्छन्न उद्देश्यों को बाहर लाकर मूर्तिमान करने का घोर कर्ममय कार्यक्रम है।

इसीलिए विवाहित जीवन के सुख का विज्ञान अन्य सब विद्याओं से भिन्न और कठिन है। मैंने अत्यन्त सुशिक्षित एवं पण्डिता नारियों को विवाहित जीवन में असफल होते देखा है। मैंने अत्यन्त रूपसी कवियित्रियों को इसमें आकर असफलता एवं निराशा की धारा में बह जाते देखा है। इसीलिए मैं कहना यह चाहता हूँ कि तुम यदि विवाहित जीवन को मदिरा के क्षणिक उन्माद से पूर्ण न करना चाहो, यदि तुम उसे शान्त, सन्तुलित (balanced) सुखपूर्ण, एवं कर्तव्यमय बनाना चाहते हो, तो दिल को सस्ती भावुकता की धारा में मत बहने दो; स्वप्न-जाल में मत फँसो और अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण रखो और तब शान्त होकर निर्णय करने बैठो।

केवल रूप को देखकर जीवन-सङ्गिनी का चुनाव न करो। यह तुम एक बड़ी अस्थायी चीज पर जीवन की दीवार खड़ी कर रहे हो। याद रखो, जीवन में आँधियाँ भी आएँगी और भूकम्प भी होंगे और तब यह दीवार उनके धक्कों को बर्दाश्त न कर सकेगी। तब तुम बेहाल हो जाओगे और अपनी ग़लती तुम्हें चुभेगी, पर तब तुम जीवन को नये साँचे में न ढाल सकोगे और वह सुखी होने की जगह निराश एवं बोझिल हो जायगा।

इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि विवाहित जीवन के लिए अपनी सङ्गिनी का चुनाव करते समय तुम जितनी सावधानी एव विवेक से काम लोगे, उतना ही तुम्हारा भविष्य चिन्ता-रहित होगा। पहली बात तो यह है कि तुम्हारी भावी जीवन सङ्गिनी का स्वास्थ्य कैसा है। स्वस्थ नारी गृह एव समाज के लिए वरदान है। नारी का मातृत्व की ज़िम्मेदारियाँ उठानी पड़ती हैं और इसमें उसके शरीर का क्षय होता है। इसलिए यदि वह पूर्ण स्वस्थ न हुई तो न केवल रोगिणी होकर अपने एवं अन्य लोगों के जीवन पर एक बोझ हो जायगी, वरन् अपने बच्चों को भी यथेष्ट पुष्टिकर दूध न दे सकने के कारण दुर्बल, निस्तेज और रोगी बना लेगी। गृह-जीवन से प्रसन्नता की चाँदनी नष्ट हो जायगी और उस पर निराशा, खीझ, असन्तोष और दुःख के बादल छा जायेंगे। मैंने ऐसी कई घटनाएँ देखी हैं, जिनमें नारी सुशिक्षित थी, रूपवती थी और उसमें अन्य गुण भी थे पर उसका दुर्बल स्वास्थ्य दाम्पत्य जीवन की महान् ज़िम्मेदारियों को न सँभाल सका और वह स्थायी रूप से दुर्बल एव रोगिणी हो गई। उसका जीवन उस अर्ध मुरदे के समान हो गया जिसमें धीरे-धीरे साँस चल रही हो और वह सबकी चिन्ता एव बोझ का कारण हो गया हो। ऐसी नारी, सदेच्छु होकर भी, गृह को निरानन्द बना देती है। इसलिए अपनी सङ्गिनी चुनते समय तुम ख़याल रखो कि उसका पूर्णतः स्वस्थ होना तुम्हारे एवं उसके भावी सयुक्त जीवन के सुख के लिए पहली शर्त्त है।

अच्छी स्वस्थ स्त्री का यह मतलब नहीं है कि वह मोटी-ताज़ी हो। अक्सर पतली-दुबली स्त्रियाँ जीवन की ज़िम्मेदारियों को वहन करने में अधिक समर्थ सिद्ध होती हैं। स्वस्थ नारी का मतलब यह है कि उसके शरीर में पर्याप्त रक्त हो, उसकी हड्डियाँ न दिखाई देती हों, उसकी बाढ अच्छी हो, उसके चेहरे पर ओज हो, वह काम करने में सुस्त न हो। उसके शरीर में चुस्ती और फुर्ती हो। अङ्गों में आलस्य न हो और वह शोषणकारी रोगों से मुक्त हो।

दूसरा गुण, जिसकी विवाहित जीवन में अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है, पति-पत्नी की सहिष्णुता है। यह याद रखना होगा कि विवाहित जीवन संयुक्त एवं सम्मिलित जीवन है। इसमें दो व्यक्तियों की दो स्वभाव-धाराएँ मिल कर एकत्र होती हैं। स्वभावतः ऐसे अवसर आते हैं, जब ज़रा सी जल्दबाजी, खीझ और असहिष्णुता से तिल का ताड़ हो जाता है। गुस्से में कई बार आदमी मुँह से ऐसी बातें कह जाता है जिनको दिल से वह पसन्द नहीं करता। ऐसी बातों को लेकर अगर उनका जवाब दिया जाय या उन पर क्रोध किया जाय, तो गृहस्थ जीवन चल नहीं सकता, उसका सुख नष्ट हो जाता है, पति-पत्नी के दिल एक दूसरे से फट जाते हैं और दोनों अतृप्त और प्यासे से छटपटाते रहते हैं।

जब मनुष्य निर्दोष हो, फिर भी उस पर कोई क्रोध कर रहा हो, तब शान्त रहना बड़ा ही कठिन काम है। अपने उत्तेजित मन पर काबू रखना सबका काम नहीं। हमारी जीभ बोलने के लिए उतावली हो उठती है, पर क्षण भर के असयम से सारे जीवन का सुख नष्ट हो जा सकता है। इसलिए क्षण-भर दुख पा लेना, मन के दुख को दबा लेना इसकी अपेक्षा कहीं बुद्धिमानी होगी कि जवाब देने के लोभ मे हम अपने सारे जीवन के सुख को नष्ट कर दें। जीवन-युद्ध में जर्जर और जीविकोपार्जन के व्यवसाय में शिथिल, प्रताड़ित, व्यथित एव अपमानित पुरुष कई बार खीझ में आकर स्त्री से कोई कड़ी बात कह बैठता है। इसमें दोष न स्त्री का होता है और न पुरुष का। मन की पीड़ा और विवशता प्रकारान्तर से बाहर निकल पड़ती है। पुरुष की इच्छा कुछ स्त्री का मन दुखाने की नहीं होती; जो कुछ वह कहता है वह उस काँटे की करक होती है, जो उसके मन को दुख दे रहा है और जिसे अन्दर रखने और जिसको निर्मूल करने में वह असमर्थ होता है। ऐसे समय यदि नारी में सहिष्णुता न हुई और उसने सङ्कुचित दृष्टिकोण से इस पर विचार करके मन को मलीन और ज़बान को तेज़ कर लिया तो इसका परिणाम इसके सिवा क्या हो सकता है कि दिलों में खाई पैदा हो जाय और जीवन के सपने और हौसले मुर्दा पड़ जायँ, इसलिये यद्यपि पुरुष को भी स्वभाव संयमित कर लेने की पूरी आवश्यकता है, पर गृहस्थ जीवन का माधुर्य और

सुख मुख्यतः नारी के स्वभाव की मृदुता और सहिष्णुता पर निर्भर है। कुटुम्ब में, जहाँ अनेक आदमी अनेक विचार, संस्कार एवं प्रवृत्तियों को लेकर रह रहे हैं, यह बिलकुल सम्भव और स्वाभाविक है कि कुछ ऐसी बातें होती रहें जो परिवार के किसी सदस्य को अप्रिय लगें, पर ऐसी बातों पर ज़्यादा ध्यान देने या उन पर सङ्कुचित दृष्टि से विचार करने से ये ज़रा सी घटनाएँ या बातें सबके लिए बड़ी दुखद बन जा सकती हैं और सम्पूर्ण कुटुम्ब पर उनका प्रभाव पड़ सकता है। चूँकि नारी का गृह से विशेष सम्बन्ध रहता है, इसलिए उसमें अपेक्षाकृत अधिक शान्ति, मृदुता और सहिष्णुता की आवश्यकता होती है।

पर सहिष्णुता का यह अर्थ नहीं है कि केवल हम चुपचाप किसी बात को सह लें। मैं एक स्त्री को जानता हूँ जो गृहस्थ-जीवन के कष्टों एवं कठिनाइयों को सहन करने में परिवार की अन्य स्त्रियों से बहुत आगे है, पर इससे परिवार की शान्ति ज़रा भी नहीं बढ़ी है और रह-रह धातु के बर्तन की भाँति सारा परिवार झनझना उठता है। बात यह है कि वह स्त्री सहन तो करती है, पर क्रोध और खीझ के साथ सहन करती है। धुआँ उसके कलेजे में भरता है और वह अवसर पाते ही अपनी सारी भयानकता के साथ प्रकट होता है। यह स्त्री कुछ वर्षों पूर्व शान्त एवं मृदु स्वभाव की थी, पर आज उसके सम्पूर्ण जीवन में कर्कशता व्याप्त हो गई है। उसने हँसी-मज़ाक़ की बातों में भी मुँह लम्बा कर लेने का अभाग्यपूर्ण ढंग अख़्तियार कर लिया है। इसकी वजह यही है कि ऊपर से तो वह सहती रही, पर अन्दर से उसने अपने को उदार नहीं बनाया। इसका क्या फल हुआ? एक ओर उसका जीवन दुःख, खीझ और कर्कशता से भर गया और दूसरी ओर परिवार की शान्ति नहीं बढ़ी—हाँ, दुःख और अशान्ति में वृद्धि अवश्य हुई। ऐसी सहिष्णुता और कष्ट-सहन का कोई मूल्य नहीं है। इसमें न सहने वाले को सुख मिलता है और न जिसके लिये कष्ट सहा जाता है, उन्हें ही शान्ति मिल सकती है। वस्तुतः यह सहिष्णुता नहीं, बलात्कार और प्रतिहिंसा है। सहिष्णुता में विवशता का भाव नहीं होना चाहिये, वरन् दूसरों के प्रति उदारता एवं सहानुभूति का भाव होना चाहिए और वह इस विवेक के साथ होनी चाहिये कि इसमें हम सबका सम्मिलित स्वार्थ या कल्याण सुरक्षित है। इसलिए सच्ची सहिष्णुता के साथ सदा कल्याण के लिए किये जाने वाले आत्मोत्सर्ग से उत्पन्न आह्लाद एवं आनन्द का अनुभव होता है।

इसलिए गृहस्थ जीवन के सुख एवं सफलता के लिए पण्डिता एवं गर्ववती नारी की अपेक्षा मृदु एवं संस्कृत स्वभाव वाली नारी की अधिक आवश्यकता है। वह स्त्री जो उत्तेजित हो रहे, पति की बातों का जवाब मृदुतापूर्वक दे और यों बोले मानों शर्बत घोलती हो, जो अनुचित बातों पर भवें टेढ़ी करके मुँह लटका लेने की जगह हँसी-ख़ुशी में उसे उड़ा दे, वह शीघ्र ही गृह की रानी बन जाती है और पति द्वारा कभी उपेक्षित नहीं हो सकती। वह अपने स्वभाव की शीतलता, अपने हास्य की चाँदनी और अपने उदार स्वभाव की सहानुभूति से आस-पास के बढ़ रहे टेम्परेचर (तापमान) को शीघ्र कम कर देती है और दो मिनट पहले, ज़रा-सी ग़लती से या दूसरा मार्ग ग्रहण करने से जो घर नरक हो उठता, वह पति-पत्नी के मृदुल हास्य एवं बच्चों की आनन्द-भरी किलकारियों से गूँज उठता है। सारा खेद और विषाद आनन्द के इस प्रवाह में बह जाता है। मन निर्मल हो जाता है और दिलों की मुरझाई हुई कलियाँ खिल उठती हैं। थका एवं शिथिल पुरुष ज़िन्दगी की लड़ाई के लिए नई शक्ति प्राप्त कर लेता है, और दुनिया की आँधियों में बुझता हुआ दिल का दीपक स्नेह से पूर्ण होकर फिर प्रकाश से चमक उठता है।

इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि अपनी जीवन-सङ्गिनी के चुनाव के समय तुम्हें उसके सहिष्णु एवं हँसमुख स्वभाव का बड़ा ध्यान रखना चाहिये। यह एक ऐसा गुण है, जो जीवन की कड़ी मञ्ज़िल की आधी कठिनाइयों को दूर कर देता है।

तीसरी बात जो तुम्हें कन्या में देखनी चाहिये, वह उसकी परिश्रम की वृत्ति है। आलसी पुरुष या स्त्री दोनों समाज के लिए भयङ्कर हैं, पर समाज की निर्माता होने के कारण आलसी स्त्री कुटुम्ब और समाज के लिये

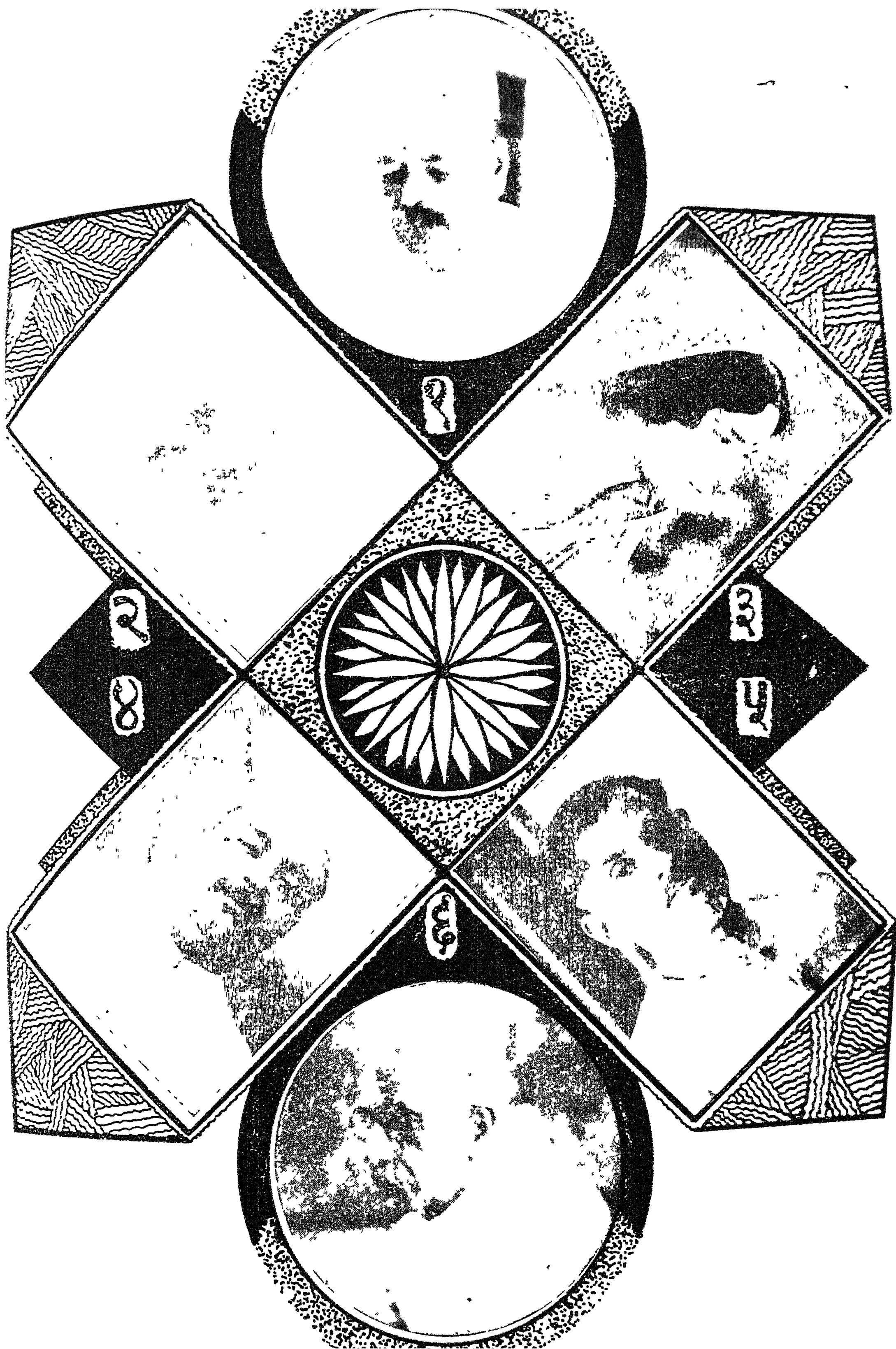
अभिशाप है। आलस्य और बेकारी वह विष है, जो न केवल शरीर को नष्ट कर देता है, वरन् दिमाग और मन को भी पङ्गु बना देता है। इससे जीवन की सम्पूर्ण स्फूर्तियाँ सुप्त हो जाती हैं और मन सङ्कुचित, कलुषित और दूषित विचारों से भर जाता है। इसलिये बुद्धिमान और सफल गृहिणी कभी बेकार नहीं रहती।

चौथी बात स्वभाव की उदारता और प्रेमलता है। अनेक स्त्रियाँ घर के लोगों, नौकर-मजदूर स्त्रियों के साथ बड़ा कठोर व्यवहार करती हैं। वे कदम कदम पर यह दिखाने को व्याकुल रहती हैं कि मैं इस घर की मालकिन हूँ। ऐसी स्त्रियाँ बहुत जल्द अपना प्रभाव खो देती हैं। यद्यपि गृह तथा सेवकों पर नियन्त्रण रखना योग्य गृहिणी का कर्तव्य है, पर उसे यह भी जानना चाहिए कि प्रेम का शासन केवल अधिकार के शासन से कहीं शक्तिशाली होता है। प्रेम के साथ नौकरों से उससे कई गुना ज़्यादा काम कराया जा सकता है, जितना कठोरता और दण्ड-भय से सम्भव है। प्रेमपूर्ण व्यवहार से काम लेने वाली स्त्री अपने नज़दीक मित्रों एवं सच्चे हितैषियों का एक दल एकत्र कर लेती है और इसके कारण उसकी, उसके पति एवं परिवार की जीवन-यात्रा बड़ी सरल एवं सुखद हो जाती है।

पाँचवीं बात, और एक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण, जिसका विचार विवाह के पूर्व करना चाहिए, लड़की का गृहकला का ज्ञान है। गृहस्थ-जीवन एक कला ही है। जो नारी पति के आने पर अस्तव्यस्त एवं बिखरी हुई चीज़ों के साथ उसका स्वागत करती है, वह गृहस्थ जीवन का सच्चा सुख प्राप्त करने में कभी सफल न होगी। योग्य गृहिणी वह है, जो धूर को सोना बनाती है और जिसके आगमन से कल तक रोता हुआ गृह हँसने लगता है। उसका सब कार्य व्यवस्था और तरतीब से होता है। वह जानती है कि कौन-सी चीज़ कहाँ रखनी चाहिए। वह पति की आर्थिक कठिनाइयों में उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करती है और अनावश्यक वस्तुओं के लिए उसे तङ्ग नहीं किया करती।

इन सद्गुणों के बाद तुम्हें विद्या और रूप का विचार करना चाहिए। केवल रूप को देख कर कोई निर्णय मत करो। हो सकता है कि तुम्हारे साथ पढ़ने वाली लड़की ने अपनी शरारत, शोखी और सौन्दर्य से तुम्हारे दिमाग़ पर नशे की तरह अधिकार कर लिया हो। तुम समझते हो कि हम दोनों दिल से एक दूसरे को चाहते हैं। तुम्हारा कहना है कि बिना उस लड़की के तुम्हारा जीवन सुखी नहीं हो सकता और तुम दूसरे के साथ शादी करने की बात मन में भी नहीं ला सकते। यह युवावस्था ऐसी ही चीज़ है, यह दिलों में बेक़रारी पैदा करती है और भविष्य के प्रति बड़ी जल्दबाज़ी से काम लेती है। पर मैं कहूँगा कि जल्दी मत करो, जो ज्वार तुममें उठा है, उसे ठिकाने लगने दो और तब शान्ति के साथ सोचो कि तुम्हारी मानसिक दशा क्या है। क्या तुम शान्ति के साथ और निरुद्वेग होकर अपने सम्बन्ध में ठीक-ठीक विचार करने की स्थिति में हो? भावावेश में निर्णय मत करो, वह दोनों के लिए दुखदायी होगा। मैं ऐसे कई उदाहरण दे सकता हूँ, जिनमें विवाह के पूर्व लड़का-लड़की दोनों एक दूसरे को चाहते थे, उनका कहना था कि यह रूप-जनित मोह नहीं है, हम दिल से प्रेम करते हैं, पर विवाह के बाद वे प्रेम के सपने बहुत जल्द खत्म हो गये। बेचारी स्त्रियाँ अक्सर ऐसे मामलों में ज्यादा घाटे का सौदा कर लेती हैं। स्त्रियों के लिए बहुत ज़रूरी है कि वह पुरुषों के रूप-जनित आकर्षण को बहुत मूल्य न दें, मैं तो कहूँगा कि जो स्त्री अपने रूप का उपयोग पुरुष को आकर्षित करने में करती है, उसके भाग्य में पछताना ही बदा है, क्योंकि वह दाम्पत्य जीवन का आरम्भ पुरुष की हलकी वासना को जगा कर करती है और जब जीवन के मध्यान्ह के बाद यौवन और रूप की दोपहरी ढलने लगती है तो रूप-लोभी या रूप के पीछे आया हुआ पुरुष विरक्त होने लगता है। जो सहयोग—'पार्टनरशिप'—रूप की नींव पर खड़ा किया गया है और जिसमें आत्म-नियन्त्रण और त्याग तथा जीवन के स्थायित्व नहीं हैं, वह अधिक दिनों तक चल ही कैसे सकता है?

अक्सर आजकल रूप-तृष्णा को प्रेम समझ लिया जाता है। रूप-तृष्णा में अधिकार और भोग की लालसा होती है, जब प्रेम प्रेमास्पद के लिए अपने सुख और


१
२
३
४
५
६

यू० पी० कॉङ्ग्रेसी मन्त्रि-मण्डल

(१) माननीय पं० गोविन्दवल्लभ पन्त

(प्रधान-मन्त्री)

(२) माननीय श्री० कैलाशनाथ काटजू

(न्याय और उद्योग-धन्धों के मन्त्री)

(३) माननीया श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित

(स्थानीय स्वराज्य और स्वास्थ्य-मन्त्री)

(४) माननीय श्री रफ़ी अहमद किदवई

(रेवेन्यू और जेल मन्त्री)

(५) माननीय हाफ़िज़ मोहम्मद इब्राहीम

(तामीरात मन्त्री)

(६) माननीय श्री० प्यारेलाल शर्मा

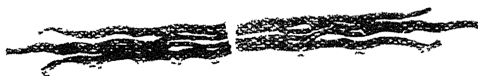
(शिक्षा-मन्त्री)

सुविधा का बलिदान करने को तैयार होता है। सच्चे प्रेम की नींव वाह्य रूप में नहीं, उससे कहीं गहरी होती है और उसके साथ सदा उत्कट भावना और कर्तव्य तथा कल्याण की इच्छा लगी होती है। इसीलिए विवाहित जीवन में वे लोग अधिक सफल होते हैं, जो एक उदार दृष्टिकोण और कर्तव्य को लेकर चलते हैं। सुनहले स्वप्नों के जाल जीवन की कठोर वास्तविकता के धक्कों में टूट जाते हैं। क्योंकि पति-पत्नी का जीवन केवल उन्हीं तक नहीं होता, बल्कि उसको समाज की कठिन परिस्थितियों से गुज़रना पड़ता है। उसे जीविका के लिए, जो जीवन की समस्त स्थूल आवश्यकताओं में सब से प्रबल आवश्यकता और शक्ति है, दुनियाँ के बियाबान में काँटों पर चलना पड़ता है और जब पैर काँटों से छलनी हो रहे हों और दिलों को घोर प्रतियोगिता की सर्द हवाएँ शिथिल किये डालती हों, तब सदा प्रेम के कोमल और लुभावने सपने देखते हुए चलना सम्भव नहीं है।

इसीलिए जिसे आजकल प्रेम-विवाह कहा जाता है, उसकी अपेक्षा कर्तव्य विवाह अधिक सफल होता है। पहले में जहाँ आकांक्षाएँ और आशाएँ बहुधा काल्पनिक होती हैं और अतिशयोक्ति की सीमा तक बढ़ी होती हैं, वहाँ दूसरे में आदमी वास्तविकता की भूमि पर होता है। जब मैं कर्तव्य की प्रधानता की बात कह रहा हूँ, तब मैं प्रेम की श्रेष्ठता की बात भूला नहीं हूँ। मैं मानता हूँ कि दाम्पत्य जीवन क्या सम्पूर्ण मानव-जीवन, सम्पूर्ण समाज-जीवन प्रेम के बिना आत्मा-रहित शरीर के समान है, इसके बिना सब कुछ जड़, स्फूर्तिहीन और चेतना-रहित है। जगत् में जो कुछ है वह प्रेम का ही विस्तार (manifestation) है; उसी की प्रकृति और विकृति है। पर मेरा कहना इतना ही है कि जहाँ प्रेम उद्वेग से धुँधला और स्वार्थ से पङ्किल है वहाँ वह विकृत होकर विष का काम करता है। वस्तुतः वह प्रेम होता नहीं। प्रेम सब कुछ देकर भी सदा अपने में परिपूर्ण होता है। पर इतनी बारीकी में जाना सबके लिए सम्भव नहीं, अतः मैं इसे यों कहूँगा कि जो प्रेम त्याग से नम्र नहीं है और विवेक से प्रकाशित नहीं है, उसे प्रेम समझने की भूल मत करो। सच्चा प्रेम सदैव विवेक से परिष्कृत होता है। प्रेम और विवेक दोनों का उपयुक्त सामञ्जस्य करके चलना ही गृहस्थ जीवन और मानव की परिपूर्णता का साधन है। भारतीय विवाह एक व्यक्तिगत प्रश्न नहीं है। तुम स्नेह किसी से कर सकते हो। यह मानव का व्यक्तिगत अधिकार है, पर तुम जिस किसी से विवाह नहीं कर सकते। विवाह तुम समाज के एक घटक (unit) के रूप में करते हो। इससे तुम दोनों का ही नहीं, समाज का भी गहरा सम्बन्ध है और समाज तुम्हें बिलकुल निर्बन्ध नहीं कर सकता।

इसलिए जहाँ जीवन-सङ्गी के चुनाव का सवाल है, तहाँ हृदय और मस्तिष्क दोनों का सन्तुलन (balance) करके और शान्त होकर, पूरी गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए। तुम्हें न केवल अपने वर्तमान का, वरन् भविष्य का भी पूरा खयाल रखना चाहिये। अपने जीवन के लिए तुम ज़िम्मेदार हो; चुनाव का अन्तिम निर्णय तुम पर निर्भर करता है। तुम सोचो और निर्णय करो, पर यह कुछ बुरा न होगा कि तुम अपने निर्णय में उन बुज़ुर्गों को भी शरीक होने दो, जिन्होंने दुनिया देखी है और जो जीवन के उतार-चढ़ाव के बीच से गुज़रे हैं। जैसा आजकल युवक सोचते हैं, उनकी सम्मति बिल्कुल व्यर्थ नहीं होती कम से कम तुम्हें उस पर गम्भीरता के साथ विचार तो करना ही चाहिए। मैं कभी यह सलाह न दूँगा कि तुम भावावेश और तृष्णा में कोई निर्णय करो, न मैं यह चाहूँगा कि श्रेष्ठतर हितों के खयाल के अलावा कोई दूसरे दबाव के कारण तुम निर्णय करो। तुम परम्परा और कुरीति के आगे मत झुको, पर तुम फ़ैशन एवं सस्ती भावुकता के दबाव से भी मुक्त रहो।

और अब निरुद्विग्न मन से निर्णय करो कि किससे विवाह करोगे।



प्रातः समीर

[श्री० नरेन्द्र शर्मा, एम० ए०]

धीरे बह री, प्रातः समीर! बुझती चिनगारी जल न उठे!

रो-रोकर रात बिता विरही
सोया है क्षण भर, धीरे चल,
पङ्खा झल-झल क्यों जगा रही
प्राची का उर-अँगार घायल?

शीतल समीर उसको भाए जिसका घायल उर जल न उठे!
धीरे बह री, प्रातः समीर०।

यह वेणु सदृश जीवन है ज्यों
झञ्झा-जर्जर बाँसों का बन,
दोनों में अनल समान छिपी
दोनों ही कर उठते क्रन्दन,

मलयानिल के इन झोंको से वह छिपी अनल फिर जल न उठे!
धीरे बह री, प्रातः समीर०।

सुन तेरी चल पद-चाप कहीं
जागे न व्योम मे भी ज्वाला,
वारिद की लपटों से जल-जल
झर जाय न वह तारकमाला!

गिन जिसको कटती निशि, आकाश-कुसुम-माला वह जल न उठे!
धीरे बह री प्रातः समीर०।





मौंचू और मीला

[श्री० 'पहाड़ी']

मीला गँडेरी के छोटे-छोटे टुकड़ों से भरी तश्तरी लिए आई।

मौंचू अखबार पढ़ रहा था।

मीला आई और चुपचाप खड़ी हो गई। कुछ बोली नहीं।

मौंचू बिलकुल बेख़बर बैठा था।

मीला ने मौंचू को देखा, देखकर कुछ सोचा, चाहा कि कुछ बोले। फिर ज़रा अपने में शरमाती चुपचाप आगे बढ़ी और तश्तरी मेज़ पर रख दी।

कुछ आहट पा मौंचू ने मीला को देखा। आँखें कुछ देर मीला पर टिकी रह गईं। देखा तश्तरी को, और उस पर फैली गन्ने की छोटी-छोटी टुकड़ियों को। सटपट में बोला—"अभी-अभी तो फल खाए हैं। खाना, फल और... मुझे भूख नहीं।"

मीला मर गई। सारा उत्साह इस अवहेलना में खो गया। चुप रहकर मन ही मन सोचा—यह क्या? सारा उत्साह काफ़ूर हो गया। गँडेरी बनाते-बनाते उङ्गली जहाँ कटी थी, वह दुखने लगी। दुःखी और उसकी पीड़ा से तिलमिला, आगे बढ़ वह बोली—"ज़रूरत नहीं तो एहसान क्या। बेकार खाना ठीक नहीं।"—और मन्थर गति से बाहर चली गई।

यह सब भी मौंचू को उलझाने के लिए काफ़ी नहीं था। लेकिन उसे लगा; मीला कुछ तकरार-सी बढ़ा गई है। चली गई। यह नाराज़ी कैसी? अपने पेट का ख़याल उसे है या मीला को!

अख़बार उसने मेज़ पर रख दिया। चुपचाप इज़ी-चेयर में बैठा ही रहा। सोचा, एक दो टुकड़ियाँ खा ही लेता। पर सारी बात इतनी जल्दी में हो गई थी कि कुछ भी मौक़ा न मिला। अब मीला तो चली ही गई थी।

मीला को जाना था। वह गई। अब क्या मौंचू को कुछ सोच लेने छोड़ गई थी। वह ग़लत ही सही। वह भी तो रुक सकती थी। एक बात कुछ ज़्यादह नहीं। उसने सामने कैलेण्डर की एक-एक तारीख़ देखी। दीवाल पर टँगे अच्छे 'आयल-पेंटिङ्ग' पर निगाह पड़ी। और आँखें कुछ ढूँढने लगीं, मेज़ पर बिछे, बुने टेबिल क्लाथ पर, इसी पर तो पारसाल मीला को इनाम मिला था। कितने उत्साह से सुबह उसने बात कही थी।

गोया मीला का बुना 'टेबुल-क्लाथ' ही मनमुटाव कर लेने वाला था। और सब की कोई जगह वहाँ न थी। मीला तो एहसान लाद चली गई थी। जैसे वह एहसान उन सफ़ेद-सफ़ेद गँडेरियों से पैदा हो उसे डस गया हो।

और मीला...

वह सोचती, मौंचू उसकी भावना नहीं समझता। बार-बार बातों का ऐसा खोटा उत्तर देता है, जैसे कुछ और कहना नहीं सीखा हो। कुछ हो! फिर मीला मौंचू के पास आती ही क्यों है? न आना ही ठीक है। आती है, तब क्या नहीं जानती कि मौंचू बड़ा रूखा जीव है। कहता है, जो मन में आया। और कुछ कहाँ कह पाता है। कब सीखेगा वह। फिर भी .....

मौंचू मीला के घर आया है। आज नई जान-पहचान नहीं। पहिले वह मीला को ज़रा दूर उसकी बुआ के घर देख चुका था। देखा था, कुछ समझने का सवाल न उठा था। जब मीला चली गई थी, तब लगा था, उस घर और पड़ोस की सब लड़कियों में मीला उसे अच्छी लगी थी। जब मीला की याद आती थी तब ही उसको पास से देखने के लिए जी तड़फ उठता था। जितना ही वह उसे भुलाना चाहता, उतनी ही वह नजदीक लगती, उसके दिल पर कब्ज़ा करती थी।

मीला की बुआ का घर उसके लिए नया न था। वह मीला की बुआ थी तो उसकी भी दूर रिश्ते की बुआ लगती थी। फिर वहाँ वह बीमार क्यों पड़ गया? मीला एकाएक अनजाने आई। मलेरिया छूटने पर जब वह एक दिन कुछ अच्छा हुआ तब घर भर की लड़कियों ने बुआ को घेर लिया—वायलेन सुनवाने के लिए।

बुआ आकर बोली—मौंचू सुना दे न? सब मेरा सिर खाए हैं।

मौंचू सा झेंपू वायलेन सुना सकने की हिम्मत करता?

कुछ जवाब न पा बुआ बोली—इसमें शरम की क्या बात है? कोई बाहर का थोड़े ही है। और मीला हमेशा थोड़े ही आवेगी।

मौंचू ने बात मञ्ज़ूर की थी। कहा, रात दस बजे बाद वह सुनावेगा।

बात कहने की थी, उसे याद रखने की फिक्र उसे न रही। वह चुपचाप सो गया था। घर के लोग भी उसे भूल कर सो गये। पर मीला जगती रही, इसी उम्मीद में कि वह वायलेन सुनेगी। दस, ग्यारह, बारह के बाद जब उसने मौंचू के कमरे में झाँका, उसे खर्राटे भरता पाया। मन मार वह भी सो रही। लेकिन वायलेन न सुनने की बात मन में बनी रही। दूसरे दिन घर के छोटे लड़के की आड़ ले सुनाया—'कोई रात भर जागे कोई मज़े से सोया रहे। वायलेन सुनकर तो पेट भर गया।'

मौंचू मज़ाक के बाहर ही रहा। जवाब की व्यवस्था से अलग। मज़ाक उस पर लागू हो भी तो क्या वह उससे वास्ता रख ले। खुद वह वायलेन कहाँ सुनाना चाहता था। टालने का बहाना था, निभ गया।

घर की लड़कियाँ न मानीं। एक दिन मौंचू पकड़ में आ गया, सब दिन को जमे। मौंचू को वायलेन सुनाना पड़ा। सुनाने का वह सुना गया, पर मीला कुछ किसी से बोलती न थी। एक ओर मूक बैठी थी। मौंचू की आँखें जब उस पर गिरतीं तो वह आँखें छुपा न लेती थी। जैसे अपने से वह लाज न करेगी, न करेगी। मौंचू बात न समझ, उन खिली आँखों के भार से इतना दब गया कि आगे बजा न सका। चुपचाप वायलेन रखकर बाहर बाग में निकल पड़ा। सब लड़कियाँ अवाक् रह गई।

अब सवाल उठा बुला लाने का। काम मीला के सुपुर्द किया गया। न मीला करेगी, यही जानकर यह भार सौंपा गया था। और मीला ने बाहर बाग में जाकर देखा, मौंचू चुपचाप 'लाउन' की घास पर बैठा है। वह पास जाकर बोली—आपको बुलाया है।

"मुझे?"—मौंचू ने देखा। जैसे बुलाने वाले का पहचान कर भी वह निरा अनजान ही रहेगा।

मीला ज़रा दबी सी बोली—बीच में ही क्या कोई बजाना छोड़कर इस तरह भाग आता है?

मौंचू मीला से कुछ कहेगा। बात मन में उठी और वहीं खो गई। वह उठा और चाहा, आगे चुपचाप बढ़े। रुक गया। वह नहीं बजावेगा। बोला—"मेरी तबियत ठीक नहीं है।"

"देखिए, झूठ न बोलिए।"

"झूठ?"—बात रुक पड़ी।

"यह बेकार का बहाना है।"

"बहाना?"

"मुझे शर्मिन्दगी उठानी पड़ेगी कि आपको बुला कर न ले जा सकी।"

"आप गलत समझ रही हैं।"

"गलत सही। मैं नहीं जानती, आप चलिए"—मीला ने कहा।

मौंचू निरुत्तर हो गया। मीला ने आज तक कभी बात न की थी। और ऐसा हुकुम वह देगी, अन्दाज़ न था। इसे वह ज़ोर-ज़बरदस्ती गिने या कुछ और? वह

नहीं, नहीं, जा सकता था। वहाँ जाकर उपहास का पात्र वह क्यों बने ? उन लड़कियों की बातें सुन और सह सकने वाला दिल उसके पास न था। आखिर वह बोला ही—"आप मुझे माफ़ी दें। फ़िलहाल बात पर ख़याल करना बेकार है। किसी और दिन सुना दूँगा। आज 'मूड' अब ठीक नहीं। आप कुछ और न समझें। बुरा मान लेने का सवाल भी यह नहीं।"

मीला जानती थी, उसकी हँसी उड़ेगी। जिस बात की ज़िम्मेदारी उसने ली है, वह ठीक न उतरेगी। तब क्या जवाब उसके पास है। अपनी यह हार मान लेने को वह तैयार नहीं। और मौंचू से अब क्या कहे, अजीब उलझन मन ही मन उमड़ रही थी। फिर मौंचू ऐसा आदमी है कि अपने आगे दीन-दुनिया कुछ नहीं समझता। जैसे वह बहुत बड़ा हो, और अपनी बात रख सकता है। वह बोली ही—"चले चलने में कोई बात तो है नहीं।"

"और चलकर वहाँ हीरा-जवाहरात भी तो नहीं मिल जावेगा।"

उत्तर भले ही सीधा था, पर वक़्त का न था। मीला को कुछ अब कहना बाक़ी न रहा। अपना एक आत्म-सम्मान आगे आया। ख़ुद ही फ़ैसला किया, ख़ुशामद अब और ठीक नहीं। चुपचाप चली गई और ज़रा देर में मौंचू के आगे से ओझल हो गई।

इस घटना के दूसरे ही दिन मीला चली गई थी। मौंचू अब कुछ अपने ही में कुढ़ता रहने लगा। सात-आठ दिन जो उसे वहाँ काटने पड़े थे, बड़े उदास लगे। उन दिनों वह लड़कियों के गिरोह में कहीं दुबकी हुई मीला को ढूँढ़ लेना चाहता था। इतना भर समझ कर कि वह उनके बीच रही है और रहकर कहीं खड़ी हो सकती है।

मीला ने घर पहुँचते ही एक चिट्ठी बुआ को भेजी थी। वह इतनी सीधी थी कि जब बुआ ने घर भर को सुनाया, तब मौंचू ने सुनकर भी कोई ख़ुशी ज़ाहिर न की। वैसे मीला अक्सर ख़याली आहट और झलक दे भाग जाती थी। मौंचू सोचता था, यही क्या अब मीला को करना बाक़ी है। या वह गढ़-गढ़ कर बेकार परेशानी में पड़ता है, ग़ुस्सा होकर गई मीला को क्या कभी मना-बुझा सकेगा। जैसे सारी व्यवस्था एक दिन में ही याद हो, दुरुस्त हो जावेगी।

घटना उभर-उभर आती है। फिर आज........?
मीला की छोटी बहिन ने कब 'रिकार्ड' ग्रामोफ़ोन पर चढ़ाया, उसे मालूम न हुआ, 'आरकेस्ट्रा' की गूँज जब हुई, तब उसे सुनकर ख़ुशी हुई। मन बहलाने का उचित साधन उसे लगा। सारी बातों का भार हटता-हटता सा लगा।

कि मीला कमरे में आई, ग्रामोफ़ोन का 'रिकार्ड' उठाकर खिड़की से बाहर फेंक दिया। फिर बहिन को पकड़ कर बाहर घसीटती बोली—"कुछ काम नहीं, ले अब बजा, चल किताब पढ़।"—कमरे से बाहर चली गई।

ग़ुस्सा होना ग़लत नहीं, यदि वह 'वास्तव' हो। पर दूसरे को मौक़ा देना, ग़ुस्से की परिभाषा समझ लो। बात उसे उलझा जाती थी। मीला ग़ुस्से से भरी उसने पाई। नहीं, उसके चेहरे पर कोई अन्तर न था। जैसे 'वह' जीवन ड्रामा मात्र के किसी पात्र का ख़ाका खींच, मखौल उड़ा चली जाती हो। मौंचू को अब क्या समझना है, क्या नहीं, वह कुछ जानता न था। मीला के पिता अक्सर लिखते थे, इधर से गुज़रते हो, कभी तो देहात देख जाया करो। वह आया था, उसी देहात की आड़ में कुछ देख लेने, कुछ पा लेने, और........।

जीवन........; एक स्वप्न पर ही बात ख़तम हो जाती, तब ठीक था। लेकिन अक्सर मेडीकल कॉलेज में मुरदे के अङ्गों की चीर-फाड़ करते-करते आत्मा करती थी—छी, छी, छी। और वह कभी अपने ऊपर घृणा न करता था। 'रुटीन' के काम में श्रद्धा-घृणा नहीं चलती। मीला के देख लेने के बाद मुरदों की चीर-फाड़ करते-करते एक भावना उठती थी। उसकी आत्मा का 'फ़िलासफ़री' दायरा अपने में समूची मीला को समाए रहता था। छोटी-छोटी नसों, एक-एक माँस के टुकड़ों, शरीर के एक-एक हिस्से को अलग-अलग कर लेने में कुछ उत्साह आ गया था। जैसे कोई कहीं से सहारा देता—उपयोगिता में यह बुरा नहीं।

हाँ, उस दिन वह जरूर उद्विग्न हो उठा था, जब एक युवती के शरीर पर उसे अपने तेज औजार चलाने पड़े थे। वह उसी दिन एक 'डिलीवरी' केस में मर गई थी। टेबुल पर सफेद चादर से ढकी होने तक वह चुप था। चादर उठा मुँह देख वह काँप उठा। अधमुँदी पलकें, उलझी-उलझी काली लटें, सफेद पड़ा चेहरा, उस पर दो-तीन शीतला के खिले दाग। उसने मुँह पर चादर डाल दी थी। जैसे वह हिम्मत हार गया।

औजार आखिर चले। मीला की याद आई। जैसे, उस स्त्री ने सारी नारी जाति की याद दिला दी हो और याद कर लेने को मीला के अलावा दूसरा न था।

हाथ रुक गया था। सोचा था—मीला को वायलेन क्यों नहीं सुनाया। वह क्या सोचती होगी। मीला भली लड़की है। कितना कम बोलती है। चुप खड़ी रहती है। गुस्सा भी हो जाती है।

कैंची चली, शरीर का हिस्सा काटा जाने लगा। अपार श्रद्धा वह मरी नारी क्यों बाँट रही थी। जैसे वह भी कुछ अपनी हो। जैसे वह भी सगी हो, वह कहती जान पड़ी मुझे भी मीला में समझ लो।

नहीं, नहीं, नहीं . . ।

उसने उस स्त्री का मुँह ढक दिया था।

नारी और उसका शिशु—एक से दो हो गये निर्जीव।

काम से निबट कर वह और दिनों की तरह निश्चिन्त न सो सका। बार बार मीला की याद आती थी। मीला का स्वर सुनाई पड़ता—वायलेन सुना दो?

आधी रात तक जब नींद धोखा देती रही, तब उसने 'वायलेन' निकाला, बजाने लगा। बजाते-बजाते उसकी आँखें दिवाल पर टँगे निरे हड्डियों के मानव-चार्ट पर पड़ीं। वह मुस्कराता लगा। उसकी हड्डियाँ भी एक दूसरे से टकरा कर बजती लगीं- टुन, टुन, टुन।

वायलेन के तार टूट गये। वह पसीने में डूब गया। डर कर फिर रात भर वह सो नहीं सका।

लगा वह हड्डियों वाला चार्ट कहता—ओ मीला? ओ मीला??

फिर, फिर—मौचू पागल है? मौचू पागल है??

और, और—बच्चा सुन्दर था? बच्चा सुन्दर था??

ऐसी थी मीला, जो पहली देखा-देखी में मौचू पर गहरा प्रभाव छोड़ गई थी। मेडिकल कॉलेज का सारा वातावरण—पट्टियाँ, दवा की बदबू, कारबोलिक, टिंचर, मुर्दे की चीर-फाड़, नसों की फरफराहट, भिन्न-भिन्न मनुष्यों की आकृति की निर्जीवता के बीच, भारी हृदय को मीला सुझाती लगती—ठीक तो है।

बड़ी-बड़ी पोथियों के ढाँचे वाले चित्र, अलग-अलग अङ्गों के टुकड़े-टुकड़े किए स्केच, सुझाते थे—यही है मनुष्य मौचू?

'झूठ, झूठ, झूठ . .।' मीला जैसे अपनी गुलाबी साड़ी पहिने सजी मोतियों की माला झुलाती कहती-कहती ओझल हो जाती।

'प्रिस्क्रिपसन' लिखते-लिखते, कभी-कभी हाथ रुक जाता। तब याद आते, बुआ के नाम आए चिट्ठी के चार अक्षर। जैसे वही भाषा अब वह दवा के नामों से जोड़ता, रोगी के खयाल के साथ मीला को भी पास रखना चाहता हो।

मौचू को तब ही लगा था कि मीला उसे चाहिए, उसकी बातें ठुकराने की चाहना उसे नहीं। दो-तीन दिन साथ रहने पर ही वह उसे अपने पास रखना चाहता था। पहिले पहल उसके हृदय में बात उठी कि यह ठीक नहीं। क्या सच ही वह उसे पा लेगा। चाहना को समझ से तोलता, तो बात खरी उतरती थी। झगड़ा जो बीच में पड़ा था, वह भुला देता। जैसे मीला जरूरत हो, पर झगड़ा जरूरी नहीं।

मीला के छोटे भाई ने आकर कहा—"घूमने नहीं चलोगे?"

'घूमने ।"—मौचू ने दुहराया, फिर ज़रा रुककर पूछा—"तरी जीजी कहाँ है?"

"वह अभी-अभी घूमने चली गई।"

बस मौचू ने कपड़े पहिने और बच्चे के साथ बाहर निकल गया। छोटे-छोटे खेतों को पार करते-करते एक खेत की मेड़ पर बैठ गया। दोनों मटर की फलियाँ खाने लगे।



मीला ने मौंचू को देख लिया था। दोनों के बीच ईख का ऐसा घना खेत था कि पास-पास होने पर भी वह मौंचू की नज़र से बाहर थी।

मौंचू ने बच्चे के 'मुँह का बाजा' उससे ले लिया और बजाने लगा। जैसे भले ही बचपन धोखा दे गया हो, लेकिन दुनिया और अपने लिए वह आज भी बच्चा ही बना रहेगा। बड़ी देर तक वह बाजा बजाता रहा। मटर की बड़ी-बड़ी फलियों की ढूँढ़ करते-करते बच्चे ने जीजी को पकड़ लिया और चिल्लाया—"जीजी, जीजी.........?"

मौंचू ने कुछ सुना नहीं। बाजा बजाते-बजाते दीन-दुनिया की फ़िक्र न थी। बच्चा दौड़ा, मौंचू के पास आया और झकोरते बोला—"जीजी पास बैठी है। वहाँ चलो......।"

मौंचू जब तक उठा था, मीला कहीं छुप गई थी। मौंचू फिर बैठ कर बाजा बजाने लगा। बच्चा जीजी की ढूँढ़ में इधर-उधर, खेतों-खेतों में ईख के बीच घूमता-फिरता आखिर घर पहुँच गया।

धीरे-धीरे रात पड़ने लगी। मौंचू को घर जाने की फ़िक्र न थी। वह मेंड पर बैठा बाजा बजा रहा था। जैसे बजाता ही रहेगा।

मौंचू चौंका, पास मेंड़ पर बहती नाली से पानी उछल कर उस पर गिरा। उसने इधर-उधर देखा। कोई न था। वह अपने कपड़ों को झाड़कर फिर बाजा बजाने लगा।

दूसरा ढेला पानी में गिरा, पानी उछला। छींटे कपड़ों पर आए, उसने फिर इधर-उधर देखा। कुछ न पा बाजा बजाने लगा। ज़रा बजा पाया था कि फिर पानी उछला।

मौंचू अब चिल्लाया—"मीला।"

कुछ जवाब न पा चुपचाप बैठा रहा। बाजा एक ओर रख दिया। फिर ज़रा सामने देखा। मीला चली जा रही थी। और मौंचू ने चुपचाप बाजा उठाया और बजाने लगा। सफ़ेद खिली चाँदनी में मीला जा रही थी। मौंचू बाजा बजाता-बजाता जाती मीला को देख रहा था।

मीला कुछ आगे बढ़ कर रुक पड़ी। फिर कर देखा और खड़ी की खड़ी रही, मौंचू अब भी बैठा था और मीला खड़ी थी। दूर मीला उस खिली चाँदनी में एक छाया सी लगती थी। जैसे सफ़ेद 'कैनवेस' पर काली-काली लकीर खींच कर एक पूर्ण और सुन्दर चित्र किसी ने बनाया हो।

मौंचू उठा नहीं, बड़ी देर हो आई थी, उसने देखा, मीला की छाया उसकी ओर सरकती आ रही है। उसके पास खड़ी हो बोली—"क्या रात यहीं काट लेने की ठहरा ली है?"

"क्या हर्ज है!"

मीला जानती थी, हर्ज कुछ नहीं, फिर भी तो बात सही न थी। मीला चुप हो गई।

मौंचू ने ज़रा रुककर कहा—"मीला।"

मीला ने मौंचू को देखा, आँखें ऊपर उठीं और मौंचू की आँखों से टिकी रह गईं। जैसे आज भी मौंचू से उसे कोई लाज नहीं, शरम नहीं। वह दूर का थोड़े ही है।

"मीला तुम ग़ुस्सा हो?"

मीला ग़ुस्सा हो, हो, मौंचू से मतलब। बोली वह, "आपकी बला से।"

"मीला........."—मौंचू फिर बोला।

"क्या......?"

"जीवन एक कल्पना नहीं। जो अप्रिय है, वही सत्य है।"

कल्पना, सत्य, उसे यह सब सुन कर कोई फ़ायदा नहीं। बोली—"अपनी डायरी में सब लिख लेना। अब चलो, रात हो गई।"

"कह दो, तुम नाराज़ नहीं हो।"

"मेरी नाराज़ी! अपने घर आए मेहमान से नाराज़ी!"

"तुम ज़रूर ग़ुस्सा हो मीला!"

"नहीं मौंचू"—मीला ने कहा। फिर दब कर बोली—"बड़ी रात हो आई, चलो।"—और भाग गई।

मौंचू अवाक् रह गया। पगडण्डी पर हरी-हरी



घास। इधर-उधर खेतों में घनी बटी ईख, पास बहती पानी की नाली। और सामने भागती मीला।

बडी देर वह खड़ा का खड़ा रह गया। सोचता, मीला का बचपन क्या कभी नहीं छूटेगा। स्त्री का बचपन? क्या मीला रोज इसी तरह भागती राह दिखलावेगी! वह कैसे विश्वास करे। मीला एक कुतूहल क्यों बखेर गई। भाग गई कहती कहती—आ, आ मौचू मैं राह दिखा रही हूँ, तू चल। तू मेरा मेहमान है। और मैं तेरी ·· !

मीला क्या, कौन, वह मीला के पास क्यों आया? अब क्या चाहता है! मीला उसे क्या-क्या दे सकती है। वह और मीला चाहें, तब दुनिया से दूर इसी खेत के किनारे रह कर क्या जिन्दगी का सफर पूरा नहीं कर सकते? मीला अपने में क्या सोचती होगी! क्यों जिन्दगी में मीला इतने नजदीक आई।

वह मकान के पास पहुँच गया था। दरवाज़ा खोला, देखा, मीला खड़ी थी। वह बोली—बड़ी देर लगाई।

मौचू को कोई जवाब नहीं सूझा।

"सब लोग आपका इन्तजार कर रहे हैं।"

"मेरा ?"—मौचू ने मीला को देखा।

"हाँ, यहाँ गाँव के लोग 'बुद्धुओं' को शहर में बेच आते हैं।"—कह हँस पड़ी, फिर चुपचाप अन्दर खिसक गई।

मौचू ने कपड़े उतारते सोचा—वह बुद्धू भी है। आज का नहीं, पहिले ही से यह बात उस पर लागू थी।

रात भर मौचू को गहरी नींद आई। जैसे जीवन की कोई भारी आकांक्षा पूरी हो गई हो। कुछ पाने की भूख अब उसे नहीं है।

सुबह उठा ही था कि देखा, मीला रस का गिलास लिए खड़ी है। मौचू ने गिलास ले लिया, मीला चली गई। मौचू ने एक घूँट पी मुँह बिचका गिलास मेज़ पर रख दिया। मीला ने दरवाज़े की आड़ से देखा और हँसते-हँसते अन्दर चली गई।

मौचू काँच के पारदर्शी गिलास में भरे हरे-हरे रङ्ग के रस को देख रहा था। जिसमें पूरी मिठास थी, जिसे मीला अपने हाथों लाकर पीने सौंप गई थी। जिसकी एक घूँट की भारी मिठास को वह सह न सका था। लोग उसे गट-गट-गट पी जाते हैं—आँखें मूँदे।

मीला का छोटा भाई कमरे में आया। मौचू ने उसे पुचकार पूछा—दोस्त, चाय-वाय भी मिलेगी या नहीं?

बच्चा बोला—जीजी का घर भर में हुकुम है। चाय से तन्दुरुस्ती खराब होती है। इसीलिए शरबत पीना रू किया गया है।

"यह अच्छा कानून है"—कह मौचू हँस पड़ा।

मीला सिर्फ छेड़ने भर को शरबत सौंप गई थी। वह जानती थी, मौचू पी न सकेगा। मौचू चाहता था कि वह सब शरबत पी सकता तब अच्छा होता।

कि बच्चे ने सुनाया—जीजी आजकल अङ्गरेजी पढती है।

बच्चा देखता था, आजकल कुछ अक्षर कॉपी पर जीजी लिखा करती थी जो उसकी 'हिन्दी प्रायमरी' में नहीं मिलते। वह अङ्गरेज़ी कहलाती है।

मौचू ने मज़ाक में कहा—तू झूठ बोल रहा है।

बच्चा बोला—"सच है, मैं कॉपी दिखा सकता हूँ।"

मौचू फिर बोला—"झूठ ।"

बच्चा अपने को झूठा साबित करना नहीं चाहता था, वह कॉपी लेने चला गया।

इस बीच मौचू ने शरबत का गिलास खिड़की से बाहर फेंक दिया, फेंक चुका था कि देखा, सामने की खिड़की से मीला देख रही थी। वह चुपचाप लौट, चुपचाप कुर्सी पर बैठा, सिगरेट केस से निकाल कर बाली और चुप रह गया।

मीला का भाई कॉपी ले आया था। मौचू मीला के अक्षरों की सावधानी से जाँच कर रहा था। मीला बन आई, उसे मालूम न हुआ।

मीला बोली—"यह चोरी भी सीख गए!"

मौचू ने सकपकाते कहा—"चोरी?"

मीला ने कॉपी छीन ली, फिर पूछा—"इसे कौन लाया?"

बच्चा फुरसत पा कभी का खिसक चुका था।

मौंचू बोला--"मीला तुम बड़ा अच्छा लिख लेती हो !"

मीला ने बात पलट, कहा—"शरबत नहीं पीना था तो 'ना' कर देते। बहकाने के लिए क्यों फेंका ।"

"सिर्फ तुम्हारे डर से ।"

"मेरे डर से ?"

"हाँ, मीला ।"

मीला निरुत्तर हो गई। झगड़ने की और गुञ्जायश न थी ।

मौंचू ने मीला के हाथ से कॉपी ले ली और कहा—बैठो।

मीला पास कुरसी पर बैठ गई। मौंचू ने कॉपी खोली और अपनी जेब से 'फ़ाउन्टेनपेन' निकाल अक्षरों की दुरुस्ती कर समझाने लगा—ऐसे अक्षर होने चाहिए ।

मीला की समझ में कुछ आया या नहीं। मन ही मन वह हँसी और साचा, खेल बुरा नहीं।

मौंचू को कुछ कहना जरूरा था। वह चुप कैसे रह सकता था। कहना शुरू किया - "अक्षरों से मनुष्य के हृदय की भावना मालूम होती है। उसकी लापरवाही, उसकी दृढ़ता, उसका साहस - इन अक्षरों के कोणों में साफ़ चित्रित होता है।"

मीला को यह सब समझना न था। न वह समझी, न वह पूरे ध्यान से सुन रही थी। यह कैसा सबक़ है। वह जैसे अनजान थी। 'किङ्ग प्रायमरी' की तरह अनजान, जिसे बच्चा खिलौने की तरह सँवार कर रखता है। पहिले उस पर जिल्द लगा हिफ़ाज़त करता है, फिर उसी से लापरवाही से खेलता है। उस पुस्तक से उतनी सावधानी नहीं बरतता, समझकर कि वह कोई क़ीमती चीज़ नहीं।

एकाएक मीला बीच में ही उठ बैठी, अपनी गिरी साड़ी को सिर पर सँवारा और "चाय को मैं भूल ही गई थी।" यह कहती चली गई।

मौंचू जैसे मीला को कभी समझ न सकेगा। यह बात उसके मन में अनजाने उठी। लगा, मीला एक समस्या और पहेली ही उसके लिए आजीवन रह सकती, तब। जितना वह समझता मीला के नज़दीक है, लगता मीला उतना ही आगे बढ़ गई है, कभी पकड़ में नहीं आवेगी।

दार्शनिक के समान उसने सिगरेट-केस से सिगरेट निकाल धुएँ में अपने को डुबा दिया। उसी के सहारे कुछ ढूँढ़ लेगा—सोचकर, फिर सिगरेट मेज़ पर रख दी। गम्भीर चिन्तन में डूब गया। आज एक नई ख़ुशी मन में थी, वह कुछ दिल में टटाल रहा था। अपने विश्वास पर, जो खोया था, उसे 'ढूँढ़' समझ कर।

मीला ने कमरे में आकर देखा, मेज़ पर सिगरेट सुलग रही थी और साथ ही उसका बुना मेजपोश धुआँ दे रहा था। उसने चाय मेज पर रख दी। मौंचू ने मीला को देखा, मीला ने मेज़पोश को। मीला खड़ी रही। चाय का प्याला उसे सौंपा। वह ऐसा अनजान बना चाय पीने लगा, जैसे मेज़पोश की खबर, या सिगरेट से अब उसे मतलब नहीं। वह चाय चाहता था, मिल गई, उसे पी अब वह निश्चित हो जावेगा। बात सिर्फ़ चाय की चुस्कियाँ थीं और तो...?

मीला की आँखें मेज-पोश पर लगी थीं। वह सोचती, वह लाल-लाल बनाया फूल ही क्यों जला। वही जो उस पर सजता था। अब मेज़पोश बेकार है; मन ही मन उसे, मौंचू पर ग़ुस्सा आ रहा था। कह वह सकती न थी। मन ही मन कुढ़ी।

मौंचू अब समझा। मीला के मेज़पोश की फ़िक्र उसे लगी। सुलझाने को बोला—"आगरे में बड़े अच्छे मेज़पोश मिलते हैं। अब लौटते वक़्त कुछ ले आऊँगा।"

मीला कट गई, सुनाया—"वे आपको ही मुबारक हों।"

मौंचू ने बात साबित करते कहा—"अब तो नए-नए 'डिज़ाइन' चल पड़े हैं।"

"अपने लिए खरीद लीजिएगा, हमारे लिए यही अच्छे हैं।"—कह मीला बिना जवाब पाये ही चली गई।

थोड़ी देर बाद घर का नौकर आया और मेज़ पर से मेज़पोश उठा, उस पर बाज़ार का खरीदा सफ़ेद मेज़पोश बिछाने लगा।

मौंचू ने उससे पुराना मेजपोश माँग लिया और उसके एक कोने में सुन्दर छोटे-छोटे अक्षरों से लिखा—"मौंचू।"

नौकर के चले जाने पर उसने सुबह का अखबार उठाया और पढ़ने लगा।

मीला के भाई ने आकर बाजा माँगा। मौंचू ने बाजा देते हुए पूछा—"तेरी जीजी क्या कर रही है?"

"मेजपोश पर फूल काढ रही है।"

वह बोला—"जा कह आ ज़्यादा काढने से आँखें फूट जाती हैं।"

बच्चा जवाब लाया—"डॉक्टरों का फायदा होगा।"

मौंचू को उसी सन्ध्या को जाना था। मीला चुप रही। वह जानती थी, छुट्टी बीत गई है। और उसी सन्ध्या को मौंचू चला गया था।

'फाइनल' की वजह से मौंचू को पढाई से फ़ुरसत न मिलती थी। कभी-कभी मीला की चिट्ठी आती थी और वह चार सीधी लाइनों में जवाब दे देता। मीला घुमा फिरा, दुहरा-दुहरा न जाने क्या-क्या लिखती थी। कई बार बीच-बीच में माफी माँग लेना, उसकी आदत हो गई थी। कहीं-कहीं लाइनें इतनी बुरी कटी रहती थीं कि उसका 'माइक्रसकोप' भी धब्बों के अलावा, उन मिटी लाइनों के भीतर छुपा रहस्य जान न सकता था।

जिन्दगी का एक लम्बा अरसा गुज़र जाता है, एक-एक दिन करके कटते हैं, जैसे उनको बीत ही जाना है। मनुष्य कुछ समझता नहीं, बूझता नहीं। महीना खतम होने पर 'कैलेण्डर' का एक पन्ना फाड़ ज़मीन पर फेंक कर ही जैसे अपना कर्तव्य निभा दिया। उसके आगे अपनी मुसीबतों और परेशानियों के अलावा कुछ सोचने-समझने का सवाल नहीं रहता है। मौंचू और मीला का सिर्फ चिट्ठियों का सम्बन्ध नहीं रहा। काफी अरसे तक पत्र चलते रहे। एकाएक मीला के पत्र आने बन्द हो गये। मौंचू ने इसका कुछ ख़याल नहीं किया। और आठ महीने बात की बात में कट गये।

उस दिन मौंचू रात्रि को एक मुरदे की चीर-फाड़ करता हुआ अपना सबक 'हॉल' में याद कर रहा था। औजार लेंस,. ... । यह नई बात न थी। वह चुपचाप खड़ा था, उसने देखा मुरदा उठ बैठा और चिल्लाता लगा—"ओ मीला? ओ मीला?"

मौंचू सन्न रह गया। घबराया हुआ वह पास के दूसरे हॉल में गया। मित्रों से सब कुछ कहा। दोस्तों ने समझाया कि अक्सर फेफड़ों में हवा भर जाने से मुरदे इस तरह उठ जाते हैं।

रात्रि को मौंचू को नींद नहीं आई। बिजली का बल्ब 'स्विच' दबा बन्द किया था कि ऐसा लगा—सामने जो सिर का ढाँचा बना चार्ट था, उसकी आँखें एकाएक चमक उठीं, उसका मुँह खुल गया। वह चिल्लाया—"मीला? मीला?"

वह उदभ्रान्त हो उठा। उसने बल्ब जला लिया। निरे हड्डियों में सीमित चार्ट पर देखा। उसका हाथ उठा, कुछ लिख रहा था। मौंचू ने पढा—"मी. ला।"

वह अब जरा सँभला। उसने अपनी आलमारी खोली। मनीबेग निकाला। कपड़े पहिन बाहर निकला और स्टेशन पहुँच गया।

अगली सुबह वह मीला के गाँव उतरा। चुपचाप मीला के घर की ओर बढ़ा। दरवाजे पर देखा, मीला के पिता खड़े थे। मौंचू को देख वह अवाक् रह बोले—"इत्तला भी न की, गाड़ी भिजवा देते।"

मौंचू चुपचाप उनके साथ गोल-कमरे की कुर्सियों में बैठा था। मीला का भाई आया, पिता जी से बोला—"जीजी ने बुलाया है।"

मौंचू अवाक्, कुछ उसकी समझ में न आया। उसका पिता बोला—"चलो!"

मौंचू ने मीला के कमरे में जाकर देखा। वह पीली सफेदी लिए बिस्तर पर पड़ी थी। मौंचू को देख-कर वह उठी, उसका हाथ अपने में ले बोली—"मैं जानती थी तुम ज़रूर आओगे।" और थकी बिस्तर पर लेट कर बेहोश हो गई।

मौंचू यह देखने न आया था। ऐसी परिस्थितियाँ जीवन में पहली बार आई थीं। वह चुपचाप खड़ा का खड़ा ही रह गया।

सामने खड़े डॉक्टर ने मीला की 'पल्स' देखी। मीला के पिता से कुछ कहा। मौंचू सब कुछ समझ गया।







(१) मिस [illegible] पी० एच० डी०—आप पञ्जाब की सर्व-प्रथम मुस्लिम महिला हैं, जिन्होंने एम० ए० पास किया है। आप हाल ही में यूरोप से लौटी हैं।

(२) मिस मारगैरा चौफिन, इसाबेला कॉलेज लखनऊ—आपको सर्वोत्तम निबन्ध लिखने की प्रतियोगिता में पदक प्रदान किया गया है।

(३) मिस सावित्री के० नैन, बी० ए०—आपने सिटी गिल्ड ऑफ लन्दन से कपड़े छापने और सजाने की कला में सर्टीफिकेट प्राप्त किया है।

(४) मिस यू० ड्यूक—(बायीं ओर) आपने बेडमिंगटन टूर्नामेंट में विशेष रूप से सफलता प्राप्त की है।

(५) श्रीमती भगवती अम्मा, बी० ए०—आप ट्रावनकोर के नाडू वेंगड स्थान में सब-रजिस्ट्रार नियुक्त की गई हैं।

मौंचू यह सब न सह सका। चुपचाप बाहर हो लिया। दरवाजे से बाहर निकला था कि मीला के छोटे भाई ने पुकारा।

मौंचू रुक पड़ा।

उसने मौंचू के हाथ में लिफाफा दिया, कहा—"जीजी ने कहा था, जब वे आवें दे देना।"

मौंचू ने लिफ़ाफ़ा जेब में खोंस लिया। आगे बढ़ा, बढ़ता ही चला गया। स्टेशन पहुँचा। चलती गाड़ी में उसने लिफाफा खोला, पढ़ा।

"मौंचू,

तुम्हारी अम्माँ नहीं चाहतीं कि छोटे घर की लड़की से तुम्हारी शादी करें। लेकिन तुम तो बड़े नहीं, तुम भी बड़े हो क्या? इन्कार करने वाला कोई पास नहीं।

तुम्हारा बड़ा होना ही........? तुम्हारी

मीला"

× × ×

मौंचू ने 'सिगरेट केस' से सिगरेट निकाली और दियासलाई जलाई। फिर जली दियासलाई चिट्ठी को दिखा, चिट्ठी खिड़की से बाहर फेंक दी।

☾ ☾ ☾

गीत

[श्री० 'राकेश' साहित्यरत्न]

मैं सजल मधु-मास—
चञ्चला, रिमझिम बरसती श्रावणी का हास!
मैं सजल मधुमास—

मृदुल, मधुमय, सुमन-वन की मैं सुगन्ध समीर,
इन्दु-विधुरा यामिनी के मृदु हृदय की पीर!
ओस-सा पर प्रेम का मानों विफल आयास!
मैं सजल मधुमास—

चाह के उजड़े भवन की मैं बिखरती याद,
मान के आकाश की भूली हुई मर्याद,
मोतियों का किन्तु वैभवमय सरस आवास!
मैं सजल मधुमास—

शिशिर की हिम-तामसी का आह! मैं प्रतिवेश,
ज्योति-आशा की मलिन-सी पर अभी अवशेष,
अचिर यौवन का करुण जीवन भरा आभास!
मैं सजल मधुमास—
चञ्चला, रिमझिम बरसती श्रावणी का हास—



आजकल के युवक और युवतियाँ किधर को जा रही हैं ?

[श्रीमती शिवरानी देवी]

जो लड़के और लड़कियाँ आजकल कॉलेज और यूनिवर्सिटियों मे पढ रहे है, उनको देख कर यही कहना पड़ता है कि इनका दुनिया से कोई सम्बन्ध नही। उन्हें पैसे की धुन सवार रहती है। माँ-बाप अपना पेट काट कर किसी भी प्रकार पैसा इकट्ठा करके भेजते है। उस पैसे का उपयोग यह होता है, कि सिनेमा देखते है और साथ ही साथ विलासिता की चीजें इकट्ठा करते हैं। क्या उन युवकों और युवतियों से उनके माँ-बाप को भविष्य के लिए कुछ विशेष आशा करनी ठीक है ? अधिकाश माता-पिता समझ गए है कि उनसे कुछ भी आशा करना निरा भूल है। फैशन का भूत उनको हरदम अपने चङ्गुल में रखता है और उदारता तथा इन्सानियत तो इनसे कोसों दूर भागती है।

यह जब कभी घर आते है, तो इनको घर अच्छा नहीं लगता, क्योंकि घर में कॉलेज की बू कहाँ! वहाँ तो वही पुराना चूल्हा, चौका, चक्की और ओखली है, जिससे इनका मन और भी नही लगता, जिसका खास कारण यह भी है कि वह अङ्गरेजी रहनसहन नहीं है, जैसा कॉलेज और बोर्डिङ्ग मे था।

घर में सभी माँ बाप छुट्टियों की राह देखते रहते हैं कि अब लड़का आवेगा। इधर जब ये आये तो उसी दिन से रोना शुरू हो गया। तुम सब कैसे हो, जो इस तरह से रहते हो और मैं क्या कहूँ, तुम लोगों को कब तमीज़ आयेगी। अगर किसी ने उसी पर बोल दिया कि हम ऐसे नहीं रहेंगे तो फिर मुश्किल है।

जब लड़का घर में आता है तो माँ बहुत ही प्यार के साथ कुछ न कुछ नई चीज़ बना कर ख़ुश होती है। यह चीज़ उनको कॉलेज में जाने के पहले बहुत ही अच्छी लगती थी। वही चीज़ आज माँ खाने को देता है, जहाँ रहते है वहा लेकर दौड़ी हुई जाती है। यदि बहुत कृपा की तो खा लिया, वर्ना डाँट कर बोले—क्यों मुझे तङ्ग किया करती हो। मा ने फिर भी प्यार के साथ कहा—नहीं बेटा, खा ले, देख बहुत अच्छी चीज़ है, तो बहुत किया तो थोड़ा सा उठा कर मुँह में डाल लिया और उदासीनता के साथ बोले—क्यों कूड़ा-कचरा लेकर पहुँच जाती हो ?

माँ बेचारी आँखों में आँसू भर कर चली आई, और जो प्रेम था वह थोड़ी देर के लिए ख़तम हो गया। अफ़सोस करने लगी कि इन्ही के लिए मैं रात दिन तपस्या करती हूँ, और जब से पेट में आये तब से लेकर आज तक इन्ही के लिए तपस्या करती रही हूँ। अब मेरे हाथ क्या लगा। इससे तो वे ही स्त्रियाँ अच्छी हैं जिनके कोई बच्चा नही है।

मैं बेवकूफ हूँ जो सोचती हूँ कि अगर एक बार भी हँस कर माँ कहता, तो मैं निहाल हो जाती। लेकिन वे लड़के स्नेह करना ही भूल चुकते है, इतना भी नहीं कर पाते।

अगर मैं कहूँ कि यह सब अङ्गरेजी शिक्षा की बरकत है सो भी नही, क्योंकि उनमें भी तो बड़े छोटे का ख़याल और आपस में मुहब्बत रहती है। उनको तो सुनती हूँ कि नौकर एक गिलास पानी देता है, तो धन्यवाद देकर पानी पीते हैं। यह विद्या की ख़राबी कही नहीं जा सकती। हार कर यही कहना पड़ता है कि हमारे इन नवयुवकों में चरित्र का अभाव हो गया है। हम उनको

विद्वान् बनाना चाहते हैं और वे उसके विपरीत बनना चाहते हैं। इसको अपनी क़िस्मत और उनका अभाग्य ही कहना चाहिए। जहाँ के ऐसे युवक हों, जिनको अपने को छोड़ कर दुनिया में किसी से मतलब नहीं, वहाँ की हालत कैसे सुधर सकती है। घर में औरों को चाहे रोटी न मिले, लेकिन इनको सिनेमा के लिए पैसा रोज़ चाहिए। कभी-कभी महात्मा लोग आकर उपदेश दे जाते हैं, उस उपदेश को ये नवयुवक घर पहुँचने के पहले ही भूल जाते हैं। अगर किसी ने उनकी तारीफ़ भी की तो बेदिली से, जिसमें कोई तथ्य ही नहीं रहता। कुछ युवक वहाँ भी ढोंगी की तरह बैठे रहते हैं, देखने में बहुत ही शरीफ़ मालूम देते हैं, किन्तु वे ही पीठ पीछे बेचारे की निन्दा करते है।

इन युवकों को ब्याह से दिन पर दिन घबराहट होती है। जिनका ब्याह पहले ही हो गया है, उनकी देवियों का यह हाल है कि जैसे कोई लौंड़ी हों। वे पसन्द नहीं आतीं; परिणाम यह होता है कि वे माँ-बाप के सिर रहती हैं। ऐसे युवकों से कोई धर्म-कार्य नहीं होता, वे हृदयहीन होते हैं, क्योंकि इन्हें पैसा सब से ज्यादा प्यारा होता है।

इनकी स्त्रियों को अपने पति से सच्चा प्यार नहीं मिलता। कैसे वे प्रेम कर ही सकते हैं; क्योंकि जो लड़का अपनी माँ को प्यार नहीं कर सकता वह अपनी स्त्री को भी प्यार नहीं कर सकता। जो बाहरी रूप और विलासिता का भूखा है, वह क्या जाने कि सच्चा प्रेम कौन सी बला है; क्योंकि ये सब चीज़ें स्थायी नहीं होती हैं। और फिर जो लड़का अपने माँ-बाप, भाई, बहन, कुटुम्बियों तथा नातेदारों को आदर की दृष्टि से न देख सका उससे किसी प्रकार की भलाई की आशा करना ही बालू पर भीत उठाने के समान है।

उन देवियों का जीवन बड़ा दुखमय हो जाता है और किसी प्रकार इस लोक को छोड़कर भागना चाहती हैं। युवकों की ऐसी हालत देखकर अब पढ़ी-लिखी युवतियों का भी यही हाल है। होना भी स्वाभाविक है; क्योंकि जब बदन के एक अङ्ग में रोग लग जाता है, तब दूसरा अङ्ग कैसे निरोग रह सकता है! इसी प्रकार पुरुष और स्त्री हैं। जब एक में रोग लग गया तब दूसरा कैसे अच्छा रह सकता है?

जब यह युवक कॉलेज से पढ़ कर निकलते हैं, तब उनकी हालत और भी ख़राब हो जाती है। सरकारी जगह तो मुश्किल से सौ में से पाँच को मिलती हैं और यहाँ सभी उसी एक रङ्ग में रँगे हुये हैं। तब घर में नोच-खसोट करते हैं। बाप चाहता है कि ख़ुद अपना बोझ मेरे सिर न रक्खें; क्योंकि उनसे और कोई आशा तो रहती नहीं। अब जो छोटे-छोटे बच्चे हैं, उन्हीं का लालन-पालन काबू से बाहर है।

अब किसी आदमी को यह न समझना चाहिए कि मेरे बच्चे बड़े हुये हैं तो भविष्य में मुझे आराम देंगे।

वर्तमान स्थिति में बच्चों का पैदा होना एक बोझ-सा होता है। ख़ुशी तब होती थी जब लड़के माँ को माँ, पिता को पिता समझते थे और उनकी आज्ञाओं का पालन करते थे। अब तो यह हाल है कि ये हमारी सारी ज़िन्दगी का रोग हो जाते हैं।

यदि कहीं बाप मर गया तो समझ लो और भी मुश्किल हुई; क्योंकि और छोटे लड़के उनके ज़िम्मे रहते हैं। अगर कुछ सम्पत्ति छोड़ कर मरा है तब तो पूछना ही क्या है, उनकी चाँदी है। कठिनाई उन बच्चों की है, जो छोटे हैं। माँ को भी कठिनाई है; क्योंकि पैसा नष्ट हो जाने पर उसी को सब से ज़्यादा कष्ट उठाना पड़ता है। लड़के समझते हैं कि इनका क्या है, सब हमारा है। उस ग़रीब माँ को रात-दिन मौत की बाट जोहनी पड़ती है। अगर कहीं संयोग से लड़के बालिग़ हैं तो पिता की एकत्रित की हुई सम्पत्ति टुकड़ों में बँट जाती है और वह किसी के काम नहीं आती।

अब माँ के लिये क्या है! अगर माँ के भाई शरीफ़ हैं तो यहाँ की ग़ुलामी छोड़ कर अपने भाई के घर चली जाती है; क्योंकि अब उसके रहने के लिए और कोई स्थान रिक्त नहीं है। और जो माँ चालाक हुई तो वह पहले ही सबको समझ लेती है और जो कुछ भी घर में पति के पास होता है उसे अपने नाम करवा लेती है। तो भी

उसको अपनी कमाई खाना भी मुश्किल कर देते हैं और समझते हैं कि हम तो अपने बाप की सम्पत्ति खाते हैं।

जो योग्य हैं उनका उद्देश्य होता है खुद कमाना और खाना। माँ, भाई और बहन क्या खाते हैं, उससे कोई मतलब नहीं। कोई मर भी जाय तब भी नहीं पूछेंगे। कोई शरीक हुआ, कभी कुछ कहा, तो उसका जवाब यह है कि मैं किसी का जिम्मेदार नहीं हूँ। बाप के दौलत छोड़ जाने पर ऐसा होता है। अगर बाप कुछ न छोड़े तो उन गरीबों को कौन पूछने वाला है ?

युवतियाँ भी ऐसी दशा देख कर ब्याह से घबड़ाती हैं। बच्चों को तो वे रोग समझती हैं और उनका समझना ठीक भी है। कब तक वे ही तपस्या करें। उनको कभी सुख नहीं मिलता, ऊपर से लौंडी बनना पड़ता है। क्यों अपने लिये ऐसे रोग को पालें। बहुत दिन तक तो प्रेम किया, त्याग किया, समाज को ज़िन्दा रक्खा। जब सब कुछ उनके विपरीत हो गया तो जी टूट गया। ऐसी दुनिया किस काम की जिसके पीछे रोने में सारी जिन्दगी कटे और कोई फल न निकले। इससे फायदा ही क्या है।

अब वह भी उसी तरह रहना चाहती है, जैसे शिक्षित युवक हैं। अब इन दोनों को रोकना भी अपने काबू से बाहर मालूम होता है। यह हम लोगों के रोकने से नहीं रुकेगा, जब उनको खुद समझ आयेगी तब रुकेंगे, या मिट जायेंगे। क्योंकि ऐसा भी होता है कि जब कोई बीमारी थोड़ी होती है, तब कोई उसकी परवाह नहीं करता है। पर जब वही बीमारी ज़ोर पकड़ लेती है, तब हम जी लगाकर दवा करते हैं।

ठीक यही हाल समाज की व्यवस्था का है, अब किसी को दबाना व्यर्थ सा मालूम होता है, क्योंकि घर-घर का रोना है। यों तो अच्छे और बुरे हमेशा थे और हमेशा रहते हैं और रहेंगे, किन्तु जिसकी तादाद ज़्यादा होती है वही बड़ा माना जाता है। फिर ऐसी हालत में हम क्यों स्त्रियों को ही दबाकर रहने का उपदेश देते रहें। यह तो उसी तरह हुआ, जैसे दो आदमी मैदान में लड़ने को आये हों। उनमें से एक का हाथ दूसरे ने जबरदस्ती पकड़ लिया, जिससे दूसरा हमको मार बैठे। गुरुजन भी मार खाने वाले ही को उपदेश देते हैं।

मेरे खयाल में सबसे पहले युवकों को ठीक करना चाहिए, क्योंकि उन्हीं की खराबी देखते देखते युवतियों को मर्ज लगा है। अब जब उनका रोग छूटेगा, तब युवतियों को भी निरोग कर पायेंगे। इसलिए हमारे गुरुजनों का कर्तव्य है कि पहले युवकों को ठीक रास्ता बतला देवें। क्योंकि इसके बग़ैर कोई दवा कारगर नहीं हो सकती।

इस समय समाज की हालत दिन पर दिन बहुत ख़राब होती जा रही है, क्योंकि अब कुटुम्ब से सुख शांति मिटती चली जाती है। जो स्वर्ग कहलाता था, वही आजकल नर्क से भी खराब माना जाता है। अब तो यह हवा प्रत्येक गाँव के प्रत्येक घर में पहुँच चुकी है जिसको रोकना मुशकिल हो गया है।

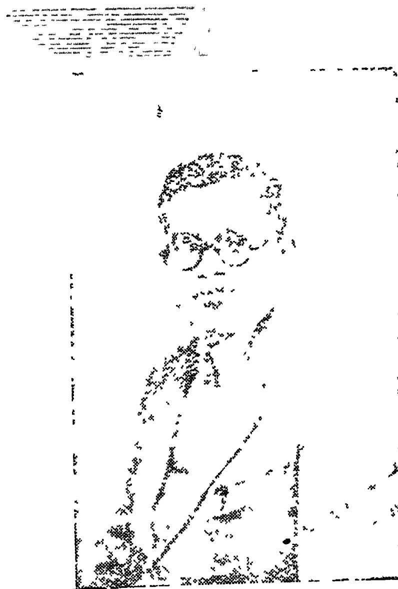


भारतीय मातृत्व की समस्या

[श्री० रामनारायण "यादवेन्दु" बी० ए०, एल-एल० बी०]

हमारी सामाजिक समस्याओं में सब से अधिक महत्वपूर्ण और राष्ट्रीय स्वास्थ्य से अधिक निकट समस्या है—मातृत्व की रक्षा। हमारे राष्ट्रीय स्वास्थ्य की हीनता का सबसे बड़ा कारण है हमारी माताओं का हीन स्वास्थ्य। यह समस्या इतनी महत्वपूर्ण है कि इस ओर प्रत्येक देशवासी का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक है। परन्तु यह अतीव खेद-जनक बात है कि भारत में मातृत्व की समस्या की ओर सब से कम ध्यान दिया जाता है। भारत के पबलिक हैल्थ कमिश्नर ने अपनी सन् १६३४ ई० की स्वास्थ्य-रिपोर्ट में लिखा है :—

"माता के लिये पौष्टिक भोजन की कमी, अधिक जन्म, माताओं की अधिक संख्या में मृत्यु, समय से पूर्व परिपक्वता, श्वास-सम्बन्धी रोग, कम्हेडा, मलेरिया और उपदंश, शिशु-रक्षा सम्बन्धी व्यापक अज्ञानता आदि के कारण भारत में शिशु-जीवन का भीषण ह्रास होता है।"



भारतवर्ष का क्षेत्रफल ८,६०,००० वर्गमील है। ३१० व्यक्ति एक मील औसत के क्षेत्रफल में निवास करते हैं। सन् १६३४ ई० में ६२½ लाख व्यक्ति उत्पन्न हुए और ६६ लाख व्यक्ति मर गये। १००० व्यक्तियों में ३४ व्यक्ति उत्पन्न हुये और २५ मृत्यु को प्राप्त हो गये।

ब्रिटिश भारतवर्ष में सन् १६३४ में जो मृत्यु हुईं उनमें ४२ प्रतिशत बालक-बालिकाए थीं, जिनकी आयु ५ वर्ष से कम थी। ५ वर्ष से १० वर्ष तक की आयु के बालक ६ प्रतिशत थे। इस प्रकार १० वर्ष तक के बालकों की मृत्यु ४८ प्रतिशत हुयी।

इस प्रकार सन् १६३४ में १० वर्ष तक की आयु के ३३,१२,००० बालकों की मृत्यु हुई। मातृत्व के पतन और बालकों की इस भीषण मृत्यु-संख्या के कारणों पर विचार करने से पूर्व यह उचित होगा कि हम पाठकों के लाभार्थ संसार के देशों के साथ भारत की जन्म और मृत्यु-संख्या पर प्रकाश डाल दें।

देश का नाम	जन्म-संख्या प्रति एक हजार पर	मृत्यु-संख्या प्रति एक हजार पर	स्वाभाविक-वृद्धि १ हजार पर	१००० जन्म पीछे बाल-मृत्यु
ब्रिटिश भारत	३३·७	२४·६	८ ८	१८७
इङ्गलैण्ड	१४ ८	११ ८	३ ०	५६
स्काटलैण्ड	१८·०	१२·६	५ १	७८
बेलजियम	१६ ०	१२·२	३ ८	८२
जेकोस्लावाकिया	१८ ८	१३ २	५·६	१२६
डेनमार्क	१७·८	१० ४	७·४	६४
फ्रान्स	१६ १	१५ १	१·१	६६
जर्मनी	१८ ०	१०·६	७·१	६६
हङ्गेरी	२१ ४	१४·४	७·०	१५०
इटली	२३·२	१३·१	१०·१	६६
नीदरलैण्ड	२०·७	८·४	१२·३	४३
नारवे	१४·८	६ ८	५ ०	—
पोर्तुगाल	२८·४	१६·६	७·८	—
रूमानिया	३२ ४	२० ७	११ ७	१८२
स्पेन	२६ २	१५ ६	१० ३	११३
स्विटजरलैण्ड	१६·२	११ ३	४ ६	४६
स्वीडन	१३·७	११ २	२·५	४७
कनाडा	२०·४	६·४	११·०	७२
न्यूजीलैण्ड	१६·५	८·५	८·०	३२
दक्षिणी अफ्रीका (गोरी)	२३·५	६·७	१३·८	६२
संयुक्त-राष्ट्र अमरीका	१७·१	११·०	६·१	६०
जापान	३० ०	१३ ०	११·६	१२५
मिश्र	४० ०	२६·६	१३·४	१६६

उपरोक्त आँकड़ों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि मिश्र, रूमानिया, जापान और ब्रिटिश भारत में जन्म-संख्या का अनुपात अधिक है। सब से अधिक मिश्र में है। इसके बाद दूसरा स्थान ब्रिटिश भारत का है। मृत्यु-संख्या का अनुपात मिश्र में सब से अधिक है और इसके बाद भारत का स्थान दूसरा है।

भारतवर्ष में बाल-मृत्यु की संख्या सब से अधिक है। इससे कम क्रमश रूमानिया, मिश्र, हङ्गेरी और जेकोस्लावाकिया में है।

सर जोन मैगर् के कथनानुसार भारतवर्ष में दो लाख माताएँ प्रसव-सम्बन्धी रोगों से मर जाती हैं। सन १९३१ की 'सेन्सस रिपोर्ट' के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में सन १९०१ से पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की जन-संख्या क्रमश न्यून होती जा रही है। प्रकृति-माता ने बालिका को जीवन सङ्घर्ष में विजय प्राप्त करने के लिये अधिक योग्यतम बनाया है। किन्तु भारत में बालिका प्रकृति-दत्त-लाभ से वञ्चित कर दी जाती है। बाल्यावस्था में उसके पालन-पोषण की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना ध्यान बालक के पालन-पोषण में दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अपरिपक्वावस्था में मातृत्व के गुरुतर भार से वह अपने जीवन को सङ्कट में डाल लेती है।

मातृत्व की इस हीनावस्था के मुख्यत निम्न-लिखित कारण हैं —(१) बाल-विवाह (२) गर्भावस्था में भावी माता की अज्ञानता (३) पौष्टिक भोजन की न्यूनता (४) स्वास्थ्य-विज्ञान (Personal Hygine) से अनभिज्ञता (५) पर्दा (६) प्रसव और धात्रियों की अज्ञानता (७) सन्तति निग्रह के प्रचार का अभाव (८) स्वास्थ्य के प्रति नारी की उदासीन प्रवृत्ति।

बाल-विवाह

सामाजिक दृष्टि से ही नहीं, राष्ट्रीय स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बाल-विवाह की प्रथा अत्यन्त हानिकारक है। सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार १, २२, ७१, ५६४ विवाहित स्त्रियाँ और ५५, ३०, ६२५ ऐसे विवाहित पुरुष मौजूद हैं, जिनकी आयु अभी १४ वर्ष से कम है। जन-संख्या के प्रति सहस्र विवाहित व्यक्तियों में १५ वर्ष तक की विवाहित स्त्रियाँ १६१·८ हैं और विवाहित पुरुष ६८·० हैं।

बाल-विवाह का सब से प्रथम परिणाम यह होता है कि बाल पति-पत्नी यौवनावस्था के प्रारम्भ में ही दाम्पत्य जीवन

बिताने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बाल-पत्नी मानसिक और शारीरिक दृष्टि से योग्य होने से पूर्व ही मातृत्व के उत्तरदायित्व को ग्रहण करने लगती है। जिन जातियों में बाल विवाह की प्रथा प्रचलित है, उनमें पत्नी रजोदर्शन के प्रारम्भ के उपरान्त तुरन्त ही माता बन जाती है। रजोदर्शन, भारत में १२ या १३ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ हो जाता है। जोशी कमेटी ने बतलाया है कि —"अल्पावस्था में मातृत्व एक बड़ी बुराई है। यह वास्तव में, मातृ-ह्रास और शिशु-मृत्यु का कारण है। यह लड़की के शरीर का सत्यानाश कर देता है। सर जॉन मौग्र्‌ के कथनानुसार "प्रति एक सहस्र बाल-पत्नियों में से १०० बाल-पत्नियाँ प्रसव-काल में ही काल-कवलित हो जाती हैं।" और "प्रति एक सहस्र नवजात बालकों में से १८७ बालक मर जाते हैं।"

बाल-विवाह से नैतिक पतन तो होता ही है, परन्तु उससे राष्ट्रीय-स्वास्थ्य की सबसे बड़ी हानि होती है।

(१) बालविवाह से स्त्रियाँ असमय में अर्थात् परिपक्वावस्था से पूर्व ही माताएँ बन जाती हैं और असमय में मातृत्व का परिणाम होता है माताओं की भीषण मृत्यु-संख्या।

(२) बाल-विवाह के कारण २ लाख माताएँ प्रसव-काल में ही मर जाती हैं।

(३) बाल-विवाह के कारण स्त्रियों का शारीरिक और मानसिक विकास नहीं होता। फलतः शरीर रोगी बन जाता है और वे शीघ्र ही मर जाती हैं।

(४) बालविवाह के कारण अपरिपक्वावस्था में स्त्रियाँ गर्भ-धारण करने लगती हैं। गर्भ की पुष्टि और पोषण-समुचित रीति से नहीं हो पाता। इस कारण प्रसव के बाद प्रति १ हज़ार नवजात शिशुओं में से १८७ शिशु एक वर्ष के होने से पूर्व ही मर जाते हैं।

(५) बालविवाह का एक अत्यन्त दूषित परिणाम है बाल-विधवाओं की वृद्धि। सन् ११३१ ई० में मनुष्य-गणना के समय भारतवर्ष में २ करोड़ ६२ लाख ४८ हज़ार ४६८ विधवाएँ अपने वैधव्य-जीवन की भीषण यन्त्रणा भोग रही थीं! प्रति सहस्र स्त्रियों में विधवाओं की संख्या १५५ है। ३०८८० विधवाएँ तो ऐसी हैं कि जिन्होंने अपनी माता के उदर से बाहर निकल कर शिशु-जीवन के पाँच वर्ष भी समाप्त नहीं किये।

(६) बालविवाह का एक अप्रत्यक्ष दुष्परिणाम है वेश्या-वृद्धि। बालविवाह बाल-विधवाओं की संख्या में वृद्धि करता है और जब बाल-विधवाएँ युवती हो जाती हैं तब उनका पुनर्विवाह नहीं किया जाता। यौवन-काल की उद्दाम इच्छायें विधवा के अवशेष आत्म-बल को क्षीण कर देती हैं। समाज के दूषित वातावरण और विलासपूर्ण पारिवारिक जीवन में साँस लेने वाली युवती विधवा से यह आशा करना कि वह पूरी योगिनी बनकर ब्रह्मचारिणी रहेगी और तपस्या का जीवन बितायेगी, केवल दुराशा मात्र है।

भावी माता की अज्ञानता

अधिकांश माताओं को अथवा भावी माताओं को यह ज्ञान नहीं होता कि गर्भावस्था में स्वास्थ्य-सम्बन्धी किन नियमों का पालन आवश्यक है। गर्भ-काल में भावी-माता की जीवन-चर्या में एक विशेष परिवर्तन का हो जाना स्वाभाविक है। वह एक विशेष उत्तरदायित्व को पूरा करने में सन्नद्ध होती है और इसी कारण उसे उस उत्तरदायित्व को सफलता-पूर्वक पूरा करने के लिये शरीर, मन और आत्मा से समर्थ, योग्य और बलवान् होना चाहिये। शरीर, मन और आत्मा की पवित्रता और स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिये स्वास्थ्य-विज्ञान और मनोविज्ञान के ज्ञान की अतीव आवश्यकता है।

गर्भवती स्त्री के लिये पुष्टिकर भोजन सबसे पहली आवश्यकता है। परन्तु भारतीय माता को प्रचुर परिमाण में पुष्टिकर भोजन नहीं मिलता। भारत की सबसे बड़ी जन-संख्या ग्रामों में वास करती है और वह निर्धन एवं ग़रीब है। ऐसी स्थिति में भारतीय माँ को यथेष्ट मात्रा में दूध, घृत, मक्खन, दही, फल आदि कैसे उपलब्ध हो सकते हैं। भोजन के बाद वस्त्राभूषण भी आवश्यक है। गर्भवती स्त्री को ऐसे वस्त्र धारण करने चाहिये, जिससे गर्भस्थ बालक को कोई कष्ट न पहुँचे। स्वच्छता स्वास्थ्य का प्रथम सोपान है। परन्तु गर्भवती माँ सुन्दर स्वास्थ्य को प्राप्त करने के लिये चेष्टा नहीं करती। वह 'गर्भा-

वस्था' को एक भार सा मानता है और इसलिये जहाँ तक हो सकता है, वह उसे एक प्रकार का 'अप्राकृतिक' दशा मान कर आचरण करता है।

गर्भ-काल में मानसिक स्थिति कैसी होनी चाहिए, इस ओर भी स्त्री ध्यान नहीं देती। मानसिक स्थिति को उत्तम बनाने के लिये कौन-कौन से कार्य करना चाहिये तथा कौन कौन से कार्य निषिद्ध हैं—इसका भी उसे ज्ञान नहीं होता। भारतीय स्त्रियों में एक बड़ा भयानक अन्ध-विश्वास प्रचलित है। गर्भावस्था में रोग के निवारण के निमित्त औषधि सेवन न करना चाहिए—इस प्रकार का भ्रान्तिपूर्ण विचार स्त्रियों में प्रचलित है। इस कारण गर्भवती स्त्री रोगिणी हो जाने पर भी औषधि सेवन नहीं करती और फलत उसे अपने जीवन से हाथ धोने पड़ते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जब तक विशेष आवश्यकता न हो, तब तक औषधि सेवन नहीं करना चाहिये और ऐसी औषधि भी सेवन न करना चाहिये जिससे गर्भ के लिये कोई हानि पहुँचे। गर्भवती को अपने स्वास्थ्य की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये और जब अधिक कष्ट प्रतीत हो तब योग्य डाक्टर या वैद्य से सलाह लेकर औषधि सेवन करनी चाहिये।

गर्भावस्था में स्त्री को बड़े संयम, सावधानी और नियमपूर्वक रहने की आवश्यकता है। इस अवस्था में निज स्वास्थ्य के प्रति उपेक्षा न केवल माता के जीवन के लिये खतरा है, प्रत्युत भावी नवजात शिशु के लिये भी घातक है। प्रसूताओं के रोगों का मूल कारण है गर्भावस्था में असावधानी और हीन स्वास्थ्य।

परदा

परदा स्त्रियों के स्वास्थ्य के लिये हानिकर है। परदा का अर्थ यह है कि स्त्रियों को मकान में बन्द करके रखा जाय और उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक खुली हवा में घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता न हो। जब कभी बाहर निकला जाय तो घूँघट में और चादर में लिपट कर ऐसे निकलें कि जिससे शरीर का कोई भी अङ्ग खुला न रहे और पार्सल की भाँति इस प्रकार ढका रहे कि शुद्ध हवा न लग सके। यद्यपि परदा-निवारण के विरुद्ध भारतवर्ष में प्राय एक दशाब्दी से जोरदार आन्दोलन हो रहा है, तथापि सर्व साधारण पर इसका प्रभाव अभी बिलकुल कम पड़ा है। उच्च शिक्षित परिवारों में परदा प्रथा नहीं रही है। हाँ, मुस्लिम-परिवारों में चाहे वे शिक्षित भी क्यों न हों, परदा और बुर्के का अधिक प्रचार है। जो परिवार महात्मा गाँधी जी के विगत सत्याग्रह आन्दोलन के सम्पर्क में आये और जिन महिलाओं ने सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लिया, उन्होंने परदा त्याग दिया है और वे पर्दा-प्रथा के विरोध मे स्त्रियों में आन्दोलन भी कर रही हैं।

प्रसव और धात्री

भारत-सरकार के पब्लिक हैल्थ कमिश्नर ने अपनी सन १६३४ ई० की रिपोर्ट में लिखा है :—

"स्त्रियों में १५ वर्ष से ४० वर्ष की आयु तक मृत्यु-सख्या पुरुषों की अपेक्षा बहुत अधिक होती है और इसका कारण यह है कि गर्भ-काल में उन्हें अधिक सङ्कटों का सामना करना पड़ता है। पुरुषों की मृत्यु-संख्या १०७ और स्त्रियों की मृत्यु-सख्या का अनुपात १२४ है!" सन १६३४ ई० में १७ लाख बालकों की मृत्यु हुई। सन् १६३३ की बालमृत्यु से ६ प्रतिशत बालमृत्यु अधिक हुई। निम्न लिखित प्रान्तों में बालकों की मृत्यु में वृद्धि हुई —

१. संयुक्त-प्रान्त (+ ३६ प्रतिशत)
२. बिहार व उड़ीसा (+ ११ प्रतिशत)
३. मध्य प्रदेश (+ २६ प्रतिशत)
४. बर्मा (+ १४ प्रतिशत)
५. अजमेर-मेवाड़ (+ १४ प्रतिशत)

बम्बई, मद्रास और आसाम में भी बाल-मृत्यु में वृद्धि हुई।

सबसे अधिक बालमृत्यु मध्यप्रदेश, अजमेर-मेरवाड़ा, बर्मा और देहली प्रान्तों में हुई। उपरोक्त प्रान्तों में ५ प्रति शिशुओं में—नवजात शिशुओं में—से १ शिशु एक वर्ष की आयु से पहले ही मर गया। बालमृत्यु के यह अङ्क, वास्तव में, बड़े हृत्कम्पकारी हैं। इन अङ्कों के अध्ययन से यह ज्ञात हो जाता है कि भारतीय मातृत्व बड़े खतरे में है।

अपरिपक्वावस्था में गर्भ-धारण, बार-बार थोड़े समय के बाद सन्तान-जन्म, पौष्टिक भोजन की न्यूनता इस भीषण बालमृत्यु के मूल कारण हैं; किन्तु प्रजनन शिक्षा के अभाव और अज्ञान एवं अनभिज्ञ दाइयों के कारण भी बालमृत्यु हो जाती हैं। भारतवर्ष में शिक्षित धात्रियों का विशेष अभाव है। इस कार्य को नीची दृष्टि से देखा जाता है और धात्री-कर्म एक घृणा-जनक पेशा माना जाता है; इसीलिए कुलीन सुशिक्षिता महिलाएँ धात्री-कर्म की शिक्षा ग्रहण करना अपमान समझती हैं।

प्रान्तीय सरकारों की ओर से धात्री-क्रिया की शिक्षा और मातृ-मन्दिरों के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया जाता। भारतवर्ष में सार्वजनिक स्वास्थ्य-विभाग द्वारा जो धन व्यय किया जाता है, वह इस विशाल देश की ३५ करोड़ से अधिक की जनसंख्या के लिए बहुत ही कम है। हैल्थ कमिश्नर ने अपनी सन् १९३४ की रिपोर्ट में लिखा है कि :—

"केन्द्रीय सरकार ने साढ़े चौदह लाख रुपये भारतीय जनता के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये व्यय किये; और प्रान्तीय सरकारों ने डेढ़ करोड़ रुपये इस विभाग में व्यय किये। इस प्रकार कुल १ करोड़ साढ़े ६४ लाख रुपये सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिये व्यय किये गए। यह धन वास्तव में जनसंख्या के अनुपात से बहुत कम है।"

अब यदि आप प्रान्तीय सरकारों की सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिये व्यय की जाने वाली धन-राशि पर दृष्टि-पात करें तो आपको यह विदित हो जायगा कि मातृत्व और शिशु-रक्षा पर जो धन व्यय किया जाता है, वह बहुत ही कम है। आसाम और बम्बई प्रान्त में मैटरनिटी और चाइल्ड वैलफेयर पर कुछ भी धन व्यय नहीं किया गया। मध्य-प्रान्त के पब्लिक हेल्थ बजट का ६.३ प्रतिशत अंश शिशुरक्षा (child welfare) पर व्यय किया गया। संयुक्त-प्रान्त ने शिशुरक्षा के लिये सबसे अधिक धन व्यय किया। संयुक्त-प्रान्तीय सरकार ने १ लाख २० हज़ार रुपये व्यय किये।

मातृत्व और शिशुरक्षा के कार्य के लिये योग्य डॉक्टरों और स्वास्थ्य-दर्शकों का विशेष अभाव है। प्रान्तीय सरकारों ने इनके लिये कोई व्यवस्था नहीं की है। इस कारण म्युनिसिपल-बोर्ड और ज़िला-बोर्ड धनाभाव के कारण कम पढ़े लिखे और अयोग्य व्यक्तियों को इस कार्य के लिये नियुक्त करते हैं। यह कार्यकर्ता 'शिशुरक्षा' के कार्य को नष्ट कर देते हैं। सन् १९३४ ई० में भारत में ५ स्वास्थ्य-विद्यालय थे। बड़े प्रान्तों में—बङ्गाल और संयुक्त-प्रान्त में—पबलिक हैल्थ नर्स के शिक्षण के लिये कोई पाठ्य-क्रम नहीं है। भारतवर्ष में शिशु-रक्षा-केन्द्र भी जन-संख्या के अनुपात से बहुत कम हैं। सन् १९३४ में, भारत में, ६८४ शिशु-रक्षा-केन्द्र थे और इङ्गलैण्ड में २८८४ ऐसे केन्द्र थे।

मातृत्व और शिशुरक्षा के उपाय

मातृत्व की रक्षा के लिये सबसे उत्तम और अमोघ उपाय तो यह है कि विवाह की आयु में वृद्धि कर दी जाय। शारदा एक्ट के अनुसार विवाह की आयु लड़की के लिये १४ वर्ष और लड़के के लिये १८ वर्ष होनी चाहिये। परन्तु स्वस्थ मातृत्व के लिये यह आयु उचित नहीं है। अतः विवाह की आयु १६ वर्ष लड़की के लिये और २१ वर्ष लड़के के लिये क़ानून द्वारा नियत कर दी जाय।

यद्यपि बाल-विवाह को रोकने के लिये शारदा-एक्ट का निर्माण सन् १९३० में किया गया था; परन्तु वास्तव में, इस एक्ट से समाज की जितनी हानि हुई है उतना लाभ नहीं हुआ। यह सत्य है कि कोई भी सामाजिक क़ानून उस समय तक समाज के लिये हितकर सिद्ध नहीं हो सकता जब तक कि उसके प्रचार के लिये प्रभावपूर्ण प्रयत्न न किया जाय। जनता में सामाजिक क़ानून की आवश्यकता, उसकी महत्ता और उपयोगिता के सम्बन्ध में लोकमत जागृत करने की विशेष आवश्यकता होती है। परन्तु शारदा-क़ानून को लोकप्रिय बनाने के लिये कोई यथेष्ट प्रयत्न नहीं किया गया। कुछेक सार्वजनिक संस्थाओं ने 'शारदा-कमेटी' निर्माण करके इस क़ानून के सम्बन्ध में लोकमत के शिक्षण का उपक्रम किया था, परन्तु वह अधिक उपयोगी, स्थायी और प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुआ। इन कमेटियों का मुख्य कार्य था बाल-विवाह

करने वालों के विरुद्ध मुकद्दमेबाजी करना। शारदा-एक्ट में सब से बड़ा दोष तो यह है कि वह मजिस्ट्रेट को बाल-विवाहों के रोकने के लिये कोई प्रभावकारी अधिकार नहीं देता। मजिस्ट्रेट स्वयं बाल-विवाह करने वालों के खिलाफ कोई कानूनी कार्रवाई नहीं कर सकता। जब तब कोई दूसरा व्यक्ति अदालत में बालविवाह करने वाले के विरुद्ध इस्तगासा दायर न करे तब तक मजिस्ट्रेट बालविवाह को रोकने का कोई प्रयत्न ही नहीं कर सकता। दूसरा बड़ा दोष यह है कि इस्तगासा प्रेसीडेन्सी या जिला मजिस्ट्रेट की अदालत में दायर किया जाय और प्रार्थी को १०० रुपये जमानत के जमा करने होंगे। यदि प्रार्थी का इस्तगासा रद्द कर दिया गया अथवा बाल विवाह का अपराध सिद्ध नहीं हो सका तो इस जमानत के धन में से अभियुक्त को खर्चा दे दिया जायगा।

इसलिये शारदा एक्ट में संशोधन की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रथम संशोधन तो यह किया जाय कि विवाह वय १४ वर्ष व १८ वर्ष के स्थान पर क्रमश १६ वर्ष व २१ वर्ष कर दी जाय। दूसरा संशोधन यह किया जाय कि प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट, जिला मजिस्ट्रेट या कोई भी प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट स्वत (of his own motion) बालविवाह करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई करे। तीसरा संशोधन यह किया जाय कि मजिस्ट्रेट को बालविवाह रोकने का भी अधिकार दिया जाय। यदि कोई बालविवाह होने जा रहा हो और इसकी सूचना मजिस्ट्रेट को मिल जाय तो उसे उसके रोकने के लिये प्रयत्न करना चाहिए। चौथा संशोधन यह किया जाय कि विवाहों की रजिस्ट्री की व्यवस्था की जाय। यदि सरकारी रजिस्ट्रार के पास लोग विवाह की रजिस्ट्री कराने जाएँगे, तो वे इस बात का विचार अवश्य रखेंगे कि वर कन्या की आयु कानून के अनुसार हो। रजिस्ट्रार कानून के प्रचार के लिये भी काफ़ी उद्योग कर सकता है। जो लोग बालविवाह करना चाहते हैं उनको कानून का उद्देश समझा सकता है और बालविवाह करने पर जो दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा, उसका भी आभास दे सकता है। यदि उसको यह ज्ञात हो जाय कि कोई बालविवाह होने वाला है तो वह उसकी रिपोर्ट मजिस्ट्रेट से कर सकता है। पाँचवाँ संशोधन यह किया जाय कि ग्रामों और नगरों में जन्म की रजिस्ट्री के लिये उपयुक्त और अनिवार्य व्यवस्था कर दी जाय, बालक के माता-पिता को जन्म-प्रमाण-पत्र दिया जाय। जिसमें बालक का नाम तथा जन्म तिथि आदि का स्पष्ट उल्लेख हो। इस समय जन्म की रजिस्ट्री के लिये जो व्यवस्था है वह उत्तम नहीं है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक संस्थाओं को भी इस दिशा में प्रचार करने की आवश्यकता है। सामाजिक संस्थाओं को इस कार्य में सरकार का सहयोग देना चाहिये और सरकार को चाहिये कि वह ऐसी संस्थाओं को स्वीकृत कर ले तथा उनका स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं अथवा स्थानीय अफ़सर से सम्बन्ध स्वीकार कर ले।

इस प्रकार यदि कार्य किया गया तो भारत से बालविवाह की दोषपूर्ण प्रथा का समूल नाश होते देर न लगेगी।

बार-बार, थोड़े समय के बाद, गर्भ धारण न केवल माँ के स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद है, प्रत्युत पारिवारिक सुख, सन्तान और भावी शिशु के लिये भी हानिप्रद है। बार-बार गर्भधारण से माँ का शरीर दुर्बल और शक्तिहीन हो जाता है। उसकी रोग-प्रतिबन्धक शक्ति क्षीण हो जाती है और वह सहज ही रोगों के आक्रमणों का शिकार बन जाती है। भावी सन्तति भी सुन्दर और बलवान नहीं होती। इस का एक अवश्यम्भावी परिणाम, जो आजकल प्राय देखने में आता है, यह है कि माता शीघ्र ही क्षयरोग से आक्रान्त हो जाती है। पूर्वावस्था में प्रदर या अन्य बुख़ार की शिकायत होती है और शारीरिक दुर्बलता तथा उपेक्षा के कारण यह रोग क्षयरोग में परिणत हो जाते हैं। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि क्षयरोग असाध्य है और भारत के किसी डॉक्टर और वैद्य के पास इस रोग के निवारण का कोई उपाय नहीं है।

गर्भ-काल में समुचित पुष्टिकर यथेष्ट भोजन की अत्यन्त आवश्यकता है। गर्भवती के लिये भोजन ऐसा होना चाहिये जो भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल माता के शरीर और गर्भस्थ बालक को शक्ति और स्फूर्ति प्रदान

करे। भारत की सबसे बड़ी जन-संख्या धनहीन है और ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं जो धनवान हैं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे देश में धनिक और ग़रीब दोनों ही वर्गों की जनता में भोजन के सिद्धान्तों के प्रति घोर अज्ञानता मौजूद है। जो व्यक्ति धनी हैं वे विविध प्रकार के भोज्य पदार्थों को सेवन कर कुछ सीमा तक अपनी अज्ञानता के दुष्प्रभाव से बच जाते हैं। परन्तु ग़रीब जनता रूखा-सूखा भोजन कर अपनी उदर-पूर्ति करती है। ऐसी स्थिति में गर्भवती माँ का भोजन ऐसा होना चाहिये, जिसमें सभी पौष्टिक तत्त्व विद्यमान हों और जो सस्ता भी हो।

अतः यह आवश्यक है कि भोजन की समस्या का इस दृष्टि से अध्ययन कर ऐसी भोजन-व्यवस्था की जाय, जिससे माँ और भावी सन्तति का स्वास्थ्य ठीक रहे। पुष्टिकर भोजन के सिद्धान्तों का जनता में प्रचार किया जाय। राज्य-कोष से उन जातियों के लिये पुष्टिकर भोज्य पदार्थ की व्यवस्था की जाय जो ग़रीब हैं और ऐसा भोजन प्राप्त नहीं कर सकते। विशेष रूप से गर्भवती माँ और बालकों के लिये यथेष्ट परिमाण में दूध का प्रबन्ध किया जाय।

भोजन के अतिरिक्त गर्भवती स्त्री को स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों का पालन बड़ी तत्परता से करना चाहिये। उसे प्रजनन-विज्ञान का भी साधारण ज्ञान होना चाहिये। गर्भवती माँ को सुखद और सुन्दर वातावरण में रखा जाय, जिससे उसके मन पर कोई अनुचित दबाव न पड़े और न बुरा संस्कार हो। गर्भ-काल में स्त्री के मन, आत्मा पर जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ते हैं, वह बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। उनका भावी सन्तति के जीवन-निर्माण में उच्च स्थान है।

उपर्युक्त कार्य इतना गुरुतर और गम्भीर है कि जिसे प्रत्येक माँ बिना किसी बाह्य सहायता के सफलता-पूर्वक पूरा नहीं कर सकती। प्रत्येक माँ के लिये यह शक्य नहीं है कि वह पौष्टिक भोजन के सिद्धान्तों को भली-भाँति स्वयं बिना किसी शिक्षण के जान ले अथवा स्वास्थ्य-विज्ञान व मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को बिना किसी योग्य शिक्षक से शिक्षण प्राप्त किये समझ सके। भारत में शिक्षा का अभाव और बढ़ती हुई निरक्षरता इस कार्य में बाधक है। इसलिये यह अति आवश्यक है कि भारत के समस्त प्रान्तों में 'मातृमन्दिरों' की स्थापना की जाय। इन 'मातृमन्दिरों' में प्रसव-क्रिया बड़े वैज्ञानिक ढङ्ग से सम्पादन की जा सकती है और यह लोक-प्रिय भी बन सकते हैं। परन्तु भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ ग्रामों का जाल बिछा है और जहाँ ग़रीबी का एकदम राज्य है, यह सम्भव नहीं कि ग्राम-वासियों के लिये भी मातृमन्दिर स्थापित किये जा सकें। इसके लिये अधिक धन अपेक्षित है, जिसे ग्राम-वासी व्यय नहीं कर सकते और न इतना धन प्रान्तीय सरकारें ही दे सकती हैं।

हैल्थ कमिश्नर ने सन् १९३४ की रिपोर्ट में यह लिखा है :—

"मातृमन्दिर और मातृ-अस्पताल के लिये सामान और स्टाफ़ मातृ-अस्पताल द्वारा सञ्चालित कार्य-कुशल धात्री-प्रणाली से कहीं अधिक ख़र्चीला है। और इस पर भी इस बात का कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है कि मातृमन्दिर में प्रसव अधिक सुविधा-जनक हो सकेगा।"

मातृमन्दिर प्रत्येक नगर में अवश्य स्थापित किये जाने चाहिये। जिन गर्भवती महिलाओं की गृह-परिस्थिति अनुकूल नहीं है अथवा जो गर्भवती स्त्रियाँ विकट स्थिति में हैं, उनके लिये इन मातृमन्दिरों में व्यवस्था होना अनिवार्य है।

इन मातृमन्दिरों के अतिरिक्त 'धात्री-प्रणाली' की स्थापना आवश्यक है। मातृमन्दिरों या अस्पतालों में इन धात्रियों के शिक्षण की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये और शिक्षण की समाप्ति पर उनको योग्यता का प्रमाण-पत्र मिलना चाहिये। शिक्षित और शिक्षण-प्राप्त धात्रियों के धात्री-कर्म करने की व्यवस्था की जाय। धात्री-एक्ट समस्त भारत में प्रचलित कर दिया जाना चाहिये; जिससे सरकार धात्रियों के शिक्षण, रजिस्ट्री, नियमन व नियन्त्रण का प्रबन्ध कर सके और अशिक्षित 'दाई' की आवश्यकता न रहे।

शिक्षित महिला-समाज में प्रजनन विज्ञान और धात्री-कार्य की महत्ता और पवित्रता के विषय में प्रचार करने की आवश्यकता है, जिससे इस व्यवसाय या कार्य को नीच न समझा जाय और न घृणा की दृष्टि से ही देखा जाय। आजकल इस कार्य को 'नीच' जातियों का व्यवसाय माना जाता है। यह धारणा नितान्त अज्ञान-मूलक है। पुस्तकों, पत्रिकाओं, पुस्तिकाओं, व्याख्यानों भाषणों, लेन्टर्न प्रदर्शन, रेडियो, सिनेमा और समाचार-पत्रों द्वारा जनता में यह प्रचार करना चाहिये कि प्रजनन का पुराना रिवाज स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है और नवीन धात्री प्रणाली हर प्रकार से स्वास्थ्य के लिये हितकर है। लड़कियों को, जो माता के पद से सुशोभित होने वाली हैं, यह शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिये। प्रजनन शास्त्र के मूल सिद्धान्तों का उन्हें ज्ञान हो जाने से वे प्रजनन के समय समुचित व्यवस्था और प्रबन्ध के लिये ज़ोर दे सकेंगी। भावी माता के लिये प्रजनन-विज्ञान का ज्ञान उतना ही आवश्यक है, जितना कि जीवन-धारण के लिये भोजन।

इस समय भारत के सात प्रान्तों में—मद्रास, बम्बई, सयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बिहार, उड़ीसा व सीमा प्रान्त—कॉङ्ग्रेस के मन्त्रि मण्डल शासन व्यवस्था का सञ्चालन कर रहे हैं। नवीन शासन-विधान के अन्तर्गत भारतीय महिलाओं को मताधिकार प्राप्त हो गया है। ६० लाख महिलाएँ मतदाता बन गयी हैं। प्रान्तीय असेम्बली में महिलाओं के लिये निम्न प्रकार स्थान सुरक्षित हैं—मद्रास ८, बम्बई ६, बङ्गाल ५, सयुक्त प्रान्त ६, पञ्जाब ४, बिहार ४, संयुक्त प्रदेश ३, आसाम १, उड़ीसा २, सिन्ध २। इनके अतिरिक्त जिन प्रान्तों में कॉङ्ग्रेस का बहुमत है, उनमें अनेकों सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र (Gereral Constituencies) से पुरुषों के मुक़ाबिले में कॉङ्ग्रेसी महिलाओं को खड़ा किया गया था और वे निर्वाचित हो गयीं। इस प्रकार असेम्बली में उनका प्रतिनिधित्व यथेष्ट हो गया है। सयुक्त प्रान्त में श्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू की बहिन श्रीमती विजय-लक्ष्मी पण्डित सर्व-प्रथम महिला मन्त्री नियुक्त की गयी है और यह और भी प्रसन्नता की बात है कि श्रीमती पण्डित सार्वजनिक स्वास्थ्य-विभाग की मन्त्री हैं। अत यह आशा की जाती है कि प्रान्तीय असेम्बली में मातृत्व और शिशु-रक्षा के लिये समुचित व्यवस्था और क्रियात्मक यथेष्ट प्रयत्न किया जायगा।

मातृत्व की रक्षा राष्ट्रीय-स्वास्थ्य की रक्षा है, इसलिये यह कार्य राजनीति से कहीं अधिक महत्वपूर्ण और उपयोगी है। इसके साथ राष्ट्रीय जीवन का घनिष्ठ सम्पर्क है। अत हमारा यह कर्तव्य है कि हम नारी की इस महत्वपूर्ण समस्या का उचित रीति से समाधान करें।

रत्नाकर की काव्य-रचना

[श्री० शान्तिप्रिय द्विवेद]

भाव-प्रवणता

यद्यपि रत्नाकर खड़ी बोली की वर्तमान कविता से विशेष सहमत नहीं थे, परन्तु उनकी सहृदयता छन्द-रचना करना ही नहीं जानती थी, बल्कि मार्मिक भावुकता को भी पसन्द करती थी, चाहे वह किसी भाषा में हो। नवीन युग की हिन्दी-कविता—जिसमें छायावाद की भाव-प्रवणता है, उन्हें भीतर ही भीतर आकर्षित कर चुकी थी, यहाँ तक कि काव्य-सम्बन्धी वार्त्तालापों में वे प्रायः कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की कविताओं का ज़िक्र किया करते थे, और बड़े चाव से पढ़ते थे।

एक दिन मैंने उन्हें अपनी एक रचना दिखाई। उसे पढ़ने के बाद, उन्होंने ख़ूब हँस कर कहा—'इसमें एक दोष है, यह समझ में आ जाती है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि वे छायावाद नामधारी दुर्बोध कविताओं से घबराते थे। फिर भी वे कभी-कभी आनन्द पाने की आशा से, नये कवियों की कविता ध्यान-पूर्वक पढ़ते थे।...उन्होंने रवि बाबू की 'गीताञ्जलि' का अध्ययन एक बङ्गाली अध्यापक द्वारा किया था। पन्त जी की भी बहुत सी कविताएँ उन्होंने पढ़ी थीं और पढ़कर कई बार भाव-मुग्ध हो उठे थे।

अङ्गरेज़ी की प्रेरणा

रत्नाकर जी अङ्गरेज़ी से अभिज्ञ तो थे ही, अपनी इस अभिज्ञता का उपयोग उन्होंने यत्र-तत्र अपने काव्य-प्रसार में किया है। हिन्दी रीति-काल की परम्परा और उतनी ही प्राचीन अङ्गरेज़ी कविता (जिसे हम क्लासिकल स्कूल की कविता कह सकते हैं) इन्हीं दोनों के समन्वय मे रत्नाकर जी व्रजभाषा साहित्य में शोभन हो सके थे। उनके काव्य का स्वरूप नवीन हिन्दी कविता से इसलिये नहीं मिल पाता कि वह आधुनिक बङ्गला और आधुनिक अङ्गरेज़ी के मेलसे सङ्गठित नहीं था। ऊपर कहे अनुसार वह प्राचीन हिन्दी-कविता और प्राचीन अङ्गरेज़ी कविता से ही सुगठित था। यदि पाश्चात्य कविता की उस आधुनिकतम प्रगति से, जिससे आजके अनेक हिन्दी कवि तथा श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक प्रेरित हैं, रत्नाकर जी भी प्रेरित होते तो यह एक कौतूहलपूर्ण बात होती कि रत्नाकर जी के काव्य का स्वरूप क्या होता।

छायावादी प्रयोग

रत्नाकर जी चाहे जिन काव्य-प्रेरणाओं से व्रजभाषा साहित्य में आये हों, परन्तु थे वे भावुक। एक परम्परा के भीतर रह कर भी उन्होंने अपनी स्वतन्त्र भावुकता स्फुरित

की है। वर्तमान छायावाद की कविता में जिस प्रकार के सूक्ष्म भाव-प्रवण साङ्केतिक शब्दों का प्रयोग दीख पड़ता है, रत्नाकर जी की कविता में (विशेषतः गङ्गावतरण में) भी यत्र-तत्र वैसे ही प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमे वे भी एक "कवि" सिद्ध होते है। उदाहरण के लिये हम उनके काव्यों मे कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते है —

रह्यौ भूप कौ रूप भावना के लेखा सौ।
अस्ति नास्ति के बीच गनित-कल्पित रेखा सौ॥
—गङ्गावतरण, २८१

'गनित-कल्पित रेखा से' तप कृश शरीर की उपमा आधुनिक है। बिहारी भी (जिन्होंने अपने काव्य चित्रों के लिये अपनी विविध शास्त्रीय अभिज्ञता का प्रचुर उपयोग किया है) विरह कृश शरीर के लिये इतनी अच्छी उपमा न पा सके।

इसी तरह रत्नाकर के कुछ और सूक्ष्म शब्द-चित्र नीचे दर्शनीय है :—

(१) लगी सारदा प्रेम-पुलकि कल कीरति गावन।
बीना मधुर बजाइ झूमि नूपुर झनकावन॥
लय लीकनि सौं चारु चित्र बहु भाय खिचाये।
रुचिर रागरँग पूरि हृदय दृग लोम लुभाये॥
—गङ्गावतरण, २२३

इसमें 'लय लीकनि' (लय की रेखाओं) का निर्देश स्वाभाविक और वैज्ञानिक है। अमूर्त लय का भी रेखा-चित्र हो सकता है, कवि के इस सत्य को आज ग्रामोफोन के रेकार्डों ने प्रत्यक्ष कर दिया है।

(२) भरयौ भूरि आनन्द हृदय तिहिं लगे उलीचन।
पौन-पटल पर भव्य भाव अन्तर के खींचन॥
—गङ्गावतरण, पृ० २२४

अन्तर के भावों को 'पौन-पटल' (पवन पट) पर खींचना कितनी सूक्ष्म व्यञ्जना है! हम जो कुछ कहते हैं वे आकाश में खो नहीं जाते, बल्कि वायु में सुरक्षित रह कर लहराते रहते हैं, उन्हें ही वैज्ञानिक यान्त्रिक वाद्यों में सञ्चित कर देते हैं। अब तो तत्काल के ही शब्द नहीं, बल्कि बीते दिवसों के अतीत शब्दों को भी वे यन्त्र-सञ्चित कर देने के प्रयत्न में हैं। और आश्चर्य नहीं कि कवि जितनी अगोचर कल्पनायें करता है, एक दिन विज्ञान उन सबको प्रत्यक्ष कर देगा। इस प्रकार हम देखते है कि कवि की कल्पना भी सत्य है, उसमें मानसिक मिथ्यापन नहीं। हाँ, कल्पना एक प्रमाण-रहित सत्य है, परन्तु यदि प्रमाण के लिये हम विज्ञान पर ही अवलम्बित होंगे तो सत्य अपना सौन्दर्य खो देगा, अनेक वैज्ञानिक विभीषिकाएँ इसके उदाहरण हैं। कवि के सत्यों की कसौटी तो सहृदयों की आत्मानुभूति ही होनी चाहिये।

(३) कहै 'रत्नाकर' गुमान के हिये में उठी
हूक मूक भायरिन की अकह कहानी है।
—'उद्धव-शतक', पृ० १५३

इसमें 'हूकमूक' (मूक वेदना) द्रष्टव्य है। छायावाद की कविता मूक वेदना और नीरव-गान के लिये बदनाम है, किन्तु रत्नाकर जी का 'हूकमूक' तो एक प्रकार से इन प्रयोगों की व्याख्या सा कर देता है। जिस प्रकार हूक मूक हो सकता है, उसी प्रकार अव्यक्त वेदना या अव्यक्त गान भी हो सकता है, चाहे उसे हम नीरव कह लें, चाहे मूक।

शब्द शिल्प

रत्नाकर जी शब्दों के प्रयोग में निपुण है। ऊपर के उदाहरणों के अनुसार, जहाँ उनके शब्द एक गूढ साङ्केतिक व्यञ्जना करते है, वहाँ शब्दों की एक सरल व्यञ्जना भी दीख पड़ती है, इस सरल प्रयोग से उन्होंने पूरे भाव को ध्वनित कर दिया है, एक शब्द से पूर्ण पङ्क्ति खिल उठी है। यथा—

(१) चाहत जौ स्वबस सँजोग स्याम सुन्दर कौ,
जोग के प्रयोग मैं हियौ तौ बिलस्यौ रहै।
कहै रत्नाकर सुअन्तर-मुखी है ध्यान
मञ्जु-हिय-कञ्ज जगी जोति में धस्यौ रहै॥
—'उद्धव-शतक', पृ० १५७

यह निर्गुण ध्यान के लिये उद्धव का गोपियों को उपदेश है। गोपियाँ 'सु मुखी' है इसीलिये स्याम 'सुन्दर' को ही चाह रही हैं। यदि वे सु-अन्तर-मुखी हो जायँ तो निर्गुण को पा जायँ। यहाँ एक चिर-परिचित 'सुमुखी'

शब्द का सुन्दर चमत्कार है। शब्द ने भाव के प्रतिनिधित्व का परिचय दिया है, जो काव्य के लिये एक आवश्यक बात है।

(२) करत उपाय ना सुभाय लखि नारिन कौ,
भाय क्यों अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।
—'उद्धव शतक', पृ० १५६

इसमें 'अनारिन' शब्द की व्यञ्जना पर ध्यान जाता है। यह एक साधारण महावरा है, किन्तु यहाँ इसीमें कितनी बात छिपी है।

'नारिन' और 'अनारिन' के यमक से बात में जान आ गई है।

(३) रङ्ग-रूप रहित लखात सबही हैं हमें,
वैसो एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा।
एक ही अनङ्ग साधि-साध सब पूरी अब,
और अङ्ग-रहित अराधि करिहैं कहा॥
—उद्धव शतक, पृ० ४६

इसमें 'रङ्ग-रूप-रहित' का व्यङ्ग और 'अनङ्ग' का श्लेष प्रेक्षणीय है। इस प्रकार के उद्धरण रत्नाकर की कृतियों से बहुत दिये जा सकते हैं।

यह है रत्नाकर का एक सामान्य दिग्दर्शन। इनके विस्तृत कवित्वपर फिर कभी।

प्रभात

[श्रीमती विद्यावती 'कोकिल']

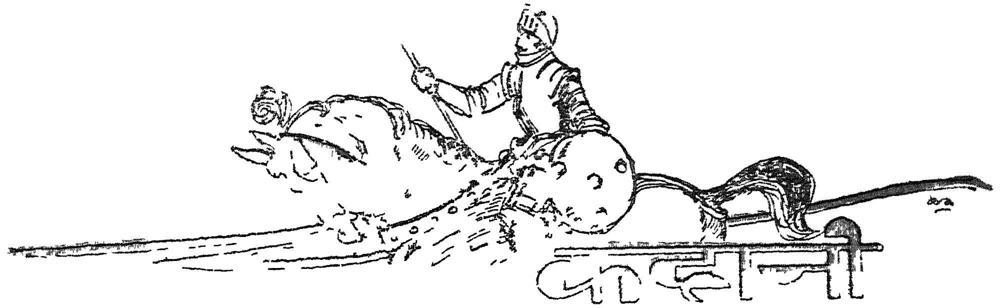
अनजाने कुछ गान चुरा
उन्मादिनि तरु पर कूक उठी,
कुसुमों की निद्रा टूट गई
जब डालों के उर हूक उठी।

मधुमय मदिरा घोल रहा था
प्राची में कोई चुपचाप,
हाथ पसारे कौन रह गया
कौन पी गया अपने आप ?

पी समग्र निश्वास कहीं
आलोड़ित-मस्तक हुआ पवन,
जब झूम-झूम निस्वन निस्वन
करता सा था वेदना-दमन !!

मैं शुचि जीवन-प्रात समझ
बस आलिङ्गन करने धाई,
उस एकाकी सर-तट से तब
एक करुण-तर ध्वनि आई।

पनघट पर कुछ घट लुढ़के थे
वह बाला-युवती रोती थी,
चतुर प्रकृति सब बीन रही थी
वह बेसुध जो खोती थी।



लोहे की बेड़ियों से अधिक दृढ़

[अध्यापक जहूरबख्श, हिन्दी कोविद]

आज से लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व की बात है। गर्मी की ऋतु थी अब सन्ध्या के आगमन में अधिक विलम्ब नहीं था। दिन भर के हारे थके पक्षी धीरे-धीरे बसेरों की ओर उड़े जा रहे थे। ऐसे ही समय में कौशल के राजभवन से एक रमणी बाहर निकली। आयु उसकी लगभग तीस वर्ष रही होगी, रङ्ग तपे हुए स्वर्ण के सदृश, शरीर हृष्ट-पुष्ट, गैरिक रेशमी वस्त्रों तथा पुष्पाभूषणों से सुसज्जित। मुख-मण्डल से आभा विकसित हो रही थी। उसके रूप-रङ्ग और उसकी चाल-ढाल से ऐसा प्रतीत होता था, जैसे वह रमणियों में देवी हो।

रमणी मन्थर गति से आगे बढ़ी और राजभवन से लगी हुई वाटिका के मध्य में बने हुए, मर्मर पत्थर के एक सुन्दर चबूतरे पर जा बैठी। वाटिका में मन-प्राणों का ताप हर लेने वाली गुलाबी शीतलता थी। पुष्प-पराग मिश्रित वायु धीरे धीरे लहरें मार रही थी। चबूतरे पर बैठते-बैठते रमणी ने सुख की एक साँस ली। फिर चारों ओर दृष्टि घुमाते हुए आप ही आप कहा—"कितनी सुहावनी सन्ध्या है यह!"

इतने में वहाँ एक स्त्री और आ पहुँची। उसके हाथों में एक सुन्दर वीणा थी। उसने वीणा धीरे से चबूतरे पर रख दी। फिर वह हाथ बाँध, सिर झुका कर एक ओर खड़ी हो रही।

"मालती"—चबूतरे पर बैठी हुई रमणी धीरे से बोली—"अब तुम जाओ। कुछ समय बाद आ जाना। मैं यहाँ एकान्त शान्ति में क्षण भर मनोरञ्जन करूँगी।"

"स्वामिनी की जैसी आज्ञा"—कहकर मालती वहाँ से चली गई।

"कितना अद्भुत यन्त्र है यह! इसके तारों में स्वर नहीं, जादू भरा हुआ है, जो मनुष्य को क्षण भर में यातना के संसार से उठाकर आनन्द के स्वर्ग में पहुँचा देता है!"—कहते-कहते रमणी ने वीणा सँभाली। उसके तार झनझना उठे और रमणी के कम्पित कण्ठ से निकलने वाली मादकता वाटिका के कोने-कोनेमें कूकने लगी।

इसी समय वाटिका में एक युवक ने प्रवेश किया। आयु उसकी पैंतीस वर्ष से ऊपर ही रही होगी, गौर वर्ण, ऊँचा कद, सुगठित शरीर, आजानु बाहु, बड़ी-बड़ी पानीदार आँखें, ऐंठी हुई विशाल मूछें और तेजस्वी मुख-मुद्रा। रमणी का व्यापार देख कर पहले तो वह कुछ ठिठका, फिर दबे पाँव, कुञ्जों और वृक्षावलियों की ओट लेता हुआ, चबूतरे के पास आकर इस प्रकार

कन्या-जन्म से शोकाकुल परिवार



(৪)



(५)



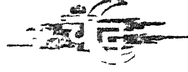
सास का अत्याचार

(६)




Mookerjea





खड़ा हो रहा, जिससे उस पर रमणी की दृष्टि न पड़ सके।

रमणी की चम्पे की कलियों जैसी उङ्गलियाँ तारों पर थिरक रही थी और वह अपने गान में डूबी हुई थी। गान प्रेम-रस से भीगा हुआ था, जिसका भाव था—प्रियतम, हम-तुम एक हैं। यह तो विधाता का कौशल है जो हम संसार को दो रूपों में दिखाई देते हैं। अहा! यदि हम पक्षी होते, तो इस कोलाहलमय संसार से दूर किसी हरे-भरे उपवन में एक वृक्ष पर अपना घोंसला बनाते। प्रकृति की गोद में अठखेलियाँ करते, एक साथ दाना चुगते, और एक साथ उन्मुक्त आकाश में स्वच्छन्द विचरण करते। जीवन-यापन की चिन्ताएँ हमसे दूर रहतीं, और तब मैं केवल तुम्हें निहारा करती, तुम केवल मुझे देखा करते। अहा! वह जीवन कितना स्वच्छन्द, कितना स्नेहमय और कितना आनन्द-पूर्ण होता!

युवक पर जैसे किसी ने जादू की छड़ी घुमा दी। गान की एक-एक तान उसके हृदय में घर कर रही थी और उसकी श्वासों का एक-एक स्पन्दन स्वर-लहरी में डूबा जा रहा था। वह मूर्ति के समान अचल था, मानों अपने अस्तित्व को गान के अस्तित्व से एकाकार कर रहा था।

गान पूर्ण हुआ। रमणी ने वीणा रखते-रखते सिर घुमाया, तो उसकी दृष्टि युवक पर पड़ी। वह चौंक उठी सकपका कर खड़ी हो गई और कोमल स्वर में बोली—"महाराज को पधारे कितना विलम्ब हुआ?"

"प्रिये!"—युवक भावावेश में चबूतरे पर चढ़ते हुए बोला—"गाओ-गाओ, मेरे सुख-स्वप्न को भङ्ग मत करो। तुम्हारे गान में कितनी मिठास है, कितनी शान्ति है, कितना सुख है। कितना ही सुनता हूँ, पर सुनने की साध नहीं मिटती। तुम्हारा स्वर मुझे संसार के साम्राज्य से भी अधिक प्रिय है।" और चबूतरे पर पहुँच कर उसने अपना बायाँ हाथ रमणी के कन्धे पर रख दिया, एवं दाहिने हाथ से उसकी ठोढ़ी ऊपर उठाते-उठाते कहा—"प्रिये, एक बार फिर वही गान सुनाओ। हृदय में कैसी अग्नि धधक रही थी, परन्तु तुम्हारे अमृत-मय कण्ठ ने मानों उस पर शीतल जल की धारा उड़ेल दी।" यह कहकर उसने मुसकरा दिया और इसके बाद ही वह धम् से बैठ गया।

रमणी भी युवक के सामने बैठ गयी और उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में लेती हुई बोली—"आर्य! यह क्या कह रहे हो! आपके हृदय में अग्नि धधक रही थी! कैसी अग्नि धधक रही थी? क्यों धधक रही थी?" उसकी आँखों में जिज्ञासा की भावना थी, और स्वर में घबराहट।

"प्रिये!"—युवक ने अस्थिरतापूर्वक कहा—"जाने दो उस बात को, जानने की तुम्हें आवश्यकता भी नहीं है। पर, एक आनन्द-समाचार सुना सकता हूँ, जो तुम्हारे गान से कुछ-कुछ सम्बन्ध रखता है। पक्षी तो इस जीवन में हम हो नहीं सकते, पर वह समय शीघ्र आने वाला है, जब हम जीवन की कितनी ही चिन्ताओं से मुक्त हो जायँगे, और कदाचित् शान्ति से किसी हरे-भरे उपवन में भी रह सकेंगे।" यह कहकर युवक मुसकरा उठा; परन्तु उसके नेत्रों में प्रफुल्लता का अभाव था, और ललाट पर चिन्ता के बल थे। जैसे चलते हुए अश्व-शावक के मार्ग में नाला पड़ जाने से वह सोच-विचार में डूब गया हो।

"नाथ!"—रमणी ने युवक के कन्धों पर अपने गुलाबी हाथ रख दिए, और उसकी आँखों में आँखें डालते हुये कहा—"यह कैसी सूखी मुसकान है! ऐसी मुसकान तो मैंने कभी आपके अधरों पर नहीं देखी। और ललाट पर ये रेखायें कहाँ से आईं। अवश्य आपके हृदय में कोई गहरी चिन्ता हलचल मचा रही है। आप का यह आनन्द-समाचार भी रहस्य-पूर्ण है। मैं आपकी अर्धाङ्गिनी हूँ, अतएव..."

युवक बात काट कर बोला—"मेरा कष्ट देखते ही तुम्हारा हृदय दुर्बल हो जाता है यही न? विद्याधरी, यह तुममें बड़ा दोष है। ज़रा सी बात हुई, और तुम घबराईं! ऐसी अधीरता एक राजरानी को शोभा नहीं देती। हम पुरुष हैं, संसार की सौ झञ्झटें हमारे पीछे लगी रहती हैं। ब्रह्मदत्त को जानती हो तुम?"

"कौन, काशी-नरेश ? सुना है कि उनका राज्य बहुत बड़ा है। उनके पास अगणित सेना और अपार सम्पत्ति है।"

"परन्तु हृदय बहुत छोटा है। आज उनका दूत आया है।"

"किस लिये ?"

"इसलिये, कि मैं उनको सार्वभौम सम्राट् मान लूँ, उन्हें प्रतिवर्ष कर दिया करूँ, और उनके आधिपत्य में एक माण्डलिक राजा के समान रहूँ।"

"और यदि आप यह सब स्वीकार न करें तो ?"

"तो वे हम पर आक्रमण करेंगे और कौशल को युद्धाग्नि में भून डालेंगे।"

"परन्तु हमारा राज्य तो बहुत छोटा है, अत्यन्त निर्धन है। इससे उनको क्या लाभ होगा ?"

"लाभ क्यों न होगा—उनके राज्य की सीमा कुछ तो बढ़ ही जायगी।"

"इतना राज्य, इतनी सम्पत्ति, इतना वैभव पाने पर यह तृष्णा !"

"तृष्णा-अग्नि ही ऐसी है। राज्य, सम्पत्ति और वैभव की जितनी आहुतियाँ गिरेंगी, तृष्णा उतनी ही अधिक धधकेगी। सम्पूर्ण संसार प्राप्त होने पर भी तृष्णा तृप्त न होगी उसके बाद वह ग्रह और नक्षत्र पाना चाहेगी।"

"धिक्कार है ऐसी तृष्णा पर !"—होंठ काटकर विद्याधरी बोली, और फिर गम्भीरतापूर्वक कुछ सोचने लगी। क्षण भर बाद ही उसने पूछा—"आपने दूत को क्या उत्तर दिया ?"

"यही तो चिन्ता का विषय है। अधीनता स्वीकार करता हूँ, तो मान जाता है, स्वाधीनता जाती है। ऐंठता हूँ तो सर्वनाश होता है। क्या किया जाय, कुछ सूझ नहीं पड़ता।"

विद्याधरी ने युवक पर एक चुभती हुई दृष्टि डाली, और तब बड़ी ही शान्ति से, बड़ी ही स्थिरता से कहा—"यदि मैं आपके स्थान पर होती तो ऐंठ जाती, सर्वनाश को पसन्द करती, पर अपने मान को—अपनी स्वाधीनता को प्राणों से लगाकर रखती।"

युवक चुप रहा, जैसे वह मन ही मन समस्या का उधेड़-बुन में व्यस्त हो। उसकी अवस्था उस विद्यार्थी के समान हो रही थी जो प्रश्न को हल करने में असमर्थ होता है, पर गुरु के भय से अपनी निर्बलता प्रकट नहीं कर सकता। क्षण भर सन्नाटा छाया रहा। तब विद्याधरी ने "क्या आप युद्ध से डरते हैं ?" कहते हुये उस मृत शान्ति को भङ्ग कर दिया।

"मैं युद्ध से डरना तो नहीं जानता, पर इतना अवश्य जानता हूँ कि वह मानवता के लिये घोर अभिशाप है।"

"परन्तु पराधीनता तो उससे भी बढ़ कर घोर अभिशाप है, और घृणित से घृणित पाप।"

युवक का उदास मुख और भी उदास हो गया, जैसे ग्रीष्म का मध्याह्न कालीन पुष्प। उसने काँपती हुई ध्वनि में कहा—"विद्याधरी, तुम दीक्षित की पत्नी हो।"

विद्याधरी का मुखड़ा प्रदीप्त हो उठा, जैसे सन्ध्या कालीन दीपक। उसने कण्ठ में दृढ़ता भर कर कहा—"और आप विद्याधरी के पति हैं।"

× × ×

उसका नाम अभय था। कुम्हार का धन्धा उसकी जीविका का आधार था। तीन-चार वर्ष हुए, वह बाहर से आकर काशी में रहने लगा था। पर इतने ही समय में काशी की एक-एक गली के आदमी उसे जानने लगे थे। ऊँचा पूरा शरीर, गोरा रङ्ग, बड़े-बड़े चमकीले नेत्र, आकर्षक मुख-मुद्रा, मुसकान से भरे हुए अधर, मीठी वाणी आदि गुणों से वह सभी के मन पर चढ़ गया था। नगर में उसकी प्रतीक्षा की जाती थी। लोग उससे बातें करने को उत्सुक रहते थे, क्योंकि उसके कण्ठ से फूल झड़ते थे—ऐसे फूल, जो अनुभूति की गन्ध से महकते थे। स्त्रियाँ उससे बर्तन खरीदना चाहती थीं, क्योंकि उनमें कोई उसकी माता थी, कोई बहिन और कोई बेटी। मोल-भाव का उसके पास काम नहीं था। एक बात कह दी, ग्राहक की इच्छा, बर्तन खरीदे, चाहे न खरीदे। फलतः नगर में पहुँचते ही अभय के बर्तन

बिक जाते थे और उसे इतनी आय हो जाती थी कि दाल-रोटी का अभाव न रहता था।

अभय नगर के बाहर कुम्हारों के मुहल्ले में रहता था, जहाँ मूर्तिमती दीनता निवास करती थी। वहाँ वैभव नहीं था, तो ईर्ष्या और द्वेष का भी निर्वाह नहीं था। लोग झोपड़ियों में रहते थे, परन्तु सन्तोष और शान्ति के साथ। परस्पर की सहानुभूति और ममता-वृत्ति ने उनके चारों ओर एक मीठे सुख की सृष्टि कर रखी थी। जब अभय पहले-पहल उनके बीच में आया, तब सबने एक प्रिय अतिथि के सदृश उसका स्वागत किया, और जब उन्हें ज्ञात हुआ कि उसकी इच्छा यहीं रहने की है, तब सब अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे उसे बसाने के लिये उत्साहित हो उठे। किसी ने मिट्टी जमा की, किसी ने पानी ढोया, किसी ने लकड़ियाँ जुटाईं, तो कोई घास-पात ही बटोर लाया। बस, एक छोटी सी साफ़-सुथरी झोपड़ी तैयार हो गई और अभय आनन्दपूर्वक उसमें रहने लगा।

धीरे-धीरे अभय ने लोगों के हृदयों में भी घर बना लिया। प्रतिदिन सन्ध्या के पश्चात् जब रजनी अपनी चादर से संसार को ढँक देती, और चारों ओर निस्तब्धता छा जाती, तब पुरा-पड़ौस के दस-पाँच प्राणी ब्यालू से निवृत्त होकर अभय के पास आ बैठते, और फिर घण्टों अनेक विषयों पर टीका-टिप्पणी चलती रहती। एक दिन बातों ही बातों में एक कुम्हार बोला—"संसार में इतने प्राणी हैं, तब समझ में नहीं आता कि ईश्वर ने हमें मनुष्य के चोले में क्यों उत्पन्न किया। यदि मनुष्य ही बनाने की इच्छा थी, तो यह निर्धनता हमारे पल्ले क्यों बाँध दी? बताओ, निर्धनता में क्या सुख है? दिन भर हड्डियाँ घोलते हैं और सन्ध्या को रूखा-सूखा भी भर-पेट नहीं पाते। एक वे हैं जो हाथ-पैर भी नहीं हिलाते, पर छप्पन भोजन पाते और मक्खन सी सेज पर सोते हैं। पूछो, उनको यह सुख कहाँ से प्राप्त हुआ? निर्धनों की ही कमाई से न? धन्य रे ईश्वर, तेरा न्याय!"

अभय ने मुसकरा कर कहा—"यदि तुम्हें ढेर-की-ढेर सम्पत्ति या विशाल राज्य मिल जाय, तो क्या होगा—जानते हो?"

सब लोग उत्सुक दृष्टि से अभय की ओर ताकने लगे। अभय उसी लहजे में कहता गया—"तब तुम आज की अपेक्षा भी निर्धन हो जाओगे। लोभ तुम्हारे हृदय में हाहाकार कर जाग उठेगा। शान्ति तुमसे बहुत दूर जा पड़ेगी। आठ पहर चौंसठ घड़ी एक ही असन्तोष तुम्हें पीड़ित किया करेगा—हमारी सम्पत्ति की और हमारे वैभव की और वृद्धि कैसे हो सकती है? वह असन्तोष तुम्हारे विवेक पर, तुम्हारी बुद्धि पर अज्ञान का पर्दा डाल देगा, और तब तुम निर्धनों का एक-एक तिल लूटने के लिए बिलकुल निर्दय—बिलकुल निर्मम बन बैठोगे। इतने पर भी एक चिन्ता तुम्हें कभी सुख की नींद न सोने देगी—हमारा वैभव कैसे सुरक्षित रह सकता है?"

दूसरा कुम्हार बीच में ही बोल उठा—"सत्य है। इससे तो हमारी निर्धनता ही भली। उसमें ये पाप तो नहीं हैं। अपनी नींद सोते हैं, अपनी नींद जागते हैं। न ऊधव का लेना, न माधव का देना।"

इस प्रकार अभय ने अन्य स्थानीय होने पर भी उन लोगों से अत्यधिक सामीप्य प्राप्त कर लिया था। वह उनमें इतना घुल-मिल गया था, मानो उनका कोई आत्मीय हो। स्वयं अभय का परिवार बहुत बड़ा नहीं था, उसमें उसके सिवा दो जन और थे—एक उसकी हीरे सी पत्नी और दूसरा उसका फूल सा बच्चा। ये दोनों प्राणी अभय के दो नेत्र थे। पत्नी उसकी शान्ति थी और बच्चा उसका आनन्द। फिर भी कभी-कभी वह उदास हो उठता था, मानो उसके हृदय में छिपे हुए दुःख और शोक की घटाएँ मुख-मण्डल पर आकर झलक मारने लगती थीं, और तब वह एक ओर शिथिल सा बैठ जाता, एवं न जाने क्या-क्या सोचने लगता था। उस समय पत्नी उसके पास जा बैठती और वाणी में अपने हृदय का समस्त स्नेह बटोर कर उससे पूछने लगती—"क्या सोच रहे हो?"

"सोच क्या रहा हूँ"—अभय टूटे हुए स्वर से उत्तर देता—"विगत जीवन से वर्तमान जीवन की तुलना कर रहा हूँ। दोनों में कितना महान् अन्तर है। वह जीवन कितना श्रेष्ठ था, यह जीवन कितना पतित है।

परन्तु कभी कभी यह भी प्रतीत होता है कि उस जीवन से यही जीवन श्रेष्ठ है ।"

"अवश्य श्रेष्ठ है !" पत्नी अपने कण्ठ में गम्भीर स्वर भर कर कहती—"उस जीवन में कितनी अपूर्णता थी ! यह हमें नित्य पूर्णता की ओर लिये जा रहा है। तब की और अब की अनुभूतियों में कितना अन्तर है। उस समय हम संसार में रहते हुए भी संसार से अपरिचित से थे, और आज उसके वास्तविक रूप के दर्शन कर रहे हैं।"

"परन्तु"–अभय हताश स्वर से बोल उठता–"दीर्घायु हमारा यह अत्योव लाल ! इसके भविष्य की चिन्ता से मेरे नेत्रों में अँधेरा छा जाता है।"

"यह चिन्ता व्यर्थ है। हम दीर्घायु के भाग्य के नियन्ता नहीं हैं। हमारा कर्तव्य इसे मनुष्य बना देना है फिर संसार में यह अपने पथ का निर्माण स्वयं कर लेगा।"—कह कर पत्नी अभय को तथा अपने आपको सान्त्वना देने की चेष्टा करती, परन्तु उसके नेत्रों में जल भर आता और कण्ठ में आकर जैसे कोई वस्तु अटक जाती। वह सकरुण दृष्टि से पति की ओर ताकने लगती।

अपने छोड़े हुए बाण का यह परिणाम देख, अभय के हृदय को जैसे कोई डँस सा लेता और तब वह तुरन्त दूसरी बात छेड़ देता, मानो पत्नी के चोटीले हृदय को सुहलाने की चेष्टा करने लगता।

एक दिन की बात है, अभय झोंपड़ी के सामने वाले नीम के वृक्ष की छाया में अपने कार्य में व्यस्त था। चाक वेग से घूम रहा था, और अभय के कुशल हाथ गीली मिट्टी को बर्तनों के रूप में ढालकर भूमि पर रखते जाते थे। थोड़े ही अन्तर पर उसकी पत्नी मिट्टी सान रही थी। दीर्घायु वृक्ष की टहनी के सहारे लटके हुए झूले में चुपचाप सो रहा था। गर्मी की ऋतु थी, अब वायु में प्रभात-कालीन शीतलता का अभाव हो गया था, और उसके स्थान पर उष्णता शनैः-शनैः तीव्र हो रही थी। उस कोमल नारी को वह श्रम असह्य हो उठा। उसके ललाट पर पसीने के बिन्दु झलझला आए। वह उठी, हाथ धोकर एक स्थान पर घनी-सी छाया में बैठ गई, और अपने अञ्चल को हिला-हिला कर शारीरिक क्लान्ति मिटाने की चेष्टा करने लगी।

अभय ने भी चाक रोक दिया। वह पत्नी के पास आ बैठा, और उसकी ओर विस्मय विमुग्ध दृष्टि से देखकर बोला—"बताओ, इस झोंपड़ी में क्या सुख है ?"

पत्नी ने उत्तर दिया—"तुम्हीं बताओ, दुःख क्या है ? मैं तो यही जानती हूँ कि इस झोंपड़ी में प्रेम का वास है और सदा शान्ति विराजती है। प्रेम जीवन का रस है, और शान्ति जीवन का मूल मन्त्र।"—उसके कण्ठ में अभिमान था, अधरों पर मुस्कराहट और नेत्रों में स्नेह की झलक।

अभय अवाक् हो रहा आश्चर्य से पत्नी की ओर देखने लगा। क्षण भर बाद बोला—"रहने के लिये दो हाथ की झोंपड़ी है। खाने के लिये रूखा-सूखा अन्न मिलता है। वस्त्र सदा मैले-कुचैले रहते हैं। साथी दीन-हीन और अशिक्षित हैं। क्या यही सब सुख की सामग्री है ?"

"अवश्य है !"—पत्नी मानों अपने मित्र-पद का पालन करती हुई बोली—"और न भी हो, तो इस असन्तोष से लाभ ? यदि सन्तोष हो, तो दो हाथ की झोंपड़ी, रूखा-सूखा अन्न और मैले-कुचैले वस्त्र ही परम सुख की सामग्री का काम दे देते हैं। किसी ने गिनती की है, कि संसार के कितने मनुष्य इसी वातावरण में जन्म लेते, बड़े होते और अन्त में मर जाते हैं। हम भी उन्हीं में सही। रहे ये दीन हीन और अशिक्षित साथी, सो मैं तो इन पर अभिमान करती हूँ। ये दीन-हीन अवश्य हैं, पर हृदय के कितने धनी, कैसे निस्प्रेही और विशुद्ध प्रेमी हैं। अशिक्षित हैं, पर शिक्षितों के समान विद्या, बुद्धि और ज्ञान की ओट में पापों को छिपाने की कला तो नहीं जानते ! राजभवनों में रहने वाले मनुष्य इनकी क्या समता करेंगे, जो मनुष्यता से पहले नाता तोड़ते हैं, संसार में पीछे आते हैं।"

"उफ ! इतना परिवर्तन ! हाय ! दुःख के कठोर आघातों ने तुम्हारी सारी कोमल वृत्तियाँ चूर-चूर कर डालीं।" अभय सहानुभूति के स्वर में बोला।

"कहाँ ! तुम्हारे साथ तो मैंने कभी दुःख का अनुभव किया नहीं ! और फिर दुःख तो कोमल वृत्तियों को कोमलतर बनाते हैं। तुम्ह अपनी ओर देखो, पहले इतने उदार, इतने पर-दुःख-कातर और इतने प्रेमी कहाँ थे ?"—पत्नी ने सूखी हँसी हँसते हुए कहा।

अभय ने चारों ओर सिर घुमाकर देखा। आस-पास दूर तक मनुष्य की छाया भी नहीं थी। वह पत्नी के मुख पर आँखें गड़ा कर एक ठण्डी साँस लेते हुए बोला—"तो तुम्हें कभी कौशल का स्मरण नहीं आता विद्या ?"

"हाय ! कौशल क्या कभी भूलने की वस्तु है महाराज ! वह तो रक्त की एक-एक बूँद में समाया हुआ है। जहाँ राज-रानी बनकर रही, जहाँ वर्षों आपके साथ जीवन के सोनहले दिन व्यतीत हुए, वहाँ का स्मरण क्यों न आवेगा ? दिन में न जाने कितने बार मन उड़कर वहाँ पहुँचता है।" कहते हुए विद्याधरी का कण्ठ भर आया, और नेत्रों से कितने ही मुक्ता पतित होकर धरती में समा गए।

"प्रिये !"—विद्याधरी के नेत्र पोंछते हुए दीधित ने कहा—"अब इस वेदना से कोई लाभ नहीं। उफ़ ! कितना भयानक था वह युद्ध ! अपने सैनिकों ने मृत्यु का तिरस्कार करते हुए जीवन उत्सर्ग कर दिए। परन्तु उतने प्राणों के मूल्य पर भी हम स्वतंत्रता को क्रय नहीं कर सके। और आज शत्रु के ही घर में, इस रूप में दिन काट रहे हैं। भाग्य की लीला ! और क्या कहें।"

"जो हो, मनुष्य आपके नाम पर कायरता का कलङ्क न लगावेंगे। राज्यच्युत हुए तो क्या, मनुष्यता को तो हाथ से नहीं जाने दिया।"

"परन्तु ब्रह्मदत्त की तो विजय हो गई।"

"हाँ, विजय तो हो गई, पर अधूरी। उसकी अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई—उसके हृदय की अग्नि नहीं बुझी।"

"सो कैसे ?"

"ब्रह्मदत्त ने आपको बन्दी करने के लिये जो एक लक्ष मुद्रा के पुरस्कार की घोषणा कर रक्खी है, उसका अभिप्राय क्या है ? यही तो कि आपने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की, जिससे उसकी विजय अधूरी रह गई। आप जैसे छोटे से राजा ने राज्य खोकर भी उसे अपना सम्राट् नहीं माना, जिससे उसके मान और महत्व पर आघात पहुँचा, और अब वह प्रतिहिंसा की अग्नि में जल रहा है। आपके ही चरणों में मेरा साम्राज्य—मेरा सम्पूर्ण सुख है। ईश्वर आपकी रक्षा करे—इस जीवन की बस इतनी ही साध रह गई है।"

इसके बाद विद्याधरी का कण्ठ पुनः भर आया ! देर तक उसकी आँखों से आँसू बहते रहे ! परन्तु ईश्वर ने उसकी साध पूरी नहीं की। कुछ वर्ष पश्चात्, जब कि दीधित काशी के राज-मार्ग पर फेरी लगा रहा था, ब्रह्मदत्त के सैनिकों ने उसे बाँध लिया। फिर वह नहीं लौटा। विद्याधरी ने यह समाचार सुना, तो वह फूट-फूट कर रोने लगी। पुरा-पड़ोस के पुरुष आए, स्त्रियाँ आईं ! सबने उसे आत्मीय भाव से सान्त्वना दी, परन्तु उसके आँसू पोंछने की क्षमता किसमें थी ?

दूसरे दिन विद्याधरी की झोपड़ी सूनी पड़ी थी ! कोई यह न जान सका कि वह अपने दीर्घायु को लेकर कहाँ चली गई !

× × ×

सहसा ब्रह्मदत्त की आँख खुल गई। बाहर कोई सुरीले कण्ठ से गा रहा था। उसकी मधुर ध्वनि वायु की लहरों पर तैर-तैर कर आ रही थी। गान के एक-एक शब्द में करुणा भरी हुई थी, जो कानों की राह से प्रवेश कर, सीधे हृदय पर चोट करती थी। ब्रह्मदत्त सुनते-सुनते अधीर हो उठा। उसने ज़ोर से आवाज़ दी—"प्रहरी !"

"आया प्रभो !"—कहता हुए प्रहरी उपस्थित हुआ, और हाथ बाँध कर खड़ा हो रहा।

"अभी कितनी रात्रि शेष है ?"

"महाराज, उषा की लालिमा से आकाश लोहित वर्ण का हो रहा है। अब प्रातःकाल होने में विशेष विलम्ब नहीं है।"

"यह कौन गा रहा है ?"

"थोड़े दिन हुए, अश्वशाला में एक युवक आया है। यह उसी की मनोहर कण्ठ-ध्वनि है।"

"उसे अविलम्ब मेरे सम्मुख उपस्थित करो।"

घड़ी भर बाद ही गायक युवा राज-भवन में प्रस्तुत हुआ। आयु लगभग अठारह वर्ष लगते बीतती हुई, मुख-मुद्रा मोहक, स्वास्थ्य की आभा से ओत प्रोत शरीर, परन्तु वस्त्रों में दीनता छिपी हुई, मानों दुर्दशा का साक्षात हो। ब्रह्मदत्त ने उस पर एक पैनी दृष्टि डाली और फिर पूछा—"तुम्हें काशी में आए कितने दिन हुए?"

"दो मास से भी कम।"

"कहाँ से आए?"

"पाटलिपुत्र से।"

"अकेले हो, या साथ और भी कोई है?"

"अकेला ही हूँ महाराज! बहुत दिन हुए, माता-पिता अनाथ छोड़कर भगवान की गोद में चले गए। इस संसार में मेरा कोई नेही-नातेदार भी नहीं। जीविका की चिन्ता में यहाँ चला आया और अब आपकी अश्व-शाला में काम करता हूँ।"—युवक का कण्ठ रुँध गया और उसके नेत्रों से कुछ अश्रु-बिन्दु धरती पर गिर पड़े।

"वत्स, अब दुखित होने की आवश्यकता नहीं।"—युवक की बात सुनकर ब्रह्मदत्त का हृदय पसीज उठा और वह सहानुभूति से सने हुए स्वर में बोला—"किसी के माता-पिता सदा जीवित नहीं रहते। तुम आनन्द पूर्वक यहीं रहो। तुम्हारे गाने से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। बोलो, क्या पुरस्कार चाहते हो?"

"मैं एक दीन बालक हूँ महाराज! पुरस्कार लेकर क्या करूँगा। दीन मनुष्य को दीन बनकर ही रहना चाहिए।"—युवक के हृदय में निस्पृहता थी, या अभिमान था, यह कौन जाने। परन्तु ये शब्द बोलते-बोलते उसके कपोलों की लालिमा गहरी अवश्य हो गई।

"तुम पुरस्कार नहीं चाहते?"—ब्रह्मदत्त ने नेत्र फाड़ कर युवक को ताकते हुए कहा—"क्यों भला? परन्तु मैं तुम्हें पुरस्कृत अवश्य करूँगा। मैं जिस पर प्रसन्न होता हूँ, उसे कुछ न कुछ देकर ही रहता हूँ, यह मेरा नियम है। अब तुम्हें अश्व-शाला में रहने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारा रङ्ग-रूप भी वहाँ रहने योग्य नहीं है। आज से तुम मेरे पार्श्वचर नियुक्त किये गए! परन्तु कभी-कभी अपना मीठा गाना तो सुना सकोगे न?"

"यह महाराज की कृपा है!"—कहकर युवक ने ब्रह्मदत्त की आँखों से आँखें मिलाई। उसके गुलाबी कपोल एक बार पुनः आरक्त हो गए, और साथ ही शरीर काँप उठा। वह महाराज को प्रणाम कर धीरे-धीरे वहाँ से चला गया—मानों इस पद-वृद्धि ने उसे सोचने और विचारने की कुछ नवीन सामग्री दे दी हो।

"अद्भुत युवक है यह!"—ब्रह्मदत्त आप ही आप बोल उठा—"मैंने इतना बड़ा पद दे डाला, पर उसके मुँह पर हर्ष या कृतज्ञता की एक रेखा भी दिखाई न दी। कदाचित् वह पार्श्वचर के पद की महिमा से अनभिज्ञ है। तभी ..."

परन्तु युवक ने पहले ही दिन अपना काम इस प्रकार सँभाला, मानो वह वर्षों से उसका अभ्यस्त हो। जब वह अपने पद के अनुरूप वेश-भूषा से सुसज्जित हो दरबार में पहुँचा, तब उसका रूप खिल उठा, जैसे हीरा स्वर्ण में जड़ दिया गया हो। सभासदों ने उसपर कौतूहल-पूर्ण दृष्टि डाली, और आप ही आप कहा—देवकुमार के सदृश यह कौन है? युवक ने इतना बड़ा पद पाया तो सही, पर उसमें जो गम्भीरता पहले दिन दिखाई दी थी, वह अब और भी बढ़ गई थी। उसके अधरों पर मुसकान तो शायद ही कभी दिखाई देती थी। वह लोगों से बहुत कम मिलता-जुलता था, आवश्यकता से अधिक न बोलता, सदा अपने काम से काम रखता। ऐसा प्रतीत होता, जैसे भीतर-ही-भीतर किसी गम्भीर प्रश्न की विवेचना में व्यस्त रहता हो। उसके इस आचरण को कोई गम्भीरता समझता था, कोई उदासीनता का लक्षण मानता था, तो कोई मूर्खता, नीरसता अथवा अभिमान का चिह्न। परन्तु ब्रह्मदत्त उसकी कार्य-कुशलता पर मुग्ध था, अतएव वह दिनोंदिन ब्रह्मदत्त के समीप होता जाता था।

एक दिन ब्रह्मदत्त आखेट करने गया। बन में पहुँचने पर सब लोग आखेट के अनुसन्धान में इधर-उधर बिखर गए। थोड़ी देर बाद एक मृग पर ब्रह्मदत्त की दृष्टि पड़ी। उसने लक्ष्य साधा और बाण छोड़ दिया। परन्तु निशाना चूक गया। मृग चौंका और चौकड़ियाँ भरने लगा। ब्रह्मदत्त का घोड़ा भी उसके पीछे-पीछे दौड़ चला। मृग

को प्राणों की चिन्ता थी, ब्रह्मदत्त को शिकार की। अतएव दोनों ऐसे उड़े जा रहे थे, जैसे चिड़िया और बाज़। थोड़ी देर बाद मृग दृष्टि से ओझल हो गया, और ब्रह्मदत्त भूलता भटकता एक सघन वन में जा पहुँचा। मध्याह्न का समय था। धूप ऐसी प्रखर थी, जैसे सचेत हुए पापी के हृदय में पश्चात्ताप की अग्नि। ब्रह्मदत्त का शरीर पसीने-पसीने हो रहा था। वह एक वृक्ष की घनी-सी छाया में घोड़े से उतर पड़ा। भार हल्का होते ही घोड़े ने दूब से मुँह लगाया और ब्रह्मदत्त शून्य दृष्टि से चारों ओर दूर-दूर तक ताकने लगा। इतने में उसने देखा, कि युवक एक ओर से उसी के निकट आ रहा है।

'क्या तुम भी मार्ग भूल गए?"—युवक पास पहुँचा, तो ब्रह्मदत्त ने पूछा।

"नहीं तो, महाराज की सेवा करने चला आया।" युवक ने घोड़े की पीठ छोड़ते हुए उत्तर दिया। इसके बाद उसने कुछ भूमि स्वच्छ की, घोड़े की पीठ पर बँधे हुये वस्त्र खोल कर बिछाये और ब्रह्मदत्त से कहा—"श्रीमान्, दो घड़ी विश्राम कर लीजिये।"

"युवक, तुम्हें मेरी बड़ी चिन्ता रहती है। तुम्हारा सेवा-भाव देखता हूँ, तो मुग्ध हो जाता हूँ। आओ, तुम भी बैठो।"—बिस्तर पर बैठते-बैठते ब्रह्मदत्त ने कहा। युवक ने उसकी आज्ञा का पालन किया। ब्रह्मदत्त भूल गया कि मैं सम्राट् हूँ। शायद युवक भी भूल गया कि मैं सम्राट् का तुच्छ सेवक हूँ। परिस्थिति की विवशता कितनी शक्तिशालिनी होती है। ब्रह्मदत्त युवक की जङ्घा पर सिर डालकर लेट रहा। दोनों में वार्तालाप होने लगा। शीतल वायु ऐसे प्रवाहित हो रही थी, जैसे दया की निर्झरिणी में उदारता का जल। धीरे-धीरे ब्रह्मदत्त के नेत्रों में परम शान्तिदायिनी निद्रा विश्राम करने लगी।

जब युवक ने देखा कि ब्रह्मदत्त गाढ़ निद्रा में मग्न है, तब उसने धीरे-धीरे म्यान से तलवार खींची और ब्रह्मदत्त के कण्ठ की ओर बढ़ाई। तलवार कण्ठ तक पहुँची थी, कि उसने हाथ रोक लिया और तलवार भूमि पर रख दी। कुछ समय तक सोचने के बाद उसने पुनः तलवार उठाई। जीवन और मरण का सङ्गम होने में केवल एक बालिश्त का अन्तर रह गया; परन्तु उनका मिलन हुआ नहीं। सहसा भीतर ही भीतर किसी ने युवक की आत्मा को झकझोर डाला और उसके हाथ से तलवार छीन कर भूमि पर रख दी। युवक ने फिर साहस को समेट कर तलवार उठाई, पर उसका हाथ चल नहीं सका। मानो उस समय युवक के हृदय में राक्षस और देवता का द्वन्द्व हो रहा था। राक्षस बार-बार ब्रह्मदत्त की हत्या करने पर उतारू होता था, परन्तु देवता उसे प्रत्येक बार उठा कर पछाड़ देता था।

इस प्रकार जीवन और मरण एक दूसरे को चुनौती दे ही रहे थे कि ब्रह्मदत्त हड़बड़ा कर जाग उठा और युवक की ओर घूरते हुए बोला—"तुम मेरी हत्या करना चाहते थे। मैंने अभी-अभी स्वप्न देखा है?"

"हाँ, करना तो चाहता था।"—युवक ने निर्विकार भाव से उत्तर दिया—"मैंने तीन बार तलवार उठाई, परन्तु धन्यवाद दीजिए मेरी माता को, जिसने तीनों बार आपकी रक्षा की।"

"कहाँ है तुम्हारी माता? तुम तो कहते थे कि वह मर चुकी है।"

"हाँ, शरीर से मर चुकी है, पर स्मृति-रूप से मेरे हृदय में रहती है।"

"तब उसने मेरी रक्षा कैसे की?"

"उसने या उसके उपदेश ने, बात एक ही है।"

"उसने तुम्हें कौन सा उपदेश दिया था?"

'महाराज, मेरी माता बड़ी दुखियारी थी। असह्य दुःखाग्नि ने उसके हृदय को काञ्चन बना दिया था। उसने अपने अन्तिम काल में मुझे आज्ञा दी थी कि बेटा, अपने भयानक से भयानक शत्रु पर भी प्रेम-भाव रखना; क्योंकि प्रेम से प्रेम और घृणा से घृणा की उत्पत्ति होती है।"

"तब मैं तुम्हारा शत्रु हूँ! तुम्हें एकदम इतना ऊँचा पद दिया, तुम पर सदा दया-भाव रक्खा, फिर भी मैं तुम्हारा शत्रु हूँ?"

"जी हाँ, आप मेरे शत्रु हैं, और शत्रु भी साधारण नहीं, अत्यन्त भयानक, अत्यन्त भीषण। आपने मेरे जिस

स्वर्णमय संसार को नष्ट किया है, उसके समक्ष आपकी कृपा का यह सम्पूर्ण दान तुच्छातितुच्छ है।"

"सो कैसे?"

"आपको स्मरण होगा, लगभग बीस वर्ष हुए, आपने कौशल पर आक्रमण किया था।"

"परन्तु उसमें तुम्हारा सम्बन्ध? तुम तो पाटलिपुत्र के निवासी हो न?"

"धैर्य-पूर्वक सुनिए! कौशल पति ने आपकी अधीनता स्वीकार नहीं की, वे युद्ध में परास्त हुए और अपनी पत्नी सहित यहीं—आपकी काशी में आकर रहने लगे। पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए उन्होंने कुम्हार का धन्धा स्वीकार कर लिया। पर, आपकी पिशाच वृत्ति ने उन्हें इस दशा में भी न रहने दिया। एक दिन आपके सैनिकों ने उनको बन्दी कर लिया और तलवार के घाट उतार दिया। मैं उन्हीं कौशल पति का पुत्र हूँ। दीर्घायु मेरा नाम है। जिस समय पिता जी ने यह संसार छोड़ा, मैं कोई चार वर्ष का था। मेरी माता मुझे बचाने के लिये चुपचाप काशी से बाहर चली गई। आह! मेरे पालन-पोषण के लिए उस राज्य-च्युत देवी को कितने कष्ट सहने पड़े। लगभग तीन वर्ष हुए, मेरी वह स्नेह-मयी जननी भी मुझे छोड़ कर चली गई। जिस दिन से मैंने होश सँभाला है, मेरे हृदय में एक भयानक चिता धू-धू करती रहती है। उसी की शान्ति के लिये आज तलवार उठाई थी, पर माता की महिमा!"

बात पूरी करते-करते दीर्घायु के नेत्र भर आए। परन्तु ब्रह्मदत्त ने लपक कर उसके हाथ बाँध दिए। दीर्घायु ने प्रतिकार की कोई चेष्टा नहीं की। ब्रह्मदत्त ने उसे सहारा देकर घोड़े पर बिठाया, और तब स्वयं घोड़े पर सवार होकर डेरे की ओर चला। मार्ग में दोनों चुप रहे। दीर्घायु के मुख पर दीप्ति नहीं, विषाद की श्यामल छाया थी। शायद वह मन ही मन अपने दुर्भाग्य की मीमांसा करता जाता था। परन्तु ब्रह्मदत्त के मुख पर प्रसन्नता की आभा थी। शायद वह मन ही मन अपने सौभाग्य पर इतराता जाता था।

डेरे पर पहुँचकर ब्रह्मदत्त ने सैनिकों को आज्ञा दी—"यह पार्श्वचर भयानक अपराधी है। इसको देख भाल अत्यन्त सावधानी से की जाय।"

दीर्घायु पर जलने वालों का अभाव न था। जलने की बात ही थी। एक अल्पायु युवक इतने बड़े पद पर पहुँच जाय और सयाने लोग न जलें, तो प्रकृति का नियम ही कहाँ रहे? अतएव उनका यह कहना उचित ही था कि "ऐसा तो होना ही था। महाराज की भूल थी, जो उन्होंने पथ के भिखारी को सिंहासन पर बिठा दिया।" परन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे, जो यह कहकर स्वाभाविकता पर पानी फेर रहे थे, कि "हाय! इस युवक को अपने नन्हें से प्राणों पर दया न आई!"

× × ×

ब्रह्मदत्त अपने राज-भवन में एक उच्चासन पर बैठा हुआ था। उसके वाम पार्श्व में उसकी महारानी भी विद्यमान थी, जैसे पुरुष के साथ प्रकृति अथवा जीव के साथ माया। ब्रह्मदत्त ने अपनी घनी मूँछों में दबे हुए ओठों में स्मित हास्य भर कर महारानी से कहा—प्रिये, कल एक अद्भुत अपराधी बन्दी हुआ है, वही युवक, जिसे कुछ समय पूर्व मैंने पार्श्वचर नियुक्त किया था, और जो बहुत अच्छा गाता है। उसे दण्डित करने के लिये तुम्हारी आवश्यकता है।" इसके बाद ही उसने गम्भीरता-पूर्वक आवाज दी—"प्रहरी, कल वाला अपराधी उपस्थित किया जाय।"

सैनिक अविलम्ब दीर्घायु को ले आए, और ब्रह्मदत्त का सङ्केत पाते ही बाहर चले गए। दीर्घायु के हाथ बँधे हुए थे, परन्तु मुख से कान्ति फूट रही थी, जैसे चन्द्रमा धूमिल बादलों को चीर कर बाहर निकल आया हो। दीर्घायु को मानो, ब्रह्मदत्त के न्याय का आभास हो चुका था और उसने निश्चय कर लिया था कि मेरा भाग्य माता-पिता के भाग्य से तो श्रेष्ठ हो नहीं सकता, तब दुखित होने से क्या लाभ? जब मरना ही है, तब हृदय में किसी विकार को क्यों स्थान दूँ?

इसी समय वहाँ एक षोडश वर्षीया कुमारी ने प्रवेश किया। खिले हुए पुष्प के सदृश मुख, भोलेपन

से परिपूर्ण आकर्ण विस्तृत नेत्र, कुन्दन के समान उज्ज्वल वर्ण, शरीर में जैसे ईंगुर भरा हो, कङ्कड़ मारो तो लहू बह निकले। उसने कौतूहलमय नेत्रों से दीर्घायु को देखा। दीर्घायु ने भी उसी दृष्टि से उस लावण्य की पुतली की ओर निहारा। दोनों का दृष्टि-मिलन हुआ और दोनों के सिर झुक गए।

"कुसुम!"—ब्रह्मदत्त ने कुमारी की ओर स्नेहमयी दृष्टि से देखा और वात्सल्यपूर्ण स्वर से कहा—"इस बन्दी को बन्धन-मुक्त कर दो बेटी!"

कुसुम ने ब्रह्मदत्त की आज्ञा का पालन किया। फिर वह धीरे-धीरे चल कर राज महिषी के निकट जा बैठी।

"यही वह बन्दी है आर्ये!"—ब्रह्मदत्त ने पत्नी की ओर मुँह फेरते हुए कहा।

"यह रूप और ऐसा काम! सच है, फूल में काँटा छिपा रहता है।"—मुसकरा कर राज-रानी बोली।

"तुम इसे जानती हो! यह कौशल नरेश दीधित का पुत्र है। कल इसने मेरी हत्या करने के लिये तीन बार तलवार उठाई थी। बोलो, इसे क्या दण्ड दिया जाय?"

"कल का बच्चा!"—काशी की राज्य-लक्ष्मी ने अग्निमय नेत्रों से दीर्घायु को देखा, एवं चीख़ कर कहा—"और यह साहस! आश्चर्य की बात है, अब तक इसके धड़ पर सिर रहा कैसे? यह तो केवल प्राण-दण्ड का पात्र है।"

"परन्तु मेरा विचार कुछ और है। यदि यह आजीवन बन्दी बना रहे, तो?"

"और भी उत्तम। घुल-घुल कर मरेगा।"

"परन्तु बेड़ियाँ सुदृढ़ होनी चाहिए!"

"आपके पास बेड़ियों का क्या अभाव?"

"उन बेड़ियों में वह बल—वह दृढ़ता कहाँ?"

"तब?"—महारानी ने महाराज की ओर रहस्य-मय दृष्टि से देखा।

"तुम सहायता करो, तो काम बन जाय।"—महा-राज ने मुसकरा कर कहा।

"मैं क्या सहायता करूँ? मेरे पास ऐसी बेड़ियाँ कहाँ?"

"एक है, वचन दो, तो कहूँ।"

"वचन ही समझिए। होगी, तो क्यों न दूँगी। परन्तु मेरे पास है नहीं। न जाने, आपको क्यों विश्वास हो गया है।"—सम्राज्ञी स्थिरतापूर्वक बोलीं।

"है, तभी तो कह रहा हूँ। देखो, किन्तु-परन्तु न करने लगना।"—सम्राट ने आग्रहपूर्वक कहा।

"आज्ञा कीजिए।"

"क्या इसके लिये हमारी कुसुम लोहे की बेड़ियों से अधिक दृढ़ प्रमाणित न होगी?"

सरयूपारीण ब्राह्मण-समाज

समूचे देश के ब्राह्मण दो शाखाओं में विभक्त हैं। एक का नाम है उदीच्य तथा दूसरे का नाम है औदिच्य। इन्हें पञ्चगौड़ एवम् पञ्च द्राविण के भी नाम से पुकारा जाता है। साधारणतया उत्तर-भारत के ब्राह्मण उदीच्य या पञ्चगौड़ तथा दक्षिण-भारत के औदिच्य अथवा पञ्च द्राविण की संज्ञा धारण किए हुए हैं।

पञ्चगौड़ों की संख्या में सरयूपारियों का नाम नहीं आता। अधिकांश मत यह है कि ये कनवजियों की ही एक शाखा हैं। यद्यपि इस सम्बन्ध में अभी तक कोई स्पष्ट प्रमाण साबित नहीं हो सका है, तथापि लोग अनुमानतः से उपर्युक्त मत को ही मानने लगे हैं।

उत्पत्ति

सरयूपारीण ब्राह्मणों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न-लिखित कथा प्रचलित है —

रामचन्द्र ने रावण को मारा। रावण ब्राह्मण था। कर्तव्य उसका राक्षसों जैसा अवश्य था, परन्तु उसका कर्तव्य, उसकी 'जाति' को आत्मसात् न कर सका। उसने जो कुछ किया था, सद्विचार से—इसी कारण वह मृत्यु समय भी 'ब्राह्मण' ही बना रहा! आर्य धर्मशास्त्र में ब्राह्मण की हत्या सब से बड़ा 'अपराध' माना गया है। रामचन्द्र आर्य-धर्म की मर्यादा ही तो बाँधने आये थे! अभी अभी उन्होंने आदर्श सती सीता का, एक धोबी के कहने से परित्याग किया था। अब उन पर यह दूसरा आरोप 'ब्रह्महत्या' का भी लग गया। अतः स्मृतियों द्वारा बताये गये निराकरणों के करने की बारी आयी। यज्ञ रचा गया। पर उस यज्ञ में भोजन कौन करे। ब्राह्मणों ने भगवान राम का सामाजिक बहिष्कार किया! ब्राह्मणों की बड़ी मिन्नतें की गई, उनके सामने हाथ जोड़े गये, राज्य का प्रलोभन दिया गया, पीले और स्वेत धातुओं की बनी हुई मुद्रायें उनके सामने बिखेरी गई, परन्तु धन्य है उस समय के ब्राह्मण जगत को! वह टस से मस न हुये। धन उस जाति को डिगा न सका, राज्य का प्रलोभन उनके लिये महत्व-हीन प्रमाणित हुआ। अब राम की चिन्ता बढ़ी! यज्ञ छोड़ कर वे धनुष-बाण ले ब्राह्मणों की खोज में निकले!

नैमिषारण्य की पाठशाला में पढ़ने के लिये तीन विद्यार्थी अर्धनग्नावस्था में चले आ रहे थे। राम ने उन्हें रोक कर पूछा—तुम कौन हो? उत्तर में उन्होंने अपने को ब्राह्मण बताया। भगवान राम किसी तरह उन्हीं तीन विद्यार्थियों को अयोध्यापुरी लाने में सफल हुए। फिर भी कहा जाता है कि इन तीन विद्यार्थियों ने राम के यहाँ अन्न-जल नहीं ग्रहण किया। केवल ताम्बूल ही, बहुत कुछ आग्रह करने पर स्वीकार किया। तदुपरान्त तेरह छात्र और किसी तरह बुलाये गये। 'तीन', 'तेरह' मिलकर 'षोड्स' हुए, अब राम का उत्साह बढ़ा। उन्होंने बल-पूर्वक ब्राह्मणों को इकट्ठा करना आरम्भ किया। तीसरी बार उन्होंने सवा लक्ष्य ब्राह्मण इकट्ठा किये। कुछेक लोगों का कहना है कि इस 'सवा लक्ष्य' में और भी जातियाँ सम्मिलित हो गई और राम ने उन्हें भी ब्राह्मण बना दिया। इन ब्राह्मणों ने राम के यहाँ भोजन किया, जिसके लिये कट्टर ब्राह्मणों ने इन्हें बहिष्कृत किया। बहिष्कृत होने के उपरान्त ये लोग रोते हुए अयोध्या वापस आये और राम को अपना दुखड़ा सुनाया।

राम ने उसी समय राजकीय घोषणा के द्वारा विदित किया कि आप सब हम सूर्यवंशियों के 'पूज्य' घोषित किये जाते हैं। सर्वप्रथम पद 'तीन' को, फिर 'तेरह' को और अन्तिम पद 'सवा लक्ष्य' को देकर उन्हें बसने के लिये अपने राज्य का आधा अंश दे दिया ! और उनसे सरयूपार में (सरयू नदी के उत्तर के देश में) बसने का आग्रह किया। एक मत यह भी है कि उन्होंने धनुष पर तीर (सर) रख कर सन्धान करते हुए यह घोषित किया कि जहाँ तक यह सर जाय, वहाँ तक आप लोग अपनी भूमि समझिये। उस 'सर' से भी सरवार प्रान्त के नाम का बहुत कुछ सम्बन्ध बताया जाता है। सरवार, सरयू पार—दोनों शब्द एक ही स्थान के लिये आते हैं—सरयूपार में गोरखपुर, बस्ती, गोंडा, बहराइच—ये चार मुख्य ज़िले हैं। परन्तु आदि केन्द्र अयोध्या के पास का "मखौड़ा" स्थान माना गया है। कारण इसी मखौड़ा में राम ने 'मख' किया था। इसी मखौड़ा में आज से क़रीब दस-बारह वर्ष पूर्व पं० तीर्थराजमणि तिवारी ने सरयूपारीण ब्राह्मणों के उत्तम कुल वालों को इकट्ठा किया था। सम्भवतः भगवान राम के उपरान्त वह दूसरा ही अवसर था, जब कि सरयूपारीण ब्राह्मण वहाँ उपस्थित हुए थे।

हाँ, तो राम ने उन्हें सरयू-पार में बसाया और अपना आधा राज उन्हें अर्पित कर दिया। सरयूपारियों की 'तिवारी या त्रिपाठी' शाखा वाले अब भी कहीं-कहीं 'अधरजिया' नाम से सम्बोधित होते हैं, और 'सिंह' की पदवी धारण करते हैं।

यहीं से सरयूपारियों की तीन प्रमुख शाखा 'तीन', 'तेरह' और 'सवालक्खी' की नींव पड़ी। 'तीन' सर्वोत्तम माने जाते हैं, 'तेरह' उत्तम एवम् सवालक्खी मध्यम श्रेणी में गिने जाते हैं। इन तीनों (सम्भवतः प्रथम दो श्रेणियों) के अन्तर्गत एक 'पंक्ति' नाम की शाखा भी उत्पन्न हो गई है। 'पंक्ति' शाखा का प्रादुर्भाव सम्भवतः उस समय हुआ होगा जब कि प्रथम बार इन लोगों ने एक साथ एक पंक्ति में बैठ कर भोजन किया होगा। उस अवसर पर एक पंक्ति में बैठ कर जितने लोगों ने भोजन किया, उन्हें 'पंक्ति' नाम का विशेषण मिल गया। आज यह 'पंक्ति' विशेषण-धारी समाज ही सरयूपारियों में सर्वोत्तम माना जाता है, इसमें 'तीन' और 'तेरह' दोनों शाखाओं के लोग हैं।

विशेषता

'पंक्ति' शाखा के सम्बन्ध में थोड़ा सा उल्लेख कर देना अप्रासङ्गिक न होगा। सरयूपारियों में आज यह 'पंक्ति' समाज ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। 'पंक्ति' को कोई-कोई 'पतित पावन' नाम से भी पुकारते हैं, जिसका अर्थ है पतितों को पावन करने वाले।

यह पंक्ति शाखा एक गुट्ट के समान है। पहिले इनकी कितनी संख्या रही, यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु इस समय इस शाखा के शुद्ध अनुयायी कुटुम्बों की संख्या ढाई सौ से अधिक न होगी। इस शाखा के लोग सरयूपार, चम्पारन, प्रतापगढ़ छोड़ कर अन्यत्र नहीं बसे हैं। इसमें विशेषकर शुक्ल, मिश्र, तिवारी तथा थोड़े से पाण्डेय हैं।

इस गुट्ट की विशेषता ब्याह आदि अवसरों पर देखने को मिलती है। इस गुट्ट के सदस्य 'पंक्ति' के बाहर विवाह-सम्बन्ध नहीं करते। 'पंक्ति' के बाहर जाने वाला 'त्रुटि' हो जाता है। फिर उसके साथ पंक्ति वाले खान-पान का सम्बन्ध छोड़ देते हैं।

यदि किसी पंक्ति कुल में कोई त्रुटि कुल की कन्या कार्य-कारण से वधू-रूप से स्वीकार कर ली जाती है तो उसकी दशा वहाँ अछूतों सी रहती है। घर के बड़े-बूढ़े अपनी पंक्ति की रक्षा करने के निमित्त उस वधू के हाथ का छुआ कच्चा भोजन नहीं करते। 'पंक्ति' की कन्या 'त्रुटि' कुल में नहीं जा सकती। 'त्रुटि' कुल की कन्या भी केवल उन्हीं 'पंक्तियों' के यहाँ जाती है, जो या तो साक्षात् दरिद्रनारायण हैं, या जिनके लिये कार्य-कारण से पंक्ति-कुल में कन्याएँ नहीं मिलतीं। ऐसे 'पंक्ति' भी त्रुटि-कुल में विवाह कर लेने के बाद तुरन्त कन्या (वधू) को अपने साथ ही घर लिवा ले जाते हैं। विवाहोपरान्त वह कन्या अपने पिता के घर कच्चा भोजन नहीं करने पाती।

'पंक्ति' मण्डल में दहेज की कुप्रथा अब तक नहीं थी। टीका के समय पलास के दोने में एक रुपया लेकर कन्या-पक्ष वाले टीका दे दिया करते थे। अब भी प्रकाश्य रूप से यही प्रथा है, फिर भी अर्थ-लोलुपता ने इस बन्धन को कुछ ढीला कर दिया है—अब छिपे-छिपे लोग दहेज की रकम तय कर लेते हैं और यही नहीं, 'वरन' (पेशगी) भी लेने लगे हैं; जो अब तक नहीं होता था। इनके यहाँ पाँच दिन बारात ठहरती है।

इस मण्डल में धनी से धनी घर की कन्याएँ दरिद्रियों के घर जाती हैं। कारण मण्डल के भीतर धनियों की संख्या बहुत कम है। अधिकांश लोग ग़रीबी की घोर यातना सहते दीख पड़ते हैं! निर्धनता जैसे मानो अपना हाथ-पैर काट कर इन मण्डल वालों के यहाँ बैठ गई है!

इतना होने पर भी इस मण्डल वालों का आचार-विचार, सदाचार सराहनीय है। सभ्यता, सुशीलता इनका प्रधान गुण है। अशिक्षित 'पंक्ति' का भी व्यवहार ऐसा शिष्ट होगा कि आप यह नहीं भाँप सकते कि ये दरिद्रता के मूर्ति अशिक्षित व्यक्ति क्योंकर इतनी बातें जानते हैं।

अतिथि-सत्कार इनका परम-पावन धर्म है। स्वयम् मटर की रोटी खाकर रह जायेंगे, परन्तु अतिथि को पूड़ी-शाक खिलायेंगे। घर में बहुयें ज़मीन पर सो रहेंगी, परन्तु अतिथि के लिए सुन्दर बिछौने दिये जायँगे।

अकड़ इनमें इतनी अधिक है कि अभी तक ये जन-साधारण के यहाँ अन्न-जल ग्रहण नहीं करते। बहुत लालच दिया गया, बड़े प्रलोभन दिखाये गए, परन्तु इन्होंने दरिद्रता का आलिङ्गन किया, लेकिन किसी के यहाँ अन्न ग्रहण नहीं किया।

अब भी बड़े-बड़े सरयूपारी इन दरिद्र पंक्तियों के यहाँ अपनी कन्या देने में अपना परम सौभाग्य समझते हैं। सहस्रों रुपये का प्रलोभन देकर ये दरिद्र पंक्तियों के बालकों से अपनी कन्याओं का सम्बन्ध करने को तैयार रहते हैं। फिर भी ये दरिद्र नारायण उन्हें ऐसी करारी फटकार देते हैं कि धनिकों को अपने धन का ख़याल छोड़ देना पड़ता है! इनमें जाति-मद विशेष रूप से पाया जाता है! क्या ही अच्छा हो, यदि यह जाति-मद अपना कर्कश रूप छोड़ कर 'सदय' रूप में हो जाय! फिर तो यह जाति सचमुच अपने छिपे हुए शिष्टाचार व्यवहार के कारण देश में अग्रणी बन सकती है।

यहाँ प्रसङ्गवश उन सरयूपारी ब्राह्मणों को, जो अपनी कन्याओं को सरयूपार स्थित ब्राह्मणों को कुलीन जानकर सौंपना स्वर्ग-प्राप्ति का एक बहुत बड़ा साधन समझते हैं, भी कुछ कह देना आवश्यकीय जान पड़ता है। उन्हें चाहिये कि बिना 'घर-वर' देखे एजण्टों के कहने पर ही विश्वास कर अपनी कन्याओं को सैकड़ों कोस दूर भेजने का घृणित कार्य न करें। कारण अधिकांश एजण्ट रुपये के लोभ में पड़कर कन्याओं को अयोग्यों के हाथ सौंपवा देते हैं, जिससे बेचारी कन्या को आजीवन कष्ट उठाना पड़ता है। इस प्रकार के विवाह सम्बन्ध से कन्या पक्ष वाले घोर पाप के भागी होते हैं।

कन्या को कष्ट में डालकर अपनी सामाजिक स्थिति को, जाति को, पद को ऊँचा करने का प्रयत्न महा निन्दनीय कार्य है। और खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह रोग सरयूपारियों में बहुत अधिक संख्या में व्याप्त है। नागपुर, जबलपुर तक के सरयूपारी ब्राह्मण अपनी कन्यायें नैपाल की तराई में ब्याह देते हैं। विवाह के उपरान्त बेचारी कन्यायें जो यम-यातना भुगतती हैं वह लिखने की बात नहीं है।

स्थान

यह ऊपर बताया जा चुका है कि सरयूपार में बसने के नाते ही ये सरयूपारीण या सरवरिया कहलाये। इनकी यह संज्ञा 'स्थान' विशेष से ही मिली है, परन्तु आज ये बड़ी दूर-दूर तक फैल गए हैं। मध्यप्रदेश एवम् मध्य-भारत के अधिकांश ब्राह्मण सरवरिया कहलाते हैं। यू० पी० में सरयूपार के अतिरिक्त इलाहाबाद और बनारस की कमिश्नरियों में ये ही प्रमुख ब्राह्मण हैं। पच्छिम विहार वाले भी सरयूपारीण ही हैं। और अब तो ब्रह्मदेश और श्याम में भी ये सहस्रों की संख्या में हैं। इतना ही नहीं, वरन् प्रवासी भारतीयों में ब्राह्मणों की जो संख्या है, उनमें तीन-चौथाई सरयूपारीण ब्राह्मण



है। इनकी संख्या इस समय लगभग अस्सी लाख के है।

वैभव-सम्पन्नता

सरयूपारीण समाज अधरजिया होते हुए भी अत्यन्त दरिद्र है। इसका एकमात्र कारण पूर्वजों की सांसारिक सम्पत्ति के प्रति उदासीनता के भाव हैं। अभी-अभी सौ वर्ष पूर्व तक इन्हें क्षत्रिय राजाओं की ओर से गाँव के गाँव दान में मिलते थे! परन्तु ये उसे 'झञ्झट' बता कर लेने से अस्वीकार कर दिया करते थे। फलतः ये पूर्ण अंश में धनहीन हैं—अस्सी लाख की संख्या में कठिनता से पचास सरयूपारीण लखपती होंगे। अधिकांश दरिद्रनारायण की साक्षात मूर्ति हैं। रीवा तथा आसपास के मध्य भारतीय भाग में बसने वाले अधिकांश सरयूपारीण ब्राह्मण इतनी पतितावस्था में रह रहे हैं कि उनकी स्थिति पर, सरयूपार में बसने वालों को सहसा विश्वास भी नहीं होगा। गोरखपुर, बस्ती के चमारों की आर्थिक एवम् शारीरिक अवस्था उनसे कहीं अच्छी समझनी चाहिये। भीख माँगने के लिये वे आठ-आठ सौ मील की यात्रा करके बम्बई की ओर जाते हैं। बिना किराया जी० आई० पी० से आते-जाते वे किस प्रकार रेलवे के कुलियों व कबाड़ियों द्वारा जूतों से पीटे जाते हैं—इसे देखते ही आँखों में आँसू आ जाते हैं। भगवान राम के 'पूज्य' इन ब्राह्मणों की दुर्दशा का एकमात्र कारण इनकी घोर दरिद्रता है, जिसका बहुत कुछ श्रेय हमारे पूर्वजों को ही है। यदि उन्होंने थोड़े से 'झञ्झट' अपना लिये होते तो आज उनकी सन्तान 'भिखमङ्गा' न बनती।

विद्वत्ता

कवि-कुल-कुमुद-कलाधर गोस्वामी तुलसीदास जी इसी जाति के रत्न हैं! उनके बाद इस समाज में किसी ऐसे प्रगाढ़ विद्वान का नाम सुनने में नहीं आता, जिसे सार्वदेशिक ख्याति प्राप्त हुई हो। वर्तमान समय में इस समाज में कदाचित् एक भी 'डॉक्टर' नहीं है। संस्कृत के थोड़े-बहुत आचार्यों से हमें सन्तोष नहीं। हम उनमें महामहोपाध्याय देखना चाहते हैं! ब्राह्मण होते हुये भी इस समाज में कोई महामहोपाध्याय या शाब्दिक अर्थ में 'शास्त्री' नहीं है। कुछ ही लोग सम्भवतः आधे दर्जन से भी कम 'प्रोफ़ेसरी' तक पहुँच रहे हैं। बड़े नेताओं में इनमें एक भी नहीं है।

सामाजिक अवस्था

भारतवर्ष की अन्य जातियों में जो सामाजिक दोष हैं, वे इसमें भी हैं। बालविवाह, स्त्री-शिक्षा का सर्वथा अभाव, वृद्ध-विवाह (साधारण), परदा, स्त्रियों की दुर्दशा, पुत्रियों का निरादर, पुत्र-वधुओं की ताड़ना, दहेज, मृतक भोज, छुआछूत आदि अनेक दोषों से यह जाति अति पीड़ित है। शिक्षा के अभाव में इन दोषों के दूर होने की कोई अभी आशा भी नहीं है।

चारित्र्य-बल

दो-एक व्यक्तियों के चरित्रवान होने से समाज का समाज सच्चरित्र नहीं माना जा सकता। हाँ, इस समाज की स्त्रियों में चरित्र-बल अन्य समाज की स्त्रियों से कहीं अधिक है। इसका कारण एकमात्र यह है कि इस समाज में घर-घर 'सीता' की चर्चा रहती है। कोई उत्सव, भोज, समारोह, आनन्द-उल्लास ऐसा नहीं होता, जिसमें सीता के सम्बन्ध में दो-चार गाने न गाये जाते हों! एक ओर सीता का आदर्श इनकी रक्षा करता है, दूसरी ओर अभी ये नगरों के घृणित वातावरण से दूर दिहातों में बसने के नाते अछूते बच रहे हैं।

सरयूपारी बड़े ही कलह-प्रिय होते हैं। ये अपने भाई को भाई नहीं समझते। दरिद्रता के कारण दिन-रात आपस में लड़ा करते हैं। घृणित चालबाजियों द्वारा अपने सजातीय को हानि पहुँचाना इनके जीवन का अङ्ग हो गया है। छल-प्रपञ्च, चोरी आदि पाप गुण इनके लिये 'पुण्य कार्य' हैं! और कदाचित् इनकी दरिद्रता का यही कारण भी है।

सरवार

सरवार या सरयूपार उस प्रान्त का नाम है, जो सरयू नदी के उत्तर की ओर फैला हुआ है। इस प्रान्त में बहराइच, गोंडा, बस्ती, गोरखपुर, चम्पारन और छपरा के ज़िले हैं। 'सरवार-देश' बहुत प्राचीन नाम

है। सारा का सारा प्रान्त तपोभूमि है। भगवान राम के बहुत पहिले से यह स्थान ऋषियों एवम् महर्षियों की तपोभूमि रहा है। अयोध्या राजकार्य के लिए राजधानी थी। धर्म-कार्य के लिए सूर्यवंशी राजाओं ने सरयू से उत्तर में ही स्थान नियत कर रक्खा था। उनके सारे यज्ञ मखौड़ा में ही हुए थे। गोंडा ज़िले के 'सोरों' नामक स्थान में भगवान का शूकरावतार का होना सिद्ध किया जाता है। बहुत सम्भव है कि इसी 'शूकरक्षेत्र' में गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने गुरू के साथ निवास किया हो। कारण, गोस्वामी जी के वर्णनों में सारा रीति-रिवाज सरयूपार का ही वर्णन किया गया है।

महात्मा गौतम बुद्ध का क्रीड़ा-क्षेत्र यही गोरखपुर तथा बस्ती मण्डल है। नारायणी 'शालिग्रामी' नदी के ही तीर पर सप्त ऋषियों की तपश्चर्या होती थी। मनोरमा का पवित्र क्षेत्र बस्ती ज़िले में है, जहाँ लक्ष्मण ने मानसिक पाप से मुक्ति पाने के लिए घोर तप किया था।

'सरस्वती' को छोड़ कर सरयू ही वह दूसरी नदी है जिसकी गोदी में बैठ कर ब्राह्मण जाति ने ईश्वर और मानव-हित की चिन्तना में अपना जीवन बिताया था।

आज भगवान राम के पूज्य ये सरयूपारी ब्राह्मण रङ्गून और श्याम में, दक्षिण अफ्रीका एवम् ट्रीनडाड में कुलीगिरी कर रहे हैं! जो सरयूपारी भगवान राम को आशीर्वाद दिया करते थे वे आज विधर्मियों का पीकदान उठा रहे हैं! इसे समय का परिवर्तन कहते हैं! इतना होने पर भी इस जाति के दम्भी, पाखण्डी सदस्य, अपने झूठे जाति-मद में चूर होकर अपने समाज को विघटित करने में ही अपने को गौरवान्वित समझते हैं। 'हम आपका छुआ भात नहीं खायेंगे' केवल इसी एकमात्र लक्ष्य को लेकर वे पतन की ओर जा रहे हैं! देखें कब तक वे अचेतन हो अपनी अवनति करते रहते हैं!

◐ ◐ ◐

प्रार्थना



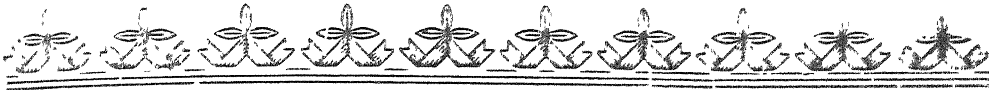
[कुमारी वीणादेवी]

तुहिन-कनों सा ढलता-ढलता,
यह जीवन लघुता से लघुतर,
संशयमय जिसका है प्रतिपल,
हो कोमल, प्रमुदित औ' सुन्दर।

अश्रु-हास्य की दृश्यावलियाँ,
आती हैं इस जीवन-पट पर,
रोने हँसने का जग जीवन,
हो मङ्गलमय, सुखप्रद, रुचिकर,

प्रभु से रचित क्षणिक यह नाटक,
मिलन-विरह का जिसमें अभिनय,
सुख-दुख की जो मधुर कहानी,
हो मधुमय जैसे नव-किसलय।

पेड़ों के सूखे पल्लव सा,
हर झोंके का जिसको कम्पन,
ऐसा झरता, झरता, जीवन,
हो निर्मल औ' शुचिकर, प्रतिक्षण।



गढ़वाल के हरिजन और डोली-पालकी की समस्या

[श्रीयुत भक्तदर्शन, एम० ए०]

अछूतपन आज या कल की बीमारी नहीं, यह रोग तो न जाने कितनी शताब्दियों से, क्षय-रोग की भाँति, भारत के राष्ट्र-शरीर की जीवनीशक्ति का अपहरण करता आ रहा है। सभ्यता की न जाने किस विपन्न अवस्था में हमारे पूर्वजों ने इस सामाजिक सङ्गठन की नींव डाली थी; उस समय उन्हें महान हर्ष तथा सन्तोष रहा होगा कि उन्होंने अपनी मौलिक सूझ के बल पर मनुष्य-समाज को एक दोषहीन सर्वाङ्गपूर्ण समाज-व्यवस्था दे डाली है; शायद वे समझते रहे होंगे कि उनकी देन उनके उत्तराधिकारियों के कल्याण का साधक होगी। उन्हें उस समय क्या पता रहा होगा कि उनकी वही अमृत-प्रणाली कालान्तर में विष का एक भीषण भण्डार बन जायेगी? जिस दिन अछूतपन की गंध हमारे सामाजिक वातावरण में आकर पहुँची, उसी दिन से हम लोग मनुष्यता की वैभवशालिनी तथा पुण्यों पर जमी हुई अट्टालिका से औंधे मुँह नीचे गिर पड़े। आज हमारी मनुष्यता अपनी सब से नीची और गन्दी तलहटी में पड़ी सिसक रही है।

उस दिन शान्तिनिकेतन-वासियों के समक्ष भाषण देते हुए श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा था—"मनुष्यों की सभ्यता रोगों से जीर्ण-शीर्ण होगी तथा अन्त में मर जावेगी—मानव देवता का कुछ ऐसा ही विधान प्रतीत होता है। मानवोचित सम्मान से जिनको हम वञ्चित रखते हैं; उनके ही असम्मान के कारण हमारे समस्त भारतवर्ष का आज अपमान हो रहा है।" जिनको हम पैरों तले गिराकर अपमानित करते हैं; वे ही हमारे मार्ग में बाधा-रूप में खड़े हो जाते हैं; वे भारी होकर हमें नीचे की ओर खींचते रहते हैं। अछूतपन का विस्तृत प्रयोग करके हमने युग-युग से हरिजनों पर अपमान की जो मार की है, उससे हम स्वयं आहत हुए हैं। यह सम्भव नहीं कि समाज के एक अङ्ग में भीषण संक्रामक व्याधि उत्पन्न हो, पर दूसरे भाग एकदम अछूते ही बचे रहें। जब तक यह कलङ्क का टीका हमारे समाज के ललाट पर अङ्कित है, तब तक क्या आत्मसम्मान के भावों से भरे हृदय को लेकर सिर ऊँचा किये हम जगती की रङ्गभूमि में स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं?

सो यह रोग हमारे देश के सभी भागों में फैला हुआ है—कहीं कम कहीं अधिक; पर है वह सभी जगह। सभी भारतीयों की यह मौरूसी जायदाद है तथा सभी का उस पर समान अधिकार है। "जादू वह जो सिर चढ़ कर बोले।" हम अपने ही घरों में देखें, अपने पड़ोस को देखें; अपने शहर और जिले को देखें; सर्वत्र हमें अपमान की एक लह-लह धधकती भट्ठी मिलेगी, जिसमें निर्दोष मानव-प्राणी निरन्तर झोंके जाते रहते हैं। जो आँख तथा कान खोल कर रहते हैं, वे सर्वदा उसे अपना क्रूर कृत्य करते पावेंगे। अबाध रूप से यह भट्ठी देश के मर्मस्थल की आहुतियाँ निगल कर अपना भीषण ताण्डव करती रहती है। गढ़वाल का ज़िला भी उससे बचा नहीं।

गढ़वाल ज़िले की पाँच लाख आबादी में से लगभग एक लाख हरिजन हैं। वे कोली, लुहार, औजी, रुड़िया, तमोटा तथा पोरी आदि उपजातियों में बँटे हुए हैं। सारे ज़िले में उन सब को 'डूम' नाम से पुकारा जाता है। भारत के अन्य भागों में हरिजनों को जो कठिनाइयाँ हैं, वे उन्हें यहाँ भी उठानी पड़ती हैं। इन लोगों की आर्थिक स्थिति बहुत ही असन्तोषजनक है। अधिक से अधिक पाँच फ़ीसदी हरिजन यहाँ ऐसे हैं, जिनके पास अपनी

ज़मींनें हैं ; नहीं तो शेष सब ही लोग बिजातियों की सेवा करके अपना निर्वाह किया करते हैं। सिर्फ़ रोटी, कपड़े लेकर वे बिठों (गढ़वाल-वासी उच्च वर्ण वालों) की ख़िदमत किया करते हैं। इनका रहन-सहन बहुत ही नीचे दर्जे का है। गाँव के सब से गन्दे हिस्सों में उन्हें रहने को जगह दी जाती है; साधारणतया गाँव के अन्य लोग उस ओर दिशा-फ़रागत के लिये जाया करते और मैला फेंकते हैं। अछूतपन की भयङ्करता यहाँ उतनी नहीं जितनी कि अन्य प्रान्तों में है, फिर भी उन्हें अक्सर मकानों से नहीं लगने दिया जाता। कई जगहों में तो वे धोती नहीं पहन सकते और न 'अरसे' (एक प्रकार की मिठाई) ही पका सकते हैं।* मरे हुए पशुओं को उठा कर फेंक देना और यहाँ तक कि उन्हें खा भी लेना उनका कर्तव्य समझा जाता है। पानी की भी उन्हें दिक़्क़त रहा करती है। गाँव के सार्वजनिक जलाशयों में वे स्वयं जा नहीं सकते, इसलिये उन्हें औरों की कृपा पर भरोसा रखना पड़ता है। उनके ज़िम्मे द्विजातियों के लिये हल चलाना, खेती-बारी का काम करना और उनके बोझे ढोने का काम रहता है। उद्योग-धन्धों और शिक्षा की भी यही दशा है। गढ़वाल के हरिजन कपड़े बुनना, उन्हें सीना, बर्तन बनाना, टोकरियाँ और चटाइयाँ बनाना आदि छोटे-मोटे काम करते हैं, पर धनवान 'बिठों' ने कभी उन्हें सहायता नहीं पहुँचाई। वे यह भी नहीं चाहते कि 'डूम' पढ़-लिख कर योग्य बनें। शायद दो या तीन हरिजन अभी तक मैट्रिक पास कर पाये हैं। सब मिला कर एक प्रतिशत भी उनमें से पढ़ना-लिखना नहीं जानते। ज़िला बोर्ड ऐसी कुछ संस्थाएँ उनमें शिक्षा प्रचार का काम कर रही हैं; पर अभी तक कोई भी प्रशंसा के लायक़ काम इस दिशा में नहीं हुआ।

सन् १९३६ की गर्मियों में अखिल भारतीय हरिजन-सेवक-सङ्घ के मन्त्री श्री ठक्कर बप्पा के साथ श्रीयुत वियोगी हरि यहाँ आये थे; उन्होंने "हरिजन-सेवक" में "गढ़वाल में चार दिन" शीर्षक से अपने अनुभवों पर एक लेख लिखा था। वे लिखते हैं कि—"यह बात नहीं कि वे उद्योगी नहीं हैं, पर उनके आगे कोई उद्योग नहीं! करें तो क्या करें? ढुँडेख गाँव में एक शिल्पकार (डूम) भाई ने कहा, 'हमारा उद्धार तो बस एक मौत ही कर सकती है।'.........धर्म की परिभाषा इन लोगों के सामने है कि, 'जिसमें रह कर पेट भर रोटी मिले वही धर्म तारनहार है।' गत सन् १९३५ की ख़रीफ़ की और सन् १९३६ की रबी की फ़सल चमोली तहसील के दशौली परगने में बिलकुल नष्ट हो गई थी। वहाँ के हरिजनों की दशा दक्षिण गढ़वाल वालों से भी अधिक ख़राब रहा करती है। अकाल का कष्ट कम करने के लिये सरकार की ओर से तक़ावी बाँटी गई, पर अधिकारियों ने तक़ावी देने से पहले बिठ लोगों से कहा कि उन्हें तक़ावी तब मिलेगी जब कि वे अपने नौकरों (हरिजनों) को निकाल देंगे। इससे उनकी कठिनाइयाँ और भी बढ़ गईं। नतीजा यह हुआ कि उन्हें अपने जानवर, भाँडे-बर्तन और नाम मात्र के ज़ेवर बेच डालने पड़े। उन्होंने पुनः मुर्दा जानवरों की लाश काट कर खाना अख़्तियार कर लिया। चावल का 'मांड' और हरी घास खाकर भी अनेकों ने अपने दिन काटे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गढ़वाल ज़िले के हरिजनों की बहुत ही शोचनीय दशा है; उनके पास धन नहीं, भूमि नहीं, शिक्षा नहीं, सङ्गठन नहीं तथा सब से बढ़कर आत्मसम्मान की भावना नहीं। पर पिछले कुछ वर्षों से उनमें जागृति के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे हैं। सन् १९१२

---

* मिठाई के सम्बन्ध में पिछले वर्ष एक मनोरञ्जक घटना हुई है। घुड़दौड़ स्यूँ पट्टी में एक मेले के मौक़े पर एक हरिजन ने वाक़ई दुस्साहस का कार्य किया। उसने खुले-आम मिठाइयों की एक दुकान खोल दी! काफ़ी बिक्री हुई, पर शाम को अचानक किसी ने यह बात मेले में फैला दी कि वह दुकानदार तो डूम है। अफ़वाह का फैलना था कि उसकी दूकान लूट ली गई और उसके रुपये-पैसे भी छीन लिये गये। आजकल इसी सिलसिले में पौड़ी की अदालत में एक मुक़दमा चल रहा है। जिस दिन उसकी पेशी होती है उस दिन श्रद्धालु, धर्म-प्राण बिठ लोग सैकड़ों की तादाद में वहाँ पहुँच जाया करते हैं!

में पहिले-पहल लोगों का ध्यान इस ओर गया। फिर नजीबाबाद के कुछ आर्यसमाजी बन्धु आगे आये; उन्होंने सन् १९१७ में तीन गाँवों की 'शुद्धि' कर डाली तथा उन्हें यज्ञोपवीत भी दे दिये। इन लोगों के पास स्वयं अपनी ज़मीनें थीं। इस कारण उन्हें आर्थिक सङ्कट का सामना नहीं करना पड़ा; पर फिर भी बिठों ने उनके जनेऊ तोड़ डाले तथा उन्हें मारा-पीटा भी, सो अलग। ५-६ वर्षों तक यह क्रम चलता रहा, पर बाद को और हरिजनों की भी आँखें खुलीं। वे भी आर्यसमाज की ओर झुके। उनकी शुद्धि की गई; बिठों की बराबरी के लिये उनको जनेऊ भी दे दिये गये। इस प्रकार के सुधार-कार्य में अधिकांश भाग बाहर के आर्यसमाजियों ने लिया। उनकी सहायता कुछ गढ़वाली बिठों ने भी की, पर संख्या में वे बहुत कम थे। विरोधियों की तादाद का क्या ठिकाना। सभी बिठ विरोध में थे; पर फिर भी किसी प्रकार यह कार्य चलता रहा। सन् १९२६-२७ में उन लोगों की भी शुद्धि की गई, जो पूर्णतया बिठों की छत्रछाया में थे। परिणाम यह हुआ कि वे लोग गाँवों से निकाल दिये गये तथा कहीं-कहीं तो उनके क़ीमती मकानों पर भी अधिकार जमा लिया गया। पर उनमें से लगभग पन्द्रह सौ व्यक्ति ऐसे भी निकले, जो हताश नहीं हुए; वे पहाड़ों से उतर आये और नीचे भावर (पहाड़ और मैदानों के बीच की ज़मीन) में आकर बस गये। इन लोगों ने अब अपना काफ़ी अच्छा सङ्गठन कर लिया है।

बिठों की ज़्यादती के सम्बन्ध में एक घटना उदाहरण के लिये यहाँ पर लिख दूँ। एकेश्वर महादेव का प्रसिद्ध मेला था। सात वर्ष तक गढ़वाल की ओर से प्रान्तीय कौंसिल के मेम्बर और चार वर्ष तक उसके डिप्टी प्रेसिडेन्ट रहने वाले मि० मुकन्दीलाल, बी० ए० (ऑक्सन) बार-एट-ला एक समाज-सुधार सम्बन्धी सभा में भाषण दे रहे थे। तब तक अफ़वाह फैल गई कि वे और उनके साथी स्थानीय डूमों को जनेऊ दे रहे हैं। बस, फिर क्या था। बात की बात में हज़ारों आदमियों ने सभास्थल को घेर लिया और लाठियाँ बरसाने लगे। कई लोगों को चोटें आईं और बैरिस्टर साहब का क़ीमती कैमरा भी चकनाचूर होगया, सभा बीच ही में भङ्ग हो गई सो अलग। बाद को इसी बारे में कुछ लोगों पर मुक़दमा चला और उन्हें सज़ा भी मिली। पर उसके कारण कुछ दिनों के लिये हरिजन-सुधार का कार्य उस इलाक़े में बन्द-सा हो गया था।

प्रारम्भ से ही स्वयं हरिजनों ने अपने उद्धार का काम अपने हाथों में ले रखा है। ज़िले के कुछ गिने-चुने सुधारक विचारों वाले बिठों ने भी उन्हें सहायता पहुँचाई है। बाहर की संस्थाओं में से आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी०, अखिल भारतीय श्रद्धानन्द दलितोद्धार सभा, दिल्ली तथा बिजनौर और नजीबाबाद की आर्यसभायें सहायता करती रही हैं। कुछ वर्षों से हरिजन-सेवक-सङ्घ भी कार्य कर रहा है; उसके पदाधिकारी ज़िले के ही रहने वाले हैं, पर वह अभी तक कोई अच्छा-सा ठोस काम नहीं कर पाया है। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप अभी तक केवल कोटद्वार तथा दुगड्डे के कुछ मन्दिर खुल पाये हैं। इन सब बातों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि गढ़वाल के हरिजनों में धीरे-धीरे जागृति हो रही है। यह सन्तोषजनक बात है; पर यहाँ पर तो मैं एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ।

इतिहासकार हमें बताते हैं कि जब "जनता के लिये जनता के द्वारा जनता का राज्य" स्थापित करने का स्वप्न देखने वाले अमेरिका के महान राष्ट्रपति अब्राहम लिङ्कन के शुभप्रयत्नों से ग़ुलामी की प्रथा उठा दी गई थी, तब एक अद्भुत परिस्थिति पैदा हो गई थी। सैकड़ों वर्षों से ग़ुलामों को ज़ञ्जीरों में जकड़े रहने के कारण हबशियों को उसकी आदत सी पड़ गई थी; वह उनकी प्रकृति ही में शामिल हो गई मालूम पड़ती थी। इसलिये जब उन्हें बतलाया गया कि उस दिन से सदा के लिये वे स्वाधीन हो गये, तो सहसा उन्हें विश्वास नहीं हुआ; वे ऐसी अकस्मात् आकाश से टपकी सी हुई स्वाधीनता से घबड़ा गये और कहने लगे कि उन्हें तो ग़ुलामी ही पसन्द है। ठीक यही दशा भारतवर्ष में है; हरिजनों से सब कुछ करने को कहा जाता है तो वे बहुत कोशिश करने पर भी वैसा नहीं कर पाते। सुधारक लोग उनके मुहल्लों में

जाकर उनके घरों का कूड़ा-करकट किसी खास दिवस में साफ़ कर जाते हैं, पर वहाँ से वे निकले नहीं कि फिर वही हालत हो जाती है। सदियों से घोर दासता में ही साँस लेते रहने के कारण उनके अवयव शिथिल हो गये हैं तथा उनकी इच्छा-शक्ति मारी गई है।

पर गढ़वाल के हरिजनों में यह बात नहीं; विशेषकर शुद्ध हुए लोगों पर यह कथन लागू नहीं होता। जैसा कि मैं पहिले कह आया हूँ, अपनी जाति के सुधार का कार्य अधिकांश में स्वयं उन्होंने चलाया है; बाहर के मित्रों तथा ज़िलेवासी शुभचिन्तकों ने केवल सहायता भर पहुँचाई है। उदाहरण के लिये डोले-पालकी का सवाल ही लीजिये। मैं पहिले कह आया हूँ कि ज़िले के कई भागों में बिठ लोग डूमों को धोती तक नहीं पहिनने देते; उन्हें या तो पायजामा पहिनना पड़ता है या मामूली लङ्गोट। ऐसा न होने पर वे अपना अपमान समझा करते हैं। वे जी-जान से यह कोशिश करते रहते हैं कि डूम अपने आपको न पहिचान पाँय। इसीलिये प्रायः सभी भागों में उनको पालकी पर नहीं चढ़ने दिया जाता। डूम 'बिठों' के सामने पालकी और "डाँडी" जैसी बढ़िया चीज़ का इस्तेमाल करें, यह उनके लिये असह्य है। साधारण मौक़ों की तो बात ही अलग; विवाह जैसे शुद्ध धार्मिक उत्सव के अवसर पर भी न डूम-वर पालकी पर चढ़ सकता है और न डूम-वधू डोले पर सवारी कर सकती है। पर जब से गढ़वाल के हरिजनों में नया जीवन आना शुरू हुआ है, तब से वे इस अपमान की तीक्ष्णता को महसूस करने लगे हैं। अब वे यह समझते हैं कि वे भी मनुष्य हैं और इसलिये उन्हें भी और मनुष्यों के समान सभी सामाजिक अधिकार मिलने चाहिये। इन्हीं सब बातों पर विचार करके उन्होंने निश्चय किया कि चाहे प्राण चले जायँ, पर नागरिक होने के कारण वे अपने इस जन्म-सिद्ध अधिकार की अन्त तक रक्षा करेंगे।

सन् १६२०-२१ की बात है। बोर गाँव से डूमों की एक बारात चली और तीन-चार पट्टियों को पार करती हुई मौज़ा कांडी पट्टी बिजलोट में पहुँची। वर की पालकी जब गाँव के पास पहुँची, तब बिठों के एक बड़े झुण्ड ने बारात पर हमला कर दिया, दोनों ओर से ख़ूब मारपीट हुई तथा अन्त में किसी प्रकार विवाह-कार्य पूरा हुआ। जब वर की पालकी और वधू के डोले के साथ बारात वापिस लौट रही थी, तब लैंसडाऊन के नज़दीक खाँखीखाल नामक जगह पर उस पर फिर बिठ लोग टूट पड़े; बाराती पीटे गये तथा डोला-पालकी और दहेज का सब सामान छीन लिया गया। डूमों ने लैंस-डाऊन की अदालत में हमला करने वाले बिठों पर फ़ौजदारी दावा दायर कर दिया। अब सारे ज़िले में हलचल मची। प्रायः सभी प्रमुख व्यक्ति और नेता जमा हुए तथा उन्होंने समझौता करा दिया। राज़ीनामे में यह स्पष्ट तौर पर लिख दिया गया था कि डोला-पालकी का व्यवहार करना डूमों के अधिकारों में सम्मिलित है तथा भविष्य में बिठ लोग कोई अड़चन नहीं डालेंगे। ज़िले की अनेकों सभाओं में इसका समर्थन किया गया। तब से अब तक तीन सौ से अधिक इस प्रकार की बारातें निकल चुकी हैं; पर अभी भी अधिकांश बारातों पर हमले हो जाया करते हैं। ज़िले में तीन तहसीलें हैं; उनमें से सिर्फ़ एक लैंसडाऊन तहसील में यह कार्य ज़ोरों पर है। पर वहाँ भी अभी तक हरिजनों का यह अधिकार पूर्णरूप से स्वीकृत नहीं हो पाया। और तो और; अधिकांश वकील भी (जिनमें सब के सब बिठ ही हैं) डूमों की ओर से पैरवी करने से इन्कार कर दिया करते हैं।

गढ़वाल के हरिजनों ने अपने इस अधिकार की रक्षा के लिये जो कष्ट उठाये हैं तथा त्याग किया है, उन्हें देख कर सहसा उनके प्रति श्रद्धा का भाव पैदा हो जाता है। अभी भी अधिकांश बिठ खुलेआम इस अधिकार की अवहेलना करते रहते हैं। बारातें निकलती हैं, पर रोक दी जाती हैं, पर हरिजन भी अपने प्रण पर डटे रहते हैं। वे वहाँ से टलने का नाम नहीं लेते। सन् १६३२ के जुलाई महीने की बात है, एक बारात जुआ गाँव से लँगूरी तक गई थी। वह एक ही स्थान पर छै मास तक पड़ी रही। मैंने स्वयं इस घटना को देखा था। बारातियों में से कुछ लोग प्रतिदिन बारी-बारी से आगे बढ़ने की कोशिश करते, पर वे बिठों द्वारा

पीछे हटा दिये जाते; उनके लिये भोजन आदि वहीं पहुँचा दिया जाता। दो-दो मास तक एक ही जगह डटे रहने के तो अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। शारीरिक कष्टों के सिवाय हरिजनों को भारी आर्थिक क्षति भी उठानी पड़ी है। सिर्फ़ अदालतों में ही इस बारे में जो मुक़दमे चलाये गये, उनमें अब तक लगभग दस हज़ार रुपये ख़र्च हो चुके। पर जब से (१९३५) प्रसिद्ध मैंदोली केस पर इलाहाबाद हाईकोर्ट ने हरिजनों के इस मौलिक अधिकार के पक्ष में फ़ैसला दिया और स्वीकार किया कि सड़कों और बटियों पर डोले-पालकी पर चढ़ कर जाने का सबको समान अधिकार है; तब से ये मुक़दमे अब कम हो गये हैं। सरकार डूमों की मदद पुलिस आदि द्वारा करती रहती है, पर इसमें उसका उद्देश्य शुद्ध नहीं रहता; उसमें राजनैतिक चाल की बू आती रहती है। हिन्दू समाज की वर्तमान स्थिति से नाजायज़ लाभ उठा कर वह हरिजनों को हमेशा के लिये राजभक्त बनाये रखने की चेष्टा में लगी रहती है।

अन्त में एक बार फिर मैं अपनी उसी बात को दोहरा दूँ कि गढ़वाल में हरिजन लोग इतना सब त्याग और कष्ट-सहन केवल अपने बल-बूते पर करते रहे हैं। बाहरी तथा भीतरी संस्थाओं ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर मौनावलम्बन करना ही उचित समझा है। शायद आर्यसमाजी भाई यज्ञोपवीत देकर उनको 'शुद्ध' कर देने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लिया करते हैं और चूँकि डोला-पालकी का अधिकार नागरिकता का प्रश्न है, इसलिए वे उस ओर ध्यान देने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। उधर स्वयं ज़िले के चन्द गिने-चुने ही उच्चवर्णीय व्यक्तियों ने इस कार्य में सहायता का हाथ बढ़ाया है।

पर इन कारणों से इस समस्या का महत्व नहीं घट जाता। जितना महत्व गुरवयूर मन्दिर के खोले जाने और नासिक के मन्दिर-प्रवेश-सत्याग्रह का है उससे कम इसका बिलकुल भी नहीं। उन स्थानों में योग्य नेता थे तथा उन्हें देश के कई प्रसिद्ध तथा प्रभावशाली व्यक्तियों का सहयोग भी प्राप्त था। स्वयं गाँधी जी ने उनके लिये जो कुछ किया वह सर्व-विदित है। पर मेरा विश्वास है कि गढ़वाल में डोला पालकी का सवाल भी उनके ही बराबर महत्वपूर्ण है। आवश्यकता इस बात की है कि देश के हरिजन-प्रेमी सज्जन इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें और यदि उनका सहानुभूतिपूर्ण हृदय गवाही दे, तो गढ़वाल के वीर तथा उत्साही हरिजनों की सहायता करके अपनी उदार सहृदयता का परिचय दें।



[कुमारी सुमित्रा भार्गव, बी० ए०, डी० टी०]

'चाँद' के सितम्बर मास के अङ्क में श्री० गणेशदत्त 'इन्द्र' का "स्वराज्य और स्त्रियाँ" शीर्षक लेख पढ़ा। लेख को पढ़ना प्रारम्भ करते ही हृदय को एक ठेस लगी। 'आगर' जी प्रारम्भिक वाक्य में ही इतिहास की साक्षी देकर कहते हैं—"जब राजकार्यों में स्त्रियों की प्रधानता हुई तब हमारा पतन प्रारम्भ हुआ।" यदि स्त्रियाँ इतनी निकृष्ट हैं कि उनके कार्यक्षेत्र में आते ही देश के उज्ज्वल मुख पर कालिमा की छाया पड़ने लगे और देश उन्नति के शिखर से अवनति और अन्धकार के गर्त्त में गिरने लगे, तो निश्चय ही उन्हें राजनीति में भाग लेने का न कोई अधिकार है न होना चाहिये। यह धारणा कहाँ तक ठीक है—मैं आपके ही शब्दों में ढूँढ़ने का प्रयत्न करूँगी; परन्तु सफलता मिलने में सन्देह है।

प्रथम तो आप "स्त्रिय" और "इतिहास" इन दो शब्दों को लेकर, जो कि साधारण और विश्व-व्यापी हैं, भारत के गिने-चुने, उदाहरणों से अपनी विचार-पुष्टि किया चाहते हैं, और वह भी रामायण और महाभारत के दृष्टान्तों से जिससे जन-साधारण और विशेषकर स्त्री-समाज पर उसका गम्भीर और गहरा प्रभाव पड़े। स्त्री-समाज स्वयं ही अपने लघुत्व और हीनता के भ्रम में भ्रमण कर रहा है और आप और उसकी पुष्टि की चेष्टा में हैं। अस्तु!

आप लेख के प्रथम खण्ड में ही आगे चल कर यह प्रदर्शित कर देते हैं कि "बिना किसी की प्रेरणा के जिन नारी-हृदयों में देश-सेवा की भावना का उदय हुआ, उन्हीं रमणी-रत्नों ने कुछ करके दिखाया भी।" परन्तु जब-जब वह पुरुषों के आदेशानुसार देश का कार्य करती हैं तभी हानि होती है! इसमें बेचारी स्त्रियों का क्या दोष! शोक! लेखक एक पुरुष जाति के सदस्य (अथवा प्रतिनिधि?) होकर स्त्रियों को मार्ग दिखा कर आज्ञा देते हैं—"स्त्रियों में जा-जाकर उन्हें समझाइये, उन्हें चर्खा चलाने को प्रोत्साहित कीजिये, स्वदेशी की प्रतिज्ञा कराइये.........भारतीय संस्कृति का ज्ञान कराइये।" इस प्रकार की दो स्वयं विपरीत बातों को पढ़ कर एक दृढ़ निश्चय कर लेना सहज कार्य नहीं—वरन् असम्भव प्रायः है। पाणिनि के नियम-सूत्रों के अनुसार पूर्व भाग, उत्तर भाग के सामने असिद्ध होता चला जाता है। यदि यह व्याकरण की समस्या होती तो ऐसा करना कदाचित् सम्भव भी होता, परन्तु यहाँ तो देश और समाज के उत्थान और पतन का प्रश्न है, जो इतनी सरलता से हल नहीं किया जा सकता, यह सुलझाने की चेष्टा में प्रश्न को अधिक उलझाना है। लेखक महोदय अथवा अन्य कोई भाई बहिन, इसे कार्य्य रूप में परिणत हो सकने वाले विचारों से सुलझाने की चेष्टा करेंगे तो मैं तथा अन्य 'चाँद' की ग्राहिकायें उनकी कृतज्ञ होंगी।

मैं लेखक महोदय की निष्पक्ष रूप में कही गई बातों से सहमत हूँ। परन्तु यत्र-तत्र उन्होंने ऐसे वाक्य और उदाहरण लिख दिये हैं कि जिन्हें पढ़ कर दुःख, आश्चर्य, क्रोध और हास सभी का आगमन और मिश्रण होता है। यह सत्य है कि राजनीति में कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष उस कार्य को करें तो देश को अधिक लाभ हो। परन्तु आपके उदाहरणों को लीजिये और विचारिये कि क्या वह निष्पक्ष हैं? आप कैकेयी के विषय

में लिखते हैं—"उसने युद्धाङ्गण में रथ चक्र को क्या सँभाला राजा दशरथ के प्राणों को ले बैठी ।" हाय कैकेयी! निश्चय ही जन्म से अभागी थी, नहीं तो आज किसी को यह कहने का साहस न होता कि स्वामी के प्राण बचाने का सफल प्रयत्न और उनको विजय प्राप्ति की मनोकामना भी उसका षडयन्त्र था। वह सब तूने दशरथ के प्राणों को लेने, हड़पने के लिये किया था। यह विचार करके किसका हृदय रुदन नहीं करेगा कि अभागी कैकेयी जिसे दो वर माँगने पर सब धिक्कारते थे और कटु वचन कहते थे उसी पर एक नया दोषारोपण हो रहा है। आज उसे अनेक वर्ष पूर्व ही स्वामी की हत्या के षड्यन्त्र को रचने वाली कहने लगे। विधाता की लीला अपार है! यह वही कैकेयी है, जिसके लिये हमारे पूज्य कवि-सम्राट् मैथिलीशरण जी 'साकेत' में लिखते हैं :—

पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई।
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई॥

उक्तांश को पढ़कर, मेरे मन में अन्य निम्न विचार उठते हैं। क्या आप उन्हें समझावेंगे?

(१) युद्धाङ्गण में जाना ही क्या राजनीति है? आप लिखते हैं—"रानी कैकेई ने देवासुर संग्राम में तलवार चलाई हो, सो नहीं। वह तो युद्ध-क्षेत्र में राजा की बगल में बैठी रहती थीं" इत्यादि। फिर यदि उन्होंने तलवार हाथ में नहीं ली, तो आप उन्हें बलात् राजनीति में क्यों घसीटते हैं?

(२) आप, कैकेयी ने युद्ध में जो सहायता दी, उसको भूलकर, दशरथ की विजय को विलीन करके बरसों बाद की घटना को स्थान देते हैं। कैसा निष्पक्ष विचार-विनिमय है!

(३) यदि राजा दशरथ ने बरदान देकर उसे स्थगित कर रक्खा तो भी क्या कैकेयी ही दोषी है?

(४) यदि कैकेयी की राजा दशरथ के प्राणों को ही लेने की इच्छा थी, तो उसने रथ-चक्र को सँभाला ही क्यों?

(५) फिर आप रावण के बध को, जिससे संसार का भला होता है; उसको तो कहते हैं कि कैकेयी ने जब राम को वन भेजा तो उसने रावण की मृत्यु को लक्ष्य में नहीं रक्खा था। बबूल का पेड़ बोया था और गुलाब निकल आया, परन्तु लेखक की सूझ में उसने दशरथ के प्राण लेने ही के लिये रथ-चक्र को सँभाला था। शाबाश कैकेयी! तू भी बड़ी और बहुत ही अधिक दूरदर्शी थी।

(६) राजा कैकेयी पर आसक्त थे। इसके लिये वही दोषी थी। चन्द्रावत का हाड़ी रानी पर प्रेम होने के लिये भी रानी का दोष था। स्त्री में रूप-लावण्य है तो वह दोषी है, क्योंकि पुरुष उसपर मोहित हो जाते हैं और अगर वह ऐसी न होती तब भी वही गलती पर थी। यदि रानी हाड़ी की तरह सब स्त्रियाँ लड़ाई में गए हुए अपने पति के पास अपना सिर काट कर भेज दिया करें तो केवल वही एक कार्य समझदारी और सच्ची देश-भक्ति का है, और अपनी तथा अपने पति की रक्षा और विजय-प्राप्ति का प्रयत्न निरा अज्ञान है। सम्भव है, यही अधिक ठीक है! अस्तु, मैं अधिक क्या लिखूँ।

आगे दिये अन्य उदाहरण, कौरव-पाण्डवों के युद्ध का कारण, पृथ्वीराज और संयुक्ता का प्रेम और उनका पतन इत्यादि—सभी स्त्री जाति के कारण और वह भी इसलिये कि पुरुषों के कहने से स्त्रियों ने राजनीति में भाग लिया—ऐसा लेखक महोदय का विचार है। इसके विपरीत मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि आपने भारतीय इतिहास में जातियों के पतन के कुछ स्थान और समय चुनकर उल्टा और सीधा यह ढूँढ़ निकालने और सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उन सबके पीछे स्त्रियों का ही हाथ था। भारत में स्त्रियों के राजनीति में भाग लेने अर्थात् युद्धाङ्गण में पदार्पण करने से ही पतन होता है—इसको अधिक नहीं तो एक प्रतिशत कदाचित् मानने को तत्पर भी होता, यदि हमारे पास प्रत्यक्ष प्रमाण न होते। आश्चर्य! लेखक महोदय को प्रातः स्मरणीया महारानी लक्ष्मीबाई के नाम के साथ यह बात विचार में न आई कि उनकी जैसी यदि सहस्र स्त्रियाँ और होतीं तो आज उनको यह लेख लिखने की आवश्यकता न होती। सत्य है, 'पुरुष अभी मर नहीं मिटे हैं', परन्तु उस समय में अनेक राजा और नवाबों ने अपने प्राणों के मोह से अपनी स्वाधीनता को लुटा दिया,

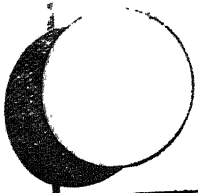
जिसकी पुनः प्राप्ति एक असाध्य कार्य होगया है। स्त्री जाति युद्धाङ्गण में क्या—कहीं भी अपने प्राण देने में सङ्कोच नहीं करती। फिर जिसे प्राणों का मोह नहीं वह क्या नहीं कर सकता। छोटी-छोटी बातों में डरना ही स्त्रीत्व है—कोमलता का लक्षण है—यह पश्चिमीय सभ्यता है। हमारे लिये तो धन्य है लक्ष्मीबाई और उनका पदानुसरण, जिनका नाम लेने से ही धमनियों में रक्त उबलने लगता है।

आपका विचार है कि कुछ पुरुषों के 'फ़ुसलाने' से ही भारतीय स्त्रियाँ यह समझने लगी हैं कि वह भी कुछ कार्य कर सकती हैं और करना चाहिये। मेरी तुच्छ समझ में यदि संसार में पुरुष-जाति स्त्री-जाति को कुछ करने के लिये फ़ुसला सकती है तो देश का एक भाग दूसरे भाग को भी फ़ुसला सकता है। कदाचित् यह कहना कि देश की स्वतंत्रता की आवश्यकता है, स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार में लाने से ही लाभ होगा इत्यादि भी कुछ लोगों का अन्य जनों को फ़ुसलाना है। स्त्री-जाति समाज-सेवा कर सकती है, यह क्या कुछ और है? ऐसा यदि सोचा जाने लगे तो संसार से श्रद्धा और विश्वास बिल्कुल ही उठ जायगा। किस बात पर विश्वास किया जाय, किस पर नहीं, अजब वञ्चकता है!

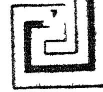
यदि स्त्री-जाति का कार्य एक क्षेत्र में सीमित रहे और पुरुष जाति का दूसरे में, तो फ़ैक्टरीज़ के नियम के अनुसार कार्य कदाचित् अधिक शीघ्रता से हो सके—परन्तु साथ ही साथ विचार-साम्य का निर्मूल हो जाना उससे भी अधिक सम्भव है। विचार की असमानता से आज भी कितने कलह और झगड़े होते हैं, फिर यदि आप स्त्री और पुरुष को कार्य के लिये बिल्कुल वायु-बद्ध कोटर में बन्द कर देंगे तब दोनों जातियों को न एक दूसरे के कार्य में रुचि होगी और न सलाह देने की योग्यता—भविष्य अन्धकार-मय प्रतीत होता है!

मैं लेखक महोदय की इस बात से सहमत हूँ कि स्त्रियों को समाज-सुधार करने की आवश्यकता है और निश्चय ही वह इस कार्य में अधिक सफलता प्राप्त कर सकती हैं, परन्तु क्या कारण है कि एक स्त्री राजनैतिक योग्यता रखती हुई भी इस कार्य से वञ्चित रक्खी जाय और एक दूसरा जन पुरुष होने के नाते, कम योग्य होने पर भी, इसमें हस्तक्षेप कर सके। विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार मानसिक योग्यता और विकासानुकूल कार्य करने से ही अधिक से अधिक लाभ हो सकता है। यदि स्त्री तथा पुरुष बिना किसी रोक-टोक के अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करें तो निश्चय ही हमारा भविष्य और वर्तमान पूर्ववत् उज्ज्वल और प्रकाश-पूर्ण हो जाय। किसी को भी बरबस दूसरे क्षेत्र की ओर खींच ले जाना नितान्त हानिकारक है।





जाति-भेद की कठिन समस्या



[श्री० नन्दगोपालसिंह सहगल]

वर्तमान युग में भारतीय समाज के सामने ही नहीं, वरन् समस्त संसार के सम्मुख जो कठिनाइयाँ उपस्थित हैं, उनमें सबसे बड़ी जाति अथवा श्रेणी-भेद की ही है। इसके फल-स्वरूप मनुष्य-समाज अनगिनती पारस्परिक-विरोधी भागों में बँट गया है, जो प्रायः एक दूसरे पर तरह-तरह के दोषारोपण किया करते हैं। एक समूह या जाति वाले दूसरे समूह या जाति वालों को अपना प्रतिद्वन्दी समझते हैं और उनके प्रत्येक कार्य को अपने हित के लिए घातक मानते हैं। इसके सबब से घृणा और द्वेष की उत्पत्ति होती है और मनुष्य-समाज के मूलाधार प्रेम और सहयोग के भाव को क्षति पहुँचती है। क्या पूरब और क्या पश्चिम, सभी जगह आज यही अवस्था देखने में आ रही है। अगर हमारे देश में जाति-भेद की समस्या दुरूह बनी हुई है तो पश्चिमी देशों में श्रेणी-भेद और राष्ट्रीयता-भेद के कारण उथल-पुथल मची है।

इन बातों को देख कर स्वभावतः एक साधारण रूप से बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति के हृदय में जाति-भेद के हानि-कारक होने का भाव उत्पन्न हो जाता है। वह देखता है कि जाति-भेद के कारण समाज टुकड़े-टुकड़े होकर निर्बल बन रहा है और जो शक्ति व्यक्तियों के हित-साधन में खर्च होनी चाहिए थी, वह आपस की कलह और व्यर्थ के झगड़ों में नष्ट हो रही है। वह यह भी देखता है कि इसी जाति के पक्षपात के कारण लोग योग्यता और गुणों का सम्मान करना भूल जाते हैं और अयोग्य होने पर भी अपने जाति-भाई को श्रेष्ठता देने की प्रवृत्ति उनमें उत्पन्न हो जाती है। इतना ही नहीं, जाति-भेद के विष से विकृत-मस्तिष्क होकर अनेक लोग समूचे देश या समाज के हित को भी भुला देते हैं और ऐसे काम कर बैठते हैं, जिसका परिणाम प्रत्येक व्यक्ति के लिये—स्वयं उनके लिये भी—घोर हानिकारक सिद्ध होता है। भारत का पुराना इतिहास इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस देश पर विदेशियों का अधिकार होने का एक बहुत बड़ा कारण यही था कि यहाँ का समाज जातियों के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट कर निर्बल बन गया था और इन जातियों के लोग द्वेष के वशीभूत होकर इस बात से प्रसन्न होते थे कि दूसरी जातियों के लोग विदेशियों द्वारा मारे जाते या अपमानित होते हैं।

आज भी इस जाति-भेद के कारण हमारे देश में अत्यन्त हानिकारक घटनायें देखने में आ रही हैं। छोटे-छोटे समूह अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पका रहे हैं। हर एक की अपनी सभा, अपना मन्दिर, अपना स्कूल, अपनी धर्मशाला—कहाँ तक कहें, प्रत्येक चीज अलग-अलग है। इतना ही होता तो गनीमत था, हम देखते हैं कि एक जाति वाले खुल्लेआम दूसरी जाति वालों की निन्दा करके, झूँठे-सच्चे दोष निकाल कर प्रसन्न होते हैं। इसी मनोवृत्ति का फल है कि हमको देश की विभिन्न जातियों के विषय में अनेकों निन्दात्मक कहावतें सुनने को मिलती हैं और हम प्रत्येक जाति के गुणों और विशेषताओं को त्याग कर उसके दोषों को ढूँढने में ही अपनी शक्ति खर्च करते हैं। सरकारी नौकरियों में और उद्योग-धन्धों में भी इसका हानि-कारक प्रभाव देखने में आता है। बहुसंख्यक लोग योग्यता का खयाल छोड़ कर जातीय पक्षपात से काम लेते हैं, जिसके सबब से सार्वजनिक हित की हानि होती है।

इस अवस्था को देख कर स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या जाति-भेद को जड़मूल से ही नष्ट कर दिया जाय? क्या समाज में किसी भी तरह की श्रेणियाँ या विभाग रहना हानिकारक है? क्या जैसा साम्यवादी कहते हैं, संसार का कल्याण तभी हो सकेगा जब कि वर्तमान सामाजिक सङ्गठन को तोड़ कर उसके स्थान में एक श्रेणी-विहीन समाज की स्थापना हो? इस तरह के प्रश्नों का उत्तर तुरन्त दे सकना सम्भव नहीं है। यह समस्या ऐसी सहज नहीं है, जैसी कि प्रकट में दिखलाई पड़ती है। इसका निर्णय करने के लिये हमको मानव-समाज के विकास और सङ्गठन पर कुछ गहराई में उतर कर विचार करना पड़ेगा।

इस सम्बन्ध में जिन विद्वानों ने संसार के विभिन्न समाजों के सङ्गठन की जाँच-पड़ताल की है, उनका सुनिश्चित मत यह है कि दुनिया में ऐसे समाज का अस्तित्व हर्गिज़ क़ायम नहीं रह सकता जिसमें श्रम-विभाग की उचित व्यवस्था न हो। प्रत्येक सभ्य कहलाने वाले जन-समुदाय को सुख-पूर्वक जीवन-निर्वाह करने के लिये कई तरह के विभिन्न कार्यों की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिये प्रत्येक समाज और व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाहार्थ सबसे प्रथम भोजन सामग्री की आवश्यकता होती है। इसके बाद उसे वस्त्र, घर, बर्तन आदि की ज़रूरत जान पड़ती है। यदि समाज के भीतर अथवा उसके निकट कोई अन्यायी, अत्याचारी, नीच प्रकृति व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय रहता है तो उससे सुरक्षित रहने के लिये भी किसी व्यवस्था या विधान की आवश्यकता होती है। फिर यदि लोग केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से संतुष्ट न होकर मानसिक और बौद्धिक विकास की ओर प्रवृत्त हों, आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्रों में अग्रसर होना चाहें, तो उसके लिये एक विशेष बुद्धि-सम्पन्न लोगों के समुदाय की आवश्यकता होगी। इसी तरह यदि उद्योग-धन्धों का विशेष रूप से विकास हो, लोग साधारण ढङ्ग की चीज़ों के बजाय कुछ कलापूर्ण वस्तुओं की अभिलाषा करें तो उसके लिये किसी और ही प्रवृत्ति के व्यक्तियों की आवश्यकता होगी। नागरिक जीवन का आविर्भाव होने पर अनेक कार्य ऐसे विशाल होंगे, जिनकी पूर्ति किसी अकेले व्यक्ति से हो सकनी असम्भव होगी और जो बहुसंख्यक मनुष्यों के एक साथ प्रयत्न करने से ही सिद्ध हो सकते हैं। यदि इन तमाम कामों का भार प्रत्येक व्यक्ति को उठाना पड़े अथवा प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये इनमें से सभी कामों को करे तो यह प्रकट है कि वह किसी को भी अच्छी तरह न कर सकेगा। सम्भव है, कुछ काम उससे बिल्कुल न हों और कुछ को वह बहुत अपूर्ण रूप में कर सके। उस दशा में एक व्यक्ति के लिये किसी भी काम में कुशलता प्राप्त कर सकना तो असम्भव ही होगा।

प्राचीन काल में इसी आधार को लेकर समाज में विभिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई थी। इनको हम वर्ण, पेशे अथवा जाति-विभाग कुछ भी कह सकते हैं, पर इतना इतिहास से प्रकट है कि इस तरह के विभाग सभी देशों में थे। हमारे यहाँ के चतुर्वर्ण का हाल तो पाठक जानते ही हैं। प्राचीन यूरोप में भी धर्मगुरु, सरदार, सौदागर और दास पाये जाते थे। आजकल इन देशों में जो वर्ण-विभाग प्रचलित है, उनके विभिन्न अङ्गों को पादरी, राजनीतिज्ञ, पूँजीपति और मज़दूर के नाम से पुकारा जा सकता है। और तो क्या, रूस जैसे क्रान्तिवादी देश में भी सरकार द्वारा चार विभाग स्वीकार किये गये हैं—(१) किसान (२) सिपाही (३) पढ़े-लिखे अथवा बौद्धिक कार्यकर्ता और (४) शारीरिक श्रम करने वाले मज़दूर।

इस विवेचन से प्रकट होता है कि हमारे यहाँ पूर्व काल में प्रचलित चतुर्वर्ण व्यवस्था और दूसरे देशों में भी पाई जाने वाली इससे मिलती-जुलती व्यवस्थायें न तो ईश्वरी विधान-स्वरूप हैं और न धर्म तथा आध्यात्मिकता से उनका विशेष सम्बन्ध है। इनका आविर्भाव विकास के सिद्धान्तानुसार धीरे-धीरे अपने आप हुआ है। सम्भव है, उस समय भी इसमें कुछ विशेष शक्ति-सम्पन्न लोगों का स्वार्थ निहित रहा हो, पर इतना स्पष्ट है कि यह विभाग स्वाभाविक और समाज के लिये हितकारी था। इतना ही नहीं, हम यह भी कह सकते हैं कि यदि समाज में सुख, शान्ति, व्यवस्था की कामना हो और यह इच्छा हो कि

उसकी निरन्तर उन्नति होती रहे, तो इस प्रकार की कोई न कोई व्यवस्था अनिवार्य है।

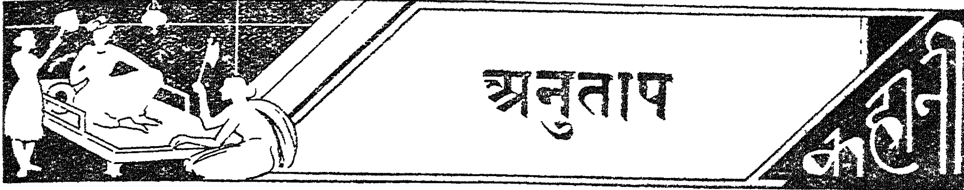
ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि वर्ण-व्यवस्था ऐसी अनिवार्य है, तो क्या कारण है कि वर्तमान समय में उसे हानिकारक समझा जाता है और अधिकांश बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति उसके खिलाफ़ हैं? इसका मूल कारण यह है कि आरम्भ में जो वर्ण-व्यवस्था समाज के लिये आवश्यकीय पेशों का सुचारु रूप से सञ्चालन करने के लिये सोची गयी थी, कुछ समय पश्चात् मनुष्यों की स्वार्थ-बुद्धि से उसमें तरह-तरह के दोष उत्पन्न होने लगे। पहले उसका आधार मुख्यतः कर्म पर था। जो व्यक्ति जिस काम को करता था अथवा अच्छी तरह करने की योग्यता रखता था, उसे उसी वर्ण का माना जाता था। इससे सब लोगों की शक्तियों का सदुपयोग होता था और समाज का हित-साधन होता था। उस समय इच्छा या आवश्यकता होने पर लोग अपना पेशा बदल सकते थे और इससे उनका वर्ण भी बदल जाता था। पर काल-चक्र के प्रभाव से धीरे-धीरे इस नियम में शिथिलता आ गई और वर्णों का आधार कर्म के बजाय जन्म पर समझा जाने लगा। खास कर जिन वर्ण वालों की स्थिति दूसरों से कुछ सुविधाजनक अथवा किसी दृष्टि से अधिक वाञ्छनीय थी, विशेष रूप से इस बात की चेष्टा की कि दूसरे लोग उनके वर्ण में प्रविष्ट न हो सकें। हमारे देश में अपनी विद्या अथवा कला-कौशल के गुप्त भेदों को बहुत अधिक छुपाकर रखने की जो प्रवृत्ति अभी तक पाई जाती थी, उसका कारण भी सम्भवतः यही था।

जब तक वर्ण का आधार कर्म पर था और लोगों को आवश्यकता पड़ने पर उसमें परिवर्तन करने की स्वाधीनता थी, तब तक सब वर्ण वालों में आम तौर पर विवाह-शादी होते थे। पुराने ग्रन्थों—जैसे महाभारत तथा कितने ही पुराणों—में ऐसे विवाहों का ज़िक्र सैकड़ों जगह पाया जाता है। इससे सब लोगों में एकता की वृद्धि होती थी और वे आपस में एक को दूसरे से पृथक् नहीं समझते थे। पर जब वर्ण-व्यवस्था ने सङ्कुचित रूप धारण करना आरम्भ किया तो आपस के विवाह-शादी रुक गये और लोग अपने ही वर्ण में विवाह करने लगे, ताकि बाहर वालों का उसमें प्रवेश न होने पावे। इस दशा में यदि एक वर्ण के किसी व्यक्ति का प्रेम या प्रणय-सम्बन्ध किसी दूसरे वर्ण की स्त्री से हो जाता था तो उसे अपने वर्ण से पृथक् कर दिया जाता था। ऐसे लोगों को विवश होकर पृथक् समुदाय बनाकर रहना पड़ा और धीरे-धीरे उन समुदायों ने जातियों का रूप ग्रहण कर लिया। प्राचीन स्मृतियों का अध्ययन करने से इस रहस्य का स्पष्टीकरण भली भाँति हो जाता है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण पिता और वैश्य माता का पुत्र अम्बष्ठ और ब्राह्मण पिता तथा शूद्र माता का पार्शव कहा गया है। इसी तरह वैश्य पिता और क्षत्रिय माता से मागध, वैश्य पिता और ब्राह्मण माता से वैदेह; शूद्र पिता और ब्राह्मण माता से अयोगव आदि की उत्पत्ति मानी गई। फिर जब इन वर्ण-संकर जातियों का सम्बन्ध पुनः शुद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि से अथवा आपस में एक दूसरे से हुआ तो उनकी सन्तानों को फिर नये नामों से पुकारा गया। इस तरह की कट्टरता अथवा वर्ण के झूठे अभिमान के कारण समाज चार विभागों के बजाय सैकड़ों-हजारों विभागों में बँट गया। जिनमें पारस्परिक विवाह-शादी ही नहीं, खान-पान तक निषिद्ध समझा जाने लगा।

उपरोक्त विवेचन से पाठक समझ सकते हैं कि वर्तमान समय में जो जाति-भेद देखने में आ रहा है और जिसके कारण समाजोन्नति में घोर बाधा पड़ रही है, वह प्राचीन वर्णव्यवस्था से बिल्कुल भिन्न है और वह बीच में स्वार्थी लोगों की अनुदारता से उत्पन्न हुआ है। इससे यह भी प्रकट होता है कि जिस समय इन जातियों का आविर्भाव हुआ उस समय समाज की जीवनी-शक्ति नष्टप्राय हो गई थी और समाज के कर्णधार बनने वाले लोग समाज की स्थिति के मूल-तत्वों को त्याग कर झूठे अहङ्कार को ही सब कुछ समझने लग गये थे। इसका फल भी वैसा ही भीषण हुआ जैसा कि इस तरह की स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति से होना चाहिये था। जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, यह जाति-भेद इस देश के पतन का मूल कारण हुआ और अन्त में इसे विदेशियों की अधीनता स्वीकार

करनी पड़ी। इस समय भी इसके कारण हिन्दू समाज की कम हानि नहीं हो रही है। इन दिनों जितने व्यक्ति हिन्दू-समाज को त्याग कर ईसाई, मुसलमान आदि मज़हबों में गये हैं उनमें अधिकांश के धर्म-परिवर्तन का कारण इन जातियों के कठोर बन्धन ही थे। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति ने भूल से या छल-बल से ईसाई या मुसलमान का छुआ खा लिया तो उसकी जाति वालों ने उसे फौरन बाहर निकाला। इसी तरह की और भी बहुत सी छोटी-छोटी बातों पर लोगों को जाति से च्युत कर दिया जाता था। एक बार जाति से निकाले जाने के पश्चात् उसको कहीं स्थान मिल सकना कठिन था। अगर वह किसी छोटी से छोटी जाति में सम्मिलित होकर भी जीवन-निर्वाह करना चाहता तो भी यह सम्भव न था। क्योंकि सभी जातियों ने बाहर वालों के लिये अपना दर्वाज़ा बन्द कर रखा था। ऐसी दशा में इस प्रकार के व्यक्ति या तो पूर्व काल के समान फिर कोई नई जाति बनाते अथवा दूसरे धर्म वालों में मिल जाते, जिनमें जाति-बन्धन बिल्कुल नहीं है अथवा कठिन रूप में नहीं है। इस प्रकार जाति-भेद की कृपा से आज तक न जाने कितने करोड़ व्यक्ति हिन्दू समाज को तिलाञ्जलि देकर दूसरे धर्मों में शामिल हो चुके हैं।

अब समय आ गया है कि हिन्दू जाति जागृत होकर इस महत्वपूर्ण समस्या को हल करे। हमारा आशय यह नहीं कि चरम-पंथी सुधारकों के मतानुसार समस्त जातियों और वर्णों को एकदम तोड़-फोड़ कर समाज को एकाकार कर दिया जाय। ऐसा किया जाना अगर किसी दृष्टि से लाभजनक भी हो तो भी हिन्दुओं की वर्तमान मनोवृत्ति को देखते हुये यह सर्वथा असम्भव है। इस समय तो इतना ही किया जाना बहुत है कि लोग जात पाँत की कट्टरता को छोड़ें और छोटी-छोटी उपजातियों की संख्या को जहाँ तक सम्भव होता जाय, कम करें। यदि वे ऐसा करेंगे तो यह असम्भव नहीं कि हिन्दू-समाज धीरे-धीरे पुनः चार बड़े हिस्सों में ही विभाजित रह जाय। ऐसा करने में धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोगों को भी किसी तरह की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इस समय देश में पाई जाने वाली हज़ारों जातियाँ उपजातियाँ, न तो शास्त्र-सम्मत हैं और न किसी धार्मिक सिद्धान्त पर आधार रखती हैं। वे एकमात्र लोगों की कट्टरता तथा बुद्धिहीनता के परिणाम-स्वरूप हुई हैं जब कि चतुर्वर्ण प्रणाली प्राचीन है और समाज-विज्ञान की निगाह से भी उपयुक्त है। इसलिये यदि हिन्दू-समाज अपने प्राचीन आदर्श के अनुसार पुनः केवल चार भागों अथवा वर्णों में विभाजित हो जाय और उन विभागों का आधार जन्म के बजाय कर्म पर माना जाने लगे तो वर्तमान समय में पाई जाने वाली अनगिनती बुराइयों का अन्त हो जाय और यह समाज एक पतनोन्मुख तथा मरणप्राय जाति के स्थान में जीता-जागता तथा सुदृढ़ समाज बन जाय।



[श्रीमती सत्यवती गौड़]

दीनदयाल अपना प्रावीडेण्ड फ़ण्ड का एक हज़ार रुपया लेकर शाम को घर आये। इनकी आँखें ख़राब होगयीं, इसलिये नौकरी से इन्हें जवाब मिल गया था। घर में पैर रखते ही दीनदयाल की स्त्री ने कहा—"तुम अपनी छाती मार-मार कर कल तनख्वाह का रुपया लाये और यह सत्यानाशी लखन मेरी संदूक तोड़ कर आज दस का नोट निकाल ले गया। मैं क्या अपनी जान में रुपया रखूँ। कहाँ रखूँ? यह लड़का हमें टुकड़ों के लिए मोहताज कर देगा, छोटे-छोटे बच्चे तुम्हारे बाद भूखों मर जायँगे।" दीनदयाल ने १००० रुपया स्त्री के सुपुर्द करते हुए कहा—"लो अब जो कुछ है यही है। आज से मेरी नौकरी नहीं है। आँखें भी चलीं। लखन को जैसा सूझे करे।" स्त्री ने सुना, नौकरी नहीं रही। उसके सिर पर वज्र गिर पड़ा। वह चुपचाप उठी, तिजोड़ी में रुपया रख दिया और हाथ पर हाथ रख कर रसोई में चूल्हे के बगल में बैठ गयी। नौ बजे रात को लखन सिनेमा देख कर घर आया। दबे पैर अपनी कोठरी में जाने लगा। दीनदयाल ने पैरों की आहट सुनी, कोने से बेत उठाया और लखन का हाथ पकड़ कर दस-बारह बेत लगाये, कहा—"चोरी कर-कर के मेरी जान ले लेगा। तू मुझे सुख से नहीं मरने देगा। ले जा, ले जा तिजोड़ी खोल कर, आज एक हज़ार रुपया लाया हूँ वह भी ले जा। मेरे पसीने का रुपया पानी सा बहा दे। निकल मेरे घर से निकम्मे!" दीनदयाल की स्त्री ने लखन को अपनी ओर खींच लिया, कहा—"बेटा! तू जवान हो गया, अभी तक तुझे अकल क्यों न आई। देख, तेरे ये छोटे-छोटे भाई-बहन क्या खायँगे। आज से उनकी नौकरी छूट गयी, फ़ण्ड का एक हज़ार मिला है। उसी से जिन्दगी भर खाना होगा, बच्चों को पालना होगा। तू कुछ काम रोजगार कर, यह जुआ की आदत छोड़ दे बेटा! अपने उस दुष्ट साथी विपिन का साथ छोड़! नहीं तो आगे चल कर पछतायेगा।" लखन नीचा सिर किये माँ की बात सुनता जाता था। माँ ने कहा—"तेरे ध्यान में कुछ आया कि मैं पागलों जैसी बक ही रही हूँ।" लखन वहाँ से उठ कर अपनी कोठरी में चला गया। सब बच्चों को लेकर माँ सो गई। दीनदयाल की आँख भी लग गयी। लखन उठा, तिजोड़ी की चाभी माँ के सिरहाने से निकाली, नोटों का बण्डल कोट की जेब में रखा और विपिन के घर की ओर चला।

विपिन के कमरे की खिड़की खुली थी, लखन ने खिड़की पर धीरे-धीरे ठक-ठक आवाज़ की। विपिन खिड़की पर आया, बोला—"क्या बात है लखन? कुछ मिल गया क्या?" लखन ने कहा, जल्दी कपड़े पहनो और चलो। गाड़ी छूट जायगी। विपिन ने कपड़े पहने, एक एटेची में जितने कपड़े अटे, भर लिये और खिड़की से नीचे कूद पड़ा। दोनों काशी स्टेशन चल दिये। लखन ने कहा, बोलो कहाँ की सैर करोगे, बम्बई की या कलकत्ते की? विपिन ने कहा—कितने लाये हो? लखन ने कहा—हज़ार! विपिन चौंक कर बोला—एक हज़ार? खूब हाथ मारा! तब बम्बई-कलकत्ता क्या कहते हो? चलो यूरोप चल दें। लखन ने कहा, चलो। स्टेशन पहुँचे, बम्बई की गाड़ी पर सवार हुए। बम्बई पहुँच कर पासपोर्ट का प्रबन्ध किया। निर्दिष्ट समय पर जहाज़ हारबर पर आ लगा। विपिन और लखन जहाज़ पर सवार हो गये। कैप्टन की सिगनल हुई। जहाज़ ने सीटी दी और बन्दरगाह से रवाना हुआ। विपिन को जहाज़ के सब हिस्से देखने की जल्दी पड़ी थी।

उसने लखन से कहा—"यहाँ रेलिङ्ग के पास खड़े-खड़े क्या देख रहे हो। बम्बई तो दूर रह गई, चलो जहाज़ देखें।" लखन ने कहा—"नहीं भाई, मैं यहीं खड़ा हूँ, तुम जाकर घूम आओ।" विपिन घूमने चल दिया। बन्दरगाह अदृश्य हो गया, चारों दिशाओं में पानी ही पानी दिखने लगा। नीचे पानी, ऊपर नीलाकाश। लखन आराम-कुरसी पर लेट कर सो गया। सपने में माँ रो रही थी, भाई-बहन बिलख रहे थे, बाप रोग-शय्या पर पड़े थे! उसकी नींद टूट गई।

यथासमय जहाज़ अदन पहुँचा। बन्दरगाह मुसलमान मुसाफ़िरों से भरा था। मुसलमानों की भीड़ की भीड़ जहाज़ पर चढ़ने-उतरने लगी। यहाँ ऐसा कोई व्यक्ति लखन को न दिखाई दिया जिसे वह अपने देश का कह सकता। विपिन ने लखन का हाथ खींचते हुए कहा—"चलो शहर घूम आवें, जहाज़ यहाँ शाम तक टिकेगा।" लखन अनिच्छा से विपिन के साथ चला गया। शहर में क्या देखा, मस्जिदें और ईदगाह। एक भी मंदिर नहीं। बड़-पीपल के ऊपर एक भी ध्वजा-पताका नहीं, एक भी साधू-सन्यासी नहीं! लखन ने मन में कहा—लखन तू किस मुल्क में आ गया, जहाँ अपना कोई नहीं। ऐसी कुबुद्धि क्यों हुई? अपना देश छोड़ा, घर छोड़ा, छोटे-छोटे भाई-बहन छोड़े, बूढ़ी माँ छोड़ी, अंधा बाप छोड़ा और जनम की कमाई सम्पत्ति ले भागा। यह सब किस लिये? परदेश घूमने के लिए! जहाँ कोई तेरी बात भी नहीं पूछता, जहाँ तेरा धोती-कुरता देख कर लोग दाँतों उङ्गली काट के खड़े के खड़े रह जाते हैं! उसने विपिन से कहा—"विपिन भाई, मैंने देख लिया शहर! मैं तो जहाज़ पर जाता हूँ, तुम घूम-घाम कर आ जाना।" लखन लौट आया। शाम को विपिन लौटा, जहाज़ आगे को रवाना हो गया।

दोनों साथी पेरिस पहुँचे। यहाँ की शिल्पकारी-चतुर चितेरों की चित्रकारी देख कर दर्शकों को दङ्ग रह जाना पड़ता है। लखन ने मशहूर इमारतें देखीं, चित्रकारी देखी। भारतीय इमारतें, अजन्ता एलीफेंटा की गुफाएँ उसकी आँखों में भूलने लगीं। लखन कठपुतली के समान यूरोप के मुख्य-मुख्य शहर घूम आया। उसके पास कुछ तीन सौ रुपये बचे थे। विपिन ने कहा—लखन! मैं तो अब घर जाऊँगा। जो कुछ देखना था देख चुका। मुझे तुम ही लाये थे, तुम ही भेज दो। लखन की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उसने कुछ न कह ३००) निकाल कर विपिन के हाथ में दे दिये। विपिन उसी दिन घर के लिए रवाना हो गया और लखन को किसी होटल में काम करते छोड़ आया।

दो माह के बाद विपिन अपनी जन्मभूमि में जा पहुँचा। उसके घर में आनन्द-बधाई बजने लगी। लखन की माँ बच्चों सहित भागी-भागी आई, विपिन को पकड़ कर रोने लगी और बोली—"भैया, लखन को कहाँ छोड़ आया। तू आ गया, उसे क्यों न लाया।" विपिन की माँ ने कहा—"वह क्या करे, विपिन ने बहुतेरा कहा कि घर चल, पर उसको तो बाहर की हवा लग गई है, वह इस असभ्य देश में क्यों आने चला।" लखन की माँ ने कहा—"अभी तक तो यह भरोसा था कि उसका एक से दूसरा विपिन तो है, अब वह अकेला रह गया। भैया विपिन, उसका पता मुझे लिख दे।" विपिन ने लखन का पता लिख कर दे दिया।

जिस दिन से लखन भागा, उसके दूसरे दिन से दीनदयाल ने पलङ्ग पकड़ लिया, आँखें बिलकुल जाती रहीं। रात-दिन दोनों आँखों से आँसू की धारा बहती रहती। वे कहते—"मैंने क्यों जवान लड़के को मारा। मेरा लड़का मेरे ही कारण परदेश भाग गया। अब मैं मरता हूँ, वह मुझे अन्त समय पर नहीं मिलेगा।" दीनदयाल की स्त्री कहती—"घबड़ाओ नहीं, अकेला थोड़े ही भागा है, विपिन साथ में है। लौट आवेगा।" पर आज यह क्या हो गया। विपिन लौट आया और लखन को वहीं छोड़ आया। दीनदयाल की स्त्री ने किसी तरह पति को यह सम्वाद दिया। दीनदयाल ने कहा—"तो अब मैं किस आशा पर जी रहा हूँ। पुत्र गया, जन्म भर की कमाई गई, बच्चे भूखों मर रहे हैं, मैं असमर्थ होकर पड़ा हूँ। भगवान ऐसा किसी को न जिलावे।" यहाँ पिता को बेहद अनुताप था, वहाँ पुत्र का कलेजा निकल रहा था। वह कहता था—भगवान्! मेरे घर की

क्या दशा होगी. मुझे वहाँ रह कर अपने अन्धे पिता की सेवा करना था, अपना घर सम्भालना था ; वह सब दूर रहा, उलटा सब कुछ लेकर इतनी दूर भाग आया। एक पैसा हाथ में नहीं है। हफ़्ते पर जो कुछ रुपये मज़दूरी के मिले थे वे भी डरबी की लाटरी में डाल दिये। घर का हाल पूछने के लिए एक तार भी नहीं दे सकता। लखन इस चिन्ता में बैठा था और सड़क के चलने वालों को देखता जा रहा था। उसने देखा, एक तार वाले ने होटल के सामने साइकिल रोकी। लखन ने सोचा, होटल में सैकड़ों मुसाफिर हैं, तार किसी एक का होगा, मैं क्या ताक रहा हूँ। तार वाले ने उससे पूछा—'यहाँ कोई लखनलाल है। उसके दो तार हैं।'' लखनलाल घबड़ा कर खड़ा हो गया, बोला—"दीजिये दीजिये, मेरा ही नाम लखनलाल है!" लखन ने एक तार खोला और पागल के समान खिलखिला उठा। उसे डरबी की लाटरी में एक लाख रुपया मिलेगा। उसने फुरती से दूसरा तार खोला और पढ़ा, पिता मृत्यु-शय्या पर हैं, तुम्हें देखना चाहते हैं; चले आओ! लखन अब क्या करे, हँसे या रोये। वह दो दिन तक बेचैन रहा। तीसरे दिन लाटरी का रुपया लेकर एरोप्लेन से भारतवर्ष चला। लखन का दिल बोल रहा था कि वह पिता को न देख सकेगा। उसने तीन दिन से मुँह में पानी न डाला था। रात के बारह बजे वह घर पहुँचा। ताँगा दरवाज़े पर खड़ा हुआ। घर के भीतर दीनदयाल ने स्त्री से आख़िरी बार पूछा—"अरी! क्या बेटा लखन नहीं आया? तो मैं भी चला। कभी आये तो कह देना कि बाप उसी का नाम लेते-लेते मरा है।" लखन के छोटे भाई ने पिता के मुँह में गङ्गाजल डाल दिया। पिता के प्राण-पखेरू उड़ गये। माँ-बच्चे छाती पीट कर रोने लगे। लखन रुपये की पोटली लेकर घर के भीतर गया। माँ ने लखन को देखा, चिल्लाई—"बेटा, बाप की आत्मा ठण्डी न हुई। तेरे लिए तरस-तरस कर प्राण छोड़े।' लखन ने रुपये की थैली दूर ज़मीन पर फेंक दी और वह पिता के ऊपर पछाड़ खाकर रोता बोला—"पिता जी, मैं तुम्हें एक दिन भी सुखी न कर सका। सच मानो पिता जी! जिस दिन से मैं घर से भागा, मेरे हृदय को ज़रा भी चैन न मिला। मैं बहुत पहले लौट आता, लेकिन मेरे पास एक पैसा न था। जब मुझे यह लाख रुपयों की सम्पत्ति मिली, मैंने सोचा, मैं अपने पिता को यह सुसंवाद देकर जिला लूँगा। लेकिन मैं आया और तुम चले गये। पिता जी! तुमने मुझे अच्छा दण्ड दिया, अब किससे कहूँ कि मुझे बड़ा अनुताप है? किससे तुम्हारे पास तार या चिट्ठी भेजूँ। जहाँ कहीं भी हो पिता जी! सुनो, तुम्हारा प्यारा बेटा लखन रो रहा है, अपने आचरण पर आज पछता रहा है। आजीवन पछतायेगा!!"

उड़ चल मेरे प्राण रे !

[श्री० नीलकण्ठ तिवारी 'जख्मी' बी० ए०, साहित्य-रत्न]

उड़ चल मेरे प्राण रे !
नीलम-नभ के उन मतवारे, श्यामल धूमिल वे कजरारे
मुक्ति- विजय के मुखर नगारे, अपने सुख में ही गदरारे—
मेघ-घनों में प्राण रे।
उड़ चल, उड़ चल, प्राण रे।
चपला-चितवनमय अनियारे, अमृत के वे दिव्य फुहारे,
सुर-धनु-पंखी प्यारे प्यारे, वे मयूर से मेघा न्यारे—
छायामय निर्वाण रे !
उड़ बन नीरद प्राण रे !
स्वतन्त्रता के मधु से धोये, रिमझिम नूपुर ध्वनि में खोये,
यौवन-श्री में सोये सोये, जगत-ताप ये ढोये ढोये—
फिरते स्वर्ग-विमान रे !
मेघयान बन प्राण रे !
तोड़-तोड़ यह मांसल पिञ्जर, अस्थि-रचित यह बन्धनमय घर,
बन जा विस्तृत अम्बर, सागर, बनकर मेघों की तू गागर—
छलका छल छल गान रे !
उमड़ मेघ से प्राण रे !
घनीभूत यमुना से सुन्दर, वायु-वेलि के नील-कमल वर !
पर मैं हूँ आँसू का निर्झर, आहों का हूँ एक बवण्डर—
करते ये आह्वान रे !
उड़ चल मेरे प्राण रे !
मेघदूत ये जीवन-जलधर, नभ के चल नन्दन वन सुन्दर,
जग की कारा को ही लेकर, आज उड़ूँ मैं, नभ को छूकर—
डोलूँ बन पवमान रे !
मेघ-व्यजन बन प्राण रे !
मेघ-मराल-माल तू बन कर, क्षितिज-पार अज्ञात तटी पर—
जहाँ मुक्ति का मानसरोवर, वहीं लगाकर अम्बर के पर—
उड़-उड़ मेरे प्राण रे !
उड़ चल मेरे प्राण रे !

बिखरे फूल

नई बहू अथवा स्त्रियों का स्त्रियों से पर्दा

मेवाड़ी तथा मारवाड़ी समाज पर्दे के लिये प्रसिद्ध है। स्त्रियों को सूर्य की सुहावनी धूप और फूलों का सुगन्ध-युक्त जीवन भरा समीर छू न जाय, इसका पुरुष पूरा ख़याल रखते हैं। मेरे ख़याल से संसार में सब से अधिक पिछड़ा हुआ यह समाज है। कदाचित् परिवर्तन को हम लोग पाप मान बैठे हैं, इसी से उससे कोसों दूर भागते हैं। जब अन्य सब जगह बीसवीं सदी सज-धज कर अपने पूर्ण यौवन के साथ आ गई है, तब हमारे यहाँ वही चौदहवीं जर्जर सदी ऊँघ रही है। समय हमारे साथ चल रहा है, हम उसके साथ नहीं चलते। वे ही रस्में, वे ही रिवाज, सब कुछ वही। हम समझते हैं, हमारे समाज का निर्माण मनुष्यों द्वारा नहीं, वरन् उसी सृष्टिकर्ता के कठोर हाथों द्वारा हुआ है, अतः वह बिना हीले-हवाले के हमें मान्य होना चाहिये। यह तो लोहे की लीक है, जो कभी मिट नहीं सकती। जो कुछ हमारे पुरखों ने किया है अथवा कहा है, वह हमारे लिये वेद-वाक्य है, भला उसकी अवज्ञा कर के, हम अपना सर्वनाश अपने ही हाथों कर लेंगे।

हम लोग भी अब इन रूढ़ियों के साथ ऐसे घुल-मिल गये हैं कि हमें इस वातावरण में अधिक कठिनाई नहीं होती, इसी को रसमय जीवन समझती हैं, क्योंकि आधुनिक शिक्षा की छाया भी हमसे दूर रहती है। पुरुषों से पर्दा भारतवर्ष में बहुत जगह देखने-सुनने में आया है, पर हमारे यहाँ तो स्त्रियाँ भी आपस में पर्दा करती हैं। नई बहू जब विवाह होकर पति-गृह में पदार्पण करती है उस समय उसकी दशा उपहासास्पद और दयनीय होती है। लम्बे घूँघट में दिन भर सिमट-सिमटा कर बैठे रहने की व्यवस्था भगवान जाने वह कैसे करती है? बहू सास से बोल नहीं सकती, पड़ोसी से बोलने की आज्ञा नहीं मिलती और घर की अन्य बड़ी-बूढ़ियों से भी बोलने की सख़्त मनाई होती है। भाग्यवश छोटी ननद या कोई बच्चा रहा तो थोड़ा-बहुत उनसे बोल लो वरना, नौकरानियों द्वारा ही बातचीत हुआ करती है। इससे कभी-कभी तो ऐसी भयङ्कर भूलें हो जाती हैं जिनके सुलझने की सम्भावना जीवन-पर्यन्त नहीं हो सकती।

बेचारी बहू क्या कहलवाना चाहती है और कहने वाली उसे न जाने कौन से ढाँचे में ढाल कर कह देती है। फिर क्या बहू कपूत बन जाती है और सास उस निर्दोष को मनमाना कोस लेती है। इस नई बहू की चर्चा सारे पड़ोस में दिन-रात होती रहती है। माँ बेटे से शिकायत कर पति की निगाहों से भी उस भोली बहू को गिराने की चेष्टा करती है। बहू क्या करे, वह तो मन ही मन घुल कर रह जाती है, कुछ कहना चाहे तो किससे कहे? वह तिल-तिल कर सदा के लिये अपने स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य से हाथ धो अपने पति-परमेश्वर की भी घृणा की पात्री बन जाती है। शिक्षित युवक समाज

उभरते हुए यौवन का भूखा है, पर में उनको यह नहीं मिलता, इसलिए अपनी स्त्रियों के गले पर छुरी फेर उद्यान में रङ्ग-बिरङ्गे फूलों पर मुँह लगा मनमानी मौज करते हैं। अबलाएँ इस दुःख को कहाँ रोवें ? इधर तो सास का कड़ा शासन और उधर स्वामी की कड़वी घुड़कियाँ !

साहस कर कभी मैके में किसी को कहती हैं तो बात फैल जाती है। फलस्वरूप या तो वह कभी ससुराल नहीं बुलाई जातीं और यदि बुला लिया तो परित्यक्त की तरह सारी ज़िन्दगी उस ससुराल में ही काटनी पड़ती है।

कई स्त्रियाँ इसी तरह भयङ्कर रोगों की शिकार बन जाती हैं। लज्जा के मारे किसी को कहतीं नहीं, परस्पर प्रेम हो, या किसी से सहानुभूति पाने की आशा हो तब तो कहे भी, वरना किसके समक्ष ज़बान खोले ? पति से भी तो नहीं कहतीं, बहुत कम उनसे मिलती हैं, इधर रात्रि के नौ बजे तक तो सास के पैर दबाने से ही छुट्टी नहीं पातीं, फिर क्या सोवें और क्या शिकायतें करें ? इस कठोर नियन्त्रण से उसकी नसें फूल जाती हैं, वे कृश शरीर तथा पीत वर्ण हो जवानी में ही बुढ़ापे का अनुभव करती हैं। वे ही असहाय दुर्बल स्त्रियाँ फिर उसी अपरिपक्वावस्था में माता का स्थान ग्रहण करती हैं और हम उन्हीं कारागार में बन्दी माताओं से उत्पन्न हुए शिशुओं से बड़ी बड़ी आशाएँ बाँध लेते हैं !!

बेचारी माँ जी भरकर अपने लाल का प्यार भी तो नहीं कर सकती, यह भी तो निर्लज्जता की निशानी समझी जाती है। उस पर उसका क्या हक़, वह तो बड़े-बूढ़ों के भाग्य का चिन्ह है और उन्हीं की चीज़ है। अभाग्यवश कहीं वह शिशु लड़की हुई तो फिर जच्चा के दुर्भाग्य का कोई अन्त नहीं। इस विषय में अधिक लिखना विषयान्तर हो जायगा। पर कहने का प्रयोजन यह कि यदि इस तरह का झूठा पर्दा हमारे यहाँ न हो तो हमारे घर (जो लक्ष्मी से भरे-पूरे होते हैं) में यथेष्ट शान्ति, सामञ्जस्य तथा मधुरिमा आ सकती है। यह भ्रम रूपी लज्जा निकल जाय तो यह निरन्तर का क्लेश मिट सकता है। हमारा समय कलह, ईर्षा-द्वेष और पराई निन्दा में ही व्यतीत होता है।

क्या करें, विवाह भी यथासम्भव शीघ्र ही कर दिये जाते हैं और जब तक पति कमाई करने के योग्य न हो जाय, तब तक बहू चार-पाँच सन्तान की माता बन जाती है। बाप यदि कुछ पैसे वाला हुआ तो थोड़ा-बहुत भार उस पर भी रहता है, और इतनी सास की कुढ़न नहीं सहनी पड़ती, वरना तो सारा भार वृद्ध श्वसुर की छाती पर ही पड़ता है। सबको खाने को देना, पहरने को देना और बेटे को हुशियार भी करना। सास के राज्य का यह भी एक सुदृढ़ कारण है। इतना दुःख-सुख भुगतने के बाद कठिनाई से बहू आई है, तब वह सारी गृहस्थी का भार उसके सुकोमल कन्धों पर डाल आप निश्चिन्त क्यों न हो जाय ? वह भी तो अपनी युवावस्था में इस तरह शासित की गई है, कौन जाने, सम्भवतया वह इससे भी कठोर रहा हो ? अब वह भी अपने सुअवसर का अच्छा उपयोग कर रही है ? क्यों न करे ?

पुरुषों से स्त्रियों का पर्दा इतना हानिकारक नहीं है, जितना स्त्रियों का स्त्रियों से ! किसी से बिना बोले-चाले, मशीन की तरह काम करते रहना, सबको प्रसन्न रखना, दिन भर घर की चक्की चलाना और रात को शिक्षित रसभीने नवयुवक पतियों की टहल करना, उनके इशारों पर नाचना, उनके नाज़-नख़रों को पूरा करना, उनके लिये शृंगार करना, साफ़ रहना, सुन्दरी बनना और कला से उन्हें रिझाना ही हमारे जीवन का चरम ध्येय है। यह सब करने से ही जब समय नहीं पातीं तो दुनिया की बातें कहाँ से जानें। हमारे कन्धे तो यह भार ढोते-ढोते नीले पड़ गये हैं।

इस दर्दनाक दशा को मिटाने का एकमात्र उपाय शिक्षा है। हम कुछ सीखें और तब लाज के इस आवरण को चीर कर प्रकाश में निकल आवें।

—दिनेशनन्दिनी

* * *

कायस्थ-जाति की विवाह-पद्धति

साधारणतः शिक्षा का अच्छा प्रचार और विचारों में समुचित उदार होने के नाते कायस्थ-जाति हिन्दू-समाज में सदा से अपनी विशेषता रखती है। भारत में राज्यसम्बन्धी जो अनेक उथल-पुथल हुए हैं, प्रायः उन सबसे कायस्थों का सीधा सम्पर्क रहा है, जिससे परिवर्तन इनके जातीय जीवन का सुखद उपहार बना। अपने सामूहिक रूप में कायस्थ लौकिकता के उपासक हैं। जीवन में सफलता प्रदान करने वाली बातों में इनके लिये अच्छा आकर्षण रहता है। विदेश-यात्रा, स्त्री-शिक्षा और अन्तर्जातीय विवाह आदि नवीनताओं के लिये कायस्थ कुछ पहले ही प्रस्तुत हुए हैं।

समाज की किसी श्रेणी की अवस्था समझने के लिये उन सिद्धान्तों का परिशीलन आवश्यक होता है, जिन पर समाज का अस्तित्व है। हिन्दू-समाज में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध बराबर का नहीं बनाया गया अथवा वह ऐसा रह गया है। फलस्वरूप कन्या दान के रूप में भेंट दी जाती है; यह सिद्ध है कि दान दी जाने वाली वस्तु को पात्र की उपयुक्तता के विवेचन का अधिकार नहीं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण-वर्ण ने अपने पतन के साथ ही विवाह-संस्कार में एक जटिलता उपस्थित कर दी, जिससे कोई भी जाति अछूती न रही। अतः इस धर्म-प्रधान विवाह में प्रेम-प्रधान विवाह से कम विडम्बना नहीं हुई।

हिन्दू-समाज में कन्या को दानरूप में भेंट करने के सिद्धान्त ने दहेज प्रथा को इतनी गहरी नींव दी है कि वर निश्चित होने में दहेज का निश्चित हो जाना ही मुख्य अङ्ग हो गया है, जिससे सोने-चाँदी के टुकड़ों पर मरने वाले एक हँसते-खेलते प्राणी का अपना मूल्य आँकने से वञ्चित रह जाते हैं और देने वाले भी बड़े घरों में सम्बन्ध करने के लोभ में यह सोचने की शक्ति खो बैठते हैं कि किसी ग़रीब और योग्य वर को देकर जाति की सहायता भी की जा सकती है। कायस्थ जाति में युवकों का मँहगा मूल्य होने के कारण अनेकों बलि लेने वाली इस भयङ्कर प्रथा को बहुत अधिक आश्रय मिला है। फलतः उपयुक्त वर के लिए आवश्यक दहेज न दे सकने के कारण कायस्थ-कन्याएँ बीस-बीस वर्ष तक कुँवारी रहने लगीं। इस प्रकार कायस्थ बाल-विवाह के दोष से अवश्य बचे, किन्तु एक दूषण से बच कर दूसरे में लिप्त हो जाना बुद्धिमानी नहीं।

दहेज पर आश्रित होने के कारण अथवा ज्योतिष-शास्त्र के ह्रास के कारण कायस्थ-समाज जन्म-पत्रिका मिलाने के लिये विशेष उत्सुक नहीं रहता। परिवार, ननिहाल और पिता के ननिहाल की अल्ल बचाना आवश्यक होता है, क्योंकि वर-वधू का ख़ून पास होना किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं।

वर-कन्या के गुण-दोष, रूप-रङ्ग, कुल-शील और आचार-विचार से दोनों पक्ष जब मन भर लेते हैं तो किसी शुभ मुहूर्त में वर को फल (नारियल) और दान (द्रव्य) दिया जाता है और उसे पान खिलाया जाता है। 'फलदान' की इस प्रथा का अभिप्राय विवाह-सम्बन्ध पक्का करने का है। इसी प्रकार वरपक्ष की महिलाएँ लड़की को देख कर उसकी गोद भरती हैं।

विवाह का कार्य-क्रम निश्चित करके कन्यापक्ष आवश्यक पूजन के उपरान्त लगन-पत्रिका को वस्त्र, आभूषण तथा द्रव्य के साथ वर-परिवार में भेजता है, जहाँ वर के टीका होता है और पत्रिका पढ़ी जाती है। आनन्द के इस अवसर पर एक दावत भी होती है। लगन भेजने में प्रायः देर की जाती है, अतएव दस्तूरों से यथासमय सूचित करने के लिये हल्दी से रँगी एक 'पीली चिट्ठी' पहले भेजना आवश्यक होता है।

शिक्षा से पीछे रह कर कायस्थ-महिलाओं ने भी विवाह कार्य को पेचीदा बना दिया है। बन्ना-बन्नी की माता का अपने मैकेवालों को 'भात' के लिये न्यौतना और निकरौसी अथवा भाँवर के समय उनका वस्त्रादि लाना उपयुक्त है, पर अधिक धूम अपेक्षित नहीं। बस्ती के बाहर से मिट्टी लाना, भाड़ को पूजना, दीवाल या वस्त्र पर देवी-देवता लिखना, 'घोड़ी-बन्नी' या 'सुहाग बन्नी' से अश्लील मनोरञ्जन करना, प्रथम दिवस केवल सुहागिनों को नाज छूने का अधिकार देना इत्यादि प्रथाएँ अनुचित

ही है। मण्डप तो विवाह का अनिवार्य अङ्ग है, किन्तु तेल चढ़ाना और उतारना कुछ तथ्य नहीं रखता। उबटन अवश्य लाभप्रद है।

'निकरौसी' के पूर्व आटे के 'मायँ-बाबू' से आँधी और पानी बन्द कर रखने की मनौती तथा नेग के लिये माता के झगड़ने का अनोखा ढङ्ग उपहासास्पद ही है। सामयिक देशी वेश-भूषा के स्थान पर पुराना जामा या एकदम नया पतलून चमकाना वर को उचित नहीं। बारात जाने पर स्त्रियों के भद्दे 'नकटौरे' में भी सुधार आवश्यक है।

मार्ग-व्यय कन्या-पक्ष पर होने के कारण वर-यात्रा में झूठे दिखावे के लिये बहुत आदमी जाते हैं। अभी तक मांस-मदिरा के व्यवहार के कारण बहुत बखेड़े होते थे, किन्तु अब बारात का शान्त रूप दिखाई दिया है। आतिशबाज़ी और वेश्या-नृत्य में व्यर्थ रुपया फूँकना भी बहुत कम हो गया है, जो हर्ष का विषय है।

बारात के स्वागत-सत्कार की ओर कायस्थ समुचित ध्यान देते हैं। आगमन की सूचना देने के लिये जनवासे से एपन की सात टिकियाँ आती हैं, जिन्हें पाकर कन्या-पक्ष मैदा की पूरियाँ 'पौनछक' के रूप में भेजता है। लड़के के नहाने का पानी और उसको चढ़ाये जाने वाला तेल लड़की के उपयोग के लिये भेजना एवं सुहाग के लिये कन्या का धोबिन से सात बार सिर रगड़ना तो कायस्थों के लिये कलङ्कपूर्ण है।

सन्ध्या समय द्वारचार में कन्या का पिता वर का तिलक करता है और बाराती कलश लेने वाली कहारियों को नेग देते हैं। नज़रें इसी अवसर पर उपयुक्त हैं; भात, बढ़ार या विदा के समय उनका ऐसा महत्व नहीं रह जाता। फूलों के स्थान पर जूठे चावल से कन्या द्वारा वर का स्वागत अवाञ्छनीय है। दुर्गाजनेऊ सचमुच महत्वपूर्ण है और सब समय यज्ञोपवीत के नियमों का पालन आवश्यक होना चाहिए।

वर की ओर से आने वाले चढ़ावे को पहिन कर किसी शुभ मुहूर्त में कन्या मण्डप में आती है, जहाँ वर-कन्या वेदी का पूजन करते हैं। कन्या के माता-पिता दोनों के हाथ पीले करके पैर पूजते हैं और इच्छानुसार दान देते हैं, जिसमें और लोग भी भाग लेते हैं। गो-दान में दी जाने वाली गौ का प्रायः वर मूल्य ले लेता है।

'भाँवर' के समय माँ-बाप दूर मायँ-बाबू के पास दही में हाथ डाल कर बैठते हैं और लड़का-लड़की गाँठ जोड़कर पति-पत्नी के स्वत्वों को प्राप्त करने के हेतु वेदी की सात परिक्रमा देते हैं। सातवीं भाँवर में दोनों का, पटा बदल दिया जाता है। इस अवसर पर वधू के भाई को धान बोने का, वर के बड़े भाई को चुनरी ओढ़ाने का, वधू की छोटी बहिन को वर के पीछे वधू की माँग भरने का—आदि नेग मिलते हैं।

सालों द्वारा जूता चुराना और दरवाज़ा रोकना, वर से स्त्रियों का पल्ला पकड़वाना और चिराग़ की बत्तियाँ मिलवाना, सास का मौर उतारना, वर से जूता पुजाना और मायँ खुलवाना, कङ्गन खेलने में ज़ेवर उछाल कर वर-वधू की योग्यता की जाँच करना, 'दूधाबाती' में दोनों का एक दूसरे को खिलाना—आदि निरर्थक प्रथाओं को मिटा कर और विवाह-संस्कार कुछ पहले करके सबको सोने का अवसर देना नितान्त आवश्यक है।

'रहसबधाये' की प्रथा में सयानी लड़की का जनवासे में जाना, 'कुँवरकलेवा' में वर का झगड़ना, कन्या के तेल की चुनरी क़ालीन के नीचे दबाना और वर को उसका जूठा पान खिलाने का प्रयत्न करना, छोटे-बड़े लड़कों का अश्लील ग़ज़लें पढ़ना—इत्यादि प्रथाएँ अनुचित हैं। रात्रि में होने वाली 'भात' की कच्ची या पक्की दावत समधियों में प्रेम-भाव का अर्थ रखती है, परन्तु भोजन के साथ गाली से पेट भरना वाञ्छित नहीं।

तीसरे दिन सबेरे का समय ख़ाली रहता है। उचित तो यह है कि अनावश्यक विस्तार को कम करके भात दोपहर तक और 'बढ़ार' रात में हो। बढ़ार की दावत के पूर्व सन्ध्या समय नौतनी में प्रशंसा भरी विनतियों के स्थान पर जाति-सुधार की चर्चा उपादेय है।

बढ़ार के सबेरे समधियों की 'मिलनी' में रङ्ग-केशर खेला जाता है और एक दावत होती है। फिर 'पलकाचार' में वर-वधू दहेज के साथ पलङ्ग पर बैठते हैं और साला-सलहज धान बोते हैं। वर-वधू के पिता दूसरी

ओर के कमीनों को मण्डप-व्यय देते हैं और बारात को खाने की सामग्री देने के साथ ही माता पुत्री को 'लाड़-गउरिया' देती है। एक फूल के कटोरे में वधू-पक्ष समधी को द्रव्य देता है और लड़की की भावोत्पादक विदा होती है।

वर की माता मूसल से विचित्र 'परछन' करके बेटा-बहू को लेती है और बहिन नेग पाने के लिये द्वार रोकती है। पश्चात् देवी-देवताओं का पूजन होता है, वर-वधू परस्पर दही-बताशे खिलाते हैं और महिलाएँ वधू का मुँह देखती हैं। परिहास के रूप में दूल्हा-दूल्हिन कङ्गन खेलते हैं तथा फूलों की छड़ी और गेंद एक दूसरे को मारते हैं। इस अवसर पर एक भोज भी दिया जाता है। रात्रि में वर-वधू 'सुहागरात' में मिलते हैं।

कङ्गन खोलने तथा मँड़वा सिराने के दिन वर-वधू का विनोद अधिक उपयुक्त नहीं रहता। बहिन की विदा के लिये 'चौथी' की प्रथा में साले की ओर से अधिक व्यय व्यर्थ ही है। कायस्थों में 'गौना' अधिकतर साल भर के भीतर हो जाता है जो उचित है, पर अधिक नेग अभीष्ट नहीं।

इस प्रकार कायस्थ जाति की सामान्य विवाह-पद्धति का विवेचन करने से विदित होता है कि कायस्थों में भी हिन्दू-समाज की अन्य जातियों की भाँति अन्ध-विश्वास के कारण कितनी ही कुरीतियाँ वर्तमान हैं। ऐसी असमानताएँ भी थोड़ी नहीं, जो विभिन्न वर्गों को एक दूसरे से दूर ले जाती हैं। क़रारदाद की घातक रूढ़ि, अशिष्ट परिहास और मनोरञ्जन, आवश्यकता से अधिक नेग और छोटी-छोटी अनावश्यक रीति-रस्मों को मिटाये बिना जाति की सफलता नहीं। आर्य-समाजी कायस्थों में विवाह-पद्धति बहुत संक्षिप्त है, उन्नति की कामना लेकर सनातनधर्मी कायस्थों को भी उसे सरल बनाना होगा।

आधुनिक युग में उदार विचार वालों में बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रत्यक्ष उपादेयता सिद्ध हो चुकी है, यद्यपि पुरुषों के फिर-फिर विवाह करने पर अभी योग्य नियन्त्रण नहीं। अपने प्राचीन रूप में श्रीवास्तव, माथुर, सकसेना, भटनागर आदि उपजातियों और देवसरे या खरे के बखेड़े के कारण कायस्थों में परस्पर खान-पान भी नहीं, परन्तु सङ्गठन के इस संसार में कायस्थ मात्र में विवाह करने का युग आरम्भ हुआ है। वर्तमान परिस्थिति के अनुसार प्राचीनता और नवीनता का सुन्दर समन्वय करके सुरीतियों का पोषण और कुरीतियों का बहिष्कार करने वाली एक सार्वजातीय विवाह-पद्धति की कायस्थ जाति को आज बड़ी आव-श्यकता है।

हर्ष का विषय है कि 'आल इण्डिया कायस्थ-कान्फरेंस' ने ग़रीब, अमीर सबकी सुविधाओं पर ध्यान रखने वाले नियम बना कर विवाह संस्कार के गौरव में वृद्धि की है। शादी के पहले या बाद में जब भी कहीं क़रारदाद का होना मालूम होगा तो कान्फ़रेन्स का उत्तरदायित्व होगा कि वह दहेज लेने वाले सज्जन को उसे वापिस करने के लिये विवश करे। अधिक से अधिक दहेज भी निश्चित कर दिया गया है। मार्ग-व्यय कन्या-पक्ष की ओर से बन्द कर बारात की संख्या लड़की वाले की सुविधा पर रखी गई है, जो किसी भी दशा में ५० से अधिक न होगी और तीसरे दिन सुबह बिदा हो जायगी। नाच, आतिशबाज़ी और गौना भी बन्द कर दिया गया है। ज़ेवर लड़के वाला अपनी इच्छानुसार दे सकता है, किन्तु लड़की वाला १२५) से अधिक लागत का नहीं, जो सब स्त्री-धन समझा जायगा। समय की पाबन्दी पर कान्फ्रेंन्स ने विशेष ध्यान दिया है। फलदान, गोद भरना, पौनछक आदि सभी प्रथाओं में एक रुपया नक़द, लगन और दरवाज़े में एक रुपया नक़द और इक्यावन रुपये की मालियत तक का सामान, नज़रें एक बार एक रुपये से और सात से अधिक नहीं, कन्यादान में सवा रुपया, कुँवर-कलेवा में एक रुपया नक़द या सामान, चौथी में पाँच रुपये तक की मिठाई और भिन्न-भिन्न वर्गों में सभी आवश्यक रस्मों में एक रुपया नक़द नेग ठहराना कॉन्फरेन्स का प्रशंसनीय कार्य हुआ है।

इसमें सन्देह नहीं कि कॉन्फरेन्स ने अपने प्रथम प्रयास में बहुत कुछ कार्य किया है, परन्तु इतने पर ही सन्तोष नहीं किया जा सकता। अपने अनुकूल वातावरण तैयार करके विवाह-संस्कार को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने का

प्रयत्न कायस्थ-सम्मेलन के लिये अन्वित है। कॉन्फ़रेन्स के नियमों के पालन के लिये स्थान-स्थान पर 'कायस्थ-समाज सुधार सङ्घ' स्थापित हुए हैं, जिन्होंने कार्य में तत्परता भी दिखाई है, तथापि कॉन्फ़रेन्स का प्रभुत्व बढ़ाने के लिये अधिक उद्योग की आवश्यकता है। कायस्थ-जाति प्रत्येक बात में अग्रगण्य रही है, अतएव कायस्थ युवक-युवतियों से पूर्ण आशा की जाती है कि वे नम्रतापूर्ण उत्साह के साथ वैवाहिक कुरीतियों को समूल नष्ट कर न केवल कायस्थ जाति वरन् हिन्दू समाज के गौरव का कारण होंगे।

—हरिमोहनलाल वर्मा, बी॰ ए॰

* * *

दो चित्र

आवश्यकीय कार्यों से निवृत्त हो 'राधा' सोचती है—और 'रजनी' का हृदय कितना विशाल, कितना शान्त, कितना गम्भीर है। वह संसार की विभूति की रत्ती भर भी तो चिन्ता नहीं करती। अपने 'रमेश' में ही निर्लिप्त रहती है। उसका 'रमेश' ही उसकी आशा-बल्लरी, जीवन की ज्योति है। वह 'रमेश' में ही अनुप्राणित रहती है। सब कुछ तो वह अपने पति में पा लेती है। सहनशीलता हद से ज्यादा। कोई भी कुछ कहा करे, घर वाले भली-बुरी, खोटी-खरी सुनाते रहें, पर वह उन सबको ग्रहण करती हुई, विशेष रूप से उनके सम्बन्ध में कभी क्रियाशील नहीं होती। सम्भवतः उसने अपने हृदय में स्थिर कर लिया है कि स्त्री केवल अत्याचार सहन करने के लिए ही रची गयी है और यदि वह अमर्य्यादित हो उठेगी, तो उसका श्रेय, आदर संसार से जाता रहेगा। अथवा उसने यह विचार कर रक्खा हो कि पत्नी का प्रमुख कर्तव्य है, वह अपने पति के कटु शब्द, घर वालों के लात-घूँसे और अभ्यागतों की गरल-सिंचित वाक्यावलियाँ अपने कर्ण-रन्ध्रों के घाट से उतारती रहे।

उसने अपने नश्वर जीवन में शायद ही कभी हर्ष, आनन्द एक प्रकार की जो स्त्री में नवीनता वर्तमान होती है, उसका अनुभव किया हो। संसार की अन्य स्त्रियों से तो वह बिलकुल ही भिन्न है। जो भी घर में प्रवेश करता है, दो बातें कह कर चला जाता है। उसका स्वयं पति भी तो कभी-कभी कह बैठता है—'जब कभी मैं इसे देखता हूँ, खून खौल उठता है। सदैव अपने ही में उलझी मिलती है। घर की सफ़ाई का ध्यान नहीं; इस गन्दगी का कब अन्त होगा? मैंने स्वप्न में भी यह कल्पना न की थी कि मेरे घर ऐसी डायन आवेगी।" और 'रजनी' के कर्तव्य को कोई नहीं समझता। उसके पास सैकड़ों काम बने ही रहते हैं। एक समाप्त हुआ दूसरा सामने वर्तमान है। वह क्या करे और क्या नहीं? उसके दस-बीस हाथ तो हैं नहीं, जो चारों ओर के झगड़ों को निबटा दें; एक ही क्षण में समाप्त कर दें; वह मशीन भी नहीं है और मशीन के लिये भी तो कुछ समय के लिये विश्राम चाहिए। फिर वह तो एक साधारण स्त्री है। जीर्ण-शीर्ण शरीर, सङ्कुचित नेत्र और बहुत दुबली-पतली अँगुलियाँ, इसके साथ ही वह संक्रामक रोग का शिकार बनी हुई है। यद्यपि पड़ोस की स्त्रियाँ उसकी सास, ससुर और पति से कहती हैं—यदि 'रजनी' के रोग के रोकने का यथोचित प्रबन्ध न होगा, वह एक साल से अधिक चल नहीं सकेगी। कोई भी इस पर ध्यान नहीं देता। सुनी-अनसुनी कर देता है। विचित्र हैं इस घर के लोग!

तदनन्तर 'राधा' के दीर्घ नेत्रों से दो अश्रुमुक्ता ढुलक पड़ते हैं। वह स्तम्भित हो उठती है। 'रजनी' की गम्भीर परिस्थिति के सम्बन्ध में तारतम्य नहीं जोड़ना चाहती, पर हृदय फ़ैसला दे देता है—वह—'रजनी' भी उसी के बचपन की एक सहेली है। उसके हृदय का कुछ भी तो उससे छिपा नहीं। तब क्योंकर वह ऐसा कर सकती है? पुनः वह 'रजनी' की ओर ध्यान आकृष्ट करती है :—

'रजनी' खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की किञ्चित मात्र भी परवा नहीं करती। दो सूखी-रूखी चपातियों से ही अपने पापी उदर को भर अपने कार्यों में व्यस्त हो जाती है। पति का सुख भी तो उसने नहीं जाना। गन्दे, फटे-

पुराने वस्त्र, जो कुछ भी उसे अपनी सास, ससुर अथवा पति से प्राप्त हो जाता है, वह सहर्ष स्वीकार कर लेती है। उसे कैसी धोती और किस रङ्ग से रङ्गी साड़ी चाहिये, इसका भी प्रस्ताव नहीं करती। संसार की स्त्रियाँ कभी भी, कदापि इस प्रकार के अत्याचार सहन नहीं कर सकतीं, पर यह 'रजनी' स्त्री नहीं है, देवी है। वह संशयालु हो उठती है—'रजनी' है क्या? क्या भारत की नारी, जिसे सचमुच भारत की आदर्श नारी कहा जा सकता है या देवी का साक्षात अवतार। उसका बच्चा, शिशु महेन्द्र एक ओर घर के कोने में रोया करता है, वह सास, ससुर, देवर आदि के नादिरशाही हुक्मों का पालन किया करती है। तनिक भी, यत्किंचित भी, लेशमात्र भी अपने लाड़ले लाल की, अपने रोग-ग्रस्त शरीर की परवा नहीं करती! क्या उसके हृदय में, अपने पुत्र के प्रति जो एक प्रकार का वात्सल्य होता है, नहीं है? नहीं, उसे एक क्षण आराम से बैठना, झपकी लेना, हँसना हराम है। उसके हृदय में वात्सल्य की प्रवेगमयी धारा प्रवाहित है, पर उसे उसकी गति का अवरोध करना पड़ता है। वह मन मसोस कर रह जाती है। उसका भाग्य ही फूटा है, यही सोच कर सन्तोष कर लेती है। हाँ, रात्रि के १२ बजे जब उसे अपने घरेलू कार्यों से अवकाश मिल जाता है, वह अपने बिस्तर पर लेट कर अपने दुःख के वेग को, आघात को आँसुओं द्वारा हृदय से बाहर निकाल देती है।

राधा यह भी विचारती है :—

उसकी भोली-भाली सहेली 'रजनी' ने कभी लिपस्टिक, क्लिप, लक्स सोप, लिली पाउडर का उपयोग नहीं किया। वह एक बिलकुल साधारण, सीधा-सादा जीवन यापन कर रही है। वह इन सबको जञ्जाल, आडम्बर, इन्द्रजाल समझती है। अपने पति में ही अपनी अभिलाषाओं को केन्द्रीभूत समझती है। उसका पति उसके लिये सब कुछ है। देवी-देवता, सुख-दुःख, जीवन-मरण और जो कुछ भी इस मायावी विश्व में वर्तमान है, सभी उस पति में अन्तर्हित है तथा वही सब कुछ है। उस ओर उसका पति उसे त्रास देता है, ठोकता है, मरम्मत करता है। यही 'रजनी' के पति का उसके प्रति उदारता, पुरस्कार, दान है। पर 'रजनी' सबको सहर्ष स्वीकार करती है। कितनी गऊ है 'रजनी'? कैसी भोली है 'रजनी'? कितनी सौजन्य-शील है 'रजनी' कि जो उसे विष पिलाता है, उसके बदले वह अपना स्त्री-सुलभ अमृत देती है। सहनशीलता की भी हद होती है, परिधि होती है। 'रजनी' ने उसपर विजय प्राप्त कर ली है। उफ़! संसार उसे देख लहू के आँसू बहा रहा है, वह संसार के अत्याचारों को स्वीकार कर, लोगों को देखकर हँस देती है।

'राधा' पुनः सोचती है कि क्या सचमुच ही 'रजनी' का संसार काँटों पर बसा है! उसके एक-एक पग पर तीक्ष्ण एवं विकराल कण्टक बिछे हुये हैं? उसके अमृत में विष मिला हुआ है? उसके कोमल हृत्तल में निराशा का द्वन्द्व-युद्ध चला करता है? वह इस निर्णय पर आती है, वह 'रजनी' विवश है। विवशता के विकट पाश से आबद्ध है। वह आनन्द की अभिलाषा रखते हुये भी उसे क्रियाशील नहीं कर सकती। जिसने अपने जीवन में सुख जाना ही नहीं, जिसकी शय्या काँटों की है, जिसे प्रेम के बजाय ठोकरें, लात-घूँसे, डण्डों की मार मिलती है, ईश्वर जाने उसके दिन इस जगत में कैसे कटते होंगे!

पति को आया देख वह अन्दर चल दी।

× × ×

और उधर 'रजनी'?

उसके संकुचित दीर्घ नेत्रों में अश्रुओं का सागर उमड़ पड़ा है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो गया है। स्नेह का बन्धन टूटा चाहता है। वह सोचती है और 'राधा' भी तो एक स्त्री है, किसी की पत्नी है। पर वह अपने प्राण-प्यारे के गले का हार बनी हुई है। उसके पति 'सत्येन्द्र' में भी तो क्रोध की एक किरण वर्तमान है, पर उसे कभी भी उसने 'राधा' के प्रति रोष प्रकट करते नहीं पाया। उसने उन दोनों को मुखरित दशा में, सदैव देखा है। उसे भली भाँति विदित है, क्योंकि वह निरन्तर देखती रहती है, 'सत्येन्द्र' राधा' का पति चन्द्र बनता है और उसकी पत्नी 'राधा' चकोर का रूप धारण करती है।

उनका प्रेम निरन्तर शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की भाँति बढ़ता ही रहता है। 'रजनी' ने कभी उनमें अनबन नहीं देखी। कोई उलझन कभी भी नहीं उपस्थित हुई। उनकी दुनियाँ सोने की है। दिन-रात बीतते देर नहीं लगती। 'राधा' 'सत्येन्द्र' पर दम भरती है और 'सत्येन्द्र' 'राधा' पर अपने को न्यौछावर करने को उद्यत रहता है। वह सोचती है, वह भी तो अपने पति 'रमेश' पर अपना तन, मन, धन और सब कुछ उत्सर्ग कर देने को तत्पर है, पर कारण क्या है, उसका 'रमेश' उसकी निधि होते हुये भी उससे दूर—बहुत दूर रहता है। उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखता है, उससे घृणा करता है। कभी उसने हँस कर, हृदय से यह न कहा—" 'रजनी' तुम कितनी भोली हो, मैं तुम्हें हृदय से प्यार करता हूँ।" यही नहीं, यदि वह उससे हँस कर भी बोल दे, तब भी वह अपने विद्रोही मन-प्राण को किसी प्रकार समझा ले। परन्तु उस 'रमेश' ने सदैव ही उसे शत्रु की दृष्टि से देखा! हँस कर उससे बात करना पाप समझा, अत्याचार समझा। 'रजनी' के हृदय में एक टीस-सी उठती है, पर वह करे तो क्या?

'रजनी' अन्धी नहीं है, वह संसार को देखती है, स्त्री-पुरुष को देखती है। स्त्री के प्रति पुरुष का कैसा व्यवहार होना चाहिये, यह भी वह भली भाँति, पूर्ण-रूपेण जानती है। वह बहुधा देखा करती है, 'राधा' को ज्वर आ गया—जैसा कि सदैव ही उसे बना रहता है—उसका 'सत्येन्द्र' डॉक्टर पर डॉक्टर ले आता है। तनिक बीमारी पर सैकड़ों रुपये पानी की तरह बहा देता है। क्योंकि उसे विदित है, उसकी स्त्री से वह धन-सम्पत्ति अधिक प्यारी, प्राणमयी नहीं है। यदि उसकी 'राधा' बनी रहेगी, धन-सम्पत्ति बह भी जायगी, तो वह उसी में सुख का अनुभव करेगा। उसे भान होता है, 'राधा' के बिना उसका जीवन शुष्क, नीरस, रसहीन हो जायगा। 'सत्येन्द्र' को यह भी विदित है, कि 'राधा' उसके जीवन-मरुस्थल की हरी-भरी लतिका, निकुञ्ज है। उसके जीवन की ज्योति, कल्पना की शक्ति, लोल लिप्सा को शान्त करने की औषधि केवल 'राधा' है; 'राधा' है; 'राधा' है। फिर वह उससे रुष्ट कैसे हो सकता है? उस पर अत्याचार कैसे कर सकता है? वह 'राधा' 'सत्येन्द्र' के जीवन की गाड़ी का एक पहिया है, चक्र है। उसके बिना उसकी गाड़ी एक पग, एक तिल भी तो नहीं चल सकती, टस से मस नहीं हो सकती है। फिर उसे समानाधिकार न देना ईश्वर के प्रति विद्रोह का झगड़ा खड़ा करना है।

'राधा' भी तो उसी में निर्लिप्त, अनुप्राणित रहती है। पति के प्रति उसके हृदय में अगाढ़ श्रद्धा का चश्मा बहा करता है। 'सत्येन्द्र' को पाकर वह फूली अङ्ग नहीं समाती। उसके पति ने उसके जीवन में आनन्द का अक्षय श्रोत बहा दिया है। एक दूसरे में घुल-मिल कर रहता है।

ऐसा सोचते विचारते 'रजनी' के सम्मुख अन्धकार मूर्तित सा हो जाता है। एक क्षण के लिये वह ज्ञान-शून्य हो जाती है। अपने को सँभालती हुई वह पुनः ध्यान-मग्न हो जाती है।

'राधा' का 'सत्येन्द्र' नाना प्रकार की वस्तुओं से उसे सन्तुष्ट रखना चाहता है। नित्य-प्रति कुछ न कुछ, जब वह बाहर से लौटता है, लाता अवश्य है। वह हाल ही में बनारस गया था, एक रङ्गीन सुन्दर साड़ी लाया था। 'राधा' उसे पाकर गद्गद हो उठी! पर 'रजनी' सङ्कल्प-विकल्पों से लोहा लेती आगे बढ़ती है। वह और कुछ नहीं देखती। सदैव अपने नेत्रों के सामने 'राधा' और 'सत्येन्द्र' के प्रणय का चित्र खींच लेती है तथा विचार किया करती है। वह सोचती है, ऐसे जीवन से मर जाना श्रेयस्कर है, अच्छा है। जो इस संसार की धूल हो, कङ्कड़-पत्थर हो, उसे एक क्षण भी न रहना चाहिये। तो क्या वह अपने को गङ्गा की धवल धार को सौंप दे, गले में फाँसी का फन्दा लगा ले या विष पान कर अपने जीवन-नाटक का अन्त कर दे? पर यह तो नियन्त्रण-हीन क्षुद्रता है, कायरता है, हृदय की कमज़ोरी है। उसे तो विशेष कर कष्ट का भार ढोने के लिये ही बनाया गया है। वह पति की हो चुकी है। पति ही उसका रक्षक, पालक और नाशक है। वह तो 'रमेश' की सम्पत्ति है। उसके शरीर पर उसका अधिकार ही क्या? वह अपने आप, मनमानी कैसे कर सकती है? 'रमेश' भले ही उसे जीवनदान दे या मृत्यु। वह अपने

'रमेश' की होकर भी दूसरे की है। दूसरे की वस्तु पर उसका कोई अधिकार नहीं हो सकता !

रात अधिक व्यतीत हो गई है। 'रजनी' के चक्षुओं में दुख के बादल घुमड़ आये हैं। उसका शुभ्र प्रशस्त ललाम ललाट ठनकने लगा। कर्णरन्ध्रों के पास एक वाक्य गूँज उठा—"स्त्री की रचना वेदना का भार ढोने के लिये ही की गई है।" 'रजनी' अपने जीवन-चित्र को 'राधा' के आनन्दपूर्ण चित्र से मिलाने लगी। इन दो चित्रों में उसे ज़मीन-आसमान का अन्तर दृष्टिगोचर हुआ। हृदय कराह उठा—ईश्वर क्षमा कर!

'रजनी' के नयन-कटोरों से दो अश्रु-मुक्ता उसके धवल-अञ्चल में गिर पड़े, जिसे उसने धीरे से, चुपके उसी में रख लिया, सँभाल कर।

दूसरे ही क्षण उसका लाड़ला शिशु चीख उठा और वह उसकी ओर दौड़ पड़ी।

—लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी 'चन्द्र'

* * *

हमारा गोस्वामी समाज

भारत के ब्राह्मण-समाज की श्रेणियों में देश का गोस्वामी-समाज एक विशेष उच्च स्थान रखता है। परन्तु यदि इनके आचरणों की खोज की जाय तो शायद ही ऐसा और कोई दूषित समाज निकले। बहुत ज़्यादा शब्दों में उनके चरित्र का विश्लेषण न करके यदि संक्षेप में यह कहा जाय कि 'वर्तमान समय में धर्म की आड़ में पापों का सञ्चय कर लेना ही गोस्वामी-समाज का प्रमुख तथा प्रधान कर्तव्य रह गया है' तो कुछ अत्युक्ति न होगी। हमें इस अपने समाज के अधःपतन पर हार्दिक दुःख होता है। परन्तु किया ही क्या जाय, समाज से विमुख रहने का भीषण परिणाम हमें भुगतना ही पड़ता है।

गोस्वामी शब्द को गोलोक की सम्पत्ति समझ कर ममता से इसे अपने आप में प्रयोग लाने वाले इसके प्रयोजकों ने इसे परम्परा और रूढ़ि में ले लिया है। रूढ़ि और परम्परा में आना इतना बुरा नहीं जितना कि व्यवहार और आचरणों का बुरा होना है। जो सत्पुरुषों के उत्तराधिकारी बनते हैं, जो सदाचार, सद्-व्यवहार और सत्कर्मों के शिक्षक बनते हैं; जिनका गुरु-आचार्य होने का दावा है, वे ही अनाचार, अत्या-चार, और असत् कर्मों की शिक्षा दे रहे हैं। ऐसी शिक्षा से उपकार तो दूर रहा और भी अधिक पतन की आशङ्का है।

यह लोग देश को तथा जनता को धोखा बहुत देते हैं। अपने दुराचरणों को छिपाने की बहुत कोशिश करते हैं। परन्तु यह सब बेकार है। यह लोग इतना भी नहीं सोचते कि अन्दर ही अन्दर धधकने वाली ज्वाला की लपटें कितनी भीषण और अजेय होती हैं। देश अब इनके दोषों से अच्छी तरह से वाक़िफ़ हो गया है और जिन लोगों का इन पर अन्धविश्वास था वह भी अब इनके स्वरूप से वाक़िफ़ होते जाते हैं और उनका अन्धविश्वास भी मिटता जाता है। यह लोग अपना शृङ्गार अन्दर ही किया करते हैं। भक्त लोग तथा सेवक यह समझते हैं कि गोस्वामी जी, पूजा-पाठ, भजन, ईश्वर-आराधना में विराजमान हैं और वह बेचारे घण्टों आपकी प्रतीक्षा में बाहर बैठे रहते हैं।

हमारे गोस्वामी समाज के अन्दर बहुत सी विधवाएँ समाज के नाम पर ख़ून के आँसू बहा कर उसे डुबा देने की तैय्यारी कर रही हैं, जिनमें १४-१५ वर्ष की बाल-विधवाएँ तक हैं। हमने विशेष रूप से पता लगाया है कि उन विधवाओं की इच्छा दूसरी शादी करने की है, पर समाज के डर से वह दिन-रात अन्दर ही अन्दर अपने को बलिदान कर रही हैं। इनमें बहुत सी पापमय जीवन व्यतीत कर रही हैं। हमने ऐसे बहुत से पत्रों को देखा है तथा पकड़ा है, जो कि उन्होंने समाज के अत्याचारों से दुखित होकर बाहर के आदमियों को लिखे हैं।

—अद्वैतकुमार गोस्वामी (वृन्दावन)



अजी सम्पादिका जी,

जयराम जी की !

उस दिन अपनेराम के एक मित्र अपनेराम से मिलने आये। वार्तालाप होते-होते सहसा वह पूछ बैठे—"आप से एक मामले में राय लेनी है—ज़रा ठीक-ठीक राय दीजिएगा।"

अपनेराम बोले—"ठीक हो या बे-ठीक, पर राय अवश्य दूँगा।" वह बोले—"मान लीजिए एक स्त्री है, वह पर्दे में रहना चाहती है; परन्तु उसका पति उसे पर्दे में नहीं रखना चाहता, ऐसी दशा में क्या होना चाहिए?"

"लड़ाई और झगड़ा !"

"नहीं ! नहीं ! लड़ाई-झगड़ा तो होता ही है, मेरा मतलब यह है कि पति की इच्छानुसार कार्य होना चाहिए या पत्नी की इच्छानुसार !"

"जो दोनों में से प्रबल होगा, उसी की इच्छानुसार कार्य होगा।"

" 'होगा' को छोड़िये—होना क्या चाहिए ?"

" 'चाहिये' को मानता ही कौन है। संसार का ऐसा ही चलन है—होना कुछ चाहिए लेकिन होता कुछ और है।"

"आप भी अजीब आदमी हैं। संसार की बात मैं थोड़ा ही पूछ रहा हूँ। मैं तो इस मामले में आपकी राय जानना चाहता हूँ।"

"तो यदि अपनेराम की राय आप पूछते हैं तो सुनिए—यदि पत्नी स्वेच्छा से पर्दे में रहना चाहती है, तो पति को कोई अधिकार नहीं है कि जबरदस्ती उसे पर्दे के बाहर निकाले।"

"तो इसके अर्थ तो यह हुए कि पत्नी स्वेच्छा से चाहे जो करे—पति को उसके कार्य में बाधा डालने का कोई अधिकार नहीं है।"

" 'चाहे जो' की बात नहीं है, पर्दे में रहने की बात है।"

"जी हाँ ! मान लीजिए पति की इच्छा पत्नी को पर्दे में रखने की नहीं है।"

"मान लीजिए, पत्नी की इच्छा पति को पर्दे में रखने की है।"

"क्या कहा ! क्या कहा !"

"कहा-सुना सब माफ़ करते हुए बात पर गौर कीजिए।"

"आपने जो कहा वह मैं समझा नहीं, ज़रा स्पष्ट कहिये।"

"हवास दुरुस्त करके सुनिए तो समझ में आ जाय।"

"हाँ ! हाँ ! कहिये ! मेरे हवास बिल्कुल दुरुस्त हैं।"

"आपके हवास बिल्कुल दुरुस्त नहीं हैं।"

"अच्छा आप बात तो कहिये।"

"मान लीजिए पत्नी की इच्छा यह है कि पति पर्दे में रहे।"

"अब कहिये ! हवास किसके गुम हैं, मेरे या आपके ? भला पत्नी की इच्छा कभी ऐसी हो सकती है ?"

"क्यों नहीं हो सकती ?"

"इसलिये कि पुरुष कभी पर्दे में रहा ही नहीं।"

"मान लीजिए, फ़र्ज़ कर लीजिये !"

"असम्भव बात कैसे मान लें।"

"तर्क के लिये कभी-कभी असम्भव बात भी सम्भव मान ली जाती है।"

"जी नहीं ! मैं ऐसा तर्क नहीं मानता।"

"तो फिर तर्क मत कीजिए। मैं अपनी राय प्रकट कर चुका—झगड़ा समाप्त !"

"आपकी राय कुछ समझ में नहीं आई।"

"बेशक ! अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।"

"भाई यह बात ग़लत है, जो प्रचलित बात हो वह कहिये।"

"अच्छा यह बताइये, स्त्रियों का पर्दे में रहना अभी प्रचलित है या नहीं ?"

"प्रचलित है, परन्तु अब अच्छा नहीं समझा जाता।"

"पर्दे के विरोधी अच्छा नहीं समझते, परन्तु पर्दे के समर्थक तो अच्छा समझते हैं।"

"हाँ ! हाँ ! यह ठीक है।"

"और आप यह भी मानेंगे कि पत्नी के भी कुछ निजी अधिकार हैं। यह बात नहीं है कि वह केवल पति का खिलौना हो।"

"हाँ, यह भी मानता हूँ।"

"तो बस ! पत्नी को इतना अधिकार तो होना ही चाहिये कि यदि वह स्वेच्छा से पर्दे में रहना चाहती है तो शौक़ से रहे।"

"लेकिन ऐसा भी तो बहुत होता है कि पत्नी की इच्छा पर्दे में रहने की नहीं है, परन्तु पर्दे के पक्षपाती स्त्रियों को ज़बरदस्ती पर्दे में रखते हैं।"

"तो यह ज़बरदस्ती अच्छी है या बुरी ?"

"बहुत बुरी है।"

"तो स्त्री का पर्दा तुड़वाने की जबरदस्ती भी बुरी है।"

"उचितानुचित का ध्यान भी तो रखना होगा। उचित ज़बरदस्ती ठीक है, अनुचित ग़लत !"

"आप जिसे उचित समझते हैं उसे दूसरा अनुचित समझता है; इसका निर्णय कैसे हो कि कौन उचित कहता है कौन अनुचित ?"

"इसका निर्णय समय की प्रगति के अनुसार होना चाहिए।"

"किसी के व्यक्तिगत अधिकार को कोई भी प्रगति नहीं कुचल सकती। आजकल समय की प्रगति यह है कि व्यक्तिगत विचार-स्वातन्त्र्य तथा व्यक्तिगत अधिकारों के सामने बेटा बाप की बात नहीं मानता।"

"हाँ ! ख़ैर, इस दृष्टि से आपकी राय ठीक हो सकती है। मगर—"

"मगर को पानी में ही रहने दीजिए। किसी भी दृष्टि से ठीक हो—जब एक बात ठीक हो गई तो बहस ख़त्म !"

"अच्छी बात है ! बहस ख़त्म सही। लेकिन मेरा तो यह ख़याल था कि आपके विचार बहुत बढ़े-चढ़े हैं।"

"बेशक !"

"लेकिन बढ़े-चढ़े के यह अर्थ तो नहीं हैं।"

"तो शायद बढ़े-चढ़े के यह अर्थ हैं कि स्त्रियों के साथ सदैव जबरदस्ती होती रहे। पहले उन्हें ज़बरदस्ती पर्दे में रक्खा गया और अब उनसे ज़बरदस्ती पर्दा तुड़वाया जाय ! पुरुष सदैव उनका भाग्य-विधाता बना रहे। पुरुष जब जो बात ठीक समझे, तब स्त्रियों को वही करनी पड़े—चाहे वे स्वयम् उसे ठीक समझती हों या न समझती हों।"

यह सुन कर वह महाशय सिर खुजलाने लगे। और अपनेराम ने जब देखा कि हज़रत उत्तर के लिए दिमाग़ खरोंच रहे हैं, तो प्रसङ्ग बदलने के लिए कहा—"ख़ैर ! इस बहस को ख़त्म कीजिए, अब यह बताइए कि मामला क्या है।"

इस पर वह हँस पड़े। बोले—मामला बड़ा मज़ेदार है। मेरे एक रिश्तेदार हैं, उनके लड़के का विवाह होकर आया है। लड़का बिल्कुल अप-टू-डेट है। लड़का चाहता है कि पत्नी बेपर्दा होकर उसके साथ घूमे-फिरे, पत्नी

यह बात स्वीकार नहीं करती। वह पर्दे में रहना चाहती है, क्योंकि उसके माता-पिता पर्दे के पक्षपाती हैं। उसने अपने मायके में पर्दे में रहने की शिक्षा पाई है।"

"और लड़के के माता-पिता के इस सम्बन्ध में क्या विचार हैं?"—अपनेराम ने पूछा।

"वे इस मामले में तटस्थ से हैं। एक दिन बड़ी दिल्लगी हुई। लड़के के कहने-सुनने से एक दिन लड़की उसके साथ खुले मुँह घूमने जाने के लिए तैयार हुई। सन्ध्या का समय था। लड़की कपड़े-वपड़े पहन कर घर से निकली। द्वार पर दुर्भाग्यवश लड़के के पिता खड़े एक आदमी से बातें कर रहे थे। लड़की की जो ससुरजी से चार आँखें हुईं तो वह उलटे-पैरों भाग कर सीधी अपने कमरे में पहुँची। पति महोदय 'अरे! अरे!' करते खड़े रह गये। उस दिन से लड़का इतना नाराज़ हो गया कि पत्नी से बात तक नहीं करता। इधर लड़की को भी त्रियाहठ आ गई। वह भी अपनी हठ पर अड़ी है। माता-पिता दोनों परेशान! कभी लड़के को समझाते हैं कि क्यों ज़बरदस्ती करते हो, कभी लड़की को समझाते हैं कि लड़के का कहना मानो—आजकल ऐसा ही चलन चला हुआ है। परन्तु न वह मानता है, न वह मानती है!

"लड़की पढ़ी-लिखी है?"

"हिन्दी तो अच्छी पढ़ी है, अङ्गरेज़ी शायद बहुत थोड़ी जानती है। वैसे बहुत समझदार और सलीकादार है।"

"तभी!"

"तभी क्या?"

"पढ़ी-लिखी तथा समझदार और सलीकादार न होती तो पति महोदय लाख अप-टू-डेट होने पर भी उसका पर्दा तुड़वाने का साहस न करते।"

"क्यों?"

"गँवार स्त्री को साथ लेकर घूमने में पति महाशय की क्या शोभा बढ़ती? उलटे उन्हें लज्जित होना पड़ता। लेकिन साथ ही यह बात भी है कि गँवार होती तो इतनी हठ भी न करती—पढ़ी-लिखी है इसीलिए वह अपने अधिकार को समझती है।"

"यह न कहिये। गँवार स्त्रियाँ तो अधिक हठीली होती हैं। उनके आगे तो न कोई तर्क चलता है न कोई युक्ति।"

"हाँ यह ठीक है, परन्तु गँवार स्त्रियाँ, यदि कोई विशेष कारण न हुआ तो, पति की इच्छाओं के सामने अपनी इच्छाओं की परवाह नहीं करतीं। वे पति की आज्ञा पालन करना ही अपना कर्त्तव्य समझती हैं।"

"इसका लुत्फ़ भी सुनिये। एक ऐसी ही घटना हुई कि जिसमें लड़का पढ़ा-लिखा था, लड़की थी देहाती। कुछ दिन तो लड़की पर्दे में रक्खी गई। फिर दुर्भाग्यवश लड़के को यह सनक सवार हुई कि पर्दा तोड़ दिया जाय; क्योंकि लड़की खूबसूरत थी। पति ने समझा कि पढ़ी-लिखी न सही, खूबसूरत तो है। इसलिए खुले मुँह लेकर साथ निकलने से उसकी शोभा बढ़ेगी। लड़की भी इस प्रस्ताव से तुरन्त सहमत हो गई। बोली—'हम जब मेमों को खुले मुँह घूमते देखती हैं तो हमें बड़ा अच्छा लगता है और हमारा मन होता है कि हम भी ऐसे ही घूमें।' इनकी दशा में लड़के के माता-पिता पर्दे के पक्षपाती थे। उन्होंने लड़के की इस योजना को नापसन्द किया, परन्तु अधिक विरोध नहीं किया; क्योंकि लड़का कमाऊ पूत है और उसी पर दोनों निर्भर हैं। पहले दोनों रात में निकलते रहे, फिर क्रमशः सन्ध्या होते ही निकलने लगे। एक दिन पार्क में लड़के का पिता कुछ स्त्रियों की ओर एकटक ताक रहा था, इसी समय सामने से उनका पुत्र तथा पुत्रवधू दोनों आ गये। उन्हें देखकर बुड्ढा बगलें झाँकने लगा। वे दोनों उसे बचाकर निकल गये। उस दिन बुड्ढे ने घर आकर बड़ा हल्ला मचाया। बोला—'यह बेहयाई! पतुरियों की तरह मर्दों से आँखें लड़ाती हुई जा रही थी। हे भगवान! मुझे मौत भी नहीं आती, मैं यह सब अपनी आँखों से देखने के लिए ज़िन्दा रहा।'

पुत्रवधू पहले तो चुपचाप सुनती रही, परन्तु जब बुड्ढे की ज़बान बन्द न हुई तो वह बोली—'ख़ैर हम पतुरिया की तरह जा रही थीं या भलेमानस की तरह जा रही थीं, पर थीं अपने आदमी के साथ। वह जानते हैं कि हम कैसे जा रही थीं, तुम क्यों चिन्ता करते हो।

पर तुम अपनी तो कहो; यह उमर और औरतों को मुँह बाये खड़े ताक रहे थे। ऐसी बुरी तरह देख रहे थे कि हमको देख कर लज्जा लगी। वह (पति) बेचारे भी कहने लगे—'देखो, पिता जी कैसी बुरी तरह औरतों को देख रहे हैं। चलो हम यहाँ से टल जायँ।' तब वह हमें लेकर दूसरी तरफ चले गये।'

सास ने जो पुत्रवधू की बात सुनी तो उसे उसकी बात पर विश्वास हो गया, क्योंकि बुड्ढे का पिछला आमालनामा ज़रा गड़बड़ था। सास बोली—'मैं तो इनके गुन बहुत दिनों से जानती हूँ। तभी दिन रहते निकल जाते हैं और रात हुए आते हैं। इनकी आदत थोड़ा ही छूटेगी। लाख बुड्ढे हो जायँ, जो कुलच्छन पड़ जाते हैं वह भला कभी छूट सकते हैं!'

बुड्ढा यह सुन कर बहुत बिगड़ा। बोला—'तुम भी इस छत्तीसी की बातों में आ गईं। मै इस उमर में औरतें ताकूँगा।'

बुढ़िया बोली—'मैं तुम्हारे गुन न जानती होती तो न मानती। मुझे तो सब मालूम है। तुमने क्या कुछ उठा रक्खा है। पर मैं समझती थी कि बुढ़ापे में वे आदतें छूट गई होंगी, पर आज हाल खुल गया। बहू इतना झूठ कभी नहीं बोलेगी।'

बुड्ढा बड़ा उछला, बहुत कूदा। दोनों बुड्ढे-बुड्ढी में ख़ूब जूता चला। आखिर बुड्ढे ने झल्ला कर कहा—'आज से जो पार्क जाय वह दोगला।' तब जाकर कहीं मामला शान्त हुआ। अब पुत्र तथा पुत्रवधू मज़े से नित्य सन्ध्या समय घूमने जाते हैं, बुड्ढे मियाँ घर में धँधे रहते ।"

अपनेराम बोले—"शायद बुड्ढे मियाँ इसीलिए पर्दे के विरोधी थे कि वह जानते थे कि जैसे हम दूसरी औरतों को ताकते हैं, वैसे ही लोग हमारी को भी ताकेंगे।"

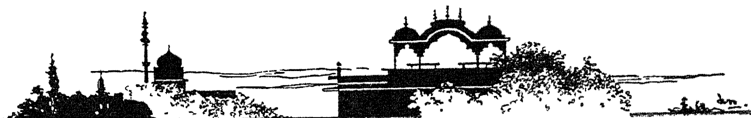
"बेशक! यह बात तो होती है। जो अप-टू-डेट होते हैं, वे ऐसा नहीं समझते, क्योंकि वे दूसरों की स्त्रियों को नहीं ताकते।"

"ख़ैर, यह बात तो नहीं है कि वे दूसरी औरतों को ताकते ही नहीं, परन्तु अपनी पत्नी साथ रहते हुए दूसरी औरतों को ताकना आसान काम भी तो नहीं है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि ऐसे लोग दूसरों के ताकने की परवा भी नहीं करते। और करना भी न चाहिए। जिनकी ताकने की आदत है वे तो ताकेंगे ही। केवल इस डर से बाहर न निकलना या पर्दे का पक्षपाती रहना मूर्खता है। पर्दे के विरोधियों को इस बात की परवा नहीं होनी चाहिए। ताकने वाले ताकेंगे, घूरने वाले घूरेंगे, कभी गुण्डे आवाज़ाकशी भी कर देंगे; पर इससे कोई मतलब नहीं। अपनी राह आना अपनी राह जाना। परन्तु हाँ, यदि पत्नी स्वयम् अपनी इच्छा से पर्दे में रहना चाहती है तो मेरा यह विचार है कि उसे ज़बरदस्ती पर्दे के बाहर निकालना उचित नहीं है। ऐसे आदमियों को विवाह करने के पूर्व ही यह जान लेना चाहिए कि जिसे ब्याह कर लावेंगे वह पर्दे की समर्थक है या विरोधी।"

वह बोले—"हाँ, यह तो आपका कहना ठीक है।"

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)





स्वरकार—
श्री० एस० डी० आपटे
सङ्गीत-प्रवीण

राग—कल्याण

तीनताल

शब्दकार—
श्री० रवीन्द्रनाथ
टैगोर

इस राग में मध्यम तीव्र लगता है।

वादी—गंधार, **संवादी**—निषाद। जाति—संपूर्ण, **समय**—रात का।

आरोहावरोह

सा रे ग म् प ध नि सां | सां नि ध प म् ग रे सा।

पकड़

निरेग, पम्ग, रेग, निरेसा।

गीत

जननी तोमार करुण चरण खानि। तोमारे नमि हे सकल भुवन माझे।
हेरिनु आजि ए अरुण किरण रूपे॥ तोमारे नमि हे सकल जिवन काजे॥
जननी तोमार मरण हरण वानि। तव मन धन करि निवेदन आजि।
निरव गगने भरी उठे चुपे चुपे॥ भक्ति पावन तोमार पुजार धुपे॥

स्थायी

।	।							म्						सा	
सा	सा	नि	ध	पम्	ध	प	प	ग	म्	प	रे	ग	रे	निं	सा
ज	न	नी	ऽ	तोऽ	मा	ऽ	र	क	रु	ण	म	र	ण	खा	नि
१				२				+				३			
												ग	रे	सा	
सा	ऽ	ग	रे	ग	म्	धमं	प	प	नि	ध	प	रे	ग	निं	सा
हे	ऽ	रि	नु	आ	जि	एऽ	ऽ	अ	रु	ण	कि	र	ण	रू	पे
१				२				+				३			

												नि।	।		
सा	सा	रे	ऽ	ग	ग	म्	म्	प	प	ध	ध	नि	नि	सा	सा
ज	न	नी	ऽ	तो	मा	ऽ	र	म	र	ण	ह्	र	ण	वा	नि
१				२				+				३			
।	।	।	।										सा		
ग	रे	सा	सा	निध	निध	पम्	प	ग	म्	प	रे	ग	रे	नि	सा
नि	र	ब	ग	गऽ	नेऽ	भऽ	री	उ	ऽ	ठे	चु	ऽ	पे	चु	पे
१				२				+				३			

अन्तरा

								।	।	।	।				।
ग	ग	ग	ग	म्	ऽ	ध	प	सा	सा	सा	ऽ	नि	ध	नि	सा
तो	मा	रे	न	मि	ऽ	हे	ऽ	स	क	ल	भु	व	न	मा	झे
१				२				+				३			
	।	।	।		।	।									
नि	रे	ग	रे	नि		सा	ऽ	नि	ध	नि	ध	पम्	ध	प	प
ता	मा	रे	न	मि	ऽ	हे	ऽ	स	क	ल	जि	वऽ	न	का	जे
१				२				+				३			
														।	।
सा	सा	रे	रे	ग	ग	म्	म्	प	प	ध	ध	नि	नि	सा	सा
त	व	म	न	ध	न	क	रि	नि	वे	ऽ	द्	न	आ	ऽ	जि
१				२				+				३			
	।	।	।	।								ग			
नि	रे	ग	रे	सा	नि	ध	प	ग	म्	ध	प	रे	ऽ	सा	ऽ
भ	ऽ	क्ति	पा	व	न	तो	मार	पु	ऽ	ऽ	जार	धु	ऽ	पे	ऽ
१				२				+				३			

'ऽ' जिन स्वरों के आगे अवग्रह हो उन्हें उसी स्वर का आकार समझना चाहिये। जैसे—सा ऽ प ऽ। गीतों में आकार का चिन्ह 'ऽ' ऐसा होता है।

'‿' इस चिन्ह के अन्दर जितने स्वर हों, उन्हें एक मात्रा काल में समझना चाहिए। जैसे—सारे सारेऽग सारेगम

बाकी के चिन्ह विरहित स्वर एक मात्रा काल में समझना चाहिये। जैसे— सा रे ग म।





ज्ञान के उद्यान में—लेखक, श्री स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक; प्रकाशक, सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर, (जि० सहारनपुर)। सितम्बर १६३१, पृ० सं० ४५४, सजिल्द मूल्य ३)।

स्वामी सत्यदेव जी से हिन्दी संसार भली-भाँति परिचित है। उनकी प्रारम्भिक पुस्तकें अमरीका पथ-प्रदर्शक, मनुष्य के अधिकार, आश्चर्यजनक घण्टी, उनके व्यक्तित्व की परिचायक थीं। देश-सेवा के लिए उनके हृदय में ज्वाला धधकती थी। इसी को सन्तुष्ट करने के लिए उन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने का व्रत लिया। स्वतन्त्रता के लिए जो लड़ाइयाँ हुईं, उनमें अग्रसर रहे। राजनैतिक और साहित्यिक क्षेत्र में उन्होंने विशेष कार्य किया। इधर स्वामी जी की आँखें ठीक नहीं रहतीं। इनका इलाज कराने दो बार वे जर्मनी गये, परन्तु विशेष लाभ नहीं हुआ। इसी कारण स्वामी जी उसी सुविधा से अब घूम-फिर नहीं सकते। उन्होंने अपने लिए गङ्गा-तट पर ज्वालापुर में एक आश्रम बना लिया है और वहीं रह कर वे ज्ञान का प्रचार करते हैं। विशेष आग्रह से ही वे व्याख्यान आदि देने को बाहर जाते हैं।

स्वामी जी का विश्वास है कि मनुष्य का परम ध्येय ज्ञान-प्राप्ति है। इसी के लिए उसके सभी प्रयत्न होने चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने इसी की पुष्टि में चालीस निबन्ध उपस्थित किये हैं और इनको तीन भागों में बाँटा है—चरित्र-सङ्गठन-कुञ्ज, राष्ट्र-कुञ्ज, और बाग़ की बहार।

प्रथम भाग में जीवन की उत्कण्ठा, जीवन की स्फूर्ति, जीने का अधिकारी कौन है, धर्म का यथार्थ स्वरूप आदि उपयोगी विषयों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में राष्ट्र-धर्म, शिक्षा का आदर्श, जीवित जाति के चिह्न, आदि जटिल समस्याओं पर स्वामी जी ने अपने अनुभव प्रकट किये हैं और जाति-धर्म आदि सङ्कुचित दृष्टिकोणों को छोड़ कर इन पर राष्ट्र के हित की दृष्टि से विचार किया है। अन्तिम भाग में लेखक ने अपने पच्चीस वर्ष के सार्वजनिक जीवन के विषय में अपनी डायरी के कुछ पृष्ठ, अपनी यात्राओं के अनुभव तथा अपने कुछ महत्व-पूर्ण पत्रों के अंश दिये हैं।

स्वामी सत्यदेव जी की अपनी निजी शैली है। यात्राओं का वर्णन उनका अद्वितीय होता है। अन्य लेखों में भी वह आप-बीती का ऐसा रोचक पुट देते हैं कि वह पढ़ते ही बनते हैं और पाठक को उपन्यास के पढ़ने का आनन्द आता है।

लेखक स्वतन्त्र और शुद्ध विचार के पोषक हैं। आपकी दृष्टि में जो मनुष्य किसी विशेष व्यक्ति अथवा ग्रन्थ को बिना अनुसन्धान के केवल श्रद्धा से मानता है, वह मनुष्य की उन्नति का घोर शत्रु है। वह मनुष्य जाति के उत्थान में बाधक है। भारतवर्ष में विशेष रूप से स्वार्थपरता, कायरता और अन्धविश्वास ने घर कर लिया है। जब तक इनसे पिण्ड नहीं छूटता तब तक देश का छुटकारा नहीं।

शिक्षा के विषय में स्वामी सत्यदेव जी के विचार मनन करने की विशेष सामग्री उपस्थित करते हैं। उनका

कहना है कि शिक्षा के द्वारा शारीरिक, आर्थिक, मानसिक और आत्मिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। तभी मनुष्य सत्य ज्ञान की खोज कर सकता है। स्वामी जी के राष्ट्र के उत्थान के लिए क्या साधन आवश्यक हैं, इस विषय पर भी विचार उपादेय हैं।

पूरी पुस्तक में पाठक को प्रत्येक स्थल पर अच्छी खासी रोचकता, उपादेयता और मननशीलता मिलेगी। लेखक ने अपना जीवन देश की उन्नति के निमित्त भारतीय जनता की सेवा में अर्पण किया है। इस परिपक्वावस्था में वे राष्ट्र-भाषा हिन्दी द्वारा ऐसा साहित्य अपने देशवासियों को देना चाहते हैं जिससे देश का कल्याण हो। आशा है, हिन्दी भाषा-भाषी उनकी पुस्तकों को पढ़ेंगे और उनसे लाभ उठावेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक में एकआध स्थल पर भाषा में पञ्जाबीपन है, किन्तु यह तो स्वामी सत्यदेव की शैली का अङ्ग ही बन गया है और खटकता नहीं। केवल एक-आध स्थल पर छापे की अशुद्धि रह गई है। सारी पुस्तक ख़ूब सुन्दर छपी है और चित्ताकर्षक है।

—बा० रा० स०

योगी (दिवाली अङ्क)—सम्पादक, व्रजशङ्कर, मिलने का पता, योगी कार्यालय, पटना।

'योगी' का यह विशेषाङ्क उपयोगी सामग्री से भरपूर है। इसमें श्री सच्चिदानन्दसिंह, श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय आदि अनेक विद्वानों और विदुषियों की रचनाएँ पठनीय हैं। श्री दिनकर और श्री गोपालसिंह नेपाली की कविताएँ भी द्रष्टव्य हैं।

प्रताप (विजयदशमी अङ्क)—सम्पादक हरिशङ्कर विद्यार्थी, मिलने का पता, 'प्रताप' कार्य्यालय, कानपुर।

सहयोगी 'प्रताप' का यह विशेषाङ्क अपने ढङ्ग का अनूठा है। परिडत बालकृष्ण शर्मा, श्री कुन्दनलाल, काकोरी केस के मुक्त बन्दी श्री योगेशचन्द्र चटर्जी, श्री० ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' के लेख सारगर्भित एवं सुन्दर हैं। 'कौशिक' जी की कहानी सामयिक है। कविवर मैथिलीशरण की 'विद्रोही के प्रति' कविता विशेष रूप से चित्ताकर्षक है। राजा महेन्द्रप्रताप, प्रोफ़ेसर खानखोजे तथा श्री रासबिहारी आदि के दुर्लभ चित्र भी दिये गये हैं। हम इस सुन्दर विशेषाङ्क के लिये सहयोगी को बधाई देते हैं।

नवशक्ति (विजयांक)—सम्पादक, देवव्रत, मिलने का पता, 'नवशक्ति' कार्यालय, पटना।

'नवशक्ति' की गणना बिहार के सर्व-श्रेष्ठ साप्ताहिक पत्रों में की जाती है। हमें यह कहते हर्ष होता है कि इस विशेषाङ्क में सहयोगी को अभूतपूर्व सफलता मिली है। दर्जनों मन्त्रियों तथा उप-मन्त्रियों के लेख अङ्क की महत्ता को बढ़ा देते हैं। गुजरात विद्यापीठ के भूतपूर्व आचार्य काका साहब कालेलकर, डॉक्टर पट्टाभि सीतारामैया, श्री श्रीप्रकाश, श्री मोहनलाल सक्सेना, बाबू जयप्रकाश नारायण आदि विद्वानों एवं राजनीति-विशारदों के लेख तथ्यपूर्ण और पठनीय हैं। कहानियों में 'शेरसिंह का भूत', 'पाँच हज़ार' तथा 'सम्पादक' शीर्षक कहानियाँ सामयिक हैं। इनमें वर्तमान सामाजिक दशा का अच्छा चित्रण किया गया है।

शक्ति (विजयांक) सम्पादिका, श्रीमती शन्नोदेवी। मिलने का पता, 'शक्ति' कार्यालय, निस्बत रोड, भारत बिल्डिंग्स, लाहौर।

'शक्ति' एक वर्ष के ही जीवन-काल में इतनी शक्तिसम्पन्न हो गई, यह उसके लिये और हिन्दी-संसार के लिये शुभ लक्षण है। ऐसा सुन्दर विशेषाङ्क निकालने का उसका साहस सर्वथा प्रशंसनीय है। विद्वान् लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से विजयदशमी की जो विवेचना की गयी है, उससे इस पवित्र त्योहार के विषय में बहुत सी ज्ञातव्य बातें मालूम होती हैं। मुख-पृष्ठ पर राष्ट्रपति जवाहरलाल जी का सुन्दर चित्र इस अङ्क के महत्व को बढ़ा रहा है।



पाठकों की उलझनें

१

माननीया सम्पादिका जी,

सादर नमस्ते !

मैं एक बड़े घर की लड़की हूँ। ससुराल में मेरे श्वसुर जी दो भाई तथा पति जी दो भाई हैं। सास जी पागल हैं। घर के मालिक पितिया सास-ससुर हैं।

मैं जब पहले-पहल ससुराल आई, तो घर के हर व्यक्ति की बात से मालूम हुआ कि मेरे पति सब प्रकार से उपेक्षा योग्य हैं। मैंने स्कूल में शिक्षा पाई थी, बड़ी धार्मिक शिक्षा पाई थी। इससे चुपचाप सच-झूठ की परीक्षा लेने लगी। दिन भर सबसे पति की शिकायत सुनती थी, रात भर पतिदेव के वचन रूपी बाण से व्यथित होती थी, लेकिन यह हाल मैं किसी से ज़ाहिर न करती थी। चार महीने के बाद मुझे यह रहस्य मालूम हुआ। एक लड़की, जो कि रिश्ते में मेरी ननद लगती थी, उसी से मालूम हुआ कि सब व्यक्ति मिलकर मेरी झूठी शिकायत पति से करते थे और मेरे मुँह पर उनकी शिकायत करते थे।

असल में मेरे पति में कोई खराबी नहीं है, बल्कि वे उदार स्वभाव के हैं, घर के और लोग स्वार्थी हैं। अपनी स्त्री को छोड़कर सबको पैर की धूल समझते हैं। सबने मिलकर विचारा कि इनमें स्नेह रहेगा, तो यह अपना स्वार्थ समझने लगेंगे, इससे तरह-तरह की बदनामी शुरू की।

इसके बाद मेरे मालिक शोक तथा अपमान के कारण बीमार हुए। जिस अभागे के वे पुत्र हैं वह केवल धन के लिए व्याकुल हैं बीमारी में न दवा दी न पथ्य, इतने पर भी मैंने कभी चूँ तक नहीं किया, बल्कि वे जो कहते वही मैं करती।

पिता के घर में मेरी सौतेली माता हैं। जब उन्हें मालूम हुआ तो उन्होंने मेरे मालिक को बुलवाया। अच्छी तरह चिकित्सा होने से वे पन्द्रह दिन में अच्छे हुये।

अब फिर वही दशा है। मुझसे बाँदी का काम लिया जाता है, लेकिन बाहर मेरी ही बदनामी की जाती है। अब मुझे एक पैसा दवाई के लिए भी इस घर से मिलना मुश्किल है। मेरे पति मुझपर विश्वास करते हैं। मुझसे बिना कहे एक पैसा भी नहीं खर्च करते। मेरे दुख से दुखित तथा शोकित हैं। लेकिन दुष्टों के वचन-रूपी बाण से व्यथित हैं। मैं और वे अच्छी तरह समझ गये कि बिना अलग हुए कल्याण नहीं हो सकता। लेकिन वे इस विषय में कुछ नहीं बोलते हैं, क्योंकि वे बेबस हैं, उनके हृदय में दर्द है। उनकी बदनामी है। वरञ्च इनका दुःख न बूझकर घर के लोगों की बात सच मानते हैं। मेरे श्वसुर जी कहते हैं कि जब अलग होने का नाम लेगा, दस बीघा खेत दूसरे के नाम लिख दूँगा; धन हमारा है, इत्यादि।

इस विषय में हम बहुत दुखी हैं। क्योंकि वे दस हैं। मेरी सहायता कौन करे, मुझ पर कलङ्क लगाये जाते हैं।

मुझे कृपा कर यह बतलाइये, जिससे मेरे मालिक को बिना सताये यह सब बटवारा कर दें। यहाँ मेरे मालिक बिल्कुल पराये समान हैं। मेरी यह इच्छा है कि सब खेत आदि बाँट दें, तो इसी ग्राम में इसकी नज़र से दूर चली जाऊँ। जब तक ऐसा न होगा, मेरे मालिक सुखी नहीं हो सकते।

मैं बहुत दुःख में हूँ। मेरा मालिक मेरा बहुत आदर करते हैं। लेकिन सब दुष्ट मिल कर उनका हृदय चकनाचूर किये देते हैं। वे मुझसे स्नेह करते हैं, पर मैं उनका और अपना अपमान चौबीस घण्टा देखती हूँ, लेकिन कोई पञ्च मेरे दुःख का अनुभव नहीं करते। मैं प्रथम कौन उपाय करूँ, क्या करूँ। घर में रसोई आदि केवल मैं ही करती हूँ। उसमें भी तरह-तरह की बदनामी होती है। मैं गालियाँ सुनती हूँ, लेकिन गाली देना धर्म-विरुद्ध समझती हूँ।

यदि आपकी कृपा से मेरा कष्ट छूटा, तो ईश्वर आपको इसका फल देंगे। —एक कष्टग्रस्ता

* * *

२

सम्पादिका जी,

सादर बन्दे!

मैं दुखी नवयुवक हूँ और बड़ी आशा से आपके पास पहुँच रहा हूँ। आशा है, आप दो शब्द लिख कर मुझे भी सहायता देंगी।

मैं जाति का कान्यकुब्ज ब्राह्मण हूँ और इस समय मेरी आयु २२ वर्ष की है, पढ़ा-लिखा भी हूँ और नई रोशनी का नवयुवक हूँ। जात-पाँत का भेद नहीं मानता हूँ मैं जब १६ वर्ष का था तभी मेरे पिता ने बिना कोई पूछ ताँछ किये मेरा विवाह ठेठ दिहात में कर दिया है। मेरी श्रीमती जी बिलकुल गँवार हैं और साथ ही साथ पागल भी हैं, इसलिए कोई भी शऊर नहीं है। इसके अतिरिक्त हर समय लड़ाई-झगड़ा मचाये रहती हैं। जब पागलपन अधिक बढ़ता है तो दो-एक आदमियों पर ईंट-पत्थर भी बरसा देती हैं। इन ६ साल के अन्दर मैंने लाखों यत्न किये कि वह ठीक हो जायँ। डॉक्टरों को दिखाया, मगर सबने पैदाइशी पागलपन कह कर छोड़ दिया। अब यह दुख मेरे लिए असहनीय हो गया है। छः साल से सह रहा हूँ अब नहीं सहा जाता। मैं भी दुनिया के कुछ सुख भोगना चाहता हूँ। यह शादी रुपये की आड़ में हुई थी। लड़की वाले ने मेरे पिता को भरपूर रुपया दिया था, इसलिए यह ऐब छिपा रहा।

अब मेरे माता-पिता की भी इच्छा यही है कि मैं दूसरा विवाह करलूँ। मगर समाज इसमें अड़चन डालता है। मेरी इच्छा भी दूसरा विवाह करने की है। क्या आप कोई ऐसी तरकीब बता सकती हैं जिससे यह समस्या सुलझ जाये।

—एक दुखी युवक



श्वसुर ने अपने दामाद को मरवाया

काठगोदाम का समाचार है कि वहाँ एक बहुत ही रोमाञ्चकारी हत्या की गई है। कहा जाता है कि कमलापति को उसके ससुर के घर से यह सन्देश आया कि वह आकर अपनी स्त्री को लिवा जाय। अतः कमलापति गत २० जून को अपनी स्त्री को लाने के लिये अपने ससुर के घर गया। वहाँ ससुराल वालों ने, कहा जाता है, कुँवरिया सिलाकार (एक नीच जाति) के साथ कमलापति को जङ्गल में मार डालने का षड्यन्त्र किया। कमलापति की लाश को एक पहाड़ी के नीचे गढ़ा खोद कर दाब दिया और उसे ऊपर से पत्थर और मिट्टी से ढँक दिया। इस सम्बन्ध में गाँव के पटवारी और कानूनगो ने जाँच की, किन्तु कुछ पता नहीं लगा। किन्तु मृत कमलापति के सम्बन्धियों की पुनः जाँच करने के लिए ज़ोर देने के कारण नायब तहसीलदार पता लगाने के लिये नियुक्त किये गये। वह कथित षड्यन्त्र का पता लगाने में सफल हुए और उन्होंने अपराधियों को गिरफ़्तार कर लिया है।

* * *

गुण्डे की जूतियों से मरम्मत

धौलपुर का समाचार है कि वहाँ शरद का मेला ज़ोर-शोर से हुआ था। प्रति दिन हज़ारों स्त्री-पुरुषों का रात के १० बजे तक जमघट लगा रहता था। पर्दानशीन औरतें प्रायः रात को ही मेला देखने आया करती थीं। इसीलिये इस समय गुण्डों का भी काफ़ी जमघट रहता था। एक दिन एक गुण्डे ने एक युवती से छेड़खानी की, उसी समय उस युवती ने पैर से चप्पल उतार कर गुण्डे के मुँह पर तड़ातड़ मारना शुरू कर दिया। यह दृश्य देखकर गुण्डे साथी छूमन्तर हो गये।

* * *

सिद्ध बाबा की करतूत

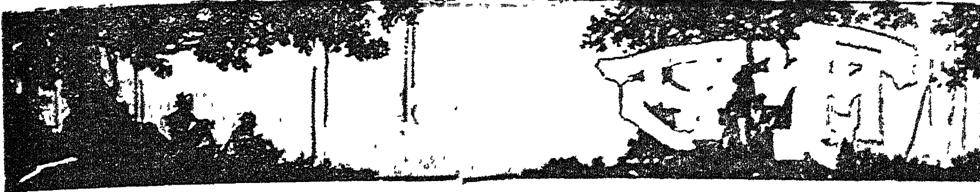
हाँसी (पञ्जाब) में एक गूजर के घर से तमाम ज़ेवर चोरी हो गया। काफ़ी दौड़-धूप की गई, पर ज़ेवर का कुछ पता न चला। आख़िर लोग कैमरा ग्राम में एक ब्राह्मण के घर गये, जो यंत्र मंत्र, जादू-टोना तथा चोरी का पता बतलाने में सिद्ध माना जाता है। घर आकर सिद्ध बाबा एक अँधेरे कोठे में बैठ गये और शराब के नशे में जादू-टोना करते हुए घर की प्रत्येक स्त्री को बारी-बारी से बुलाने लगे। इस बीच में कहते हैं कि सिद्ध बाबा ने एक युवती से अनुचित व्यवहार करने का जबरन प्रयत्न किया। ख़बर पाकर युवती का पति व अन्य लोग लाठी व जूतों से सिद्ध बाबा को मारने दौड़े, पर लोगों ने बीच-बचाव करके उसे पिटने से बचा दिया। सिद्ध बाबा अपने ग्राम को भाग गये।

* * *

हरिजन मेयर

मदरास कारपोरेशन में हाल में मेयर और डिप्टी मेयर का चुनाव हुआ। कॉङ्ग्रेसी हरिजन श्री शिवषण्मुखम् सर्वसम्मति से मेयर चुने गए। श्री सत्यमूर्ति ने आपका नाम पेश किया था। मदरास कारपोरेशन के इतिहास में यह पहिला अवसर है कि हरिजन सम्प्रदाय के व्यक्ति मेयर चुने गए हैं। श्री शिवषण्मुखम पिछले ७ साल से कारपोरेशन के मेम्बर चुने जाते रहे हैं। आप मदरास एसेम्बली के भी मेम्बर हैं।





[सम्पादकीय]

स्त्रियों का कर्तव्य

वर्तमान समय में भारतीय स्त्रियाँ किस मार्ग को ग्रहण करें, इस सम्बन्ध में काफ़ी मतभेद देखने में आता है। कुछ लोग उनको आधुनिकता से दूर रहने और प्राचीन आदर्श को अपनाये रखने का उपदेश देते हैं। दूसरे लोग उनको प्राचीन बन्धनों से मुक्त होकर समयानुसार नवीन मार्ग ग्रहण करने की राय देते हैं। कुछ लोग स्त्रियों का आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र तथा सब प्रकार के पेशों को कर सकने में समर्थ देखना चाहते हैं, दूसरे लोग उनका गृह-लक्ष्मी बने रहना ही श्रेष्ठ और देश तथा समाज के लिये कल्याणकारी मानते हैं। ऐसी अवस्था में स्त्रियों का दुविधा में पड़ कर कर्तव्य और अकर्तव्य के सम्बन्ध में विचारने लगना स्वाभाविक है। सन्तोष का विषय है कि कितनी ही विदुषी महिलाएँ इस परिस्थिति के महत्व को अनुभव कर रही हैं और स्वयम् ही इसे हल करने की चेष्टा कर रही हैं। इस सम्बन्ध में हाल ही में श्रीमती डी० एल० मजूमदार ने, जो ढाका के एडीशनल डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट की धर्मपत्नी हैं, उपयोगी उद्गार प्रकट किये हैं। आप लिखती हैं :—

"अगर हम अपने लिये मर्दों का सस्ता संस्करण बनाने की चेष्टा करेंगी, तो इसके फलस्वरूप निस्सन्देह हमारी संस्कृति और हित को अपरिमित हानि होगी। इसके साथ ही हम एक कोने में बन्द और दूसरों द्वारा रक्षित जीवन भी व्यतीत करना नहीं चाहतीं। हमको उचित है कि इस देश का ही नहीं, वरन् विदेशों का भी स्त्रीत्व का जो आदर्श है उसकी सर्वोत्तम बातों की प्रयत्न-पूर्वक रक्षा करें, और साथ ही समाज के पुनर्निर्माण में उचित भाग लेकर वर्तमान पीढ़ी के प्रति अपना कर्तव्य भी पालन करें। जो शिक्षा-प्रणाली स्त्रीत्व के इस नवीन आदर्श के दोनों पहलुओं की पूर्ति नहीं करती, वह कदापि समुचित नहीं समझी जा सकती।"

निस्सन्देह इस परिवर्तन-युग में समाज के प्रत्येक विभाग को बहुत सोच-समझ कर और साथ ही तत्परता के साथ अपना कर्तव्य निर्धारित करना चाहिये। जो लोग प्राचीनता को सब प्रकार से बुरा ही कहते हैं, वे उसी प्रकार भ्रमपूर्ण अवस्था में हैं, जिस प्रकार वे लोग जो आँख बन्द करके प्रत्येक नई बात को अच्छी बतलाते हैं। जब हम प्राचीन और नवीन का सम्बन्ध कर सकेंगे और निष्पक्ष होकर हानिकारक बातों का त्याग कर श्रेष्ठ को ही ग्रहण कर सकेंगे, तभी हमारा कल्याण हो सकेगा।

* * *

स्त्रियाँ आत्मनिर्भर बनें

समाज में स्त्रियों को भी वैसे ही अधिकार मिलने चाहिये, जैसे कि पुरुषों को प्राप्त हैं, इसका समर्थन, हमारा विश्वास है, थोड़े-बहुत अन्ध-विश्वासी और स्वार्थी व्यक्तियों को छोड़ कर सभी करेंगे। संसार के निर्बल राष्ट्रों को किसी न किसी बहाने बलवान राष्ट्र हमेशा से दबाते रहे हैं, तथा दूसरी ओर शक्तिशाली राष्ट्रों के साथ बराबरी का व्यवहार करते रहे हैं। यही बात स्त्रियों के विषय में भी चरितार्थ होती है। यदि वे निर्बल एवं असङ्गठित रहेंगी तो पुरुष-समाज उनपर हमेशा ज़ुल्म करता रहेगा। जब वे आत्म-निर्भरता का पाठ पढ़ कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिकार प्राप्त करेंगी तभी

पुरुष समाज भी उनके साथ उचित व्यवहार करने लगेगा। इतना ही नहीं, स्त्रियों को भारत में प्रचलित वर्तमान दूषित शिक्षा-पद्धति तथा तज्जनित दुर्गुणों से बचने का भी प्रयत्न करना चाहिये। स्त्रियाँ किस प्रकार मौजूदा परिस्थितियों से लाभान्वित होकर समाज में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकती हैं, इसपर सुप्रसिद्ध देशभक्त श्री जमनालाल बजाज की धर्मपत्नी श्रीमती जानकीदेवी ने कन्या गुरुकुल, देहरादून में दीक्षान्त भाषण देते हुए कहा था :—

"जब तक हमारी शिक्षा-प्रणाली हमारे समाज और परिवार के उपयुक्त नहीं होगी तब तक वह हमारे लिये लाभदायक नहीं हो सकती। ज्ञान का मौलिक साधन पुस्तकें नहीं हैं। यह संसार और उनका जीवन ही ज्ञानार्जन का दरवाज़ा उनके लिये खोल देता है। निरीक्षण और अनुभव से ही ज्ञानार्जन करना चाहिये। पुस्तकों द्वारा उपार्जित ज्ञान तो सुना-सुनाया होता है। संसार के अनुभवी विचारकों ने जो विचार और अनुभव अपनी पुस्तकों में लिखे हैं, उनसे हमारा काफी पथ-प्रदर्शन हो सकता है।

"काल-चक्र से समाज में स्त्रियों का स्थान समान नहीं रहा। उनका काम केवल पत्नी बन कर पति के काम में मदद देना रह गया। पर प्रसन्नता की बात है कि अब समय बदल गया है। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द, महादेव गोविन्द रानाडे आदि नेताओं के प्रयत्न ने स्त्रियों में जागृति उत्पन्न कर दी और उनमें बहुत से समाज-सुधार के काम किये। पुरुष और स्त्री दोनों समाज के अङ्ग हैं। दोनों को अपना-अपना कर्त्तव्य समाज के प्रति पूरा करना है।

"जब तक स्त्रियाँ अपनी रक्षा के लिये पुरुषों पर निर्भर रहेंगी तब तक उनका जीवन विकसित नहीं हो सकता। अपनी इज्जत और प्रतिष्ठा के लिये प्राणार्पण करना ही आत्म-रक्षा का मौलिक सिद्धान्त है। इसी को आत्मबल कहते हैं। इसकी कमी ही आज महिलाओं की शोचनीय दशा का कारण है। यह ख़याल ग़लत है कि स्त्रियाँ शादी किये बिना अपने महत्तर उद्देश्यों और आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सकतीं। स्त्रियों में यह ख़याल जमा हुआ है और इसीलिये वे आश्रित हैं तथा समाज में उनका स्थान घट कर है। जो शिक्षा उन्हें साहसी और शक्तिशाली नहीं बनाती, वह बेकार है। कन्या गुरुकुल की स्नातिकाओं को चाहिये कि वे अपना कर्त्तव्य पालन कर भारतीय महिला-समाज के सामने साहस और आत्म-विश्वास का ज्वलन्त उदाहरण रखें। उन्हें नम्र और सौम्य होना चाहिये; फ़ैशन का ग़ुलाम नहीं। लड़कियों को दस्तकारी की शिक्षा लेनी चाहिए और उन्हें शारीरिक परिश्रम करना चाहिये। अङ्गरेज़ी शिक्षा ने पुरुषों को बाबू बना दिया है। उसी प्रकार यदि हमारी शिक्षित महिलाओं का एक निकम्मा समाज बन गया तो ईश्वर ही हमारी रक्षा करे।"

* * *

युवकों का कर्तव्य

"एक महात्मा जी, जवाहरलाल, राजेन्द्र बाबू, सुभाषचन्द्र बोस जैसे देश-सेवकों की संख्या अगर दस गुनी या सौ गुनी भी हो जाय, तो इनके द्वारा हम सबके लिये आज़ादी हासिल करने की आशा नहीं की जा सकती। और अगर उन्होंने उसे हासिल कर भी लिया, तो हम लोग जो उसके अधिकारी हैं, उसे क़ायम नहीं रख सकेंगे। यह तो देश के असंख्य नवयुवकों का ही काम है कि वे अपनी असीम महत्वाकांक्षाओं और उबलते हुए ख़ून के साथ पूरे जोश से उठ खड़े हों, अपनी आज़ादी के लिये सिर-तोड़ कोशिश करें और उसके उपयोग के लिये अपने को अधिकारी बनाएँ।"

उपर्युक्त उद्गार सुरमा बेली युवक-परिषद् के अध्यक्ष प्रो० रङ्गा ने प्रकट किये हैं। युवकों के ऊपर जो महान जिम्मेदारी है, उसका आभास वक्ता के शब्दों से भली प्रकार लगता है। आज़ादी दस-पाँच महान व्यक्तियों के उत्पन्न हो जाने से नहीं मिल सकती, और न उन लोगों की जय के नारे लगाने से उसे प्राप्त किया जा सकता है। उसके लिए देश की अधिकांश जनता को, विशेषतया नवयुवकों को कटिबद्ध होना चाहिए। आज तक

जिन देशों ने स्वाधीनता प्राप्त की है, उसका आधार वहाँ के नवयुवकों का स्वार्थत्याग और बलिदान ही रहा है। इस तथ्य को दृष्टिगोचर रखते हुए प्रो० रङ्गा ने कहा :—

"मातृभूमि निश्चय ही स्वतन्त्र हो सकती है और वह भी जल्दी ही, बशर्ते हमारे नौजवानों की बहुत बड़ी तादाद मामूली नौकरियों का मोह और 'क़दीमो ख़ान्दान' की झूठी शान छोड़ कर उस पथ पर चल पड़े, जो हमारे पथ-निर्माताओं ने—अज्ञात योद्धाओं ने—निर्माण किया है। यह याद रखना चाहिए कि हमारे युवकों का इतना ही काम नहीं है कि वे जनता को कुछ अधिक भोजन तथा घर दिलाने और लगान में कुछ कमी कराने के काम में लगे रहें। हमारे किसान मज़दूर शताब्दियों से इस दर्द-नाक हालत में रह रहे हैं। वे कभी उस शोषण-प्रणाली के विरुद्ध, जो उनकी वंशगत ग़रीबी का इतिहास रखती आई है, नहीं उठे। इसका एकमात्र कारण यह था कि उनके हृदयों में वह बिजली पैदा नहीं की गई कि वे रोटी की दर्दनाक हाय-हाय से छुटकारा पाकर सामूहिक तथा सहयोग के जीवन में सफलता प्राप्त कर सकते। यदि हमारे युवक पूर्ववर्ती कार्यकर्ताओं की श्रेष्ठ भावनाओं को लेकर उनमें काम करने नहीं जाते तो देश का बहुत बड़ा अहित करते हैं।"

* * *

सर जगदीशचन्द्र का देहावसान

सर जगदीशचन्द्र बोस के देहावसान से एक विश्व-विख्यात वैज्ञानिक का ही नहीं, एक ऐसी विभूति का अन्त हो गया जिस पर समस्त भारत को गर्व था, और जिसके भरोसे वह संसार के उन्नतिशील राष्ट्रों के सामने मस्तक उठा सकता था। यों तो संसार में विद्वानों और आविष्कारकों की कमी नहीं है और यूरोप, अमेरिका में सैकड़ों एक से बढ़ कर एक वैज्ञानिक पड़े हैं, पर सर जगदीश की विशेषता यह थी कि उन्होंने भारत जैसे पराधीन और गिरी दशा वाले देश में उत्पन्न होकर केवल अपनी प्रतिभा के बल संसार के सर्वोच्च वैज्ञानियों में अपनी गणना कराई और भारत को हीन समझने वालों के समस्त विरोध और प्रयत्नों को बेकार करके मातृभूमि के यश की पताका दुनिया भर में फहराई। सर जगदीश के सब से अधिक प्रसिद्ध आविष्कार वनस्पति-विज्ञान और जीव-विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। इन विषयों पर व्याख्यान देने के लिये यूरोप-अमेरिका की बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक संस्थाओं ने उनको बार-बार सम्मानपूर्वक निमन्त्रित किया था। वहाँ के प्रमुख वैज्ञानिकों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया कि इन विषयों में वे संसार भर के वैज्ञानिकों से आगे बढ़ गये हैं। यह भी एक सुप्रसिद्ध बात है कि बेतार के तार का आविष्कार भी उन्होंने सबसे पहले किया था, पर पराधीन देश के निवासी होने तथा साधनों के अभाव से वे उसे संसार के सम्मुख जल्दी न ला सके और उसका यश इटली के मार्कोनी को मिल गया। विदेशों में उच्चकोटि के विद्वान प्रायः वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, पर सर जगदीश ने अपने देश की दुःखित अवस्था को दृष्टिगोचर रख कर सदैव त्याग और तपस्या-मय जीवन व्यतीत किया। यद्यपि वे न कोई करोड़पति थे और न उद्योगधन्धों के स्वामी, तो भी अपनी साधारण आय में से वे १७ लाख रुपया विज्ञान के प्रचार के लिये दान कर गये। यह बात प्रकट करती है कि उनके भीतर स्वभावतः ही अपने दीन देश और निर्धन देशवासियों का ध्यान विद्यमान था। उनकी जीवनी से हमको विदित होता है कि आरम्भिक जीवन में जब वे ग़रीब हरिजन विद्यार्थियों के साथ गाँव की छोटी सी पाठशाला में पढ़ते थे, तब भी उनके भीतर बुद्धि की प्रखरता और अद्भुत प्रतिभा के साथ ग़रीबों के प्रति सहानुभूति का भाव पाया जाता था और उनकी माता समय-समय पर उनके इन निर्धन सहपाठियों को बुला कर खिलाती-पिलाती रहती थीं। उनका यह उदारता तथा परोपकार का भाव आजन्म स्थिर रहा और उन्होंने अपना समस्त जीवन तथा सर्वस्व इसी के लिये समर्पित कर दिया। यद्यपि मृत्यु के समय उनकी आयु ७८ वर्ष की थी, तो भी भारतवर्ष

को अपने इस महान पुत्र से और भी अधिक आशाएँ थीं और उनके देहावसान से उसको जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति प्रायः असम्भव ही है। सर जगदीश चले गये, पर उनकी कीर्ति सदैव अमर रहेगी और विज्ञान के इतिहास में उनका नाम प्रकाशित रहेगा। परमात्मा उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

* * *

स्वर्गीय प्रसाद जी

थोड़े ही समय के भीतर स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी, श्री अजमेरी जी, श्री रामदास जी गौड़ और डॉक्टर काशीप्रसाद जी जायसवाल के पश्चात् बाबू जयशङ्कर प्रसाद जी का स्वर्गवास हो जाने से हिन्दी-साहित्य की जो अपार क्षति हुई है, उसको शब्दों द्वारा प्रकट कर सकना असम्भव है। खेद है, मातृ-भाषा के ये सभी सपूत अपेक्षाकृत अल्पायु में ही हमसे क्रूर काल द्वारा अपहृत किये गये हैं। प्रसाद जी का स्वास्थ्य यद्यपि इधर कई वर्ष से गिरा हुआ रहता था और चिकित्सा भी प्रायः होती रहती थी, तो भी यह अनुमान किसी को न था कि साहित्य-गगन का यह देदीप्यमान नक्षत्र पचास वर्ष से भी कम आयु में इस तरह अकस्मात् हमको छोड़कर चल देगा। प्रसाद जी एक सम्पन्न वंश में उत्पन्न हुए थे और स्वयं भी अच्छे व्यवसायी थे, पर उन्होंने अपनी प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ उपहार मातृभाषा के मन्दिर में ही समर्पित किया था। उनकी प्रतिभा चतुर्मुखी थी और कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि जिस विषय को उन्होंने हाथ लगाया, उसी में एक नवीन चमत्कार कर दिखाया। कविता के क्षेत्र में छायावाद के तो वे आचार्य कहे जाते हैं। उनकी फुटकर कविताएँ बहुत सुन्दर हैं और अन्त समय में कामायनी महाकाव्य रच कर काव्य-जगत में वे अपनी कीर्तिध्वजा को चिरस्थायी कर गये हैं। उनके ऐतिहासिक नाटक बेजोड़ हैं। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना आदि एक से एक बढ़ कर हैं। इनमें ऐतिहासिक तथ्यों की सत्यता का इतना अधिक ध्यान रखा गया है कि नाटक होते हुए भी वे इतिहास की भी पूर्ति करते हैं। कहानी लिखना प्रसाद जी ने बहुत पहले आरम्भ किया था। आज से लगभग २५ वर्ष पहले काशी से 'इन्दु' नाम का एक सुन्दर मासिक पत्र विशेषतः प्रसाद जी की प्रेरणा से प्रकाशित किया गया था, उसमें वे प्रायः कहानियाँ लिखा करते थे। उनके कहानी-संग्रह 'आँधी' और 'आकाशदीप' की कहानियाँ हिन्दी-साहित्य में 'स्टैण्डर्ड' मानी जाती हैं। इधर उनका ध्यान उपन्यास-लेखन की तरफ़ विशेष रूप से झुका था और उनकी दोनों रचनाएँ 'कङ्काल' और 'तितली' ऊँचे दर्जे के उपन्यासों में गिनी जाती हैं। इतनी विद्वत्ता और साथ ही वैभव के होते हुए उनमें जो मिलनसारी और सहृदयता का भाव पाया जाता था, वह दुर्लभ है। ऐसी साहित्यिक विभूति के एकाएक उठ जाने से आज सभी साहित्य-प्रेमी व्याकुल हैं। हम इस शोक के अवसर पर उनके सम्बन्धियों के प्रति हार्दिक सम्वेदना का भाव प्रकट करते हैं और परमात्मा से उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं।

अपूर्व उपहार !   शुभ सूचना !!   अमूल्य भेंट !!!

बिना मूल्य गीता का व्यवहार-दर्शन सजिल्द

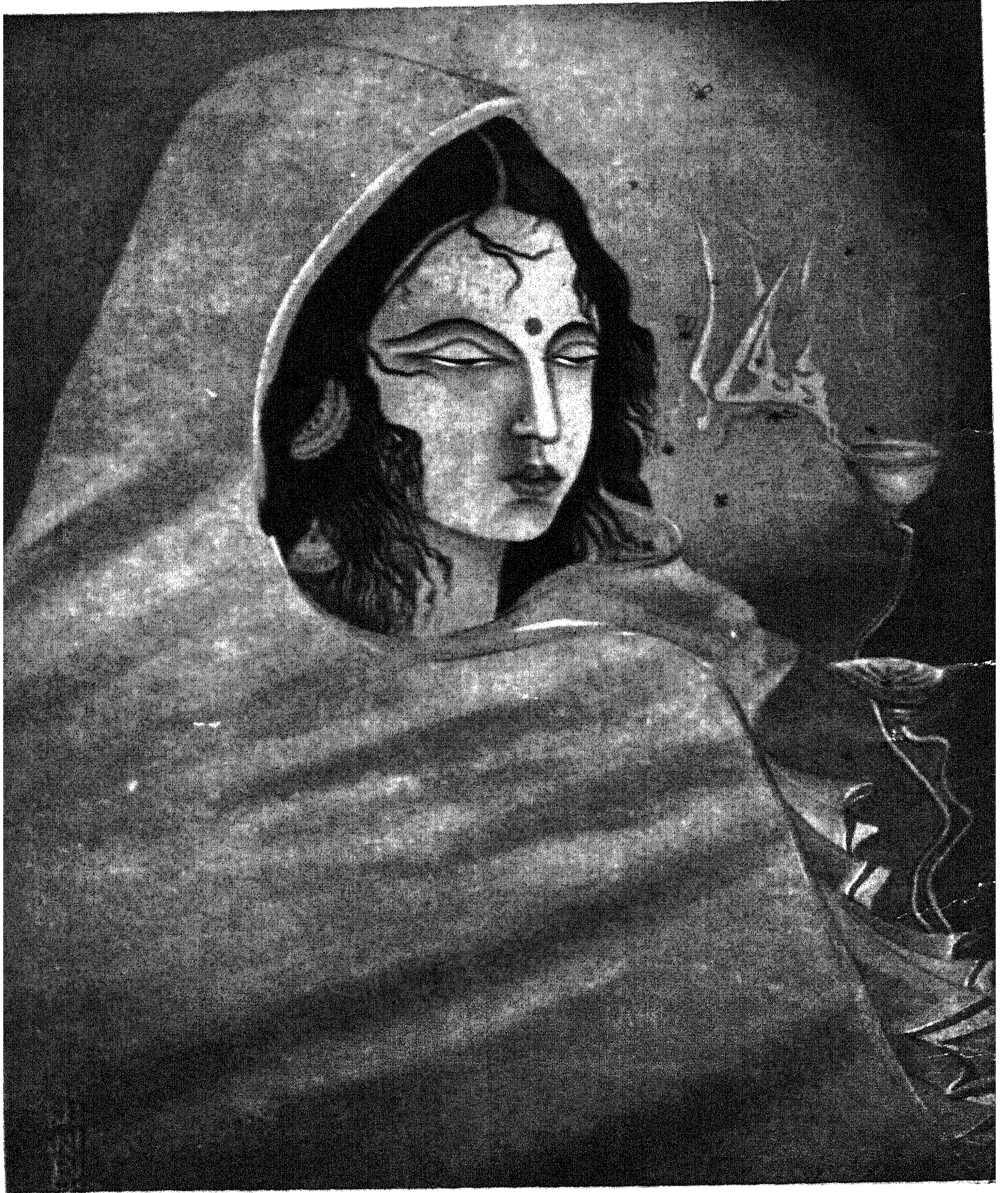
यह प्रकट करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है कि राजस्थान के सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक एवं स्वतन्त्र विचारक श्रीमान सेठ रामगोपाल जी मोहता ने वर्षों के सतत चिन्तन, मनन एवं व्यावहारिक अनुभव से श्रीमद्भगवद्गीता पर एक विस्तृत टीका ग्रन्थ 'गीता का व्यवहार-दर्शन' लिखा है, जिससे मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा किस तरह करे जिससे वे अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करते हुए शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त कर सकें. इस ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के आधार पर एकदम नवीन दृष्टिकोण से विचार किया गया है और हमारे नित्य-प्रति के व्यवहारिक जीवन में पग-पग पर उपस्थित होने वाले जटिल प्रश्नों का सरल-सुन्दर ढंग से समाधान किया गया है। ऐसे लोक-हितकर सुन्दर ग्रन्थ को अनेक गण्य-मान्य मनीषियों ने सराहा है। विशेषकर लोकनायक एम. एस. अणे साहब का गम्भीर गवेषणापूर्ण प्राक्कथन (Foreword) जो पुस्तक के आरम्भ में दिया गया है, इसकी उपयोगिता का महत्वपूर्ण प्रमाण है।

१८×२२ साइज़ के ६०० पेज की यह सजिल्द पुस्तक हिन्दी वेदान्त साहित्य में बेजोड़ सिद्ध होगी।

दानवीर मोहता जी ने धार्मिक एवं सामाजिक दासता तथा नाना प्रकार की विषमताओं से जकड़ी हुई भारतीय जनता में स्वतन्त्रता, समता एवं नवजीवन संचार की भावना से प्रेरित होकर व्यावहारिक वेदान्त की अपनी इस अनुपम कृति को बिना मूल्य (डाक-खर्च मात्र आने पर) वितरित करने का निश्चय किया है।

इसलिए जो पाठक-पाठिकाएँ इस पुस्तक का अध्ययन करना चाहें, वे श्री० सेठ **रामगोपाल जी मोहता, कराची** के पते से रजिस्ट्री डाक-खर्च के लिए ।=) दस आने के टिकट भेज कर इसे मँगा सकते हैं

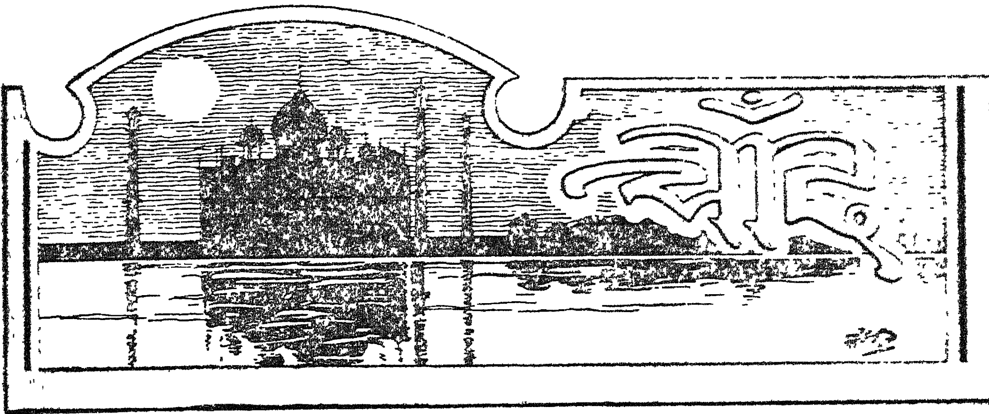
निवेदक,
चिन्तामणि वि० शास्त्री



यौवन

दीपक की जीवित ज्वाला में, मृत्यु पा रहे हैं पतङ्ग ।
किन्तु विकल यौवन-ज्वाला में, विकसित हैं ये अङ्ग-अङ्ग ॥

—'कुमार'



जब न जाना था असत् औ' शून्य था सत् से अपरिचित,
नभ न था न दिगन्त जब अज्ञात ही थी बात अलसित;
शून्य पर छाया हुआ क्या था ? कहाँ ? किसके सहारे ?
या समाये थे अगम तलहीन जल में रूप सारे !
मृत्यु भी जन्मी न, तब थी अमरता संज्ञाविहीना,
लुप्त वह सङ्केत जिसने निशि-दिवा का साम्य छीना !
एक ही वह व्याप्त व्यापक और कोई था न विरहित,
उच्छ्वसित था वह अकेला एक स्पन्दनहीन मन चित !

आभास

सुषमा भरी संध्या में जब मैं दिन भर की क्लान्त वेदना को विश्रान्ति देने की आतुरता से उड़ने वाले गगन-विहारियों को, अपने नीड़ों की ओर बढ़ते देखती हूँ तब न मालूम क्यों मृत्यु का काला रुदन गगन की गरिमा में छाकर मुझे बेबस बना देता है ?

निर्मम रात्रि के अचल अन्धकार में जब मैं अपने सुख-स्वप्नों को सजीव करने के लिए कर-पल्लव में खिंची विधना की टेढ़ी-मेढ़ी रेखायें मिटाने की चेष्टा करती हूँ तब न मालूम—सहसा कहाँ से तमचुर बोल कर मुझे प्रातःकाल का आभास करा देता है ?

आदेश

विदेश के लम्बे प्रवास को समाप्त कर जब तुम घर लौटो तो इस कुटिया को पावन करना न भूलना, जहाँ के जलते हुए चिराग़ को गुल कर, रक्त के तिलक पर मोतियों का शृङ्गार सजा, चेतनाहीन यौवन में प्रणय के प्रथम चुम्बन का उन्माद चढ़ा विदा हुए थे।

तुम्हारे गमन में उत्साह के आकुल पर लगे थे और मेरे हृदय में वेदना का अथक ज्वार उठ रहा था, मैं न पूछ सकी तुम कहाँ चले और कब लौटोगे ?

पर—

तब का प्रदीप बुझा पड़ा है और मैंने उसे अपने आप कभी प्रज्वलित करने की कल्पना तक नहीं की है।

विदेश के लम्बे प्रवास से लौट कर आओ तो इस कुटिया को पावन करना न भूलना।

—दिनेशनन्दिनी

अपनी बात

आधुनिक नारी की स्थिति पर एक दृष्टि

(२)

इस समय हम जिन्हें आधुनिक काल की प्रतिनिधि के रूप में देखते हैं, वे महिलाएँ तीन श्रेणियों में रखी जा सकती हैं। त्रिवेणी की तीन धाराओं के समान वे एक सी होकर भी अपनी विशेषताओं में भिन्न हैं। कुछ ऐसी हैं, जिन्होंने अपने युगान्त दीर्घ बन्धनों की अवज्ञा कर पिछले कुछ वर्षों में राजनीतिक आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए पुरुषों को अभूतपूर्व सहायता दी, कुछ ऐसी शिक्षितायें हैं जिन्होंने अपनी अनुकूल परिस्थितियों में भी सामाजिक जीवन की त्रुटियों का कोई उचित समाधान न पाकर अपनी शिक्षा और जागृति को आजीविका और सार्वजनिक उपयोग का साधन बनाया और कुछ ऐसी सम्पन्न महिलाएँ हैं, जिन्होंने थोड़ी सी शिक्षा के साथ बहुत सी पाश्चात्य आधुनिकता का संयोग कर अपने गृहजीवन को एक नवीन साँचे में ढाला है।

यह कहना अनुचित होगा कि प्रगतिशील नारी-समाज के यह विभाग किसी वास्तविक अन्तर के आधार पर स्थित हैं, क्योंकि ऐसे विभाग ऐसी विशेषताओं पर आश्रित होते हैं, जो जीवन के गहन-तल में एक हो जाती हैं।

यह समझना कि राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाली स्त्रियाँ अन्य क्षेत्रों में कार्य नहीं करतीं या शिक्षा आदि क्षेत्रों में कार्य करने वाली पाश्चात्य आधुनिकता से दूर रह सकी हैं, भ्रान्तिपूर्ण धारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तव में यह श्रेणियाँ उनके बाह्य जीवन के सादृश्य के भीतर कार्य करने वाली वृत्तियों को समझने के लिए ही हैं। आधुनिकता की एकरूपता को भारतीय जागृत महिलाओं ने अनेक रूपों में ग्रहण किया है, जो स्वभाविक ही था। ऐसी कोई नवीनता नहीं है, जो प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न रूप में नवीन नहीं दिखाई देती, क्योंकि देखने वाले का भिन्न दृष्टिकोण ही उसका आधार होता है। प्रत्येक स्त्री ने अपनी असुविधा, अपने सुख-दुःख और अपने व्यक्तिगत जीवन के भीतर से इस नवीनता पर दृष्टिपात किया, अतः प्रत्येक को उसमें अपनी विशेष त्रुटियों के समाधान के चिन्ह दिखाई पड़े।

इन सबके आचरणों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करने वाले दृष्टिकोणों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करने के उपरान्त ही हम आधुनिकता के वातावरण में विकसित नारी की कठिनाइयाँ समझ सकेंगे। उनकी स्थिति प्राचीन रूढ़ियों के बन्धन में बन्दिनी स्त्रियों की स्थिति से भिन्न जान पड़ने पर भी उससे स्पृहणीय नहीं है। उन्हें प्राचीन विचारों का उपासक पुरुष समाज अवहेला की दृष्टि से देखता है, आधुनिक दृष्टिकोण वाले समर्थन का भाव रखते हुए भी क्रियात्मक सहायता देने में असमर्थ रहते हैं और उग्र विचार वाले प्रोत्साहन देकर भी उन्हें अपने साथ ले चलना कठिन समझते हैं। वस्तुतः आधुनिक स्त्री जितनी अकेली है, उतनी प्राचीन नहीं; क्योंकि उसके पास निर्माण के उपकरण मात्र हैं, कुछ भी निर्मित नहीं। चौराहे पर खड़े होकर मार्ग का निश्चय करने वाले व्यक्ति के समान वह सबके ध्यान को आकर्षित करती रहती है, किसी से कोई सहायतापूर्ण सहानुभूति नहीं पाती।

यह स्थिति आकर्षक चाहे जान पड़े, परन्तु सुखकर नहीं कही जा सकती। राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाली महिलाओं ने आधुनिकता को राष्ट्रीय जागृति के रूप में देखा और उसी जागृति की ओर अग्रसर होने में

अपने सारे प्रयत्न लगा दिये। उस उथल-पुथल के युग में स्त्री ने जो किया वह अभूतपूर्व होने के साथ-साथ उसकी शक्ति का प्रमाण भी था। यदि उसके बलिदान, उसके त्याग भूले जा सकेंगे तो उस आन्दोलन का इतिहास भी भूला जा सकेगा। इस प्रगति द्वारा सार्वजनिक रूप से स्त्री-समाज को भी लाभ हुआ; उसके चारों ओर फैली हुई दुर्बलता नष्ट हो गई, उसकी कोरी भावुकता छिन्न-भिन्न हो गई और उसके स्त्रीत्व से शक्तिहीनता का लाञ्छन दूर हो गया। पुरुष ने अपनी आवश्यकतावश ही उसे साथ आने की आज्ञा दी, परन्तु स्त्री ने उससे पग मिलाकर चल कर प्रमाणित कर दिया कि पुरुष ने उसकी गति पर बन्धन लगाकर अन्याय ही नहीं, अत्याचार भी किया है। जो पङ्गु है उसी के साथ गतिहीन होने का अभिशाप लगा है, गतिवान को पङ्गु बनाकर रखना सबसे बड़ी क्रूरता है।

राष्ट्र को प्रगतिशील बनाने में स्त्री ने अपना भी कुछ हित साधन किया, यह सत्य है, परन्तु इस मधु के साथ कुछ क्षार भी मिला था। उसने जो पाया वह भी बहुमूल्य है और जो खोया वह भी बहुमूल्य था, इस कथन में विचित्रता के साथ-साथ सत्य भी समाहित है।

आन्दोलन के समय जिन स्त्रियों ने आधुनिकता का आह्वान सुना उनमें सभी वर्गों की शिक्षिता और अशिक्षिता स्त्रियाँ रहीं। उनकी नेत्रियों के पास इतना अवकाश भी नहीं था कि वे उन सबके बौद्धिक विकास की ओर ध्यान दे सकतीं।

यह सत्य है कि उन्हें कठोरतम संयम सिखाया गया, परन्तु यह सैनिकों के संयम के समान एकाङ्गी ही रहा। वे यह न जान सकीं कि युद्ध-भूमि में प्रतिक्षण मरने के लिए प्रस्तुत सैनिक का संयम, समाज में युग तक जीवित रहने के इच्छुक व्यक्ति के संयम से भिन्न है। एक बन्धनों की रक्षा के लिए प्राण देता है तो दूसरा बन्धनों की उपयोगिता के लिए जीवित रहता है। एक अच्छा सैनिक मरना सिखा सकता है और एक सच्चा नागरिक जीना; एक में मृत्यु का सौन्दर्य है और दूसरे में जीवन का वैभव। परन्तु अच्छे सैनिक का अच्छा नागरिक होना यदि अवश्यम्भावी होता तो सम्भवतः जीवन अधिक सुन्दर बन गया होता।

स्वभावतः ही सैनिक का जीवन उत्तेजना-प्रधान होगा और नागरिक का सम्वेदना प्रधान। इसीसे एक के लिए जो सहज है वह दूसरे के लिए असम्भव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है।

आन्दोलन के युग में स्त्रियों ने तात्कालिक संयम और उससे उत्पन्न कठोरता को जीवन का आवश्यक अङ्ग मानकर स्वीकार किया, अपने प्रस्तुत उद्देश्य का साधन मात्र मानकर नहीं। इससे उनके जीवन में जो एक रूक्षता व्याप्त हो गई है, उसने उन्हीं तक सीमित न रह कर उनके सुरक्षित गृहजीवन को भी स्पर्श किया है। यह सत्य है कि उनमें से अधिकांश महिलाएँ रूढ़ियों के भार से दबी जा रही थीं, अतः देश की जागृति के साथ-साथ उनकी क्रान्ति ने भी आत्मविज्ञापन का अवसर और उसके उपयुक्त साधन पा लिए। यही उन परिस्थितियों में स्वाभाविक भी था, परन्तु वे यह स्मरण न रख सकीं कि विद्रोह, केवल जीवन के विशेष विकास का साधन होकर ही उपयोगी रह सकता है। वह सामाजिक व्यक्ति का परिचय नहीं, उसके असन्तोष की अभिव्यक्ति है। उस करुण युग के अनुष्ठान में भाग लेने वाली स्त्रियों ने जीवन की सारी सुकोमल कला नष्ट करके संसार-संग्राम में विद्रोह को अपना अमोघ अस्त्र बनाया है। समाज उनके त्याग पर श्रद्धा रखता है, परन्तु उनकी विद्रोहमयी रुक्षता से सभीत है। जीवन का पहले से सुन्दर और पूर्ण चित्र उनमें नहीं मिलता, अतः अनेक आधुनिकता के पोषक भी उन्हें सन्दिग्ध दृष्टि से देखते हैं। अनन्त काल से स्त्री का जीवन तरल पदार्थ के समान सभी परिस्थितियों के उपयुक्त बनता आ रहा है, इसलिए उसकी कठिनता आश्चर्य और भय का कारण बन गई है। अनेक व्यक्तियों की धारणा है कि उच्छृङ्खलता की सीमा का स्पर्श करती हुई स्वतन्त्रता, प्रत्येक अच्छे बुरे बन्धन के प्रति उपेक्षा का भाव, अनेक अच्छे-बुरे व्यक्तियों से सख्यत्व और अकारण कठोरता आदि उनकी विशेषताएँ हैं। इस धारणा

में भ्रान्ति का भी समावेश है, परन्तु यह नितान्त निर्मूल नहीं कही जा सकती। अनेक परिवारों के जीवन की कटुता का प्रत्यक्ष कारण स्त्रियों की कठोरता का सीमातीत हो जाना ही है, यह सत्य है, परन्तु इसके लिए केवल स्त्रियाँ ही दोषी नहीं ठहराई जा सकतीं। परिस्थिति इतनी कठोर थी कि उन्हें उस पर विजय पाने के लिए कठोरतम अस्त्र ग्रहण करना पड़ा। उनमें जो विचारशील थीं, उन्होंने प्राचीन नारियों के समान कृपाण और कंकण का संयोग कर दिया, जो नहीं थीं उन्होंने अपने स्त्रीत्व से अधिक विद्रोह पर विश्वास किया। वे जीने की कला नहीं जानतीं, परन्तु सङ्घर्ष की कला जानती हैं, जो वास्तव में अपूर्ण है। सङ्घर्ष की कला लेकर तो मनुष्य उत्पन्न ही हुआ है, उसे सीखने कहीं जाना नहीं पड़ता। यदि वास्तव में मनुष्य ने इतने युगों में कुछ सीखा है तो वह जीने की कला कही जा सकती है। सङ्घर्ष जीवन का आदि हो सकता है, अन्त नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि सङ्घर्षहीन जीवन ही जीवन है। वास्तव में मनुष्य-जाति नष्ट करने वाले सङ्घर्ष से अपने आपको बचाती हुई विकास करने वाले सङ्घर्ष की ओर बढ़ती जाती है। सामाजिक प्रगति का अर्थ भी यही है कि मनुष्य अपनी उपयोगिता बढ़ाने के साथ-साथ नष्ट करने वाली परिस्थितियों की सम्भावना कम करता चले। किसी परिस्थिति में वह हिम के समान अपने स्थान पर स्थिर हो जाता है और किसी परिस्थिति में वह जल के समान तरल होकर अज्ञात दिशा में बह चलता है। स्त्री का जीवन भी अपने विकास के लिए ऐसी ही अनुकूलता चाहता है, परन्तु सामाजिक जीवन में परिस्थिति की अनुकूलता में विविधता है। हम अपना एक ही केन्द्र-विन्दु बनाकर जीवन-सङ्घर्ष में नहीं ठहर सकते और न अपना कल्याण ही कर सकते हैं। स्त्री की जीवनी-शक्ति का ह्रास इसी कारण हुआ कि वह अपने आपको अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति के अनुरूप बनाने में असमर्थ रही। उसने एक केन्द्र-विन्दु पर अपनी दृष्टि को तब तक स्थिर रखा, जब तक चारों ओर की परिस्थितियों ने उसकी दृष्टि नहीं रोक ली। उस स्थिति में प्रकाश से अचानक अन्धकार में आए हुए व्यक्ति के समान वह कुछ भी न देख सकी। फिर प्रकृतिस्थ होने पर उसने वही पिछला अनुभव दोहराया।

जागृति-युग की उपासिकाओं के जीवन भी इस त्रुटि से रहित नहीं रहे। उन्होंने अपनी दृष्टि का एक ही केन्द्र बना रखा है, अतः उन्हें अपने चारों ओर के संदिग्ध वातावरण को देखने का न अवकाश है और न प्रयोजन। वे समझती हैं कि वे राष्ट्रीय जागृति की अग्रदूती के अतिरिक्त और कुछ न बनकर भी अपने जीवन को सफलता के चरम सोपान तक पहुँचा देंगी। इस दिशा में उनकी गति का अवरोध करने वालों की संख्या कम नहीं रही, यह सत्य है। परन्तु इसीलिए वे अपना गन्तव्य भी नहीं देखना चाहतीं, यह कहना बहुत उक्ति-पूर्ण नहीं कहा जा सकता। ऐसा कोई त्याग या बलिदान नहीं जिसका उद्गम स्त्रीत्व न रहा हो, अतः केवल त्याग के अधिकार को पाने के लिए अपने आपको ऐसा रुक्ष बना लेने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

जिन शिक्षिताओं ने गृह के बन्धनों की अवहेला कर सार्वजनिक क्षेत्र में अपना मार्ग प्रशस्त किया उनकी कहानी भी बहुत कुछ ऐसी ही है। उनके सम्मुख नवीन युग का आह्वान और पीछे अनेक रूढ़ियों का भार था। किसी विशेष त्याग या बलिदान की भावना लेकर वे नये जीवन-संग्राम में अग्रसर हुई थीं, यह कहना सत्य न होगा। वास्तव में गृह की सीमा में उनसे इतना अधिक त्याग और बलिदान माँगा गया कि वे उसके प्रति विद्रोह कर उठीं। स्वेच्छा से दी हुई छोटी से छोटी वस्तु मनुष्य का दान कहलाती है, परन्तु अनिच्छा से दिया हुआ अधिक से अधिक द्रव्य भी मनुष्य का आधीनता-सूचक कर ही समझा जायगा। स्त्री को जो कुछ बलात् देना पड़ता है वह उसके दान की महिमा न बढ़ा सकेगा, यह शिक्षिता स्त्री भलीभाँति जान गई थी।



पुरुषों के आनन्द

श्री० सन्तराम, बी० ए०

जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति जानता है, स्त्रियों को सब से अधिक प्रसन्नता अपनी चेतना को उच्च करने, अपने निजी व्यक्तित्व के ज्ञान को बढ़ाने में प्राप्त होती है; सामान्य पुरुष उतना और किसी बात को नापसन्द नहीं करता जितना कि आत्म-संज्ञावान—सदा अपने आप को ही देखता रहने वाला—बनाये जाने को। उसके बहुसंख्यक आनन्दों एवं एकाधिक दोषों के मूल में किसी भी मूल्य पर इससे बचने की कामना होती है। इससे इस बात का समाधान होता है कि पुरुष क्यों बार-बार बहुत अधिक सुरापान करता है। वह केवल एक ही उद्देश्य—आत्म-विस्मृति—को सामने रखने में ही आनन्द ढूँढ़ता है। वास्तविकता से बचना, यही प्रत्येक आनन्द ढूँढ़ने वाले पुरुष की उच्च आकांक्षा होती है। अच्छा, तो वह यह कैसे करता है?

सुनिए, वह खेल खेलता है। आप कहेंगे, खेल तो स्त्रियाँ भी खेलती हैं। परन्तु दोनों में अन्तर है। पुरुष खेल में कर्म-काण्ड या रस्म-रिवाज का अधिक सम्मान रखता है, वह अधिक ध्यान तथा दुरुस्ती के साथ खेलता है। संसार में कहीं भी चले जाइए आप सर्वत्र यही देखेंगे कि पुरुष छोटी सी सफ़ेद गेंद को भी रेकट पर रखते समय इस ढङ्ग से झुकते हैं कि उससे पूजा का भाव टपकता है। फिर वे घूमने और मारने के लिए सीधे खड़े हो जाते हैं। ऐसा वे एक बार नहीं, बार-बार करते हैं और ऐसी गम्भीरता के साथ करते हैं मानो किसी देवता के सामने खड़े हैं। खेलों के प्रति पुरुष के मन में इतना अगाध भक्ति-भाव रहता है कि वह अपने आप को भूल जाता है; और जब पुरुष अपनेआप को भूल सकता है तब वह साधारणतः सुखी होता है।

अब उस आनन्द पर विचार कीजिए जो पुरुष को सामाजिक सम्मेलनों में प्राप्त होता है, जब शराब के दौर चलते हैं और सेकमोफोन सुना जाता है, इस रात्रि-क्लब या रैस्टोरण्ट के वातावरण में उसे स्त्रियों का सामूहिक स्त्रैणता का, स्वाभाविक भय नहीं रहता। तब वह विश्वास-पूर्वक स्त्रियों की पीठों, कन्धों, टाँगों, टखनों पर दोषदर्शी और मूल्य आँकने वाली दृष्टि डालता है। उस समय वह अपने को एक नवाब और हरम का मालिक अनुभव करता है। ऐसी अनुभूति से पुरुष को प्रायः प्रसन्नता होती है। जब उस सम्मेलन में वह किसी धन-कुबेर की स्त्री या किसी प्रसिद्ध नटी या किसी दूसरी ही ऐसी स्त्री को देखता है जो सामाजिक स्थिति की दृष्टि से उसकी ओर देखने को भी तैयार न होगी, तो नवाब की भाँति वह कहता या सोचता है—

"अच्छा, यह प्रसिद्ध अमुक स्त्री है? छिः छिः! इसका तो सारा मेरुदण्ड कटि तक दिखाई देता है।"

और वह उसे अपने लिए अयोग्य समझ कर, अस्वीकृति के मानसिक इशारे के साथ, उसका त्याग कर देता है, हालाँकि वह भलीभाँति जानता है कि यदि मैं उससे मिलने जाऊँ तो वह मुझे बातचीत में एक स्कूल के विद्यार्थी के समान अयोग्य और अनाड़ी अनुभव करा सकती है।

अनेक सुरूप और सुन्दर वस्त्र धारिणी रमणियों का दृश्य, जो नाचती, हँसती, बोलती, चोचले करती और जो कुछ भी मिले सब खा जाती हैं, परन्तु जिनके लिए—और यह महत्वपूर्ण है—उसे अपने को दिलचस्प या रुचिर बनाने को नहीं कहा जाता, साधारण मनुष्य के रिझाए बिना नहीं रहता। वह उन सबको इस प्रकार

देखता है जैसे कोई ग्राहक गुलामों की मण्डी में गुलामों को देखता है। इस समूचे उल्लास में वह निष्पाप भाव से और बिना जाने बूझे बहता है। वह बिलकुल भूल जाता है कि मैं तो देख रहा हूँ, पर हो सकता है कि मुझे भी कोई देख रहा हो।

इसके विपरीत, हमारी साधारण स्त्री एक क्षण के लिए भी इस बात को नहीं भूलती। वह दूसरी स्त्रियों पर और अपने पर बड़ी चौकसी की आँख रखती है। वह देखती रहती है कि मेरा कैसा संस्कार पड़ रहा है। वह अपनी वाञ्छनीयता, महत्ता, मनोहरता, भाव-भङ्गी और बुद्धि की दूसरी स्त्रियों की इन्हीं बातों से तुलना, भेद और तौल करती रहती है और परिणाम स्वरूप अपने को ऊँचा या नीचा अनुभव करती है। कारण यह है कि स्त्री का मूल्य उसकी अपनी दृष्टि में निरन्तर बढ़ता-घटता रहता है। आज चढ़ता है तो कल उतर जाता है, कई परिस्थितियों एवं अवस्थाओं में वह ऊँचा हो जाता और कई में नीचा। इस बैरोमीटर में चढ़ने या उतरने के अनुसार ही वह अपने आप से प्रसन्न रहती है या अपने में आनन्द लेने में असमर्थ हो जाती है।

परन्तु कौन पुरुष ऐसा है जिसे कभी दूसरे पुरुषों के साथ अनुकूल या अननुकूल रूप से अपनी तुलना करने का स्वप्न तक भी आता हो? जो अपनी ऊँचाई, रूप-रङ्ग शारीरिक गठन और आकर्षण-शक्ति की दूसरों से तुलना करता हो? वह जो कुछ है आप ही आप है, और इससे अधिक इस सम्बन्ध में और कुछ नहीं। वह अपने को एक सम्पूर्ण वस्तु अनुभव करता है, परन्तु स्त्री अनुभव करती है कि वह सैकड़ों चीज़ों का मिश्रण है, जिनमें से कुछ तो अच्छी हैं और कुछ उतनी अच्छी नहीं। उसे खयाल रहता है कि मेरे हाथ कुरूप हैं और वह उनको छिपाने का यत्न करती है; उसे पता है कि मेरी आकृति सुन्दर है, और वह उसे दिखाने के लिए खड़ी रहेगी, बैठेगी नहीं। परन्तु पुरुष प्रतिद्वन्द्विता एवं तुलना की व्यथाओं से बचे हुए हैं। जिस प्रकार स्त्रियाँ इन बातों के कारण एक दूसरे से द्वेष और डाह करने लगती हैं, उस प्रकार पुरुष में क्वचित ही यह भाव उत्पन्न होता है कि मैं इन बातों में किसी दूसरे से नीचा हूँ।

सामान्य पुरुष में जो एक प्रकार की स्वाभाविक सरलता पाई जाती है उसका वर्णन करते समय इसी कारण हम उसे कहते हैं कि वह सीधा है। वह जो कुछ है, जैसा है वही है। वह आशा करता है कि आप उसे लेंगे या छोड़ देंगे। होली, दिवाली आदि पर्वों पर वह मस्त होकर नाचने-कूदने लगता है। इस समय वह अपने आप को भूल-सा जाता है। उसे खबर नहीं रहती कि सिर पर पगड़ी और पाँव में जूती है भी या नहीं। वह इस समय आपे से बाहर होता है। उसकी स्त्री या मित्र उसे समझाने का चाहे कितना भी प्रयत्न करें कि कपड़े तो ठीक कर लो, परन्तु वह यही कहता है कि यही ठीक है। उस छोटी लड़की को देखिए; कैसी सुन्दर आँखें हैं, कैसी मनभावनी आकृति है! वह उसके लिए नहीं, और न कभी उसे मिलने ही वाली है; फिर भी क्या मुजायका है? यह संसार बड़ा रमणीय है जहाँ ऐसे आनन्द दायक जीव लुभाते, मुस्कराते और विचरते हैं। भङ्ग का एक और दौर चलने दो। आहा, कैसा आनन्द है।

उसकी पत्नी उसकी इन कुचेष्टाओं को देखकर कुढ़ती ही रह जाती है, पर उसपर रत्ती भर भी असर नहीं होता।

जिस प्रकार स्त्रियों की पार्टी में गुप्त धाराएँ बहती हैं, जिस प्रकार उनमें सूक्ष्म रीति से गुप्त काला ताना तना जाता है, उस प्रकार पुरुषों के समूह में नहीं होता। क्वचित ही उनमें नाटकों का अभिनय होता है, क्वचित ही पुरुष-दल में मित्रता के गुप्त सङ्केत किये जाते और प्रेम को स्वीकार या ठुकराया जाता है। दस स्त्रियाँ जहाँ भी इकट्ठी होंगी, गुप्त सङ्केतों से एक दूसरी के रूप-रङ्ग, भाव-भङ्गी, वस्त्राभूषण की आलोचना करेंगी। किसी को सहेली बनाने की चेष्टा करेंगी, और किसी का तिरस्कार करेंगी। इसके विपरीत, सचाई यह है कि पार्टी में बैठे हुए पुरुषों को एक दूसरे का बहुत कम खयाल रहता है। प्रत्येक अकेला खेलता है। जो अनिश्चितताएँ स्त्रियों पर आक्रमण करती हैं वे पुरुषों को क्वचित ही सताती हैं।

यदि हमारा सामान्य पुरुष अपने आप से आनन्द नहीं ले सकता; तो वह क्वचित् ही इस बात से सङ्कोच

करता है कि कोई उसे देखे। जो पुरुष अपने में आनन्द नहीं लेता वह पट्टी-बँधे अँगूठे की तरह पार्टी में अलग देख पड़ता है। उसकी पत्नी उसे धुएँ के परदे में छिपाने का यत्न करती है, परन्तु इससे विशेष लाभ नहीं होता। वह उकताया हुआ है, परन्तु उसे इस बात की परवा नहीं कि किसको इसका पता है। उसे एकमात्र अपने उकताने का ही ख़याल रहता है, और बातों की उसे ख़बर ही नहीं रहती। बहुत थोड़ी स्त्रियाँ ऐसी होंगी जो अपने को उकताई हुई प्रकट करने को तैयार हों। उनकी सामाजिक बुद्धि, उनकी परम आकांक्षा कि चाहे उनकी अपनी पार्टी हो और चाहे किसी दूसरे की, प्रत्येक बात ठीक तरह से हो जाय, उनको ऐसा करने से रोकती है।

परन्तु सामान्य पुरुष केवल अपने ही आनन्द की सोचता है। वह इस पृथ्वी पर बहुत थोड़ा ही चाहता है और वह थोड़ा भी इसलिए ताकि वह कम से कम थोड़ी देर के लिए, इस बात को भूल जाय कि जीवन बहुत छोटा है और वह इसमें बहुत ही छोटा काम कर सकता है। वह केवल एक चीज़ ढूँढ़ता है—अर्थात् वह सुख जो उसे अपने को भूल जाने से प्राप्त होता है, चाहे वह काम के द्वारा प्राप्त हो और चाहे वारुणी, वनिता, सङ्गीत, खेल अथवा प्रेम के द्वारा।

यही कारण है जो पुरुषों में सर्वोत्तम हुतात्मा, कवि, सन्त, विज्ञानशास्त्री और मसख़रे होते रहे हैं और मेरा ख़याल है कि सदा होते रहेंगे।*

* सूसन इर्टज़ के एक अङ्गरेज़ी लेख के आधार पर।

शैशव-स्मृति

[श्रीमती शान्तिदेवी अरोड़ा 'ऊषा']

खो गया मधुमास मेरा!
सजनि, भोले शशि-वदन पर किलकता मृदु-हास मेरा;
सरल शिशु का हास मेरा!

थीं नहीं तम की घटायें
सजल ये साँसें नहीं थीं,
ज्योति धूमिल ध्रुव विमल की
यों कभी होती नहीं थी,
तब न बन्धन में घनों के तड़पता आकाश मेरा;
करुण यह इतिहास मेरा!

तितलियों से खेलना मृदु-
शशि-किरण की छू चपलता,
मुदित क्षण वे मधुरिमा के
विश्व श्री—वह शुचि सरलता,
आलि, क्या अब फिर मिलेगा वह मधुर आभास मेरा;
मृदुल भावों का चितेरा!

सिसकता उद्‌गार मेरा
क़ैद में मैं विश्व की हूँ,
एक पल भी भार मुझको,
तड़पती मैं चातकी हूँ,
ढूँढ़ भी अब मैं न सकती मिट गया उल्लास मेरा;
गान-कलरव का सवेरा!
खो गया मधुमास मेरा!

पत्नियाँ जो धनोपार्जन न करें......

[श्री० प्रेमनारायण अग्रवाल, एम० ए०]

अक्टूबर सन् ३७ के 'चाँद' में हमने "पत्नियों का धनोपार्जन" शीर्षक एक लेख लिखा था, उसमें हमने भारत की वर्तमान आर्थिक दुरवस्था का चित्र खींच कर यह बतलाने का प्रयत्न किया था कि ग़रीबी के कारण आजकल हमारा पारिवारिक जीवन कितना दुःखद रूप धारण किये हुए है, जिसके कारण पति-पत्नी मय अपने बाल-बच्चों आदि के पिसे जाते हैं। धनाभाव की वजह से ही उनका जीवन कष्टमय है। पर्याप्त आय होने से कितने ही दम्पति की यह शोचनीय अवस्था आनन्द में परिणत हो सकती है। सब प्रकार सुखी होने पर केवल इसी के कारण उनका सारा परिवार सङ्कटापन्न परिस्थिति में रहता है। पुरुषों की आय कम होती है या उनमें बेकारी का दौरदौरा है, ऐसी गम्भीर हालत में पत्नियाँ भी यदि आगे आकर थोड़ा उनका हाथ बँटावें, तो अधिकतर परिवारों का यह आर्थिक-सङ्कट टाला जा सकता है।

भारत का सामाजिक सङ्गठन इस प्रकार का है, जिसमें अनेक उपयोगी कार्य एकदम नहीं किये जा सकते। धीरे-धीरे उनका प्रचार बढ़ता है और ज्यों-ज्यों जनता उनके लाभों आदि से परिचित होती जाती है, उनके अनुकूल अपने को बनाती जाती है। विदेशों के अधिवासी अधिक उन्नतिशील होने से जल्दी ही नई बातों को ग्रहण कर लेते हैं और फिर छोड़ भी देते हैं। भारत में ग्रहण करना तथा छोड़ना—दोनों बातें ही धीरे-धीरे होती हैं। ऐसी परिस्थिति में तथा कितने ही अन्य कारणों से यह सम्भव नहीं कि सभी पत्नियाँ एकदम कमाने के काम में लग कर अपने पतियों की सहायक बनें। नीची कही जाने वाली क़ौमों में और गाँवों में रहने वाली बड़ी-बड़ी क़ौमों में भी, पति के साथ उनकी स्त्रियाँ भी कुछ न कुछ कार्य करती हैं, जिनसे आय बढ़े या उनके कामों में ही सहायक होती हैं। इससे स्पष्ट है कि भारत में पत्नियों के कमाने में सहयोग देने की बात नई नहीं है, वरन् प्राचीन काल से है। शहरों में रहने वाली या ज़रा आधुनिक ढङ्ग से रहने वाले मध्यम वर्ग (Middle class) के परिवारों में पत्नियाँ प्रायः ऐसा नहीं करतीं। वह घर के काम-काज में ही लगी रहती हैं। घर के काम से इनको कभी-कभी समय ही नहीं मिलता जो वह पतियों के कार्य में सहयोग दे सकें और यदि मिलता भी है तो वह और-और प्रकार के कार्यों को अधिक पसन्द करती हैं।

हमारे परिवारों में घर के काम-काज का विभाजन बड़े सुन्दर तरीक़े से किया गया है। जो काम पत्नियों के सुपुर्द किये गये हैं और जिनको वह प्रायः करती भी हैं, ऐसे हैं जिनमें लगे रहने में ही उनका बहुत सा समय लग जावे। जो समय बचे उसमें वह कुछ अध्ययन कर सकें या मनोविनोद कर सकें। इनके काम का प्रभाव पतियों के कमाने पर भी पड़ता है। उनके द्वारा कमाये हुये धन को ख़र्च करने का काम प्रायः इनके ही सुपुर्द होता है। यदि यह चाहें तो उस धन में कम से कम व्यय करके अधिक से अधिक लाभ उठाएँ और चाहें तो उसे बरबाद कर दें। वास्तव में उनसे आशा तो यह की जाती है कि वह उसी धन में जो कुछ उनके पति महाशय कमाकर लाये हैं, चाहे वह कम हो और चाहे अधिक, घर का सारा ख़र्च चलाएँ और कुछ बचाकर भी रख लें ताकि भविष्य में मौक़े पर उससे काम लिया जा सके। कमाने की अपेक्षा ख़र्च करने का कार्य अधिक उत्तर-

दायित्व पूर्ण है और इसमें काफ़ी ध्यान देने की आवश्यकता है। घर के समस्त ख़र्च को वर्तमान आय में न चला कर पति से अधिक की माँग पेश करना, जब कि अधिक कमाना उसके लिये असम्भव है, उस पर ज़्यादती करना है। यदि वह अधिक कमा सकता है तो बेशक कमावे और सब पुरुष ऐसा करना पसन्द ही करते हैं ताकि वे अधिक से अधिक आराम तथा शान-ठाठ से रह सकें, पर जो नहीं कमा सकते उनसे ऐसी आशा करना व्यर्थ है। उनकी परेशानी को बढ़ा कर उनको कष्ट देना ही है। पत्नियों को यह भी शोभा नहीं देता कि वह अपने पतियों को चौबीसों घण्टे कमाने के काम में पिसने दें। उन्हें मनोविनोद, खेल-कूद आदि की भी तो आवश्यकता है ताकि वह अपने को स्वस्थ बनाए रख सकें, जिससे वह सदैव कमाने के क़ाबिल बने रह सकें।

जो पत्नियाँ कमाना न चाहें या ऐसा करना उनके लिए ठीक न हो तो वह घर के काम-काज को इस प्रकार चलावें जो पति को अधिकाधिक कमाने का अवसर दें, और जो कुछ वह कमा कर लावे, उसमें अधिकाधिक उपयोग हो। पत्नियों का काम घर के भीतर भी भारी ज़िम्मेदारी का है और पारिवारिक जीवन में उनका ज़बरदस्त महत्व है। योग्य पत्नियाँ थोड़े से धन का भी कुशलता पूर्वक उपयोग करके बहुत आराम से परिवार का सञ्चालन कर सकती हैं और अयोग्य पत्नियाँ पति की कितनी ही आय होने पर भी उसके जीवन को भार-स्वरूप कष्टमय बना सकती हैं। ऐसी पत्नियाँ जो कमा न सकें, उन्हें चाहिये कि वह अपने क्षेत्र में अधिक से अधिक योग्यता से कार्य करें, जिससे पति को कमाने के लिए अधिक से अधिक मौक़ा मिले या उसको जीवन का आनन्द भी मिले। सारा समय कमाई में ख़र्च करने के बाद जब घर पर लौटे तो उसे परिवार की कष्ट-गाथाओं से दुखी न होना पड़े वरन् वह हँसी-ख़ुशी घर लौटे। प्रायः परिवारों में ऐसा होता है कि पुरुष घर के बाहर आनन्द का अधिक अनुभव करता है, घर में घुसते ही उसकी जान आफ़त में पड़ जाती है। जब तक वह बाहर काम करता है, उसकी तबियत ख़ुश रहती है पर घर पहुँचते ही वह सब भूल कर घबरा जाता है। इस परिस्थिति को उत्पन्न करने की ज़िम्मेदारी उनकी पत्नियों पर होती है, जो अपने पुरुषों के घर में घुसते ही नाना प्रकार की शिकायतें, झन्झट, लड़ाई-झगड़े के प्रश्नों से उनका स्वागत करती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पुरुष अपना अधिक समय घर से बाहर व्यतीत करने को मजबूर होते हैं, घर से उनका मोह कम हो जाता है, घर के मामलों में उनकी दिलचस्पी घट जाती है। इसमें पारिवारिक जीवन बजाय आनन्दमय बनने के दुखमय बनने लगता है। चतुर पत्नियों का बर्ताव दूसरे ढङ्ग का ही होता है। जब उनके पुरुष बाहर से थके-माँदे आते हैं, वह उनका स्वागत हँस कर करती हैं, जिसमें वह अपनी थकावट को भूल जाते हैं। अन्य बातें किसी दूसरे समय कह सकती हैं।

पत्नियाँ कमावें या न कमावें, अपने पुरुषों के लिए ऐसा वातावरण तैयार कर सकती हैं जिससे उसकी कार्य करने की शक्ति बढ़ जावे और वह अधिक कमा भी सकें। जो पत्नियाँ धनोपार्जन के कार्य को न कर सकें उन्हें चाहिए कि वह अपने घर के कामों को सुचारु रूप से चलावें। वास्तव में पतियों का सर्वस्व उन्हीं पर निर्भर करता है। यह चाहें तो उन्हें सदैव प्रसन्न, स्वस्थ रखें और चाहें तो सदैव रोगी तथा दुखी। इसी काम में पत्नियों की योग्यता निर्भर रहती है। हमारे ख़याल से पत्नियों का कार्य पुरुष की अपेक्षा अधिक उत्तरदायित्व-पूर्ण होने के साथ उपयोगी और महत्वपूर्ण भी है। सारे पारिवारिक-जीवन की नींव पत्नी के ऊपर ही निर्भर रहती है। पुरुष का काम केवल कमाना ही है परन्तु उसकी कमाई को योग्यतापूर्वक ख़र्च करने का पत्नी का है। घर के अन्दर पत्नी साम्राज्ञी है, उसके कहने से सारा कारोबार नियमित रूप से चलता है। पतियों को ठीक रास्ते पर चलाना भी पत्नियों का ही कार्य है। बिना पत्नियों की सहायता के मनुष्य का कौटुम्बिक-जीवन रसहीन हो जाता है।

वास्तव में पत्नियों का काम एक मैनेजर की तरह का है। अनेक विभाग उसके सुपुर्द हैं, वह सब कामों को देखे-भाले, उनसे कार्य ले, उनके लिये नीति निर्धारित करे। यदि वह स्वयं ही सारा कार्य करना चाहें तो नहीं कर सकती और न पत्नी की अनुपस्थिति में अन्य कोई

नौकर-चाकर उन सब कामों को ठीक तरीक़े से कर सकता है। अपढ़ और गाँव वालों के जीवन में सादापन होता है; उनकी आवश्यकताएँ कम होती हैं, और उनका सारा कार्य पत्नियाँ स्वयं कर डालती हैं। नीची कही जाने वाली जातियों की स्त्रियाँ अपने घर का काम-काज देख-भालने के बाद समय निकाल कर कमा भी लेती हैं और अपने पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर कार्य कर सकती हैं। पढ़े-लिखे तथा कुछ आगे बढ़े हुए लोगों में सब काम पत्नियाँ कर भी नहीं सकती हैं और प्रायः करती भी नहीं हैं। उनका ख़ास काम नौकर-चाकरों से काम करवाना ही होता है। इसके लिये उन्हें बजाय हाथ से अधिक काम के दिमाग़ से अधिक काम लेना पड़ता है, ताकि उनके अधीन लोग अपने-अपने काम का ठीक तरीक़े से अञ्जाम दे सकें। इनके पास इसी-लिये प्रायः समय बच रहता है। यदि इस समय में वह कमाना पसन्द न करें तो अन्य अनेक उपयोगी कार्य कर सकती हैं, जिनके द्वारा उनके पारिवारिक-जीवन का आनन्द बढ़ सकता है।

इस बचे हुए समय में घर पर रहते हुए ही वह पति के कामों में हाथ बटा सकती हैं। यहाँ पर वह उनके काम में सीधी सहायता भी पहुँचा सकती हैं और यदि ऐसा न करें तो अन्य तरीक़ों से अप्रत्यक्ष रूप में भारी सहायता तो करना ही चाहिये। इनको चाहिये कि वह अपने पतियों को केवल धन कमाने के लिये छोड़ दें और बाक़ी सारे काम वह स्वयं अपने ऊपर ले लें। उनको अधिक से अधिक समय बचाने में सहायता करें, ताकि वह अधिक काम कर सकें और अधिक काम करने पर काफ़ी आराम भी कर सकें, जिससे उनके स्वास्थ्य पर अत्यधिक कार्य का प्रभाव न पड़े।

सोकर उठने के समय से लगा कर सोने जाने तक के सारे समय पर पत्नी का अधिकार हो और वह इसे कम से कम घर के कामों में ख़र्च होने दे। उनको सब सुविधाएँ दें, ताकि कम से कम समय में वह अपना काम कर लें, व्यर्थ के झञ्झटों से उनका समय बच जावे। इन कामों को पत्नियाँ अपनी देख-भाल में सम्पन्न कराएँ। उनको घर की चिन्ता न हो, पत्नियाँ इसका समस्त भार अपने पर लें। पति की आय को ख़र्च करने की ज़िम्मेदारी इन्हीं पर हो, उसका हिसाब-किताब ठीक से यही रक्खें।

लाभ इन बातों का यह होगा कि पति महाशय का दिमाग़ अपने काम में ही लगा रहेगा, उसके सम्बन्ध में उन्हें सोचने का काफ़ी समय मिलेगा। इसे करने में काफ़ी समय उनका व्यय होगा। और बेफ़िक्री के साथ वह अपना काम बहुत सुन्दर तरीक़े से कर सकेंगे। यदि उनको इतनी फ़ुरसत ही न मिले, जब फ़ुरसत मिले, तब घर के काम-काज की फ़िक्र सवार रहे तो थोड़े समय बाद उनके काम पर इसका प्रभाव पड़ेगा। न काम में तबियत लगेगी और न उसे वह कर सकेंगे। जो कुछ करेंगे वह सब बेमन। उनका दिल-दिमाग़ उनके काम के साथ नहीं होगा। उनके काम उल्टे-सीधे होंगे, क्योंकि अस्थिर और चञ्चल चित्त से कोई काम भी ठीक तरह से नहीं हो सकता। दिमाग़ी काम में ही नहीं, हाथ से किये जाने वाले कामों में भी चित को एकाग्र करने की आवश्यकता होती है।

यदि हम आजकल के युवकों के कौटुम्बिक जीवन का विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि अधिकांश में वह घर की फ़िक्रों के बोझ से दबे हैं। कहीं उनको यह चीज़ भेजना है और कहीं कुछ। आटे का प्रबन्ध यदि हो गया है तो नमक का बाक़ी है। इसी प्रकार उनकी चौबीसों घण्टे नाकोंदम रहती है। इसका कारण यह भी है कि हमारी पत्नियों को शुरू से ऐसी शिक्षा नहीं दी जाती जिससे वह अच्छी गृहिणी बन सकें। न तो वह नौकरों से ठीक तरीक़े से काम ही ले सकती हैं और न बाज़ार से चीज़ें ही ख़रीद सकती हैं। परदे आदि के कारण उनकी ज्ञान-शक्ति प्रायः लोप हो जाती है। वह तो केवल घर की चहारदीवारी में बन्द रह कर खाना पका सकती हैं और इधर-उधर की बातें कर सकती हैं, जिनसे परिवार में क्लेश और लड़ाई-झगड़ा बढ़े। किसी-किसी में ऐसा करने का कुछ माद्दा भी हुआ तो वह अपने कामों में दिलचस्पी नहीं लेतीं। उनका सारा प्रबन्ध पतियों को करना पड़ता है। यह पतियों के लिए एक आफ़त है कि एक तरफ़ कमाने का काम और दूसरी तरफ़ घर का भी वह काम। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि पत्नियाँ

अपने काम को ठीक तरीक़े से करना जानें और उसके करने में दिलचस्पी लें। बेगार से काम चलाने में किसी का लाभ नहीं होता। स्वयं काम करना तथा दूसरे से करवाना दोनों बातों में उनको पटु होना चाहिए।

कुछ पढ़े-लिखे और आगे बढ़े हुए घरों में पत्नियाँ यह कार्य करती भी हैं। सरकारी नौकरों की पत्नियों के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने पतियों को अधिक से अधिक समय दें। उनको काफ़ी स्वतन्त्रता का मिलना ज़रूरी है, ताकि वह अपने काम को कर सकें। यदि वह बाहर चले जायँ तो उनकी अनुपस्थिति में भी घर का सारा काम-काज ज्यों का त्यों चलता रहे। उनकी पत्नियाँ यदि ऐसी न हों तो उनका जीवन मुश्किल हो जाय। उन्हें अपने काम के लिये काफ़ी समय चाहिए और यदि वह घर की ज़रूरी चीज़ों के इकट्ठा करने में लग जाँय तो उनका सारा समय इसी में लग जाय और वह अपने काम को करने के लिये समय ही न निकाल सकें। उनकी पत्नियाँ ही उनका सारा इन्तज़ाम करती हैं। वक़्त पर खाना बने, इसके लिये जो सामान और चीज़ें चाहिए, उसका प्रबन्ध पत्नियाँ स्वयं करती हैं। कब कौन सी चीज़ की आवश्यकता है, उसे मँगाने का ध्यान इन्हें ही रखना पड़ता है। यही नहीं, वह तो प्रायः अपने पतियों की आवश्यकताओं को भी पूरा करने का प्रबन्ध करती हैं। उनके पास कब कोट, कमीज़ ख़तम हो गये आदि बातों को वह स्वयं देख-भाल कर मँगाती हैं। उन्हें बाहर जाना है तो क्या-क्या सामान ले जाना है, उसे ठीक तरीक़े से बाँध कर तैयार करना उन्हीं का काम है। यदि वह स्वयं सब अपने हाथों से या अपनी देख-रेख में करावें तो बस उसी के होकर रहें। उनकी पत्नियाँ अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा करती हैं। उनके लिये साड़ी लाने का काम पतियों को नहीं करना पड़ता और न उनके बच्चों के लिए खेल-कूद के सामान का ही। वह सब प्रबन्ध स्वयं करती हैं।

वे वास्तव में अपने पतियों की सीमाओं को जानती हैं, उनकी आदतों से परिचित होती हैं और उनके अनुकूल ही सब प्रबन्ध कर देती हैं। ऐसी पत्नियों का अपने पतियों पर पूरा अधिकार होता है। पति महाशय भी उनके कार्य और व्यवहार कुशलता का अनुभव करते हैं। उनके लिये भी आवश्यक होता है कि उनको प्रसन्न रखें, ताकि उनका मन कामों में लगा रहे, कभी ऊबने न पावे। फ़ुरसत मिलने पर अन्य कोई चिन्ता न होने के कारण पति अपनी पत्नी से बात-चीत आदि करके दोनों का मन-बहलाव ही करेगा।

इस तरह से, इस प्रकार के दम्पतियों के परिवार का रथ दोनों की सहायता से बड़ी आसानी से सरलता-पूर्वक चलता है। कोई भी अपने जीवन से घबराता नहीं, न घर के झंझटों के कारण उनका चित्त ही अप्रसन्न होता है। दोनों मज़े में अपना जीवन यापन करते हैं।

घरों में जो झगड़े होते हैं, उनका कारण प्रायः पत्नियों की अयोग्यता ही होती है। न तो वह अपने कार्य को कुशलतापूर्वक करना ही जानती हैं और न अन्य लोगों से बर्ताव करना ही। अपने काम में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं होती और बचे हुए समय में वह घर में कलह करके सबको परेशान रखती हैं।

पत्नियों के लिये धनोपार्जन का कार्य ज़रा कठिन है, ठीक उसी प्रकार पतियों के लिये घर का काम-काज देखना। दोनों के लिये अपने-अपने काम-काज दिलचस्प और प्रकृति के अनुकूल हैं। पतियों के लिये कमाना ही सरल है और पत्नियों के लिये घर के अन्दर का कार्य करना। एक दूसरे के कामों को करने में उनको न तो वह आनन्द आयेगा जो आना चाहिये और न उनकी तबियत ही लगेगी। जो कुछ उनसे होगा वह सब बेमन, बेगार के समान ही। उनके कार्य-विभाजन का कार्य अत्यन्त सोच-विचार कर वैज्ञानिक ढङ्ग से किया गया है, जिसमें दोनों की शक्तियों का पूरा-पूरा उपयोग हो और अधिक से अधिक लाभ हो। उनकी शारीरिक बनावट, स्वभाव, प्रकृति अलग-अलग कार्य चाहते हैं और उनके लिये कार्य-विभाजन होना बहुत ही आवश्यक है। जो अपने वास्तविक कार्य को छोड़कर केवल दूसरा कार्य करते हैं, वह उसमें भली प्रकार सफल न हो सकते हैं और न होवे ही हैं। हमें इक्के-दुक्के अपवादों को छोड़ना ही पड़ेगा।

मनुष्य जीवन में अच्छे और बुरे दिन आते ही रहते हैं। संसार की परिस्थितियों में परिवर्तन होता ही रहता है। पति-पत्नी को अपने आपस के सम्बन्ध को तथा अपने परिवार को क़ायम रखना ही पड़ता है और इसे क़ायम रखने के लिये समयानुकूल चलने की आवश्यकता है। विवाह तथा परिवार एक आवश्यक तथा उपयोगी संस्था है, जिसको सब प्रकार के समय में चलाना ही पड़ता है। समय तथा परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण वह संस्था तोड़ी-फोड़ी नहीं जा सकती। बिना इसके संसार के व्यापार चलना बन्द हो जावेंगे। केवल आवश्यकता इस बात की पड़ती है कि इसको समयानुसार Adjust कर लिया जावे और हमारे खयाल से इतने से ही काम चल सकता है।

भारत की वर्तमान दुरवस्था में सब से अधिक कष्ट देने वाली बात है हमारी ग़रीबी। इसका प्रभाव मनुष्य-जीवन पर तुरन्त पड़ता है, परिवार भी इसके असर से अछूता नहीं बचता। वर्तमान परिस्थितियों में भी पारिवारिक जीवन को क़ायम तो रखना ही है। यह सच है कि इधर कुछ दिनों से आर्थिक कठिनाइयों के कारण तथा परिवार के जीवन में पति-पत्नी आदि के सम्बन्ध ठीक-ठीक (Adjust) न होने से अनेक दिक़्क़तें पैदा हो गई हैं और इनके कारण युवक-युवतियों में एक नई प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है; वह है अविवाहित रहकर जीवन की घड़ियों को काट देना। यह प्रवृत्ति अधिक दिनों तक क़ायम नहीं रह सकती है। इस प्रकार की हालत में पति-पत्नी दोनों अपने-अपने वास्तविक कामों से थोड़ा-बहुत हट गये हैं। और इस हटने के कारण नई दिक़्क़तें भी पैदा हो गई हैं, जो परिस्थिति को और भी खराब बना रही है।

इन सब दिक़्क़तों के होते हुए भी पारिवारिक जीवन को सफलतापूर्वक चला ले जाने के दो ही उपाय हमारी समझ में आते हैं। एक यह कि पत्नियां भी धनोपार्जन करके परिवार की आय बढ़ावें और उससे सबकी गुज़र हो। इस सम्बन्ध में हमने अपने पिछले लेख में विस्तार-पूर्वक विचार किया है और दूसरा यह उनके लिये, जो कमा नहीं सकतीं या जिन्हें यह पसन्द नहीं है, कि वह अपने पतियों को कमाने के लिये अधिक से अधिक सुविधाएँ दें और घर का सारा कार्य वह स्वयं करें। यह तरीका अधिक उपयोगी होगा, क्योंकि यह स्वाभाविक तथा प्रकृति के अनुकूल भी है। अधिकतर तादाद में स्त्रियाँ इसे ही करती हैं और ऐसा करने में ही पारिवारिक जीवन का वास्तविक आनन्द है। पत्नियों के कमाने से नई-नई दिक़्क़तें उत्पन्न होने का डर है। पर इससे कोई नवीन बात पैदा न होकर वर्तमान परिस्थिति ही सुधरेगी। पत्नियाँ जानती हैं कि उनका यही क्षेत्र है, फिर भी वह ऐसा नहीं करतीं, इसमें दिलचस्पी न लेकर पुरुषों के क्षेत्र में कूद जाती हैं, यह उनके लिये शायद अधिक उपयोगी न होगा। भले ही उनका व्यक्तिगत लाभ हो जाय, पर समाज का कोई भी हित न होगा; उल्टी हानि होगी। प्रत्येक बात पर व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से विचार न करके सामाजिक दृष्टि से ही विचार करना चाहिए। इस दृष्टि से उनके कार्यों का और लोग अनुकरण करेंगे, जिससे यह प्रवृत्ति बढ़ेगी ही। अतः हमारी राय में तो उनको अपने कामों की ओर अधिक दिलचस्पी लेना चाहिए।

की तरह एक छोटा-सा प्रश्न कर दिया। यह भी ठीक नहीं है कि मैंने केवल प्रश्न के लिए ही प्रश्न किया हो। देखा, निभृत अन्तर में एक छोटा-सा सिर डरते-डरते उठ रहा है—मेरी जागती हुई उत्सुकता का। फिर मैं उस सिर को ज़ोर देकर दबा दूँ, ऐसा निष्ठुर हृदय भी मैं नहीं हूँ!

'क्या आप बिलकुल कुछ नहीं जानते, भैया!'—रमेश ने आँखें कपार पर चढ़ाकर कहा।

'ऊँहूँ, एकदम कुछ नहीं।'—मैंने उसे बनाने के स्वर में कहा।

'वाह; मैंने आपसे एक दिन नहीं कहा था कि हमारे हेडमास्टर साहब एक वर्ष की छुट्टी लेकर कहीं जा रहे हैं और कोई नया हेडमास्टर आएगा।'

पता नहीं उसने कब कहा था; लेकिन जब कह रहा है तो अवश्य ही कहा होगा। वह ऐसी बातों को भी भूल सकता है, ऐसा इलज़ाम उसके दुश्मन भी उस पर नहीं लगा सकते। कोर्स नहीं याद होता है, न सही; लेकिन जनरुचि विषयक छोटी से छोटी बात को भी, वह अपनी छः वर्ष की उम्र से लेकर आज सोलह वर्ष की उम्र तक—जब कि वह मैट्रिकुलेशन का एक विद्यार्थी है, नहीं भूल सका है।

इसीलिए मैंने धीरे से स्वीकार कर लिया कि उसने कहा होगा, लेकिन मैं भूल गया हूँ।

'अच्छा, तुम्हारे नए हेडमास्टर साहब कैसे हैं?"—मैंने पूछा।

'कैसे हैं, यह तो अभी ठीक नहीं कहा जा सकता। लेकिन एक बात अच्छी नहीं मालूम देती—उनका पोशाक-पहनावा हमें जँचा नहीं।'

'पोशाक-पहनावे से तुम्हें क्या लेना है, रे।'—मैंने ज़ोर से हँसते हुए कहा।

'वाह, लेना क्यों नहीं है? भला बिना कपड़े का रोब भी लगता है? हमारे पहले हेडमास्टर साहब ऐसे-ऐसे सूट पहनते थे कि बस। उस दूसरे स्कूल के हेडमास्टर के पास एक भी वैसा निकल जाय तो कहूँ। लेकिन अब तो उस स्कूल के लड़के हम लोगों को जीने ही नहीं देंगे। हेडमास्टर को हेडमास्टर की सूरत में रहना चाहिए।'

'लेकिन, बन्दर, बता तो क्या वे लँगोट पहन कर आते हैं, या नङ्गे ही आते हैं?'

'आप तो भैया, हँसी कर रहे हैं। एक खद्दर की मोटी से मोटी धोती, एक पुराने तरह का बन्द गले का कोट, और सिर पर गाँधी कैप। हेडमास्टर न हुए, कॉङ्ग्रेस के वालण्टियरों के प्रधान हुए।'

सचमुच ही, मुझे भी कुछ कम आश्चर्य नहीं हुआ।

'अच्छा, उम्र क्या होगी?'—मैंने कुतूहल से पूछा।

'मैं समझता हूँ, ३०-३५ की होगी। लेकिन तबीयत तो शायद ८० वर्ष के बूढ़े की मिली है। मुझे डर है, लड़के उन्हें बनाना न शुरू कर दें।'

'हाँ, क्यों नहीं; ऐसे ही लायक़ तो तुम लोग हो। अच्छा, अन्दर जाओ। पानी-वानी पीओ'—यह कह कर मैंने 'कट्टो' की सुधि लेने की सोची।

इसके बाद कुछ दिन बीत गये। एक तो मुझे योंही किसी नए व्यक्ति के विषय में विशेष सचेष्ट उत्सुकता नहीं होती फिर ऐसे व्यक्ति के लिये जो शहर में केवल कुछ ही महीनों के लिए है, मेरे मन में स्पष्ट उदासीनता के भाव के सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता था। मुझे जान पड़ता है, रमेश ने भी मेरी इस उदासीनता को तोड़ने का कोई वैसा प्रयत्न नहीं किया। सम्भव है, छोटे-मोटे प्रयत्न छोटी-मोटी बातों के रूप में हुए हों, परन्तु जब याद ही नहीं हैं तो उनका असर ही भला क्या हो सकता है!

उन दिनों अख़बारों में केवल एक ही चर्चा रहा करती थी—कॉङ्ग्रेस वाले मंत्रिपद नहीं लेंगे, क्योंकि लाट साहब लोग आश्वासन कभी नहीं देंगे। १ली अप्रैल से Interim Ministry का ही बड़ा शोर-गुल था।

मैं 'गोदान' लिए बैठा था। क़रीब-क़रीब ख़तम हो चुका था, दो-एक पन्ने बाक़ी थे। 'होरी' का तमाम जीवन मेरे सामने था—फिर भी ऐसा जान पड़ता था जैसे

मैं इसे अच्छी तरह हृदयङ्गम नहीं कर सका हूँ। जैसे उसका वह जीवन केवल एक क़िस्सा है, उसके दुःख-सुख भी बहुत ज़्यादा कल्पना के उपकरणों से ही बने हैं!

होरी से बहुत अधिक मैं 'मेहता' को समझ सकता हूँ और इसीलिए मैंने उसे सहानुभूतिपूर्वक समझने की चेष्टा भी की। जैसे प्रोफ़ेसर मेहता का जीवन अधिक परिचित-सा, अधिक देखा हुआ हो। लेकिन लेखक ने जो सबसे अधिक स्नेह और यत्नपूर्वक होरी का ही चरित्र खींचा है, यह क्यों? इतने अधिक काल्पनिक चरित्र पर इतनी अधिक सहृदयतापूर्ण सावधानी व्यय करने से लेखक का क्या मतलब है? यही है न कि होरी ही सत्य है, सम्पूर्ण है, क्योंकि शायद, वही भारत का प्रतिनिधि चरित्र है! लेकिन कोशिश करने पर भी तो मैं उस संसार को एक आत्मीय-सा नहीं देख पा रहा हूँ, जिसका प्रतिबिम्ब ही होरी का सारा जीवन है!...आज सोचता हूँ, शहर ने एक दिन देहात देखना चाहा था। देखना ही नहीं, आत्मीय-सा होना चाहा था—'अहम्' छोड़कर नहीं, पूरे आडम्बर के साथ!

ख़ैर, 'गोदान' की अन्तिम लाइन पर पहुँचते-पहुँचते मई महीने के पहले रविवार को बैठा-बैठा मैं यही सोच रहा था कि चपरासी ने आकर एक लिफ़ाफ़ा और एक Pion book टेबुल पर रख दिया। जब दस्तख़त लेकर वह बाहर चला गया तो मैंने लिफ़ाफ़ा खोला। देखा—लेफ़्टिनेण्ट कर्नल दत्ता, सेन्ट्रल जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट, का भेजा हुआ निमन्त्रण-पत्र है। हमारे प्रान्त के अल्पमत के प्रधान मन्त्री (Interim chief minister) के स्वागत के लिए जो जेल के मैदान में जलसा होने वाला है, उसी में सम्मिलित होने के लिए मुझे भी निमन्त्रित किया गया था। वक़्त दिया गया था ५ बजे सन्ध्या।

वक़्त से बहुत पहले ही मैं और पिता जी अपनी कार पर बैठकर जेल पहुँचे। मि० दत्त ने बड़े आदर से स्वागत किया। मैं तो मिसेज़ दत्त के साथ बैठकर इधर-उधर की बातें करने लगा और पिता जी मि० दत्त तथा कुछ और चुने हुए लोगों के साथ स्टेशन चले गये। इस बीच में और निमन्त्रित लोग भी आते गये और यथास्थान बैठते गये। पाँच बजते-बजते मन्त्री महोदय की कार आ पहुँची। हम सभी लोग फाटक पर जाकर स्वागत कर उन्हें अन्दर लिवा लाए। मिसेज़ दत्त ने जानने योग्य सभी व्यक्तियों का बारी-बारी से प्रधान मन्त्री से परिचय कराया। फिर शिष्टाचारपूर्ण कार्रवाई प्रारम्भ हुई। जो कह सके, और जिन्हें कहने की आज्ञा मिली, उन्होंने चुने शब्दों में मन्त्री महोदय का खुले हृदय से स्वागत किया। प्रायः सबके कहने का एक ही तात्पर्य था—कॉङ्ग्रेस वालों ने तो राज्य-शासन डुबो ही दिया था, लेकिन आप ही जैसे कतिपय दृढ़ स्वावलम्बी देशभक्तों ने प्रान्त और देश को ऐसे बेवक़्त पर बचा लिया, आदि-आदि।

प्रधान मन्त्री ने भी कॉङ्ग्रेस को चुने हुए शब्दों में कुछ 'कटु सत्य' सुनाकर और हम लोगों से सहानुभूति की आशा प्रकट कर अपना स्थान ग्रहण किया।

यह घटना स्वयं इतनी विशेषता नहीं रखती और शायद आज इसे इस रूप में लिखने की आवश्यकता भी नहीं होती, यदि इसके साथ ही उस व्यक्ति का भी सम्बन्ध न आ जुड़ता, जिसके द्वारा ही उस सत्य का एक दिन स्पष्टीकरण मेरे सामने हुआ था। आज सोचता हूँ, संसार की कौन सी बात छोटी है और कौन सी बड़ी है, इसे जानने का हमारा मापदण्ड क्या है? संसार की छोटी से छोटी घटना क्या छोटी होने से ही नगण्य है? जिसे हम नगण्य कह कर उपेक्षा की दृष्टि से देख कर आगे बढ़ जाते हैं, वह हमारी इस उपेक्षा के योग्य है या नहीं, इस तरह का विचार तो हमें उस समय नहीं होता! लेकिन कालान्तर में जब अचानक एक 'सत्य' स्पष्ट रूप में आकर हमारे मार्ग के बीच में खड़ा हो जाता है और जब हम उस सत्य के विकास-गति पर विचार करने लग जाते हैं, तभी जैसे कोई उँगली पकड़ कर बतला देता है कि देखो न, जिसे तुमने नगण्य समझा था, उपेक्षा की थी, उसी में तो इस 'सत्य' का स्पष्ट रूप निहित था? यदि तुम नहीं समझ सके तो इसमें उसका क्या दोष, उसकी नगण्यता का भी क्या दोष! ख़ैर, इसे जाने दीजिए!







प्रधान मन्त्री आए और चले भी गये, लेकिन इस आने-जाने के कारण जो मेरे छोटे से शहर में एक तूफ़ान-सा उठ खड़ा हो गया, वह मेरे मानस-पटल पर आज भी बाद की घटनाओं के कारण और भी स्पष्ट होकर अङ्कित हो गया है। दूसरे ही दिन सन्ध्या को चाय पीते-पीते इसी जलसे की चर्चा छिड़ गयी। पिता जी ने प्याले में चम्मच घुमाते-घुमाते कहा—जानते हो सुरेश, रमेश के नये हेडमास्टर किस तरह के आदमी हैं ?

मैंने आश्चर्य में आकर सिर उठाया—यह प्रश्न कैसा ? और इसकी आवश्यकता ही कैसे आ पड़ी ? फिर भी मैं चुप रहा—मैं जानता हूँ, पिता जी किस तरह के प्रश्न का उत्तर सुनना चाहते हैं और किस तरह के प्रश्न का उत्तर स्वयं ही देना पसन्द करते हैं।

एक घूँट चाय पीकर प्याला रखते हुए उन्होंने कहा—कुछ भी हो, आदमी होशियार तो नहीं कहे जा सकते !

अब तो श्रोता भी अपने को अपने शुद्ध कार्य—चुप्पी—से स्खलित होने से नहीं रोक सका। हिचकते हुए पूछ ही बैठा—क्यों, बात क्या हुई है ?...

थोड़ी देर रुक कर पिता जी ने कहा—बात कोई ऐसी ख़ास नहीं हुई है, फिर भी अधिकारी और अनु-अधिकारी वर्ग को उनके विषय में आलोचना करने का, उनके विषय में नाना तरह की कल्पनाओं-जल्पनाओं की सृष्टि करने का मौक़ा तो मिल ही गया। और इस तरह का मौक़ा देना तो बुद्धिमानी है नहीं !

मैं अब भी यह नहीं समझ सका कि आख़िर बात क्या है। रमेश के हेडमास्टर से कौन सी ऐसी ग़लती हुई कि तमाम अधिकारी और अनु-अधिकारी वर्ग संसार की सारी बातें छोड़कर, केवल उन्हीं के विषय में सोचते-सोचते अधमरे से हो रहे हैं ! लेकिन बाद में, चाय के टेबुल से उठते-उठते मुझे सभी बातें मालूम हो गयीं। मालूम हुआ—प्रधान मन्त्री वाले जलसे में, निमन्त्रित होते हुए भी, वे नहीं सम्मिलित हुए थे ! क्यों नहीं हुए ? इस 'क्यों' का ही उत्तर प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी तबियत के अनुसार, निश्चित कर रहा था, और मुझे यह प्याले में तूफ़ान पैदा करने सा प्रतीत हुआ। फिर भी मैं अपने मन में कुछ न कुछ इस विषय में सोचकर निश्चित करने से नहीं चूका। सोचा—इस व्यक्ति का जलसे में शामिल होने में चाहे जो भी मतलब क्यों न हो, और चाहे कुछ देर के लिये, 'सड़क के लोगों' की दृष्टि में वह 'हीरो' ही क्यों न हो जाय, लेकिन उसका यह कार्य और चाहे जो हो, बुद्धिमानी का सूचक तो नहीं ही है !

इसी समय रमेश की उस दिन की कही हुई बात याद आयी—उसके हेडमास्टर के पहनावे के विषय में। इस 'क्यों' को समझने के लिए इस सूत्र को सम्मुख रखने की कितनी आवश्यकता है, यह सोचकर मैंने मन ही मन अपने इस नए ज्ञान को ढूँढ़ निकालने की सफलता पर, अपने को बधाई दी !......आज सोचता हूँ, मैंने बधाई देने में कितनी जल्दबाज़ी की। लेकिन इसको जाने दीजिए।

बात स्वयं कोई बड़ी नहीं होते हुए भी जो इतनी बड़ी हो उठी थी, उसका भी एक कारण है।—रमेश का स्कूल बहुत दिनों से सरकारी सहायता पाता चला आ रहा है, और सदा से ही उसकी मैनेजिंग कमेटी में सरकारी अफ़सर और सरकारी नौकरी से अवसर प्राप्त लोग ही रहते आये हैं। प्रशंसा-पत्र आदि देख कर ही जो कमेटी ने इतनी बड़ी ग़लती की थी कि बिना 'इराटरव्यू' लिए ही इस 'अजीब' से हेडमास्टर को नियुक्त कर दिया था, उस ग़लती पर वह आँख मूँद लेने ही वाली थी कि पुनः इतने बड़े आकस्मिक 'अपमान' ने उसे अपनी बन्द होती हुई आँखों को फिर से विस्फारित करने को बाध्य किया ! पता नहीं, इस नेत्र-विस्फारण से एक दूसरा कामदेवमारक यज्ञ इस कलियुग में भी सम्पूर्ण होता या नहीं, परन्तु फिर भी यदि स्कूल शीघ्र ही ग्रीष्म-अवकास के लिए बन्द नहीं हो जाता, तो इस विषय को लेकर जो अप्रिय तनातनी उठ खड़ी होती उसका दुष्परिणाम अवश्य ही किसी न किसी रूप में प्रकट होता।

पर छुट्टी हो जाने से यह तूफ़ान आप ही आप साफ़ हो गया। मैनेजिङ्ग कमेटी ने भी सोचा होगा, आख़िर पाँच-सात महीनों का ही तो मामला है।

२

राँची से लौट कर अपने सब डिवीज़न वाले शहर में आए पाँच-सात दिन हुए थे। जुलाई के पहले हफ़्ते की कोई तारीख़ थी—दिन शायद शनिश्चर था। नए 'मॉडर्न रिव्यू' (Modern Review) को उलट-पलट रहा था; कुछ पढ़ने के पहले चित्र देख लेना चाहता था। रङ्गीन भी थे, सादे भी थे; तूलिका-उद्भूत भी थे और 'कैमेरा' के 'लेन्स' से निकले हुए भी थे। बीच में पहुँचते-पहुँचते एक व्यक्ति की तस्वीर मिली—औसत दर्जे का व्यक्तित्व, आकर्षक नहीं, नवीन भी नहीं। तस्वीर देख कर उलटने ही जा रहा था कि उसके नीचे लिखी बात पढ़ते-पढ़ते रुक गया। लिखा था—"नलिनीरञ्जन राय एम० ए०, आप हमारे पाठकों के लिए नए होकर भी सर्वथा अपरिचित नहीं हैं। दो-तीन साल पहले इनके दो-एक लेख 'मॉडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुए थे, लोगों ने पसन्द भी किया था। कई साल बाद इन्होंने फिर लिखना आरम्भ किया है। हमें हर्ष है कि अब ये बराबर इन पत्रों में आते रहेंगे। इन्होंने एक 'सिरीज़' ही लिखी है, जिसका पहला लेख इस अङ्क में अन्यत्र प्रकाशित है। शीर्षक है, 'कला और नैतिकता'......"

शीघ्र ही मैंने उस लेख को ढूँढ़ निकाला—

"मनुष्य अपने आप में सम्पूर्ण नहीं है—न भीतर, न बाहर। फिर भी पहले उसको बाहर अधिक विस्तृत, अधिक आकर्षक मालूम हुआ। उसने सोचा—शायद मेरी यह भूख, जो इस असम्पूर्णता के कारण उत्पन्न हुई है, 'बाहर' की विशालता से मिट जाय, उसमें खो जाय। वह, बेचारा बुभुक्षित, बाहर को ओर दौड़ा। लेकिन उसने यह नहीं सोचा कि उसी की तरह उसका पड़ोसी भी तो दौड़ेगा। आख़िर वही हुआ। दोनों का सर टकराया—भूख भी नहीं मिटी, सर-दर्द भी मिला। लेकिन भूख तो मिटानी ही होगी, सम्पूर्णता प्राप्त की चेष्टा तो रहेगी ही। हाँ, ऐसा किया जा सकता है कि सिर टकराने का मौक़ा न रहे, या यदि रहे भी तो उसकी सम्भावना न्यूनतम हो जाय। इसी सामूहिक जीवन-यापन की सहूलियत को लेकर ही 'नैतिकता' की उत्पत्ति हुई। और कला?

बाह्य की विशालता में भी सम्पूर्णता न पाकर मनुष्य 'भीतर' की ओर मुड़ा। उसने शीघ्र ही देखा कि 'भीतर' 'बाहर' से अधिक विस्तृत, अधिक व्यापक है। इसलिए यदि 'सम्पूर्णता' कहीं हो सकती है तो यहीं होगी। इसी अपने आप में सम्पूर्णता ढूँढ़ने की अभिलाषा ने ही उस वस्तु को जन्म दिया जिसे हम 'कला' कहते हैं। लेकिन इन सैकड़ों, हज़ारों वर्षों के प्रयत्न ने भी क्या इस 'सम्पूर्णता' को ढूँढ़ पाया है? जो यह समझते हैं कि सम्पूर्णता मिलने के बाद भी 'कला' जीवित रहेगी, वे भयङ्कर भूल कर रहे हैं। कला की उत्पत्ति और विकास सम्पूर्णता में नहीं, असंपूर्णता में है, सम्पूर्णता ढूँढ़ने की अतृप्त अभिलाषा में है। सम्पूर्णता का अर्थ है—तृप्ति, और तृप्ति के मानी हैं कला का ह्रास ...।"

लेख पढ़ते-पढ़ते मेरा मन लेखक के प्रति एक आत्मीयता की उत्कट अभिलाषा से भर गया। हठात् मेरी आँखें उस पूर्व के देखे हुए फ़ोटो को फिर से देखने लगीं। कुछ ही क्षण पहले के उस नीरस व्यक्तित्व में मेरा मुग्ध मन कुछ न कुछ सरस महानता ढूँढ़ने लगा—आँखें कितनी भीतर प्रवेश करने वाली हैं! और पतले, दृढ़ता से चिपके ओठ, मानों ज़बर्दस्त इच्छाशक्ति का परिचय दे रहे हैं!

इस तरह का अन्वेषण-कार्य कितनी देर तक चलता रहा, पता नहीं। इतने में रमेश ने आकर हल्ला मचाया—'अमर-ज्योति' देखने चलिए।

मैंने सिर उठाकर देखा। वह और भी समीप आकर कहने लगा—भैया, आज आप अवश्य चलें। बड़ी अच्छी फ़िल्म है। आप नहीं चलेंगे तो बाबू जी मुझे अकेले नहीं जाने देंगे।

मैंने एक बार फिर उस 'मॉडर्न रिव्यू' वाले फ़ोटो की ओर देखा। रमेश ठुमकता हुआ उसे बन्द करने चला। अचानक तस्वीर देखकर जैसे रुक गया।

'यह तो मेरे हेडमास्टर साहब की तस्वीर मालूम होती है।'

मैंने आश्चर्यित होकर पूछा—'किस हेडमास्टर की, रे!'

'यही आजकल वाले नए हेडमास्टर की ।—अच्छा, भैया, इनका फ़ोटो क्यों निकला है ?'

मैंने कुछ जवाब न देकर, उसके साथ सिनेमा चलने की हामी भरकर उसे विदा किया। सिनेमा जाते समय, रास्ते में, मैंने पूछा —'क्यों रमेश, तुम्हारे हेडमास्टर साहब बहुत पढ़ते हैं क्या ?'

रमेश ने कुछ आश्चर्यित होकर कहा—'हाँ तो! बहुत पढ़ते हैं। बहुत किताबें भी रखते हैं। आप जैसा ही!'

'मेरे जैसा!'—मैं मन ही मन मुसकराया।

सिनेमा से लौटने पर, रात के पिछले घण्टों तक, मेरे मन में केवल यही था कि किसी तरह इस व्यक्ति से परिचय प्राप्त करूँ। लेकिन इस मार्ग में व्यक्तिगत बाधाएँ भी कुछ कम नहीं थीं। आज तक मैंने किसी से ढूँढ़कर परिचय नहीं प्राप्त किया है, परिचय प्राप्त करने की अभिलाषा भी नहीं होने दी है। रमेश के बड़े भाई की हैसियत से बड़ी आसानी से प्रवेश हो सकता है, और वह वाह्य में कुछ अनुचित भी नहीं होगा। फिर भी वास्तविकता को एक झूठे बहाने के सिर मढ़ने में जी हिचकिचाया। और, फिर यह भी ख़याल आया यह व्यक्ति अभी तक अकेला ही है, किसी के साथ अभी उठने-बैठने का सम्बन्ध भी स्थापित नहीं हो पाया है। तो, मैं ही यदि उसके जीवन में पैठ जाऊँ तो कैसा हो!

लेकिन उस आत्मीयता प्राप्त करने वाली मेरी एकान्त अभिलाषा को दूर ठेलकर जो एक कौटुम्बिक आवश्यकता उठ खड़ी हो गयी, उसने ही मुझे भी लाहौर भेज दिया। लाहौर में मुझे दो हफ़्ते से अधिक ही ठहरना पड़ गया। इस बीच में हिन्दुस्तान के राजनैतिक जीवन में एक अजीब ही रद्दोबदल पेश हो गया। कॉङ्ग्रेस ने वायसराय के वक्तव्य पर बहुत ज़्यादा सन्तोष नहीं प्रकट करते हुए भी मन्त्रिपद स्वीकार करने की नीति घोषित कर दी। शीघ्र ही छः प्रान्तों में कॉङ्ग्रेस मन्त्रि-मण्डलों की धूम मच गयी। किसानों ने कुछ उग्र रूप धारण किया, ज़मींदार आत्म-रक्षा के लिए तैयारी करने लगे। कुछ दिनों के लिए जो अधिकार-अस्पष्टता का असन्तोष इन प्रान्तों के जीवन में प्रविष्ट कर गया वह तो था ही, लेकिन जिसने विद्यार्थी-समुदाय और नवयुवक बौद्धिक-वर्ग (Young intelligentia) को अजीब झगड़े में डाल दिया, वह थी राष्ट्रीय झण्डे की बात। पत्रों में अपने प्रान्त की भी घटनाएँ पढ़ा करता और कुछ-कुछ सोचा करता।

लाहौर से वापस आने पर मैंने देखा कि हमारे शहर का जीवन कम से कम सतह पर तो अवश्य ही उद्वेलित हो उठा है, बहुत कुछ परिवर्त्तित भी हो गया है। मानव-स्वभाव के अध्ययन की सामग्री एक साथ ही इतनी प्रचुर मात्रा में मेरे सामने आ गयी कि मैं तो चकित रह गया। ग़रीबों ने, कॉङ्ग्रेस की 'जय' मनायी, यह तो आश्चर्य-जनक नहीं, लेकिन वे लोग जिन्होंने जीवन में कॉङ्ग्रेस को केवल गालियाँ ही दी थीं, आज पुराने कॉङ्ग्रेस-जनों से भी अधिक उत्साहपूर्ण और प्रसन्न दिखलाई पड़ते थे, मानों उनका कॉङ्ग्रेस-प्रेम जो इतने दिनों तक प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर दबा हुआ था, आज अनुकूल अवसर पाकर सहस्र गुना होकर सारे देश को प्लावित कर देगा! परिणाम-स्वरूप सभी सार्वजनिक या अर्ध-सार्वजनिक संस्थाओं की इमारतों पर राष्ट्रीय झण्डे फहराये जाने लगे। भला इससे बढ़कर और कौन सा साधन था, जिससे इन संस्थाओं के सरकारी और नीम-सरकारी सञ्चालक अपना कॉङ्ग्रेस-प्रेम प्रकट कर सकते!—और यदि आप उनके कुछ दिन पहले के कार्यों और मनोभावों पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देना चाहते हैं, तो आप भयङ्कर भूल कर रहे हैं। क्या बाल्मीकि पहले व्याध नहीं थे ?

जब शहर में तमाम झण्डा लगाए जाने योग्य इमारतों और संस्थाओं पर झण्डे फहराने लगे, और जब इन नए कॉङ्ग्रेस-प्रेमियों ने गर्व से अपने इन पिछले दिनों के कार्य पर सन्तोष की दृष्टि डालनी चाही, तभी जैसे उन्हें एक बहुत बड़ा धक्का-सा लगा और यह धक्का भी ऐसी अप्रत्याशित दिशा से आया कि लोग थोड़ी देर के लिए भौंचक से रह गये। जिस इमारत पर झण्डा सब से पहले लगना चाहिए था, यहाँ तक कि जिसके लगने

की निश्चितता को लोगों ने बिना किसी सोच-विचार के ही मान लिया था, उसी के मस्तक को पताका-शून्य देखकर भला किसे नहीं आश्चर्य होगा।

और इसमें जनता का भी क्या दोष ? जिस दिन छन-छनकर यह खबर लोगों तक पहुँची थी कि 'टाउन-स्कूल' के नए हेडमास्टर उस जेल वाले जलसे में नहीं शामिल हुए, और उसी दिन जब उनके खद्दर के मोटेपन और रुखड़ेपन की अतिशयोक्तिपूर्ण मात्रा का विवरण सारे शहर में बिजली की तरह फैल गया, तभी से लोगों ने इस हेडमास्टर को एक नई नज़र से देखना प्रारम्भ कर दिया था। इसीलिए जब लोगों ने अपने बनाये हुए उस आदेश से उन्हें नीचे गिरते देखा तो वे स्तब्ध रह गये। यह स्तब्धता थोड़े ही समय बाद एक झुँझलाहट में परिणत हो गई। लेकिन यह झुँझलाहट तो किसी पर उतारनी ही पड़ेगी, और जब उस झुँझलाहट का कारण स्वयं उपस्थित ही है तो इसे उतारने के लिए दूर जाने की क्या जरूरत है !

उनकी झुँझलाहट और भी बढ़ी, जब लोगों ने सुना कि 'मैनेजिङ्ग कमेटी' के सभी सदस्य झण्डा लगाने के पक्ष में हैं—(क्योंकि, यदि पक्ष में न होते तो उस दूसरे स्कूल में यह बात कैसे हो सकती थी, जिसकी मैनेजिङ्ग कमेटी में भी प्रायः ये ही सदस्य हैं !)—केवल हेड-मास्टर को initiative लेने की आवश्यकता है। ऐसी हालत में जब झण्डा नहीं फहराया गया तब तो यही न नतीजा निकलता है कि यह खद्दर में लिपटा हुआ ग़ुलाम व्यक्ति ही इसमें सबसे बड़ी बाधा है !

लेकिन जब लोगों ने हेडमास्टर का इस विषय में तर्क सुना तब तो वे पागल से हो उठे। उस तर्क और उसके साथ की विवरणात्मक घटना का संक्षिप्त रूप यह है—

जब तक मुख़्तारखाना, वकीलखाना और ऐसे ही अन्य खानों पर तिरङ्गा झण्डा फहराया गया तब तक रमेश के स्कूल के लड़के किसी तरह अपनी उत्सुकता और जोश को छाती के भीतर दबाए रहे, किन्तु जब उनकी आँखों के सामने ही उस दूसरे स्कूल के मस्तक को भेद कर राष्ट्रीय पताका अभिमान से फहराने लगी तब तो उन बालकों की कमज़ोर छाती किसी तरह भी अपने भीतर के दुर्दमनीय जोश को सँभाल सकने में समर्थ न हो सकी। आख़िर हेडमास्टर के पास ऊँचे क्लास के लड़कों का इस सम्बन्ध में प्रार्थना-पत्र पहुँचा ही। हेडमास्टर ने प्रार्थना-पत्र तो रख लिया, लेकिन क्लास में, अपने घण्टे में, उन्होंने इसकी चर्चा उठाई। उन्होंने पैठते ही पूछा—तुम लोगों में से कौन-कौन झण्डा फहराना चाहता है ?

कोई जवाब नहीं। एक सहज डर का भाव सबके चेहरे पर छा गया।

उन्होंने अब मुसकराते हुए फिर कहा—तुम लोग डरते क्यों हो ? मैं आज तुम लोगों से कुछ दोस्ताना तरीक़े पर बात करना चाहता हूँ।—हाँ, तो तुम लोग झण्डा फहराना क्यों चाहते हो ?

किसी ने रुकते हुए कहा—'उस' स्कूल पर फहराया गया है इसलिए।

"केवल इसीलिए !"

"यह हमारा राष्ट्रीय झण्डा है, इसलिए इसकी इज्ज़त करना हमारा पवित्र धर्म है।"

किसी दूसरे ने किसी नेता का उद्धरण-सा देते हुए कहा।

"ठीक है, परन्तु मैं पूछ सकता हूँ कि हमारा यह धर्म कहाँ समाप्त होता है ?"

सब चुप।

उन्होंने अपने को और भी स्पष्ट करते हुए कहा— शायद तुम लोग समझे नहीं। आज जो तुम लोग झण्डा फहरा कर इसकी इज्ज़त करने जा रहे हो, उस इज़्ज़त करने की भावना की गम्भीरता और स्थिरता किस सीमा तक है, यही मेरे जानने का विषय है। झण्डा फहरा देने ही से तो हमारी जिम्मेदारी खतम नहीं हो जाती। यह झण्डा राष्ट्र की अभिलाषाओं तथा पुनीत भावनाओं का मूर्त स्वरूप है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में जो भी सत्य है, मङ्गलप्रद तथा सुन्दर है, उसका प्रतीक ही तो हमारी यह पताका है। जब हम झण्डा फहराएँ तो हमें इन बातों को नहीं भूलना होगा, भूलना उचित भी नहीं होगा। इसी से मैं

यह पूछता हूँ, क्या तुमने कभी झण्डे के विषय में इस रूप से सोचने की चेष्टा की है ? कोई भी काम करते समय हमें अपनी जिम्मेवारी समझ लेनी चाहिए, व्यक्तिगत भी और सामाजिक भी। मेरा जिम्मेदारी से यह मतलब नहीं है कि इन्सपेक्टर साहब क्या कहेंगे, और अन्य अधिकारी-वर्ग क्या कहेंगे। वे क्या कहेंगे, यह आज एक बच्चा भी समझता है। मेरे कहने का मतलब यह है कि क्या तुम अपने इस आरोपित किए झण्डे की मर्यादा रख सकोगे—शब्दों में ही नहीं, अर्थ में भी। कोई भी साधारण बुद्धि रखने वाला यह बात समझता है कि कॉङ्गरेस मिनिस्टरी हमेशा के लिए रहने नहीं जा रही है।—स्वराज्य-प्राप्ति की लड़ाई मन्त्रियों द्वारा नहीं चल सकती, यह सभी जानते हैं। इसीलिए मैं पूछता हूँ, जब कॉङ्गरेस-जन जेल जा रहे होंगे, और जब पुलिस आकर इस झण्डे को अपमानित कर रही होगी—(क्योंकि यही होना अवश्यम्भावी है)—तो उस समय तुम क्या करोगे। राष्ट्रीय झण्डे की प्रतिष्ठा, किसी ख़ास मन्त्रिमण्डल पर नहीं, तुम्हारे सचेष्ट दृढ़ आचरण पर निर्भर है। तब, उस दिन क्या तुम्हारी यह इज्ज़त करने वाली भावना सिर उठा सकेगी ? क्या तुम उस समय झण्डे को अपमानित होने से बचाने की सक्रिय चेष्टा करोगे ? यदि हाँ, तो तुम शौक़ से झण्डा फहरा सकते हो।...जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत ताल्लुक़ है, मैं ख़याल करता हूँ, शायद मुझमें इतनी हिम्मत नहीं है।

इसके बाद उन्होंने लड़कों को घर जाकर सोचने का मौक़ा दिया।

लड़कों ने इसपर कुछ सोचा या नहीं, सो तो मालूम नहीं, लेकिन उन्हें सन्तोष तो बिलकुल ही नहीं हुआ। स्थानीय कॉङ्गरेस-दल में तथा सनसनी-पसन्द जनता में उस बात की बड़े ज़ोरों से चर्चा चली। प्रायः सबने एक स्वर से यही तय किया कि हेडमास्टर बुज़दिल है, जैसा कि उसने स्वयं ही लड़कों के सामने स्वीकार किया है। ऐसे कायर आदमी को खद्दर अपवित्र करने का कोई हक़ नहीं है। और...

शाम को एक बड़ा भारी जुलूस निकला, जिसमें काफ़ी आदमी थे, लड़के भी थे। शहर भर में 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' के नारे लगाये गये, 'खद्दर-पोश ग़ुलाम की जय' मनायी गयी। हेडमास्टर के बङ्गले के समीप तो 'जय' के नारे और ऊँचे हो उठे और जुलूस ने अपने बहुमूल्य समय का काफ़ी अंश वहीं लगा दिया।

इसके दूसरे दिन क्या हुआ, यह बताना आसान नहीं। हमारे छोटे शहर का विशाल जोश उस सीमा पर था, जैसे १९३० का सत्याग्रह आन्दोलन अथवा १९३६ का चुनाव हो। उचित अनुचित की मीमांसा तो वहाँ करनी नहीं थी। देश-द्रोही शिक्षक देश का सबसे बड़ा पाप है, यह सत्य इतने स्पष्ट रूप में शहर के सामने प्रकट हो गया था कि उससे बचने की कोई गुञ्जाइश नहीं थी! दूसरे दिन हड़ताल तो हुई ही। अख़बारों में बाद में पढ़ा कि लड़कों में हेडमास्टर के झण्डा न गाड़ने देने के निर्णय को लेकर बड़ा असन्तोष है। आज मुझसे बढ़ कर इस बात को कौन अधिक जानता है कि असन्तोष कहाँ था! ख़ैर, इसे जाने दीजिए।

मैं तो ऐसा घबड़ा सा गया था कि कुछ समझ ही में नहीं आता था। रमेश से पूछने पर भी विशेष कुछ स्पष्ट नहीं हो सका। क्लास में कहे उनके चन्द वाक्यों में मैं तो ढूँढ़ कर भी ऐसी कोई बात नहीं पा सका जिससे जनता के इस क्रुद्ध असन्तोष को समझने में समर्थ हो सकूँ। और अधिक सोचने का भी तो अवसर नहीं मिल सका! मिले भी कैसे ? घटनाएँ इतनी तेज़ी से, नाटक की घटनाओं की सी, आगे बढ़ती जाती थीं कि उनके अनुगमन करने का ही समय नहीं था, समझना तो दूर की बात है।

लेकिन अभी तो इससे भी बड़ा आश्चर्य मेरे भाग्य में था। हड़ताल के दूसरे ही दिन, सुबह उठते ही, किसी से सुना कि हेडमास्टर ने स्तीफ़ा दे दिया! स्तीफ़ा दे दिया, किसने और क्यों ? मैं तो विह्वल सा थोड़ी देर देखता रहा।

फिर कब मैंने मोटर लाने के लिये कहा, और कब मोटर पर चढ़ कर हेडमास्टर के बँगले के लिए चल पड़ा, यह मुझे तब मालूम हुआ जब बँगले के हाते के बन्द फाटक ने मेरा रास्ता रोका।

जब मेरे शोफ़र ने हेडमास्टर के स्टेशन जाने की बात सुनायी, उस समय तक मैं अपने आप में आगया था। मोटर स्टेशन को चली। रास्ते में सोचता जाता था—इस समय तो किसी तरफ़ भी गाड़ी नहीं जाती, फिर अभी स्टेशन क्यों चले गये ?

दूसरे दर्जे के 'वेटिङ्ग रूम' में उन्हें पहचानने में मुझे कुछ भी दिक्क़त नहीं उठानी पड़ी। एक तो 'वेटिङ्ग रूम' में वे ही अकेले थे और फिर उनका वह 'मॉडर्न-रिव्यू' वाला फ़ोटो !

फ़ोटो वाले चेहरे से इस चेहरे में कुछ भी भेद नहीं था ; हाँ, ग़ौर से देखने पर कोई भी देख सकता था कि मुँह पर अस्पष्ट-से, कुछ खिन्नता के, कुछ थकावट के चिह्न अङ्कित हो गये हैं। मैंने घुसते ही अपना परिचय दिया और आज्ञा ले एक कुर्सी खींच कर उनके सामने बैठ गया। आज सोचता हूँ, वह मेरी चिरसङ्गिनी सहज झिझक कहाँ चली गयी—उस समय, जब मैंने उस अपरिचित व्यक्ति से परिचित-सा सम्भाषण करने का साहस किया था !

अपनी मीठी मुसकराहट से अनात्मीयता की सारी बाधाओं को दूर करते हुए उन्होंने एक खेद भरी सरलता से कहा--देखिये, यह भी एक तमाशे की बात है कि इन पिछले महीनों से एक ही स्थान पर रहते हुए भी हम लोग इसके पहले नहीं मिल सके।

मैंने कुछ हिचकते हुए कहा—और, यह भी कौन जानता था कि जब हम मिलेंगे भी तो इस अवस्था में !

"लेकिन इस अवस्था में जो इन कुछ ही क्षणों में हम एक दूसरे के इतने नजदीक हो गये हैं, यह भी क्या सोचने की बात नहीं है ?"—उन्होंने उसी तरह हँसते हुए कहा।

थोड़ी देर दोनों ही चुप रहे।

मैंने कुछ रुकते हुए शुरू किया—आपका वह लेख मैंने 'माडर्न रिव्यू' में पढ़ा था। आज उसके लिए आपको बधाई देने का साहस तो मुझमें नहीं रह गया है, परन्तु उसको भूल नहीं सकता। जैसे उसने ही मुझे आपका परिचय दे दिया। शायद यही कारण है कि आज मैं आपसे परिचित-सा बर्ताव करने का साहस कर सकता हूँ।... मैं किसी तरह की सफ़ाई नहीं चाहता, उचित-अनुचित की मीमांसा भी नहीं करना चाहता ; चाहता हूँ केवल अपनी इस उद्विग्न उत्सुकता की शान्ति। इसी से पूछने का साहस करता हूँ, जिससे इस नाटक-घटनावली को समझ सकने में समर्थ हो सकूँ। अपने शहर के लोगों के व्यवहार से मैं दुःखी हूँ, फिर भी स्तीफ़ा जैसी चीज कैसे सम्भव हो सकी, यह तो मेरी समझ में नहीं आता। यदि—

बात काट कर उन्होंने कहा—"ठीक है, मैं समझ गया आपकी बात। आप शायद सोचते होंगे कि मैंने लड़कों की हड़ताल से तथा शहर के लोगों के जोशीले प्रदर्शन से दुःखी होकर या अपमानित समझकर ही अपने पद से स्तीफ़ा दे दिया है। बात यह नहीं है। मुझे लड़कों को समझने का मौका मिला है। उन्होंने मेरी उस दिन की बातें नहीं समझीं, इसका कुछ खेद अवश्य है। और उस जोशीले प्रदर्शन के विषय में तो मेरी कोई विशेष दिलचस्पी थी नहीं। हाँ, समाज-विज्ञान और मनोविज्ञान के अध्ययन की सामग्री की दृष्टि से कुछ आकर्षित अवश्य हुआ था। व्यक्तिगत अपमान मेरे लिए न तो कोई विशेष महत्व रखता है, न यह मेरे चिन्तन का विषय है। लेकिन फिर भी पद की मर्यादा तो रखनी ही होगी, सुरेश बाबू ! यह पद तो व्यक्ति का नहीं, समाज का ही निश्चित किया हुआ है।"—यह कह कर जैसे उन्होंने अपनी दृष्टि अपने ही भीतर डाली।

थोड़ी ही देर रुक कर उन्होंने फिर कहा—"कल रात वाली मैनेजिङ्ग कमेटी की Emergent meeting में जो हेडमास्टर के पद की मर्यादा-हीनता की सक्रिय चेष्टा की गयी, वह तो व्यक्ति से अलग मेरे पद को अपमानित करने वाली थी। फिर स्तीफ़ा ही तो स्वाभाविक था, सुरेश बाबू !" यह कहकर वे जरा मुसकराए। उस मुसकराहट में अस्पष्ट-सी बहुत-सी चीजें थीं, परन्तु निश्चित कुछ भी नहीं।

कभी-कभी ऐसा समय होता है जब हम कहने से अधिक सुनना ही पसन्द करते हैं ; जब हमारे आस-पास का वातावरण कुछ भारी-सा, कुछ अवसाद विगलित-सा हो हमें गतिहीन, मूक-सा कर देता है। वह भी ऐसा ही

रहा था। मैं तो चुप था ही, वे भी रुक-रुक कर, जैसे कुछ टटोलते हुए-से, कहते और फिर चुप हो जाते। "देखिए न" वे कहने लगे, "आपने अभी कहा है कि अपने शहर के लोगों के आचरण के लिए आप दुःखी हैं।—लेकिन मैं तो दुःखी होने की कोई वैसी बात नहीं देखता! मैं पूछता हूँ, सुरेश बाबू—और स्वयं भी सोचता हूँ,—मेरे इस अभी-अभी खेले गए जीवन-नाटक में किसने, कहाँ, कैसे अपना पार्ट योग्यता के साथ नहीं किया, यह ढूँढ़ निकालना क्या कभी सम्भव हो सकेगा?"

"क्या पार्ट योग्यतापूर्वक खेलना ही सब कुछ है? हमारे जीवन में इस पार्ट का औचित्य है या नहीं, इसका विचार नहीं?"—मैंने कुछ उत्तेजनापूर्वक कहा। "सुरेश बाबू, आपकी जो यह उत्तेजना है, वह इस बात को लेकर ही है कि जीवन और नाटक दो भिन्न चीज़ें हैं। लेकिन, क्या वास्तव में इतनी भिन्नता है?... कुछ है भी, कुछ नहीं भी है—यह हमारे अपने दृष्टिकोण पर है। मैं मानता हूँ, हमारी अपनी परिस्थिति और मनोभावना दोनों अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न हैं—एक में हम दर्शक हैं और दूसरे में खुद पात्र, और वह भी शायद नाटक के पात्र से ज्यादा सजीव और सत्य। फिर भी क्या एक ऐसी अवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती—और मेरा तो विश्वास है कि वह कल्पना ही नहीं रह कर अनुभवगम्य भी हो सकती है—जहाँ यह अनैक्य अपनी तमाम विरोधी प्रवृत्तियों को छोड़ कर ऐक्य में परिवर्त्तित हो जाय!"

उनकी दृष्टि फिर अन्तर्मुखी हो गयी। खिड़की से बाहर, दूर की एक चरती हुई गाय पर नज़र रखते हुए से भी वे वास्तव में देख नहीं रहे थे। मैं चुप रहा। उसी तरह बाहर देखते हुए वे फिर कहने लगे—औचित्य-अनौचित्य, अच्छा-बुरा, गुण-दोष—ये शब्द भी अजीब झमेला में डालने वाले है।

फिर मेरी तरफ़ घूम कर उन्होंने कहा—अच्छा, सुरेश बाबू, आप स्वयं भी इन्हें समझ सके हैं, अच्छी तरह, सन्तोषजनक रूप में?

मैं चुप रहा। वे कहते गये—अपने उस 'मॉडर्न-रिव्यू' वाले लेख में मैंने 'नैतिकता' को समझने की थोड़ी-बहुत कोशिश की थी—उसका उद्गम-स्थान ढूँढ़ने की चेष्टा की थी। ये शब्द भी तो उसी 'नैतिकता' के ही विशाल साम्राज्य के प्राणी हैं। फिर जिस साम्राज्य की स्थापना ही सामूहिक जीवन-यापन की सहूलियत को लेकर हुई है, उसके ये प्राणी हममें से प्रत्येक के व्यक्तिगत जीवन के चौखट के भीतर पूरी तरह से न बैठ सकें तो इसमें व्यक्ति का क्या दोष? लेकिन नहीं, जब तक समाज है तब तक नैतिकता किसी न किसी रूप में रहेगी ही—चाहे वह religious morality हो, चाहे State morality। नाम भिन्न हो सकते हैं, परन्तु उनका मूलभूत आधार तो एक ही है—और वह है समाज। समाज से अलग, केवल व्यक्ति के लिए, नैतिकता की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन जो है, उसकी स्थिति को नहीं मानने से तो नहीं चल सकता। इसी से मैं कहता हूँ, आपको अपने शहर के व्यवहार पर जो नैतिक क्रोध हो रहा है, वह ग़लत नहीं तो क्या है? आप कहेंगे कि व्यक्ति का ही समष्टि रूप तो समाज है, और इस तरह के तर्क के आधार पर शायद कुछ दूर तक और भी बढ़े चले जाएँगे। लेकिन जो प्रधान बात है, वह यह है कि व्यक्ति का समष्टि रूप होते हुए भी वह इस तरह का समष्टि नहीं है जिस तरह १ से ३ का समष्टि ६ है। यह औसत (average) और केवल औसत का ही समष्टि है—यह बात न तो हमें भूलना ही चाहिए और न इसका भूलना किसी तरह श्रेयस्कर ही होगा।

"तब तो आपके इस परिभाषित समाज में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और विचार-स्वातन्त्र्य किसी तरह बैठ ही नहीं सकते।"—मैंने रुकते हुए शङ्का पेश की।

"न, बिलकुल नहीं।"—उन्होंने निश्चयात्मक स्वर में कहा—"समाज तभी तक व्यक्ति को किसी तरह की 'स्वतन्त्रता' देना सहन कर सकेगा जब तक व्यक्ति उसके बनाए हुए सामाजिक नियम—यानी नैतिकता के अन्तर्गत ही रहता है। उस निर्धारित सीमा का उल्लङ्घन समाज बर्दाश्त नहीं कर सकता—और जिस

दिन कभी ऐसा करने का मौक़ा आता है उस दिन पुराना समाज बिखर कर नये रूप में प्रकट हो जाता है, गद्दी खाली नहीं होने पाती। जो व्यक्ति उस पुराने समाज का नाश करता है, वही एक नये समाज के बनाने का साधन हो जाता है, जो वैसा ही निरङ्कुश, व्यक्तिविरोधी और अपरिवर्तनवादी होता है जैसा कि उसका पूर्वज। इस तरह समाज सदा चलता रहता है, और साथ ही साथ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा विचार-स्वातन्त्र्य जैसे शब्दों का उच्चारण भी करता जाता है!

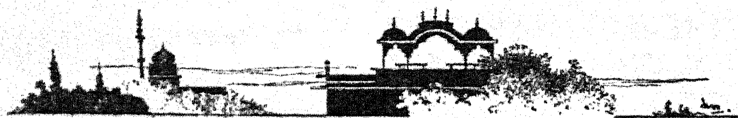
तब तक गाड़ी आ गई। मेरे शोफ़र द्वारा लाए टिकट को जेब में रखते हुए वे उठ खड़े हुए। मैं भी साथ-साथ चला। एक दूसरे क्लास की खिड़की के समीप वाले बर्थ पर वे बैठ गये। मैं बाहर ही खड़ा-खड़ा बातें करने लगा। गाड़ी खुलने में अब भी दस मिनट थे।

"क्या मैं पूछ सकता हूँ कि गाँधी के रामराज्य या कॉङ्ग्रेस के स्वराज्य हो जाने पर भी हमारे देश में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की कमी रहेगी ही?"—मैंने कहा। कुछ क्षण रुक कर उन्होंने कहा—देखिए सुरेश बाबू, आपके प्रश्न में दो बातें उठती हैं, जिनमें एक आदर्शमूलक है और दूसरी व्यावहारिक। गाँधी का रामराज्य एक ऐसी अस्पष्ट सी चीज़ है, जिसके विषय में स्वयं गाँधी भी ठीक नहीं कह सकते, जैसा कि मेरा अनुमान है। वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर गाँधी व्यक्तिवादी प्रतीत होते हैं, और, शायद हैं भी। इसलिए व्यक्तिवादी के बनाये हुए कल्पना-राज्य में तो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य रहेगा ही। लेकिन किसी भी देश में, किसी भी काल में, व्यक्तिवाद एक सामूहिक व्यावहारिक सिद्धान्त हो सकेगा, इसमें मुझे सन्देह है। इसलिए गाँधी के रामराज्य को कल्पना-लोक ही में रखना ठीक होगा—सुन्दर और आशाप्रद, परन्तु हमारे जीवन से अतीत। हाँ, स्वराज्य के विषय में ज़्यादा निश्चित रूप से कहा जा सकता है। और जो कुछ निश्चित है वह यह है कि हम उस काल में भले ही अच्छा खाना-कपड़ा पा सकें, परन्तु व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अपने शुद्ध रूप में उतनी ही दूर की चीज़ रहेगा जितनी कि आज। अचरज न करें सुरेश बाबू, कॉङ्ग्रेस-पार्टी के नाम से कहिये या चाहे जिस नाम से पुकारिए, ये सभी शब्द एक ख़ास समाज के पर्यायवाची शब्द हैं। और अपने मूलभूत उपकरणों के कारण कोई भी समाज व्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं सहन कर सकता—चाहे वह कॉङ्ग्रेस हो या वर्तमान नौकरशाही हो।

इसी समय गार्ड की सीटी सुनाई पड़ी। चलते-चलते भी उन्होंने मुसकराते हुए कहा—दुःख करने की कोई बात नहीं है सुरेश बाबू; समाज की निरङ्कुशता और व्यक्ति की कमज़ोरी आज की नहीं, बहुत पुरानी है। ये अब तक रहती आई हैं और शायद आगे भी......। लेकिन आशा सुरेश बाबू—यह तो रहेगी ही, जब कि क्रोपाटकिन, बाकूनिन और इस गाँधी का क्रम......

गाड़ी प्लैटफार्म से निकल गई।

बहुत देर तक जैसे उनका अन्तिम वाक्य, जो असमाप्त ही रह गया था, कानों में गूँजता रहा—क्रोपाटकिन, बाकूनिन और इस गाँधी का क्रम......।—और दिल में रह-रह कर यह उठता रहा, जैसे इस व्यक्ति को हमारा समाज समझ नहीं सका।



हमारा समाज और विवाह

[श्रीयुत इन्द्र, एम० ए०]

भारतवर्ष में जब से पाश्चात्य सभ्यता का सम्पर्क हुआ है, अनेक सामाजिक, नैतिक तथा राजनैतिक परिवर्तन हुए हैं। कितनी ही प्राचीन रूढ़ियों, संस्थाओं तथा मर्यादाओं का लोप हुआ है तथा कितनी नवीन प्रथाओं, आचारों तथा विचारों का जन्म हुआ है।

परन्तु सबसे विप्लवकारी परिवर्तन नैतिक क्षेत्र में हुआ है। आज भारतीय समाज नैतिक दृष्टि से सर्वथा भिन्न ही मार्ग पर चल रहा है। पचास वर्ष पूर्व हमारे देश का आचार आजकल के आचार से विभिन्न था। पश्चिमीय देशों के आचार तथा विचार हमारे नवीन युवक—विशेषतया शिक्षित युवक-समाज में अधिक आकर्षक तथा प्रिय हो रहे हैं। भारतीय युवतियाँ भी इन विचारों से अछूती नहीं हैं। वे भी पाश्चात्य सभ्यता की वेगवती वाहिनी में वैसे ही वेग से प्रवाहित हो रही हैं, जैसे कि भारतीय युवक।

अमरीका में जब विद्वान् जज लिण्डसे की पुस्तक 'Revolt of Modern youth and the companionate marriage' सबसे प्रथम बार प्रकाशित हुई, जब संसार के समस्त सामाजिक नेताओं के आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा कि नवीन युवक-युवती समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी (Sex morality) विचारों में कितने क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुके हैं, तब संसार को प्रथम बार विदित हुआ कि समाज में नैतिक संस्थाओं का निर्माण अव्यक्त रूप से कितनी तीव्रता से हो रहा है। जज लिण्डसे ने अपने वैयक्तिक अनुभव से हज़ारों निरीक्षण करने के बाद यह बतलाया कि अमरीका का प्रत्येक युवक तथा युवती प्रायः विवाह-संस्था की पवित्रता पर अविश्वास रखता है तथा उस संस्था की मर्यादा का पालन किये बिना, स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का पक्षपाती है। विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में पढ़ने वाले छात्र तथा छात्राओं ने स्वयं स्वीकार किया कि वे विवाह से अतिरिक्त पारस्परिक सम्बन्ध को पाप नहीं समझते। विवाह उनके सम्मुख केवल एक बन्धन है, जिसमें व्यक्ति अपनी स्वच्छन्द कामनाओं की पूर्ति से वञ्चित हो जाता है। उन्हें विवाह से घृणा नहीं, परन्तु इसकी मर्यादाओं से भय अवश्य है। वे विवाह को जातीय कर्त्तव्य अवश्य मानते हैं, परन्तु धार्मिक कर्त्तव्य नहीं। अपने देश की जनसंख्या को क़ायम रखने के लिये नियमित सन्तान का उत्पन्न करना विवाह की आवश्यकता को निस्सन्देह परिपुष्ट करता है, परन्तु इस बन्धन में आने में जितनी देर हो सके उतना ही अच्छा है।

इन विचारों ने अमरीका में ही नहीं, यूरोप में भी क्रियात्मक रूप धारण किया। परिणाम यह है कि समस्त शिक्षित समाज में इन विचारों का आदर किया जाता है और संसार की नवीन अवस्थाओं की अनुकूलता के आधार पर इन्हें, निःसंकोच रूप में व्याख्यानों, लेखों आदि के द्वारा प्रचारित भी किया जाता है।

भारतवर्ष में इन नवीन नैतिक (Sex-morality) विचारों का कितनी तीव्रता से प्रभाव पड़ रहा है, इसे प्रत्येक जागरुक शिक्षा-विज्ञ समझता है। आजकल प्रायः भारतवर्ष में यह विचार-धारा सब प्रान्तों में प्रवाहित हो चुकी है। जहाँ-जहाँ अङ्गरेज़ी शिक्षा का प्रारम्भ किया गया है, वहीं-वहीं स्त्री जाति ने जागृति तथा उद्बोध के नाम पर इन विचारों का स्वागत किया है। भारतीय महिला समाज भी संसार की अन्य अग्रसर देशों की स्त्रियों के सदृश समानता, स्वतन्त्रता आदि अधिकारों की अपेक्षा करता है। यद्यपि पुरुषों के प्रति अनादर के भाव

भारतीय स्त्री-समाज में उत्पन्न नहीं हुए, तथापि पुरुष जाति के अन्याय का अनुभव प्रारम्भ हो गया है।

लेखक स्त्री जाति के उचित अधिकारों का पक्षपाती है—परन्तु अत्यन्तिक समानता का नहीं। प्रकृति से किये गये वैषम्य की अवज्ञा करना समाज के लिए घातक होगा। यह सत्य है कि स्त्री जाति प्रायः गृहनिर्मात्री के रूप में उत्पन्न हुई है और उसका उचित क्षेत्र, गृह-निर्माण ही है। परन्तु योग्य, सच्चरित्र, विदुषी देवियों का गृह से बाहर साधारणतया मनुष्यों के समान धर्म, देश तथा जाति की सेवा में संलग्न होना भी कोई आपत्ति-जनक नहीं।

आज तो पाश्चात्य-सभ्यता के सम्पर्क से भारतीय ललनाएँ उचित, अनुचित प्रत्येक समानता की बल-पूर्वक माँग करती हैं। प्रसिद्ध विद्वान विचारक बर्टेरण्ड रसल ने अपनी पुस्तक Scientific outlook में लिखा है :—

"आजकल की स्त्री सुधारिकाएँ इस बात के लिए चिन्तित नहीं हैं कि पुरुष जाति के अनुचित अधिकारों (बहुविवाह इत्यादि) को रोका जाय, परन्तु वे इस बात के लिए चिन्तित हैं कि जो कोई अधिकार (उचित या अनुचित) पुरुष जाति को प्राप्त है, वे उन्हें भी प्राप्त हों।"

पुरुष संसार के इतिहास के प्रारम्भ से अनेक स्त्री-सेवी रहा है। जहाँ स्त्री को विधवा होने पर सर्वथा ब्रह्मचारिणी तथा संयता रहने का उपदेश किया गया है, वहाँ पुरुष के लिए न केवल पत्नी की मृत्यु के बाद, परन्तु पत्नी की जीवितावस्था में भी इच्छापूर्वक अनेक पत्नियों से विवाह करने की व्यवस्था की गई है।

निस्सन्देह यह व्यवस्था अन्यायपूर्ण है, और मनुष्य जाति का स्पष्ट इसमें पक्षपात पाया जाता है। वर्तमान हिन्दू-ला (Hindu Law) में भी उक्त व्यवस्था का क़ायम रहना, भारतवर्ष में स्त्री जाति की निस्सहायता को प्रगट करता है। इस अन्याय तथा अनाचार का जितना शीघ्र अन्त हो सके उतना ही अच्छा है।

परन्तु यूरोप में तो स्त्री-सुधारिकाओं ने मनुष्य जाति की इस जघन्यता का अनुचित लाभ उठाना शुरू कर दिया है और मनुष्य की स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के आधार पर स्वयं स्वच्छन्द होने का अधिकार माँगना शुरू किया है। यूरोप की ललनाएँ अनेक पुरुष-सेवी होना पसन्द करती हैं। एक-पुरुष-व्रत उन्हें अब अप्राकृतिक बन्धन प्रतीत होता है। रशिया में तो विवाह संस्था को सर्वथा अनावश्यक तथा अनुपयोगी समझा जा रहा है और उसकी जगत पर पशुजगत की तरह संकुलता का प्रचार किया जा रहा है।

यूरोप के अन्य देशों में यद्यपि स्वच्छन्दता ने इतना भयङ्कर रूप धारण नहीं किया, तथापि विवाह के अतिरिक्त स्त्री, पुरुष सम्बन्ध पर अवहेलना का भाव प्रायः उठता जा रहा है। नवयुवक तथा नवयुवतियाँ परस्पर स्वच्छन्दता से मिलने इत्यादि में कोई नैतिक अपराध अनुभव नहीं करतीं। विवाह के बाद भी अन्य पुरुष तथा अन्य स्त्री से नृत्य आदि करने में भी कोई सामाजिक दोष नहीं समझा जाता। विवाह सम्बन्ध को प्रेम न रहने पर तोड़ देना तो उन देशों में एक सामान्य घटना हो गई है, जिसमें कोई नैतिक-हीनता नहीं मानी जाती।

ऐसी परिस्थिति में भारतवर्ष का अप्रभावित रहना नितान्त असम्भव है। मनुष्य-प्रकृति पतनशील है। गिरना, उठने से कहीं सुगम है। अतः हमारे देश के नवयुवक तथा नवयुवतियों के लिए उपर्युक्त विचारों का ग्रहण करना अत्यन्त स्वाभाविक है। प्रत्येक मानव-हृदय में रजोगुण समुद्भव काम की प्रबल चेतना विद्यमान है। उसका समय-असमय पर समुद्बुद्ध होना अत्यन्त प्राकृतिक है। उस प्रबल चेतना को दबाना या तो सत्व गुण प्रधान देवताओं के लिए सम्भव है या पुंसत्व हीन व्यक्तियों के लिए। अभाग्यवश हमारे देश की जलवायु भी इस चेतना को अधिक उत्तेजित करने वाली है।

प्रश्न तो उसी मानवीय प्रबल चेतना का है। यूरोप की सभ्यता का अनुकरण करके हमारा युवक समाज अब नये विचारों में रङ्गा जा रहा है। इन विचारों



के अनुसार हमारे देश का नैतिक आचार खतरे में है। अब प्राचीन ब्रह्मचर्य के आदर्श नितान्त स्वप्नमात्र प्रतीत होते हैं। आप किसी पठित युवक अथवा युवती समाज में बैठिए, आपको इन आदर्शों पर मखौल उड़ाया जाता हुआ सुनाई देगा। विशेषतया कॉलेजों के अन्दर छात्र तथा छात्राएँ इन आदर्शों को पुरातन कहकर अनादर प्रकट करते हैं।

यह सत्य है कि आज शिक्षित तथा उनके प्रभाव से अशिक्षित युवक समाज मे विवाह से अतिरिक्त स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का प्रचार बढ़ता जा रहा है। यहाँ भी यदि कोई जज लिण्डसे इन सम्बन्धों का विस्तृत कच्चा-चिट्ठा तैयार करे तो वह अमेरिका के विवरण पत्र से कम भयङ्कर न होगा। निस्सन्देह इस देश में उक्त चिट्ठा तैयार करने में कठिनाइयाँ अवश्य होंगी, क्योंकि यहाँ पाप छिपकर बहुत किया जाता है, जिसका संसार को पता तक नही लग पाता। हमारे देश की नैतिक अवस्था अन्य देशों से सर्वथा भिन्न है। वहाँ पाप करके लोकापवाद का इतना सामना नहीं करना पड़ता, जितना कि हमारे देश में। कितने ही घोर पाप इस देश में अधिक संख्या में इसलिए किये जाते है, क्योंकि वे छिपे रहने के कारण लोकापवाद के पात्र नहीं बनते।

हमारे लेख का विचारणीय विषय भारतीय विवाह-समस्या है। इस नई शताब्दि में, नवीन सभ्यता में, नवीन युग में, हमें अपनी प्राचीन संस्थाओं का पुनरालोचन करना होगा। यदि हमने अपनी प्राचीन संस्थाओं का पुनः परिष्कार न किया तो वे अवश्यमेव शीघ्र ही भूमिसात् हो जाएँगी।

विवाह भी हिन्दूधर्म की प्राचीनतम संस्था है। किसी अविज्ञात समय से यह संस्था हमारे देश में चली आ रही है। किसी दुर्भेद्य अतीत में इसका निर्माण किया गया। भिन्न-भिन्न समयों में इस संस्था में भिन्न-भिन्न परिवर्तन भी हुए, परन्तु साधारणतया इसका मूलरूप एक ही रहा। यूरोप में विवाह के आदर्श सर्वथा परिवर्तित हो चुके हैं, परन्तु भारतवर्ष में आज भी प्रायः प्राचीन आदर्शों का (बाह्य रूप में) पालन किया जाता है।

विवाह के प्राचीन आदर्श, जिनका हिन्दूधर्म शास्त्रों में वर्णन आता है, निम्नलिखित है :—

१—विवाह एक धर्म सम्बन्ध (Sacrament) है, केवल प्रेम सम्बन्ध या नियम सम्बन्ध (Legal Contract) नहीं।

२—पति-पत्नी सम्बन्ध सप्तपदी संस्कार के समाप्त होने के बाद अविच्छेद्य (indissoluble) है।

३—अतः कोई तलाक़ (Divorce) हिन्दूधर्म-शास्त्रानुकूल नहीं है।

४—विवाह के बाद पत्नी का पति के साथ सम्बन्ध, इहलोक के लिए ही नहीं, परलोक के लिए भी हो जाता है। अतः पति की मृत्यु के बाद पत्नी का किसी अन्य पति के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

५—विवाह-सम्बन्ध स्वजाति में ही हो सकता है।

आज संसार की परिवर्तित अवस्थाओं में हमें इन आदर्शों का पुनरालोचन करना होगा। हमें देखना होगा कि क्या ये आदर्श आज भी व्यावहारिक हैं या इन्हें समय के अनुकूल बनाने के लिए आवश्यक रूप में परिवर्तित तथा परिवर्धित करना होगा।

लेखक की सम्मति में विवाह के प्रथम आदर्श में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है। विवाह को धर्म-सम्बन्ध के अतिरिक्त प्रेम सम्बन्ध तथा नियम-सम्बन्ध बनाने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इससे विवाह सम्बन्ध में दृढ़ता ही उत्पन्न होगी, शिथिलता नहीं।

आजकल पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से युवक तथा युवतियों में यह इच्छा उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है कि वे परस्पर प्रेमपरिचय करने के अनन्तर ही विवाह सम्बन्ध में प्रविष्ट हों। प्रेम-शून्य विवाह, जो केवल माता-पिता की प्रेरणा से किये जाते हैं, प्रायः दुःखों का घर बन जाते हैं। केवल धर्म भावना मानवीय हृदय की अन्तःतृप्ति को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त प्रेरक हेतु नहीं। निस्सन्देह अन्धा प्रेम युवक तथा युवतियों को पथभ्रष्ट भी कर सकता है, फिर भी माता-पिता के निरीक्षण में ऐसे प्रेमपरिचय का विवाह से पूर्व उत्पन्न होना भावी

सम्बन्ध के लिये हानिकारक नहीं। यूरोप का अनुकरण इस विषय में यद्यपि पूर्णरूप में भारतीय समाज के लिये सर्वथा घातक होगा, तथापि कुछ अंशों में प्रेम-सम्बन्ध की उपादेयता तो स्वीकार करनी उचित है।

विवाह को नियम-सम्बन्ध (Legal contract) बनाने से भी लेखक की सम्मति में पवित्रता में किसी तरह की कमी आ जाने का भय नहीं। प्रत्युत प्रत्येक विवाह को सामयिक क़ानून द्वारा परिपुष्ट करा लेने से संस्था में और भी दृढ़ता तथा सुन्दरता आ जाने की पूर्ण आशा है।

दूसरा आदर्श विवाह की अविच्छेद्यता है। नियम के रूप में यह आदर्श समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी है। विवाह एक धर्मबन्धन होने के कारण शीघ्रता से टूटने के लायक़ न बनाना चाहिए। केवल प्रेमबन्धन होने से तो इसका शीघ्र टूटना तथा जुड़ना स्वाभाविक है। यूरोप में विवाह की अविच्छेद्यता के न होने के कारण पारिवारिक जीवन बहुत कलुषित सा हो रहा है। संयुक्त पारिवारिक प्रथा यद्यपि आजकल के आर्थिक संङ्घर्ष के युग में बहुत व्यावहारिक तथा उपयोगी प्रथा नहीं, तथापि नितान्त व्यष्टिवाद भी समाज के विकास के लिए हितकारी सिद्धान्त नहीं। पत्नी तथा पति के स्थिर सम्बन्ध होने पर ही सन्तति-सम्बन्ध स्थिर रह सकता है। यदि विवाह-विच्छेद शीघ्रता से हो जाए तो पुत्र एवं पुत्रियाँ अपने माता-पिता के प्रति उतने भक्तिपूर्ण तथा माता-पिता अपनी सन्तान के प्रति उतने कर्तव्यपूर्ण नहीं हो सकते।

परन्तु विवाह की अविच्छेद्यता का नियम स्वीकार करते हुए, एक-दो अपवाद भी अवश्य स्वीकार करने चाहिए। एक-दो अपवादों से नियम की दृढ़ता ही होती है, न कि शिथिलता। इस सम्बन्ध में लेखक, पराशर तथा नारद धर्मशास्त्रकारों के कुछ अपवादों का ही स्मरण कराना चाहता है, जो वर्तमान परिवर्तित अवस्थाओं में आवश्यक संशोधन के साथ समाज में प्रयुक्त किए जाने चाहिए। पराशर स्मृतिकार ने चार अवस्थाओं में पत्नी को विवाह-विच्छेद का अधिकार दिया है :—

१—पति के सन्यासी हो जाने की अवस्था में, २—पति के जाति-बहिष्कृत हो जाने की अवस्था में, ३—पति के नपुंसक होने पर, तथा, ४—अनियत काल के लिए पति के विदेश चले जाने पर।

इन चारों अवस्थाओं में प्रथम तीन पर कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं। परन्तु चतुर्थ अवस्था पर कुछ शब्द लिखने आवश्यक हैं।

आजकल भारतीय समाज में यह विकट समस्या उपस्थित होती जा रही है कि क्या परित्यक्ता स्त्रियों को विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त होना चाहिए या नहीं। जब से हमारे नवयुवकों ने विदेशों में पढ़ने के लिए जाना प्रारम्भ किया है—यह समस्या अधिक जटिल हो गई है। प्रायः यहीं से गये हुए नवयुवक पाश्चात्य सभ्यता की चमक में चमत्कृत होकर, अपने प्राचीन आदर्शों को तिलाञ्जलि दे देते हैं और विवाहित होने पर भी विदेशों में पुनर्विवाह कर लेते हैं। कई, विदेशों में रह कर गृहस्थ जीवन प्रारम्भ करते हैं तथा अपनी भारतीय पतिव्रता पत्नियों की कोई पर्वाह तक नहीं करते। उनको व्यय देना भी वे अपना कर्तव्य नहीं समझते तथा अन्य कोई सम्बन्ध रखना भी पसन्द नहीं करते। कई नवयुवक भारतवर्ष में अपनी प्रेमिकाओं को साथ ले आते हैं तथा अपनी पूर्व-विवाहित धर्मपत्नियों का सोहाग नष्ट कर देते हैं।

नीतिकार चाणक्य ने इस सम्बन्ध में व्यवस्था देते हुए लिखा है कि जो पत्नी अपने विदेशस्थ पति से एक वर्ष तक, कोई समाचार प्राप्त नहीं करती, वह विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त कर सकती है। यदि उसका कोई पुत्र हो तो उसे दो वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। तदनन्तर भी पति से कोई समाचार न पाकर वह विवाह-विच्छेद के लिए अधिकार ले सकती है।

हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि विवाह-विच्छेद (Divorce) की प्रथा समाज के लिए अत्यन्त घातक है।

हम केवल अपवाद के तौर से इस प्रथा को अति कठिन अवस्थाओं में स्वीकार करने के पक्षपाती हैं।

जो घर पति-पत्नी के पारस्परिक कलह से वर्षों तक नरक बन रहा हो, जहाँ सब चेष्टाओं के बाद भी परस्पर निर्वैरता के भाव उत्पन्न न हो सके हों, जहाँ पति, पत्नी की हत्या करने पर उद्यत हो तथा पत्नी पति की हत्या के लिए अवसर ढूँढ़ती हो—ऐसी विषम अवस्था में विवाह-विच्छेद का हो जाना समाज के लिए कल्याणकारी है।

निस्सन्देह हिन्दू-समाज अभी इस परिवर्तन के लिए, विवाह-विच्छेद को अपवाद रूप में भी स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं है, परन्तु समाज-सुधारकों को इस सम्बन्ध में जनता को शिक्षित अवश्य करना चाहिए। समाज के नेताओं को इसी सम्बन्ध में स्मरण रहना चाहिए कि बड़ोदा रियासत में हिन्दू राजा की तरफ़ से, विवाह-विच्छेद का क़ानून पास भी हो चुका है तथा उसका प्रयोग भी किया जाता है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दू नैतिक आचार पर व्याख्यान देते हुए सर शिवस्वामी ऐयर ने कहा था :—

"विवाह-विच्छेद को यद्यपि सुगम नहीं बनाना चाहिए, तथापि उसे अति कठिन बनाकर पारिवारिक जीवन को निस्सहाय तथा दुःखित बनाना भी उचित नहीं है। अतः वर्तमान हिन्दू-लॉ में इस सम्बन्ध में अवश्य कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है।"

विवाह के अन्तिम दो प्राचीन आदर्शों में समयानुसार पर्याप्त परिवर्तन आ चुका है। विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार न देना वास्तव में स्त्री-जाति पर अत्याचार है। पञ्जाब तथा अन्य प्रान्तों में, जहाँ-जहाँ समाज-सुधारक स्त्री-जाति की अवस्था के सुधार में तत्पर हैं, पुनर्विवाह की प्रथा प्रायः साधारण तथा सर्व-सम्मत होती जाती है। इस सम्बन्ध में सर गङ्गाराम विधवा सहायक सभा का प्रशंसनीय कार्य भारतवर्ष के प्रत्येक हिन्दू को कृतज्ञता से स्मरण करना चाहिए। इस सभा द्वारा असहाय भाग्यहीना अबलाओं की पर्याप्त सहायता तथा सेवा की जा रही है।

अन्तर्जातीय विवाह-प्रथा भी सर्वथा समयानुकूल है। न केवल संस्कारों (Eugenics) के दृष्टिकोण से यह प्रथा लाभकर है, अपितु देश की वर्तमान आर्थिक अवस्था के दृष्टि-विन्दु से भी यह नितान्त अनिवार्य है। विवाह, परमात्मा के सृष्टि-प्रवाह को अविच्छिन्न रखने के लिए परम आवश्यक तथा पुनीत संस्था है। इसमें सङ्कीर्णता के भावों को उत्पन्न करना तथा कृत्रिम बन्धन उपस्थित करना समाज के लिए अहितकर तथा आवश्यक है।

विवाह-समस्या प्रत्येक देश में अनेक जटिलताएँ उपस्थित करती है। मानव-स्वभाव, मानव प्रवृत्तियाँ, मानव-आचार एवं विचार परिवर्तनशील है। अतः प्रत्येक समय में विवाह-समस्या को सुलझाने के लिए पृथक-पृथक् दृष्टि-विन्दु से प्रयत्न करना पड़ता है। लेखक ने इस सम्बन्ध में अपने कुछ विचारों को प्रकाशित किया है। आशा है, सहृदय पाठक तथा पाठिकाएँ इन विचारों का मनन करेंगी तथा उपादेय वस्तु का ग्रहण करेंगी।



भय्या

[कुमारी दुर्गादेवी सक्सेना]

मेरे सुख की साध, हृदय की मञ्जुल आशा,
जीवन का अनुराग, प्राण की प्रिय परिभाषा ;
गद्गद अन्तर आज उमड़ता आता है क्यों ?
सुधि में किसकी सजनि ! चित्त सुख पाता है यों ?

वही दिव्य मातृत्व का भाव-भरा उपहार है,
जिसके अनुपम स्नेह पर न्यौछावर संसार है !

सब कुछ जग में सरल, सुलभ, सम्भव मिल जाना,
मुरझाया संसार, नहीं दुर्लभ, खिल जाना ;
सहज हो सका, इन्द्रासन तक का हिल जाना,
किन्तु असम्भव सुहृद, सहोदर ाई पाना ।

जो ममता की अति मधुर, मनहर, स्निग्ध बयार है,
वह मेरे लघु प्राण की मचली हुई पुकार है !

जो मेरी नित नई उलझनों को सुलझाता,
खिजा-खिजा कर रिझा-रिझा कर सदा चिढ़ाता ;
राग जमाता, धूम मचाता, बहुत बनाता,
अतुल प्रेम से भरा हुआ है जिसका नाता ;

जग में भूला जा नहीं सकता जिसका प्यार है,
वह मेरे चिर-मोद का एकमात्र आधार है !

पीछे से आ कभी, मींच आँखें लेता है,
और झपट कर शीघ्र, खींच अञ्चल देता है ;
कभी भूल माँ समझ, गोद में आ जाता है,
मुँह का आधा कौर छीन कर खा जाता है ;

प्राण दान के हेतु भी जो प्रतिपल तय्यार है,
मुझ सन्तप्ता के लिए वह शीतल जल-धार है !



क्या यूरोप की स्त्रियाँ आचरणभ्रष्टा हैं ?

[श्री० विश्वमोहन, एम० ए०]

कुछ ही दिन हुए मैं विलायत से लौटा हूँ। मैं वहाँ तीन वर्ष तक ठहरा था। विशेषतः तो मैं इङ्गलिस्तान में था, पर यूरोप के अन्यान्य देशों को भी देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। यहाँ लौटने पर स्वभावतः लोग मुझसे वहाँ की बातें पूछते है। बुजुर्ग लोग तो राजनीति, शिक्षा सम्बन्धी बातें ही पूछ कर रह जाते है, पर हमारे नवयुवक मित्रगण वहाँ की स्त्रियों के विषय ही में पूछते है और विशेष कर उनके आचरण के विषय में। यहाँ एक धारणा सी हो गई है कि यूरोप की नारियाँ आचरणभ्रष्टा होती हैं। उनमें सच्चे प्रेम का भाव कम होता है। वे केवल मजा लूटना जानती हैं। इन्हीं बातों पर प्रकाश डालने के विचार से मैं यह लेख लिखने बैठा हूँ।

इसमें कोई शक नहीं कि उनका बाहरी जीवन हमारे जीवन से बिल्कुल भिन्न है। उनके आदर्श, उनकी समस्याएँ हमसे भिन्न हैं। इन्हीं विभिन्नताओं के कारण उनके आचरण में भी विभिन्नता आ जाती है। पर यह कहना कि उनमें माता का हृदय नहीं है या पत्नी की आसक्ति नहीं है या बहन का स्नेह नहीं है, यह मेरे ख़याल में एकदम भूल है। यदि कोई न्यायप्रेमी यूरोपियन हमारे विषय में कोई धारणा निश्चित करना चाहे तो यह उचित है कि वह हमारी संस्कृति, हमारी वर्तमान स्थिति, हमारे इतिहास पर ध्यान दे। उसी प्रकार यदि हम विदेशियों के जीवन को समझना चाहें तो यह आवश्यक है कि हम उनके ध्येय, उनके जीवन निर्माण की कथा को जानें। यदि ऐसी परस्पर सहानुभूति हो और सत्य की उत्कण्ठा हो तो मिस मेयो अपनी 'मदर-इण्डिया' नाम की पुस्तक किसी और ढङ्ग से लिखती और हम भी वहाँ के समाज को भ्रष्ट और पतित समझना छोड़ देते।

मैं सिर्फ़ वहाँ की स्त्रियों के जीवन का दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ। सब से पहली बात यह है कि पुश्त-दरपुश्त से उन्होंने कभी परदा नहीं जाना। वहाँ की एक स्त्री-संस्था ने मुझे भारत की स्त्रियों के सम्बन्ध में एक व्याख्यान देने के लिये निमन्त्रित किया था। मुझे मालूम हुआ कि उनके लिये यह समझना कठिन हो गया कि स्त्रियाँ आजन्म परदे में यानी घर के भीतर कैसे रह सकती हैं। जिस प्रकार वहाँ की स्त्रियाँ स्वच्छन्दता का उपभोग करती हैं, उसी प्रकार यहाँ की कुछ स्त्रियाँ परदे को अपना प्राकृतिक और धर्मसिद्ध अधिकार समझती हैं। क्योंकि यह कहा गया है, कि स्त्री को बचपन में पिता के आधीन, यौवन में पति के आधीन और बुढ़ापे में पुत्र के आधीन रहना चाहिये। स्त्री और पराधीनता ये दोनों प्रायः पर्यायवाची शब्द हो गये हैं। इन दोनों का असर जीवन पर कितना बड़ा होता है, यह आसानी से सोचा जा सकता है। स्वच्छन्दता के मानी उल्लास, स्वास्थ्य, निर्भीकता और व्यक्तित्व है; पराधीनता के मानी निराशा, रोग, भीरुता और अस्तित्व का अभाव है। यदि एक स्त्री हँसते-हँसते जीवन की समस्याओं को हल कर सकती है, तो दूसरी रोते-रोते भी जीवन की गुत्थियों को समझ नहीं पाती। फिर दोनों में अन्तर न हो तो क्या हो ?

मैं नहीं कहता कि हमारी स्त्रियाँ आज ही घर से बाहर कर दी जायँ। ये सब बातें तो जीवन के सङ्गठन से बहुत गहरा सम्बन्ध रखती हैं। एक यूरोप की बालिका बचपन से ही समाज में ठीक अपने भाइयों के समान मिलती-जुलती है। माता-पिता बेटे-बेटी में भेदभाव नहीं रखते। उनकी शिक्षा और लालन-पालन का प्रबन्ध एक सा होता है। मुझे शोक के साथ लिखना पड़ता है कि प्रायः एक मास हुए कि हमारे प्रान्त की एक बालिका ने ठीक इसी

भेदभाव के कारण आत्महत्या करली। बालिका क़रीब तेरह-चौदह साल की रही होगी। वह एक डायरी भी लिखती थी। उसके मरने पर वह डायरी मिली। उसमें उसने कई बार लिखा है कि घर में मुझसे मेरे छोटे भाई का सम्मान कहीं बढ़कर होता है, उसका क़ुसूर क्षमा कर दिया जाता है, पर मुझे बात-बात में अपमान सहना पड़ता है। जिस समय उस बालिका का प्राणान्त हो रहा था, उस समय भी वह यही चिल्ला रही थी—स्त्रियों का परदा तोड़ो—उन्हें स्वतन्त्रता दो—बालक-बालिका का भेद मत रखो—इत्यादि-इत्यादि। एक छोटी बालिका के लिए इतने उच्च विचार रखना बिल्कुल असाधारण और अनुपम था। यदि वह बालिका जीती तो अवश्य ही स्त्री-संसार की अपूर्व सेवा करती। वह बालिका एक अत्यन्त ही सम्भ्रम परिवार की थी। इस कारण मैं उसका नाम और पता नहीं दे सकता। पर यदि इस दुखद दृष्टान्त से हमारे समाज में कुछ भी सुधार हो तो उसका आत्मविसर्जन सफल समझा जा सकता है। आत्म-हत्या एक बहुत ही बुरी बात है, पर उसका आत्म-त्याग हिन्दुस्तान के किसी वीर के त्याग से कम नहीं कहा जा सकता।

अस्तु, यह तो हुई परदा और भेद-भाव की बात। इस सवाल को तो मैं अप्राकृतिक सवाल कहता हूँ और इसको हमारे समाज ने बेज़रूरत ही पैदा किया है। इसकी हानियाँ तो ऐसी हैं जिसका एक नमूना मैं अभी आपके सामने रख चुका हूँ। इसके दूसरी तरफ़ का दृश्य देखिए। एक यूरोप की बालिका प्रफुल्ल होकर संसार में विचरण करती है। उसे स्कूल जाने में कोई बाधा नहीं; उसे बच्चों के क्लब के सदस्य होने में कोई हिचकिचाहट नहीं। जब मैं म्युनिक (जर्मनी) में था तो देखा, क़रीब २०० बालक-बालिकाएँ स्टेशन पर घूम रहे हैं। सबों के पीठ पर छोटे-छोटे बैग में उनके सामान लदे थे। मैंने पूछा—आप लोग कौन हैं। उन लोगों में से एक ने कहा—"हम लोग बर्लिन के विद्यार्थी हैं। म्युनिक की सैर के लिए आये हुए हैं।" उनमें से किसी की अवस्था दस वर्ष से अधिक न होगी। पर केवल दो-एक शिक्षकों के साथ वे लोग बाहर घूमने निकल पड़े थे। अब ज़रा उस जीवन को देखिए और हमारी बालिकाओं के जीवन को देखिए। आप कहीं भी जर्मनी या इटली में चले जाइए, आप देखेंगे कि बालिकाओं के झुण्ड के झुण्ड राष्ट्रीय झण्डा लिए हुए और राष्ट्रीय गान करते हुए शहरों में मार्च करते हैं और ज़रूरत पड़ने पर ये बालिकाएँ ठीक पुलिस के समान आदमियों और मोटरों के आवागमन का निर्देश भी करती हैं।

अब आचरण की बात लीजिये। मैं एक बार लन्दन के हाईबेरी पार्क में सन्ध्या समय घूम रहा था। कुछ बालिकाएँ वहाँ खेल रही थीं। वे अपरिचित-भीत नहीं होतीं, बल्कि उन्हें विदेशियों से बात करने का शौक होता है। जब वे खेलने जाती हैं तो यह नहीं भूल जातीं कि उन्हें कै बजे घर लौटना चाहिए। ठीक समय पर उन्हें घर लौटना ही होगा, इसलिए वे किसी से पूछ लेती हैं, कि घड़ी में कै बजा है ताकि घर पहुँचने में उन्हें देरी न हो। मैं भी योंही उनसे बातें करने लगा। मैं सिगरेट पी रहा था। मैंने एक से पूछा—"क्या तुम सिगरेट पियोगी?" वह बोली—"नहीं महाशय जी, धन्यवाद" मैंने पूछा 'क्यों'? उसने कहा—"अभी मैं छोटी हूँ, जब मैं १८ वर्ष की हो जाऊँगी तो सिगरेट पिऊँगी।" पाठकगण देखें, उसके जवाब में जो सहूलियत थी, जो सत्यता थी वह हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखों में भी कम नज़र आती है। मैं नहीं कहता, सिगरेट पीना अच्छा है वा ख़राब। मैं सिर्फ़ यही कहता हूँ कि सच्ची शिक्षा और संस्कृति के भाव उसमें कूट-कूट कर भर दिये गये थे। वह बचपन ही से अपना उत्तरदायित्व समझने लग गई थी। वहाँ जो लोग सिगरेट पीते या शराब पीते हैं, वे लुक-छिप कर नहीं पीते। माँ-बाप सभी के सामने पीते हैं। उनमें आचरण की स्वच्छता है। हममें यहाँ लुकछिप कर करने की आदत बहुत है। बाप जानता है, बेटा सिगरेट पीता है, पर जब तक वह छिप कर पीता है, वह बहुत ही नेक लड़का है। लड़के की उम्र चाहे ४० वर्ष की क्यों न हो, पर यदि वह सामने पीता है तो नालायक़ और बदतमीज़ समझा जाता है। पर हम इस आचरण को गन्दा कहते हैं। यूरोपियनों में उत्तरदायित्व

और आचरण की स्वच्छता की मात्रा हमसे कहीं अधिक है।

यदि हम इस आधार को समझ लें तो वहाँ की स्त्रियों की प्रेम सम्बन्धी बातों को भी समझ सकते है। विवाह का प्रश्न तो नैसर्गिक और स्वाभाविक है। यह समझना कि यूरोप की स्त्रियाँ विवाह की इच्छुक नहीं होतीं, भूल है। उनका भी अन्तिम ध्येय विवाह ही होता है। पर इस सवाल का हल हमारे नियमों से विभिन्न रूप से किया जाता है। अन्तिम रूप एक ही है, पर व्यवस्था में अन्तर होने से उनके आचरण में भी भिन्नता आ जाती है। पर यह आचरण कहाँ तक स्वच्छ है, इसका कुछ विवेचन यहाँ किया जा सकता है।

हमारे यहाँ स्त्रियों का प्रेम सम्बन्धी बातों में कोई अधिकार नहीं। यह मानी हुई बात है कि प्रेम एक व्यक्तिगत अनुभव है। मेरा प्रेम मेरा है; इस पर दूसरे का प्रभाव नहीं होता। मैं स्वयं अपने भावों में परिवर्तन कर सकता हूँ, पर दूसरों का इसमें दखल देना बिल्कुल ज़्यादती है। पर हमारे समाज में जब बालिकाओं का विवाह होता है तो हमारे अभिभावक अपनी बहुत ही सदुपयोगिता, दूरदर्शिता और शुभेच्छा दिखलाते हैं। वे अपनी बालिका की किसी धनी परिवार में शादी कर देते हैं। मान लिया, अपने जानते नवयुवक पढ़ा-लिखा वर भी ढूँढ़ निकाला, पर प्रेम की आकांक्षाओं और स्वप्नों की पूर्ति के लिये क्या ये साधन यथेष्ट हैं? शोक है कि हम कहने के लिए प्रेम को बहुत बड़ा स्थान देते हैं; उसका शरीर से कोई लगाव नहीं रखते, पर यदि हम सोचें तो पता लगेगा कि हमारी वैवाहिक रीतियाँ सिर्फ़ शरीर को ही दृष्टि में रख कर स्थापित की गई हैं। हम नवयुवक वर ढूँढ़ते हैं, इसलिए कि बालिका की शारीरिक तृष्णाओं की तृप्ति हो; हम धनी परिवार ढूँढ़ते हैं कि बालिका को खाने-पीने की तकलीफ़ न हो। यदि प्रेम को आत्मा और जीवन से सम्बन्ध है तो हम आत्मा और जीवन का कहाँ विचार करते हैं?

तनिक यूरोपियन संस्था की ओर ध्यान दीजिए। प्रेम एक व्यक्तिगत अनुभव है। इसको वे लोग अक्षरशः मानते हैं और उसको जीवन में स्थान देते हैं। माता-पिता को अपने पुत्र वा पुत्री के लिए जोड़ा खोजने का कोई अधिकार नहीं। वे लोग इस भार से निश्चिन्त हैं। उनका यही काम है कि वे उन्हें उचित शिक्षा दे दें और संसार में जीने के साधनों से उन्हें सुसज्जित कर दें। पर अपना सुयोग्य जोड़ा खोजना पुत्र और पुत्री का काम है। हाँ, जब तक वे लोग बालिग़ न हों, उस समय तक विवाह सम्बन्ध करने में माता-पिता की अनुमति आवश्यक है, पर बालिग़ हो जाने पर हर एक व्यक्ति स्वतंत्र हो जाता है और अपने जीवन पर उसका पूरा अधिकार हो जाता है।

ऐसा नियम होने के कारण बालक-बालिका का प्रेम में पड़ना स्वाभाविक है। वे एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। खाना-पीना साथ खाते, खेल खेलते और एक साथ तमाशा देखने जाते हैं। इस तरह वे एक दूसरे का अध्ययन करते हैं। जब दिल मिल जाता है तो विवाह हो जाता है। पर यदि दोनों के भावों में अन्तर पड़ गया तो वे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। वे इतनी निष्कपट होती हैं कि वे सभी बातें अपनी माँ से कह देती हैं और माँ भी उनसे इन बातों का स्पष्ट रूप से विवेचन करती हैं। मैं तो समझता हूँ, इन कार्यों में सिवा नफ़ा के घटी नहीं।

हम जो यह समझे बैठे हैं कि हमारी स्त्रियाँ आजन्म अपने पति से प्रेम करती हैं और यूरोप की स्त्रियाँ स्वयं निर्वाचन करने पर भी तलाक़ देती हैं, यह भ्रमात्मक है। हमारी स्त्रियाँ हम पर सर्वथा निर्भर रहती हैं, इसलिये कि वे निस्सहाय हैं। पति के छोड़ने पर उनका सभी जगह से अपमान होगा। अपमान के सिवा पति से अलग होने पर उनका जीवन-निर्वाह भी होना कठिन हो जायेगा। फिर पति को छोड़ जायँ कहाँ? यदि एक जेल में बन्द आदमी चोरी नहीं करता अथवा डाका नहीं डालता तो उसकी तारीफ़ ही क्या? पर यदि एक दरिद्र हो और विभूतियों के बीच रह कर भी वह अपने को स्थिर रख सके तो उसकी प्रशंसा हो सकती है। उसी प्रकार हमारी स्त्रियाँ हैं। निस्सहाय्य की चहारदीवारी से बन्द यदि वे पतिभक्ता सी दीखतीं और अपने जीवन की घड़ियाँ गिनती हैं तो यह दुख की बात है, प्रसन्नता की नहीं।

यूरोप की स्त्रियाँ कभी भी अपने को निस्सहाय नहीं समझतीं। यदि पति उचित मिला, तो सब से सुन्दर बात है, यदि नहीं मिला तो वे कुछ काम कर अपना जीवन सन्तोषपूर्वक व्यतीत कर सकती हैं। यदि पति मिलने पर दुराचारी वा क्रूर निकला, तो वे उससे अलग हो अपना समय सुखपूर्वक काट सकती हैं। तलाक़ विलायत में भी अच्छा नहीं समझा जाता, पर ज़रूरत पड़ने पर आजन्म सड़ने से तलाक़ कहीं अच्छा है। उचित वर नहीं मिलने से अविवाहित ही रहना कहीं अच्छा। यूरोप में बहुत सी स्त्रियाँ मलेंगी, जिन्होंने कभी विवाह नहीं किया। मैं लण्डन की एक बूढ़ी स्त्री को जानता हूँ। वह एक दूकान में काम कर अपनी ज़िन्दगी बसर करती है। उतनी पढ़ी-लिखी तो नहीं पर कहीं क्लब की सदस्या है। वह सप्ताह में एक बार साहित्य पर व्याख्यान सुनाने जाती है, एक दिन सिलाई-कढ़ाई करने जाती है। मैंने उससे एक दिन पूछा—"आपने विवाह क्यों नहीं किया?" पहले तो वह हिचकिचाई, फिर बोली—मैं एक युवक को प्यार करती थी। पर उस युवक ने दूसरे से शादी करली। मेरे हृदय पर बहुत बड़ा आघात पहुँचा। इसी कारण मैंने फिर किसी और से शादी नहीं की। मैंने पूछा—"क्या आप अब भी उनके बारे में सोचती हैं?" उन्होंने एक लम्बी साँस ले उत्तर दिया—"मैंने बहुत कुछ भुलाने की चेष्टा की है, पर कभी-कभी याद आ ही जाती है।" मैं इसे प्रेम कहता हूँ। यदि हमारी स्त्रियों को स्वतन्त्रता दी जाये तब वे सच्चे रूप से प्रेम करना सीखेंगी। ज़बरदस्ती विवाह प्रेम नहीं कहलाता। यह एक शारीरिक सम्बन्ध है। प्रेम में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

मैं नहीं कहता, यूरोप में इस सम्बन्ध का दुरुपयोग होता ही नहीं। पर तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो भारत में बुराई अधिक है। यूरोप की स्त्रियाँ अपने जीवन को अपना जीवन समझती हैं, वे अपने व्यक्तित्व को खोना नहीं चाहतीं, वे प्रेम के नैसर्गिक आवेगों को प्रकाशित होने देतीं, उन्हें कुचलना व कुचलवाना पसन्द नहीं करतीं। वे उनका उचित अवरोध करती हैं, पर वे उनका मुँह नहीं तोड़तीं। यदि आप इसी को आचरण-भ्रष्टा होना कहें तो कह सकते हैं, पर वे अपने देश की अनुपम शक्ति हैं। विचार-क्षेत्र, कर्म-क्षेत्र, घर अथवा बाहर, सभी स्थानों में वे अपने कर्त्तव्य से देश को उज्ज्वल करती आ रही है और करेंगी। एक ज़िन्दा-दिल स्त्री मुर्दे-दिल से कहीं अच्छी है।



श्री० सत्यप्रसाद
थपलियाल

पहाड़ी जीवन के कुछ पहलू

पाठकों ! आप में से लक्ष्मी के कृपा-पात्रों ने मसूरी और नैनीताल की नई रोशनी से आँखें सेंकी होंगी। शान्ति के उपासकों ने कैलास, मानसरोवर, पिंडारी ग्लेशियर, सात-ताल आदि की रमणीयता से हृदय की गुदगुदियों का आनन्दोपभोग किया होगा। सनातनधर्म की नैय्या की रक्षा करने वालों ने बद्रीनाथ, केदारनाथ, गङ्गोत्री, जमनोत्री के पण्डे-पुजारियों की थपकियाँ प्राप्त की होंगी। मनचले नवयुवकों ने प्रकृति की गोद में अपने को भुला देनी वाली पहाड़ी युवतियों के सौन्दर्य पर आघात करने का निष्फल प्रयत्न किया होगा। क्षयरोग से पल्ला छुड़ाने के लिये भुवाली और अल्मोड़े के वातावरण में शरण ली होगी। कुछ ने वहाँ के निर्धन बालक-बालिकाओं के 'सुई दो रानी, डोरा दो रानी' पर प्रकृति के वशीभूत हो आँसू भी बहाये होंगे।

किन्तु यह तो वहाँ के जीवन की कलई मात्र है। इससे अलग जीवन का दृश्य मनोरम भी है और हृदय-द्रावक भी, शहरों के वातावरण और ग्रामीण वातावरण के बीच में एक अभेद दीवाल खड़ी हो गई है। पहाड़ों का असली जीवन शहरों में कैसे मिल सकता है? वहाँ की बस्ती तो खिचड़ी होती है। यहाँ के जीवन का अध्ययन कुछ अङ्गरेज़ और कुछ पहाड़ी लेखकों ने किया तो है, किन्तु वह अङ्गरेज़ी में प्रकाशित होने की वजह से सर्वसाधारण तक नहीं पहुँच सकता। दूसरी बात यह है कि भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों के लोगों ने यहाँ के जीवन की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया। पहाड़ों में जाकर सुख-दुख के थपेड़ों का सामना करना उन्हें मान्य नहीं हुआ। प्राचीन काल में यहाँ की परिस्थिति कैसी थी, इससे इस समय हमें कुछ विशेष प्रयोजन नहीं है। वर्तमान परिस्थिति में जागृति आई है, उसका श्रेय भारतवर्ष की संस्थाओं को नहीं अमेरिका की मिशन को है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही यहाँ मिशन के स्कूल और कॉलेज खुल गये थे, ईसाइयों पर राष्ट्रीयता को कमज़ोर करने का दोष भले ही लगाया जाय, किन्तु यह तो सभी को मानना पड़ेगा कि आज शिक्षा सम्बन्धी जितनी भी जागृति पहाड़ी ज़िलों मे है उसका प्रधान श्रेय 'मिशन' को ही है। आज कुमाऊँ में प्राइमरी शिक्षा संयुक्त प्रान्त के अन्य भागों की अपेक्षा कहीं अधिक है। सरकारी नौकरियों में भी यहाँ के लोग औसतन ज्यादा ही हैं। यह मेरी समझ में सब मिशनरियों के परिश्रम के परिणाम-स्वरूप ही है। आरम्भ में उनका मन्तव्य जो कुछ भी रहा हो, इससे हमारा क्या तात्पर्य; हमें तो परिणाम देखना है। कुछ हज़ार निर्धन हिन्दू भाई यदि ईसाई भी हो गये तो हिन्दू जनता की विशेष क्षति नहीं हुई। आज गढ़वाल, अल्मोड़ा और नैनीताल के कोने-कोने में मिशन स्कूल मिलेंगे। स्त्री-शिक्षा का प्रचार तो एकान्ततः इन्हीं उदार संस्थाओं की प्रेरणा से हुआ है। क्या हमारे समाज-सुधारकों के लिये यह शर्म की बात नहीं है? उनकी शिकायत है कि यहाँ के लोग मानते नहीं हैं। क्या मैं उनसे पूछ सकता हूँ कि अमेरिकन मिशनरियों की तरह उनमें प्रचार-कार्य की क्षमता है? एक-दो आर्यसमाज के प्रचारकों पर कुछ आक्रमण हुए, बस तूती ही बन्द हो गई। भाई, सवाल मानने का नहीं है, सवाल सहानुभूति तथा सच्ची लग्न के साथ काम करने का है।

यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति भी यहाँ के जीवन

के अध्ययन में पर्याप्त बाधा पहुँचाती है, वैसे तो साधारण जीवन की एक ही धारा बहती है किन्तु पहाड़ियों और घाटियों के अवरोध के कारण यहाँ पग-पग पर विशेषताएँ मिलती हैं। क्या भाषा, क्या रहन-सहन, क्या पहनाव, क्या सार्वजनिक जीवन, सभी में गाँव-गाँव के अन्तर से कुछ थोड़ी बहुत भिन्नताओं का सामना करना पड़ता है। हमें इन भिन्नताओं से विशेष मतलब नहीं, हमें साधारण जीवन-धारा का विश्लेषण करना है। बारीकियाँ विशेषज्ञों के लिए छोड़ दी जाती हैं।

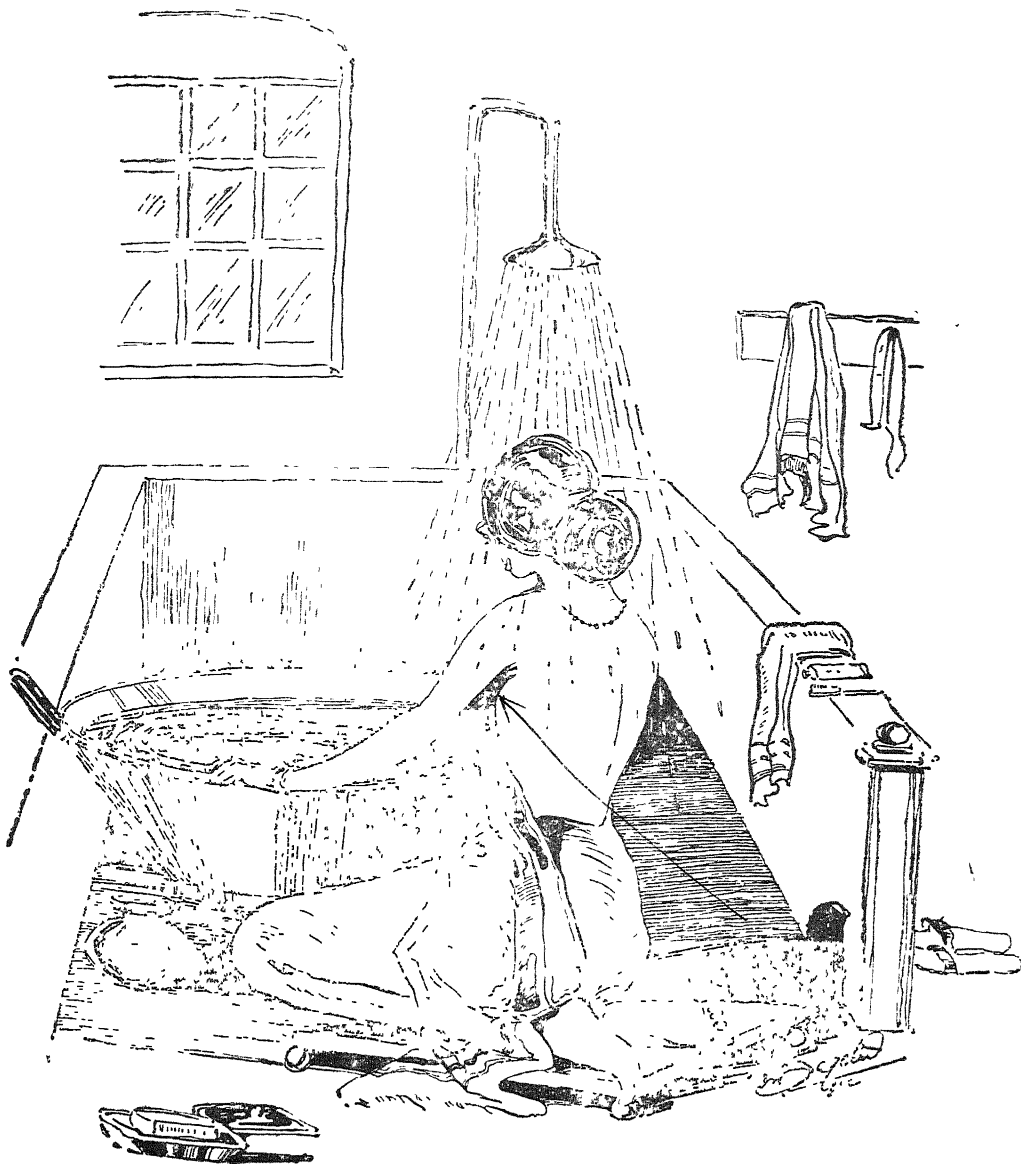
समस्त भारतवर्ष ही धर्मप्राण देश है, किन्तु पहाड़ी प्रान्त तो नितान्त धर्मनिर्भर है। यहाँ के प्रत्येक कार्य में धर्म-भावना ही प्रधान रहती है। सारी जनता सनातन-धर्मावलम्बी है किन्तु सनातन धर्म की सभी शाखाओं का मिश्रण यहाँ के जीवन में मिलेगा। यहाँ वैदिक काल के देवताओं की ही नहीं, द्रविड़ों के देवताओं की पूजा भी की जाती है। आकाश, पृथ्वी, इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु, सूर्य, पेड़, नदी, पर्वत आदि प्रकृति के सभी उपादानों की पूजा के साथ नाग, पत्थर आदि की पूजा में विश्वास करने वालों की संख्या भी काफ़ी बड़ी है। वैदिक संस्कृति के पश्चात् जो भाग्यवाद और कर्मवाद की भावना भारतवर्ष भर में चली थी, वह यहाँ अभी तक प्रबल रूप में चलती है। प्रकृति पर पूर्णतया निर्भर रहने वालों का भाग्यवादी होना स्वाभाविक ही है। बौद्ध धर्म या जैन धर्म के कुछ थोड़े बहुत अनुयायी भी मिल ही जाते हैं। इसके पश्चात् नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव भी स्पष्ट है। 'अलख' पुकारने वाले कुछ गोरखपंथी और निरञ्जन के भक्त भी मिल जाते हैं। कान फाड़ने वाले नाथों का भी अभाव नहीं है। तान्त्रिकों का प्रभाव तो अनर्थकारी सिद्ध हुआ है। प्रत्येक गाँव में कुछ तान्त्रिक आज भी मिल जायँगे। छोटे से छोटे काम से लेकर बड़े से बड़े काम की सिद्धि के लिये तान्त्रिकों की शरण ली जाती है। यहाँ के ज्योतिषी भी तान्त्रिक से ही होते हैं। तान्त्रिक वैद्य का भी काम करते हैं। किसी को लड़का नहीं हुआ तो तान्त्रिक के पास गये, किसी को बुखार हो आया तो तान्त्रिक की पूछ हुई, किसी को नीचा दिखाना हो तो तान्त्रिक की ही ख़ुशामद होती है। पाठक विश्वास नहीं करेंगे, किन्तु कुछ तो अद्भुत करिश्मे इन तान्त्रिकों के ऐसे होते हैं जिनको देख कर बुद्धिवादी भी चक्कर में पड़ जाते हैं। किसी के घर में जादू के बल पर भूत का धावा कर देना तो एक मामूली सी बात है। तान्त्रिक महोदय ने एक मन्त्र पढ़ा नहीं कि घर में उलट-पलट आरम्भ हुई। पानी से भरे हुए बरतन लुढ़क रहे हैं और पानी की एक बूँद भी नहीं गिर रही है। चटाई पर लोग बैठे हुए हैं तो चटाई सिर पर आ जाती है। पत्थरों की वर्षा सी हो रही है, किन्तु नीचे देखो तो एक भी पत्थर नज़र नहीं आयगा। ऐसे ही अनेक चमत्कार देखने को मिलते हैं। भूत-पिशाचों में विश्वास करने वालों की संख्या भी बहुत है। कुछ दिन पहले अल्मोड़े की एक बहिन का पत्र मिला था, जिससे मुझे ज्ञात हुआ कि "हाल ही में एक गाँव में एक स्त्री को मिरगी होती थी। किन्तु उसे भूत लगा है, यह जानकर इतना मारा गया कि वह बेचारी मर ही गई। एक छोटे से फूल से बालक को ज्वर आ गया था। उसे भूत चढ़ गया है, कह उसकी आँखों में मिर्चें भरी गईं। बेचारे की आँख सर्वदा के लिए जाती रहीं।" ऐसे दृष्टान्त एक नहीं अनेक मिलते हैं।

इसका कारण जनता में युग-युग से चली आने वाली रूढ़ियों के पालन करने की प्रवृत्ति तो है ही, किन्तु साथ ही साधन-हीनता भी है। अस्पतालों की कमी और हेल्थ डिपार्टमेंट की शिथिलता इसके लिये उत्तरदायी है। बाहर के लोगों का सम्पर्क भी नहीं मिलता। शिक्षित जनता का कुछ अंश तो इन बातों में विश्वास करने के कारण सुधार के लिए हस्तक्षेप नहीं करता और कुछ योंही टाल देता है।

शाक्त धर्म का प्रभाव भी यहाँ के जीवन का मुख्य अङ्ग है। पहाड़ी प्रान्त में हत्या या हिंसा से दूर रहना आपत्ति मोल लेना था। पुराने ज़माने में राजाओं की पारस्परिक मारकाट ने हिंसावाद का प्रचार किया। अपनी रक्षा के लिए भी जङ्गली जानवरों से मुठभेड़ करनी ही पड़ती थी। ऐसी परिस्थिति में 'शक्ति' का आह्वान स्वतः-सम्भव था। बाद को शक्ति के प्रतीक देवी, चण्डी,

आधुनिक सम्पन्न नारी की दिनचर्या

(१)



प्रातः ७ बजे—स्नान

आधुनिक सम्पन्न नारी की दिनचर्या

(२)



८ बजे—केश-रचना

आधुनिक सम्पन्न नारी की दिनचर्या

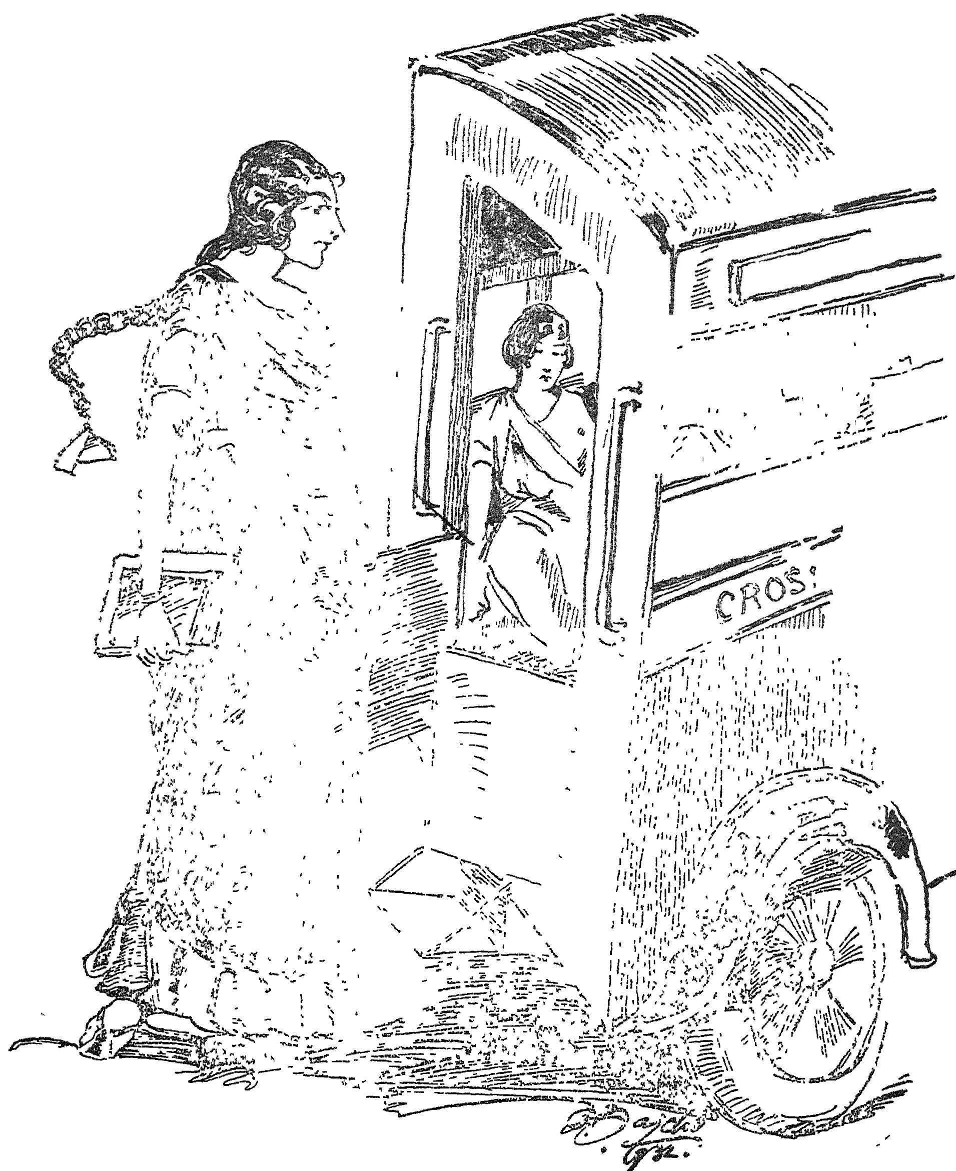
(३)



९ बजे— टॉयलेट

आधुनिक सम्पन्न नारी की [illegible]

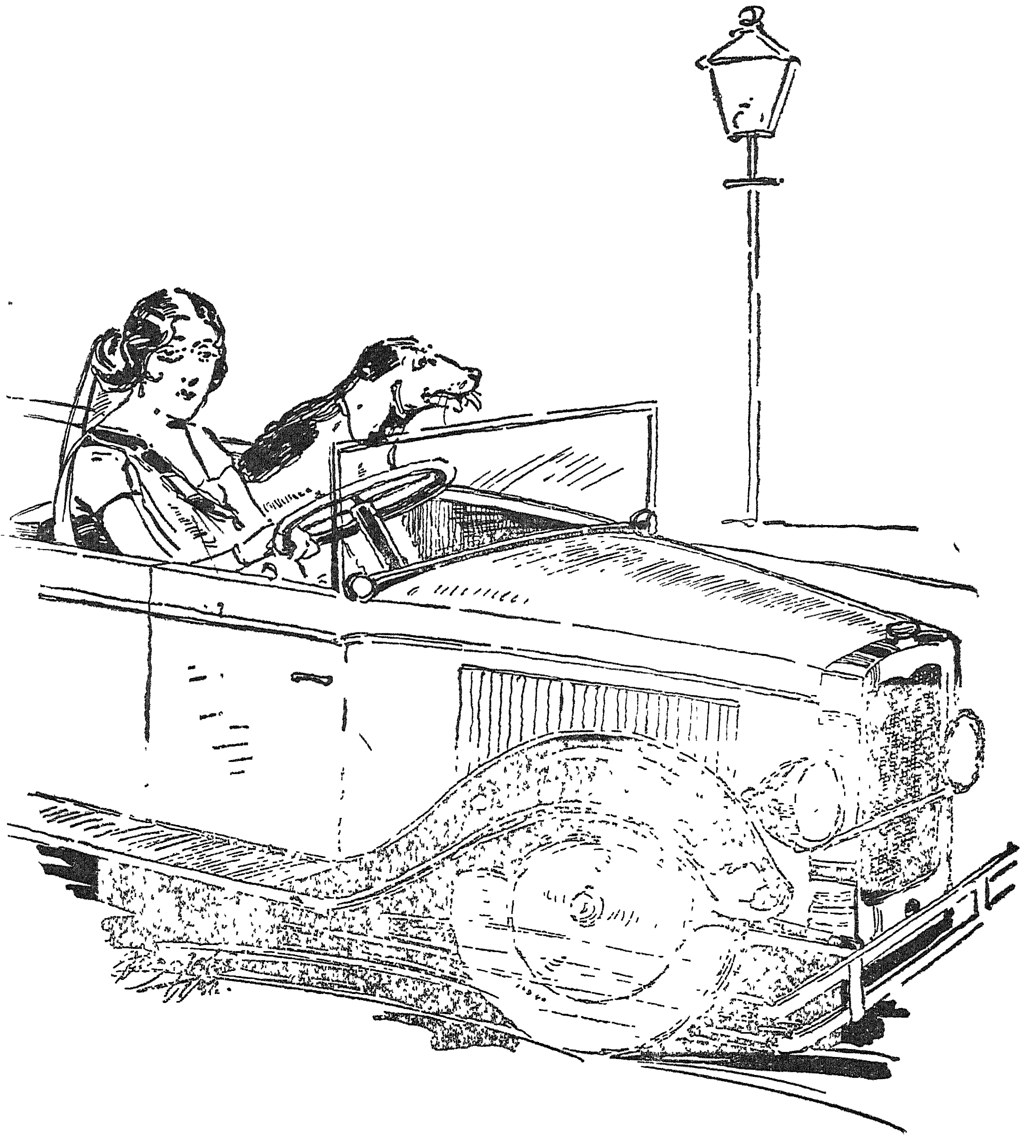
(४)



१० बजे—कॉलेज

आधुनिक सम्पन्न नारी की दिनचर्या

(५)



५ बजे—वायु-सेवन

आधुनिक सम्पन्न नारी की दिनचर्या

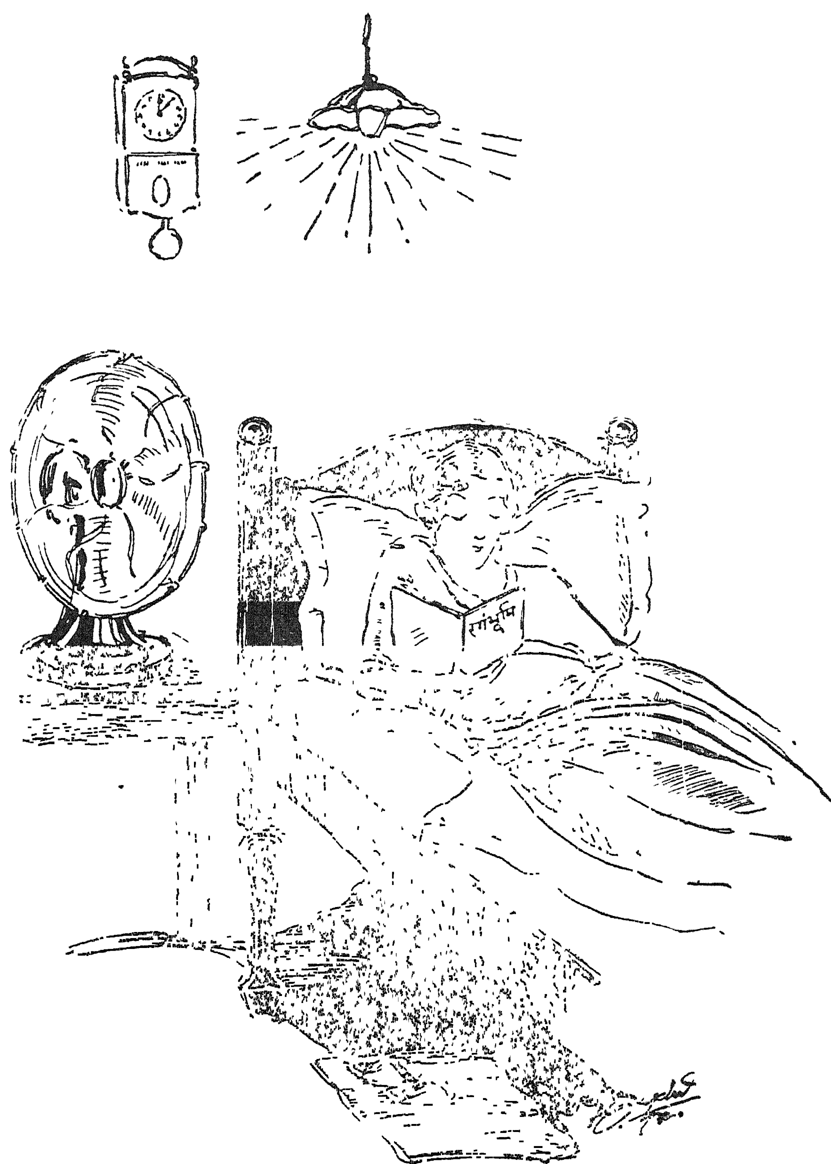
(६)



८ बजे रात—रेडियो

आधुनिक सम्पन्न नारी की दिनचर्या

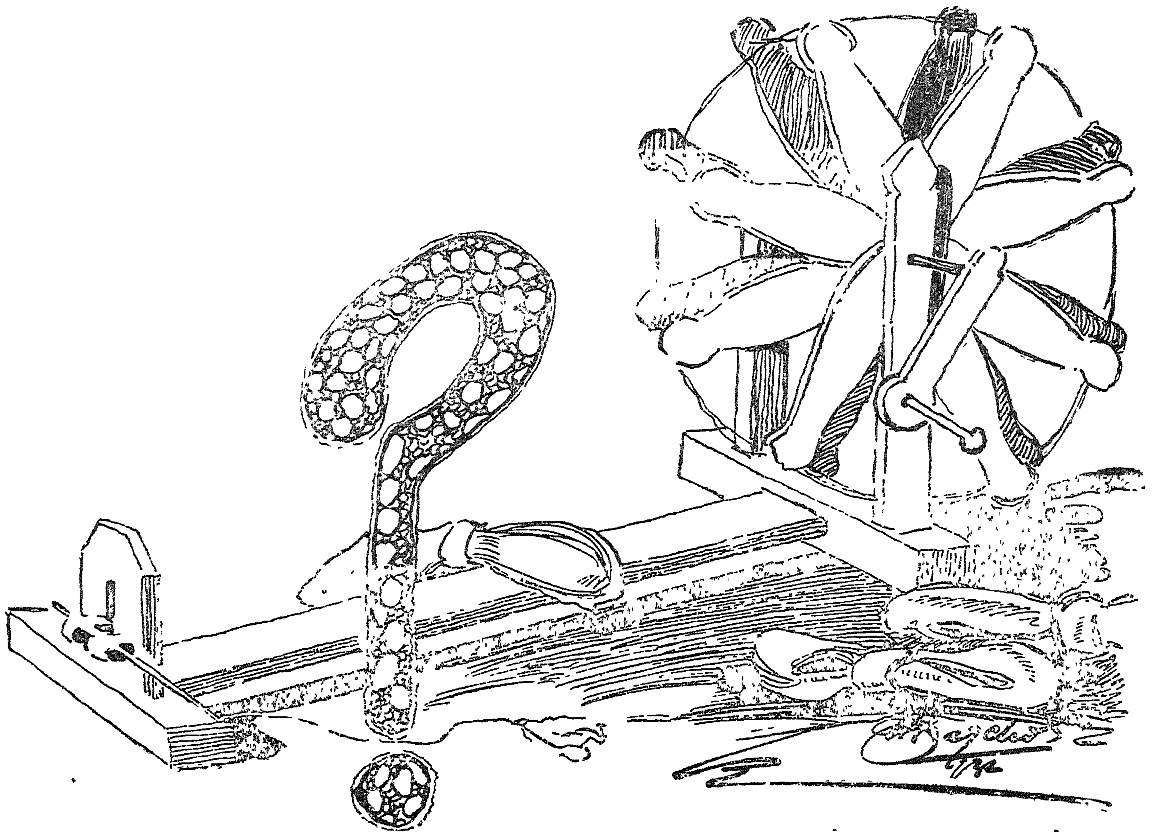
(७)



१२ बजे रात—उपन्यास पाठ

आधुनिक सम्पन्न नारी की दिनचर्या

(८)



गृह-कार्य कब करें !



काली, दुर्गा आदि को प्रसन्न रखने के लिए पशु-बलि आरम्भ हुई। बहुत पहले ग्राम्य-गीत, किंवदन्तियों के आधार पर—यहाँ नर-बलि भी प्रचलित थी, किन्तु अब यह नहीं होता। कभी-कभी किसी व्यक्ति की आकस्मिक मृत्यु को इस भावना से प्रकट अवश्य किया जाता है। 'अष्टवली' और 'काल रात्रि' के अवसर पर बकरे, भेड़, सुअर, मुर्गे, भैंसे आदि की लोथों का ढेर देखने को मिल जाता है। बलि की श्रेष्ठता देवियों को प्रसन्न करने तक ही सीमित नहीं है। गृह-प्रवेश, विवाह आदि के अवसरों पर बलि आवश्यक समझी जाती है। प्रसन्नता की बात यह है कि इस प्रथा का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है।

शाक्तों के प्रभाव के कारण एक और बुरी प्रथा का प्रचार चल पड़ा है। 'शराबख़ोरी' शाक्तों के एक मकार—मदिरा—का ही आधुनिक रूप है। इसका बुरा परिणाम शहरों में ही नहीं, गाँवों में भी मिलता है। मेलों या अन्य अवसरों पर शराब के दौर ख़ूब चलते हैं। इसके मूल में शीत से बचने की भावना भी हो सकती है, किन्तु प्रधान प्रभाव शाक्तों का ही है। पल्टनों में शराब पिलाने की अवाञ्छनीय प्रथा से अङ्गरेज़ सरकार ने भी शराब के प्रचार में काफ़ी सहायता की है। पहाड़ी युवक पल्टनों में हज़ारों की संख्याओं में हैं। घर आकर वे शराब पीना बन्द नहीं करते। उसे बहादुरी का उपक्रम समझ कर अपने बच्चों को भी पिलाते हैं। वैष्णवों की संख्या यहाँ बहुत ही छोटी है। उनका प्रभाव सामाजिक जीवन पर नहीं के बराबर पड़ा है।

इस धार्मिक गड़बड़ समन्वय का कारण मेरी समझ से यह है कि यहाँ की जनता भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों से आई हुई है। भारतवर्ष का कोई विरला ही रिवाज हो, जो यहाँ न मिले। महाराष्ट्र, गुजरात, राजपूताना पञ्जाब आदि का सामञ्जस्य तो था ही, अब अन्य प्रदेशों के रीति-रिवाजों का भी धीरे-धीरे मिश्रण हो रहा है। यहाँ के मन्दिर आमदनी के साधन हैं, किन्तु सरकार की उपेक्षा और प्रबन्धकों की मनमौज इसका सदुपयोग करती है। अधिकारियों की तो पाँचों उङ्गलियाँ घी में रहती हैं। किन्तु निर्धनों को इसका नगण्य अंश ही प्राप्त होता है। वहाँ के अत्याचारों की ओर न तो सनातनधर्म के महाप्राण मालवीय जी का और न किसी धर्म-रक्षिणी सभा का ही ध्यान आकृष्ट होता है। आज पहाड़ी नायक जाति पर सभी समाज-सुधारक नाक-भौं सिकोड़ते हैं, किन्तु यदि शांत चित्त से इस समस्या पर विचार किया जाय तो इसके मूल में मन्दिर के पुजारियों की काम-लालसा ही दीख पड़ेगी। क्या समाज के अधिकारी इन मामूली सी बातों पर विचार नहीं कर सकते? अङ्गरेज़ सरकार धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का दावा करती है। मैं कहता हूँ, यह पहाड़ के जीवन को कमज़ोर करने की नीति है। सेठों का पैसा इसी माध्यम से ग़रीबों तक पहुँच सकता था। देश में कुछ 'साम्यवाद' का प्रचार इस तरह हो सकता था, यदि इन मन्दिरों के धन का सदुपयोग किया जाता।

यहाँ की साधारण ग्रामीण जनता मैदानों की ग्रामीण जनता की अपेक्षा सुखी है। उन्हें मिलों या अन्य स्थानों पर कुली का काम नहीं करना पड़ता। ज़मींदारों की तोंद फुलाने के लिये अपनी कमाई से हाथ नहीं धोना पड़ता। बेदख़ली की भयङ्करता का सामना नहीं करना पड़ता। किन्तु तो भी यहाँ के जीवन में एक अशांति है। यह ठीक है कि सभी के पास कुछ न कुछ खाने को रहता है। अन्न नहीं तो घास ही सही, पेट भरने को मिल ही जाता है। उदरपूर्ति के लिये अवाञ्छनीय कार्यों का आश्रय नहीं लेना पड़ता। अपनी ज़मीन का पूरा उपयोग करने को मिल जाता है। अपनी कमाई पर पूरा अधिकार रहता है, किन्तु प्रकृति के करालरूप के कारण कभी-कभी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

यहाँ का सामाजिक सङ्गठन इस आवश्यकता पूर्ति की समस्या में बहुत कुछ सहायक होता है। द्विजों के साथ हरिजनवर्ग उपयोगी वस्तुओं के निर्माण में पूर्ण सहयोग रखता है। मैदानों की अपेक्षा हरिजनों के साथ अधिक सहानुभूति बर्ती जाती है। उन्हें उनके परिश्रम के अनुरूप पारिश्रमिक दिया जाता है। उनके पास खेती कम रहती है। वे व्यवसायी वर्ग के होते हैं—लोहार, बढ़ई, दरजी, तेली, कजड़ आदि लोग अपने-अपने

व्यवसाय से अपनी रक्षा करते हैं। ये किसानों को उनकी साल भर की आवश्यकताओं के लिये उपक्रम दे देते हैं और किसान फ़सल के मौक़े पर उन्हें अन्न दे देते हैं। अवसर विशेष पर उन्हें रुपया-पैसा भी दिया जाता है। लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध पहले एक कुटुम्ब के लोगों के से थे। अब भी हैं, यद्यपि वैमनस्य का रूप शहरों में फैल कर कुछ अंशों में गाँवों में भी पहुँच चुका है। एक दूसरे की आवश्यकताओं के लिये सभी प्रयत्नशील रहते हैं। एक खटकने वाली बात इस सम्बन्ध में यह है कि शहरी लोग गाँव के लोगों को बिल्कुल अजीब दृष्टि से देखते हैं। उनसे वे भाईपन का नाता करने में सङ्कोच करते हैं। यदि कोई देहाती नौकरी के लिये जाता है, तो उसकी अपेक्षा शहरी व्यक्ति को अवसर अधिक मिलता है, यह दुर्भाग्य की बात है। शहर के ऐसे व्यक्तियों को शर्म आनी चाहिये।

पहाड़ी सार्वजनिक जीवन यदि बहुत उच्च नहीं तो गिरा हुआ भी नहीं है। यहाँ के लोग राष्ट्रीय जाग्रति में पिछड़े हुए नहीं हैं। यहाँ नेताओं का सम्पर्क न रहने पर भी काफ़ी जाग्रति है। पिछले असेम्बली के चुनाव में इसका स्पष्टीकरण हो भी चुका है। सार्वजनिक जीवन के लिए आवागमन की सुविधाएँ और पत्रों का प्रचार आवश्यक है। पहली बात अल्मोड़े और नैनीताल को कुछ लाभान्वित कर चुकी है, किन्तु गढ़वाल को इसका लाभ नहीं है। गढ़वाल का एक ही कोना—सुदूर दक्षिण-इस वैज्ञानिक आविष्कारों के ज़माने में मैदानों से मिलाया गया है और यह भी लैन्सडाउन की पल्टनों की सुविधा के लिए। बाक़ी सारा ज़िला पड़ा हुआ है। न कहीं रेल, है न मोटर और न अच्छी सड़कें।

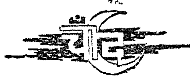
पहाड़ी प्रदेशों की सम्पत्ति उनके जङ्गलों में बिखरी हुई है। औषधियाँ, फल, लकड़ी, शहद आदि का व्यापार यहाँ की जनता को धनी बना सकता है। भोटिये और मरचे अपनी ऊन की चीज़ों से बहुत फ़ायदा उठा सकते हैं। लेकिन करें तो कैसे करें?

यहाँ पत्रों की संख्या तो काफ़ी है, किन्तु सार्वजनिक जीवन की भलाई और जाग्रति में अल्मोड़े की 'शक्ति' ने अपूर्व योग पहुँचाया है। अल्मोड़े से ही 'कुमाऊँ कुमुद' एक और पत्र निकलता है। जिसमें समय-समय पर अच्छे लेख निकलते हैं, किन्तु यहाँ की जाग्रति में उसका विशेष योग नहीं है। 'समता' रायसाहब लोगों की पत्रिका है। उसका प्रतिक्रियावादी होना स्वाभाविक ही है। बच्चों के लिए 'नटखट' अच्छा पत्र निकलता है। गढ़वाल से 'गढ़वाली', 'उत्तर भारत', 'क्षत्रिय वीर', 'हितैषी' निकलते हैं, किन्तु जाग्रति में 'उत्तर भारत' के अतिरिक्त कोई भी योग नहीं देता। 'गढ़वाली' ने अपने बाल्यकाल में कुछ काम किया था। कुछ साल पहले 'गढ़देश' नाम का एक और पत्र निकलता था। उसने अवश्य बहुत कुछ कार्य किया था। 'क्षत्रियवीर' क्षत्रियों का पत्र है और ब्राह्मण-क्षत्रिय द्वेष के बीज बोता रहता है।

सार्वजनिक संस्थाओं का तो यहाँ नितान्त अभाव है। गढ़वाल में इधर तीन-चार साल से 'गढ़वाल-ग्राम-सेवा-सङ्घ', 'गढ़वाल-साहित्य-परिषद' आदि संस्थाएँ कुछ काम कर रही हैं, किन्तु मुझे ठीक मालूम नहीं कि अल्मोड़े में भी कुछ ऐसी संस्थाएँ हैं कि नहीं। मायावती का वेदान्ताश्रम और महानन्द मिशन यहाँ के सार्वजनिक जीवन के लिए कुछ काम अवश्य करता है। मिस रीड, और कुछ विदेशी सज्जन भी अपने त्याग से कुछ सेवा कर रहे हैं।

वास्तव में यहाँ का सार्वजनिक जीवन अधिक विकसित नहीं हो पाया है। इसका कारण शिक्षित-वर्ग का उपेक्षा-भाव है। पारस्परिक फूट भी बहुत कुछ बाधक सिद्ध हुई है। कुमाऊँ के तीनों ज़िलों में सांस्कृतिक ऐक्य होने पर भी राजनीतिक सम्बन्धों के कारण फूट पड़ जाती है। यह विदेशी राज्य की 'बन्दर-बाँट' के कारण ही है। यह भावना राष्ट्रीय जाग्रति के साथ-साथ कम होती जा रही है। अपनी परवाह अगर हम अपने आप करने लगें तो ऐसी बातें उठ ही नहीं सकतीं हैं।

खान-पान और ब्याह आदि के विषय में यहाँ अभी काफ़ी कट्टरता है। ब्राह्मणों में सगोत्रीय जातियों में परस्पर खान-पान चलता है। दूसरे गोत्र वालों के हाथ की रोटी खा सकते हैं, भात नहीं। कुछ भागों में ब्राह्मण



राजपूतों के यहाँ भी रोटी खा लेते हैं, लेकिन कुछ लोग उनके यहाँ रोटी तक नहीं खाते। यही दशा राजपूतों के पारस्परिक सम्बन्ध की है। प्रत्येक गाँव को अपनी जाति होती है, उपजातियों की संख्या यहाँ बहुत है। बेटी विवाहित होने पर चौके में तभी जा सकती है, जब उसके ससुराल के लोगों से रोटी-भात चलता हो। अविवाहिता लड़की के हाथ का खाना नहीं खाया जाता। कुछ जातियों में पुरुषों की तरह स्त्रियों का भी यज्ञोपवीत संस्कार किया जाता है।

विवाह की शिव-पद्धति और राम-पद्धति दोनों चलती हैं। बाल-विवाह की प्रथा अब तक चली जा रही है। शारदा ऐक्ट की कुछ भी परवाह नहीं की जाती। कभी-कभी दो साल की लड़की का भी विवाह हो जाता है। विवाह के बाद वह अपनी माँ के पास रहती है। विधवा-विवाह प्रचलित ढङ्ग से नहीं होता। राजपूतों में और विशेष परिस्थितियों में ब्राह्मणों में भी देवर विधवा भाभी को रख लेता है। राजपूतों और हरिजनों में तलाक़ भी चलता है। कुछ ब्राह्मण और कुछ राजपूत वंशों को छोड़ कर सभी जगह विवाह में वरपक्ष वाले को रुपये देने पड़ते हैं। कुछ लोगों का तो यहाँ तक विश्वास है कि यदि लड़की के रुपये न लिये जायँ तो विवाह सफल नहीं होगा। विवाहों में फ़ज़ूलख़र्ची बहुत होती है।

ख़ैर, ये बातें तो देखनी ही हैं, किन्तु एक और सूक्ष्म पहलू यहाँ के जीवन का है। भारतीय संस्कृति के अध्ययन करने वाले के लिए यहाँ की घाटियों में, मन्दिरों के अवशेषों में, गढ़ों के खंडहरों में, हिमालय की गुफाओं में अनेक सामग्रियाँ पड़ी हुई हैं। एक जगह रह कर सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के दर्शन करने वाले को यहाँ अवश्य जाना चाहिए। इसमें अत्युक्ति नहीं है। भाषा के अध्ययन के लिए भी यहाँ पर्याप्त सामग्री है। दुर्भाग्यवश बोलियों में लिखित साहित्य नहीं मिलता, किन्तु ग्राम्य-गीतों और कथा-किम्वदन्तियों में यहाँ के सामाजिक जीवन के अतिरिक्त भाषा का भी अच्छा रूप मिलता है। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन में कुछ शब्दों का अर्थ हिन्दी के कोषों के आधार पर ठीक नहीं मिलता। उनके अर्थ यदि यहाँ के प्रचलित अर्थ के आधार पर किये जायँ तो वे अधिक समीचीन जान पड़ेंगे।



प्रतीक्षा

[श्रीमती निर्मला मित्रा]

मुसीबत का पहाड़ टूटा तो क्या उसे बेचारी सती के ही दुखद जीवन पर टूटना था !—अब वह जाये कहाँ, क्या करे, और अपने दुस्तर मरु-जीवन में किसका सहारा ले।

अन्दर, कमरे में इज़ीचेयर में पड़ा प्रेमसुन्दर घबड़ा रहा था, और बाहर बरामदे की खूँटी पकड़े खड़ी सती आँसुओं की धारा से सोच रही थी कि आज सन्ध्या के मलिन मुहूर्त ने यह जो कलङ्क का काला टीका, मेरे शुभ्र-ललाट पर लगा दिया, यह अब कैसे मिटे ; और इसके मिटने का उपाय क्या है ? किन्तु न भी मिटे तो इसकी गति, और फिर परिणति ही किस रूप से जीवन के सामने आयेगी ?

कुछ लज्जा कुछ घृणा और ज्यादातर अफ़सोस के साथ प्रेमसुन्दर उठ आया और द्वार पर खड़े होकर पुकारा –'सती !'

अश्रु-भार से अवरुद्ध स्वर कण्ठ के आगे आने को लज्जित होते थे। लेकिन जवाब तो एक देना ही पड़ेगा, तो बड़े मुश्किल से सती के कण्ठ से निकला "जी !"

"जी !—भला जी क्यों ?"

"आपकी दया—?"

"बस, बस—औरतों के पास इतनी ही जमा-पूँजी है, उनकी इस दीनता ने ही, उन्हें आज इस क़दर गिरा दिया है। तुम्हारी इस धारणा को ही देखो। पीसने को गई थीं दूसरे के यहाँ, घर लौटते शाम हो गई, अँधेरी गली में अकेली पाकर किसी बदमाश ने सता-सा दिया, अचानक मैं आ पहुँचा। मेरा फ़र्ज़ था, देश की, धर्म की, ख़ास कर एक पड़ोस में रहने वाली लड़की की इज्ज़त को अपने प्राण निछावर करके भी बचा लेना—इसमें दया की बात कैसी ?"

किन्तु सती नीरव, वह कहती क्या ? वह जानती है, दूसरों की दया पर ही हिन्दू विधवाओं का जीवन निर्भर रहता है, स्वतन्त्र सत्ता उनकी कुछ रहती ही नहीं; यदि रहता तो सती आज इस दशा को न पहुँचती। भाई खाना-कपड़ा देते हैं तो भावज कस कर काम लेती है, तिस पर भी उनका कहना है—'नौजवान विधवाएँ जितना पीसना-कूटना करें, उतना ही उनके लिये अच्छा'—सती ने चुप से राजीनामा की दरख़ास्त उनके पैरों तले पेश कर दी, लेकिन, भावज बोली—'पर चक्की तो मैं मकान में गाड़ने न दूँगी'—सती ने शङ्का और सङ्कोच से कहा—"मैं पीछे के आँगन में चक्की लगा लूँ तो ?"

भावज त्योरी चढ़ा कर बोली—"बाप रे बाप ! यह भी कोई बात है, दिन-रात घरर-घरर के मारे मेरे दिमाग़ का ठिकाना भी रहेगा, एक तो 'ब्रेन-कम्पलेन' लगा ही रहता है, पर तुम यह भी तो कर सकती हो, उस पूरे की मिश्राइन चाची के यहाँ, दोपहर को आटा पीसने चली जाया करो।"

उस दिन से सती उस पूरे की मिश्राइन चाची की पाषाण-चक्की में गेहूँ के साथ अपनी अठारह साल की तन्दुरुस्ती को दिन भर घुटा-घुटा कर पीसने में तल्लीन हो गई।

लेकिन मुसीबत भी एक ऐसी चीज़, जिसने बेचारी सती के पर्यूसित-पिष्ट-पीड़ित शुष्क यौवन को भी न छोड़ा, और अपनी बाज़ सी निगाह का शिकार लवा-रूपी सती को ही बना लिया।

अच्छा, लिया तो लिया,—उसी के सोच में, दोनों युवक-युवती का इस अँधेरी गली में खड़े रह जाना भी

कुछ शोभा नहीं देता—सो प्रेमसुन्दर ने कहा—"चलो घर तक पहुँचा दें।"

सामने से 'टार्च' फेंकते कोई महाशय आते दिखाई दिये। साफ़ कुछ दिखता न था, फिर भी सती चिल्ला पड़ी—"भैया!"

'भैया रुक गये,..."

प्रेम ने आगे बढ़कर सब हाल बयान कर दिया।

आटा की टोकरी उलटी पड़ी है, नुक़सान की तो हद्द ही है। भैया के कपाल पर क्रूरता के बल पड़ गये 'टार्च' फेर-फेर कर दोनों को कई बार देखने के बाद गम्भीरतापूर्वक भाई साहब बोले—"मैं समझता हूँ, अब तुम्हीं इसको ले जाओ।"

"तुम्हीं इसको ले जाओ"—यह स्वर धीमा और निस्तेज होते हुये भी, दोनों के कान में मानों बिजली कड़क पड़ी।

सती खड़ी-खड़ी बेतस पत्र-सी काँप रही थी, और प्रेम की ज़ुबान को तो लक़वा ही मार गया हो।

भैया आगे बढ़े—एक-दो, चार-छः, और दस क़दम......

सती विकृत स्वर से चिल्ला पड़ी—"मुझे तो ले चलो..."

भैया खड़े हो गये, और आश्चर्य भरे स्वर में बोले—"मैं तुझे कैसे ले चलूँ? मैं संसार-समाज का आदमी हूँ, मेरे लड़के-लड़कियाँ हैं, उनकी शादी, गौना, जनेऊ, जुलूस में कोई भी सामाजिक व्यक्ति मेरे मकान पर क़दम रखेगा?—और फिर मैंने अछूतोद्धार का ठेका भी तो नहीं लिया है, जिन्होंने वह ठेका लिया है, उन्हीं युवकों में से एक युवक यह हैं, तुम इन्हीं के साथ हो लो।"

बस रे बस, भैया बस कर गये,—ऊपर से विधि-विधान, नियम और क़ानून को रचनात्मक भाषा में व्यक्त कर, रास्ते में राहगीर को भी बता कर चलते बने।

किन्तु सती का दिल न माना, अभी माता जी मौजूद हैं, और मातृस्नेह एक निराली चीज़ होती है,—मकान पर जगह न भी मिले, कोई व्यवस्था, कोई नियन्त्रण वे कर दे सकती हैं, तो, आशा-भरी सती घर पहुँची।

परन्तु इधर माता के दिल के स्नेह-द्वार तो संस्कारों की अन्धता ने पूर्व से ही बन्द कर दिये थे,—सो उन्होंने भी, उसी अन्धकार में प्रेमसुन्दर का द्वार-निर्देश कर, अपना पवित्र द्वार बन्द कर लिया।

× × ×

बहुत देर तक प्रेमसुन्दर कुछ सोचता रहा, फिर अन्तरित उष्णता में भर कर बोला—"मैं कौन हूँ? आज सन्ध्या के पूर्व तक पड़ोसी और अनात्मीय रहा, अभी-अभी मैं—तुम्हें परवरिश करने का, तुम्हें ठिकाने लगाने का हक़दार कैसे बन गया सती,—और तुम भी कैसे बे-खटके चली आईं?"

सती की आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी थी, और फिर भी वे बरसते ही रहे।

प्रेम ने कहा—"तुम्हें ख़राब लगेगा, लेकिन मुझे साफ़ और सच बात तो कहनी ही पड़ेगी, तुम युवती हो, विधवा हो, ऊपर से बदमाश की सताई हुई हो, यह बात छिपी न रहेगी—और मैं, माँ-बाप का लड़का हूँ, युवक हूँ, विद्यार्थी हूँ, सामने मेरा उज्ज्वल भविष्य धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। तुम्हारे लिए मैं अपने स्वर्ण-दिनों को कैसे ठुकरा दूँ?"

प्रेमसुन्दर के एक-एक शब्द की कठोरता से सती की आँखों से आँसू धीरे-धीरे सूखने लगे।

प्रेम ने कहा—'नारी की इस दीन दशा पर, मुझे तरस न आकर, उल्टा ग़ुस्सा आता है, दिल होता है कि अभागिनियों को एक तरफ़ से खड़ी करके बन्दूक़ से उड़ा दूँ, क्योंकि वे अपनी इच्छा से ही अपने घृणा की पात्री बनाती हैं। तुम्हीं को देख लो, तुम्हें ज़बरदस्ती जो कुछ कहा गया, तुमने अनायास ही उसे मान लिया, चाहे तुम्हारी पवित्रता नष्ट न हुई हो। क्या किसी के छूने से ही पवित्रता नष्ट हो जाती है?

सती स्तब्ध खड़ी रही, किन्तु प्रेमसुन्दर के जोशीले शब्द, सती के दिल पर मानो जादू का सा असर कर गये, उसकी अठारह साल की निद्रित बुद्धि, मानों आलोक-स्पर्श से धीरे-धीरे जग गई।

प्रेम ने फिर शुरू किया—"तुम क्यों आईं ? यहाँ आने से तुम्हारी नारी-मर्यादा कितनी हेय हो गई, कुछ ख़याल कर सकती हो ? तब केवल किसी की स्पर्श की हुई थीं, पर अब दुनिया क्या कहेगी ?"

महा अन्धकार में अचानक यह बिजली की रेखा, सती के सारे अन्तःस्तल को जलाकर भस्मीभूत कर गई, दोनों हाथों से मुँह ढाँक कर वह फूट कर रो पड़ी।

प्रेमसुन्दर दरवाज़ा से लग कर पाषाणवत् खड़ा रहा, न हिला न डुला। कितना समय अतीत हो गया, रात और कितनी बाक़ी रही, दोनों व्यथित आत्माओं को ख़बर भी न हुई—आख़िर समय ने ही आगे बढ़कर चेतना दिलाई—कमरे में क्लाक ने टन-टन तीन बजा दिये।

प्रेमसुन्दर बड़े आतुर कण्ठ से कह उठा—"ओ सती! तुम क्या कठिन नहीं हो सकती हो ? तुम क्यों न कहती हो, मुझे माँ नहीं चाहिए, भाई नहीं चाहिए ; प्रेम-सुन्दर की दया को मैं लातों से ठुकरा दूँगी—मैं, मैं ही हूँ, अपनी परिपूर्ण मर्यादा से दुनिया में रहना चाहती हूँ, उसकी अवमानना होने से मरना श्रेयस्कर है।"

सती अकस्मात् कह बैठी—"हाँ"

प्रेम एकाएक चमक पड़ा—"हाँ का क्या मतलब ? क्या मरोगी ?"

"नहीं, मुझे बनारस तक पहुँचाने को अपना नौकर साथ कर दें।"

इतनी सङ्कटमय स्थिति में भी प्रेम को हँसी आई, वह बोला—"तुम निरी पागल हो, बनारस में तुम्हारे रिश्तेदार ज़रूर होंगे—लेकिन यह हवा, यह अफ़वाह, वहाँ तक पहुँचने में विलम्ब न करेगी, फिर तुम कितनी घृणा से वहाँ से भी ठुकरा दी जाओगी, यह जानती हो ?"

सती की आँखों में अब पानी नहीं था, उसने दृष्टि उठाकर जवाब दिया—"यह अफवाह वहाँ पर कुछ भी असर न करेगी, मेरी रिश्तेदारिन वेश्या है, और मुझे वह सानन्द आश्रय देगी।"

प्रेम को काटो तो ख़ून नहीं, इतनी देर से इतना समझाया-बुझाया और आख़िर नतीजा यह निकला!

सती ने कहा—"तो ज़रा नौकर को हुक्म कर दें—"

प्रेम का दिल ग़ुस्से से भर गया, बोला—"आख़िर तुम वहाँ जाकर अपनी पवित्रता कैसे बचा सकती हो ?"

"मेरी पवित्रता बचे चाहे न बचे, इससे आपको मतलब ? और यह सोचने की बात—बाद की है, इस समय तो मुझे यहाँ से जाने दीजिए।"

प्रेम उठकर कमरे के अन्दर चला गया।

सती कुछ क्षण राह देख कर बोली—"अच्छा मुझे तो कहीं मुँह छुपाना पड़ेगा ही—" और उसने क़दम बढ़ा दिया।

गेट के पास पहुँचने पर प्रेम ने उसे बुलाया, और भारी स्वर में बोला—"सती ठहरो तो, बिहारी गाड़ी लाने गया है—और कुछ रुपए पैसे ?"

"नहीं"

"अच्छा तो यह बता जाओ कि मेरे ऊपर क्रोध-क्षोभ से ही क्या तुम ऐसे स्थान में अपना नाश करने जा रही हो ?"

पिछली रात का चाँद पूर्व से उदय हो रहा था, उसी के मृदु आलोक में सती प्रेम की आँखों में आँसू देख चमक उठी, फिर कुछ क्षण में बोली—"आप विश्वास रखें, मैं अपनी मर्यादा के लिये हानिकर कोई भी काम इस जीवन में नहीं करूँगी।"

हाँ, सती चली गई,—और न मालूम किधर निकल गई,—तीन साल के अन्दर, तीन बार 'समर वेकेशन' की छुट्टियों में, प्रेम ने बनारस की गली-गली छान डाली, पर उसका पता कोई नहीं बता सका।

प्रेम के पिता चिन्तित हैं, माँ घबड़ाती हैं—डॉक्टरों ने राय दी कि शरीर की इस दशा में भ्रमण उपयोगी है।

प्रेम तो यही चाह रहा था—चल पड़ा, काश्मीर, मसूरी, देहरादून होकर टूटा दिल और भग्न स्वास्थ्य लेकर, प्रेम और आगे बढ़ा। हरिद्वार, ऋषिकेश, लछमनझूला—बन पड़े तो वह और भी आगे बढ़ कर देखेगा।

आख़िर, एक दिन पर्वत की तलहटी में सती मिल गई—प्रेमसुन्दर सन्न रह गया—कहना चाहा—"सती, तू कैसे योगिन बन गई!"

सती ने काँख से मिट्टी का घड़ा नीचे रख कर, दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार किया, फिर बोली—"आप भी सम्भवतः बद्री-केदार के यात्री हैं ?"

प्रेम बोला—"नहीं, मुझे यह सब ढोंग नहीं आता, पर तुम्हें ऐसी सूरत बनाना किसने सिखाया है !"

सती बोली—"हिन्दू विधवा को यह भी कोई सिखाता है ?"

प्रेम के कलेजे में मानो बिच्छू ने डङ्क मार दिया हो। वह असहिष्णु होकर कह उठा—"तो तुम उस रात को हिन्दू विधवा का हृदय लेकर ही मेरे वहाँ आई थीं ?"

सती के मुख पर कोई भी भाव-परिवर्तन लक्षित न हुआ, लेकिन शान्तियुक्त दृढ़ता से वह भी वज्र आघात करती हुई बोली—"उस दिन के दिल का हिसाब क्या रहा, मैं आज भी समझ न पाई हूँ, पर यह भी ठीक था कि मैं आपकी...।" और उसने घड़ा उठा लिया, फिर धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगी।

प्रेम की आँखें भर आईं, स्वर रुँध गया, बोला—"सचमुच तुम बड़ी निष्ठुर हो, बड़ी पाषाण हो, मैंने तुम्हें कहाँ न ढूँढ़ा—सती, सती, सुनो भी"—

सती दूर—ऊँचे पर खड़ी हो गई—"आपकी इस कृपा के लिए धन्यवाद है, किन्तु एक विधवा को ढूँढ़ने की आप को क्या पड़ी थी ?"

प्रेम अचञ्चल स्वर में स्पष्टतः कह बैठा—"मैं तुमसे विवाह करूँगा।"

प्रेम के इस कथन में कहीं जड़ता नहीं, कहीं अस्पष्टता नहीं, सच्चे हृदय से संस्कार की पाषाण-प्राचीर भेद कर उन्मुक्त झरने की-सी कल-ध्वनि करती हुई उसकी भावना प्रकट हो गई। इसके आवेग को रोकना मानो प्रेम के हृदय को टूक-टूक करना है। किन्तु, निरुपाय सती, संस्कार की सीमा में आबद्ध सती, कुछ क्षण महा व्यथित सी देखती रही, फिर धीरे-धीरे बोली—"जिस नारी को एक दिन नारी-मर्यादा का पाठ आपने पढ़ाया था, वह आप ही का ऐसा आचरण देखकर कितनी दुःखी होगी।"

प्रेम झिझक पड़ा, बोला—"मैं यह नहीं मान सकता कि सती तुम विधवा हो, नौ साल की विधवा कुछ विधवा नहीं कहाती, संस्कारवश तुम्हारे दिल में यह धारणा जम गई है, तो जमी रहे, किन्तु मैं तो तुमसे विवाह करूँगा ही,—और ठहरो तो, अपने गुरु का पता बताओ, मैं उन्हीं के पास पहुँच कर तुम्हें माँग लूँगा।"

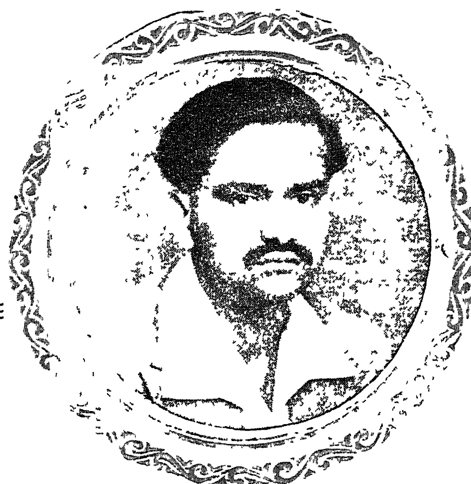
भीत-विवर्ण सती की काँख से मिट्टी का घड़ा छूट पड़ा—और वह भयभीत होकर पहाड़ की आड़ में हो गई।

× × ×

और सती हिमालय के गहन स्तरों में फिर खो गई, और प्रेम लाख तरह से ढूँढ़कर भी उसे पा न सका। किन्तु इस विकृति-बुद्धि युवक-दिल से आशा आज तक तिरोहित नहीं हुई। वह सोचता है, वह तीर्थ-चारिणी कभी तो लौटेगी। इसलिये उसने अपना अड्डा जमा लिया है, उसी स्थान पर, जहाँ बदरी, केदार और मानसरोवर के यात्री अक्सर उतरते हैं।



संस्मरण



[श्री० गोवर्द्धनदास त्रिपाठी, विशारद]

समय मार्च मास के रूप में करवट बदल कर जाना चाहता था। ठीक ३१ तारीख की संध्या की बात है। मैं उस दिन बनारस में था। गया था इसलिए कि इण्टर की परीक्षा वहीं से दूँ, ताकि कुछ साहित्यिकों से, जो बाँदा और बनारस के बीच में पड़ते हैं, मिल सकूँ। नौकरी से तो महीनों अवकाश नहीं मिलता। मुझे परीक्षा केवल अङ्गरेज़ी ही में देनी थी, अतः मेरा काम ३१ को ही समाप्त हो गया। समाप्ति के बाद मेरा पहिला कार्य 'प्रसाद' जी से मिलने का था। मैं अपने होटल में जहाँ ठहरा हुआ था, फ़ौरन गया। होटल के मनेजर से, जो एक बङ्गाली सज्जन थे प्रसाद जी के निवास के बारे में पूछा। वे स्वयं न जानते थे, अतः मुझसे कह गये कि ठहरिए, मैं फ़ोन से पता लगवाये देता हूँ। मैंने क़रीब १५ मिनट तक प्रतीक्षा की, पर वे न आये। नौकर से पूछने पर मालूम हुआ कि वे एक विशेष कार्य से चौक चले गये हैं और मुझसे प्रतीक्षा करने को कह गये हैं। मैं प्रसाद जी से मिलने के लिए उतावला था, अतः स्वयं ही पूछ कर पता लगाने का आश्रय लेकर मैं चल पड़ा। मेरे साथ मेरे दफ़्तर के एक मित्र और थे, वह भी मेरे साथ हो लिये। बाहर निकल कर पान वाले की एक दूकान थी, वहाँ एक खादीधारी सज्जन खड़े हुए पान खा रहे थे। वह महाशय गुजराती मालूम होते थे। मैंने उनसे अपना प्रश्न फ़ौरन ही पूछ डाला। वे बोले कि वे हिन्दी बहुत कम जानते हैं, पर प्रसाद जी हिन्दी के बड़े अच्छे 'राइटर' हैं और यहीं बनारस में रहते हैं। निवास का ठीक पता आपको लहरी बुकडिपो में चल जायगा, लहरी बुकडिपो देखिए आगे है। हमलोग आगे चल पड़े। मैंने वहाँ 'प्रसाद' जी के निवास स्थान के विषय में पूछा, जिसका उत्तर उन्होंने दिया कि "आप यहाँ से बाज़ार जाइए और 'सुँघनी साहु' की दूकान पूछिए, जब आप दूकान पर पहुँच जावें तो वहीं प्रसाद जी को देखिएगा। सम्भव है मिल जावें। गत दो मास से तो वह दूकान नहीं आये हैं, क्योंकि काफ़ी बीमार रहे हैं। यदि दूकान पर न मिलें तो घर का पता वहीं पूछ लीजिएगा।" मैंने सीधा ताँगा उसी ओर बढ़ाने का सङ्केत किया, हम लोग चल दिये। थोड़ी देर में ताँगे वाले ने उसी बाज़ार में पहुँचा दिया और एक गली के किनारे लाकर खड़ा कर दिया और दूर से बता दिया कि उस तिराहे पर की दूकान 'सुँघनी साहु' की है। हम लोग उतर कर चल दिये।

हम लोगों ने अपना पता बता कर मकान का पता पूछा। उन्होंने पता गोवर्धनसराय बताया। ताँगे वाले को बुलाकर मैंने ठीक तरह पता समझवा दिया। ताँगे वाले ने समझकर कहा, चलिए, आपने पहिले गोवर्धनसराय का पता नहीं बताया वर्ना मैं वहीं ले चलता। वह हमको ले चला। बड़े मियाँ घोड़े को चाबुक लगाते चल दिये। हम लोग दूकान के विषय में बातचीत करने लगे। आध घण्टे के क़रीब लगा। ताँगे वाले ने एक गली के किनारे फिर खड़ा कर दिया और इशारा कर दिया कि यहाँ दरियाफ़्त कर लीजिए। गोवर्धनसराय का यह पुराना मुहल्ला था, यहीं प्रसाद जी का घर था। उसके इर्द-गिर्द पुराने ढङ्ग के

गृहस्थों की बस्ती मालूम पड़ती थी। मुख्य सड़क तक आने के लिए कई गलियाँ और छोटी सड़कें पार करनी पड़ती है। उसी मुहल्ले में 'सुँघनीसाहु' का महाजनी मकान अपने प्राचीन वैभव को मौनस्वर में सङ्केत करता हुआ दिखाई देता है। उसमें पुरातत्व विशेषज्ञों के लिये विशेष आकर्षण है, क्योंकि वह हिन्दी के रवीन्द्र, विक्टर ह्यूगो 'प्रसाद' का निवास बन चुका है। पुराना मुहल्ला, पुराना मकान, और चारों ओर प्राचीन वातावरण, चारों ओर सुर्ती और ज़र्दा के कारखाने आदि देखकर यह पता लगा लेना कठिन था कि यह साहित्य के निर्माता प्रसाद का स्थान होगा।

मकान के दरवाज़े पर जाकर दरियाफ़्त किया, मालूम हुआ प्रसाद जी हैं और हम लोगों को ऊपर बुला रहे हैं। हम लोग छत पर पहुँचे। छत के ऊपर एक बर्साती टीन से छाई हुई थी, वहाँ एक तख्त पड़ा हुआ था, जिस पर एक वृद्ध सज्जन बैठे थे। उनसे बाईं ओर एक आराम-कुरसी पर प्रसाद जी बैठे थे, पास में उगालदान रक्खा था, सामने हम लोगों के लिए दो कुर्सियाँ पड़ी थीं; हम लोग प्रणाम करके बैठ गये। मैंने प्रसाद के उस समय तक के सिर्फ़ चित्र ही देखे थे। चित्रों के प्रसाद से आँखों के सामने वाले प्रसाद भिन्न थे, पर मुझे पहिचानने में अधिक देर न हुई, वे स्वयं उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से नवागन्तुकों की ओर देख रहे थे। मैंने अपना परिचय दिया। वे परिचय जान कर पूछने लगे कि हम लोग यहाँ कैसे आये हैं। मैंने अपने आने का कारण बतलाया और कहा कि आपके दर्शनों की बड़ी लालसा थी। वे कारण जान कर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि आपका उत्साह सराहनीय है। सरकार के सबसे अधिक कार्य वाले विभाग में कार्य करते हुए विद्याध्ययन करना सराहनीय है। मैंने उनकी बात का उत्तर कुछ न दिया और पूछा कि आपका स्वास्थ्य कैसा है? उन्होंने कहा कि मैं पिछले कुछ महीनों से बीमार हूँ, दो महीने अधिक कष्ट के थे। मैंने बीमारी पूछी कौन है? उत्तर मिला कि बीमारी की तशख़ीश अभी ठीक-ठीक वैद्य नहीं बतलाते हैं, पर तपेदिक निश्चय है। मैं सुन कर स्तब्ध रह गया, तपेदिक की पिशाचिनी लहर एक कलाकार की पवित्र आत्मा को छूना चाहती है। मैंने पूछा कि आप आजकल अध्ययन वग़ैरह तो नहीं करते? उत्तर मिला नहीं। इसके पश्चात् वे मुझसे पूछने लगे कि मैं कुछ लिखता हूँ या नहीं? मैंने कहा कि लिखता तो नहीं हूँ; कभी-कभी खिलवाड़ कर लिया करता हूँ। इसके पश्चात् वे बोल उठे कि "मुझे ख़याल आता है कि आपकी एक कहानी मैंने साप्ताहिक 'भारत' में पढ़ी है।" मैंने—बतलाया हाँ, वह जनवरी के २६ तारीख के अङ्क में प्रकाशित हुई थी। मैंने उस कहानी की कथा उन्हें सुनाई। वह किस प्रकार एक स्थान से अस्वीकृत होकर 'भारत' में प्रकाशित हुई थी। इस पर वे नवीन लेखकों और पत्रकारों के ऊपर विचार प्रकट करने लगे। उन्होंने मुझे बतलाया कि कभी कोई रचना अख़बार में प्रकाशित करने की इच्छा से लिखिये ही नहीं, पत्रकारों का व्यवसाय तो व्यापार है। लेखकों को उनकी इन्कारी से हतोत्साह नहीं होना चाहिए, अपितु और वेग से कार्य में संलग्न होना चाहिए। उन्होंने दो-एक बातें इस सम्बन्ध में मुझसे कहीं। इसके पश्चात् उन्होंने मेरी और रचनाओं के बारे में पूछा। मैंने बतला दिया कि मैंने दो पुस्तकें लिखी हैं, पर दोनों अप्रकाशित हैं। एक कविता-पुस्तक है और एक उपन्यास है। उपन्यास मैं अपने हाथ ही में लिए था, अतः बता दिया कि वह यह है। वे बड़े उत्सुक थे उसे देखने को पर बीमारी बढ़ जाने का भय उन्हें ऐसा करने से रोक रहा था। वृद्ध सज्जन भी कहने लगे कि आजकल डॉक्टर साहब ने अधिक बातचीत करने तक को मना कर दिया है। मैंने स्वयं ही उनसे कह दिया कि इसे आप प्रकाशित होने पर देख लीजियेगा, प्रकाशित होने पर कविता-पुस्तक पर दो शब्द भी आपको लिखने पड़ेंगे। उत्तर मिला—लिख दूँगा, पर अभी तीन-चार महीने नहीं। क्योंकि मैं पहाड़ जा रहा हूँ और वहीं रहूँगा।

मैंने प्रसाद जी के साथ वार्तालाप में जो आनन्द उठाया, उसे मैं लेखनी-बद्ध नहीं कर सकता। प्रसाद जी की सौम्यमूर्ति उस विश्वनाथ की पुरी में उनकी विभूति लेकर अवतरित हुई थी। वह गाम्भीर्य, वह विवेचन एक विशेष आकर्षण रखता था। उस व्यक्तित्व की छाप

हृदय-पटल पर अमिट पड़े बिना नहीं रह सकती। उसके पश्चात् मैं दस दिनों में हिन्दी के और-और महारथियों और प्रसिद्ध साहित्यकारों से मिला, पर प्रसाद जी के साथ मिल कर जो आनन्द मुझे मिला वह कहीं न मिला। मेरी और प्रसाद जी की क़रीब १५-२० मिनट तक बातचीत हुई थी, उसमें उनको खाँसी कई बार आई। एक बार तो बड़े वेग के साथ आई। मुझे बड़ा दुख हुआ कि मैं दर्शन करके ही क्यों न चला गया; मैंने बातचीत क्यों की। मुझे हिन्दी के पत्रों के व्यवहार पर भी बड़ा विस्मय हुआ। प्रसाद ऐसे साहित्यिक की बीमारी का समाचार पत्रों में नहीं छपता, कैसे दुख की बात है। मैं थोड़ी देर और बैठा। मैंने उन्हें ४-५ हाथ की दूरी से भली प्रकार देखा, वे दुखी होते हुए भी हँसमुख स्वभाव के प्रतीत होते थे। 'आँसू' ऐसे गम्भीर काव्य के कृतिकार होते हुए सदैव कर्मठ थे। प्रसन्नता और सजीवता की वे मूर्ति थे। उन्हें साक्षात् आनन्द कहना चाहिए। जैसे मैंने उन्हें अपनी कला-प्रदर्शन में पाया वैसे ही वास्तविक रूप में भी मैंने उन्हें देखा।

प्रसाद द्विवेदी युग की विभूति थे। इस युग के तीन कर्णधार हैं—मैथिलीशरण गुप्त, जयशङ्कर प्रसाद, और प्रेमचन्द। यही त्रिमूर्ति विष्णु, शिव और ब्रह्मा के रूप में हैं। इस त्रिमूर्ति ने हमारे साहित्य के चित्रपट पर हमारी भारतीयता का जो अङ्कन किया है, वह अमर है; उन्होंने एक युग की नींव डाली है। गुप्त जी तथा प्रसाद गङ्गा-यमुना की भाँति स्पष्ट हैं, पर प्रेमचन्द सरस्वती की धारा की भाँति अदृश्य हैं। गुप्त जी ने वैष्णव संस्कृति का आधार लेते हुए बीसवीं सदी की कला को अपनाया है और प्रसाद जी ने बौद्ध संस्कृति को। काव्य द्वारा गुप्त जी ने जिन आदर्शों का प्रतिपादन किया है, वही आदर्श 'प्रसाद' ने नाटकों में व्यक्त किये हैं। दोनों की कला का आधार धर्म है। प्रेमचन्द की कला राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित है, उनकी भारतीयता में राष्ट्रीयता का प्रभाव है। वह धर्ममूलक न होते हुए अर्थमूलक है। उसमें जो सहृदयता तथा उदारता है, वही हमारी भारतीय संस्कृति है, अन्यथा वह विदेशी परतंत्रता के हाथों पीड़ित तात्कालिक भारतीयता है, जिसके धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक सभी प्रश्न भविष्य के गर्त में हैं। एक ही मनुष्यता में यह सांस्कृतिक त्रिकोण इस प्रकार देखा गया है, जो भिन्न-भिन्न सामाजिक परिस्थितियों में उत्पन्न होकर भी रुचिकर है।

प्रसाद जी यों तो सदैव के लिए सो गये पर हमारी स्मृतियों में वे सदैव ही जगते रहेंगे। प्रसाद की प्रतिभा बहुमुखी थी। कवि, नाटककार, कहानीकार, उपन्यासकार, निबन्धकार, वे सभी थे। नाटक में तो कोई उनसे तुलना करने वाला न अभी तक हुआ है न है। अपनी महायात्रा करने के पूर्व प्रेमचन्द के गोदान की भाँति वे भी 'कामायिनी' जैसा महाकाव्य अपने कीर्ति-शिखर पर स्वर्ण-गुम्बज की भाँति शेभित कर गये हैं। दोनों इस युग के सफल यात्री हैं। प्रसाद का 'आँसू' उनकी प्रेमपूर्ण भावुकता और जीवन के प्रति उनकी जागरुक दार्शनिकता का सार है।

प्रासद जी आज नहीं हैं, दुनियाँ एक दिन न रहेगी, पर प्रसाद उन लोगों में हैं, जिनके लिए कहा गया है :—

'बिछुरत एक प्राण हर लेहीं।'

मैं उनसे केवल एक ही बार थोड़े समय के लिए मिला हूँ, पर मैं जानता हूँ कि मेरे जीवन की वे शून्य घड़ियाँ कितनी पुण्यमयी थीं। मेरा पीड़ित हृदय आज यह अनुमान करता है कि उसकी कोई प्यारी वस्तु खोगई है। मैं तो ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि वे फिर हम लोगों के बीच में अवतरित होकर साहित्य के अपूर्ण भाग को पूर्ण करें। ३१ मार्च की संन्ध्या का वह दृश्य मेरी आँखों के सम्मुख सदैव रहेगा, आराम-कुर्सी पर बैठे हुए प्रसाद मेरी आँखों से कभी हट नहीं सकते। 'आँसू' की पंक्तियाँ पढ़ कर तो मुझे ऐसा मालूम होता है, मानो प्रसाद अदृश्य पथ से कह रहे हैं :—

चमकूँगा धूल-कणों में, सौरभ में उड़ जाऊँगा।
पाऊँगा कहीं तुम्हें जो, ग्रह-पथ में टकराऊँगा॥

रूप की प्यास

[श्री० चन्द्रप्रकाश वर्मा 'चन्द्र']

रूप ! रूप !! यौवन की प्यास ।
लघु मानव का लघु इतिहास ।

अङ्ग-अङ्ग में नवल उमङ्ग,
नयनों में उमड़ा रस-रङ्ग,
पल-पल में मादक भ्रू भङ्ग,
नारी हँसी-बहा उल्लास ।
रूप ! रूप !! यौवन की प्यास ।

पनघट पर आई पनिहारिन,
रीता घड़ा भरा सा ले मन,
बोला आतुर पथिक उसी क्षण,
'प्यास बुझाओ, बढ़े न त्रास'
रूप ! रूप !! यौवन की प्यास ।

दो ही साँसें शेष रहीं जब,
चलने वाला बोल उठा तब,
'प्रिये ! मिलन होगा फिर अब कब...?
प्यास बुझी कब ? टूटा श्वास ।
रूप ! रूप !! यौवन की प्यास ।

सिंची भूमि, उभरी हरियाली,
हिले सुमन, छलकी मधु-प्याली,
बही बात मद से मतवाली,
भ्रमर चला कह कलि के पास—
रूप ! रूप !! यौवन की प्यास ।

अरे ! आदि में एकाकीपन,
और मध्य में भी वन-निर्जन,
किन्तु अन्त में मिलन, चिर-मिलन,
सरि-सागर का हास-विलास ।
रूप ! रूप !! यौवन की प्यास ।

वन में अलख जगी ज्ञानी की,
सुधि न उसे भोजन-पानी की,
महा साध छोटे प्राणी की,
चिर छवि में अनन्त विश्वास ।
रूप ! रूप !! यौवन की प्यास ।

राग रूप मय, विरति रूप मय,
पुरुष रूप मय, प्रकृति रूप मय,
मानव रीझा नियति रूप मय,
सुन्दर अवनि और आकाश ।
रूप ! रूप !! यौवन की प्यास ।

भारतीय जनता और निरक्षरता

[श्री० नन्दगोपालसिंह सहगल]

प्रत्येक देश और काल के विचारवान व्यक्तियों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि शिक्षा ही मनुष्य का भूषण है। एक संस्कृत लोकोक्ति में विद्याहीन पुरुष को पशु के तुल्य बतलाया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा ही मनुष्य के ज्ञान-रूपी नेत्रों को खोलने और अज्ञानान्धकार को मिटाने का प्रधान साधन है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य भले-बुरे का विवेक प्राप्त करता है और अपने तथा समाज के लिये हानिकारक विषयों की तरफ़ से सचेत हो सकता है। पुराने विद्वानों के कथनानुसार विद्याहीन व्यक्ति उस अन्धे आदमी के समान है, जिसे पता नहीं कि उसके सामने कुँआ है या खाई।

यह सच है कि इस समय संसार की परिस्थिति के बदल जाने से शिक्षा की परिभाषा में बहुत कुछ अन्तर पड़ गया है। पहले साधारण श्रेणी के लोगों का जीवन अब की अपेक्षा बहुत अधिक सीधा-सादा और आडम्बर-शून्य होता था और उनका काम आजकल की अपेक्षा बहुत थोड़े ज्ञान से चल जाता था। इसके सिवाय उस समय किताबी शिक्षा के बजाय मौखिक शिक्षा ही अधिक उपयोगी और कारगर समझी जाती थी और पुस्तकें बहुत ही थोड़े व्यक्तियों के हाथ में दिखलाई पड़ती थीं। उस समय समाज की कितनी ही श्रेणियों को पढ़ने-लिखने की मनाही थी। उन लोगों का कार्य समाज में उच्च पदस्थ लोगों की सेवा ही समझा जाता था और इस कारण उनके लिये पढ़ना-लिखना बेकार समय खोना समझा जाता था।

पर इन दिनों संसार की अवस्था में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक अन्तर पड़ गया है। अब समाज में पुरानी श्रेणियाँ टूटती जाती हैं और लोगों को—कम से कम सिद्धान्त रूप में—समान अधिकार मिलते जाते हैं। इसके सिवाय अब शासन-प्रणाली में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं और राजसत्तात्मक के स्थान में प्रजा-तन्त्र अथवा प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन क़ायम हो जाने से प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक हो गया है कि वह अपने नगर, देश और संसार की भी गति-विधि से निरन्तर कुछ न कुछ अंशों में परिचित रहे। इस समय इसका मुख्य साधन समाचार-पत्र और सामयिक साहित्य ही है। इसलिये देश और समाज की व्यवस्था में अपने अधिकारों का उपयोग करने तथा अपने दायित्व का पालन करने के लिये वर्तमान समय में साक्षर होना अनिवार्य है।

इतना होने पर भी अभी तक संसार में साक्षरता का बड़ा अभाव है। यूरोप और अमेरिका के कुछ देशों को छोड़कर शेष देशों में बहुसंख्यक व्यक्ति निरक्षर हैं। हमारे देश में तो, जैसा पाठक जानते हैं; सौ में नब्बे से अधिक व्यक्तियों के लिये काला अक्षर भैंस बराबर है। यहाँ जिन व्यक्तियों को बहुत ही टूटी-फूटी भाषा में चिट्ठी लिखना आता है, उनको लेकर भी पढ़े-लिखों की संख्या ८ प्रति सैकड़े के लगभग बतलाई जाती है। एक तरफ़ आधुनिक-शिक्षा-प्रणाली का ऐसा अभाव और दूसरी तरफ़ प्राचीन ढङ्ग की मौखिक-शिक्षा और धार्मिक कृत्यों तथा कथाओं आदि के रूप में दिये जाने वाले उपदेशों का दिन पर दिन लोप। ऐसी अवस्था में अगर हमारा देश दिन पर दिन अज्ञान के गर्त्त में निमज्जित होता जाय तो क्या आश्चर्य? इसी अविद्या और निरक्षरता

के फल-स्वरूप हमारा देश तथा समाज अनेक दोषों तथा त्रुटियों का घर बना हुआ है।

हमारे देश की सब से बड़ी व्याधि दरिद्रता है। यह एक नहीं, अनेक दोषों और पापों की जननी है। कहा भी है कि भूखा आदमी कौन सा पाप नहीं कर सकता। दरिद्रता के होते हुये उन्नति की आशा तो दुराशा मात्र है। जिन लोगों का सारा जीवन पेट के लिये हाय-हाय करते ही बीतता है, वे आगे बढ़ने और संसार में कोई स्मरणीय कार्य कर दिखाने का विचार ही कैसे कर सकते हैं? पर क्या पाठकों ने कभी यह सोचने का कष्ट उठाया है कि इस दरिद्रता का मूल अविद्या ही है। वर्तमान समय में संसार के जिन देशों के निवासी पूर्णतया अथवा अधिक संख्या में शिक्षित हैं वे ही सब प्रकार से सुखी, शक्तिशाली और वैभव-सम्पन्न हैं। इसके विपरीत अशिक्षित लोग गिरे हुये और असभ्य ही नहीं समझे जाते, वरन् दूसरे लोग पद-पद पर उनका अपमान करते हैं और उनको लूटकर खाना तथा उनके परिश्रम से तरह-तरह से लाभ उठाना (Exploitation) अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। यही कारण है कि अफ़्रीका और एशिया की कितनी ही जातियाँ अन्य अनेक सद्गुणों के होते हुये भी आज पददलित हो रही हैं, उनकी उन्नति के सब मार्ग रुद्ध कर दिये गये हैं और उनकी शक्तियों तथा उनके देश के प्रकृतिदत्त साधनों से दूसरे लोग लाभान्वित हो रहे हैं। इतना ही नहीं, अगर उनको अवसर मिल भी जाय, तब भी वे ज्ञान के अभाव से अपने देश के साधनों को विकसित करने में असमर्थ रहते हैं। उनकी वही दशा होती है, जैसे कि प्राक्ऐतिहासिक काल में कोयले की खान पर बैठे हुए भी तत्कालीन मनुष्यों को ठण्ड में मरना पड़ता था।

हमारे यहाँ की दूसरी बड़ी शिकायत लोगों का निर्बल स्वास्थ्य, भाँति-भाँति की बीमारियाँ और स्वच्छता का अभाव है। इसका कारण तो स्पष्टतः अशिक्षा और अज्ञान ही है। इस सम्बन्ध में लेफ़्टिनेण्ट कर्नल डॉक्टर रसल ने सन् १९३२ में एक सरकारी रिपोर्ट में लिखा था कि "संसार के जिन देशों में सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिये सबसे अधिक धन खर्च किया जाता है वहाँ भी आबादी की दृष्टि से वह प्रति व्यक्ति एक या दो पेनी (आना) से ज़्यादा नहीं होता। भारत में तो उसका औसत इससे भी बहुत कम है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि जब तक इस सम्बन्ध का ज्ञान इस देश के देहातों में न फैलाया जायगा, तब तक विशेष उन्नति की आशा दुराशा मात्र है, क्योंकि यहाँ की अधिकांश जनसंख्या शहरों के प्रभाव से पृथक् गाँवों में ही बसती है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि गाँवों में शिक्षा-प्रचार की व्यवस्था होना अनिवार्य है।" वास्तव में यदि सरकार बीमारियों के कारणों की जाँच-पड़ताल तथा भोजन-सामग्री के तत्वों जैसी स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों में काफ़ी खर्च करे, पर उस ज्ञान को साधारण जनसमूह में प्रचारित करने की कोई व्यवस्था न हो तो उसका होना न होना बराबर ही है। यह सच है कि हमारे गाँवों और शहरों की स्वास्थ्य के लिये हानिकर अवस्था का बहुत कुछ सम्बन्ध हमारी दरिद्रता से भी जोड़ा जा सकता है, पर यदि लोग अधिक संख्या में शिक्षित और समझदार हों तो वर्तमान अवस्था में निजी उद्योग से भी इस बुराई को अनेक अंशों में कम किया जा सकता है।

हमारी सामाजिक कुप्रथाओं और हानिकर रीति-रिवाजों का कारण भी अशिक्षा के सिवा और कुछ नहीं बतलाया जा सकता। हम अच्छी तरह समझते हैं कि हमारी विवाह-प्रथा आजकल बहुत दूषित हो गई है और उसके कारण हमारी दिन पर दिन अधोगति होती जाती है, पर अज्ञानवश उसके सुधार का साहस नहीं करते। हम देख रहे हैं कि पशुओं की नस्ल सुधारने के लिये भी मज़बूत और स्वस्थ जानवरों को तलाश किया जाता है, पर अपनी भावी सन्तान की उत्पत्ति में हम केवल रूढ़ियों और प्राचीन मर्यादा को ही मुख्य स्थान देते हैं। हम ब्रह्मचर्य की महिमा काफ़ी सुनते रहते हैं, पर अपने दुध-मुँहे बच्चों को भी विवाह-सूत्र में बाँधने में सङ्कोच नहीं करते। हम जानते हैं कि सृष्टि को क़ायम रखने के लिये लड़कों के समान लड़कियाँ भी अनिवार्य हैं और जाति की उन्नति उन पर अधिक निर्भर है, पर तो भी हम अपनी पुत्रियों के पालन

और शिक्षा-दीक्षा में घोर लापरवाही का परिचय देते हैं। हम देख रहे हैं कि हमारी स्त्रियों के साथ न्याय का व्यवहार नहीं किया जाता, वे मानवीय अधिकारों से प्रायः वञ्चित रखी जाती हैं और इसके फल-स्वरूप हमारा गार्हस्थ्य तथा पारिवारिक जीवन आनन्द-रहित हो गया है, पर प्राचीनता के नाम पर हम इसमें कुछ भी परिवर्तन स्वेच्छा से नहीं कर पाते। हम जानते हैं कि हमारे विवाह-शादी, भोज और सामाजिक उत्सवों में कितनी बातें फ़िज़ूलख़र्ची की और सभ्यता तथा सुरुचि के विपरीत हैं, पर हम लकीर के फ़क़ीर बने रहने में ही श्रेष्ठता समझते हैं। ये सब बातें अशिक्षा के कारण ही सम्भव हैं। ज्ञानहीन व्यक्ति अपने निर्दिष्ट पथ से जरा सा इधर-उधर हटने में भी भय का अनुभव करता है और इसलिये वह प्रायः रुढ़िवादी बन जाता है। जो थोड़े से लोग शिक्षा के प्रभाव से इन बुराइयों को समझ भी जाते हैं, उनको बहुमत के प्रभाव और भय से सर झुका देना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि अत्यन्त आवश्यक और सामयिक सुधार भी कार्य रूप में परिणत नहीं हो पाते और समाज दिन पर दिन निर्बल तथा दूषित होता जाता है।

और भी अनेकों बुराइयाँ अशिक्षा के कारण हमारे यहाँ पैदा हो रही हैं, जिनका विस्तृत विवरण निरर्थक है। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि जब तक इस देश में सर्व-साधारण की शिक्षा की उचित व्यवस्था न होगी और बालकों को ही नहीं, वयस्कों को भी पढ़ाने-लिखाने का कोई कारगर उपाय शासकों की तरफ़ से नहीं किया जायगा, हम उन्नति कर सकने में असमर्थ रहेंगे और जो हानिकारक बुराइयाँ हमारे समाज में पाई जाती हैं, वे कदापि दूर न की जा सकेंगी।

वेदना

[श्रीमती शान्तिदेवी]

गये वे प्रिय जाने किस ओर ?

तड़ित दिखलाती नवल छटा,
शून्य में छाई श्याम घटा
गरजते हैं घन नर्तित मोर !
गये वे प्रिय जाने किस ओर ?

श्याम मेघों का रव घनघोर
बरसते बूँद-बाण चहु ओर
उधर चातक भी करता शोर।
गये वे प्रिय जाने किस ओर ?

छिपा है अब वारिद में चन्द
कुमुदिनी भी है सकुचित बन्द
विरह में कितना विकल चकोर !
गये वे प्रिय जाने किस ओर ?

देख वसुधा का सुन्दर रूप
क्षितिज से नभ का मिलन अनूप
हृदय हो उठता प्रेम-विभोर
गये वे प्रिय जाने किस ओर ?

ढूँढ़ती हूँ कब से अविराम
श्याम घन में तुमको घनश्याम,
तनिक पथ दिखला दो चित चोर !
गये वे प्रिय जाने किस ओर ?



उसे तपेदिक़ हो गई थी

[श्री० कुँवर मोहनसिंह सेंगर]

राधा मेरी सबसे प्यारी बहन थी। संसार में उससे अधिक उन्सियत मुझे और किसी भी व्यक्ति या चीज़ से नहीं थी। वह यद्यपि मेरी सौतेली माँ से थी, पर हममें सगे भाई-बहन से भी अधिक प्रेम था। हम दोनों में से कभी किसी ने एक दूसरे को यह महसूस नहीं होने दिया कि हमारा जन्म दो माताओं से हुआ है। कभी-कभी मैं क्रोध में आकर कह बैठता—'राधा, तुम मुझसे दूर रहा करो। तुम्हारा-मेरा सिर्फ़ सौतेले भाई-बहन का सम्बन्ध है, इससे अधिक कुछ नहीं।' पर राधा इसे सच नहीं मानती। उसे मेरी बात पर कभी विश्वास नहीं हुआ। होता भी कैसे—उसके जन्म के आठ महीने बाद ही मेरी सौतेली माँ का स्वर्गवास हो गया था। फिर भला राधा उसके बारे में क्या जान सकती थी? वह आँखों में आँसू भर लेती और उदास होकर कहती—'गिरीश भैया, तुम और मुझे जो चाहे कह लिया करो। दो गाली दे लिया करो, मार लिया करो, मैं तुमसे कभी कुछ न कहूँगी। पर भूल कर भी मुझे कभी 'सौतेली बहन' न कहा करो। न मालूम क्यों, मुझे यह सुन कर दुःख होता है; इन शब्दों का आघात मैं सहन कर नहीं सकती।।' मैं ठहाका मार कर हँस देता और जाकर राधा को मनाता—'नहीं, राधा, तुम मेरी सगी बहन हो, प्राणों से भी प्यारी। सौतेली बहन तो मैंने सिर्फ़ तुम्हें खिझाने को कह दिया था। अच्छा, अब तो मुझसे नहीं लड़ोगी न?' राधा सिर हिला कर मेरी ओर मुस्कराती हुई देखती। उसके उदास चेहरे पर हँसी की एक क्षीण रेखा दौड़ जाती। उसकी आँखों में उमड़ते हुए आँसू खिलखिला कर छलक पड़ते। मैं उसके आँसू पोंछ देता और हम फिर हिल-मिल कर खेलने लगते। सच कहता हूँ, हम जैसा प्रेम बहुत कम भाई-बहनों में मिलेगा।



पिता जी राधा को मुझसे भी अधिक प्यार करते थे। इसका कारण यह था कि राधा बिना माँ की बेटी थी। जब मेरी सौतेली

माँ उसे सिर्फ़ आठ महीने का छोड़ कर चल बसी, तो पिता जी ने ही उसका लालन-पालन किया। राधा के जीने की आशा बहुत कम लोगों को थी। वैसे भी लड़कियों के दीर्घ जीवन की कामना कितने लोग करते हैं? पर नियति का रहस्य कौन जान सका है? जिस क्रूर विधाता ने मेरी सौतेली माँ को असमय ही छीन कर हमारे घर को श्मशान बना दिया, न जाने क्यों, उसने राधा का बाल भी कभी बाँका नहीं होने दिया। जब-तब पिता जी हँसी-हँसी में कह देते कि —'गिरीश, तेरी माँ को खोकर उसके बदले में हमने राधा को पाया है।' इस पर राधा तुनक कर कहती—'तो मुझे भी संखिया देकर मार न डालो।' और हम तीनों खिल-खिला कर हँस पड़ते।

राधा हमारे घर का एक हँसता-खेलता सजीव खिलौना थी। उसकी वजह से घर का सूनापन हमें कभी नहीं खलता था। कभी-कभी तो पिता जी हमारे हो-हल्ले से तङ्ग आकर यहाँ तक कह बैठते थे—'तुम हो तो दो बहन-भाई, पर सारे दिन घर को सिर पर उठाये रहते हो।' मैं और राधा दोनों अपनी इस 'तारीफ़' को चुपचाप सुनते, फिर दोनों आँखों ही आँखों में हँसते और भाग खड़े होते। हम सदा भल-मन्साहत से ही खेलते हों, यह बात नहीं थी। कई बार धक्का-मुक्की, थप्प -गाली और लात-घूँसे तक भी नौबत पहुँच जाती थी, पर थोड़ी ही देर बाद फिर सुलह हो जाया करती। एक बार तो मैंने राधा को ऐसा धक्का दिया कि झरोखे के किवाड़ से टकरा कर उसका सिर फट गया। कालान्तर में राधा ठीक तो हो गई, पर उसके सिर पर इसका निशान आजीवन बना रहा। जब कभी मैं हँसी-हँसी में पूछता—'राधा, तुम्हारे सिर में यह क्या हो गया?' वह मुस्करा कर कहती—'यह तो अपने भैया का प्रसाद है!' और हम दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ते।

बचपन के वे दिन कितने सुख और बेफ़िक्री के साथ बीते, यह मैं ठीक-ठीक कह या लिख नहीं सकता। कई बार जी में आया, मैं और राधा सदा 'बच्चे' ही क्यों न बने रहें? उस जीवन में स्वर्गीय सुख था, एक अजीब रस था और न जाने क्या-क्या था? जब कभी उन सुनहरे दिनों की याद आती है, मैं बेत की तरह काँप उठता हूँ। कुछ क्षण के लिये सब कुछ भूलकर पागल की तरह उन्मत्त हो न जाने क्या सोचने-करने लगता हूँ। सोचता हूँ—क्या वह सब एक स्वप्न ही था? सुनहरा, गुलाबी एक मादक स्वप्न ही! आज वे दिन कहाँ हैं? कहाँ है मेरी राधा? कहाँ है उसका वह हँसना, किलकना, मचलना, रूठना और लड़ना-झगड़ना? आज तो सिर्फ़ एक याद बाक़ी है!

२

सन्ध्या को जब पिता जी दफ़्तर से लौटे तो नीचे से पुकारा—'गिरीश, ज़रा एक गिलास ठण्डा पानी तो पीने को लाना, बेटा।'

मैं और राधा ऊपर दुमञ्ज़िले पर कैरम खेल रहे थे। मैंने पिता जी की आवाज़ सुनते ही उठते हुए कहा—'राधा, तुम गोटें जमाओ, इस बार स्ट्राइक तुम्हारा है। मैं पिता जी को पानी पिलाकर आता हूँ।' पर राधा भला कब मानने वाली थी। मैं तो अभी उठ ही रहा था, किन्तु वह चट कुर्सी पीछे खिसका कर यह कहकर भाग खड़ी हुई—'नहीं, गोटें तुम जमाओ। पिता जी को पानी मैं पिलाये आती हूँ।'

मेरे लिये और चाहिये ही क्या था? सेवा-भाव को मैं ज़रा क़िफ़ायत के साथ ही काम में लाया करता हूँ, अतः धम्म से वापिस अपनी कुर्सी पर बैठ गया। गोटें जमाकर मैं राधा के लौटने की प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर बाद राधा ख़ाली गिलास लेकर लौटी और बोली—'गिरीश भैया, तुम्हें पिता जी ने बुलाया है।' मैंने कहा—'क्या पानी नहीं ले गया, इसका जवाब तलब करने को पेशी होगी?' राधा बोली—'नहीं, आज तो वे बड़े ख़ुश हैं। कहते हैं, उससे कुछ ज़रूरी काम है।' मैंने कहा—'अच्छा तुम बैठो, मैं अभी पाँच मिनट में आता हूँ'—और नीचे चला आया।

ज्योंही मैं बैठक में पहुँचा, पिता जी बोले—'बेटा गिरीश, ज़रा उस काले कोट की जेब में से जो एक लिफ़ाफ़ा पड़ा है, उसे निकालना तो।' मैंने खूँटी पर लटके कोट में से एक नीला-सा लिफ़ाफ़ा निकाल कर पिता जी

के हाथ में दिया । उन्होंने उसमें से एक फ़ोटो निकाल कर मुझे देते हुए कहा—'देखो, यह लड़का कैसा है? घर और वर मुझे तो दोनों अच्छे लगे। लड़का एम० ए० पास है। ३००) माहवार पर सरकारी कॉलेज में प्रोफ़ेसर हैं। ख़ूबसूरत और तन्दुरुस्त भी काफ़ी है। तुम्हारा क्या ख़याल है, राधा के लिए ठीक रहेगा न?'

मैंने फ़ोटो को देखते हुए कहा—'हाँ, लड़का तो अच्छा मालूम होता है। पढ़ा-लिखा और बारोज़गार भी है। अच्छा, मैं यह राधा को दिखा कर आता हूँ।' यह कह कर मैं पिता जी के रोकते-रोकते ऊपर दौड़ गया। देखा, राधा कैरम-बोर्ड पर गोटों को इधर-उधर कर रही है। फ़ोटो की ओर देखते हुए मैंने कहा—'राधा, मैं तो शादी कर रहा हूँ। ओहो! कितनी ख़ूबसूरत है यह लड़की?' राधा उठकर मेरी ओर हाथ बढ़ाते हुए बोली—'देखें, कौन है यह इन्द्र की परी?' मैं दो क़दम पीछे हट गया और फ़ोटो को छाती से लगाते हुए बोला—'नहीं, इतनी आसानी से नहीं दिखाऊँगा। एक वादा करो तो दिखा सकता हूँ।' राधा ने सकपका कर कहा—'वादा कैसा, दिखाओ भी।' मैंने कहा—'दिखा दूँगा, पर तुम मेरी भावी-पत्नी की निंदा न करना। अगर तुम यह कहने का वादा करो कि 'हाँ, मुझे पसन्द है, तब दिखा सकता हूँ।' राधा ने कहा—'अच्छा बाबा, यही सही। कह दूँगी-मुझे पसन्द है।' मैंने फिर गम्भीर होकर पूछा—'तो मेरी क़सम खाकर कहो—वादा करती हो न?' राधा ने कहा—'क़सम-वसम की क्या बात, मैं जो कह रही हूँ, क्या झूठ है? अच्छा, वादा करती हूँ।'

मैंने फ़ोटो राधा को दे दी। उसकी ओर देखते ही राधा का मुँह लज्जा से लाल हो गया। उसने तुरन्त फ़ोटो मुझे लौटा दी और बनावटी क्रोध में बोली—'बदमाश! हर वक़्त तुम्हें मज़ाक ही सूझती है। जाओ, अब मैं तुमसे कभी नहीं बोलूँगी।' मैं फोटो लेकर नीचे दौड़ गया।

पिता जी कुछ सोच रहे थे। बोले—'इसी जून में विवाह करने को कहते हैं।'

'इसी जून में?' मैंने पूछा—'आख़िर ऐसी जल्दी क्या है?'

'जल्दी-वल्दी तो कुछ नहीं।' पिता जी ने कहा—'अभी लड़का गर्मियों की छुट्टियों में घर आया है। सरकारी नौकरी ठहरी, बार-बार छुट्टी मिलना मुश्किल है। फिर आजकल फ़ालतू ख़र्च भला कौन करना चाहता है?'

'जैसी आपकी आज्ञा'—मैंने कहा—'मैं तो सोचता था कि राधा दसवीं में आ गई है, इस वर्ष मैट्रिक पास कर लेती, वर्ना शादी के बाद पढ़ाई होना ज़रा कठिन ही है।'

'यह सब कुछ नहीं। लड़का ख़ुद प्रोफ़ेसर है, क्या वह इसे पढ़ने की भी सुविधा न देगा?'

मैं पिता जी के मिज़ाज से बख़ूबी वाक़िफ़ था, अतः चुप हो रहा। शादी पक्की हो गई।

३

राधा की शादी को ९-१० महीने हो गये। मैं और पिता जी राधा को देखे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते थे, पर न जाने इतने दिन तक उससे दूर रहने का धैर्य और साहस हममें कहाँ से आ गया। दो-चार बार उसे बुलाने को लिखा, तो वर महाशय ने लिख दिया कि इस समय उसे भेजने से मेरे घर की सारी व्यवस्था बिगड़ जायगी। अब तो अगली गर्मियों की छुट्टियों में ही ले जाना। पिता जी बड़े ही सहनशील और कोमल स्वभाव के थे। उन्होंने कभी इस विषय में हठ या आपत्ति नहीं की। मुझे यह बात बुरी लगी। कई बार तो बिगड़ कर मैंने यहाँ तक कह दिया कि—'हमारी माँ नहीं रही तो क्या अब राधा इस घर की देहरी भी नहीं देख सकेगी?' पिता जी की आँखें भर आतीं। गद्गद् स्वर से वे कहते—'गिरीश बेटा, मेरा दिल आख़िर पत्थर का तो है नहीं। मैं क्या राधा को तुमसे कम प्यार करता हूँ? पर बेटा, ब्याह के बाद लड़की पराये घर की हो जाती है। उसपर हमारा अधिकार नहीं रहता। तुम्हारे बहनोई अगर चार दिन के लिये उसे भेज दें, तो उनकी भल-मन्साहत और कृपा है, वर्ना हम क्या कर सकते हैं?' मैं पङ्ख कटे हुये पत्ती की तरह यह सब बातें सुनकर, मन मसोस कर, चुप रह जाता।

विवाह के बाद हर दूसरे दिन राधा का पत्र आता था और मैं सब काम छोड़कर उसका जवाब देता था। फिर सप्ताह में दो बार उसका पत्र आने लगा। कुछ दिन बाद सप्ताह में उसका सिर्फ़ एक ही पत्र आने लगा। पर मैंने यह समझ कर उससे कोई शिकायत नहीं की कि शायद वह काम-काज में अधिक व्यस्त रहती होगी, अतः पत्र लिखने का समय नहीं मिलता होगा। धीरे-धीरे यह क्रम कम हुआ—दो और कभी-कभी ३-४ हफ़्तों में राधा का एक पत्र आता। फिर तो १, २ और कभी-कभी तीन महीने में उसका एक पत्र आता। पत्रों में अब बहन के स्नेह और आत्मीयता की छाप भी मुझे कम पड़ती दिखाई दी। अब उसके पत्रों में औपचारिकता मात्र ही रह गई थी—राधा की वह चुलबुलाहट, उसके स्नेह का उमड़ता हुआ स्रोत, न जाने कहाँ विलीन हो गया। मेरे कई पत्रों के उत्तर में उसका जो कार्ड आया वह इस प्रकार था—'तुम्हारे सब पत्र यथासमय मिले। कारण-वश उत्तर न दे सकी। क्षमा करना। तुम्हारे कुशल-समाचार जानकर खुशी हुई। हम सब सानन्द हैं। तुम किसी बात की चिन्ता न करना। पिता जी को प्रणाम।' राधा के हर पत्र का अन्तिम वाक्य हुआ करता था—'मुझे लेने कब आ रहे हो ?'—पर इस बार वह नहीं था। न जाने क्यों ?

कार्ड को पढ़कर मैं तड़प उठा। समझ में नहीं आया, आखिर राधा के पत्र-व्यवहार में यह परिवर्त्तन कैसे और क्यों आ रहा है ? क्या ससुराल के सुखों के आगे राधा अपने प्यारे भाई को भी भूल रही है ? पर जी नहीं माना। मैं और राधा जिस स्नेह-सूत्र में बँधे थे, वह इतना दुर्बल नहीं कि ९-१० महीने पृथक रहने से टूट जाय। अवश्य राधा किसी सङ्कट या असुविधा में होगी। मेरे जी में तरह-तरह की दुःशङ्काएँ उठने लगीं। न जाने क्या-क्या बातें उसके वैवाहिक-जीवन के बारे में मैं सोच गया और फिर स्वयं आत्मतोष के लिये उनका समाधान भी कर गया।

ज्यों ही मेरी परीक्षा समाप्त हुई मैंने पिता जी से अपने बहनोई को लिखवा दिया कि मैं राधा को लेने आ रहा हूँ। बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही मैं चल पड़ा।

* * *

जब मैं अपने बहनोई के घर पहुँचा, तो मालूम हुआ कि वे कहीं बाहर चले गये हैं। मैं घर के भीतर गया। देखा—आँगन में आधा घूँघट निकाले राधा बैठी हुई सिसक-सिसक कर रो रही है और उसकी सास हाथ में चिमटा लिये हुए खड़ी कुछ कह रही है। वह क्या कह रही थी, यह तो मुझे याद नहीं रहा, पर इतना जरूर याद है कि उस समय उसकी मुखमुद्रा रणचण्डिका से किसी क़दर कम रौद्र न थी। मुझे देखते ही उसने चिमटा पीछे की ओर छुपा लिया। अभिवादन आदि की बात भूल कर मैं दौड़ कर राधा के पास पहुँचा। मुझे देखते ही राधा हँस दी, उसके आँसू हँस पड़े, उसका विषाद मुस्करा पड़ा और मेरे गले से लिपट कर वह बोली—'तुम···आगये... भैया !...मैं...कब से...तुम्हारी...राह...देख...रही... थी !'

मैंने राधा के म्लान चेहरे को, उसकी लाल और सूजी हुई आँखों को, उसके बिखरे हुए बालों और सूखे हुए होठों को देख कर आश्चर्य से पूछा—'राधा, तुम्हारा यह क्या हाल है ? तुम नव-वधू हो, ९-१० महीने तुम्हारे विवाह को हुए हैं और तुम्हारा यह हाल ? राधा तुम्हें यह क्या हो गया ? मैं तो समझता था, तुम सुखी हो, भले घर और वर को पाकर सुखी रहोगी।' इतने में ही उसकी सास चिल्ला उठी—'बहू, देख कितनी धूप चढ़ आई है। आज कुछ खाने-पीने को भी बनेगा या बाज़ार से मँगवाना पड़ेगा। अपने भैया से, दिन भर पड़ा है, फिर बातें कर लेना। थका-माँदा आया है—ज़रा आराम भी करने देगी या दिमाग़ ही चाट जायगी।'

मैंने धीरे से राधा से कहा—'जाओ, काम करो, बात-चीत फिर करेंगे'—और जाकर उसकी सास के पाँव छुए। कुशल-क्षेम पूछने के बाद वे बोलीं—'बेटा, तुमने अपनी बहन को पढ़ाया-लिखाया तो ज़रूर, पर फ़ायदा उससे कुछ भी नहीं हुआ। न तो उसमें बात करने की तमीज़ है, न बहू-बेटियों का शऊर। घर का काम-काज तो भला वह क्या जाने—बेचारी स्कूल से पढ़ती-पढ़ती आई है।

फिर घर पर माँ भी नहीं थी, जो कुछ सिखाती।' मैंने मन में उमड़ते हुए क्रोध और ग्लानि को दबाने का यत्न करते हुए कहा—'आपका फ़रमाना दुरुस्त है अम्मा जी, पर अब तो यह आपकी लड़की है। धीरे-धीरे आपके सहयोग से सब कुछ सीख जायगी। अभी तो वह है भी बच्ची ही।'

'बच्ची बड़ी है'—राधा की सास ने तेवर बदल कर कहा—'ये १६ वाँ साल जा रहा है। मैं तो १६ साल की उम्र में ३ बच्चों की माँ थी और फिर भी सारा काम ख़ुद करती थी। और इसे रोटी बनाने में ही सिर दर्द हो जाता है।'

'यह बड़े लाड़-प्यार में पली है। धीरे-धीरे सब सीख जायगी।'

'सीख क्या जायगी अपना सिर! मेरे कहे में तो चलती नहीं है—न अपने पति का कहना मानती है। आख़िर ऐसी बहू को हम क्या दियासलाई लगावें।'

इस बार मैं कुछ न बोला। यह सब मुझे असह्य था, पर करता क्या। मुझे बोलने का अधिकार नहीं। हिन्दू समाज में लड़की को जो दुःख और अपमान सहना पड़ता है, उसके भागीदार उसके परिवार वाले भी होते हैं—विशेषकर बाप और भाई। मैं जानता था, बहुत अच्छी तरह जानता था, कि राधा ऐसी नहीं है, कभी ऐसी हो नहीं सकती और यह कर्कशा बुढ़िया सरासर झूठ बोल रही है। पर मेरे लिये बोलना वर्जित था। बोल तो शायद मैं उठता, पर यह सोचकर नहीं बोला कि कहीं बात बढ़ न जाय और राधा का भावी जीवन अधिक सङ्कटापन्न न हो जाय। लहू के घूँट की तरह मैं इन सारी बातों को पी गया।

दो दिन बाद राधा को विदा कराकर मैं घर के लिये चल पड़ा।

४

घर आकर राधा ने ससुराल की सारी बातें सुनाईं। सास उसे इसलिये मारा-पीटा और बुरा-भला कहा करती थी कि वह राधा को दिये गये दहेज से असन्तुष्ट थी। सकी राय में इससे अच्छा दहेज तो नाई-धोबियों के यहाँ दिया जाता है। पति महाशय इसलिये उससे अप्रसन्न थे कि वह उनकी माँ को सुखी और सन्तुष्ट क्यों नहीं कर सकी? फिर उनके लिये जो सूट सिलवाया गया था, वह 'हल्के' कपड़े का था और बड़ा 'भद्दा' सिया गया था! राधा का जब-तब किताब या अख़बार पढ़ना उन्हें असह्य था। उनका ख़याल था कि पढ़-लिख कर स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं। मुझे राधा का चिट्ठी लिखना भी उन्हें बुरा लगता था। उनका कहना था कि बिना शादी-ग़मी के रोज़-रोज़ चिट्ठी लिखना न सिर्फ़ एक कुटेव है, बल्कि फ़िज़ूलखर्ची भी है। और औरत ख़ुद चिट्ठी क्या लिखे, जो कुछ लिखाना हो अपने पति को कह दे, वह लिख देगा। एक बार तो उसकी सास ने यहाँ तक कह डाला कि—'रोज़-रोज़ अपने किस यार को चिट्ठी लिखती है? मुझसे बहाना बनाती है कि भाई को चिट्ठी लिखती हूँ, जैसे मैं अभी भोली बच्ची हूँ—यह सब समझती ही नहीं।' जब राधा ने विनम्र शब्दों में इस 'अभियोग' का खण्डन किया, तो 'सामने बोलने' और 'ज़बान चलाने' के सङ्गीन अपराध में चिमटे से उसे सज़ा दी गई।

मैंने झुँझला कर राधा से कहा—"राधा, पर तुम यह सब चुपचाप सहन कैसे कर गईं? क्या तुममें इतना भी साहस नहीं कि......"

'साहस?' राधा ने मेरी बात बीच में ही काट कर कहा—'साहस क्यों नहीं है। सङ्कट में स्वतः साहस का जन्म होता है। पर भैया, हिन्दू नारी साहस की शरण लेकर समाज में नहीं रह सकती। उसके लिये यह गुण ही, अवगुण है, कलङ्क है। अगर मैं साहस से काम लेती तो मेरे लिये आज कहीं ठौर-ठिकाना न होता।'

'यह तुम क्या कह रही हो, राधा?' मैंने आश्चर्य से पूछा—'क्या स्त्री होना पाप है? क्या उसके प्राण नहीं? क्या वह भला-बुरा नहीं समझ सकती?'

'हाँ, हिन्दू-समाज में स्त्री होना पाप है, भैया! यहाँ उसकी न कोई इच्छा है, न सुख, न भला-बुरा और न उसका कोई पृथक अस्तित्व। कह सकते हो, वह एक मरी हुई खाल की खलीती है, जिसका पुरुष सौदा करता है, मनमाना उपयोग करता है और नाकारा हो जाने पर

एक दिन चिता पर रख कर जला देता है।' मेरी और राधा की आँखों से आँसू बह रहे थे, पर उन आँसुओं की व्यथा को समझने वाला कौन था? ऐसा जान पड़ रहा था कि हम दोनों जीवन की भूलभुलैयाँ में पड़कर एक-दूसरे को खो बैठे हैं, प्रयत्न करने पर भी एक-दूसरे को समझ नहीं सके हैं। या मानो इस समस्या का कोई हल ही न हो।

राधा के ससुराल की सारी बातें मैंने जाकर पिता जी को सुनाईं, वे भी बड़े दुःखी हुए। मैंने कहा—'यही घर और वर है न, जिसकी तारीफ़ करते हुए आप नहीं थकते थे? लड़का एम० ए० पास है। ३००) माहवार पर सरकारी कॉलेज में प्रोफ़ेसर है। ख़ूबसूरत और तन्दुरुस्त भी काफ़ी है! आख़िर वे गुण अब क्या हुए?' पिता जी को इससे चोट-सी लगी—बोले—'बेटा, किसी के पेट में घुस कर तो जाँच की नहीं जा सकती। जो चार आदमी कहें, उसी पर विश्वास करना पड़ता है। मुझे क्या मालूम था कि एम० ए० पास और प्रोफ़ेसर होकर भी लड़का ऐसा नामाकूल निकलेगा? जिस राधा को मैंने कभी छड़ी तक नहीं छुआई, वह चिमटों से पिटे, यह भला मुझे कब सह्य हो सकता है? पर बेटा, अब क्या हो सकता है! अब तो जो कुछ राधा के भाग्य में बदा होगा, वही होगा।'

'भाग्य में क्या ख़ाक बदा होगा? माता-पिता की ग़लती का दण्ड लड़की क्यों भोगे? बिना जाने-बूझे एक क़साई के गले आपने मढ़ा है। इसमें राधा का क्या क़सूर, जो वह जन्म भर दण्ड भोगे।'

'बेटा, तुम ठीक कहते हो। मैं मानता हूँ कि यह सरासर मेरी ग़लती है, पर अब तो सिवा राधा के पति और सास को समझाने-बुझाने के और हो ही क्या सकता है? आगे यह है और इसकी तक़दीर।'

मैं अनमना-सा होकर बाहर चला गया—मानो यह सब कुछ मेरी समझ में नहीं आ रहा हो। लड़की का भविष्य उसके भाग्य या तक़दीर द्वारा ही निर्मित होता है, यह मैं कैसे मान लूँ? मेरे मन में तो बार-बार यही विचार उठता था कि पिता जी ने एम० ए० की डिग्री और जायदाद के नाम पर राधा को बेच दिया है, ब्याहा नहीं। इस झूठी शान और मोह की बजाय तो कहीं अच्छा होता अगर राधा किसी ग़रीब और कम पढ़े-लिखे युवक के साथ ब्याह दी जाती। पर अब यह सब कुछ सोचने से क्या हो सकता था? यह तो विवाह से पहले ही सोचा जाना चाहिए था।

राधा के मुँह पर छाई हुई मुर्दनी को देखकर मुझे रह-रह कर क्रोध आता था, दुःख और ग्लानि का भी अनुभव होता था। पर मैं कर क्या सकता था? एक बार क्रोध में मेरे मुँह से निकल गया--'राधा, वह तुम्हारा पति मनुष्य है या राक्षस—हृदयहीन कहीं का?' कहने को तो मैं आवेश में यह कह गया, पर मेरे इन शब्दों ने राधा के हृदय पर तीर की तरह चोट की। नीची आँखें करके उसने कातर स्वर में कहा—'भैया, उन्हें अपशब्द न कहो। भले या बुरे, जैसे भी कुछ वे हैं, आख़िर मेरे पति हैं, मेरे सोहाग के देवता हैं। जानते हो हिन्दू नारी के लिये पति 'परमेश्वर' हैं। वह उसकी निंदा कैसे सुन और सह सकती है?'

मुझे अपनी भूल मालूम हुई। साथ ही राधा की नासमझी और भोलेपन पर दया भी आई। एक बार तो जी में आया कि राधा को समझाऊँ कि तुम ग़लती पर हो। ऐसे राक्षसों को परमेश्वर समझ कर ही न जाने कितनी देवियों ने अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ गँवा दिया, पर इस राक्षस का पाषाण-हृदय आज तक भी मोम नहीं हुआ। तुम चाहो तो इसके पाश से मुक्त हो सकती हो। किन्तु यह सोच कर मैं चुप हो रहा कि यह बात बहुत दूर की है, राधा इसे ठीक-ठीक समझ नहीं पायेगी। स्वयं पिता जी तलाक़ के नाम से चौंकते थे।

५

थोड़े दिन बाद राधा फिर अपनी ससुराल चली गई। मैंने और पिता जी ने उसके पति महाशय को बड़ी मिन्नत-ख़ुशामद के बाद इस बात के लिये राज़ी किया कि वे राधा को इस बार आराम से रखेंगे। ग़लती हो जाने पर उसे बहुत कड़ा दण्ड नहीं देंगे। जब वह चाहे मुझे या पिता जी को चिट्ठी लिख सकेगी। ख़ुद भी पढ़ सकेगी।

इन सब बातों से मेरी चिन्ताओं का भार कुछ हल्का ज़रूर हो गया था—यद्यपि यह आशङ्का मुझे हर समय रहती थी कि इन बातों को राधा की ओर से की गई शिकायतें समझ कर कहीं उसके साथ और सख्ती न की जाय। बाद में राधा के पत्रों से यह बात स्पष्ट सत्य सिद्ध हुई। उसके पति के व्यवहार में तो कुछ परिवर्तन ज़रूर हुआ, पर उसकी सास ने समझा कि बहू ने अपने मैके में जाकर मेरी जो झूठी (?) शिकायतें की हैं, उसका मज़ा उसे ज़रूर चखाना चाहिए।

जब-जब राधा का पत्र आता, मैं पिता जी को दिखाता और बड़ा रञ्जीदा होता। एक बार तो वे झुँझला कर कह बैठे—'तू भी बड़ा बावला है। रे गिरीश, जब देखो तब राधा, राधा, राधा! आख़िर मुझसे भी ज्यादा उसकी चिन्ता तुझे क्यों है? उसका दुःख-सुख तो तू बँटा नहीं सकता, फिर व्यर्थ की आहें भरने से क्या लाभ? अब तो उसे सारी ज़िन्दगी उसी ससुराल में बितानी है, चाहे वहाँ सुख मिले चाहे दुःख। माँ-बाप लड़की का कब तक साथ दे सकते हैं? तू अपने काम से मतलब रख, सास उसकी कौन अब १००-५० साल बैठी रहेगी?' मैं अपना-सा मुँह लेकर रह जाता। उनसे कहता भी क्या?

घर से अब मेरा जी उचट गया। एक तो राधा की चिन्ता, फिर सूने घर में दिन भर अकेले पड़े रहना, ऊपर से पिता जी का रौब-दाब और राधा का नाम तक न लेने की सख़्त आज्ञा! परीक्षा-फल तो निकल ही चुका था, सिर्फ़ सर्टीफिकेट के आने की प्रतीक्षा थी। आख़िर वह भी आ गया और मैं डॉक्टरी पढ़ने के लिये बम्बई चल दिया।

बम्बई में आकर मैंने सन्तोष की साँस ली। जी-बहलाव के साधनों की यहाँ कमी नहीं थी, पर मेरा मन राधा में अटका था। उसकी सास की भयानक मुख-मुद्रा और चिमटे का दृश्य बार-बार मेरी आँखों के सामने आता था और मैं काँप उठता था। सोते-बैठते हर बार मुझे यही ख़याल होता कि राधा सुखी नहीं है। उसके जी को वही हाय-हत्या होगी। भला उस अजनबी घर में इस तरह वह कब तक रहेगी। उस भोली और ना समझ राधा का जीवन आख़िर कैसे बीतेगा। मैं जब-जब राधा से पत्र लिखकर पूछता कि अब तुम्हारे पति और सास का रुख़ कुछ ठीक हुआ या नहीं, तो वह लिख देती कि अब सब कुछ ठीक है—तुम व्यर्थ में चिन्ता न करो।

पर राधा के कहने और पिता जी के डाँटने-फटकारने से मैं उसके बारे में चिन्ता करना कैसे छोड़ सकता था? मेरा और राधा का शरीर का नहीं रक्त और आत्मा का सम्बन्ध था। सिसकती हुई राधा के प्रफुल्ल कमल से नेत्रों में उमड़ते हुए आँसू मुझे भला निश्चिन्त कैसे रहने दे सकते थे? इसीलिये तो मैं कहा करता हूँ कि मुझमें और राधा में जैसा प्रेम रहा है, वैसा बहुत कम भाई-बहनों में मिलेगा। जिस दिन प्रतीक्षा करने के बाद राधा का पत्र न मिलता, मैं इतना अधिक उदास और निराश होता कि दिन भर किसी काम में जी नहीं लगता। न खाना अच्छा लगता न हँसना-खेलना। कई बार तो इसी कारण मैं कॉलेज तक नहीं गया और न अपने किसी सहपाठी से मिला। इस अन्यमनस्कता के कारण बहुत से लोग मुझपर तरह-तरह के शक भी करने लगे, पर मैं इन सबको अपना हृदय चीर कर कैसे दिखा देता कि सचाई यह है। दुनियादार लोग भाई और बहन के इस अलौकिक प्रेम की कल्पना भला कैसे कर सकते हैं?

६

शाम को ज्योंही मैं होस्टल में लौटा, वार्डन के क्लर्क ने एक लिफ़ाफ़ा मुझे देते हुए कहा—'मिस्टर गिरीश, आपका यह तार है। अभी कोई १०-१५ मिनट हुए आया है।' धड़कते हुए दिल और काँपते हुए हाथ से मैंने लिफ़ाफ़ा ले लिया और क्लर्क को 'थैंक्स' कहकर अपने कमरे में चला गया। बत्ती जलाकर मैंने लिफ़ाफ़ा खोला और तार पढ़ा। लिखा था—'राधा की हालत चिन्ता-जनक है। पहली गाड़ी से आओ!' तार राधा की सास की ओर से दिलवाया गया जान पड़ता था, क्योंकि उसके नीचे भेजने वाले का नाम लिखा था—'अम्मा'!

तार को पढ़कर मेरा माथा ठनका। राधा की हालत इतनी ख़राब हो गई और मुझे उसने कभी एक शब्द

भी नहीं लिखा ? पर फिर ख़याल आया, कहीं तार मिलने के बहाने झूठ-मूठ को ही तो नहीं दिया गया है ? परन्तु राधा ऐसा पागलपन नहीं कर सकती। वह तो सीधी-सच्ची देवी है। मिलने की उत्कण्ठा होती तो वह साफ़-साफ़ क्यों न लिख देती। तरह-तरह की आशङ्काएँ मन में उठती थीं और मैं जैसे-तैसे जी को समझा-बुझा कर शान्त कर लेता था। उसी रात को मैं बम्बई से रवाना हो गया।

× × ×

अपने बहनोई के घर पहुँच कर मैंने देखा—राधा कहीं भी नहीं है। बहनोई घर पर थे नहीं। राधा की सास खाना बना रही थी। मैं उनके पास गया, पाँव छुए और पूछा—'राधा कहाँ है, अम्माँ ?'

'आये गिरीश बाबू। बैठो!' बनावटी मुस्कुराहट के साथ राधा की सास ने कहा—'राधा अस्पताल में है। आज शाम को घर ले आयँगे। उसे तपेदिक़ हो गई है, कई महीनों से इलाज हो रहा है, पर कोई दवा कारगर होती दिखाई नहीं देती। कल डॉक्टरों ने कह दिया है कि मरीज़ के बचने की आशा अब केवल एक प्रतिशत है। इसे घर ले जाइये। दोनों वक़्त डॉक्टर जाकर देख आया करेगा। क्या किया जाय बेटा, ईश्वर के आगे किसी का वश नहीं।'

'बचने की आशा केवल एक प्रतिशत है ?' मैं पागलों की तरह चिल्ला उठा। आँसुओं के साथ मेरी आँखों में ख़ून उतर आया; जी में आया इसी समय बम्बई लौट जाऊँ। मेरे यहाँ रहने या राधा से मिलने का अब लाभ ही क्या ? जिस ढङ्ग से राधा का वैवाहिक-जीवन बीता है, उससे ऐसे ही परिणाम की आशा की जा सकती है। विवाह के दूसरे ही दिन से जिसका ख़ून जलने लगा हो, तिल-तिल करके जिसका तन छीजने लगा हो, वह भला सुखी और स्वस्थ कैसे रह सकती है ? नाज़ में पली हुई राधा चिमटों की मार से भला कैसे पनप सकती थी ? ख़याल आया कि इस बुढ़िया से कह दूँ कि तूने और तेरे पूत ने मेरी बहन को मारने की साज़िश की है। यह सब तुम दोनों के दुर्व्यवहार का ही फल है। तू सास नहीं डाइन और तेरा पूत पति नहीं क़साई है। पर समाज, शिष्टता और लोक-लाज ने मेरी ज़बान पर ताला लगा दिया। सब कुछ जानते-समझते भी बोल मैं कुछ नहीं सकता था। नई उम्र के युवक-युवतियों के इस महाव्याधि का ग्रास बनने का प्रमुख कारण क्या उनका वैवाहिक-जीवन नहीं है ? क्या राधा की सास सी चुड़ैलें और उसके पति-से राक्षस इस रोग के उत्पादक कीटाणु नहीं ? फिर समाज इसे क्या कहेगा—सिर्फ़ एक असाध्य रोग, एक लाइलाज बीमारी ? हत्या नहीं ?? क्यों नहीं—छुरे, पिस्तौल और ज़हर से की जाने वाली हत्या में और इसमें प्रकारान्तर के अलावा भेद क्या है ? फिर क्यों एक क़ानूनन दण्डनीय और दूसरी सौ फ़ीसदी जायज़ है ? अन्धे समाज का क्या यही अन्धा-न्याय है ?

अस्पताल में भर्त्ती हुए मरीज़ों से मिलने का समय तीसरे पहर ४ बजे से था। मेरे लिये चन्द घण्टों का यह समय युगों-सा था। घड़ी देख-देखकर बड़ी मुश्किल से एक-एक मिनट गुज़ार रहा था। आख़िर ३॥ बजे अस्पताल का पता-ठिकाना पूछ कर मैं घर से निकल पड़ा। चार बजते ही आगन्तुकों के लिये अस्पताल का फाटक खुल गया। पूछ-ताछ करने पर मुझे राधा का कमरा भी मिल गया। धीरे से दरवाज़ा खोल कर मैं भीतर घुसा। भीतर मैंने जो कुछ देखा, उसे ठीक-ठीक कह नहीं सकता। भय और दुःख से मैं काँप उठा। रोंगटे सब खड़े हो गये ? भ्रम हुआ कि कहीं मैं किसी दूसरे के कमरे में तो नहीं आ गया हूँ। देखा राधा का मुँह एकदम सूख गया है। आँखें भीतर धँस गई हैं, मांस कहीं दिखाई नहीं पड़ता। जङ्गल या स्मशान में पड़ी खोपड़ी और उसके चेहरे में सिर्फ़ इतना ही अन्तर था कि वह हड्डियों का ढाँचा मात्र होता है, और इसमें उस पर अभी चमड़ी चढ़ी हुई थी। राधा के हाँथ-पाँव सूखी हुई लकड़ी की तरह देख पड़ते थे। मेरे आने से राधा के चेहरे पर कोई परिवर्त्तन नहीं देख पड़ा! मैं उसके पास गया। उसके चेहरे को घूरते हुए मैंने आर्द्र-स्वर में कहा—'राधा, तुम्हें यह क्या हो गया ? तुमने मुझसे अब तक यह बात छुपाई क्यों ? आख़िर तपेदिक एक दिन में तो

वह नहीं जाती। तुम मौत से खेलती रहीं और मुझे खबर तक नहीं।'

'भैया' राधा ने सूखे हुए होठों को हिलाकर टूटती हुई आवाज़ में कहा—'अपना-अपना भाग्य है। मेरे भाग्य में यही बदा था। तुम्हें या पिता जी को लिखकर व्यर्थ परेशान करना मैंने ठीक नहीं समझा। इलाज में इन लोगों ने भी कोई कोर-कसर नहीं रक्खी। पर जिसने अपने आपको मुर्दा समझ लिया हो, जो अपने आपको मार डालने पर उतारू हो, उसे दवाइयाँ तो क्या सञ्जीवनी बूटी भी जीवित नहीं रख सकती। मेरी ज़िन्दगी से मौत अधिक सुखकर होगी, ऐसा मेरा अनुमान है।' बोलते-बोलते राधा का दम फूल गया था। एक ठण्डी साँस लेकर वह चुप हो गई। उसकी कोटरलीन निष्प्रभ आँखों में पानी झलकने लगा। ललाट पर पसीने की बूँदें भी चमकने लगीं।

मैं हतबुद्धि-सा यह सब सुनकर पत्थर की मूर्त्ति की तरह मौन था। बड़ी कठिनाई से अपनी रुलाई को दबाते हुए मैंने कहा— 'राधा, तुमने अपने आप पाँवों पर यह कुल्हाड़ी क्यों मारी? क्या जीवन इतना निकृष्ट और सस्ता है?'

'मुझसे विशेष बोला नहीं जाता भैया'—राधा ने ओठों ही ओठों में कहा—'अब इन बातों को जाने भी दो। आख़री वक़्त तुम आ गये, अच्छा ही किया। तुम्हें बिना देखे मैं शान्ति से नहीं मर सकती थी। मेरी साँस के अब तक चलने का कारण तुमसे मिलने की इच्छा ही थी—अब यह कभी भी टूट जाय, मुझे चिन्ता नहीं।'

'यह तुम क्या कह रही हो राधा? डॉक्टरों ने कहा है, तुम अच्छी हो जाओगी।'

'डॉक्टर कुछ भी कहें, मैं जो कुछ कह रही हूँ, वह ठीक है। अब आख़री वक़्त मुझे भुलावा क्यों देते हो?'

मैं निरुत्तर हो गया। मेरी आँखों से टप-टप आँसू गिर रहे थे।

७

राधा की अन्त्येष्टि क्रिया से निवृत्त हो जब हम लोग लौटे, तो शोक, सहानुभूति और समवेदना प्रकट करने वालों का ताँता बँध गया। सबने आकर इस अर्थहीन लोकोपचार की पुनरावृत्ति की और सफ़ाई के तौर पर बहनोई साहब ने ज़रा उदास होकर कह दिया—'जी हाँ, उसे तपेदिक़ हो गई थी। तीन साल तक इलाज कराया, हज़ारों रुपये दवा-दारू में फूँक दिये, पर विधाता के लेख के आगे किसका वश चल सकता है।' दो-चार बड़े-बूढ़ों ने इसकी ताईद की और कहा—'साहब यह बीमारी ही ऐसी है कि जिसे लगती है, उसे अपने साथ लेकर ही जाती है।'

'उसे तपेदिक़ होगई थी।' यह सुनते-सुनते मेरे कान पक गये। बड़ी मुश्किल से क्रिया-कर्म तक मैं अपने बहनोई के घर ठहरा और उसके समाप्त होते ही अपने घर की राह ली। चलते समय बहनोई ने बड़ी सहृदयता से कहा—'पिताजी को बतला दीजियेगा कि उसे तपेदिक़ होगई थी। क्या किया जाय, ईश्वर की यही मर्ज़ी।'

मैं बिना कुछ उत्तर दिये बाहर निकल आया।



बिखरे फूल

ग्राम-सुधार



ग्राम-सुधार! मज़दूरों तथा किसानों के निवास-स्थलों का सुधार! हन्त! आज उनकी कितनी दुर्दशा है। एक वह भी समय था जब इनके शुभ दिन थे। सम्पूर्ण भारत ग्राम-मय था। सब सुखी तथा सम्पन्न थे। कहीं लड़ाई-झगड़े या व्यर्थ का कलह न था। सर्वत्र शान्ति व सन्तोष का अखण्ड साम्राज्य था। कोई भी क्षुधार्त्त या किसी अन्य वेदना से आकुल दृष्टिगोचर न होता था। मुट्ठी भर अन्न प्राप्त करने में किसी को भी दुःखदायी सङ्कटों का सामना न करना पड़ता था।

आज गाँव श्मशान बने हुए हैं। उनकी दारुण दशा का वर्णन करना मेरी लेखनी की शक्ति से बाहर है। मेरी आँखों के आगे उनका चित्र उपस्थित होते ही अन्तः-करण काँपने लगता है। नेत्रों में सावन-भादों की घटायें उमड़ पड़ती हैं। हा! आज उन्हीं अतीत काल के सम्पन्न ग्रामीणों को, दूध-दही में लोटने वाले हमारे कृषकों को आधा पेट भरने तक के लिये दो मुट्ठी अन्न भी उपलब्ध नहीं होता। शीत ऋतु की असह्य शीतमयी निशा में शीत निवारणार्थ तो क्या तन ढकने तक के लिये एक गज भर वस्त्र भी वे प्राप्त नहीं कर सकते। स्त्रियाँ वस्त्राभाव में अपनी लज्जा तक संवरण नहीं कर पातीं। अहर्निश न जाने कितने क्षुधार्त तथा वस्त्राभाव से पीड़ित प्राणी संसार को दारुण अभिशाप में छोड़ अनन्त के अन्तस्तल में विलीन हो जाते होंगे। वर्षा ऋतु में सावन-भादों की झड़ियाँ न जाने कितने प्राणियों की आँखों को सहस्र धारा बनाती होंगी!

हृदय से प्रश्न उठता है, दुर्दशा का कारण क्या है? कारण है इसका 'युग-परिवर्तन'। संसार ने रङ्ग बदला, विदेशी आये; उनका शासन भी उनके साथ ही आया। सात समुद्र पार से शासन करना कठिन समझा गया; उनके प्रतिनिधि (वायसराय) गवर्नर जनरल बन पाँच-पाँच वर्ष के लिए यहाँ आने लगे। लार्ड डलहौज़ी का भी नम्बर आया। उसकी नीति का चक्र घूमा, साथ ही साथ गाँवों का सौभाग्य-चक्र भी घूम गया। गाँवों को शहरों, नगरों का रूप दिया जाने लगा। नगर बस गये। गाँवों को लूट-लूट कर नगरों को समृद्ध बनाया गया। बस फिर क्या था! शहरों की चकाचौंध ने ग्रामों को वीरान कर दिया। वे नष्ट-भ्रष्ट हो गये! उनका सुख-शान्तिमय जीवन छिन गया। निर्धनता का साम्राज्य हो गया। अशान्ति तथा असन्तोष ने घेरा डाल दिया। परिणामतः उन्हें आज की सी दुर्दशा का सामना करना पड़ा।

इस शहरी सभ्यता में पले हुए नवयुवक तो गाँवों का नाम सुनते ही नाक-भौं चढ़ाने लगते हैं। ग्राम-सुधार की चर्चा तो दूर रही, ग्रामीण-सभ्यता से ही उन्हें घृणा है। आज वे नवयुग की नागरिक सभ्यता के चक्र में आकर अपनी वास्तविकता को विस्मृत कर चुके हैं। उनकी शारीरिक पराधीनता ने आत्मा को भी परतन्त्र बना डाला है। इस नवीन सभ्यता के उमड़ते प्रवाह में उनका विचार-स्वातन्त्र्य भी डूब चुका है। अपने भारतीयों की



श्रीमती प्रभा—आप 'पाथ ऑफ़ ग्लोरी' बम्बई की सुप्रसिद्ध अभिनेत्री हैं। अभिनय-कला में निपुण होने के अतिरिक्त आप विदुषी और सुलेखिका हैं। आप एक सम्भ्रान्त वंश की आदरणीय महिला हैं।



चित्र-रेखा

प्रोफ़ेसर रामकुमार वर्मा, एम० ए० की सर्वोत्कृष्ट पद्य-रचना। इसकी श्रेष्ठता के लिए उन्हें देव-पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। यदि आप रहस्यवादी कविताओं का आनन्द लेना चाहते हैं तो इसे मँगाकर अवश्य पढ़िए। अनेक तिरङ्गे चित्रों युक्त सुन्दर पुस्तक का मूल्य ३॥), स्थायी ग्राहकों से २॥=)

जनरल मैनेजर—चाँद प्रेस, लिमिटेड

चन्द्रलोक—इलाहाबाद



स्थिति पर विचार करना उन्हें पागलपन का कार्य प्रतीत होता है। पर अब फिर संसार रङ्ग बदल रहा है। स्थान-स्थान पर क्रान्ति की चिनगारी सुलगती हुई दृष्टिगोचर हो रही है। इङ्गलैण्ड में मज़दूरों ने सिर उठाया, क्रान्ति की, अधिकार प्राप्त कर लिये। स्थान-स्थान पर मज़दूर विजयी होने लगे। फिर क्या भारत के मज़दूर क्रान्ति की लहर में पीछे ही रहेंगे? उसमें भाग न लेंगे? लेंगे और अवश्य लेंगे! आज यहाँ भी पीड़ित मनुष्यत्व के आत्मोद्धार की साध में भारत के किसानों को दुःख-मुक्त करने के लिये महात्मा जी ने कमर कस ली है। वह उनका उद्धार करने का दृढ़ व्रत धारण कर कटिबद्ध हो ग्रामक्षेत्र में अवतीर्ण हो चुके हैं। भारतीयों के हृदयों में सुधारयज्ञ की ज्वाला प्रज्ज्वलित करने के लिये वह अपने आपको समिधा बनाने का प्रयास कर रहे हैं। उसी महात्मा की लगाई हुई चिनगारी कुछ वर्ष बीते 'बारदोली' में सत्याग्रह के रूप में फूटी थी, जिसमें कृषकों का वल्लभ—वीर वल्लभ उनके सुधार की आशा में सुधार की बलिवेदी पर बलिदान होने के लिये उद्यत हुआ था। वहाँ किसानों तथा मज़दूरों ने विजय का सेहरा बाँधा। उनकी मनोकामनाएँ पूर्ण हुईं। इसी प्रकार बम्बई, अहमदाबाद, कलकत्ता अनेकों शहरों के मज़दूरों ने अपने स्वामियों—मिल-मालिकों से सत्याग्रह कर विजयलक्ष्मी का आलिङ्गन किया। और तो और इस बार 'फ़ैज़पुर' में कॉङ्ग्रेस के सफल अधिवेशन ने ग्रामीण जनता को भी स्वाधीनता का पाठ पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया है! यह सब भारत के हृदय-सम्राट् वीराग्रणी महात्मा गाँधी के अथक प्रयास का ही पुण्य-परिणाम है हमारे मस्तक निःसीम श्रद्धा के साथ उनके चरणों में नत होते हैं जिनके सत्याग्रह रूप दिव्यास्त्र ने चिर-निद्रित जनता के सूने नीरस हृदयों में जागृति का शङ्ख फूँक दिया? आज उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य ग्राम-सुधार, एकमात्र साधना कृषकों का उद्धार, तथा एकमात्र अभिलाषा उनके दुःख-रूप बन्धनों को अचिर ही में विच्छिन्न कर देना है! आप एक स्थल पर लिखते हैं—"इस जन्म में यदि मुझे मोक्ष न मिले तो मेरी आकांक्षा है कि अगले जन्म में मैं एक भङ्गी के घर पैदा होऊँ। क्योंकि ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर ब्राह्मणों या भङ्गी की सेवा कर सकने की अपेक्षा मैं भङ्गी के घर पैदा होकर भङ्गी की सेवा ज़्यादा कर सकूँगा।" इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर आप लिखते हैं—"उपनिषदों के कर्त्ता पाखण्डी न थे। उन्होंने जगत् को ब्रह्ममय कहा है! यदि हम अछूतों के दुःख से दुःखी न होंगे तो हम अपने आपको पशुओं से भी निकृष्ट प्रमाणित करेंगे।"

निःसन्देह आज हमें इसी की आवश्यकता है। यदि हमें 'स्वराज्य' प्राप्त करना है, यदि यथार्थ में स्वतन्त्र होना है, यदि स्वाधीन होने की अभिलाषा का एक कण भी हमारे अन्तर्जगत् में विद्यमान है तो हमें आज ही से ग्राम-सुधार का दृढ़ सङ्कल्प कर लेना चाहिये। ग्राम-सुधार ही सच्चे अर्थों में भारतवर्ष का सुधार है। हमारा वास्तविक भारत हमारे ग्रामों में ही बसा हुआ है। यह फैशन के प्रवाह में डूबे हुए हैटेड-बूटेड-सूटेड नागरिक यथार्थ में भारतीय नहीं। भारतीय तो हमारे ग्रामों में बसे हुए भूखे, नङ्गे, दरिद्र, दुःखों से कराहते दीन ग्रामीण ही हैं। आज हम यदि भारतमाता का सत्य-स्वरूप देखना चाहते हैं तो वह हमें नगरों की आलीशान अट्टालिकाओं में नहीं, कृषकों की टूटी-फूटी झोंपड़ियों, उनके शीर्ण-विशीर्ण वस्त्रों, सूखे चेहरों, तथा उनकी भूख से विलखती हुई आत्माओं में ही मिलेगा। हमारा नागरिक जीवन तो नवयुग की नव-सभ्यता का अनुकरण मात्र है। वह सत्य नहीं, यथार्थ नहीं। उस पर तो पाश्चात्य सभ्यता का पुट चढ़ा हुआ है।

इन सब बातों के कहने से मेरा यह अभिप्राय नहीं कि आधुनिक उन्नति से भारत को कुछ लाभ ही नहीं हुआ। हुआ है—बहुत हुआ है। पर इन ग़रीब किसानों, निरीह ग्रामीणों को इसने बहुत हानि पहुँचाई है। इसने उनके मुख का ग्रास, उनके तन का कपड़ा, उनकी झोंपड़ी का फूस, तथा इन सबसे बढ़कर उनके जीवन का आनन्द, शान्ति, सुख, सन्तोष सब कुछ छीन लिया है। उसने पूँजीवाद को जन्म देकर ग़रीब तथा अमीरों के अन्दर विषमता की एक दीवार खड़ी कर दी है। वर्तमान संसार में क़ानून—राजनियम भी केवल ग़रीबों—निर्धनों के लिये ही रह गये हैं। अमीर पैसा देकर उनके

बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। किसी विद्वान् ने क्या ही सच कहा है—'अमीर राज-नियमों पर शासन करते है तथा राजनियम ग़रीबों पर।' आज हमारे लिये बड़े सौभाग्य का विषय है कि महात्मा गाँधी की ग्राम-सुधार के लिये बनाई हुई कार्य-प्रणाली ने भारत-सरकार का ध्यान भी इस ओर आकर्षित किया है। उसने ग्राम-सुधार के लिये अपने व्यय के फण्ड में १ करोड़ रुपया रखा था। रुपये का उपयोग करने का विचार करते हुए उसने सब से पहिले यह निश्चय किया कि ग्रामों के अन्दर 'रेडियो' लगाये जाँय। ठीक है, रेडियो लग जाने से ग्रामीण जनता नागरिक वातावरण से भली-भाँति अभिज्ञ हो जायेगी। परन्तु क्या भूखे पेटों, नङ्गे शरीरों, शीत तथा घाम से क्लान्त, पसीने से चूते कलेवरों को इन 'रेडियो' के गीतों से वास्तविक सुख की प्राप्ति हो सकती है? क्या किसी भी सहृदय की आत्मा इस बात की साक्षी देती है कि भूखे किसानों के दुःख इन गानों से निराकृत हो जायेंगे? नहीं! कभी नहीं। ग्राम्य-जीवन में तो आज सबसे बड़ी समस्या 'क्षुधा' की है। वे सम्पूर्ण दिवस के अथक परिश्रम के अनन्तर भी क्षुधा निवारणार्थ भोजन नहीं प्राप्त कर सकते। उनका तैयार किया हुआ दो तिहाई अनाज आज विदेशों में जा रहा है। रहा-सहा भी भूमि-पतियों की निर्दयतापूर्ण लगान-बन्दी से हठात् छीन लिया जाता है। युद्धादि की तैयारियों ने भी इनकी निर्धनता में वृद्धि करने में बहुत सहायता की है। भारतवर्ष का ६० करोड़ रुपया आज रक्षा-विभाग पर खर्च होता है तथा केवल २० करोड़ रुपया शिक्षा पर। जिस देश का इतना रुपया संहार-सम्बन्धी भीषण कृत्यों पर व्यय होता हो वहाँ के निवासी क्षुधार्त्त—भूख से बिलखते दिखाई न पड़ें तो और क्या हो? यह साठ करोड़ की बड़ी संख्या कैसे एकत्रित की गई? ग़रीबों के पेट काट कर! निर्धनों के तन का कपड़ा तथा मुख का ग्रास छीन कर! प्राचीन काल में भी युद्ध होते थे, पर उनका प्रभाव ग्रामीणों पर न पड़ता था। वे प्रत्येक समय अपना जीवन शान्ति पूर्वक व्यतीत कर सकते थे। विदेशी आये। मैगस्थनीज़ और ह्यूनसाङ्ग आये, सब यहाँ की ऐसी सुन्दर व्यवस्था देखकर दङ्ग रह गये। विस्मय-वारिधि में निमग्न हो गये। प्राचीन भारतीयों के सुखी तथा गौरवान्वित होने का यही रहस्य था।

हमारे प्राचीन भारतीय सुखी थे। क्यों? इसीलिए कि उन्होंने भौतिकवाद को ही एकान्त महत्व न दिया था। वे अपनी आत्मा के सुख के लिये गर्वपूर्ण उद्घोषणा कर सकते थे 'येनाहं नामृता स्यांकिमहंतेन कुर्याम्' जो वस्तुएँ हमें अमर नहीं बना सकतीं उन्हें लेकर हम क्या करेंगे। वे जानते थे कि बड़े-बड़े राज्य तथा बड़ी-बड़ी ज़मीनें हमें सुखी नहीं बना सकतीं इसी से वे राम और भरत के द्वारा उसे एक दूसरे की तरफ़ फ़ुटबाल की तरह फिंकवाते थे। राम ने लङ्का जीत ली पर उसका राज्य विभीषण को सौंप दिया। उनके यहाँ किसी दूसरे का राज्य आत्मसात करने, उसे अपने राज्य में मिलाने का कोई महत्व ही न था। वे जानते थे कि 'भूमैव सुखं नाल्पे-सुखमस्ति'। पूर्णता में ही सुख है अल्प में नहीं। सांसारिक पदार्थ अल्प हैं, सान्त हैं, कभी न कभी उनका अन्त होना ही है। इसी से वे 'कठोपनिषद्' के 'नचिकेता' के शब्दों में अखण्ड साम्राज्य तथा विषय-भोग का अनन्त सामान वरदान रूप में सामने उपस्थित होने पर भी 'न वित्तेन-तर्पणीयो मनुष्यः' कह कर अमृतत्व के ऊपर धन तथा जीवन सब कुछ न्यौछावर कर सकते थे। पर हाय! वर्तमान संसार तो स्वार्थ की भीषण ज्वालाओं से आक्रान्त है। सब राष्ट्र साम्राज्य-वृद्धि की लिप्सा में दीन तथा निर्बल राज्यों को निगल जाना चाहते हैं। यही कारण है कि आज ये सब सुखी नहीं। हमारा अपने भाई तथा बहिनों से यही विनम्र निवेदन है कि इस बाहरी दुनियाँ से भीतर की ओर—ग्रामों की ओर लौटो। वहाँ प्राची के प्राङ्गण में तुम्हें आनन्द-रवि की दिव्य-रश्मियों के दर्शन होंगे! अनन्त प्रकाश तथा ईश्वरीय प्रसाद मिलेगा। इसलिए आओ, आज ही हम सब ग्राम-सुधार का व्रत धारण करके अपने जीवनों को सफल बनावें।

—कुमारी सुशीलादेवी विद्यालंकृता

* * *

स्त्री-जाति और गो-पालन कार्य

जिन महत्वपूर्ण कार्यों से स्त्री जाति का सृष्टि के प्रारम्भ काल से ही सम्बन्ध चला आ रहा है उनमें एक गो-पालन है। स्त्रियों ने जहाँ अपनी नैतिक, सामाजिक और धार्मिक दशा में अनेक परिवर्तन किये है, वहाँ गो-पालन के कार्य में भी बहुत कुछ सुधार और उन्नति के लिये वह प्रयत्नशील हुई है।

मनुष्य जाति के साथ गाय और अन्य दूध देने वाले पशु आदि-काल से ही ग्रथित चले आ रहे हैं। प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में दूध के पशुओं की महिमा का प्रादुर्भाव रहा है। गहरी दृष्टि से देखें तो सभ्यता के विकास में गाय आदि उपयोगी पशुओं का निकट सम्बन्ध रहा है। प्राचीन वैदिक संस्कृति से लेकर वर्तमान पश्चिमी विज्ञान ने गो-पालन के कार्य को ऊँचा स्थान दिया है। यूरोप और अमेरिका के देशों में तो दूध-मक्खन की वृद्धि और उत्तमता के लिये विशेष रूप से प्रयत्न किया जा रहा है। सब प्रकार के दूध में गो-दुग्ध को ही सर्वोत्तम माना गया है, इससे गो-वंश की वृद्धि और उन्नति की ओर ही सब की अधिक प्रवृत्ति भी चली आ रही है।

ऐसे उपयोगी कार्य से स्त्री-जाति का निकट सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही समझा जा सकता है। जिस कार्य से सारे समाज और जाति को लाभ पहुँचता हो उसमें स्त्रियों की तरफ़ से पूरा सहयोग दिया जाना एक प्रकार से नितान्त आवश्यक है। संसार के इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो स्पष्ट देखने में आता है कि सब देशों की स्त्रियों ने गो-पालन के कार्य में न केवल पुरुषों का हाथ ही बटाया है वरन् इसे मुख्य रूप से अपने ही आधीन रखती आई हैं।

हमें प्राचीन वैदिक काल का उदाहरण मिलता है, जिसमें गो-पालन का बोझ अधिकतर स्त्रियों के ऊपर ही रहता था। गुरुकुलों और आश्रमों में गौओं को खिलाने-पिलाने, उनका दूध काढ़ने और उनके स्थान को स्वच्छ रखने आदि के काम कन्याओं को ही करने होते थे। कन्याएँ एक तरह से गो-पालन की शिक्षा भी उन्हीं गुरु-गृहों और आश्रमों में पाती थीं। जब वह गृहस्थी में प्रवेश करती थीं तो गो-पालन का उनका अभ्यास वहाँ भी बराबर बना रहता था। कोई गृहस्थ कदाचित् ही उस समय में ऐसा रहता होगा जिसके यहाँ एक-दो गौओं की पालना न होती होगी। गृह-पालित गौओं की देख-रेख, खिलाने-पिलाने, दूध दुहने और स्वच्छ रखने आदि का सब कार्य गृह स्वामिनियाँ ही किया करती थीं। गाय की सेवा करने में उन्हें विशेष आनन्द अनुभव होता था। साधारण प्रजा के अतिरिक्त ऋषि-मुनियों की पत्नियाँ और राज-परिवार से सम्बन्ध रखने वाली ललनाएँ भी गो-सेवा का कार्य अपने हाथ से करना गौरव समझती थीं। सूर्यवंशी नृपति दलीप की रानी सुदक्षिणा देवी को गो-भक्ति और गो-सेवा प्रसिद्ध है। योगिराज कृष्ण के सम्बन्ध में अनेक गोपिकाओं का वर्णन किया जाता है। वह सब सुन्दर गोपिकाएँ गो-पालन के कार्य में दक्ष होती थीं।

परन्तु अकेले भारतवर्ष में हो गो पालन के कार्य की ओर स्त्री जाति की प्रवृत्ति रही हो, सो बात नहीं है। अन्य देशों की स्त्रियों में भी इस कार्य की ओर पर्याप्त रुचि पाई जाती है। यहाँ तक कि अफ्रीका प्रदेश की हबशी जाति में भी गो पालन का कार्य बहुत कुछ स्त्रियों पर ही निर्भर है। यूरोप और अमेरिका प्रभृति सभी देशों में गो-पालन का बहुत सा बोझ स्त्रियों के ऊपर ही रहता है।

विज्ञान की उन्नति से गो-पालन के कार्य में भी बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है। अनेक प्रकार की दूध दुहने, मलाई निकालने, और मक्खन बनाने की कलाओं का आविष्कार होने से गो-पालन का स्वरूप भी पश्चिमी देशों में बिल्कुल बदल गया है। परन्तु उन सब कलाओं के उपयोग में प्रवीण होकर तथा नवीन पद्धति का ज्ञान प्राप्त कर के अब भी स्त्रियाँ ही सब कार्य को सुचारु रूप से करती हैं। एक ओर डेरी फारमों (पशुशालाओं) में गो-पालन सम्बन्धी बहुत सा काम उनके हाथ में रहता है। दूसरी तरफ़ करीमरियों (दुग्धालयों) में भी मुख्य कार्य उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त घरों में भी प्राइवेट तौर पर स्त्रियाँ ही गो-सेवा का कार्य करती हैं।

स्वर्गीय सम्राट् जार्ज पञ्चम की पत्नी सम्राज्ञी मेरी तक अपने महलों की गौशाला के कार्य की ओर विशेष ध्यान रखती हैं।

परन्तु खेद है कि भारतवर्ष में जहाँ प्राचीनकाल में गो-पालन के कार्य की ओर स्त्रियों की इतनी रुचि थी, वहाँ अब कुछ समय से इस ओर उनकी अवहेलना रहने लगी है। हमारा यह तो कहना नहीं कि भारत का महिला-मण्डल सब काम छोड़ कर गो-पालन के व्यवसाय की ओर ही लग जाये। परन्तु घर-गृहस्थी में गाय आदि रखकर उनकी देख-भाल करने के लिये हम उन्हें अवश्य प्रेरणा करेंगे।

स्त्रियों में वात्सल्य और स्वच्छता का अधिक आभास होने से गौओं से सद्व्यवहार और दूध-मक्खन की शुद्धता का ध्यान पुरुषों की अपेक्षा उनके द्वारा कहीं अधिक रक्खा जाता है। यह बात अच्छी तरह अनुभव में आ चुकी है कि दूध देने वाले पशु विशेष रूप से गायें कोमल स्वभाव और मधुर-भाषिणी स्त्रियों से अधिक सन्तुष्ट और प्रसन्न रहती हैं और दूध भी अधिक देती हैं। वैसे भी स्त्रियों के हाथ कोमल होने से गौयें पुरुषों की अपेक्षा उनके द्वारा दुही जाना ज़्यादा पसन्द करती है। यहाँ पर इस बात को बिल्कुल ही मस्तिष्क से निकाल डालना चाहिये कि दूध वाले पशुओं विशेष कर गायों के साथ किसी प्रकार का अत्याचार या क्रूर व्यवहार करना आवश्यक और लाभदायक होता है।

भारतवर्ष के ग्रामों में और कहीं-कहीं शहरों में अब भी गो-पालन सम्बन्धी थोड़ा-बहुत कार्य स्त्रियों द्वारा किया जाता है, परन्तु शिक्षा और अभ्यास के अभाव के कारण समुचित रूप में सम्पन्न नहीं होता। और जन-साधारण ऐसे कार्य को आदर की दृष्टि से भी नहीं देखते। उच्च कुलों और शिक्षित परिवारों की महिलाओं में कुत्ते-बिल्लियाँ पालने का चाव तो ख़ूब ज़ोरों पर देखने में आता है, परन्तु गायों की देख-भाल और दूध-दही की सँभाल के लिये उनके पास न तो समय है और न ऐसे कार्य में उन्हें कोई आनन्द प्राप्त होता है। इससे अधिक खेद की बात और क्या हो सकती है।

शिक्षित नारी मण्डल से, जो भारतवर्ष में स्त्री जाति के सामाजिक सुधार, शारीरिक उन्नति और राजनैतिक अधिकारों के लिये प्रयत्नशील है, हमारा नम्र निवेदन है कि वह जहाँ सङ्गीत, शिल्प, स्वास्थ्य-शिक्षा, शिशु-पालन और अन्य अनेक प्रकार के कामों में क्रियात्मक दिलचस्पी ले रहा है, वहाँ उसे गो-पालन और डेरी के कार्य की ओर भी उचित ध्यान देना चाहिये।

—एम० पी० केदार, आई० डी० डी०

* * *

प्रेम और कहानी-लेखक

हमारे कहानी-लेखक बहुत वर्षों से साहित्य-कोष को कहानी-निधि से भर रहे है। उनका यह प्रयास प्रशंसनीय भी है, क्योंकि कहानी-कला की उपयोगिता किसी से छिपी नहीं है।

कुछ काल पूर्व जब बाल-विवाह तथा दहेज-प्रथा का ज़ोर था, लेखकों ने छोटी-छोटी कहानियों द्वारा ही जनता के मन में महान् परिवर्तन कर डाला था। लकीर के फ़कीर वृद्ध मनुष्यों पर उनका कितना प्रभाव पड़ा था, नहीं कह सकते, परन्तु शेष मनुष्यों पर उनका असर बहुत सुन्दर हुआ था। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय समाज की जो अवस्था थी, कहानी-लेखकों के मन की भी वही थी, परन्तु अब अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे समाज और देश की धारा एक ओर, और कहानियों की धारा दूसरी ओर बह रही है; अधिकतर यही बात देखने में आती है।

विशेषतः इस समय देश के प्रत्येक व्यक्ति के सामने रोटियों का प्रश्न है। बेकारी इस क़दर बढ़ रही है कि पुरुष विद्यार्थी-जीवन में ही रोटियों का प्रश्न हल करते दिखाई देते हैं। जब किसी लड़के से उसकी पढ़ाई के बारे में पूछा जाता है तो वह अधिकतर यही उत्तर देता है कि 'देखिए, पढ़ तो रहे ही हैं, रोटिएँ मिल जाएँ बात तो तब है।' इस समय कहानी-लेखकों का भी कर्तव्य था कि वह ऐसी कहानियाँ लिखते कि जिन्हें पढ़कर युवक अपने जीवन को इस बेकारी के तूफ़ान में आगे बढ़ाने में समर्थ

रो सकते। और यदि ऐसा न भी हो सकता तो कम से कम मनुष्यों के सामने देश का सच्चा रूप तो आता। परन्तु बजाय इसके कि कहानी-लेखक इस बेकारी को रोएँ, वह प्रेम को रोते हैं और उनका रोना किसी तरह भी समाप्त नहीं होता। कोई भी समाचार-पत्र या मैगज़ीन उठाइये, वहाँ कहानियों में प्रेम की ही बाढ़ आई नज़र आती है। इस प्रेम का वृहत् रूप कॉलेज और यूनीवर्सिटी सम्बन्धी कहानियों में मिलता है। इन लड़के-लड़कियों को तो एक साथ रहने पर भी एक दूसरे के लिए नहीं रोना पड़ता, लेकिन कहानी-लेखक दूर बैठे ही इन लोगों के भाग्य को रोते हैं। हम एकदम नहीं कह सकते कि कॉलेज या यूनीवर्सिटी में किसी लड़के-लड़की का प्रेम होता ही नहीं, परन्तु प्रश्न तो यह है कि ऐसे अवसर कितने आते हैं। यदि हज़ारों लड़के-लड़कियों में से दो-एक कॉलेज की पढ़ाई के साथ-साथ प्रेम का पाठ भी पढ़ने लगते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं! इस प्रेम को लेकर प्रत्येक पत्र के पृष्ठ काले करना व्यर्थ ही है। हाँ, जिन लेखकों को यह प्रेम याद नहीं आता उन्हें पार्क में मिले नवयुवक और नवयुवती का प्रेम स्मरण हो आता है। जब इनमें से एक तरह का प्रेम भी दिमाग़ में नहीं आता तो बेचारे लेखक बहुत घबड़ाते हैं क्योंकि लिखना तो प्रेम पर ही है। जो शान प्रेम पर लिखने में है वह और किसमें है। हाँ, तो घण्टों सोचते हैं कि संसार को प्रेम के दर्शन किस रूप में कराये जाएँ? और अन्त में भगवान उनकी सहायता करते हैं और उनकी आँखों के सामने बचपन में साथ खेले हुए बच्चों का बढ़ा हुआ प्रेम नाचने लगता है। कुछ लेखक बेहद दिमाग़ लड़ाने पर भी दूसरों के भाग्य को नहीं रो सकते। लेकिन रोना ज़रूर है इसीलिए अपने भाग्य को ही पकड़ कर बैठ जाते हैं। लेखक कहानी लिखते समय भूल जाते हैं कि प्रेम होना इतना सहल नहीं। यदि ऐसी जल्दी प्रेम होने लग जाय तो एक युवक की दर्जनों पत्नियाँ दिखाई दें और एक युवती के दर्जनों पति। अभी कम से कम भारतीय नवयुवक और नवयुवतियों की मति इतनी भ्रष्ट नहीं हुई, अभी थोड़ा विवेक बाक़ी है।

दूसरी बात यह है कि ऐसी कहानियों का नवयुवक तथा नवयुवतियों पर क्या प्रभाव पड़ता होगा। क्या कोई भी इस बात को मान सकता है कि ऐसी कहानियाँ मन को उन्नत और पवित्र बनाती होंगी। विशेषकर युवावस्था में मन चञ्चल होता है और उस समय उसकी ऐसी अवस्था होती है कि उसको जिधर झुकाया जाय, थोड़े प्रयास से ही झुक जाता है। लगातार ऐसी कहानियाँ पढ़कर वह ब्रह्मचर्य अवस्था में ही प्रेम के स्वप्न देखने लग जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। बहुत से मनुष्य कह सकते हैं कि प्रेम के स्वप्न देखना बुरा नहीं। हाँ, बुरा नहीं है गृहस्थाश्रम में, ब्रह्मचर्य आश्रम में तो ज़रूर बुरा है। यह समय मनुष्य की भिन्न-भिन्न शक्तियों के विकास का है। मेरा यह मतलब नहीं कि कहानियों में प्रेम का वर्णन ही न हो। प्रेम पर तो संसार स्थित है। परन्तु प्रेम को लेखकों ने इतना घृणित बना दिया है कि इसके नाम से ही घृणा होती है। वह सदा ही वासनामय प्रेम का वर्णन करते हैं। इस प्रेम के अतिरिक्त और किसी तरह के प्रेम का वह वर्णन ही नहीं कर सकते।

—कुमारी उमा माथुर

* * *

कान्यकुब्ज जाति पर एक दृष्टि

आजकल सुधार का युग है, जागृति की लहर देश के कोने-कोने में फैल रही है। सभी जातियाँ और समाज अपने सुधार में लगे हुए हैं। और उसमें उन्हें आशातीत सफलता भी मिल रही है। ऐसा सुअवसर प्राप्त होने पर भी हमारा समाज अभी तक कान में तेल डाल कर सुख की नींद ले रहा है। उसे तनिक भी चिन्ता नहीं है कि हमारी क्या दशा हो रही है। भारद्वाज, कश्यप ऐसे महर्षियों की सन्तान आज अपने को 'पानी पाँडे' और रोटी बनाने वाले 'महराज' के नाम से सुशोभित कर रही है।

ऋषि-सन्तान आज अविद्या देवी की उपासना में तल्लीन है। चार वेदों का पढ़ना तो एक ओर रहा, वेद

कितने हैं और उन का क्या नाम है यह भी नहीं जानते । जानते हैं तो केवल इतना कि 'हम बीस बिसुआ कुलीन हन, अपनी मर्जादा के नीचे बियाह कै के आपन नाउँ न बोरब ।' बस यह है उनकी मर्यादा और यही है उनका स्वाभिमान ! पंखा कुली बनने, और पानी पाँडे कहलाने में मर्यादा का नाश नहीं हुआ, पर अपनी मर्यादा से एक बिसे भी नीचे ब्याह करने में तुरन्त अपमान का अनुभव करते हैं । पढ़ने-लिखने और शिक्षा प्राप्त करने का नाम है गुलामी ! हैं तो जमीदार के लड़के पर अपने हस्ताक्षर करना भी नहीं जानते । यदि कहो कि भाई बच्चों को पढ़ाते क्यों नहीं, तो चट जवाब मिलता है कि 'का उनका मुनीमी करै का है, उई तौ जिमीदार के लरिका आँय ।' फिर बताइए पढ़ने की क्या आवश्यकता है ! जहाँ बालकों की यह दशा हो वहाँ बेचारी बालिकाओं का मूल्य ही क्या हो सकता है !

यह है हमारी जाति की शिक्षा की दशा ! गाँवों का तो कहना ही क्या, शहर भी इस छूत की बीमारी से नहीं बचे हैं ! शहर में रहकर यद्यपि उनकी दशा बहुत कुछ सम्हल गई है और दूसरी जातियों का प्रभाव भी उन पर काफ़ी पड़ा है जिससे सदियों की गहरी नींद में कुछ कुनमुनाहट उत्पन्न हो गई है पर पूर्ण-रूप से जागृत अवस्था अभी नहीं प्राप्त हुई है । आज भी वे वंशपरम्परागत कुरीतियों को छोड़ने को प्रस्तुत नहीं । यद्यपि एम० ए०, बी० ए० की उपाधि से विभूषित होकर उच्च-शिक्षा प्राप्त कहलाते हैं पर अपने ही घर में होने वाले अत्याचार तथा अनाचारों को रोकने का प्रयत्न नहीं करते । उनके सामने ही उनके छोटे-छोटे पुत्र-पुत्रियाँ वर-बधू बन बन कर उनके जाति रूपी गढ़ की नीव को धीरे-धीरे नाश करने में बड़ी शीघ्रता से अग्रसर हो रहे हैं । यद्यपि शारदा एक्ट पास हो गया है, पर उसकी तनिक भी चिन्ता नहीं है । अपने नेत्रों के तनिक देर के आनन्द के लिए अपने हृदय के टुकड़े का इस प्रकार बलिदान देने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती । बाल-विवाह के साथ ही साथ वृद्ध-विवाह भी अपनी बेढङ्गी चाल से चला जा रहा है । यह माना कि आज पहले की भाँति साठ या अस्सी वर्ष के बूढ़े बाबा से ब्याह नहीं किया जाता पर तेरह-चौदह वर्ष की कुमारी का ब्याह ~~पर~~ चालीस से पैंतालीस कभी-कभी, पचास वर्ष की अवस्था वाले पुरुष के साथ बड़ी प्रसन्नता से कर देते हैं; उसे वे बूढ़ा नहीं मानते । इतना कह कर ही सिर हिला कर सन्तोष कर लेते हैं कि 'हाँ ! हमारी लड़की से उसकी अवस्था कुछ अधिक अवश्य है पर इतनी ज्यादा नहीं है । ख़ैर जी, उसके पास रुपया तो बहुत है । हमारी कन्या रानी बनकर रहेगी ।' बस इससे अधिक और कन्या को चाहिए ही क्या ? धनी की पत्नी है, घर में उससे बड़ी अवस्था के लड़के-लड़कियाँ है, बिना कष्ट उठाए ही इतने बड़े मातृ-पद की अधिकारिणी हो गई है । इससे बढ़कर सौभाग्य का विषय और क्या हो सकता है ?

इस प्रकार के विवाह का रोग देहात में ही नहीं शहरों में भी बड़े संक्रामक रूप से फैला हुआ है । रही दहेज की प्रथा, सो उसका तो कहना ही क्या, वह तो प्रत्येक कान्यकुब्ज के पीछे लगी हुई है । इसकी दया से हमारी जाति की अच्छी से अच्छी, सुन्दर और सुशिक्षिता कन्याओं को अच्छा घर और वर मिलना दूभर है । आए दिन कन्याओं को दहेज देने के कारण अनेकों भले आदमी ऋण रूपी राक्षस के विकराल पञ्जे में फँस जाते हैं । इस धन की बौछार में ग़रीब बिचारों की कहाँ पहुँच है । उनकी कन्याएँ सुशिक्षिता या रूप-गुण-सम्पन्ना हैं तो हुआ करें, निर्धनता के दोष से तो दूषित है । इस दोष का प्रायश्चित यही है कि या तो वे आजन्म कुमारी रहें, या किसी धनवान वृद्ध की गृहिणी बनें ।

ख़ैर, यह तो सब हुआ, अभी एक और चाल हमारे समाज और जाति का मुख उज्ज्वल करने में कम विशेषता नहीं रखती, वह है बहु-विवाह प्रथा । यों तो सभी हिन्दू जातियों में यह रीति थोड़ी-बहुत प्रचलित है पर हमारी जाति ने तो इस विशेषता को इस योग्यता से प्राप्त किया है कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है । एक पत्नी के मरने पर दूसरी ब्याह लाना यह तो मामूली सी ही बात है, और फिर उसमें तो उनके पास प्रमाण ही प्रस्तुत है कि भाई, हमारी स्त्री मर गई हमारा घर बिगड़ रहा था तो फिर ब्याह न करते तो क्या करते !

—पर ऐसे भी लोगों की कमी नहीं है जो एक स्त्री के रहते दूसरी और तीसरी पत्नी लाते हुए तनिक भी नहीं सकुचाते, "स्त्री पैर की जूती है जब चाहे बदल दो" यह महा-मन्त्र उन्हें ख़ूब अच्छी तरह याद है। अन्य स्थानों की अपेक्षा वैसवाड़े के श्रेष्ठ कान्यकुब्ज समाज में यह चाल बहुत प्रचलित है।

बहु-विवाह प्रथा अथवा यों कहें कि एक से अधिक पत्नी रखना मानों दाम्पत्य-जीवन को नाश करना तथा अपने सुख शान्ति के लहलहाते पौधे पर कुठाराघात करना है। इससे कष्ट के अतिरिक्त-सुख बहुत ही कम भाग्यवानों को मिलता है, इसलिए यदि यह प्रथा उठा दी जावे तो हमारी जाति का बहुत कल्याण हो सकता है।

—कमला शर्मा

गायक से—

[श्री० 'कथित']

ढीले से उलझे तारों को सुलझा कर गायक गुणवान,
स्वर-तालों को भर वीणा में गाओ ऐसा अद्भुत गान !

हों विश्रुत झङ्कार, न दीखें करतीं पर अँगुली नर्तन,
वह गायन कौशल दिखलाओ कर दे जग में परिवर्तन !

है प्रसुप्त गायन में रोदन समझें यह सुनने वाले,
भर-भर कर मोती नयनों में जो तुझ पर बरसा डालें।

अविचल भी रह सकें न अविचल पिघल बनें करुणा की धार,
फूटें स्रोत मरुस्थल में भी, लूहें बनें वसन्ती-ब्यार।

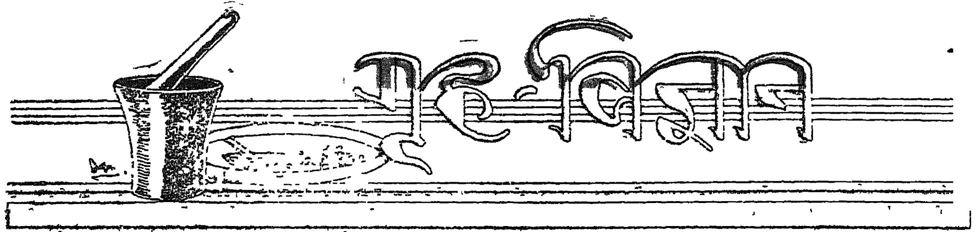
तापस भी बन जावे पावस विस्मृत कर निज रोष अतीत,
बञ्जर हो जावें अङ्कुरमय सुन तेरा करुणामय गीत !

मिला तंत्रि-स्वर से स्वर निर्झर लगें राग दुखमय गाने,
करे दूर तक वायु प्रतिध्वनित गूँजें अम्बर में तानें।

मूक-वेदना तेरी गायक अखिल विश्व सहचरी बने,
कहने तेरा दुख निष्ठुर से उमड़ चल पड़ें मेघ घने !

कम्पित रहें तार तंत्री के बन्द न होवे स्वर-लहरी,
प्रियतम ही आकर जब छेड़े टूटे तन्मयता गहरी !





नेत्र-रक्षा

हमारे शरीर में नेत्र (आँख) जितना अधिक उपयोगी अङ्ग है, उतना ही अधिक वह नाजुक भी है। इसमें नाना प्रकार के रोगों के होने से स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य्य दोनों की हानि होती है। जो लोग नेत्र-रोगों में ग्रसित रहते हैं, वह स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य्य दोनों से गिर जाते हैं। इसलिये लोगों को चाहिये कि इनकी सब प्रकार से रक्षा करें। आजकल सभ्य-शिक्षित जनसमुदाय में नेत्रों के रोग अधिकाधिक बढ़ते ही जाते हैं। जहाँ देखो वहीं नवयुवक तथा नवयुवतियाँ और बालक आँखों के रोगों से ग्रसित हो महा दुःख पा रहे हैं। किसी की आँखों में रोहे, किसी को मोतियाबिन्दु, किसी को माढ़ा-जाला और किन्हीं को दृष्टि-शक्ति-क्षीणता इत्यादि नाना प्रकार के नेत्र-रोगों की शिकायतें दिखाई दे रही हैं। इसलिये हम नेत्र-रक्षा विषय को आवश्यक समझ कर पाठकों के लाभार्थ कुछ काम की बातें बतलाना चाहते हैं।

अब हम कुछ कारण, जिनसे कि प्रायः नेत्र-रोग हो जाते हैं, बतला कर फिर चिकित्सा तथा नेत्र-सम्बन्धी कुछ उपयोगी नियमों को लिखेंगे। नेत्र-रोग होने के प्रायः यह कारण होते हैं :—क्रोध, शोक, चिन्ता, धूप, धूल, धूँआ, मैथुन और क्षार (खार) इनका अधिक मात्रा में उपयोग करना, आँखों से बहुत सूक्ष्म (बारीक) काम करना, अत्यन्त तेज़ प्रकाश वाले पदार्थ जैसे—सूर्य्य, तेज़ बिजली की रोशनी आदि की ओर देखना, रात्रि व सन्ध्या समय में पढ़ना, मल-मूत्र और अश्रु (आँसू) इनके वेगों को रोकना, शारीरिक दुर्बलता तथा पौष्टिक आहार की कमी। यही कारण आज नेत्रों में रोग उत्पन्न करने वाले हो रहे हैं। इसलिये इन कारणों से बचना चाहिये। कुछ नेत्र-रोग ऋतुविकार-जनित भी होते हैं, जैसे, आँखों का दुखना, सुर्ख़ हो जाना आदि। निरन्तर क़ब्ज़ के बने रहने से नेत्रों में अनेक रोग हो जाते हैं, इसलिये विचारशील सद्पुरुषों को इससे बचना चाहिये।

चिकित्सा

नेत्रों में ७६ प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। हम उन सबका यहाँ स्थानाभाव होने के कारण उल्लेख नहीं कर सकते, यहाँ केवल दृष्टि-शक्ति-क्षीणता के विषय में, जो कि बहुत बढ़ रहा है, लिखना है। आजकल नेत्र-ज्योति की दुर्बलता के लिये लोगों में उपनेत्र (चश्मा) का प्रयोग बहुत अधिक बढ़ गया है। यद्यपि इससे नेत्र-ज्योति नहीं बढ़ती, तथापि नेत्रों को साहाय्य तो अवश्य ही मिलता है। चश्मे के व्यवहार करते रहने से यह आशा करना कि हमारी दृष्टि-शक्ति-क्षीणता में लाभ हो जायगा, केवल दुराशा मात्र ही है। इस बात को सब लोग देख रहे हैं और जानते हैं कि जिन लोगों ने दस-बीस वर्ष लगातार चश्मे का व्यवहार किया है उनकी दृष्टि-शक्ति भी नहीं बढ़ती, अपितु यदि उन्हें समय पर चश्मा नहीं मिले अथवा खो जाय तो वे न लिख-पढ़ सकते हैं और न कुछ कार्य ही कर सकते हैं। इसलिये नेत्र-ज्योति बढ़ाने वाले उपायों में चश्मे का व्यवहार लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ।

अब हम पाठकों को तीन प्रयोग बतलाते हैं, जिनसे कि नेत्र-क्षीणता तथा नेत्रों के अन्य बहुत से रोगों में लाभ होता है। जिस प्रकार नेत्रों में ज़रा सी भी खराबी हो जाने पर लोगों को चश्मे के व्यवहार की उत्कट अभिलाषा हो जाती है, उसी प्रकार विशेष उत्साह से यदि वे ३-४ मास लगातार नियमपूर्वक हमारे आगे बतलाये

हुए प्रयोगों को करें तो उन्हें बहुत विशेष और स्थायी लाभ होगा। वे प्रयोग यह है :—

प्रयोग नं० १—प्रातःकाल सोते से उठते ही नित्य-प्रति बासी शीतल जल से आँखों को ख़ूब धोना चाहिए। इससे नेत्रों की ज्योति और चेहरे की कान्ति बढ़ती है। चेहरे पर होने वाले मुँहासे, झाँई, काले दाग़ और ख़ुश्की प्रभृति विकार नष्ट होकर चेहरा स्वस्थ एवं सुन्दर हो जाता है।

प्रयोग नं० २—बड़ी हरड़ का छिलका एक छटाँक, सूखे आँवले गुठली निकाले हुए एक छटाँक, बहेड़े का छिलका एक छटाँक—इन तीनों चीज़ों को जौकुट करके मिला कर रख लेना चाहिए, इस जौकुट चूर्ण में से १। तोला लेकर डेढ़ पाव जल में किसी काँच, चीनी, अथवा मिट्टी के चौड़े मुँह के बर्त्तन में रात्रि को सोने से पूर्व भिगो देना चाहिये, परन्तु यह ध्यान रखना उचित है कि वह बर्त्तन जिसमें दवा भिगोई गई है, ग्रीष्म ऋतु (गर्मियों) में रात्रि को ओस में बाहर चौड़ी खुली जगह में रक्खा जाय, वर्षा और शीत-ऋतु (जाड़े के दिनों) में उसको घर में किसी सुरक्षित स्थान में रक्खें। उस बर्त्तन के मुँह को साफ़ स्वच्छ कपड़े के टुकड़े से ढँक देवें, जिससे उसमें कङ्कड़, धूल, मिट्टी, पत्ता, तिनका अथवा कोई कृमि आदि के गिरने का डर न रहे। फिर प्रातःकाल ही उस दवा को हाथ साफ़ करके ख़ूब मल कर किसी साफ़ बारीक कपड़े में छान लें, इस औषधि के छने हुए जल से आँखों को नित्य-प्रति धोना चाहिये।

जिनके नेत्रों की शक्ति क्षीण हो, उन्हें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि उनको क़ब्ज़(Constipation) की शिकायत न रहे, क्योंकि हमेशा क़ब्ज़ के बने रहने से आँखों की ज्योति कम पड़ जाती है। जिनको नेत्रों की दुबलता के साथ-साथ क़ब्ज़ भी रहता हो उन्हें चाहिये कि २॥ तोले इस त्रिफले के मोटे चूर्ण को रात्रि में आध सेर जल में भिगो देवें। फिर प्रातःकाल उसी प्रकार मल-छानकर उस जल में से प्रथम आधा तो पी जावें, शेष जल से नेत्रों को ख़ूब धोवें। जिन लोगों को क़ब्ज़ न रहता हो, केवल दृष्टि-शक्ति क्षीणता का रोग हो तो उनको त्रिफला-जल से केवल आँखें ही धोनी चाहिये, पीने की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रयोग के लगातार ३-४ मास अथवा यदि रोग पुराना हो तो ५-६ मास के सेवन करने से इतना अधिक लाभ होता है कि चश्मा लगाने की आदत छूट जाती है। इसके सिवाय पढ़ते समय आँखों से पानी ढलना, आँखों का दुखना, आँखों का हमेशा सुर्ख़ बना रहना, आँखों में रोहे पड़ जाना और पलकों का भारी हो जाना प्रभृति रोग इसके प्रयोग से समूल नष्ट हो जाते हैं। यह आयुर्वेदशास्त्र का अनेकों बार नहीं, अपितु हज़ारों बार का परीक्षित प्रयोग है। प्रयोग करने पर इसके जितने गुण मालूम होंगे वह लिखे नहीं जा सकते।

प्रयोग नं० ३—जिनकी आँखें बहुत कमज़ोर हों अथवा जिन्हें आँखों के अनेक रोग हों, उन्हें प्रयोग नं० २ के साथ-साथ त्रिफलाघृत का प्रयोग भी करना चाहिये। प्रातःकाल आँखों को धोने के पश्चात् "त्रिफलाघृत" दो तोला को पाव भर गर्म दूध में मिश्री मिलाकर अथवा यदि समय पर दूध न मिले तो उस घृत में २ तोले केवल मिश्री मिलाकर खा लेना चाहिये। इसी प्रकार इस घृत का प्रयोग रात्रि को सोने से एक घण्टा पूर्व भी करना चाहिये।

इस घृत के प्रयोग से न केवल नेत्र-रोगों को ही लाभ होगा, अपितु मस्तिष्क सम्बन्धी और वीर्य-विकार आदि रोगों को भी लाभ होगा। इससे स्मरण-शक्ति बढ़ती, शरीर में बल-वीर्य का सञ्चार होता तथा शरीर की कान्ति बढ़ती है। इस घृत का प्रयोग उन नवयुवकों को, जो विद्यार्थी अवस्था में है, अवश्य ही करना चाहिये। यह घृत अच्छे-अच्छे वैद्यराजों के यहाँ हर समय तैयार मिलता है। यदि समय पर तैयार नहीं हो तो शीघ्र ही तैयार कराया जा सकता है।

अब हम नेत्र सम्बन्धी कुछ उपयोगी नियम लिख देते है। पाठकों को चाहिये कि इनको ध्यान में रक्खें। (१) जो-जो कारण नेत्रों में रोगोत्पन्न करने वाले हमने ऊपर बताये है, उनसे सदा बचना चाहिये, क्योंकि उन कारणों के न होने से नेत्रों में रोग होने का कभी भय ही नहीं हो सकता। (२) नेत्रों में नित्य-प्रति प्रातः-सायं कोई न कोई उत्तम आँजन (सुरमा अथवा औषधि-सिद्ध काजल) लगाना चाहिये, जिससे कि सदा नेत्रों का

रोगों से बचाव होता रहे, तथा नेत्र सुन्दर, आकर्षक और पूर्ण शक्तियुक्त हों। पूर्व-काल में लोग सदा इस नियम का पालन करते थे, परन्तु अब इस नियम का पालन करना तो दूर रहा, उल्टा उसका उपहास ही किया जाता है। मैं इस बात को ज़ोरदार शब्दों में लोगों से कहूँगा कि वे नित्यप्रति किसी न किसी प्रकार के उत्तम अञ्जन अथवा औषधि-सिद्ध कज्जल (काजल) को स्नानादि करके प्रातः और रात्रि को सोने से पूर्व व्यवहार करें। (३) गर्म पानी से सिर से स्नान करना, तेज़ खटाई, तेज़ लाल मिर्च और बहुत ज़्यादा बीड़ी, सिगरेट आदि धुआँ पीना, तथा अधिक मद्यपान करना नेत्रों को बिगाड़ता है, अतः इनसे बचना चाहिये। (४) भोजन करने से पूर्व तथा सोने से पहिले दोनों पैरों को शीतल जल से धोना चाहिये, इससे नेत्रों को बहुत लाभ होता है, (५) भोजन कर लेने के बाद दोनों हाथों को ख़ूब साफ़ करके आपस में रगड़ कर आँखों पर फेरना चाहिये, इससे एक विशेष प्रकार की शक्ति आँखों को पहुँचती है जिससे तिमिर, फूला तथा रात्र्यन्ध (रतौंधी) आदि रोगों के होने का डर नहीं होता।

—राधेश्याम, वैद्यभूषण

* * *

फ़ैशनेबिल जम्पर

नापें—छाती ३६, कमर २८, नेचरल वेस्ट लम्बाई १५, पूरी लम्बाई २१, बैक की चौड़ाई ६$\frac{3}{4}$, फोर आर्म, स्लीव्ह (बगल के आगे से कलाई तक की लम्बाई १६ इंचों में।

१ से २ बराबर छाती का $\frac{1}{6}+1\frac{1}{2}$ इंच।

१ से ३ नेचरल वेस्ट लम्बाई।

१ से ४ पूरी लम्बाई।

३ से ५ बराबर $\frac{3}{4}$ इंच है।

१ और ५ मिलाकर ६ तक लाईन खींचो।

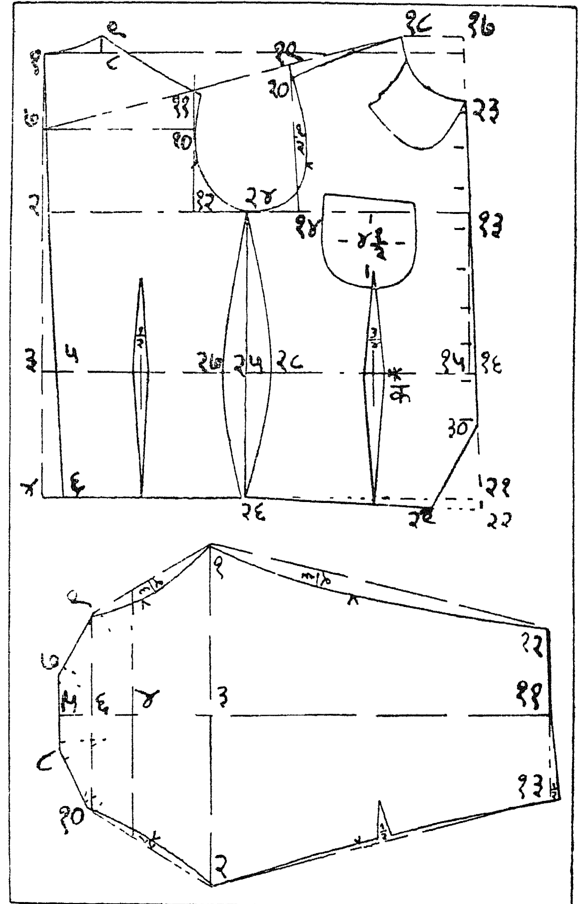
७, १ और २ का मध्य है।

१ से ८ छाती का $\frac{1}{12}-\frac{1}{4}$ इंच।

८ से ९ बराबर $\frac{3}{4}$ इंच है।

७ से १० बैक की चौड़ाई अधिक $\frac{1}{4}$ इंच।

७, १० लाईन से ११ और १२ स्क्वेअर करो, और ११ के आगे $\frac{1}{4}$ इंच अधिक लो।



२ बैक के बीच से, १३ तक छाती का $\frac{1}{2}+2$ इंच है

१३ से १४ छाती का $\frac{1}{4}-1$ इंच।

१३ को नीचे १५ तक स्क्वेअर करो।

१५ से १६ बराबर $\frac{1}{4}$ इंच है।

१३ और १६ मिलाकर ऊपर १७ और नीचे २२ तक लाईन खींचो।

१३ से १७ बराबर १ से २ + $\frac{३}{४}$ इंच है।

१७ से १८ छाती का $\frac{१}{१२}$ इंच।

१८ और ७ को मिलाओ।

१८ से १९ (जितना बैक शोल्डर है) उतना ही रखो।

१९ से २० बराबर $\frac{१}{२}$ इंच है।

२१ से २२ बराबर $\frac{१}{२}$ इंच है।

१७ से २३ छाती का $\frac{१}{१२}$ इंच है।

१८, २३ गले का शेप बनाओ।

२४, १२ और १४ का मध्य करके नीचे २६, बॉटम तक स्क्वेअर करो।

५ बैक के नीचे से, क, कमर का $\frac{१}{२}$ + २ इंच है।

२५ से २७ क, से १६ का $\frac{१}{३}$ है।

२५ से २८ 'क' से १६ का $\frac{१}{३}$ है।

फ्रन्ट और बैक के डार्ट में 'क' से १६ का $\frac{१}{३}$ दबा कर कमर मेजर बराबर करो।

२२ से २९ बराबर २$\frac{१}{२}$ इंच है।

२९ से ३० बराबर ४$\frac{१}{२}$ इंच है।

स्लीव्ह नं॰ १

११, १० २४, २० जम्पर के मुराडे का गौल मेजर करो, बराबर १६ इंच आता है।

१ से २ जम्पर के मुराडे का गौल मेजर १६ इंच है

३, १ और २ का मध्य है।

३ से ४ बराबर १० से १२ जितना है उतना ही रक्खो (जम्पर में देखो)।

४ से ५ बराबर ३$\frac{१}{२}$ इंच है।

५ से ६ बराबर १$\frac{१}{२}$ इंच है।

५ से ७ और ५ से ८ बराबर १$\frac{३}{४}$ इंच है।

७ से ९ और ८ से १० बराबर ३ इंच है।

९ से १ और १० से २ लाइनें मिलाओ।

९, १ लाईन के मध्य में $\frac{३}{४}$ इंच का शेप बनाओ।

१०, २ लाईन के मध्य में $\frac{१}{२}$ इंच का शेप बनाओ।

३ से ११ स्लीव्ह लम्बाई १६ इंच है।

११ से १२ और ११ से १३ छाती का $\frac{१}{२}$ — $\frac{१}{२}$ इंच है

१३ के नीचे $\frac{१}{२}$ इंच अधिक लेकर २ से १३ के मध्य में डार्ट दबाओ।

१ से १२ लाईन मिलाकर मध्य में $\frac{३}{४}$ इंच का शेप दो।

२ से १३ लाईन मिला कर मध्य में $\frac{१}{४}$ इंच का शेप दो।

स्लीव्ह सीने के बाद मुराडा लगाते समय बैलेन्स मार्क (‸) बराबर मिला कर बाकी जो बचे ६, ७, ८, १० वहाँ पर बड़े-बड़े चार प्लेट आयेंगे, जिससे स्लीव्ह काऊन एकदम फूला हुआ रहेगा और बहुत सुन्दर दिखाई देगा।

—कलावती वर्मा



हमारा महिला-समाज

[श्री० श्रीराम शर्मा 'राम']

विश्व के रङ्गमञ्च पर नवयुग के आते-आते जहाँ और जगत की उन्नति के लिए खोज की गई है, वहाँ मनुष्य-समाज स्त्री जाति के प्रति भी पूर्ण रूप से आकर्षित हुआ है। विश्व की इस प्रेरणा में भारत किसी से पीछे नहीं रहा, अपितु कन्धा से कन्धा मिला कर चला है।

भारत में, विशेष कर हिन्दू-समाज में जब से स्त्री-समाज की कमियों, बुराइयों और कमज़ोरियों को दूर करने का आन्दोलन चला है, न केवल पुरुष समाज में, बल्कि स्त्री-समाज मे स्वतः ही इस प्रेरणा की तरफ़ एक जिज्ञासु की तरह झुक गया है।

दो भेद

उस प्रेरणा और जिज्ञासा के साथ ही, स्त्री समाज के अन्दर जो मनः क्रन्दन नाटक प्रारम्भ हुआ है, यह आज के स्त्री-समाज की एक विशेष घटना है। एक जाति में दो पार्टियाँ बनी हैं।—एक शृङ्खला में दो विचार-धाराएँ निर्मित की गई हैं, जो स्वतः ही, एक दूसरे से विपरीत दिशा की तरफ़ चल पड़ी हैं। जिस शिक्षित-स्त्री वर्ग से समाज ने अनेक आशाएँ बाँधी थीं, वस्तुतः वह स्वयं पथ-भ्रष्ट हो चला है। जहाँ उसे स्वयं अपने दल का पुनर्निर्माण करना था, उसने उसे तो छोड़ दिया और पुरुषों के साथ कन्धा मिला कर चलने की साध ले ली। स्त्रियों में जो शिक्षा आई, वह जहाँ नैतिक-चरित्र के लिए हानिकर सिद्ध हुई, वहाँ वह सामाजिक दृष्टिकोण से भी भ्रष्ट बन गई। या यों कहें कि एक के दूसरे के साथ बने सम्बन्ध ने एक साथ ही दोनों दोषों को विकृत कर दिया।

शिक्षित स्त्री-वर्ग के बाद दूसरा अशिक्षित दल है, जो पहले दल के ठीक विपरीत अन्धकार की खाई में पड़ा हुआ पुरानी लकीर को पीट रहा है। वह सड़ रहा है, मगर उस सड़न भरी माँद के भयङ्कर रूप की ओर उसका तनिक भी ध्यान नहीं है—वह जानता भी नहीं है। वह अपनी मूर्खता और अज्ञानता के कारण न केवल स्वयं बल्कि अपनी आत्मज सन्तानों के भी दुःख और क्षोभ का कारण बन रहा है। उसका अविचलित पथ पुराना है। सब ज्यों का त्यों है।

शिक्षित वर्ग

यह वर्ग जहाँ अपने जीवन के प्रति उपादेय, सकर्मण्य और जागरुक है, वहाँ जागृति के लिए उत्साह है, उल्लास है और तड़प है। वह जहाँ अपने औचित्य को समझता है, वहाँ पूर्णता को पाने का सङ्कल्प भी है।

हिन्दी-पत्रों ने, हिन्दू सभा-सोसायटियों ने स्त्रियों को आगे बढ़ने में अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया है। साथ ही, स्त्री-समाज ने जो आपस में होड़ लगा कर आगे बढ़ने की चेष्टाएँ प्रारम्भ की हैं; वह और अधिक उत्साह-प्रद बात हुई। परिणामतः हम, न केवल एशिया के अन्य देशों की तरह, बल्कि यूरोप के समाज के अनुरूप हिन्दू-स्त्रियों को पुरुषों के साथ प्रत्येक काम में सहयोग तथा कार्यशील बनती देखते हैं। यहाँ तक कि आज राजकीय नियन्त्रण में भी महिलाएँ अग्रसर दिखायी दे रही हैं।

किन्तु यह सब देखने के बाद भी हमारे सन्तोष की बात नहीं पूरी होती। शायद यह पुरुष रूप में हमारी चिर-उदासीनता हो। यह सम्भव भी हो सकता है।

लेकिन हम केवल अपने दृष्टिकोण की बात ले रहे हैं, जो समाज के हित और नियन्त्रण के साथ निहित है। समाज पहले अपने घरों की ओर झाँकता है, उसे पहले अपने छोटे नियन्त्रण पर क़ाबू करना चाहिए ; तब देश की बात आती है। देश का समाज पर ही अधिक भार है। और घर, स्वभावतः स्त्री की देन है—उसी का प्रतिरूप है। अतएव जिन घरों की दुर्दशा करके हम आज ग़ुलाम बने हैं, हमें इस नवयुग में भी उन्हीं की ओर देखना पड़ता है। जो स्त्रियाँ आज शिक्षिता बन चली हैं, हमारे सामने यह सब से बड़ी समस्या है, कि देखें उनमें कैसा और कितना पदार्थ है, जो घरों के लिए उपादेय हो। शिक्षा प्रत्येक वर्ग के लिए आवश्यक है। किन्तु उसका रूप, उसके ग्रहण करने की शैली और उसके साथ चलने वाले विचारों का अस्तित्व यह सब अवश्य खरे-खोटे की परख चाहते हैं। हमारी माँ-बहनें जिस अङ्गरेज़ी-शिक्षा की पृष्ठ-पोषक बनी हैं, उनका मत और उनके मन की स्थिति जिस ढाँचे में ढल रही है, यह कभी भी भारतीयता के लिए उपादेय वस्तु नहीं है। ऐसी शिक्षा को लेकर आज प्रत्येक गृहस्थी के सामने गम्भीर प्रश्न है कि उसकी लड़की या स्त्री क्लर्की करे या घर की गृहिणी बनकर बाल-बच्चों का पालन करे।

अस्तु, शिक्षा के नाम पर, जहाँ हम अपने घरों को स्वर्ग और सुख का केन्द्र बनाना चाहते थे, वहाँ वे उल्टे नरक के अखाड़े बनते जा रहे हैं। शिक्षिता स्त्रियों में जहाँ अपने घरों के कामों में दक्षता पाई जाती थी, आज वह स्वतः ही उसे झञ्झट समझ बैठी हैं। जो घर उनकी ओर आशा और जिज्ञासा के साथ निहारता है, वह उसकी ओर उदासीनता दिखाने लगीं। पति के लिए रोटी बनाना, अपने बच्चों के मल-मूत्र साफ़ करना, कुछ ऐसा उनकी नज़रों में हिकारत का काम बन गया है कि इसे किसी दशा में भी ओझल नहीं किया जा सकता।

भारी अशान्ति

जिस स्त्री में घर के कामों के प्रति उदासीनता हो, सब कुछ नौकरों पर छोड़ दिया हो, उस घर की क्या दशा होती है, इसे अनेक भुक्तभोगी जानते हैं। हम महसूस करते हैं कि यदि भाग्य इतना अच्छा है कि मोटरें हों और नौकर हों तो आराम किया ही जाता है। किन्तु यहाँ इस ऊपरी आराम और दिखावे की बात नहीं है। यहाँ विचारों की बात है। उन मन के भावों का ज़िक्र है, जो एक स्त्री के पास होने चाहिए। यह भूलने वाली बात नहीं है कि स्त्री, चाहे ग़रीब हो चाहे अमीर, दया और प्रेम की खान होती है। वह स्त्री है, जो पुरुष समाज की माँ बनती है और अपने हृदय का समूचा लावण्य पुरुष की नसों में ढार कर उसे वर देती है—ओ पुरुष जा, मैं तुझे अपना प्रेम, दया और सहानुभूति का सारा समुद्र प्रदान करती हूँ। किन्तु आज यह बात स्वप्न की एक पहेली बन गयी है। ऐसे अभागे पति कम नहीं हैं कि जो मास का आधे से अधिक वेतन श्रीमती की साड़ियों और मनोरञ्जन पर व्यय करते हैं। ऐसा पति जीवन में कितना प्रसन्न है, कितना उत्फुल्ल है, इसे जानने के लिए अनेक दरवाज़े झाँके जा सकते हैं ?

किसी पत्र में निकला था कि इटली के भाग्य-विधाता मुसोलिनी की स्त्री पति के लिए स्वयं बाज़ार से सब्ज़ी लाकर और अपने हाथ से भोजन तैयार करके उसे खिलाने का काम करती है। क्योंकि उसका विश्वास है, वह अपने पति के लिए जैसा सुस्वादु और पुष्टिदायक भोजन तैयार कर सकती है, वैसा न नौकर दे सकता है, न कोई और स्त्री ही। क्या भारत के बैरिस्टर, प्रोफ़ेसर और करोड़पति की बीबी से मुसोलिनी की स्त्री का अधिक मान नहीं ? क्या रोटी बनाने में उसकी इज़्ज़त घट गयी ? पर, वह अपने मान को, अपने कर्तव्य को और अपनी मर्यादा को स्वयं जानती जो है। भारत की फ़ैशनेबिल स्त्रियों की तरह वह उथले तल पर नहीं टिकी हुई है।

खेद का विषय है, हमारी शिक्षित बहिनें इस ओर से उदासीन हो चली हैं। भला, जो युवती कॉलेज की पढ़ाई समाप्त करके श्रीमती बनी हो, उसका पति किस प्रकार उसके मार्ग में अवरोध बने, और वह सहे ही कैसे। वह उसका प्रतिकार करेगी। क्योंकि उसकी पढ़ाई ने जो उसके स्वाभिमान पर धार रख दी है, उसका उपयोग तो करना ही पड़ता है।...

एक बार महात्मा जी ने 'यङ्ग-इण्डिया' में लिखा था कि जितना विदेशी कपड़ा सारे संयुक्त प्रान्त में खपता है, उतना पञ्जाब में लाहौर और अमृतसर का मुश्किल से 'गुज़ारा' कर पाता है। अन्य विदेशी वस्तुओं का तो ज़िक्र ही क्या। किन्तु शायद पञ्जाबी लोग इस बात को भूल गये कि कभी अपनी स्त्रियों के हाथ की वह रोज़ रोटियाँ खाते थे, प्रेम और आनन्द के साथ गुज़ारा करते थे, आज वही पञ्जाबी तन्दूर की रोटी खा पाते हैं, और जब दफ़्तर से लौटते हैं, तो देखते हैं कि बच्चे को नौकर खिला रहा है, और श्रीमती जी टेनिस, सिनेमा या कहीं घूमने गयी हैं।

क्या इसी का नाम गृहस्थी है? क्या ऐसी ही स्त्रियाँ भारत के मस्तक को ऊँचा करेंगी?

अशिक्षित वर्ग

इस वर्ग के लिए हमें बहुत कुछ कहना था, क्योंकि अधिक संख्या इसी की है। किन्तु लेख बढ़ गया, अब बन्द ही करना है। हाँ, इस मार्ग में जहाँ घर के प्रति उपादेयता है, कर्मण्यता है और प्रेरणा है वहाँ अपने पति और बच्चों के लिए चाह, सौहार्द्र और प्रेम की सलिल गङ्गा भी प्रवाहित होती दिखाई देगी। किन्तु दुःख है, ऐसे गृहस्थ फिर भी सदा दुःखी ही रहते हैं। ऐसी दो स्त्रियाँ एक स्थान पर नहीं रह सकतीं। वह यह तो जानें ही कैसे कि हमारा देश क्या है, समाज क्या है और उसके लिए हमारा कर्तव्य क्या है। निस्सन्देह, यह स्त्री-वर्ग स्पष्ट रूप से दया का अधिकारी बना हुआ है। पति को अपना सर्वस्व मान लेने पर भी, शिक्षित पति या तो स्वयं मर जाये अथवा पत्नी ही चल बसे। क्योंकि वहाँ न विचारों में मेल है, न जीवन में। दोनों अन्धकार में हैं। हाँ, पति जो थोड़ा-बहुत कमा कर लाया, यह तो वह जानती हैं कि उसे ठीक ढङ्ग से खर्च करें। जहाँ तक हो, पति को चुपड़ी रोटियाँ दें और अपने लिए सूखी, वह भी न मिले तो भी सन्तोष। न कोई गिला न शिकवा।

लेकिन अगर पति भी अज्ञान और अशिक्षित है तो ठीक, अन्यथा शिक्षित तो कुढ़-कुढ़ कर मरेगा। क्योंकि वह अपने सभी कर्तव्यों को स्त्री की नसों में ढालना चाहता है। पर वहाँ तो ढाक के तीन पात। ज़्यादा गाँधी-गाँधी चिल्लाये, तो बेचारे गाँधी जी भी कोसे जाने लगे। यह स्त्री एक गुड़िया है, बाजीगर का डमरू है; जिधर चाहे हिला ले। पति क्रोध में है तो गालियाँ सुन रही है। पीट रहा है तो पिट रही हैं। हाँ, रोना जानती हैं, और कोसना जानती हैं। ऐसी स्त्री जीवन के लिए सदा जञ्जाल है—एक पाप है। उसे जो गुण्डा उड़ाना चाहे उड़ा सकता है—चुरा सकता है। ऐसा स्त्री-समाज सचमुच भारत के लिए एक शाप है—कलङ्क है।

अशिक्षित स्त्रियों को पुराने रीति-रिवाजों ने भी इतना गुलाम बना दिया है कि वह स्वतः ही जीवन से उदासीन बनी रहती हैं। उनमें जागरण के भाव तो प्रायः नष्ट हो चले हैं। यह समाज के स्वार्थ का भी दोष है। जहाँ समाज ने उन्हें काम और भोग की वस्तु बना कर पङ्गु और कर्महीन कर दिया है, वहाँ स्त्रियाँ भी स्वयं पुरुष के सहयोग में इतनी रँग गई हैं कि उसकी उँगली पर नाचना भर ही उन्होंने अपना कर्तव्य समझ लिया है। पढ़ी-लिखी स्त्रियों में जो फ़ैशन की प्रथा चली तो यह भी इधर झुक गई। चक्की पीसना और रोटी बनाने का जञ्जाल शनैः-शनैः उन्हें भी मालूम देने लगा। फलतः गाँवों तक में आटे की चक्कियाँ प्रस्तुत हो गयीं। ज़ेवर अवश्य चाहिए, पहिले से अधिक ही चाहिए। जिस नैतिक चरित्र की उपादेयता समझी जाती थी, अब वह ढीला पड़ चला।

हमारा प्रधान कर्तव्य

इन दोनों वर्गों का सन्तुलन करके दोनों में जहाँ ख़ूबियाँ हैं, समानता से त्रुटियाँ भी हैं। जो शिक्षिता हैं, वह आगे बढ़ रही हैं, घर आँखों से ओझल हो रहा है। दूसरी अज्ञानता के अन्धकार में पड़ी सड़ रही हैं। जिनका पाप न केवल घरों में, बल्कि बाज़ार के कमरों में भी अपने रूप की पिटारी खोले बैठा है।

स्त्री की स्थिति में समाज का एक ही कर्तव्य रह जाता है, वह यह कि जो शिक्षिता हैं उनकी शिक्षा का



झुकाव केवल भारतीयता को लेकर चले। उनमें घर के प्रति जागरुकता पैदा हो, साथ ही अशिक्षित बहनों को उपेक्षा से न देखकर प्रेम और दया के साथ देखा जाय—वह उन्हें अपनाएँ। यदि वह अपने घरों में सेवा का काम करेंगी, तो ठीक अपने बच्चों की तरह वह ग़रीबों के झोंपड़ों में भी बीमार माँ के बच्चे की सँभाल कर सकती हैं। क्षणिक आदर्श स्थायी नहीं होता। लेकिन जो भुक्तभोगी हैं, वह दूसरे का दुःख शीघ्र अपना सकती हैं। शिक्षिता स्त्री का प्रधान कर्तव्य होना चाहिए कि यदि वह घर में सम्पन्न है, तो दिन में कुछ समय अवश्य निकाले, जिससे अशिक्षित स्त्री के पास जाकर उससे प्रेम और सहानुभूति के साथ बात करे। उसे पढ़ाये और जीवन की उपयोगी सीख दे। यह सब किसी बनाव-शृंगार के साथ नहीं होना चाहिए। ठीक उन्हीं की सी पोशाक पहन कर उनके पास बैठना चाहिए। उनके घर की प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण करके अपने अनुरूप उनकी स्वयं व्यवस्था करके बताना चाहिए। अपने साफ़ बच्चे को दिखाकर उसके बच्चे को साफ़ रखने के लिए कहना चाहिए। ऐसी भी बातें होनी चाहिए जिससे उसका सङ्कोच दूर हो। साथ ही, शिक्षित स्त्री यह ही न समझे कि वह समझाने जा रही है, बल्कि वह स्वयं भी कुछ जानने की अभिलाषा से जाये। यह भी वहाँ जाकर देखे कि उसने किस प्रकार अपने जीवन के तरल लावण्य को अपने पति और बच्चों पर वार दिया है। और उन्हें बतलाये कि उनका जीवन केवल उनके घर की काल-कोठरी तक ही महदूद नहीं है। वह पति और बच्चों की ही सेवा नहीं चाहता; वह विश्व के लिए भी कुछ चाहता है, क्योंकि वह पुरुष की जननी है, जो अपने घर की माँ बनकर ही विश्व भर की माँ बनने की क्षमता रखती है। पति से चुपचाप पिट लेना ही उसकी शोभा नहीं है, वह उसका प्रतिकार करे जो द्वेष और स्पर्धा से नहीं, बल्कि युक्ति और नीति के साथ प्रतिपादक बना कर हो। किन्तु, यह सब तभी होना सम्भव है, जब कि शिक्षित वर्ग अपनी शिक्षा के दृष्टि-कोण को बदलकर इस ओर ध्यान दे। जिसके लिए राष्ट्र और समाज का भी कर्तव्य है। अन्यथा हमें भय है कि कहीं भारत भी यूरोपीय ढङ्ग का आदर्श न बन जाये, जहाँ राष्ट्र क्या, घर-घर अशान्ति की लपटें उठती दिखाई देती हैं।



अजी सम्पादिका जी,

जयराम जी की !

आजकल जिस प्रकार नये-नये आविष्कारों, यन्त्रों तथा मशीनों का प्रादुर्भाव हो रहा है, उसी प्रकार नये-नये सिद्धान्तों की भी सृष्टि हो रही है। सुशिक्षित कहलाने वाले व्यक्ति अपने सिद्धान्त अलग बनाते हैं। यदि सब ऐसा नहीं करते तो अधिकांश तो अवश्य ही करते हैं। ये सिद्धान्त ग़लत होते हैं या सही, इसका विवेचन अपनेराम नहीं करेंगे; क्योंकि यह बात ज़रा कठिन है। सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन तर्क-साध्य होने के कारण उनके सम्बन्ध में बहस की काफ़ी गुञ्जायश है। और बहस-तर्क से अपनेराम घबराते हैं। क्योंकि अपनेराम ने भी अपना एक सिद्धान्त बना रक्खा है। जब सब लोग अपना-अपना सिद्धान्त बनाये बैठे हैं, तब अपनेराम ही फिसड्डी क्यों रहें। इसलिए अपनेराम ने भी सिद्धान्त बना ही डाला। वह सिद्धान्त यह है कि किसी बात पर तर्क करना बिल्कुल व्यर्थ है। क्योंकि तर्क से आज तक कोई अपना सिद्धान्त किसी के हलक़ के नीचे नहीं उतरवा सका। अपनेराम ने बड़ी-बड़ी गर्मागर्म बहसें देखी हैं, परन्तु उनका अन्त जीभों की लपालपी के अतिरिक्त और कुछ नहीं निकला। घण्टों बहस होने के पश्चात् भी बहस करने वाले अपनी ही बात पर अड़े रहे और एक दूसरे को बेवक़ूफ़ समझते रहे। इसलिए अपनेराम ने जब यह देखा कि बहस करके अपनेराम अपनी बात किसी भकुए को मनवा नहीं सकते और न स्वयम् अपनेराम ही किसी भकुए की बात मान सकते हैं, तो बहस करना बिल्कुल व्यर्थ! इसलिए सबसे बढ़िया सिद्धान्त यह है कि दूसरों के सिद्धान्त भी बिल्कुल ठीक और अपना सिद्धान्त तो कभी ग़लत हो ही नहीं सकता। इस सिद्धान्त की बदौलत तर्क करने में जो व्यर्थ समय नष्ट होता है, उसकी बचत होती है, जीभ की दलेल बच जाती है और बहस करने में बहुधा परस्पर जो मनोमालिन्य होने की नौबत आ जाती है उसका खटका नहीं रहता। अपना यह सिद्धान्त कितना बढ़िया है, जिसमें सब तरह का आराम है। हालाँकि ऐसे भी लोग निकल आयेंगे जो इस सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए तुरन्त तैयार हो जायेंगे। उनसे अपनेराम का यही निवेदन है कि अपनेराम के इस सिद्धान्त के विरुद्ध आप जो कुछ कहना चाहते हैं वह बिल्कुल ठीक है; परन्तु अपना सिद्धान्त भी इस ग़ज़ब का है कि 'नैनं छिन्दन्ति तर्कानि नैनं दहन्ति कुदृष्टयः। न चैनं क्लेदयन्त्यश्वापो न शोषयति निश्वासः।' अतएव अपने सिद्धान्त के विरुद्ध आप जो कुछ भी कहेंगे वह सवा सोलह आने ठीक होते हुए भी अपनेराम उसे क़यामत तक नहीं मानेंगे। अस्तु।

एक दिन अपनेराम अपने एक मित्र के यहाँ बैठे हुए थे कि पड़ोस के मकान से रोने की आवाज़ आई। थोड़ी देर पश्चात् एक बुड्ढा रोता हुआ उक्त मकान के द्वार पर आया और चिल्लाकर बोला—'अरे भाई मुहल्ले वालो, देखो यह ससुरा मुझे मारता है। मुझे मारता है, अपनी माँ को मारता है। अरे मैंने इस ससुरे को इसी

दिन के लिए पाला था। मैंने इस हरामज़ादे के पीछे अपना चोला गला दिया। पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया, सब तरह से इसे बनाया। उसका नतीजा यह है कि यह मुसटण्डा मुझ बुड्ढे को मारता है।'

बुड्ढा इसी प्रकार बकता रहा। अपनेराम ने अपने मित्र से पूछा—'क्या मामला है?'

मित्र राम बोले—'यह एक कायस्थ सज्जन हैं। इनका लड़का बड़ा नालायक़ है। जब देखो, बुड्ढे माँ-बाप को पीटा करता है।'

अपनेराम बोले—'आप उसे समझाते नहीं।'

'अरे साहब! बहुत कुछ समझाया-बुझाया, पर वह किसी की मानता ही नहीं।'

'पढ़ा-लिखा है?'

'हाँ साहब! ग्रेज्युएट है, अच्छी पोस्ट पर है, डेढ़-सौ मासिक वेतन पाता है।'

'ऐसा आदमी भी माता-पिता को पीटता है, ताज्जुब है।'

'देखिये मैं बुलाता हूँ। आप बात कीजिये।' इतना कह कर उन्होंने उसे बुलवाया। वह बाईस-तेइस वर्ष का नवयुवक था। मित्र के पास आकर बैठ गया और बोला—'कहिये!'

मित्र ने मेरी ओर सङ्केत करके कहा—'दुबेजी आप से कुछ बात करना चाहते हैं।'

वह मेरी ओर घूमकर बोला—'कहिये दुबेजी, क्या आज्ञा है।'

'आज्ञा' शब्द पर अपनेराम को आश्चर्य हुआ। ऐसा शिष्ट व्यक्ति भी माता-पिता को पीट सकता है, यह कुछ समझ में नहीं आया। अपनेराम ने उससे पूछा—'आप जैसा योग्य पढ़ा-लिखा आदमी भी माता-पिता को पीटता है, क्या यह सच है?'

वह निस्सङ्कोच बोला—'सच! सवा सोलह आने सच है।'

उसकी धृष्टता देखकर अपनेराम के देवता कूच कर गये। सोचा कि अपनेराम ने ज़रा भी विरोध प्रदर्शन किया तो यह टेटुवा ही धर लेगा। इसलिए हाथ-पैर बचाकर बात करना चाहिए। यह सोचकर अपने-राम बोले—'क्या आप अपने इस कार्य को उचित समझते हैं?'

'यह प्रश्न तो आपका व्यर्थ सा है। उचित न समझता होता तो करता ही क्यों।'

अपनेराम का कलेजा धड़कने लगा कि बड़े बेढब से पाला पड़ा।

अपनेराम ने डरते-डरते प्रश्न किया—'आपका गुरु कौन है?'

'हमारा गुरु शैतान है!'

'शैतान?'

'जी हाँ, शैतान।'

'शैतान में आपने क्या वस्फ़ देखा, जो उसे अपना गुरु बनाया?'

'शैतान अपने सिद्धान्त का पक्का है। अपने सिद्धान्त के आगे उसने ख़ुदा तक की बात नहीं मानी। ख़ुदा ने हज़रत आदम को बना कर सब फ़रिश्तों को आज्ञा दी कि आदम को सिजदा (प्रणाम) करो। सब फ़रिश्तों ने आदम को सिजदा किया, लेकिन 'अज़ाज़ील' ने सिजदा नहीं किया। ख़ुदा ने अज़ाज़ील से प्रश्न किया कि—'तू सिजदा क्यों नहीं करता?' अज़ाज़ील ने उत्तर दिया—'ऐ ख़ुदा, मेरा सिर सिर्फ़ तेरे सामने झुक सकता है, और किसी के सामने नहीं झुक सकता।' ख़ुदा ने कहा—'मेरे हुक्म से भी नहीं झुक सकता।' अज़ाज़ील ने कहा—'नहीं! इस मामले में मैं तेरा हुक्म नहीं मान सकता।' तब ख़ुदा ने कहा—'तू शैतान है, जा आज से तू मेरी दरगाह से निकाला जाता है।' इतना कह कर ख़ुदा ने फ़रिश्तों को हुक्म दिया कि—'इस शैतान को बहिश्त से निकाल दो।' फ़रिश्तों ने ख़ुदा के हुक्म से अज़ाज़ील (शैतान) को बहिश्त से निकाल दिया। उस दिन से शैतान भी ख़ुदा पर इतना नाराज़ है कि ख़ुदा के बन्दों को ख़ुदा के विरुद्ध भड़काता रहता है। देखा आपने? अपने सिद्धान्त का कितना पक्का निकला। शैतान की उपाधि पाई, बहिश्त से निकाला गया, लेकिन अपने सिद्धान्त पर डटा है। आज दिन भी ख़ुदा की यह ख़्वाहिश है कि अगर अज़ाज़ील अपने अपराध की क्षमा माँग कर आदम को सिजदा कर ले तो उसे फिर फ़रिश्तों

के सरदार का पद दे दिया जाय ! लेकिन शैतान बात का धनी है, सिद्धान्त का पक्का है—अपनी बात पर डटा है। सो जनाब, वही शैतान हमारा गुरु है।'

अपनेराम के हवास गुम कि आज सेर को सवासेर मिला। अब क्या कहें! आखिर बहुत समझ-बूझ कर अपनेराम बोले—'जब आपका गुरु शैतान है तो आपसे बात करना ही व्यर्थ है।'

'नहीं, सो बात नहीं ! आप ख़ूब शौक से बात कीजिए। जो पूछना चाहिए पूछिये।'

'आप अपने माता-पिता को पीटते है, क्या यह भी आपके गुरु की शिक्षा है ?'

'बेशक !'

'लेकिन माता-पिता को पीटना कितनी बुरी बात है—यह आप जानते हैं ?'

'हाँ, कुछ दशाओं में बुरा है और कुछ दशाओं में नहीं भी है।'

'अच्छा ! वह कौन सी दशाएँ हैं, जिन दशाओं में बुरा नहीं है ?'

'जब माता-पिता पिटने का काम करें।'

'अच्छा ! क्या माता-पिता पिटने का भी काम करते हैं ?'

'जब मनुष्य पिटने का काम करते रहते हैं तो माता-पिता भी आखिर मनुष्य ही हैं। और आप जानिये, बुढ़ापे में अक़्ल भी खराब हो जाती है। उस समय पिटने का काम अधिक करते है।'

'यह तो अपनेराम को आप से ही मालूम हुआ।'

'मनुष्य का ज्ञान कभी पूर्ण नहीं होता। जब तक जीवित रहता है, कोई न कोई नई बात मालूम ही होती रहती है।'

'ख़ैर ! यह मानते हुए भी कि बुढ़ापे में अक़्ल ख़राब हो जाती है—पुत्र का कर्त्तव्य यह नहीं है कि माता-पिता को पीटे।'

'क्यों ?'

'देखिये, माता-पिता ने आपका पालन-पोषण किया। आपके पीछे कितने कष्ट सहे ! आपको पढ़ाया-लिखाया, योग्य बनाया। उन पर हाथ उठाना तो बड़ी कृतघ्नता है।'

'सो जनाब, मैं भी अब माता-पिता का पालन-पोषण करता हूँ, उनके लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहता हूँ। आये दिन दोनों बीमार रहते हैं। मैं डॉक्टरों-वैद्यों के यहाँ दौड़ लगाता हूँ। रात-रात भर जाग कर उनकी सुश्रूषा करता हूँ। मैं भी तो यह सब करता हूँ।'

'यह जो आप करते हैं तो बड़ा अच्छा करते हैं, परन्तु उन्हें पीटना—यही बात बुरी है।'

'क्यों बुरी है ? क्या माता-पिता ने मुझे नहीं पीटा। मैं जब कभी कोई पिटने का कार्य करता था तो वे मुझे भी पीटते थे। वे मुझे क्यों पीटते थे ?'

'आपको शिक्षा देने के लिए, आप बुरा काम या शरारत न करें, इसलिए।'

'वही बात मैं भी करता हूँ। मैं उन्हें अकारण तो पीटता नहीं, जब वह कोई ऐसा काम करते हैं जो मेरी इच्छा के विरुद्ध होता है तो मैं उन्हें मना करता हूँ। वे इस घमण्ड में कि वे मेरे माता-पिता हैं और उन्होंने मुझे पाला है, मैं कभी उनके सामने घुटनों के बल घसिटता था, कभी तोतला कर बोलता था, कभी मुझे अक़्ल ही न थी और अब भी मैं उतना ही नासमझ हूँ, इस विचार से वे मेरी बात नहीं मानते, मेरा कहना नहीं मानते। आप जानिये कि परिस्थिति सदैव एक सी तो रहती नहीं, बदलती ही रहती है। इस समय ऐसी परिस्थिति है कि गृहस्थी का सारा भार मेरे ऊपर है, अतएव मैं समझता हूँ कि कैसा क्या होना चाहिए। जो कमाता है उसी को पता रहता है कि पैसा कितनी कठिनता से मिलता है। आखिर मेरे पिता भी तो मुझपर नियन्त्रण रखते थे। मैं चार पैसे माँगता था तो नहीं देते थे, दो ही पैसे पकड़ाते थे। मैं ज़िद करता था तो मुझे पीटते थे। क्यों ? इसीलिए न कि वे अपने वित्त के भीतर रह कर खर्च करना चाहते थे। वही बात मेरे साथ भी है। मैं भी जितना उचित समझता हूँ, उतना खर्च करता हूँ, गृहस्थी का जैसा प्रबन्ध ठीक समझता हूँ वैसा करता हूँ। माता-पिता का केवल यह कर्तव्य है कि आराम से खाना खाँय, कपड़ा पहनें और राम-भजन करें। उनके भोजन-वस्त्र में, उन्हें आराम देने

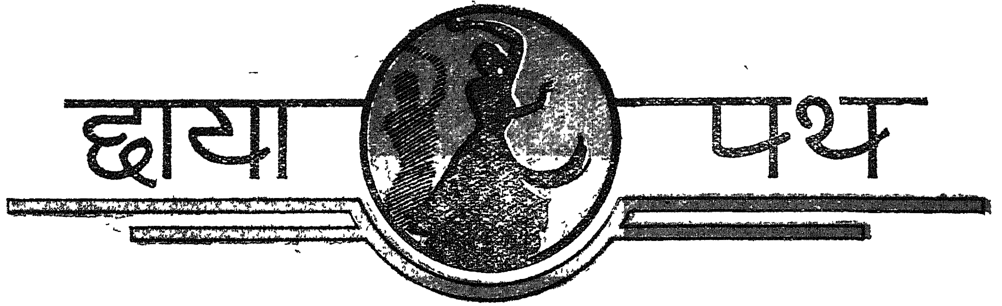
में यदि मैं त्रुटि करूँ तो मैं नालायक़। लेकिन यदि वह चाहें कि हर बात में अपनी टाँग अड़ायें, उचित हो या अनुचित, लेकिन बात उन्हीं की रहे, हुक्म उन्हीं का चले, तो जनाब, यह तो नहीं हो सकता। जहाँ ज़िम्मेदारी का काम हो वहाँ तो सारा भार मुझपर और हुक्म चलाने के लिए ख़ुद मुस्तैद, यह कैसे हो सकता है?'

अपनेराम को मन ही मन स्वीकार करना पड़ा कि बात तो पते की कहता है। परन्तु फिर भी साहस करके (या दुस्साहस करके?) उससे कहा—'हमारे धर्म में माता-पिता का क्या दर्जा है, यह तो आप जानते ही होंगे।'

'जी जानता हूँ; परन्तु जिस समय माता-पिता का दर्जा स्थिर किया गया था, उस समय क्या होता था, यह मत भूलिये। उस समय यह होता था कि जहाँ लड़का जवान और गृहस्थी का भार वहन करने योग्य हो जाता था, माता-पिता वानप्रस्थ हो जाते थे। उस समय वे निस्सन्देह पूज्य थे। लेकिन आजकल की दशा तो देखिये। दोनों बुड्ढे-बुड्ढी घर में मौजूद हैं। सबसे पहले खा लेते हैं। न कोई चिन्ता है, न कोई ज़िम्मेदारी। ख़ाली बैठे क्या करें? राम-भजन में चित्त नहीं लगता। इसलिए आलोचनाएँ किया करते हैं, व्यङ्गवाण छोड़ा करते हैं। प्रत्येक बात को अपनी युवावस्था के समय से ही नापते हैं। अब समय कितना बदल गया है, यह आप जानते ही हैं। उन्हें इस समय के अनुकूल जो है, वह सब बुरा ही बुरा दिखाई पड़ता है। ज़रा कोई बात उनके आदर्श के विरुद्ध हुई नहीं कि बुरा-भला कहना आरम्भ किया, व्यंग्य-वाणों की वर्षा होने लगी। यह भी नहीं कि केवल अपना मत प्रकट करके चुप हो जाँय। एक बात को लेकर घण्टों रटेंगे और ऐसे-ऐसे कटु वाक्य कहेंगे कि आदमी का तो कहना ही क्या, पत्थर भी तिलमिला जाय। ऐसी दशा में आप ही बतावें कि मनुष्य कहाँ तक सहन कर सकता है। उस समय मुझे भी उसी उपाय का आश्रय लेना पड़ता है, जो संसार में सर्वोपरि है। मैं भी समझता हूँ कि बूढ़ा आदमी भी बालक के समान हो जाता है, अतएव उसे बालक समझ कर ही ताड़ना करनी चाहिए। यह मेरा सिद्धान्त है। मुझे कलियुगी कहते हैं। मैं कलियुगी हूँ तो वे कौन सतयुगी हैं—वे तो कलियुगी होने में मुझसे भी दस जूते आगे बढ़े हुए हैं। यदि वे मुझसे सतयुगी होने की आशा रखते हैं तो पहले स्वयम् उन्हें ही सतयुगी बनना चाहिए। उस समय मैं उनके साथ कोई दुर्व्यवहार करूँ तो मैं नालायक़! सैकड़ों बार कह चुका, तोते की तरह पढ़ा चुका कि आप लोग चुपचाप राम-भजन कीजिए, आपको गृहस्थी के झगड़ों से क्या मतलब! आपके आराम में त्रुटि हो तो बोलिये, अन्यथा चुप रहिये। आप से जब कोई पूछे तो अपनी राय बता दीजिए। यह सब समझा-समझा कर हार गया, लेकिन नहीं मानते। अपना महत्व और अपना बड़प्पन दिखाने के लिए ख़ामख़ाह टाँग अड़ायेंगे और जब उनकी बात अव्यावहारिक होने के कारण नहीं मानी जायगी तो कटु वाक्यों की वर्षा करने लगेंगे। तब उन्हें चुप करने का अन्य कोई उपाय न देख हाथ चलाना पड़ता है। आप जानिये, हम भी मनुष्य ही हैं, देवता नहीं, क्रोध आ ही जाता है!'

इतना कह कर वह चुप हो गया। मित्रराम अपनेराम का और अपनेराम मित्रराम का मुँह ताकने लगे। अपनेराम ने सोचा—यहाँ से खिसकना ही ठीक है। अतएव उस व्यक्ति से केवल इतना कहा—'आपका कहना भी ठीक है, परन्तु फिर भी आपको उनका ख़याल रखना चाहिए।' इतना कह कर अपनेराम वहाँ से नौ-दो ग्यारह हुए।

भवदीय,
विजयानन्द (दुबेजी)



सिनेमा चित्रों की आलोचना

[श्री० लक्ष्मणप्रसाद गार्ग्य]

अङ्गरेजी भाषा-भाषी समाज में एक लोकोक्ति प्रचलित है, जिसका आशय है कि हमारे सर्वाधिक हितैषी वे हैं जो हमें हमारी त्रुटियाँ तथा उन त्रुटियों को दूर करने के उपाय की ओर सङ्केत करें। किसी भी वस्तु को प्रोत्साहन मिले बिना उन्नत करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। प्रोत्साहन उसी दशा में मिल पाता है, जब कि कोई अन्य व्यक्ति समुचित आलोचना करे।

भारतीय सिनेमा-व्यवसाय तथा कला को कुशल समालोचकों की कड़ी आवश्यकता है। चित्रों की आलोचना पर लेखकों, सम्पादकों एवं पाठकों में अत्यन्त गहरा मतभेद होता है। इसका मुख्य कारण चित्रालोचनाओं का कोई विशेष धरातल एवं उद्देश्य न होना है। निम्न पंक्तियों में हम दो सिनेमा-आलोचकों की शैली पर अपने विचार प्रगट कर एक विशेष चित्रालोचना-माध्यम की ओर सङ्केत करेंगे।

सवाक्-सिनेमा के प्रारम्भिक काल में श्री गजानन्द शर्मा, एम० ए० की आलोचनाओं को पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। हमारा अपना अनुभव है कि सिनेमा-प्रेमी पाठक देहली से प्रकाशित होने वाले 'चित्रपट' तथा 'मूवीज़' में आपकी आलोचना को पढ़ने के पश्चात् ही किसी फ़िल्म को देखने अथवा न देखने का निश्चय करते थे। आपकी समालोचना-शैली का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है :—प्रारम्भ में आप चित्र का कथानक देते थे, जिससे पाठक को घटना-क्रम समझने में सुविधा हो। तत्पश्चात्, पात्र-पात्रियों का उनकी भूमिका समेत विशेष परिचय कराते थे। अन्त में, चित्र के कतिपय अङ्गों अर्थात् यान्त्रिक निर्देशन, अभिनय आदि पर अपना दृष्टिकोण उपस्थित करते थे। कभी-कभी आप चित्र के किसी पात्र अथवा घटना पर हास्यात्मक छींटा भी फेंक देते थे।

इस शैली में तनिक परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होती है। यदि कथानक तथा पात्र-परिचय को थोड़ा स्थान दिया जाय और चित्र पर गहरी दृष्टि डाली जाय तो आपकी आलोचनाओं में अपना सुरक्षित स्थान बना लेने की क्षमता मौजूद है। मनोरञ्जनात्मक 'रिमार्क' पास करने का ढङ्ग वस्तुतः अच्छा है। इससे पाठक को थोड़ी देर हँसने का अवसर मिलने के अलावा अन्य नवीन बातों का ज्ञान भी हो जाता है।

दूसरे आलोचक-प्रवर बम्बई निवासी श्री जे० आर० शास्त्री हैं। आपने सर्व-प्रथम "रङ्गभूमि" में लिखना प्रारम्भ किया। बाद में आपने कुछ दिनों तक 'चित्रपट' में भी लिखा। आजकल आपकी आलोचनाएँ पढ़ने को नहीं मिल रही हैं। सुना है कि आपने सिनेमा पर लिखना बन्द कर दिया है। आपकी सर्वोत्कृष्ट सिनेमा-सम्बन्धी रचनाएँ "रङ्गभूमि" में प्रकाशित हुई थीं।

आपका दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर स्थित होता था। इसका विशेष कारण है, जिसकी व्याख्या आपके ही शब्दों में, इस प्रकार की जा सकती है :—

"चुभने वाली (Scathing) समालोचना व्यङ्गात्मक (Sarcastic) या मज़हका (Ridiculing) हमारे लिये यों भी उचित नहीं, कि वह हमारे ही विचारों की गम्भीरता को नष्ट कर देती है। लेकिन सुधार रूपी शस्त्र इतना तेज़ होना चाहिये कि शरीर पर वार हो जाय और पता भी न चले कि इससे मैं कुछ मतभेद रखता हूँ। हमारे सामने कम्पनियों के सुधार का ही प्रश्न नहीं है और शायद बहुत सी कम्पनियों का सुधार हम कर भी नहीं सकते और कम से कम मुझे इस सम्बन्ध में ज़रा भी दावा नहीं है। हमारे सामने जनता को कुछ दिखाने का सवाल भी है; जनता को पारखी बनाना है। जितनी जनता में परख-दृष्टि आयेगी, उतना ही सुधार अपने आप होने लगेगा, कम्पनी वाले सुधार करने को मजबूर हो जायेंगे। इसलिये हमें जो कुछ भी कहना हो, साफ़-साफ़ निर्भीकता लेकिन सद्भावना और सच्चाई के साथ कहें और उसकी मान्य उपयोगी सिद्धान्तों के आधार पर गम्भीरतापूर्वक विवेचना करें। इसके लिये हमें बहुधा विशेष उदाहरणों को लेकर ऐसी समालोचना करनी होगी जो सब कुछ साफ़-साफ़ समझ में आ सके।"

आप चित्र पर लेखनी चलाने से पूर्व पात्र अथवा प्रस्तुतकर्त्ताओं के पुराने कार्यों का तनिक विचार नहीं करते थे। कम्पनी पुरानी हो अथवा नई, अभिनेता-अभिनेत्रियों का बाज़ार में नाम चल रहा है या उन्होंने पहिले-पहल ही रजतपट पर पदार्पण किया है, इससे आपका कोई सम्बन्ध नहीं। चित्र को चित्र की दृष्टि से देखकर गम्भीर अध्ययन के पश्चात् विवेचनात्मक शैली द्वारा अपने विचार स्पष्ट भाषा में प्रकट कर देंगे। आपके इस गुण पर मोहित होकर वी० शान्ताराम ने 'अमृत-मन्थन' की आलोचना को विशेष महत्त्व की वस्तु बतलाया था।

श्री जयन्त देसाई, डायरेक्टर श्री रणजीत मूवीटोन कम्पनी, बम्बई, के शब्दों में "इनके अलावा, कुछ आलोचक ऐसे भी हैं, जो जरूरत से ज़्यादा अक़लमन्द हैं। जोश में आकर वे सब कुछ भूल जाते हैं और अति छोटे दोष की भी, जिसे दूर करना असम्भव सा होता है, आलोचना करना शुरू कर देते हैं। इस धुन में यह वह भूल जाते हैं कि बहुत कुछ ऐसा भी है, जो अच्छा है और जिस पर उनकी नज़र नहीं पड़ी। इस श्रेणी के आलोचकों से फ़िल्म-व्यवसाय को सब से अधिक हानि पहुँची है, क्योंकि ऐसे आलोचक अर्द्ध शिक्षित हैं और ख़ूब हैं, सिनेमा-पत्रों के लेखक तथा सम्पादक बन गये हैं। वह चाहते हैं कि सब कुछ एकदम पूर्ण हो, जब कि उनकी अपनी रचनाएँ और पत्र 'थर्ड क्लास' ही रहते हैं। इस श्रेणी के आलोचक उपदेशक भी बनते हैं, वे चाहते हैं कि निर्माता ऐसे चित्र बनाए जो कलापूर्ण हों—उपदेश, भावुकता और अश्रु भी हों। परन्तु जब यह कला, उपदेश, भावुकता और अश्रुओं से भरे चित्र असफल होते हैं तो यह आलोचक एक साथ कह उठते हैं कि 'जनता पागल है! अशिक्षित है।'

श्री देसाई का उपरोक्त कथन निरा तथ्यहीन नहीं। ऐसी रचनाएँ उन लोगों की दिमाग़ी रपटन होती हैं जो फ़िल्म-क्षेत्र से अनभिज्ञ होते हुए भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये लेखनी चलाया करते हैं। दुख का विषय है कि इसी श्रेणी के आलोचकों की आजकल भरमार हो रही है।

इस प्रसङ्ग में मैं पञ्जाबी पत्रों में प्रकाशित चित्रालोचनाओं का विशेष रूप में उल्लेख करना चाहता हूँ। इस प्रान्त के सिनेमा-पत्रों के आलोचक चित्र को आद्योपान्त निकम्मा, कुरुचि-प्रसारक आदि ठहराने के पश्चात् भी 'चित्र जनता की रुचि के अनुसार है', 'सिनेमा-प्रेमियों के मनोरञ्जन का साधन बन सकेगा' आदि सम्मति दे देते हैं। हम समझ नहीं पाते कि जो चित्र सभी दृष्टि से दो कौड़ी का है, वह जनता को अपनी ओर किस प्रकार आकर्षित कर सकता है। सम्भव है कि ऐसे आलोचकों का इस प्रकार की आलोचनाओं के द्वारा एक ओर पाठकों तथा दूसरी ओर चित्र-प्रचारकों एवं प्रदर्शकों का भला बना रहना उद्देश्य हो। इस सम्बन्ध में हम केवल यही

कहेंगे कि उनका ऐसा करना दो घोड़ों पर एक साथ सवार होना है, जिसका अन्तिम परिणाम सर्व-विदित है। पाठक चित्र देखकर ऐसी आलोचनाओं तथा उनके प्रस्तुत-कर्त्ताओं के प्रति अत्यन्त कुत्सित और कटु मनोविचार प्रगट करते हुए देखे गये हैं।

सिनेमा के प्रति जनता का अनुराग दिनोंदिन प्रबल होता अनुभव कर प्रायः प्रत्येक पत्र सिनेमा-सम्बन्धी समाचार तथा आलोचनाओं को स्थान देना चाहते हैं। ऐसे पत्र अधिकतया फ़िल्मों की आलोचनाओं को अपेक्षतया शीघ्र स्थान देते हैं। उनके ऐसा करने का एक मुख्य कारण यह होता है कि सिनेमा-भवनों के सञ्चालक नया खेल चलने पर इन पत्रों के कार्यालय में दो-चार 'फ्री पास' भेज देते हैं। वे 'फ्री' आलोचक जो ऐसे पत्रों के कार्यालय के कर्मचारी अथवा कर्मचारियों के इष्ट-मित्र होते हैं, उस चित्र की इस ढङ्ग से आलोचना करते हैं ताकि सिनेमा वाले उन पर सदैव वैसी कृपा-दृष्टि बनाये रक्खें।

हमारे मतानुसार चित्र की आलोचना करते समय निम्न बातों पर ध्यान देना अधिक उपयोगी प्रमाणित होगा—(१) चित्र का कथानक तथा पात्र-परिचय को कम से कम स्थान दिया जाय; (२) चित्र के सभी विभागों की उत्तरदायित्व-पूर्ण तुलनात्मक विवेचना को अधिकाधिक स्थान मिले; (३) यथासम्भव मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर चित्र के गुण-दोषों का निश्चय करना चाहिये तथा (४) अन्त में, स्पष्टतया प्रकट कर देना चाहिए कि चित्र कौन मनोवृत्ति वाले दर्शकों को सन्तुष्ट करने में समर्थ है। साथ ही कार्य-रूप में परिणित हो सकने वाले सुधारों की ओर सङ्केत करना भी उचित है।

कुछ सज्जनों का कहना है कि चित्र की आलोचना करने के पश्चात् अपनी राय न देना अधिक उचित है। उनका इस कथन के पक्ष में यह तर्क है कि पाठक को अच्छा-बुरा बताने वाला आलोचक कौन होता है; आलोचना पढ़ने के पश्चात् पाठक स्वयमेव अपनी धारणा बना लेंगे। इस सम्बन्ध में हम केवल यह कहने को इच्छुक हैं कि समालोचक का काम पाठकों की रुचि को परिष्कृत करना भी होता है। असाधारण और निकृष्टतम कोटि का चित्र होने की दशा में तो उसका ऐसा करना और भी अधिक आवश्यक हो जाता है, क्योंकि दर्शक-जनता उस चित्र को प्रोत्साहन एवं सहयोग न देकर वैसे चित्र बनने या न बनने का मार्ग निर्धारित कर सकती है।





[संग्रहकर्ता—कविवर 'बिस्मिल' इलाहाबादी]

हाय एक-एक ख़ूबसूरत आलमे तस्वीर था,
फिर न पैदा होंगी ऐसी मिटने वाली सूरतें।
आलमे हस्ती[1] नहीं है दिल लगाने की जगह,
आने वाली होती हैं, सब जाने वाली सूरतें।

*　　*　　*

न कोहसार[2], न सहरा[3], न आस्माँ, न ज़मीं,
हवाये शौक़ कहाँ ले गई उड़ा के मुझे।

*　　*　　*

क्या लुत्फ़े ज़िन्दगी है कि इस ज़िन्दगी का लुत्फ़,
आगे बढ़ा हुआ मेरी उमरे रवाँ से है।

*　　*　　*

यह दिल की आग है, या दिल के नूर[4] का है ज़हूर,
नफ़स[5] नफ़स में मेरी रोशनी निकलती है।

—'दाग़' देहलवी

*　　*　　*

हादिसे अपने तरीक़े से गुज़रते ही रहे,
क्यों हुआ ऐसा यह हम तहक़ीक़[6] करते ही रहे।
सफ़हये हस्ती[7] पे आख़िर किस क़लम की है कशिश[8]
नक्श मिटते ही रहे, लेकिन उभरते ही रहे।

*　　*　　*

करता हूँ अल्ला-अल्ला और दिल में हूँ समझता,
काम आए मरते दम भी वह नाम है तो यह है।

*　　*　　*

इतने साथी उठ गए इस बज़्मे ग़म[9] अन्जाम से,
दिल को शर्म आने लगी अब ख्वाहिशे आराम से।

*　　*　　*

अगरचे अक़्ल से करता हूँ मैं हिफ़ाज़ते जाँ,
मगर न अक़्ल मेरे बस की है, न जाँ मेरी।

*　　*　　*

करते तमाम उम्र चुनाँ[10] और चुनीं रहे,
आख़िर में की नज़र तो जहाँ थे वहीं रहे।

—"अकबर" इलाहाबादी

*　　*　　*

गोशए[11] क़ब्र से बढ़कर कहीं आराम नहीं,
लोग सोते हैं यहाँ पाँव पसारे क्या-क्या।
वह कभी काबे में है वह कभी बुतख़ाने में,
ख़ुदनुमाई[12] उसे फिरती है उभारे क्या-क्या।

*　　*　　*

माना इसे, रह सकते हो तुम परदे के अन्दर,
परदे में तो रहने का नहीं नाम तुम्हारा।

१—संसार, २—पहाड़, ३—जङ्गल, ४—ज्योति, ५—साँस, ६—जाँच, ७—संसार, ८—लिखावट।

९—दुख की सभा,—१० ऐसा और वैसा, ११—कोना, १२—अपने को दिखाना;

काबा हो कि, बुतख़ाना हो सुनता हूँ शबो रोज़,[१३]
हर एक जगह एक नया नाम तुम्हारा।

* * *

दमे अख़ीर भी दिल में यही ख़याल रहे,
यह काम कर न सका, मैं वह काम कर न सका।
ख़ुदा को हश्र[१४] के दिन मैं जवाब क्या दूँगा,
जो काम करने को आया, वह काम कर न सका!

—'नूह' नारवी

* * *

आँखें ही बन्द हों तो नज़र आये क्या हमें,
तू किस जगह नहीं तेरा जलवा कहाँ नहीं।
यह सारी कायनात[१५] उसी का निशान है,
हम आप बेनिशाँ है, हमारा निशाँ नहीं।
क्योंकर करें तलाश अज़ीज़ाने रफ़ता[१६] की,
कुछ शहर का पता नहीं, घर का निशाँ नहीं।

* * *

कहते थे न हम मर के मिलेगी हमें राहत[१७]
क्या चैन की आज आ गई है नींद कफ़न में।
अहबाब[१८] की तकलीफ़ में है सख़्त नदामत[१९]
यह वजह है हम मुँह जो छुपाए है कफ़न में।
अल्ला रे तगय्युर[२०] नहीं पहचानता कोई,
फिरता हूँ मुसाफ़िर की तरह अपने वतन में।

—'अकबर' दानापुरी

* * *

हमदम[२१] न हमनशीं है, न ग़मख्वार है कोई,
इस दिल को तेरी याद से बहलाए जाते हैं।
दिल है कहीं ख़याल कहीं आँख है कहीं,
हम खो गये हैं, आप जो घबराए जाते हैं।

* * *

मुबारक ज़िन्दगी उनकी है क़द्र वक़्त उनको है,
जो रटते है तुम्हारा नाम, तुमको याद करते हैं।

* * *

समझ कर अपना दीवाना वह हमसे मुँह छुपाते हैं,
हक़ीक़त यूँ है दर परदा मुहब्बत आज़माते हैं।
किसी के रूबरू दिल के फफोले आज तोड़ेंगे,
ग़ुबार अब ख़ाक रक्खें दिल में हम दुनिया से जाते हैं।

—'जोश' मुज़फ़्फ़रपुरी

* * *

ए असीराने क़फ़स[२२] आने को है फ़स्ले खिज़ाँ,[२३]
चार दिन में और गुलशन[२४] की हवा हो जायगी।
लूट लो अच्छी तरह लुत्फे मआसी[२५] ए 'रयाज़'
है यही आसार[२६] अब दुनिया फ़ना[२७] हो जायगी।

—'रयाज़' गोरखपुरी

* * *

हर घड़ी कहती है यह इबरत[२८] बलन्द आवाज़ से,
ए जहाँ के रहने वालो यह जहाँ कुछ भी नहीं।
क़ैद में आकर चमन का तज़करा[२९] क्योंकर करूँ,
याद मुझको अब वह अगली दास्ताँ कुछ भी नहीं।

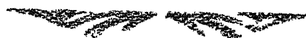
—'शेफ़्ता' भगवानपुरी

* * *

कई तो अपना शरीके हाल मुश्किल में रहे
तुम नहीं रहते, तुम्हारी याद ही दिल मे रहे
यह है कोई बात भी, यह है कोई इन्साफ़ भी
हम न रहने पायें, दुनिया तेरी महफ़िल में रहे
ग़ौर से देखे कोई, कसरत[३०] में यह वहदत[३१] की शान
एक तू है, और दुनिया भर के तू दिल में रहे
मिल गई सदमों से फ़ुरसत जान दे देने के बाद
दम में जब तक दम रहा, हम सख्त मुश्किल में रहे

—'बिस्मिल' इलाहाबादी

१३—रात-दिन, १४—क़यामत, १५—संसार, १६—जो मित्र संसार में नहीं हैं, १७— आराम, १८—दोस्त, १९—लज्जा, २०—परिवर्तन, २१—साथी, २२—क़ैदी, २३—पतझड़ का ज़माना, २४—बाग़, २५— गुनाह, २६—रङ्ग, २७— मिट जाना, २८—नसीहत, २९—बयान, ३०—बहुत, ३१—एक।





लेखक—
श्री० एस० डी० आपटे
सङ्गीत-प्रवीण

वन्दे-मातरम्

राग काफी (तीनताल)

—
कै० पं विष्णु दिगम्बर
शब्दकार—
वङ्किमचन्द्र चटर्जी

इस राग में गंधार, निषाद कोमल लगते हैं। शुद्ध निषाद का अल्प प्रयोग किया है।

गीत

वन्दे मातरम् ॥
सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम् ।
शस्य-श्यामलाम् मातरम् ॥
शुभ्रज्योत्स्ना पुलकित यामिनीम् ।
फुल्ल कुसुमित द्रुमदल शोभिनीम् ॥
सुहासिनीम् सुमधुर भाषिणीम् ।
सुखदाम् वरदाम् मातरम् ॥

स्थायी

प	ऽ	ग्	री	ग्	म	प	म	प	ऽ	ऽ	प	म	म	प	प
व	ऽ	न्दे	ऽ	ऽ	मा	ऽ	त	र	ऽ	ऽ	म्	सु	ज	ला	म्
+				३				१				२			
ध	ध	म	म	प	म	ग्	री	सारी	सारी	ग्	री	सा	ऽ	ऽ	सा
सु	फ	ला	म्	म	ल	य	ज	शीऽ	ऽऽ	ऽ	त	ला	ऽ	ऽ	म्
+				३				१				२			

सा	ऽ	री	म	ऽ	प	ध	ध	ध	नी॒	री	सा	ऽ	नीध	प	प
श	ऽ	स्य	श्या	ऽ	म	ला	म्	मा	ऽ	त	र	ऽ	ऽऽ	ऽ	म्
+				३				१				२			
प	ऽ	ग॒	री	ग॒	म	प	म	ध	ऽ	ऽ	प	म	ग॒	री	सा
व	ऽ	न्दे	ऽ	ऽ	मा	ऽ	त	र	ऽ	ऽ	म्	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
+				३				१				२			

अन्तरा

म	ऽ	ध	ध	ऽ	नी॒	ऽ	ऽ	ध	नी॒	री	सा	नीसा	धनी॒	ध	प
शु	ऽ	भ्र	ज्यो	ऽ	त्स्ना	ऽ	ऽ	पु	ल	कि	त	याऽ	ऽऽ	मि	नी
+				३				१				२			
प	प	सा	नी	सा	नी	सा	ऽ	ध	नी॒	ध	नी॒	पध	नी॒	ध	प
म्	फु	ल्ल	कु	सु	मि	त	ऽ	द्रु	म	द	ल	शोऽ	ऽ	भि	नी
+				३				१				२			
प	म	प	ना	प	ग॒	री	री	ग॒	री	ग॒	सारी	ग॒	री	सा	सा
म्	सु	हा	ऽ	सि	नी	म्	सु	म	धु	र	भाऽ	ऽ	षि	णी	म्
+				३				१				२			
सा	री	म	म	म	प	ध	ध	ध	नी॒	री	सा	ऽ	नीध	प	प
सु	ख	दा	म्	व	र	दा	म्	मा	ऽ	त	र	ऽ	ऽऽ	ऽ	म्
+				३				१				२			



श्रीरमणचरितामृत—अनु० पं० वेङ्कटेश्वर शर्मा शास्त्री ; प्रकाशक श्री० स्वामी निरञ्जनानन्द जी श्री रमणाश्रम तिरुवण्णामलै (मद्रास) पृ० सं० ४५० ; मू० १॥)

मद्रास प्रान्त के अरुणाचल नामक तीर्थ-स्थान में रमण महर्षि नामक विशिष्ट आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न एक साधक महात्मा रहते हैं, जिनका वहाँ की जनता में बड़ा सम्मान है। इस पुस्तक में उन्हीं की जीवन-कथा उनके एक भक्त ने लिखी है। इससे प्रकट होता है कि श्री० रमण आधुनिक युग के एक उच्च-कोटि के सन्त पुरुष हैं, जिनको कई प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हैं। अनेक देशी और विदेशी विद्वान् उनके शिष्य और भक्त हैं, जो उनकी आध्यात्मिक शक्ति में अटूट श्रद्धा रखते हैं। पुस्तक की लेखन-शैली सुन्दर और मनोरञ्जक है और मूल्य प्रचार की दृष्टि से अत्यन्त सुलभ रखा गया है।

भारत के आदि निवासियों की सभ्यता—लेखक श्री चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु ; प्रकाशक हिन्दू-समाज-सुधार कार्यालय सआदतगञ्ज रोड, लखनऊ ; पृ० सं० ८० ; मूल्य ।~)

हमारे देश में, विशेष रूप से प्रान्त में एक आदि हिन्दू आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है। जिसका सारांश यह है कि भारतवर्ष की अछूत जातियाँ इस देश की मूल निवासिनी हैं और उन्हीं को पराजित तथा पददलित करके आर्यों ने यहाँ पर प्रधानता प्राप्त की है। इस पुस्तक में इसी विषय की विशद रूप से विवेचना की गई है और सिद्ध किया गया है कि जिन लोगों को प्राचीन हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में असुर, सुरारि, दस्यु, दैत्य, दानव, यातुधान आदि शब्दों में याद किया गया है, वे ही वास्तव में इस देश के आदि निवासी थे और वर्तमान अछूत जाति वाले उन्हीं के वंशज हैं। वास्तव में यह एक अत्यन्त विवाद-ग्रस्त विषय है, जिसका निर्णय सहज में किया जा सकना दुस्साध्य है। लेखक ने अपने मत के समर्थन में जो युक्तियाँ दी हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से विचारणीय अवश्य हैं, पर वर्तमान सामाजिक परिस्थिति की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं समझा जा सकता।

घर का वैद्य—लेखिका डॉक्टर राजेश्वरी शर्मा, प्रकाशक शर्मा बुक डिपो, गऊघाट मथुरा; मूल्य २), पो० ।॥)

डॉक्टर शर्मा स्त्रियोपयोगी अनेक पुस्तकें लिखकर हिन्दी संसार को अपना परिचय दे चुकी हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने सरल सुबोध भाषा में रोगों के निदान और उनकी सरल चिकित्सा के विषय पर प्रकाश डाला है। साधारण पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ भी इससे लाभ उठा सकती हैं।

दूध ही अमृत है—लेखक श्री हनुमानप्रसाद गोयल ; प्रकाशक, छात्र हितकारी पुस्तकमाला कार्यालय दारागञ्ज, इलाहाबाद ; पृ०-सं० २०८, मूल्य १॥)

दूध के विषय में यह वास्तव में एक खोजपूर्ण पुस्तक है। दूध की उत्पत्ति और रचना ; दूध के भिन्न-भिन्न स्वरूप और उससे बने पदार्थ ; दूध के बीजाणु ; दुग्ध-चिकित्सा आदि सभी आवश्यक बातों का वर्णन

इसमें किया गया है। लेखक ने वैद्यक और आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों को दृष्टिगोचर रखते हुये अपने विषय का प्रतिपादन किया है, जिससे पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी हो गई है। अन्त में दूध और घी के सम्बन्ध में कितने ही ज्ञातव्य आँकड़े भी दिये गये हैं।

संगम—लेखक, श्री० गोवर्द्धनदास त्रिपाठी, विशारद; प्रकाशक, नवयुग पुस्तक भण्डार, बहादुरगञ्ज, इलाहाबाद; पृ०-सं० १२०; मूल्य बारह आने।

पत्रों के रूप में लिखा गया यह नवीन उपन्यास हिन्दू-समाज की हानिकारक जात-पाँत की कुप्रथा और अछूतों की दुर्दशा से सम्बन्ध रखता है। लेखक ने इसे मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद बनाने की पर्याप्त चेष्टा की है। जैसा कि इसकी भूमिका में माननीय कौशिक जी ने लिखा है, इस प्रकार के प्रेम-विषयक उपन्यास प्रायः कुरुचिपूर्ण या अश्लील देखने में आते हैं, पर यह इस दोष से मुक्त है। प्रतिपादन शैली में नवीनता है, जो उपन्यास-प्रेमियों को मनोरञ्जक और रुचिकर प्रतीत होगी।

तीरे नज़र—संग्रहकार और सम्पादक कविवर 'बिस्मिल' इलाहाबादी ; प्रकाशक, सरस्वती सदन, दारागञ्ज, प्रयाग ; पृ०-सं० १३६ ; मू० १।≈)

कविवर 'बिस्मिल' की शायरी की विशेषताओं और उर्दू-काव्य साहित्य के सम्बन्ध में उनके प्रगाढ़ ज्ञान से हमारे पाठक भली प्रकार परिचित हैं। इस छोटी सी पुस्तक में आपने 'नज़र' के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध उर्दू कवियों की चुनी हुई रचनाओं का संग्रह किया है। पुस्तक मनोरञ्जक और काव्य-प्रेमियों के पढ़ने योग्य है।

सैनिक (कॉङ्ग्रेस मिनिस्ट्री अङ्क) सम्पादक, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल। पता, 'सैनिक' कार्यालय आगरा।

कॉङ्ग्रेस ने किन परिस्थितियों में पड़ कर मन्त्रि-पद स्वीकार किया, उसके कर्णधारों ने किन भावनाओं को लेकर शासन की बागडोर अपने हाथों में ली तथा वे क्या करना चाहते हैं और अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफलता प्राप्त कर सके हैं, यह सब विशद रूप से समझना हो तो इस विशेषाङ्क को आद्योपान्त अवश्य पढ़ना चाहिए। कॉङ्ग्रेस मन्त्रि-मण्डल की कठिनाइयाँ, काकोरी षड्यन्त्र, बेकारी की समस्या तथा नई परिस्थिति में नया कर्त्तव्य आदि लेख लेखकों की महान विद्वत्ता के परिचायक हैं। 'तरल' जी की 'ओ विजयी सैनिक !' जैसी कविताओं में सजीवता है, कहानियाँ पठनीय हैं। अपने पुराने आकार-प्रकार का किन्तु मनमोहक मुख पृष्ठ वाला ८० पृष्ठों का यह विशेषाङ्क सुन्दर है।

वर्तमान (विजय-अङ्क)—सम्पादक, रमाशङ्कर अवस्थी ; मिलने का पता, मनसुखा प्रेस, कानपुर।

सुन्दर कविताओं और लेखों से विभूषित वर्तमान का विजय-अङ्क सुन्दर है। इस जागृति और विजय के युग में ऐसे अङ्क अपना विशेष स्थान रखते हैं मध्य प्रान्त के प्रीमियर डॉ० यन० बी० खरे, डॉक्टर भगवानदास, आचार्य रङ्ग तथा सद्गुरुशरण अवस्थी आदि के लेख महत्वपूर्ण हैं। 'कौशिक' जी की कहानी सुन्दर है।

नव राजस्थान (दीपावली अङ्क) - सम्पादक, रामगोपाल महेश्वरी, मिलने का पता; नवराजस्थान कार्यालय, अकोला (बरार)।

सहयोगी 'नवराजस्थान' का यह ११६ पृष्ठ का विशेषाङ्क है। सारगर्भित लेखों, सुन्दर कहानियों और भावपूर्ण तथा मनोहर कविताओं से पूर्ण है। देशी रियासतों की प्रजा की दुर्दशा तथा उसकी समस्याओं पर कुछ लेखों में अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'भारत में नागरिक स्वातंत्र्य' शीर्षक लेख विशेष महत्व का है। 'बेढब' महाशय की हास्यरस की कहानी भी अच्छी है।

मार्तण्ड (विशेषांक)—सम्पादक, पूर्णचन्द्र शर्मा, पता—देवास सी० आई०।

अच्छे-अच्छे लेखों से परिपूर्ण यह विशेषाङ्क सुन्दर है। कविताएँ सुन्दर एवं सुरुचिपूर्ण हैं। सहयोगी को अच्छी सफलता मिली है।





स्त्री की अद्भुत वीरता

बरेली के सौदागरान मोहल्ला में एक सुनार के घर में रात के समय दो आदमी घुस गये। उनके पास बन्दूकें थीं। जगने पर सुनार उनसे लड़ने लगा, पर बन्दूक की एक गोली ने उसका काम तमाम कर दिया। इसपर उसकी स्त्री लाठी लेकर आततायियों से भिड़ गई और यद्यपि उसके भी एक गोली लगी, पर उसने दोनों को मार कर भगा दिया। इस घटना के असली कारण का अभी तक पता नहीं लग सका है। स्त्री अस्पताल में पड़ी है।

* * *

अन्ध-विश्वास की भेंट

खुर्जा के एक ग्राम के रहने वाले ला० बुधराम का भाञ्जा बीमार था। किसी ज्योतिषी ने उनसे कहा, "यदि तुम्हारा भाञ्जा जीवित रहेगा तो तुम मरोगे और यदि तुम जीवित रहोगे तो तुम्हारा भाञ्जा अवश्य मरेगा?" इस पर ला० बुधराम अपने भाञ्जे को जीवित रखने के लिए स्वयं कुएँ में कूद गये। कुएँ से तो वह जीवित निकाल लिए गये, किन्तु कुछ दिन पश्चात् मर गये।

* * *

बेटी का खून

लाहौर हाईकोर्ट ने उस बूढ़े मुसलमान की अपील खारिज कर दी, जिसे अपनी लड़की का खून करने के जुर्म में फाँसी की सज़ा का हुक्म हुआ है। बूढ़े रहमान की उमर ६५ बरस से ज़्यादा है। वह चाहता था कि अपनी लड़की की शादी जहाँ करे वहीं उसके बदले में अपनी शादी भी करे। पर उसका लड़का चाहता था कि अपनी बहिन देकर वह खुद अपने लिये बहू लावे। लड़की भाई से सहमत थी। इसीपर चिढ़कर बूढ़े ने ३१ मई को अपनी लड़की को इतना घायल किया कि वह मर गयी।

* * *

बच्चे के लिये जान दे दी

कोटा स्टेशन के पास चलती ट्रेन की खुली खिड़की से एक पाँच वर्ष का बच्चा अचानक ही नीचे गिर पड़ा। माता इस दृश्य को बरदाश्त न कर सकी और फ़ौरन उसी के पीछे ट्रेन से कूद पड़ी। ट्रेन रुकने पर माता मरी पाई गई, मगर बच्चा जीवित था।

* * *

११॥ साल की लड़की का ब्याह

मथुरा के सी० जी० चौबे ने ज़िला मजिस्ट्रेट के यहाँ इस आशय की एक अर्ज़ी दी है कि हीरालाल चौबे ने अपने ६ वर्ष के लड़के का ब्याह ठकुरी चौबे की ११॥ वर्ष की लड़की से कर दिया है। दरख्वास्त में उन पण्डितों के भी नाम हैं, जिन्होंने कहा जाता है कि विवाह-संस्कार कराया था।

* * *

कलियुगी कृष्ण

नन्दपुर (नोआखाली) के रेवतीकान्त शर्मा का एक पुत्र हाजिरपाड़ा में अपने नाना के घर पैदा हुआ। कितने ही व्यक्ति यह देखकर दङ्ग रह गये कि जब कमरे में कोई भी नहीं होता तब एक नाग आकर उस बच्चे पर अपना फन फैलाकर जैसे पहरा देता रहता है। घर वालों ने उस नाग को यमलोक पहुँचा दिया; किन्तु नन्दनपुर में जब वह बच्चा अपने पिता के घर आया तब वहाँ भी एक अन्य सर्प ने बच्चे पर पूर्ववत् फन फैलाना प्रारम्भ

कर दिया। सूने कमरे में ही साँप आता है । अब घर वाले यह ख़याल रखते हैं कि उस साँप को कोई न मारे।

* * *

अमेरिका में गाँधी जयन्ती

२ अक्टूबर को न्यूयार्क में भी गाँधी जयन्ती मनाई गई थी। उसमें प्रसिद्ध लेखक, व्याख्यानदाता और समाज-शास्त्री श्री हरिदास मजूमदार का भाषण हुआ। आपने कहा कि कॉङ्गरेस की बागडोर राष्ट्रपति नेहरू जी के हाथों में देकर महात्मा जी ने काफ़ी अवकाश ग्रहण कर लिया है और ख़ास-ख़ास मौक़ों पर ही राजनीति में आते हैं। आपने भारत के प्रत्येक क्षेत्र में जीवन फूँक दिया। महात्मा जी के इस शान्तिमय विद्रोह का उद्देश्य समस्त संसार के लिये स्वतन्त्रता, आत्म-निर्णय के अधिकार, शान्ति, प्रेम आदि का सन्देश देना है। इसकी सफलता से समस्त मानव-समाज में भ्रातृ-भाव फैल जायगा।

* * *

हिन्दू धर्म का भक्त अङ्गरेज़

राजपूताना के एजेण्ट गवर्नर-जनरल सर जार्ज ओगलिवी, जो हाल ही में नौकरी से रिटायर हुए हैं, दिलवारा (आबू) के विख्यात जैन श्वेताम्बर मन्दिर में जगद्गुरु आचार्य श्री विजयशान्ति से मिले। सर जार्ज ओगलिवी को एक मानपत्र दिया गया, जिसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि मैं गत १६ वर्षों से श्री गुरुदेव के दर्शनों के लिए बराबर आता हूँ, मुझे हिन्दू-धर्माचार्यों के लिए बड़ा मान है। सर जार्ज ओगलिवी को कपड़े की बनी जूती पेश की गयी। उन्होंने लेने से इन्कार किया और नङ्गे पैर ही श्री गुरुदेव को नमस्कार करने गये।

* * *

चार स्त्रियाँ जल मरीं

नौनहारा गाँव (धौलपुर राज्य) से भयानक अग्निकाण्ड का समाचार मिला है। मालूम हुआ है कि दशहरा के अवसर पर लङ्का-दहन के समय एक बड़ी मोमबत्ती की लौ ने पर्दे को छू लिया। आग देखते-देखते सर्वत्र फैल गई और नक़ली बनाई लङ्का तक पहुँच गई, जो कि बाँसों और पटाखों की बनायी गयी थी। दर्शक लोग जो अब तक समझ रहे थे कि लङ्का जल रही है, उनका अब भ्रम दूर हुआ और स्थिति की भयानकता को उन्होंने अनुभव किया। आग इस समय तक पास की झोंपड़ी तक पहुँच चुकी थी और कुछ मिनटों में ही सारा गाँव आग की लपटों में घिर गया। आग बुझाने के सारे प्रयत्न विफल हुए। यह भी ख़बर है कि अपने शिशुओं को बचाते हुए चार स्त्रियाँ जल मरीं। पशु और धान्यागार भी जल कर नष्ट हो गये।

* * *

दूसरा विवाह करने का दण्ड

श्रीनगर (काश्मीर) की ख़बर है कि वहाँ बचपन की शादी तथा दूसरी शादी करने के विरुद्ध ज़ोरदार आन्दोलन किया जा रहा है। स्त्री-सहायक सभा ने एक प्रस्ताव पास किया है कि दूसरा विवाह करने वाले पुरुषों के विरुद्ध ज़ोरदार आन्दोलन किया जाय तथा ऐसे लोगों को विवश किया जाए कि वे दूसरा विवाह करने से पूर्व आधी जायदाद पहली पत्नी के नाम लिख दें, नहीं तो उनके मकान के सामने प्रदर्शन किये जायें।

* * *

पतोहू का भी हक़ होगा

लखनऊ का समाचार है कि लगान और काश्तकारी कमेटी में जिन अनेक बातों पर विचार किया गया है, उनमें से एक यह भी है कि किसानों को अपनी ज़मीनें बेचने का हक़ हो या नहीं। तय हुआ कि वे बेच तो न सकें, मगर कुछ सीमित समय के लिये आस-पास के ही अन्य किसानों या ज़मींदार के यहाँ बन्धक रख सकने का अधिकार हो। यह भी तय हुआ कि किसान की मृत्यु के बाद भूमि पर उसके ख़ास पुत्र या पौत्र की विधवा का भी हक़ पहुँचेगा, जब तक वह जीवित रहे या पुनर्विवाह न कर ले। लड़की के लड़के (धेवते या नवासे) का हक़ बहुधा मुक़दमेबाज़ी खड़ी कर देता है, अतः इसे या तो रखा ही न जाय या ऐसा कर दिया जाय कि उसे लेकर मुक़दमे खड़े न हुआ करें।

* * *

आकाश से गोला गिरा

बर्मा के टाङ्गो नगर के क़रीब एक बस्ती में रात के समय आकाश से आग का एक गोला गिरा, जिसके गिरने से भूमि में एक गहरा गढ़ा हो गया। लोग डर के मारे उसके निकट न जाते थे, मगर कुछ समय बाद गोला ठण्डा हो गया। कहा जाता है कि यह गोला काफी वज़नदार तथा किसी अज्ञात धातु का बना था।

* * *

पेट से मेंढक निकला !

मन्टुआ स्थान का एक लड़का बहुत दिनों से बीमार था। डॉक्टर ने देखा; इलाज शुरू हुआ। पहिले उसे क़य की दवा दी गई। ज्योंही उसे उलटी हुई कि उसके पेट में से एक जीवित मेंढक निकला। बस यही उसकी बीमारी थी। पता लगाने पर मालूम हुआ कि पिछली बरसात के दिनों उसने एक तालाब का पानी पी लिया था, जिसमें बहुत से छोटे मेंढक खेल रहे थे !

* * *

किसानों को ऋण-मुक्त करने की योजना

मद्रास सरकार की ओर से किसानों को ऋण-मुक्त करने की योजना असेम्बली के गत अधिवेशन में पेश की गई थी, उसके सम्बन्ध में जल्दी ही जाँच की जायगी। तारों और पत्रों द्वारा सरकार को मालूम हुआ है कि प्रस्तावित योजना के कारण किसानों को बहुत दिक किया जा रहा है। मगर जनता को मालूम होना चाहिए कि योजना एक रोज़ प्रकाशित हो ही जायगी, जिससे यह हालत अपने आप बदल जायगी।

* * *

हिन्दू महिला पर जघन्य अत्याचार

बिलासपुर (सी० पी०) का समाचार है कि एक स्त्री सक्ती रेलवे स्टेशन से अपने पति की नाराज़ी के कारण नागपुर अपने काका के पास बग़ैर टिकट गाड़ी में बैठ कर जा रही थी। उसे टिकट चेकरों ने बिलासपुर स्टेशन पर उतार लिया और सराय में ले गये। कहा जाता है, वहाँ उस पर ३-४ व्यक्तियों ने अत्याचार किया। इस काण्ड की जाँच लेडी डॉक्टर द्वारा कराई गई। तहक़ीक़ात की जा रही है। स्त्री उसके घर पुलिस द्वारा भेजी गई है।

* * *

साल में एक मास सवेतन छुट्टी

मालूम हुआ है कि बम्बई सरकार कारखानेदारों के लिये एक ऐसी योजना तय्यार कर रही है जिसके अनुसार हरेक मजदूर साल में ३-४ सप्ताह की छुट्टी पूरे वेतन पर ले सकेगा। अनुमान लगाया गया है कि इसके जारी हो जाने से कारख़ानेदारों पर प्रायः ४ लाख रुपया साल का ख़र्च बढ़ जायगा। इसलिए कारख़ानेदार इस तजवीज़ पर घबराये हुए हैं।

* * *

फ़ैक्टरी ऐक्ट में संशोधन

भारत-सरकार द्वारा भेजी गई एक चिट्ठी के जवाब में अमृतसर की लेबर फ़ेडरेशन ने तजवीज़ की है कि जिन कारखानों में मशीन से काम होता है, उनमें यदि काम करने वालों की संख्या ५ से अधिक हो तो वहाँ फ़ैक्टरी ऐक्ट लागू कर दिया जाना चाहिए। वर्तमान नियम के अनुसार २० से कम आदमी जहाँ काम करते हों, वहाँ यह ऐक्ट लागू नहीं होता। इसलिए इस तजवीज़ को मान लिया गया तो फ़ैक्टरी ऐक्ट में संशोधन की आवश्यकता पड़ेगी।

* * *

बाजीगर २०८ चीज़ें निगल गया

अमेरिका के एक नगर की बात है। एक बाजीगर किसी दूकान पर आया और बोला, कुछ मेरे भी चमत्कार देखेंगे जनाब ! किसी मनचले ने पड़ोस की दूकान से कह दिया, हम जो-जो चीज़ें दें उन्हें तुम निगल सकते हो और उगल भी सकते हो ? बाजीगर धुन में था, हाँ कर लिया। फिर क्या था, उसे २०८ चीज़ें दी गईं—२० जञ्जीर के टुकड़े, २ कुञ्जी, १० घोड़े की नाल, ५४ तार की गुच्छी, ८ स्क्रू, ३५ छोटे लोहे के टुकड़े, ५० बटन, १२ पिन्स, एक चाक़ू का हत्था। बाजीगर खाने को तो सब खा गया, पर थोड़ी ही देर में उसे अपने जादू सिखाने-वाले उस्ताद याद आ गये। दर्द के मारे, प्राण छोड़ने

लगा। लोग दौड़े; अस्पताल ले गये, वहाँ आपरेशन हुआ। सब चीजें निकाली गईं, तब कहीं ठीक हुआ।

* * *

मुर्गे ने रेल चलाई

दक्षिण बलगेरिया के ग्रामीण स्टेशन की खबर है कि एक रेलवे कर्मचारी था, जिसने कुछ मुर्गे पाल रखे थे। इनमें से एक मुर्गा ऐसा होशियार था कि उसने हर वक्त गाड़ी आते-जाते वक्त गार्ड की सीटी सुनकर स्वतः सीटी जैसी बोली बोलना सीख लिया था। एक दिन एक रेलगाड़ी आकर वहाँ खड़ी हुई। दूसरी गाड़ी आनेवाली थी। अतः ड्राइवर आराम से ऊँघने लगा। इसी बीच मुर्गे ने अपनी सीटी बजाई। ड्राइवर ने ऊँघते-ऊँघते यह समझा कि गार्ड ने यह सीटी बजाई है, अतः उसने रेलगाड़ी चला दी। बाद को जाँच करने पर उक्त मुर्गा दोषी पाया गया और मार डाला गया।

* * *

आविष्कार के लिये आत्महत्या

जुगोस्लाविया के पेट्रोग्रेड के जासिप मासनर ने एक अपने आप छूटने वाली राइफ़ल का आविष्कार किया, जिसके विषय में उसने दावा किया कि एक बार उसके बटन दबाने से १० गोलियाँ छूट सकती हैं। किन्तु उसने जिन लोगों को अपना आविष्कार दिखाया उनमें से किसी ने इसमें दिलचस्पी नहीं ली, अतएव निराश होकर उसने राइफल अपने ही ऊपर चला दी और मर गया। एक पत्र उसने छोड़ा था कि उसकी लाश उसके आविष्कार की सत्यता प्रमाणित करेगी। पुलिस ने लाश की परीक्षा की, जिससे मालूम हुआ कि राइफल से एक साथ दस गोलियाँ छूटीं। इनमें से सात गोलियाँ उसकी लाश के अन्दर मिलीं।

* * *

स्त्रियों के लिये जीविका

खानों में स्त्रियों का काम करना बन्द हो जाने पर उनको दूसरी जीविका देने का प्रबन्ध बिहार-सरकार द्वारा किया जायगा।

मालूम हुआ है कि एक योजना तैयार की गयी है, जिसके अनुसार स्त्रियों को हाथ-करघा चलाना और टोकरी बनाना सिखाया जायगा। इसके लिये मालूम हुआ है कि प्रांतीय सरकार ने ४०००) की पूँजी मञ्जूर की है और भारत-सरकार ने ३ वर्ष में देने के लिये ३०,०००) मंजूर किया है।

तजवीज यह है कि ये दोनों काम सिखाने के लिये दो शिक्षणालय खोले जायँ, जिनमें एक साथ ३० स्त्रियों को शिक्षा दी जायगी। कपड़ा बुनने का काम १० महीने और टोकरी बनाने का काम ६ महीने सिखाया जायगा। ये शिक्षणालय झरिया और सिजुआ में खोले जाएँगे।

सीखते समय हर स्त्री को चार आना रोज़ दिया जायगा। दोनों शिक्षणालयों के लिये साल भर में ६,७२०) खर्च पड़ेगा और ८४०) एक मुश्त खर्च होगा।

* * *

अमेरिका में ३॥ करोड़ रेडियो

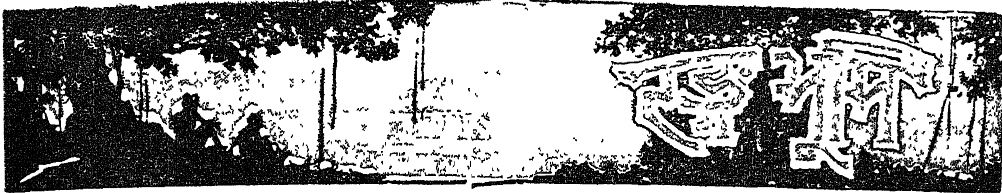
अमेरिका के ३ करोड़ १४ लाख परिवारों में से २ करोड़ ४३ लाख में रेडियो लगे हुए हैं। सारे देश का हिसाब लगा कर प्रति मिनट २८ रेडियो बिकते हैं। प्रत्येक घर में चार-पाँच घण्टे रोज़ाना रेडियो सुना जाता है। कुल तीन करोड़ ३० लाख रेडियो लगे हुए हैं। मोटरों में रेडियो लगाने का बहुत रिवाज हो गया है। इनकी संख्या ४५ लाख तक पहुँच चुकी है।

* * *

शव जी उठा

किंग्स्टन (इङ्गलैण्ड) की एक ६० वर्षीय हबशी जाति की स्त्री मिसेज चारलोट जोंस का देहान्त हो गया। शव को कफ़न में रखकर उसे रिवाज के अनुसार बरफ से ढक दिया गया। उसके सगे-सम्बन्धी १५ घण्टे तक उसके आस-पास बैठे-बैठे ऊँघने लगे। यकायक ऐसा हुआ कि वह बुढ़िया बड़ी शान के साथ भक्ति-पूर्ण भजन गाती उठी। आसपास बैठे हुए लोग डरकर भाग खड़े हुए और वह कफ़न से निकल कर चल दी तथा अब तक जिन्दा है और अच्छी है।





[सम्पादकीय]

भारतीय महिलाओं का नवीन दृष्टिकोण

नागपुर में होने वाले 'आल इण्डिया वीमेंस कॉन्फ्रेन्स' के बारहवें अधिवेशन के अध्यक्ष पद से श्रीमती राजकुमारी अमृतकौर ने जो भाषण दिया है, वह अनेक अंशों में भारतीय महिलाओं के बदले हुए दृष्टिकोण का परिचायक है। जहाँ अब तक महिलाएँ प्रायः अपने सामान्य अधिकारों और समाज-सुधार की छोटी-बड़ी बातों के सम्बन्ध में ही अपने विचार प्रकट किया करती थीं, राजकुमारी अमृतकौर ने उन व्यापक समस्याओं और प्रश्नों को उठाया है जिनका सम्बन्ध न केवल स्त्रियों से, वरन् देश में रहने वाले प्रत्येक छोटे और बड़े व्यक्ति से है, चाहे वह किसी भी 'सेक्स' (Sex) का क्यों न हो। अपनी वर्तमान अधिकार-विहीन तथा निर्बल अवस्था में यह बात शायद कुछ महिलाओं को अपने समुदाय के हित के विपरीत जान पड़े, पर वास्तव में अधिकारों को प्राप्त करने और समाज में अपना न्याययुक्त स्थान पाने का मार्ग यही है। अगर महिलाएँ देश के सार्वजनिक जीवन की समस्याओं को अपनाएँ, उनकी पूर्ति में अपनी शक्ति लगा दें और सफलता प्राप्त करके दिखा दें, तो उनके अधिकारों की समस्या तो अपने आप, बिना एक भी शब्द कहे, हल हो जायगी। फिर या तो कोई उनका विरोध करेगा ही नहीं, और यदि कोई भ्रम या स्वार्थवश करेगा भी, तो उसकी कुछ चल न सकेगी। बारहवें अधिवेशन की अध्यक्षा महोदया ने इस तत्व को भली-प्रकार समझ लिया है और अपने अभिभाषण में स्त्रियों की वर्तमान स्थिति, उनमें शिक्षा-प्रचार और समाज-सुधार की प्रगति का उल्लेख करने के पश्चात् वे कहती हैं :—

"पर यदि हम अपने अस्तित्व को सार्थक सिद्ध करना चाहती हैं तो इसके अतिरिक्त हमको कुछ और भी करना पड़ेगा। इसमें सन्देह की ज़रा भी गुञ्जायश नहीं है कि इस समय भारतीय रङ्गमञ्च पर स्वाधीनता-संग्राम का स्थान ही मुख्य है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि जब तक भारतवर्ष विदेशी शासन के बन्धनों से मुक्त न होगा, तब तक वह अपना उपयुक्त स्थान कैसे प्राप्त कर सकेगा ? हमारा जीवन एक सर्वाङ्गपूर्ण वस्तु है और हम सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी सुधारों को राजनैतिक और आर्थिक सुधारों से उसी प्रकार पृथक् नहीं कर सकते, जिस प्रकार स्त्री को पुरुष से पृथक् नहीं किया जा सकता। सब तरह की उन्नति और सुधार अविच्छेद्य रूप से एक दूसरे से बँधे रहते हैं और हम भारतीय स्त्रीत्व के सर्वथा अनुपयुक्त होंगी अगर हम अपने सामने उपस्थित सर्वप्रधान प्रश्नों पर अपनी सम्मति प्रकट न करें। मैं यह नहीं चाहती कि यह कान्फ्रेंस वास्तविक अर्थ में राजनैतिक संस्था बन जाय और न मैं किसी विशेष राजनैतिक दल से सम्बन्ध जोड़ने की सलाह दे सकती हूँ। हमको दृढ़तापूर्वक पार्टी-बन्दी से अलग रहना होगा और हमारे सदस्य सब श्रेणियों तथा समस्त देश से लिये जायँगे। पर इसमें मुझे नाममात्र को सन्देह नहीं है कि जो कार्य हमारी सम्मति में देश के लिये हानिकारक या लाभजनक हों, उनका हम विरोध कर सकें या उनमें नैतिक या व्यावहारिक रूप से सहायता दे सकें।"

अध्यक्षा महोदया ने अपने भाषण के अन्तिम अंश

में हमारे अहिंसात्मक आन्दोलन का बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया है और सिद्ध किया है कि वह स्त्रियों के विशेष रूप से अनुकूल है। आप कहती हैं :—

"हम इस बात का दावा कर सकते हैं कि संसार में केवल हमारा देश ही ऐसा है, जहाँ आज यह सिद्धान्त जड़ पकड़ सका है। वास्तव में हमको परमात्मा को धन्यवाद देना चाहिये कि उसने भारत का यह महान पुत्र हमको ठीक-ठीक रास्ता दिखलाने के लिये दिया। अहिंसात्मक आन्दोलन की जड़ जम चुकी है और हम अपने जीवन-कार्य में असफल समझे जायँगे अगर हम इस पौधे का पालन-पोषण न करेंगे। जिससे कि यह पौधा एक महान वृक्ष के रूप में परिणत होकर हमारे ऊपर अपनी शाखाओं को फैला सके और ईर्षा द्वेष के सूर्य की संसार को जलाने वाली किरणों से हमको सुरक्षित रख सके। मैं जानती हूँ कि अहिंसा का मार्ग कष्ट-सहन का मार्ग है, पर साथ ही मुझे यह भी मालूम है कि यह वह सीधी और तङ्ग सड़क है जो जीवन की तरफ़ अग्रसर होती है। कोई भी घर बिना स्त्री के प्रेम के सम्पूर्ण नहीं समझा जा सकता, और एक स्त्री की दृष्टि से हम बिना प्रेम के जीवन की कल्पना नहीं कर सकतीं। ऐसी दशा में क्या संसार हिंसा के आधार पर निर्वाह कर सकता है? हर्गिज़ नहीं। तब क्यों न अहिंसा को स्त्री-वर्ग का मुख्य चिन्ह समझा जाय। हमको सन् १९३८ से इस सिद्धान्त पर अमल शुरू कर देना चाहिये, केवल ज़बानी तौर पर नहीं, वरन् सच्चे हृदय से। तब हमारे सब डर भाग जायँगे, सब शङ्काएँ निवारण हो जायँगी और परमात्मा की कृपा से हम पूर्ण विश्वास के साथ अपने अत्यन्त प्रिय स्वप्नों के सफल होने की आशा कर सकेंगे।"

* * *

माता का त्याग

सन्तान के प्रति माता का स्नेह और त्याग जगत की अनुपम विभूतियों में सर्व-श्रेष्ठ समझा जाता है। संसार में जितने नाते और प्रेम-सम्बन्ध हैं, उनमें माता के सम्बन्ध से बढ़ कर मधुर तथा साथ ही महान और कोई नहीं है। माताएँ सहज ही में अपने बच्चों के लिये अपने सर्वस्व का बलिदान कर डालती हैं, यद्यपि उसके बदले में प्रायः इसके विपरीत व्यवहार ही प्राप्त होता है। इसीलिये सभी देशों और कालों के विचारवान् व्यक्तियों ने माता के प्रेम को स्वर्गीय और उदाहरण-स्वरूप माना है। उनकी दृष्टि में यह प्रेम स्वाभाविक और प्रकृतिदत्त है, जिसके लिये किसी प्रकार की चेष्टा अथवा विवेचना की आवश्यकता नहीं। पर इस युग में जिस प्रकार अन्य समस्त सामाजिक भावनाएँ और मानवीय मनोविकार तर्क और परीक्षा के विषय हो गये हैं, उसी प्रकार माता का सन्तान के प्रति स्नेह की विवेचना की भी आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। इस सम्बन्ध में अमेरिका के राष्ट्रपति की विदुषी पत्नी ने हाल में एक लेख लिखा था, जो अनेक तथ्यपूर्ण बातों से समावेशित है। उसमें आप कहती हैं :—

"माता को कितना त्याग करना चाहिये? वास्तव में माता एक बड़ी ही विचित्र वस्तु होती है। कुछ स्त्रियों में मातृत्व की भावना जन्म से ही होती है, चाहे मृत्यु-पर्यन्त उनके एक बालक भी न हुआ हो और ८-८ बच्चों की माता होने पर भी कुछ स्त्रियों में मातृत्व की भावना अविकसित रह सकती है। दूसरे शब्दों में मातृत्व की कोमल भावना कुछ स्त्रियों में स्वाभाविक रूप से होती है और वही समझ सकती हैं कि सच्चा मातृ-प्रेम क्या होता है?

"मैं बराबर यह कहावत सुनती आई हूँ कि बहुत कम स्त्रियाँ अच्छी पत्नी होने के साथ ही साथ अच्छी माताएँ भी हो सकती हैं। कुछ स्त्रियाँ अपना अधिकांश प्रेम पति को दे डालती हैं और इसलिये सन्तान के लिये उसका बहुत कम अंश बच रहता है। अन्य स्त्रियाँ पुत्रों के लाड़-प्यार में इतनी व्यस्त रहती हैं कि पति के प्रति उनकी दिलचस्पी सीमित हो जाती है। अक्सर देखा जाता है कि ऐसी स्त्रियाँ पति की आवश्यकताओं और सुविधाओं से उदासीन सी हो जाती हैं।

"मेरा निजी विश्वास तो यह है कि बच्चे जब छोटे हों तो स्त्री को पति की अपेक्षा उन पर अधिक ध्यान देना चाहिये। परन्तु उनके बड़े होने पर स्त्री को उनके

लिये कोई त्याग करते समय अन्य बातों का भी ध्यान कर लेना आवश्यक है।"

अपने लेख के अंत में श्रीमती रूजवेल्ट ने एक बहुत महत्वपूर्ण बात यह कही है कि माता को सन्तान के लिये त्याग करते समय यह सदा याद रखना चाहिये कि त्याग के बदले में किसी तरह की आशा करना निरर्थक है। सम्भव है, बड़े होने पर सन्तान कह बैठे कि त्याग करने को उन्होंने कहा तो न था या उससे उनका कोई भी लाभ नहीं हुआ। इसलिये नारी के लिये सर्वोत्तम यही है कि वह यह भूल जाय कि उसे कोई त्याग करना पड़ रहा है। उसे केवल यह सोचना चाहिये कि वह जो कुछ करती है, अपनी ख़ुशी से करती है। उसे समझ लेना चाहिये कि बालकों को प्रेम करना और उन्हें संयमी जीवन का पाठ पढ़ाना उसका कर्तव्य है?

* * *

कन्या-वध की क्रूर प्रथा

हमारे धार्मिक ग्रन्थों में स्त्रियों को गृहलक्ष्मी तथा देवी के नाम से सम्बोधित किया गया है। इतना ही नहीं, हमारा प्राचीन साहित्य भी वीराङ्गनाओं तथा वीर रमणियों की निष्ठा और कर्त्तव्यपरायणता से भरा पड़ा है। दमयन्ती और शकुन्तला के दाम्पत्य प्रेम और सीता-सावित्री के सतीत्व के आगे भला कौन विनम्र भाव से मस्तक न झुका देगा। परन्तु उन्हीं की सन्तान—हमारी भावी सीता-सावित्रियों के साथ जो लज्जास्पद व्यवहार किया जाता है, उसे स्मरण करके दिल दहल उठता है। हमें यह सुनकर आश्चर्य होता है कि भागलपुर, मुँगेर, पूर्णिया और दरभङ्गा आदि बिहार स्थित ज़िलों तथा राजपूताना, पञ्जाब और संयुक्तप्रान्त के कुछ हिस्सों में रहने वाले कतिपय राजपूतों में अब भी कन्या-वध की अमानुषिक प्रथा प्रचलित है। शायद पशु भी अपने नवजात शिशुओं के साथ ऐसा व्यवहार न करते होंगे जैसा कि राजपूत कहलाने वाले लोग अपनी ही सन्तानों के साथ करते हैं। हमें तो इन आततायियों को जो पशु से भी अधिक नृशंसतापूर्ण कार्य करते हैं, सम्बोधित करने के लिये उपयुक्त शब्द ही नहीं मिलते। सद्यः प्रसूता बच्चियों के साथ किस निर्दयता का बर्ताव किया जाता है, इसके सम्बन्ध में एक सज्जन लिखते हैं:—

"कन्या को मारने का काम स्वयं उसकी माता करती है। कोई नमक चटा कर और कोई तम्बाकू खिला कर मार डालती है। कोई नवजात शिशु के मुँह पर गर्भ का जेर रख देती है। बच्ची दम घुट कर मर जाती है। जो इस तरह नहीं मारना चाहती, वह उसे दूध पिलाना छोड़ देती है। दाई शिशु के रक्त, मज्जा आदि को साफ़ नहीं करती और चींटियाँ, कीड़े आदि उसके शरीर में लिपट कर ख़ून चूसते रहते हैं।"

इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो खाट के पाये के नीचे भी दबा कर अबोध बच्चियों का प्राण हरण कर लिया जाता है। महात्मा जी के शब्दों में हम भी यह मानने को तैयार हैं कि इसकी ज़िम्मेदारी केवल उन राजपूतों पर ही नहीं, अपितु सारे हिन्दू-समाज के ऊपर है। मुफ़्तख़ोर एवं ग़ैर ज़िम्मेदार रूढ़िवादियों के प्रभाव में रह कर हमारे समाज की जितनी ही दुर्दशा हो, उसका जितना ही नैतिक अधःपात हो, थोड़ा है। जब माँ-बाप अपनी अबोध सन्तान पर छुरी फेरते होंगे, उस समय की कल्पना मात्र से हृदय काँप उठता है। कहा जाता है, तिलक-दहेज की प्रथा तथा वंशगत गौरव के नाम पर ऐसे काले कारनामे किये जाते हैं। हम इसके लिये किसको दोष दें? बिहार की 'कन्या-वध-निवारिणी सभा' इस दिशा में जो काम कर रही है, उसकी पूर्ण सफलता की ओर हम आशा भरी दृष्टि लगाये हुये हैं। इस निर्दयता-पूर्ण प्रथा का अन्त करने पर वह जिस तत्परता के साथ तुल गई है, उसके लिये हम उसे बधाई देते हैं।

* * *

शिक्षा-प्रणाली उद्यम-प्रधान हो

कॉलेजों और विश्वविद्यालयों से निकलने के बाद हमारे देश के नवयुवकों का जीवन अधिकांश में अन्धकारमय हो जाता है—वे पथभ्रष्ट हो जाते हैं। सुख और स्वच्छन्दता की गोद में परिपालित होने

के बाद एकाएक जीवन-संग्राम की प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़ने से वे घबरा उठते हैं। आये-दिन सुनने में आता है कि 'अमुक युवक ने बेकारी के कारण आत्म-हत्या कर ली।' यह बेकारी क्यों होती है, यह प्रश्न विचारणीय है। इसका सीधा-सादा जवाब तो यही है कि उन्हें जिस युद्ध-भूमि में अग्रसर होना पड़ता है उसके लिए वे उचित सिपाही नहीं होते—कॉलेजों के स्वच्छन्द एवं विलासप्रिय वातावरण में रह कर वे निकम्मे बन जाते हैं। वे ऑफिसों के दरवाज़े खटखटाते हैं सरकारी अफ़सरों की खुशामदें करने में अपना अमूल्य समय नष्ट करते हैं, पर उनकी कोई सुनने वाला नहीं। यदि भाग्य-वश किसी को नौकरी मिल भी गई तो वेतन इतना अल्प मिलता है कि उससे उनकी अत्यन्त साधारण जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं होती। अभी तक हमारे शासन की बागडोर जिनके हाथों में रही है, वे भारत के इन अभागे शिक्षित-नवयुवकों की ओर उपेक्षा का भाव ही प्रदर्शित करते रहे हैं। अनावश्यक पाठ्यक्रम का असह्य भार विद्यार्थियों के जीवन को नष्ट करता रहता है और विदेशी भाषा माध्यम होने के फलस्वरूप छात्रों का मस्तिष्क अधिक समय में थोड़ा-सा ज्ञान उपार्जन करने में भी असमर्थ होता है। परन्तु इस समय स्वभाग्य निर्णय का कुछ अधिकार हमारे हाथ में आया है। हम सात प्रान्तों में अपनी लोकतन्त्रात्मक सरकारें—काङ्ग्रेसी सरकारें देख रहे हैं। उनके विधायक कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये महात्मा जी भी जी-जान से चेष्टा कर रहे हैं। इन सरकारों की स्थापना के समय से ही पथप्रदर्शनार्थ आप 'हरिजन-सेवक' में बराबर अपनी अमूल्य सम्मति प्रकट करते रहते हैं। बालकों को औद्योगिक शिक्षा देने, उन्हें जीवन-संग्राम में सफलीभूत बनाने के लिये हाल ही में आपको अध्यक्षता में वर्धा में शिक्षा-परिषद का जो अधिवेशन हुआ है, वह काफ़ी महत्व का है। यह तो सर्वसम्मत है कि महात्मा जी देश की गति को ठीक-ठीक पहचानने वाले एकमात्र नेता हैं। अतः उनकी उपस्थिति में विचार-विनिमय करने के बाद, सम्मेलन में जो प्रस्ताव पास हुये हैं, उनसे समाज के शिक्षित अङ्ग का कल्याण होने की पूर्ण आशा है। प्रस्ताव ये हैं—

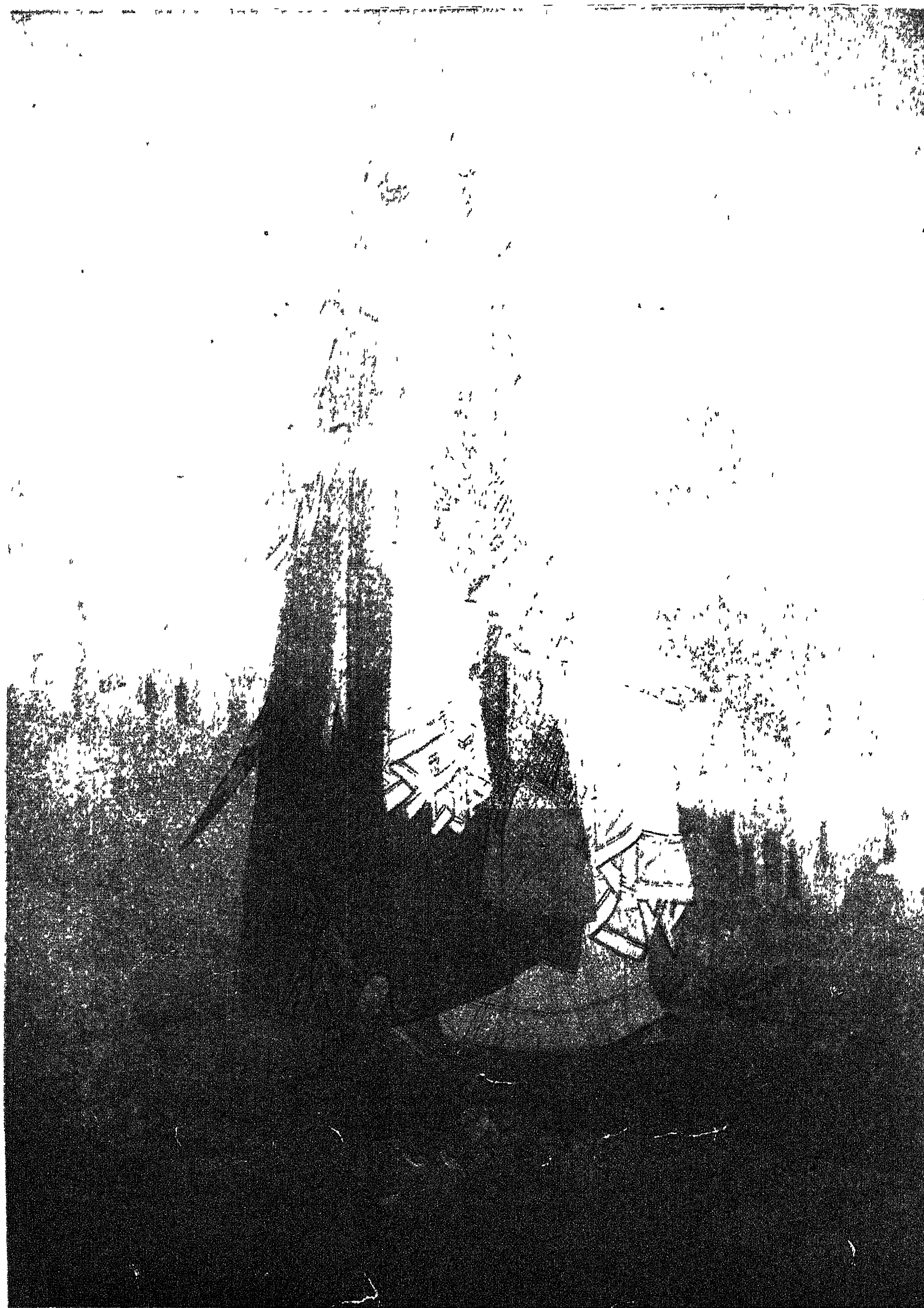
१—इस परिषद की राय है कि सात साल तक राष्ट्रीय ढङ्ग पर सारे राष्ट्र में निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा देने की व्यवस्था की जावे। शिक्षा का माध्यम राष्ट्र-भाषा हो।

२—महात्मा गाँधी ने जो शिक्षा-योजना तैयार की है, उसे यह परिषद स्वीकार करती है।

३—इन सात वर्षों में शिक्षा का क्रम इस प्रकार हो कि कुछ व्यावहारिक और उत्पादक शिक्षा भी मिल सके और जो कुछ सिखाया जाय, उसका सम्बन्ध बालक की रुचि के अनुकूल शिल्पकला से हो।

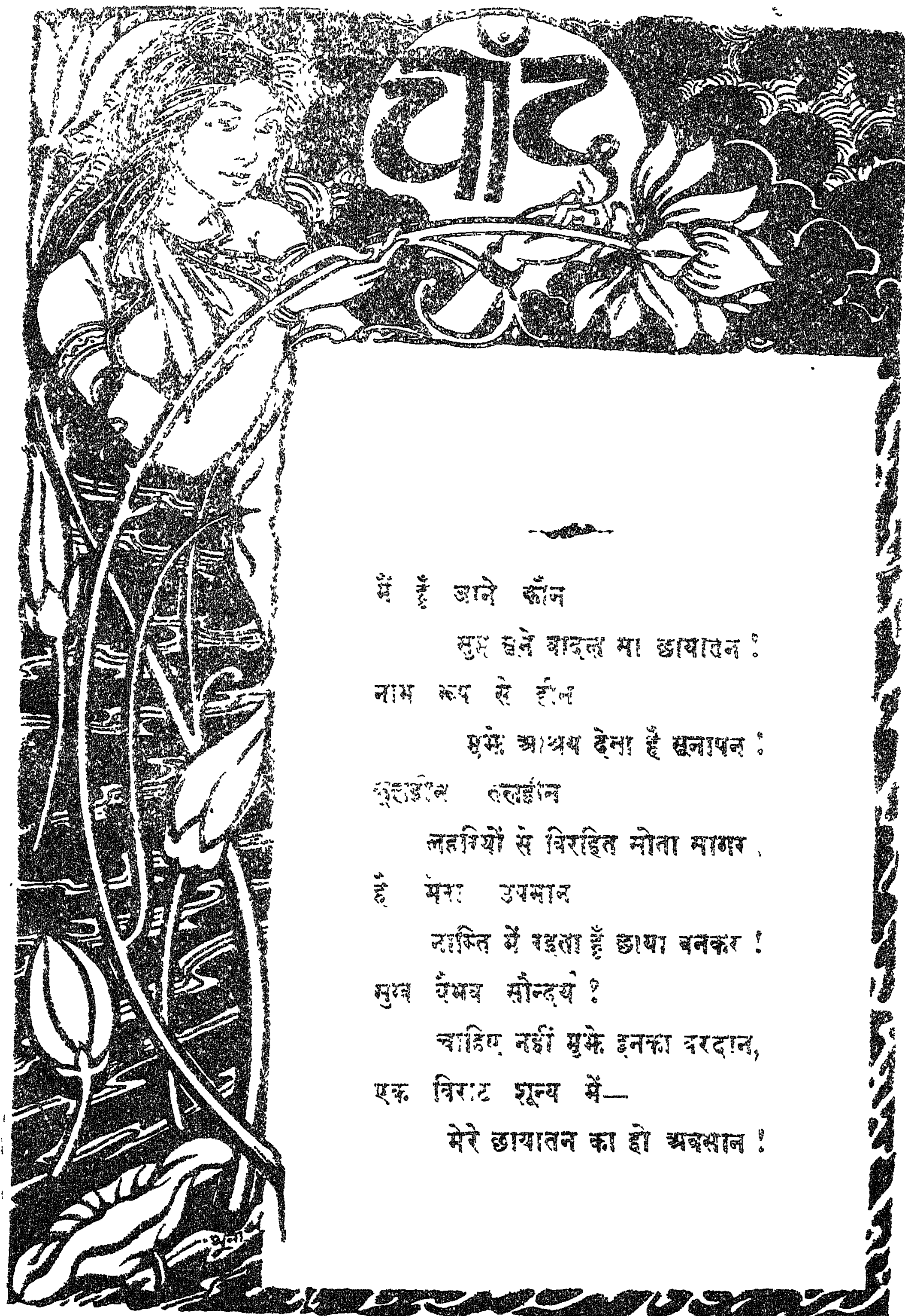
४—परिषद को आशा है कि इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली से धीरे-धीरे शिक्षकों को पारिश्रमिक मिलने लगेगा।

हम आशा करते हैं कि देश के सार्वजनिक कार्यकर्ता और अधिकार प्राप्त कॉङ्ग्रेसी मन्त्रिमण्डल उपर्युक्त प्रस्तावों पर ध्यान देकर शिक्षा-प्रणाली के संस्कार की चेष्टा अवश्य करेंगे। वर्तमान समय में प्रचलित दूषित शिक्षा-प्रणाली ही हमारे मार्ग में आने वाली अनेक कठिनाइयों का कारण है। जब तक इसमें जड़मूल से परिवर्तन न किया जायगा तब तक हमारा उद्धार कठिन ही है।



सैनिक की वधू

जिसकी मन में मूर्ति, निकट ही समुपस्थित वह अक्षत मौन !
पर चिन्ता से समय किसे है, पीछे फिर कर देखे कौन ?



मैं हूँ जाने कौन

मुझ जैसे बादल सा छायातन !

नाम रूप से हीन

मुझे आश्रय देता है सूनापन !

कूलहीन तलहीन

लहरियों से विरहित सोता सागर,

है मेरा उपमान

आकृति में रहता हूँ छाया बनकर !

सुख वैभव सौन्दर्य ?

चाहिए नहीं मुझे इनका वरदान,

एक विराट शून्य में—

मेरे छायातन का ही अवसान !

नीरव-सन्ध्या सी सुन्दर वह चिड़िया उड़ गई, और मैं उसका वह अतीत की सुधि दिलाने वाला, झीनी सी कसक उपजाने वाला, आँखों में सपने बिछाने वाला आकुल गान न सुन सकी !

वह नन्हीं चिड़िया उड़ गई तब.........मेरी चेतना को ठेस लगी, मेरी कल्पना शून्य हो गई, और मेरे जीवन में राग न रहा ?

हेमन्त के आरम्भ से वह आती थी और चुपचाप गाकर उड़ जाती थी.........

परन्तु उस दिन मैंने अपना रेशमीन शालू उस कटीली डाल पर उसे शीत से बचाने को बिछा दिया था ; हाय उसी की चमक ने उसे चौंका दिया.........मेरी चिड़िया फिर न आई, और न जी भर कर मैं उसके मीठे तराने ही सुन सकी !

न जाने मेरी चिड़िया चहचहा कर क्षितिज के उस पार कहाँ विलीन हो गई ?

मेरे अन्धकार ग्रसित और मृतप्रायः जीवन में तुम सहसा कैसे आ गए ?

पक्षियों को मुक्त कर मैंने द्वार और वातायन मुद्रित कर लिए हैं, और यहाँ न सूर्य का स्फूर्तिदायक प्रकाश है और न सञ्जीवनी वायु ही !

मैं संसार से भिन्न उस प्रदेश में रहती हूँ जहाँ रात ही रात है फिर, हठी, इस भयङ्कर कालिमा के हृदय को भेद कर तुम यहाँ तक कैसे आ पहुँचे ? कितने सौजन्य की अवज्ञा कर, कितनी आज्ञाओं की उपेक्षा कर, कितने प्रेम की अवहेलना कर तुम यहाँ तक आए.........किन्तु मैं दृढ़-प्रतिज्ञ तुम्हारे लिए कपाट न खोलूँगी !

जहाँ से आए हो वहीं सीधे लौट जाओ.........नहीं तो यह नीरवता तुम्हें लील लेगी.........और तुम सदा के लिए इस आवागमन के फेर में पड़ जाओगे !!

अपनी बात

आधुनिक नारी की स्थिति पर एक दृष्टि

(३)

हमारी संस्कृति ने शिक्षा को उपयोग और आदर दोनों ही दृष्टियों से प्रथम स्थान दिया है। समाज में जितने प्रकार के आदान-प्रदान सम्भव हो सके, उन सब में शिक्षा का आदान-प्रदान ही ऐसा विशिष्टतम माना गया जिससे देनेवाले तथा लेनेवाले की समान रूप से प्रतिष्ठा बढ़ती थी। जीवन के सभी क्षेत्रों ने, समाज के लिए आवश्यक अन्य व्यवसायों की तुलना में इसे गुरुतम समझ कर अपनाया, क्योंकि समाज के निर्माण और विकास, आदर्शों के प्रतिष्ठापन और सार्वजनिक कल्याण के अनुसन्धान का उत्तरदायित्व विशेष रूप से शिक्षितों के ऊपर ही रहता था। रहना भी स्वाभाविक है, क्योंकि सर्वसाधारण बौद्धिक विकास में अग्रगामियों का ही अनुसरण करता है। परन्तु प्रायः सभी विचारशील जानते हैं कि आधुनिक युग ने इस प्रमाणित सत्य को भी सन्दिग्ध बना दिया।

आज शिक्षा ने केवल पुरातन प्रतिष्ठा ही नहीं खोई, वह सामाजिक दृष्टि से अपनी उपयोगिता भी खो रही है। परिस्थितियों को देखते हुए यह आश्चर्य्य की बात नहीं है, क्योंकि स्वस्थ अवस्था में जो भोजन हमारे लिए अमृत है वही रोग में विष बन जाता है।

हमारी संस्कृति के ज्ञान से शून्य, हमारे सामाजिक विकास से अनभिज्ञ और हमारे जीवन को गहराई से अपरिचित जो शिक्षा हमें प्राप्त हो सकी उसने हमारे जीवन को एक नवीन साँचे में ढालने का प्रयत्न कर उसे विरूप कर डाला। पहले इस क्षेत्र में पुरुष ही अधिक से अधिक संख्या में आये, फलतः उन्हीं के बाह्य जीवन से परिवर्त्तन आरम्भ हुए। यदि वे अपने समाज और जीवन का अध्ययन कर उसके विकास का मार्ग प्रशस्त करने के लिए परिवर्तन स्वीकार करते तो स्त्री के जीवन में स्वतः ही प्रगति उत्पन्न हो जाती और उसे असन्तुष्ट होने का कारण ही न मिलता। परन्तु वे स्वयं ही अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक प्रगति से अनभिज्ञ थे, अतः सामूहिक रूप से कोई नया मार्ग ग्रहण करना न उनके लिए सम्भव हो सका और न उन्हें इतने आगे बढ़ने का साहस ही हुआ।

परिणामतः स्त्री का जीवन शताब्दियों पुराने जीर्ण और अनावश्यक बन्धनों से बोझिल ही होता गया। एक ही गृह में जीवन के जो दो भिन्न रूप हो गये थे वे न संयुक्त होकर चल सकते थे और न पृथक् होकर ठहर सकते थे। प्रतिकूल जलवायु में रोपे गये वृक्ष के समान पुरुष नई परिस्थिति में विकास की शक्ति खो बैठा और तृण-झाड़ियों से घिरी वनस्पति के समान स्त्री अपने असंख्य बन्धनों में कान्तिहीन होकर जीर्ण-शीर्ण होने लगी।

आधुनिक शिक्षा की ओर जो स्त्रियाँ अग्रसर हो सकीं उनके भी सामने कोई विशेष लक्ष्य नहीं था। पुरुष अपने एकाकीपन से थक रहा था और स्त्री उसकी स्वच्छन्दता का रहस्य जानना चाहती थी। स्त्री ने अग्रसर होने का प्रयत्न किया और पुरुष ने उसे अपने ही भावी जीवन की पूर्णता समझ कर शक्ति भर सहायता दी। शिक्षितों की न्यून संख्या जितने आश्चर्य का विषय है उससे कहीं अधिक आश्चर्य का विषय शिक्षा का अवश्यम्भावी परिणाम असन्तोष है, जो अभि-

शाप की छाया के समान प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के जीवन को दुरूह बना देता है। प्रत्येक शिक्षित का जीवन सुख की असंख्यक कल्पनाओं के साथ आरम्भ होता है, कर्तव्य-बोध के साथ नहीं, अतएव कुछ ही समय में या तो उसका जीवन, असफल कामनाओं से उत्पन्न निराशा से पूर्ण हो जाता है, या सफलता-जनित स्वार्थपरता से ओत-प्रोत हो उठता है। जीवन-पथ में वह अशिक्षितों से अधिक असहाय है क्योंकि उसके पास न अज्ञानी का अन्धविश्वास है और न विद्वान की अन्तर्दृष्टि। वह मनुष्यता की शिक्षा बिना पाये हुए ही असंख्य कामनाओं का विधाता बन बैठता है, जिससे असमय ही उसे निराशा आ घेरती है। ऐसी निराशा से उसकी सामाजिक उपयोगिता और कार्य करने की क्षमता बढ़ने के स्थान में घटने लगती है।

शिक्षिता स्त्री-समाज के लिए भी यही सत्य है। उनके लिए वह मार्ग दुर्गम है, जिस पर उनकी पूर्वजाएँ सरलतापूर्वक चल चुकी हैं और ऐसे मार्ग का अन्वेषण कठिन है जिसमें प्रेय और श्रेय का समन्वय हो सकता हो। वे भी केवल सुख का ध्येय सामने रख कर जीवन-पथ पर अग्रसर होती हैं और उस ध्येय तक न पहुँच सकने पर अपना सम्पूर्ण जीवन ही दुर्वह समझने लगती हैं। शिक्षा की समाप्ति पर उनके लिए केवल दो ही क्षेत्रों में स्थान रहता है, गृहजीवन और सार्वजनिक कार्य; परन्तु वे प्रायः इन दोनों ही में निराशा के पूर्व-चिन्ह देख लेती हैं। गृह में पुरुष कितना ही शिक्षित होने पर भी स्त्री के प्रति अपनी पुरातन भावना ही अक्षुण्ण रखना चाहता है। वह क्षण भर के लिए भी नहीं भूलता कि वह गृह का स्वामी है और स्त्री उसके लिए रमणी और भार्या ही हो सकती है। यह परम्परागत संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि इनमें विश्वास न रखने वाले पुरुष भी अवसर आने पर अपने विश्वास के विरुद्ध आचरण करने से नहीं चूकते। स्त्री की जिस स्वाधीनता का पुरुष हृदय से समर्थन करता है, उसी का कार्य से समर्थन करते हुए वह प्रायः नहीं देखा जाता। उसकी इस दुर्बलता से शिक्षिता स्त्रियों की स्थिति और भी अधिक दयनीय हो उठी है, इसमें सन्देह नहीं। स्त्री की शिक्षा पुरुष के समान ही होती है अतएव वह उसके प्राचीन संस्कारों को मिटाती हुई उसे सुखापेक्षी और असहिष्णु बनाये बिना नहीं रहती। ऐसी स्थिति में गृह में वैसा सामञ्जस्य मिलना कठिन ही नहीं असम्भव हो जाता है जिसके बिना जीवन जीवन नहीं रह जाता। पुरुष स्त्री में अन्ध-अनुगामिनीत्व न पाकर इसे अपनी अवज्ञा समझता है और स्त्री पुरुष के निकट समानता का व्यवहार न पाकर इसे अपने प्रति किया गया अन्याय समझती है।

दोनों ही पक्ष अपने दृष्टिकोण का समर्थन कर सकते हैं, परन्तु इससे शिक्षित दम्पति की समस्या हल नहीं हो सकती। गृह-जीवन के विकास के लिए जिस पारस्परिक त्याग की आवश्यकता होती है, उससे भलीभाँति परिचित हुए बिना स्त्री और पुरुष अपनी समस्या का समाधान पा सकेंगे, ऐसी सम्भावना भी नहीं है। स्त्री ने गृह की कठिनाइयाँ समझ कर ही सार्वजनिक क्षेत्र में भी अपनी क्षमता की परीक्षा की। उसका सुख का ध्येय तो ध्रुव था अतएव इस ध्येय के साथ रहने वाली त्रुटियों से वह रहित नहीं रही। कर्तव्य और साधना के ज्ञान के बिना सार्वजनिक हित का सम्पादन कितना सम्भव हो सकता है, इसपर विचार करने की उसने आवश्यकता नहीं समझी यह सत्य है; परन्तु यह न स्वीकार करना कि ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्त्री को सभी कार्यों में अभूतपूर्व सफलता मिली, स्त्री के प्रति अन्याय होगा। घर के समान बाहर भी पुरुष ने अपने जन्मगत संस्कारों के कारण स्त्री को दुर्बल ही समझा परन्तु इससे स्त्री में स्पर्धा का भाव अधिक बढ़ा। घर में जिस भाव ने विद्रोह को जन्म दिया था, बाहर उससे स्वस्थ प्रतियोगिता ही उत्पन्न हुई जिससे स्त्री की क्षमता और शक्ति अधिक प्रकाश में आ सकी। फिर भी यह कहना कि आधुनिक स्त्री बाहर के कठिन संघर्ष में अधिक पूर्ण लगती है, उचित न होगा। वह वास्तव में उस निर्वासित के समान है, जो विदेश में परिस्थिति के अनुसार अपनी शक्तियों का उपयोग करके भी घर को नहीं भूलता।

पुरुष के समान शिक्षित स्त्री ने भी किसी नवीन समाज की रूप-रेखा निर्धारित नहीं की, प्राचीन आदर्शों

में, अपनी संस्कृति और समय के अनुकूल कोई परिवर्तन करने का प्रयत्न नहीं किया और अपनी व्यक्तिगत सफलता या असफलता का सामाजिक मूल्य नहीं आँका। वास्तव में शिक्षिताएँ संख्या में इतनी न्यून थीं और उनकी परिस्थितियाँ इतनी भिन्न रहीं कि उनमें किसी वास्तविक उपादेयता के आधार पर कोई सङ्गठन कठिन था। जहाँ कहीं ऐसे सङ्गठन सम्भव हो सके वे वाह्य व्यवहार से ही सम्बन्ध रखते रहे। सामूहिक रूप से शिक्षित स्त्री, नवीन समाज को किस रूप में देखना चाहती है, इस पर उसने विचार कम किया, परन्तु व्यक्तिगत रूप से वह अपनी विशेष सुविधाओं का उपयोग करना अवश्य जान गई है। अनेक गृहों में आधुनिकता के वातावरण में पली हुई स्त्रियाँ हैं और अनेकों सार्वजनिक क्षेत्रों में भी उनकी संख्या कम नहीं, परन्तु वे सभी पुरुषों की भूलों को दोहरा रही हैं। कहीं गृह-जीवन की कठिनाइयाँ उन्हें सार्वजनिक क्षेत्रों में निर्वासित कर देती हैं और कहीं सार्वजनिक जीवन की नीरसता उन्हें गृह की सीमा में बाँध देती है।

कभी वे परिस्थितियों का अनुगमन करती हैं और कभी परिस्थितियों को उनकी इच्छानुसार बदलना पड़ता है। उनका लक्ष्य अनिश्चित, मार्ग दुरूह और शक्तियाँ अपरीक्षित हैं। ऐसी दशा में यदि उन्हें व्यक्तिगत स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ देखने का अवकाश नहीं मिलता तो इसके लिए केवल उन्हीं को दोषी ठहराना अनुचित होगा। उनकी प्रेरक शक्ति, अपनी स्थिति से विद्रोह और आदर्श, पाश्चात्य स्त्री ही रही, परिणामतः उन्होंने पुरुष के सहयोग से स्वतन्त्र हो जाने ही में अपनी स्वाधीनता समझी। इस प्रवृत्ति से समाज का कितना हित हो सकेगा, यह सोचने का स्त्री को न अवकाश था और न इच्छा। समाज ने इतनी शताब्दियों तक उसके अस्तित्व को अस्तित्व ही नहीं समझा, इसीसे अपनी सुविधा और स्वच्छन्दता के क्षण में स्त्री भी सामाजिक हित की ओर दृष्टिपात न कर सकी। परन्तु कोई भी सामाजिक प्राणी बहुत काल तक समाज के प्रति उपेक्षा का भाव रख कर सुखी नहीं हो सकता। आज की शिक्षित स्त्री भी अपने स्वच्छन्द जीवन में किसी संज्ञाहीन त्रुटि का अनुभव करने लगी है और वह समय दूर नहीं जब उसे अपनी स्वच्छन्दता भी बन्धन जान पड़ेगी।

जिन महिलाओं ने थोड़ी सी शिक्षा के साथ बहुत सी पाश्चात्य आधुनिकता मिलाकर अपने सम्पन्न गृह-जीवन की रूपरेखा निश्चित की, उनमें अधिकांश अपने जीवन को उपयोगी नहीं बना सकीं हैं। उनके जीवन में वाह्य आडम्बर की इतनी अधिकता है कि उसके भार से जीवन की विकासोन्मुखी शक्ति भी क्षीण होती जा रही है और सम्भव है कि किसी दिन वे स्वस्थ जीवन का नाम भी भूल जावें। विलास जीवन की रुक्षता को स्निग्ध करने वाली वस्तु हो सकती है, परन्तु उससे जीवन की प्यास बुझा लेना सम्भव नहीं। वृक्ष जल से सींचा जाकर बढ़ता है, घृत से सींचा जाकर नहीं। इस श्रेणी की स्त्रियों के सामने आजीविका की समस्या नहीं है, अधिक शिक्षिताओं के समान उनके गृह में सङ्घर्ष भी नहीं है। वे यदि अपने अवकाश और धन का सदुपयोग कर सकें और जीवन को कौतुक मात्र समझना छोड़ सकें तो उनसे समाज का बहुत अधिक हित हो सकता है।

अधिक शिक्षा ने उनमें से झुकने की शक्ति नष्ट नहीं कर दी है और आवश्यकता ने उन्हें वाह्य सङ्घर्ष के लिए बाध्य नहीं किया है, यह सत्य है, परन्तु उनकी सुखोपजीवी वृत्ति और आडम्बरपूर्ण जीवन उन्हें संसार से परिचय प्राप्त करने का अवसर ही नहीं देता। वे जब तक अपने व्यक्तिगत जीवन से बाहर देखना न सीखेंगी तब तक उनका जीवन विनोद की वस्तु से अधिक मूल्य न रखेगा।



शिक्षा का पुनः सङ्गठन

[श्री० गौरीशङ्कर अग्रवाल एम० ए०, एल-एल० बी०]

"किसी राष्ट्र का सबसे बढ़कर महत्वपूर्ण कार्य शिक्षा है।"

—दादाभाई नौरोजी

इस समय हमारे सामने सबसे महत्वपूर्ण और जटिल समस्या निरक्षर जनता में शिक्षा का प्रचार और ज्ञान की ज्योति दीपित करके अशिक्षा और अज्ञान के अन्धकार का निवारण करना है। शिक्षा का ध्येय प्रेसीडेण्ट बटलर के शब्दों में 'क्रमशः व्यष्टि का समष्टि से आध्यात्मिक सम्बन्ध ही स्थापित करना नहीं है' परन्तु यह 'जीवन में परम मानवी तत्व तथा जीवन-संग्राम के लिए उपयुक्त साधन और तदनन्तर सौख्य का मूल अथवा चरित्र का निर्माण-कर्ता और सभ्यता का निर्णायक है'। शिक्षा जीवन-ज्योति है। स्कूल और शिक्षा-संस्थाएँ ऐसे शक्ति-निकेतन हैं, जो सर्वव्यापी अज्ञानान्धकार, दरिद्रता एवं आपत्तियों को सर्वथा नष्ट करने में समर्थ हैं। अतएव प्रत्येक सभ्य शासन बच्चों को शिक्षा देना अपना सर्वप्रमुख कर्त्तव्य समझता है।

गत शत वर्षों का हमारे देश का शिक्षात्मक इतिहास जहाँ तक शिक्षोन्नति का सम्बन्ध है, अधिकांश शून्य होने के कारण बड़ा ही दुःखद और करुणोत्पादक है। गत शताब्दी के साक्षरों की संख्या जैसा कि तत्कालीन रिपोर्टों, शिक्षा-विशारदों और राजनीतिज्ञों, विशेषतः राजा राममोहनराय, मधुसूदनदत्त, मार्शमैन, वार्ड, एलेक्जेण्डर डफ़, मैक्समूलर, एडम, मैटकाफ़ आदि के कथन और लेखों से अवगत होता है, केवल ६ से ८·७ प्रतिशत बढ़ी है। यदि हम शिक्षा-विधान, नीति और दृष्टिकोण को एकदम परिवर्तित, उन्नत और संशोधित न करें और आवश्यकता के अनुसार ही कायापलट करने वाले उपायों और साधनों की योजना न करें तो निरक्षर जनता को शिक्षित बनाने में कम से कम दो सौ वर्ष और लग जावेंगे।

हमारा देश जो एक समय सार्वजनिक शिक्षा में अग्रणी, जगद्गुरु, आध्यात्मिक और बौद्धिक शिक्षा का पथप्रदर्शक और अपनी शिक्षा-संस्थाओं और प्रबन्ध के लिए देदीप्यमान आदर्श था, वह अब किस प्रकार भीषण निरक्षरता और अज्ञानान्धकार के इस गहरे गर्त में जा पड़ा, इस पर यहाँ विचार न करते हुए हमें यह देखना है कि हमारी आधुनिक अवस्था क्या है, कहाँ तक हमने शिक्षा में उन्नति की है और इस दिशा में हमें क्या करना है।

नवीनतम उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार साक्षर लोगों (स्त्री एवं पुरुषों) की संख्या केवल प्रतिशत ८·७ है। हारटौग कमेटी रिपोर्ट (पृष्ठ ४५) के अनुसार सन् १८९२ से १९२२ तक अर्थात् ३० वर्ष अथवा एक पीढ़ी के काल में साक्षर मनुष्यों की संख्या १३·० से केवल १४·४ प्रतिशत और साक्षर स्त्रियों की संख्या ०·७ से २·० तक बढ़ी है; साक्षर स्त्री और पुरुषों की संख्या एक साथ लेने से पता चलता है कि उनमें ७० से ८·२ प्रतिशत वृद्धि हुई है, जो नवीनतम आँकड़ों से कुछ ही पीछे है। जब कि गत ६०-७० वर्षों में अन्य सभी सभ्य और उन्नत देशों में साक्षर मनुष्यों की संख्या ४, ५ अथवा ६ प्रतिशत से बढ़कर ९६ या इससे भी अधिक हो गई है, यह अत्यन्त आश्चर्यजनक और दुःखद है कि हमारे अभागे देश में १००-१५० वर्षों के विस्तृत काल में जनता अथवा शासन के शिक्षोन्नति के लिए कथित सतत

प्रयत्न व भारी व्यय करने पर भी साक्षरों की संख्या २ या अधिक से अधिक २·५ प्रतिशत बढ़ी है।

सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार हमारे देश में २३९६६७५१ पुरुष और ४१६६१०५ स्त्रियाँ साक्षर थीं। यह संख्या सम्पूर्ण जन-संख्या का ८.३ प्रतिशत है और यदि १० वर्ष से अधिक आयु वाले लोगों की संख्या के हिसाब से विचार करें तो ११ प्रतिशत है, जब कि दस वर्ष से अधिक अवस्था वाले व्यक्तियों की संख्या इङ्गलैण्ड में ९२·५, फ्रांस में ९४·१, जर्मनी में ९९.१, अमेरिका में ९५·७, जापान में ९९·०, कनाडा में ९४.९ और आस्ट्रेलिया में ९८.७ प्रतिशत है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य सभ्य देशों में हम भारतवर्ष की तुलना केवल जूगोस्लेविया से ही कर सकते हैं। परन्तु क्या इससे सन्तोष किया जा सकता है? इसी रिपोर्ट से यह भी विदित होता है कि हमारे देश में प्रति १३७० व्यक्तियों के अनुपात से केवल एक स्कूल है और जनता के केवल ४·५७ प्रतिशत भाग को शिक्षा प्राप्त कर सकने की सुविधा है, जब कि अन्य देशों में यह सुविधा कई गुनी अधिक है। उदाहरणार्थ इङ्गलैण्ड में १८.८, जापान में १९ और अमेरिका में २३·७ प्रतिशत जन-संख्या के लिए स्कूलों की व्यवस्था की गई है। हमारे देश में शिक्षा के लिए लगभग २७ करोड़ रुपया व्यय होता है, जो प्रति विद्यार्थी २२·९ रुपया पड़ता है, जब कि यही व्यय जापान मे ५८, ब्रिटेन में १७२, कनाडा में १९९ और अमेरिका में २७५ रुपया है। यदि जन-संख्या की दृष्टि से देखा जाय तो भारतवर्ष में जहाँ प्रति व्यक्ति शिक्षा के लिए १ रुपये से भी कम व्यय किया जाता है, वहाँ जापान में ११, इङ्गलैण्ड में ३२.४, कनाडा में ४८ और अमेरिका में ६५ रुपया खर्च होता है।

इससे जो शिक्षा की अवस्था का पता चलता है, वह बहुत ही खेदजनक है। अवश्य ही शिक्षा-प्रणाली और नीति में अभाव तथा दोष हैं। रोग इतना पुराना है और अवस्था इतनी विषम है कि सुधार के लिए शिक्षोन्नति के आजकल के स्वीकृत और व्यवहृत उपायों में मौलिक परिवर्त्तन करने वाले साधनों की आवश्यकता है। आदर्श प्रस्तावों, ओजस्वी भाषणों और अन्य देशों की आधुनिक स्थिति के तुलनात्मक उदाहरणों से काम नहीं चलेगा, इङ्गलैण्ड, जर्मनी, अमेरिका, कनाडा, जापान और अन्य देशों ने, जो आज सभ्यता के शिखर पर हैं, अपने प्रयत्नों के द्वारा ९० से ९९ तक प्रतिशत जनता को शिक्षित बना दिया है अथवा दूसरे शब्दों में उनके साक्षरों की संख्या प्रतिशत हमारे निरक्षरों की संख्या के बराबर है।

यहाँ तक तो हुई समस्त भारत की बात, परन्तु हमारे संयुक्त प्रान्त की दशा भी इससे विशेष अच्छी नहीं है। अन्तिम मनुष्य-गणना के अनुसार अन्य बड़े प्रान्तों की अपेक्षा इस प्रान्त की दशा बहुत गिरी हुई है और इसके शिक्षितों की संख्या कुल भारत के साक्षरों की संख्या के अनुपात से ⅗ है। सन् १९३१ में यहाँ पर प्रति एक मील पीछे साक्षर मनुष्यों की संख्या जिनकी अवस्था ५ वर्ष या इससे ऊपर है ५५ थी। इसके विपरीत यही संख्या बङ्गाल में ११०, मद्रास में १०८, बम्बई में १०२ और मध्यप्रदेश और बरार में ६० थीं। यह सत्य है कि पिछले दस वर्षों में प्रान्त में इस शिक्षा की वृद्धि बहुत से दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा अधिक रही है, तो भी पिछली मनुष्य-गणना की रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा के द्वारा जनता का नगण्य अंश ही शिक्षित हुआ है।

आजकल प्रति सौ लड़के और लड़कियों में जो प्राथमिक स्कूलों में होने चाहिये, लगभग मद्रास में ३९, बम्बई में ३४, बङ्गाल में २९ और हमारे प्रान्त में केवल २१ उन स्कूलों में शिक्षा पाते हैं। ३१ मार्च सन् १९३६ को हमारे प्रान्त में ११८९२०४ विद्यार्थी प्राइमरी स्कूलों में, और इस कक्षा तक के ५७६७ विद्यार्थी मिडिल और १६५९० हाईस्कूलों में शिक्षा पाते थे। अर्थात् हमारे प्रान्त में जिसकी जन-संख्या ४ करोड़ ८४ लाख से कुछ अधिक है, प्राइमरी शिक्षा तक की कक्षाओं में केवल १२११५६१ शिक्षार्थी थे। इसका अर्थ यह है कि हमारे प्रान्त में कुल जन-संख्या का २·९ प्रतिशत बच्चे सब प्रकार के प्राइमरी स्कूलों में पढ़ते थे। मद्रास, बम्बई और बङ्गाल के यही आँकड़े, अनुपात और संख्या इससे लगभग ड्यौढ़े और दुगने हैं। यह सर्व-स्वीकृत और सम्मत है कि ६ से ११ वर्ष की आयु वाले बच्चों की संख्या

जिन्हें प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा मिलनी चाहिये, कुल जन-संख्या का १४ प्रतिशत है। प्राथमिक शिक्षा-प्राप्ति की आयु के प्रतिशत बच्चों में केवल २१ स्कूलों में शिक्षा पाते हैं अथवा साधारणतः प्रत्येक बच्चे के साथ जो स्कूल में शिक्षा पाता, है लगभग चार ऐसे हैं जिन्हें शिक्षा नहीं मिलती। इस प्रान्त के तत्कालीन शिक्षा-डायरेक्टर श्री एच्० आर० हैरप (H. R. Harrop) के वक्तव्य के अनुसार, जो उन्होंने यू० पी० बेकारी की जाँच कमेटी को दिया है, हमारे प्रान्त में '६ वर्ष से ११ वर्ष की आयु के लगभग १८ लाख बालक और ३० लाख बालिकाएँ ऐसी हैं, जिनकी शिक्षा के लिए किसी प्रकार का कोई साधन नहीं है।' इस प्रान्त के भूतपूर्व शिक्षा-सचिव सर ज्वालाप्रसाद श्रीवास्तव जी ने भी शिक्षा कमेटियों के अध्यक्षों की प्रथम व द्वितीय कान्फ्रेंसों में, जो क्रमशः जनवरी सन् १९३५ और अगस्त सन् १९३६ में लखनऊ में हुईं अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए इन्हीं आँकड़ों की पुष्टि की है। इससे भी यही ज्ञात होता है कि अनिवार्य शिक्षा-प्राप्ति की आयु के ४८ लाख बच्चे ऐसे हैं, जिनकी शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है और केवल लगभग १२ लाख बच्चे शिक्षा पा रहे हैं। इससे उपरोक्त निष्कर्ष और अनुपात का समर्थन होता है। बालक और बालिकाओं पर पृथक-पृथक विचार करने से पता चलता है कि स्कूलों में पढ़ने वाले लड़कों का अनुपात कुल जनसंख्या का ५·१ और लड़कियों का ०·८ है, प्रतिशत अर्थात् शिक्षा आयु के लड़के एक तिहाई से कुछ अधिक और लड़कियाँ अठारहवें हिस्से के लगभग स्कूलों में शिक्षा पाते हैं। अतः प्राथमिक शिक्षा-प्राप्ति की आयु के कुल बच्चों को शिक्षा देने के लिए वर्तमान शिक्षा सामग्री और साधन को किसी प्रकार साढ़े तीन-चार गुना अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है।

शिक्षा के क़ानून और उसके प्रयोग और परिणाम पर दृष्टिपात करने से यही विदित होता है कि उनसे अभीष्ट और लक्षित फल प्राप्त नहीं हुआ। यू० पी० प्राइमरी शिक्षा का क़ानून सन् १९१९ ई० में पास हुआ था, मगर १९२२ ई० तक किसी म्युनिस्पैलिटी ने उससे लाभ नहीं उठाया। इस समय तक ८५ में से ३६ म्युनिस्पैलिटियों में क़रीब अर्द्ध-संख्यक ने अपने तमाम नगर में और शेष ने विशेषकर बड़े नगरों के कुछ हिस्सों में इस सिद्धान्त का महत्व हृदयङ्गम करके अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आरम्भ कर दी है। यह योजना अधिकांश में बारह वर्ष अथवा इससे भी अधिक समय से प्रचलित है और यह आशा हो सकती थी कि दशा सँभल जाय, किन्तु कहते हुए खेद होता है कि अभी तक स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इन स्थानों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अभी तक शैशवावस्था में है और यदि हम इसी परिमाण में प्रयत्न करते रहें तो भी सन्तोषप्रद स्थिति प्राप्त और स्थायी होने में बहुत अधिक समय लग जावेगा। सन् १९२६ ई० में यू० पी० डिस्ट्रिक्ट बोर्ड प्राथमिक शिक्षा क़ानून के पास होने से शिक्षा का कार्यक्षेत्र विस्तृत होकर अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा का सिद्धान्त डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के इलाक़ों अर्थात् ग्रामों में लागू हो गया और इस समय ४८ में से २५ डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में कुछ में कुल भागों में लेकिन अधिकांश में कुछ भागों में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई है। परन्तु यहाँ पर भी किसी-किसी और विशेषकर सीतापुर के अतिरिक्त किसी जगह कोई विशेष उन्नति या सफलता नहीं हुई है। ज़िला बोर्डों में भी जितना व्यय किया गया है, उसके विचार से बहुत कार्य हुआ है और भविष्य के लिए मार्ग प्रायः बन्द है और कह दिया जाता है कि इस योजना के अधिक भागों में जारी करने के लिए धन नहीं है।

व्यय के आँकड़ों पर विचार करने से समस्या की जटिलता और स्थिति की गम्भीरता का बेहतर पता चलता है। हमारे प्रान्त में सन् १९३५-३६ में सब मदों से इसमें कुल ८७३१०५३ रुपये व्यय हुए, जिसका ब्यौरा निम्नलिखित है।

प्रान्तीय सरकार का व्यय	५८१३३३२	रुपये
डिट्रिक्ट बोर्ड फ़ण्ड	१७६१९७३	,,
म्युनिसिपल फ़ण्ड	६३५०१७	,,
फ़ीस	३०८३३५	,,
अन्य मदों से	१८२६६६	,,

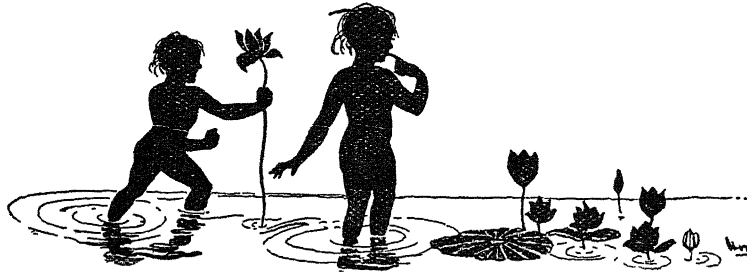
लगभग १२१२००० विद्यार्थियों की शिक्षा का व्यय ८७ लाख ३१ हज़ार रुपये से कुछ अधिक है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर करीब ७॥) व्यय होता है, जो कि दूसरे प्रान्तों के शिक्षा व्यय से तुलना करने पर बहुत ही कम है। बम्बई में प्रत्येक विद्यार्थी के ऊपर १८) व्यय होता है। इस कम खर्चे से मालूम होता है कि प्राथमिक शिक्षा को उपयुक्त आर्थिक सहायता नहीं मिल रही है। शिक्षा-विभाग के भूतपूर्व डायरेक्टर के कथनानुसार भी इस प्रान्त की "शिक्षोन्नति आर्थिक कमी के कारण रुकी पड़ी है।" आधुनिक शिक्षा-व्यय प्रति विद्यार्थी ७॥) प्रति वर्ष लेकर भी प्राथमिक शिक्षा में हरेक मद से सार्वभौम अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की स्कीम में क़रीब साढ़े चार करोड़ रुपये व्यय होंगे और उसमें गवर्नमेण्ट, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपल बोर्डों का भाग लगभग पचगुना होगा। शिक्षा वृद्धि की इस योजना के अन्तर्गत यू० पी० प्रान्तीय सरकार को प्राथमिक शिक्षा में कुल प्रान्तों के प्राथमिक शिक्षा पर सरकारी व्यय के आधे से अधिक खर्च करना पड़ेगा और डिस्ट्रिक्ट और म्युनिसिपल बोर्डों को अपनी समस्त आय का तिहाई से अधिक केवल इसी मद में व्यय करना होगा।

प्राथमिक शिक्षा के विवेचन का उपरोक्त विस्तृत ब्यौरा उपस्थित करने से यह सिद्ध होता है कि यदि वास्तव में हम बालकों के प्रति प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिए सचेत और तत्पर हैं, तो हमें अपने आर्थिक साधनों के अन्दर जहाँ तक सम्भव हो शीघ्र ही कोई नवीन विधान, नूतन रीति अथवा कोई हितकर नीति के निर्माण की परमावश्यकता है। हमें इस बात की प्रतीक्षा में निश्चिन्त बैठे रहने से काम नहीं चलेगा कि जादू की लकड़ी घुमाने से या विधाता की देन से प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करने के लिए बहुत अधिक धन मिल जावेगा। वरन् इसके विपरीत इस बात का भय है कि विश्वव्यापी मन्दी और आर्थिक सङ्कट, जिसका प्रभाव कृषि-प्रधान देशों विशेषतः भारत में कृषि की पैदावारों की क़ीमतों में विशेष गिरावट होने, हमारी प्रान्तीय सरकार की आर्थिक दशा सन्तोषजनक न होने और म्युनिसपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों की आय में निरन्तर कमी होने के कारण उनके पास इतने पर्याप्त साधन नहीं हैं कि वे प्रति वर्ष प्राथमिक शिक्षा पर अधिकाधिक व्यय करने में समर्थ हो सकें। हमारा रोग पुराना और दुस्साध्य है, अतः उसके निवारण के उपाय भी उतने ही उग्र और उथल-पुथल मचाने वाले होने चाहिये, वरना भय यह है कि वे अभीष्ट प्रभाव दिखलाने में असफल रहेंगे।

हमारे जैसे किसी देश, जाति अथवा राष्ट्र के लिए जो साक्षर होने पर कटिबद्ध हो, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की योजना के महत्व पर सन् १९३७ के इस समय में ज़ोर देना अनावश्यक है, क्योंकि केवल यही एकमात्र साधन है जिससे उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। साक्षरता प्राथमिक शिक्षा का स्वाभाविक परिणाम है और जितना प्राथमिक शिक्षा का अधिक प्रचार होगा, उतना ही साक्षरता में वृद्धि होगी; आधुनिक शिक्षा-प्रणाली और नीति सर्वव्यापी निरक्षरता की समस्या के हल करने और ईप्सित फल की प्राप्ति में असफल रही और उससे जो आशाएँ की गई थीं, वह दुराशा मात्र सिद्ध हुईं। अब इनमें क्रान्तिकारी उथल-पुथल कर देने की अत्यावश्यकता है। सरकारी पदाधिकारी, शिक्षा-विशारद, राजनीतिज्ञ, कॉन्फ़रेंस, कमेटियाँ और एसोसियेशन सब की इस समय यही पुकार है कि वर्तमान प्रणाली का पुनःसङ्गठन और पुनर्निर्माण किया जाय। हमारे प्रान्त के तत्कालीन सहकारी डायरेक्टर शिक्षा विभाग श्री० आर० एस० वियर ने अपनी इस प्रान्त की सन् १९३८ की प्राथमिक शिक्षा की रिपोर्ट (पैरे १६) (Report of Primary Education for Boys and Girls in U. P. 1934) में उपयुक्त ही कहा है कि "वर्तमान योजनाओं की कायापलट होनी चाहिये। स्कूलों के पुनःसङ्गठन की अनिवार्यरूपेण आवश्यकता है।" हमारे प्रान्त की बेकारी की जाँच कमेटी के सुयोग्य सदस्यों ने भी यही विचार प्रकट करते हुए अपनी रिपोर्ट (पृष्ठ १८६ पैरा ३२६) में लिखा है कि "हमने इस पूर्ण समस्या पर जितना अधिक विचार किया हमें उतना ही अधिक विश्वास होता गया कि अब समय आ गया है जब कि हमें अपनी

समस्त शिक्षा नीति में संशोधन करना चाहिये।" स्वर्गीय जस्टिस रानाडे के समय से इसके लिए आन्दोलन हो रहा था, परन्तु सरकार ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया था। अब सौभाग्यवश कॉङ्ग्रेस और गैरकॉङ्ग्रेसी प्रायः सभी प्रान्तीय सरकारों का ध्यान इस स्थिति की ओर आकृष्ट हुआ है और वे वर्तमान व्यवस्था की अकर्मण्यता और असमर्थता महसूस करके शिक्षा-प्रणाली के पुनर्निर्माण पर गम्भीरता से विचार कर रही हैं। इस कार्य के लिए कमेटियाँ, कमीशन और बोर्ड नियुक्त किये जा रहे हैं और सुविख्यात शिक्षा-विशारद शिक्षा-प्रणाली की नीति और आकार के पुनःसङ्गठन के निमित्त अपने-अपने प्रोग्राम पेश कर रहे हैं। हमारे देश के सर्वमान्य नेता महात्मा गाँधी जी ने भी शिक्षा को सार्वभौम उपयोगी और स्वावलम्बी बनाने की योजना प्रस्तुत की है। महात्मा जी की योजना के लिए यह कहना कि यह व्यावहारिक नहीं है, कठिन है; क्योंकि इनकी बहुत सी बातें आरम्भ में ऐसी ही मालूम होती थीं परन्तु अभी तक इसकी सफलता में शङ्का होती है क्योंकि संसार के किसी भी देश में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा स्वावलम्बी नहीं हो सकी है। यह हर्ष का विषय है और इससे प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि इस महत्वपूर्ण विषय में सुधार जो बहुत पहले हो जाने चाहिये थे, अब अवश्य होने वाले है और वे शुभस्य शीघ्रम् के अनुसार जितने शीघ्र हों उतना ही श्रेयस्कर है।

हम यथासम्भव आगामी लेखों में अनेक सभ्य, सम्पन्न, समुन्नत और प्रगतिशील देशों के व्यावहारिक और वास्तविक अनुभवों, कमेटियों, कमीशनों, नीतिज्ञों, शिक्षा-विशारदों और विशेषज्ञों की सूचनाओं और सिफ़ारिशों और अपने अनुभवों के आधार पर कुछ ऐसे अप्रिय किन्तु उपयोगी सुधार, सूचनाएँ और सिफ़ारिशें पेश करने का प्रयत्न करेंगे कि जिन्हें प्राथमिक शिक्षा के प्रबन्धक और बच्चों के भाग्य-विधाता यदि स्वीकृत और कार्यरूप में परिणत करें तो वे जनता में शिक्षा-प्रचार में और निरक्षरता-निवारण में अवश्य ही बड़ी सहायता पहुँचावेंगे। शिक्षा सुधार की वे सूचनाएँ और सिफ़ारिशें भले ही एकमात्र आदर्श और अन्तिम न हों और न समयाभाव अथवा विस्तारभय से उनकी सविस्तार योजना ही देना सम्भव हो सकेगा, किन्तु वे प्रयोगात्मक अवश्य होंगी।



समाज में विवाह-संस्था का स्थान

[श्री रामस्वरूप व्यास]

विवाह समाज का मुख्य अङ्ग है और यदि इसे सबसे प्रधान कहा जाय तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। कितने ही समाजों में यह समाज की आधार-शिला है और इस बात का भी निर्णय करता है कि समाज का सङ्गठन किस प्रकार का होगा। परन्तु जब हम समाज और विवाह के सम्बन्ध के निर्णय करने का प्रयास करते हैं तब हमें यह देखना पड़ता है कि विवाह के द्वारा मनुष्य की किन इच्छाओं की, किन भावनाओं की तृप्ति होती है। जिस आवश्यकता ने विवाह की नींव डाली है वह सहवास की इच्छा है और इसी के द्वारा पूरित जाल पर समाज का अस्तित्व क़ायम है।

कुछ सामाजिक मनो-विज्ञान (Social Psychology) के विद्यार्थियों का मत है कि इस इच्छा के मूल में एक ही भावना है, परन्तु कुछ कहते हैं कि यह भिन्न भावनाएँ हैं। प्रो० फ़ाइड (Freud) के मत में यह सहवास की भावना मूल में तो एक है परन्तु इसके दो भेद हो गये हैं जो एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं। वह कहता है कि Erotic tendency प्राणियों को एक दूसरे के प्रति आकर्षित करती है और उनमें सम्बन्ध स्थापित करती है। जातीय सहवास की इच्छा इस विस्तृत इच्छा का एक भाग है—प्रो० गिन्सबर्ग का मत है कि सहवास की इच्छा, और जातीय (sex) इच्छाएँ भिन्न हैं। पहली इच्छा अपने से बाहर जाकर दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा है। इस प्रकार का आपस का सम्बन्ध मानसिक विकास के लिये आवश्यक है और मनुष्य के मन की मूल प्रवृत्तियों में से है।

चाहे यह दोनों इच्छाएँ एक ही भावना के दो रूप हों या भिन्न, परन्तु इन्हीं दोनों के कारण विवाह समाज में स्थापित हो सका है। साधारणतया सभी की इच्छा किसी को अपना बना लेने या किसी का हो रहने की होती है। जीवन की अनेक परिस्थितियों में, दुख में, सुख में, मनुष्य को दूसरे प्राणी की सहायता और इससे भी अधिक उसकी सहानुभूति की आवश्यकता होती है। एक प्रकार से यह सहानुभूति उसे पुरुष से भी मिल सकती है, परन्तु प्रकृति तथा समाज ने पुरुष को जीवन में जो स्थान दिया है उसके कारण उसकी सहानुभूति की भावना कुण्ठित हो जाती है, क्योंकि सङ्घर्ष-क्षेत्र में उसे ही प्रधान भाग लेना पड़ता है। स्त्री का स्थान अधिक सुरक्षित होने के कारण तथा इस कारण भी कि उसे माता बनना पड़ता है, उसका हृदय अधिक सरस होता है और इसलिये वह पुरुष को अधिक सहानुभूति का दान कर सकती है।

परन्तु व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकताओं के अतिरिक्त विवाह सामाजिक हित के विचार से भी उपयोगी है और सार्वजनिक हित-साधन का मार्ग बन सकता है। सबसे प्रथम विवाह एक कुटुम्ब का निर्माण करता है। दूसरे इसके द्वारा बच्चों के पालन-पोषण का भी अच्छा प्रबन्ध हो जाता है और जातीय जीवन पर इसके द्वारा एक प्रतिबन्ध लग जाता है। फ़ाइड के अनुसार एक प्रकार से सहवास की इच्छा और जातीयता में—जैसी कि यह कौटुम्बिक सम्बन्ध में पाई जाती है—विरोध है। सांस्कृतिक आवश्यकताएँ सहवास की शक्ति की सहायता मनुष्य की सङ्घर्ष-शक्ति के दबाने के लिये चाहती है जिन्हें यदि यों ही छोड़ दिया जाय तो वह समाज को

नष्ट-भ्रष्ट कर देंगी। इसी कारण नियमों और परम्पराओं के रूप में सब जगह जातीय सम्बन्धों पर निबन्ध लगे हैं।

प्रायः सभी समाजों में विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना जाता है। प्रकृति के कार्य को सुचारु रूप से चलाने में विवाह का बड़ा स्थान है। प्रत्येक समाज अपने को फला-फूला देखना चाहता है और वह चाहता है कि उसकी रक्षा करने के लिये पर्याप्त जन-संख्या हो। अनेक समाज जन-संख्या बढ़ाने के लिये विशेष मनोवृत्ति पैदा करते हैं, या इस प्रकार की परम्परा कायम करते हैं जिससे लोग अधिक से अधिक सन्तान पैदा कर। हिन्दुओं में ऐसी मान्यता दी गई कि बिना पुत्र के पिता को स्वर्ग में स्थान नहीं मिलता। यह मान्यता उस समय से आई है जब प्राचीन आर्यावर्त को बसाने के लिये, तथा आदि-निवासियों पर विजय पाने के लिये उन्हें अपनी जन-संख्या बढ़ाने की आवश्यकता थी। इसीका एक स्वरूप आज हमें मुसोलिनी के उन प्रयत्नों में देख पड़ता है जिनसे वह इटली वालों को अधिक से अधिक सन्तानों के उत्पन्न करने के लिये उत्साहित करता है, तथा इसी कारण हाल ही में रूस में विवाह-विच्छेद को अधिक कठिन बना दिया गया है।

विवाह संस्था का आरम्भ कब से हुआ इस विषय में कोई निश्चित मत नहीं मिलता। आरम्भ में जब मनुष्य छोटे-छोटे समूह बना कर रहता था तब सबसे बलवान मनुष्य ही सब वस्तुओं का—स्त्रियों का भी स्वामी होता था। एक से अधिक अर्थों में विवाह का सम्पत्ति के साथ घना सम्बन्ध है। स्त्री आरम्भ में एक सम्पत्ति के रूप में ही थी और जब जङ्गली जतियाँ दूसरी जातियों पर अधिकार करती थीं तो उनकी दूसरी वस्तुओं के साथ उनकी स्त्रियों को भी ले जाती थीं और जब मनुष्य खेती करने लगा तब वह मजदूरी का काम अधिकतर स्त्रियों से लेता था और ग़ुलामों में स्त्रियाँ होती थीं। उस समय ही नहीं, इस समय भी अनेक देशों में ऐसी प्रथाएँ हैं जो इस ओर निर्देश करती हैं। हमारे यहाँ की कन्यादान की प्रथा का यही अर्थ होता है कि कन्या दान करने की वस्तु है। मार्क्स के मत को मानने वाले इतिहास-वेत्ताओं का मत है कि विवाह की सृष्टि सम्पत्ति के उत्तराधिकार को क़ायम रखने के लिये हुई और इसलिए भी विवाह का सम्पत्ति से अटूट सम्बन्ध है। विवाह का अपहरण से भी घनिष्ठ सम्बन्ध बताया जाता है। ऊपर बताया ही जा चुका है कि किस प्रकार जङ्गली जातियों में स्त्रियाँ अपहरण करके लाई जाती थीं और विवाह की प्रथाओं में कहीं-कहीं अब भी अपहरण की घटना बरती जाती है। गाली में विवाह से पूर्व लड़की का अपहरण किया जाता है और हमारे यहाँ भी बारात ले जाने की प्रथा उस समय का अवशेष चिह्न है जब अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर हम विवाह के लिये स्त्रियों का अपहरण करने जाते थे।

विवाह अनेक प्रकार के होते हैं। एक वह जिसमें एक पुरुष का एक ही स्त्री के साथ में सम्बन्ध होता है। इस प्रकार के विवाह ईसाई जातियों में—यूरोप और अमेरिका में—प्रचलित हैं। दूसरे वह हैं जिनमें एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर सकता है। इस प्रकार के विवाह की हिन्दू और मुस्लिम धर्मों में आज्ञा दी गई है। इसके अतिरिक्त एक प्रकार के विवाह वह हैं जिनमें एक ही स्त्री के अनेक पति होते हैं। इस प्रकार के विवाह का एक उदाहरण तो हमें द्रौपदी के पाँचों पाँडवों के साथ विवाह में मिलता है और आजकल भी हिमालय की पहाड़ी जातियों में कहीं-कहीं यह विवाह प्रचलित है। इसके अतिरिक्त विवाह में इस बात पर भी ध्यान दिया जाता है कि किस प्रकार से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वह सम्बन्ध जो वर-कन्या पक्ष के लोगों की सम्मति से होता है वह अच्छी दृष्टि से देखा जाता है, और वह सम्बन्ध जो वर-कन्या छिप कर स्थापित कर लेते हैं उसे कहीं-कहीं अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता परन्तु वह सम्बन्ध जो अपहरण करके स्थापित किया जाता है सबसे बुरा समझा जाता है।

हमारे देश में प्राचीन काल से हिन्दुओं में जो विवाह की प्रथा प्रचलित है वह कई दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। हिन्दू विवाह शरीर का सम्बन्ध नहीं माना जाता, वह तो आत्मा का सम्बन्ध है और क्योंकि आत्मा

अमर है इसलिए विवाह का सम्बन्ध भी अटूट है, तथा इसी दृष्टि से यह भी माना जाता है कि पति के मर जाने पर भी उसका स्त्री के साथ सम्बन्ध बना रहता है। और इसी कारण जीवन भर वैधव्य-पालन तथा सती-प्रथा को श्लाघ्य समझा जाता है। हिन्दू विवाह में विच्छेद भी नहीं हो सकता। यहाँ उन कुरीतियों को गिनाना अनुचित न होगा जिनकी समय-समय पर सुधारकों ने कड़ी टीका की है। मुख्य उनमें बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह तथा विधवा-विवाह का न होना है। बाल-विवाह तथा वृद्ध-विवाह के विरुद्ध और विधवा-विवाह के पक्ष में आन्दोलन करते हुए हमें काफ़ी समय हो गया और इसके परिणाम स्वरूप इन बातों के विषय में समाज का दृष्टिकोण धीरे-धीरे बदलता जा रहा है परन्तु एक-दो प्रश्न हाल ही में विवाह के सम्बन्ध में उपस्थित हो गये हैं और वह हैं विवाह-विच्छेद तथा स्त्री-पुरुष का स्वयं अपने साथी ढूँढने का अधिकार। इन विषयों में जनमत धीरे-धीरे बदलेगा।

दूसरे देशों में विवाह शरीर का सम्बन्ध माना जाता है और साधारणतः जीवन भर का होता है। ईसाइयों के विवाह का मन्त्र यह है कि 'हम एक दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जब तक मृत्यु, हमें अलग न कर दें' (until death do us part)। साधारणतः सब देशों में विवाह-विच्छेद हो सकता है।

प्रेम का आकर्षण विवाह का मुख्य अङ्ग होता है। प्रेम को जातीय आकर्षण से अलग किया जा सकता है या प्रेम जातीय आकर्षण का एक दूसरा रूप है इस विषय में चाहे लोगों के विभिन्न मत हो सकते हों परन्तु इस विषय में तो लोगों के दो मत नहीं कि विवाह को क़ायम रखने में प्रेम विशेष स्थान रखता है। कवियों के 'रोमांटिक' प्रेम या आध्यात्मिक भक्ति को छोड़ कर यदि हम देखें तो प्रेम का आकर्षण ही विवाह को सफल बनाता है। और सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में प्रेम का थोड़ा बहुत स्थान होता है। जिन सामाजिक व्यवस्थाओं में व्यक्ति को प्रधानता दी जाती है वहाँ विवाह से पहिले प्रेम करने की स्वतन्त्रता दी जाती है, जैसा कि यूरोप में। परन्तु जिन व्यवस्थाओं में कुटुम्ब प्रधान होता है वहाँ व्यक्ति को इतनी अधिक स्वतंत्रता नहीं दी जाती जैसा कि हमारे यहाँ। साथ ही यह भी निश्चय है कि प्रेम कम हो जाने पर जहाँ सम्बन्ध-विच्छेद की अनुमति है, विवाह-सम्बन्ध टूटते हैं और जहाँ ऐसी आज्ञा नहीं वहाँ वैवाहिक जीवन कलहमय हो जाता है।

प्रेम का आकर्षण कुछ ऐसा होता है कि व्यक्ति के मन का इस पर कुछ प्रभुत्व नहीं होता। ऐसा नहीं होता कि यदि व्यक्ति चाहे तो प्रेम करे, चाहे न करे। हाँ, कुछ बाह्य कारण ऐसे हो सकते हैं जिनके कारण प्रेम उपज सकता है। स्त्री-सौंदर्य्य और यौवन में जो नैसर्गिक आकर्षण होता है उसके कारण प्रेम इनकी ओर खिंचता है और कहीं-कहीं प्रेम किसी के विशेष गुणों, दो व्यक्तियों या समानताओं के कारण होता है। इसलिये यदि स्त्री-पुरुष में सौंदर्य्य के अतिरिक्त स्वभाव और विचार की भी समानता हो तो वैवाहिक सम्बन्ध अधिक अटूट और आदर्श बन सकता है।

आधुनिक समय में कुछ विचार-धाराएँ इस प्रकार की चल गई हैं जिससे विवाह में भविष्य में बहुत परिवर्तन होने की सम्भावना है। इनमें प्रधान हैं स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता विषयक हलचल, परम्परा से चले आये हुए नतिक प्रतिबंधों की कमज़ोरी, तथा बहुत से व्यक्तिगत कर्तव्यों का राज्य के ऊपर चला जाना। पश्चिम में स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता का प्रश्न बहुत कुछ पनप चुका है और वहाँ पर आर्थिक रूप से स्वतंत्र स्त्री समाज का एक विशिष्ट अङ्ग बन चुकी है। वहाँ प्रत्येक स्त्री की शिक्षा कुछ ऐसी होती है कि आवश्यकता पड़ने पर वह अपनी जीविका उपार्जन कर सके, और अनेक लड़कियाँ अपने कुटुम्बियों की विवाह से पहले अर्थोपार्जन कर सहायता करती हैं। इस कारण पहिले जो स्त्रियाँ केवल आर्थिक कारणों के कारण विवाह करती थीं वह इससे मुक्त हो सकती हैं। स्त्रियों के आर्थिक स्वतंत्रता के पीछे यह बात छिपी हुई है कि उन्हें चाहे पुरुषों ने आजकल की व्यवस्था में जीवन-सङ्घर्ष से भले ही मुक्ति दी हो परन्तु साथ ही उन्होंने स्त्रियों को अपने खिलौने के समान भी तो बनाया। अब उनका स्वाभिमान जागृत

ज़मीन और खेती की समस्या

[श्री० रामकिशोर प्रसाद अग्रवाल, एम० ए०]

भारत के दो तिहाई जन-संख्या की साधारण जीविका खेती से है। इस दो तिहाई जन-संख्या में वे लोग भी शामिल हैं जो खुद खेती नहीं करते, पर किसी न किसी तरह ज़मीन की आय पर ही ज़िन्दगी बसर करते हैं। उनमें वे लोग हैं जो ज़मीन के मालिक हैं और मालिक होने की हैसियत से लगान वसूल करते हैं अथवा बटाई प्रथा द्वारा पैदावार में कहीं आधे और कहीं आधे से भी अधिक के साझीदार हो जाते हैं, तथा खेत-मज़दूर जो दूसरों के खेतों में मजूरी करते और मजूरी की आय पर ही जीवन-निर्वाह करते हैं। ३३ करोड़ की जन-संख्या में २२ करोड़ १६ लाख व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी आय खेती से है। इस २२ करोड़ में १७ करोड़ ३१ लाख व्यक्ति खुद खेती करते हैं। १ करोड़ की आय खेती की ज़मीन के लगान से है और ३ करोड़ ७६ लाख खेत-मज़दूर हैं। इस प्रकार २३ करोड़ की संख्या में लगभग १ करोड़ ज़मींदार और बाक़ी २२ करोड़ किसान तथा खेत-मज़दूर हैं।

ज़मीन, काश्तकार और सरकार का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न तरह का है। यह सम्बन्ध सारे देश में मुख्यतया तीन प्रकार का है जो ज़मींदारी, महालवारी और रैय्यतवारी प्रथा के नाम से पुकारा जाता है। रैय्यतवारी प्रथा बम्बई और मद्रास में प्रचलित है। इस प्रथा में सरकार और काश्तकारों के बीच, कोई तीसरा व्यक्ति नहीं रहता। रैय्यत ही ज़मीन के मालिक होते हैं और वे सीधे सरकार को टैक्स देते हैं। यह टैक्स सिद्धान्ततः ज़मींदारी प्रथा के समान ही सदा के लिये निश्चित है पर व्यवहार में ऐसा नहीं होता। १८५५-५६ के Madras Administration Report में रैय्यतवारी प्रथा की परिभाषा इस प्रकार की गई है:— "Under the Rayatwari system, every registered holder of Land is recognised as its proprietor, and pays direct to government. The distinguishing feature of Rayatwari is the limitation in perpetuity of the demand of the state on the land"

अर्थात्—"रैय्यतवारी प्रथा में प्रत्येक व्यक्ति जिसके नाम में ज़मीन रजिस्ट्री है उसका मालिक समझा जाता है और सीधे सरकार को कर देता है। रैय्यतवारी प्रथा की विशेषता यह है कि ज़मीन से सरकार की आय सदा के लिये बँधी हुई है।" पर इसके विपरीत मद्रास और बम्बई में जब-जब नया बन्दोबस्त हुआ है टैक्स, उपज और गल्ले की क़ीमत के अनुसार बढ़ता ही गया है।

महालवारी प्रथा—संयुक्त प्रान्त तथा मध्य प्रदेश में पाई जाती है। इस प्रथा में दोनों ही तरीक़े पाये जाते हैं अर्थात् कहीं रैय्यतवारी जिसमें रैय्यत ही मालिक है और कहीं ज़मीदारी जिसमें रैय्यत ज़मीदारों को लगान देते हैं। भेद सिर्फ़ यह होता है कि रैय्यतवारी तथा ज़मीदारी प्रथा की तरह इसमें टैक्स सदा के लिये निश्चित नहीं है। यहाँ के ज़मीदारों और बङ्गाल, बिहार के ज़मीदारों में फ़र्क़ यह होता है कि बङ्गाल और बिहार के ज़मीदारों की जमा 'परमानेण्ट सेटलमेण्ट' द्वारा सदा के लिये बँध गई है, पर महालवारी प्रथा के अन्दर आने वाले ज़मीदारों की जमा हर साल, उपज और गल्ले की क़ीमत के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

ज़मीदारी प्रथा—बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा और मद्रास के कुछ हिस्सों में भी प्रचलित है। इसमें सरकार को मिलने वाली रक़म सदा के लिये निश्चित कर दी गई है और ज़मींदारों को रैयतों के लगान घटाने-बढ़ाने का अबाध अधिकार दे दिया गया है। सरकार Perma-

nent Settlement की शर्तों के अनुसार उनके इस अधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

क्षेत्रफल के विचार से रैय्यतवारी प्रथा भारत के बहुत कम हिस्सों में है। अधिकांश हिस्सों में ज़मीदारी प्रथा ही प्रचलित है, जिनमें से कुछ में महालवारी सेटलमेण्ट होता है और कुछ में इस्तदमामी बन्दोबस्त है।

इसके अलावा पञ्जाब तथा सीमा-प्रान्त आदि में कई भिन्न-भिन्न प्रथाएँ हैं। कहीं गाँवों पर सामूहिक रूप से टैक्स है जिसे ग्राम-पञ्चायतें वसूल कर सरकार को दे देती हैं और कहीं स्वतन्त्र व्यक्ति जिनके अधिकार में कई गाँव हैं, सरकार को स्वतन्त्र रूप से टैक्स देते हैं।

खेती से आय

प्रोफ़ेसर के०, टी० शाह और खम्बाटा की गणनानुसार सन् १९२१ में भारत की खेती की आय उस समय गल्ले की दर के अनुसार, कुल १२८८ करोड़ रुपये थी। इसमें खाद्य तथा अखाद्य सभी तरह की उपज शामिल है। खाद्य पदार्थों की उपज १०५२ करोड़ और अखाद्य पदार्थों की २३६ करोड़ है, जिसमें २५'६ करोड़ एकड़ भूमि लगी हुई थी। इस भूमि पर सरकार को ३१'९७ करोड़ रुपये टैक्स मिले। इस प्रकार प्रति एकड़ पर सरकार को १।)॥ औसत टैक्स मिला। यह १।)॥ यद्यपि सारे भारत की औसत के हिसाब से है, किन्तु प्रान्तों का औसत इससे भिन्न-भिन्न है। मद्रास में प्रति एकड़ उपजाऊ भूमि का औसत टैक्स २॥), बम्बई में १॥=) और बङ्गाल में १=) है। इनसे यह स्पष्ट है कि जहाँ रैय्यतों को ख़ुद टैक्स देना पड़ता है अथवा जहाँ सरकार को लगान घटाने-बढ़ाने का अधिकार है वहाँ सरकार को उन प्रान्तों का दूना या ड्योढ़ा टैक्स प्रति एकड़ मिलता है जहाँ ज़मीदारों को टैक्स देना पड़ता है और "परमानेण्ट सेटलमेण्ट" है। बङ्गाल सरकार के 'लैंड रेवेन्यू' की आय आज भी वही ३ करोड़ है जो सन् १७९३ ई० में लार्ड कार्नवालिस के द्वारा निश्चित कर दी गई थी, यद्यपि रैय्यतों को उस समय से चौगुना लगान तथा अन्य कितने ही ग़ैर क़ानूनी अबवाब ज़मीदारों को देने पड़ते हैं; जहाँ सन् १७९३ में ज़मीदारों को ४ करोड़ की आमदनी में से ३ करोड़ अर्थात् ७५ फ़ी सदी सरकार को दे देने पड़ते थे वहाँ अब सरकार को १६ करोड़ में से ३ करोड़ अर्थात् कुल १९ फ़ी सदी टैक्स मिलता है। मद्रास और बम्बई में जहाँ रैय्यतों को क्रमशः २॥) और १॥=) प्रति एकड़ देना पड़ता है सरकार को पूरा-पूरा मिल जाता है। पर बङ्गाल में जहाँ रैय्यतों को उसका चौगुना देना पड़ता है सरकार को केवल १=) ही प्रति एकड़ मिलता है।

उपरोक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज़मीदारी प्रथा सरकार की दृष्टि से भी हानिकारक है और किसानों की दृष्टि से भी, पर सरकार एक समुदाय होने के कारण इस हानि को उतना नहीं महसूस करती जितना किसान।

नये शासन-विधान के जारी होने के पहिले तक किसानों का शासन में कुछ भी अधिकार न था। मताधिकार लगान की एक निश्चित संख्या के आधार पर होने के कारण अत्यन्त ही सङ्कुचित था और यह संख्या अधिक होने के कारण केवल बड़े-बड़े ज़मीदार ही कौंसिलों में चुने जाते थे। कौंसिलों में जाकर वह अपने लाभ के मनमाने क़ानून बनाते थे और किसानों का प्रतिनिधित्व न होने के कारण, उनके स्वार्थों और हितों का उचित संरक्षण न हो पाता था। नये शासन-विधान द्वारा मताधिकार बढ़ा दिये जाने के कारण प्रान्तों में जनता की प्रतिनिधि सत्ता क़ायम हो गई है और स्वभावतः ही ज़मीन और खेती की समस्या उनका प्रधान कार्य्यक्रम हो गया है। कॉङ्ग्रेसी मिनिस्ट्री क़ायम होने के पहिले किसानों की दयनीय दशा में सुधार न होने का एक कारण और भी था। शिक्षा के अभाव के कारण बहुत से ग़रीब किसान शासन के पेचीले यन्त्र को न समझ सकते थे। वे अपनी ग़रीबी को विधाता की मार समझ कर चुप बैठे रहते थे। आधुनिक साधनों द्वारा ज़मीन की पैदावार बढ़ाई जा सकती है, उन्नत उपायों द्वारा बाढ़ रोकी जा सकती है, सूखे दिनों में भिन्न-भिन्न तरीक़ों द्वारा सिंचाई की जा सकती है, ज़मीदारों के ग़ैर क़ानूनी वसूली तथा बेगारी आदि से नजात पाई जा सकती है आदि बातें वे जानते तक न थे। कॉङ्ग्रेस ने प्रचार-कार्य्य द्वारा उन्हें अपनी स्थिति समझा दी है और वे किसान-

आन्दोलन द्वारा अपनी भलाई के लिये स्वयं कटिबद्ध हो गये हैं।

चूँकि ज़मीन और खेती की समस्या भारत की तीन चौथाई जन-संख्या की समस्या है, इसलिये काँग्रेसी मिनिस्ट्री ने प्रायः सभी प्रान्तों में इसे ही पहिले अपना कार्य्यक्रम बनाया है।

बिहार, संयुक्त प्रदेश, मध्य प्रदेश और उड़ीसा इन सभी व्यवस्थापिकाओं में कृषि-सुधार सम्बन्धी बिलें पेश हो चुकी हैं जिसके कारण देश भर के ज़मींदारों में हल-चल मच गई है।

बिहार

बिहार में कृषि की आमदनी पर टैक्स लगाये जाने की नीति का प्रस्ताव पास हो चुका है। यह टैक्स ५००० से ऊपर की वार्षिक आमदनी पर लगाया जाने को है। इस प्रकार यह टैक्स बड़े-बड़े ज़मींदारों से ही सम्बन्ध रखता है छोटे-छोटे ज़मींदार इसके दायरे में नहीं आते। ज़मींदारों की ओर से इसका तीव्र विरोध हुआ है। उनके विरोध का आधार यह है :—

(१) परमानेएट सेटलमेएट की रू से सरकार ज़मींदारों से निश्चित टैक्स के अतिरिक्त और कोई कर नहीं वसूल कर सकती। (२) जिस वक़्त लार्ड कार्नवालिस के द्वारा परमानेएट सेटलमेएट किया गया था, उस वक़्त ज़मींदारों ने घाटा सह कर भी इस उम्मीद में यह बन्दोबस्त मन्ज़ूर किया था कि आगे चलकर वे ज़मीन में सुधार कर अपनी आय बढ़ा सकेंगे। (३) ज़मींदारों की आमदनी में जो वृद्धि हुई है वह उनके उद्योग और मिहनत का फल है। बहुत सी ज़मीन जो उपजाऊ नहीं थी उसे उन्होंने सिंचाई आदि का प्रबन्ध कर उपजाऊ बना लिया है (४) परमानेएट सेटलमेएट के समय से अब तक जायदाद और ज़मींदारी के मालिकों में बहुत परिवर्तन हुआ है। ज़मींदारियाँ उन्हीं के हाथों नहीं हैं जो परमानेएट सेटलमेएट के समय उसके मालिक थे, बल्कि ज़मींदारी की बढ़ी हुई आय के हिसाब से बढ़ी हुई क़ीमतों पर उन्होंने उसे पुराने मालिकों से खरीदा है।

उनके इस तर्क में बहुत कुछ सार है जिन पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाना चाहिये। समय-समय पर पत्रों में उनके इन तर्कों पर प्रकाश डाला गया है तथा बिहार की ऐसेम्बली में भी माननीय प्रीमियर साहब ने अपने भाषण में इन तर्कों पर प्रकाश डाला था।

बिहार के ऐडवोकेट जेनरल बाबू बलदेवसहाय ने अपने भाषण में यह स्पष्ट कर दिया है कि कृषि-आय-कर ग़ैर क़ानूनी नहीं है। परमानेएट सेटलमेएट के अनुसार सरकार 'लैंडरेवेन्यू' अवश्य बढ़ा नहीं सकती, पर कृषि-आय-कर लगाने का सरकार को निश्चित अधिकार है। New Government of India Act 1935 में भी कृषि-आय-कर प्रान्तीय टैक्स की सूची में दर्ज है तथा सन् १८६० ई० में बङ्गाल के ज़मींदारों पर कृषि-आय-कर लगाया जा चुका है। (२) यद्यपि सन् १७९३ में ज़मींदारों को अपनी आमदनी का ९० फ़ी सदी सरकार को दे देना पड़ता था, आज वे अपनी आमदनी का एक छोटा सा अंश ही सरकार को देते हैं (३) यह आमदनी उन्होंने ज़मीन में सुधार कर नहीं बढ़ाई है—कम से कम उनकी आमदनी, ज़मीन के सुधार के अनुपात से बहुत ज़्यादा बढ़ गई है। ज़मीन में जो कुछ सुधार हुआ भी है उसका श्रेय केवल ज़मींदारों को ही नहीं है, रैय्यतों ने अपनी मिहनत से जङ्गलों आदि को साफ कर उन्हें खेती के योग्य बनाया है, ज़मींदारों की तो सिर्फ पूञ्जी रही है। अगर किसान इतनी मिहनत के बावजूद भी चौगुना लगान दे सकते हैं तो क्या कारण है कि ज़मींदार आय-कर न दे सकें। (४) यद्यपि ज़मींदारों ने ज़मींदारियाँ, अपनी मिहनत की कमाई से वर्तमान आमदनी के आधार पर बढ़ी हुई क़ीमत में ही खरीदी हैं, तथापि इस से कृषि-आय-कर के लगाने में कोई बाधा नहीं पड़ती। यह प्रश्न, ज़मींदारी प्रथा अगर कभी उठा देना उचित समझा गया तो उस समय विचारणीय हो सकता है, जब कि कृषि के सिवा अन्य सभी तरह के आय पर इनकम-टैक्स लागू है तो कृषि की आय पर इनकमटैक्स न लगाना अन्याय-पूर्ण और अतर्कसङ्गत है। इसका परिणाम उद्योग-धन्धों को निरुत्साहित कर खेती को प्रोत्साहन देना होता है।

कृषि-आय-कर के अलावा, किसानों की तकलीफें दूर करने के लिये एक Bihar Tenancy Amend-

ment Bill व्यवस्थापिका में पेश हो चुका है जो विचारार्थ Select Committee को सुपुर्द किया गया है। इसके द्वारा किसानों को जो रियायतें दी गई हैं उनमें से कुछ ये है :—

(१) सन् १९११ और १९३६ के बीच लगान में जो इजाफा हुआ है वह रद्द किया जाय (२) लगान के थोड़े से बकियौने मे रैय्यतों की सारी जायदाद नीलाम करा लेने की अन्यायपूर्ण प्रथा बन्द हो और केवल उतनी ही जमीन नीलाम हो जितने से बकियौता सध सके या किसान की सारी ज़मीन ७ वर्ष तक जमीदार के यहाँ बन्धक रहे (३) गैर कानूनी वसूलियों और बेगार आदि का पता लगने पर कलक्टर जमीदारों को जुर्माने और क़ैद की सजा दें (४) भावली प्रथा, दानाबन्दी बटाई वग़ैरह उठा दी जाय आदि-आदि।

जमींदारों ने इस बिल की प्रत्येक धारा का आमूल विरोध किया है, क्योंकि वे किसानों को दी गई हुई इन थोड़ी सी रिआयतों को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते। उधर किसान-सभा बिना हर्जाना दिये ही जमींदारी प्रथा का अंत कर देने की ज़ोरदार माँग कर रही है। शासन के मौजूदा अधिकारों के अन्दर किसानों की ये क्रान्तिकारी माँगें पूरी नहीं की जा सकतीं। जमींदार और किसानों के इस सङ्घर्ष का अन्तिम परिणाम क्या होगा यह अभी नहीं कहा जा सकता।

संयुक्त प्रदेश

युक्त प्रान्तीय ऐसेम्बली में भी लगान सम्बन्धी एक बिल पेश हो चुका है तथा Agriculturer's Relief Bill सेलेक्ट कमीटी को विचारार्थ सुपुर्द किया जा चुका है जिसकी रिपोर्ट भी प्रकाशित हो गई है। इसके अनुसार अदालत की वर्तमान फीस में कर्ज़दार किसानों के लिये अर्जी देने पर कमी की जा सकेगी। लगान बिल द्वारा किसानों की बेदखलियाँ रोकने तथा बक़ाया लगान में माफी देने की योजना की गई है।

इसके सिवा उड़ीसा, मध्य प्रदेश, तथा बङ्गाल में भी बेगारी और गैर कानूनी अबवाब रोकने के लिये क़ानून बनाये गये हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इसके सिवा और कितने ही छोटे-मोटे क़ानून पास हुये है जिनसे किसानों को बहुत कुछ सुविधाएँ मिली हैं।

उपरोक्त रिपोर्ट से पता चलता है कि खेतो और ज़मीन की समस्या में काङ्ग्रेसी सरकार ने मुख्यतया दो-तीन बातों पर ही अधिक ध्यान दिया है अर्थात् लगान में कमी, बेदखली मे रुकावट, गैर क़ानूनी वसूलियों की बन्दिश तथा ज़मींदारों एवं उनके अमलों की बेईमानी जैसे रसीदें न देना, थोड़े से बकियौने में सारी जायदाद नीलाम करा लेना आदि पर प्रतिबन्ध। किन्तु केवल इनसे ही किसानों की दशा में सुधार नहीं हो सकता, और उनकी ग़रीबी दूर नहीं हो सकती।

किसानों की दर्दनाक ग़रीबी के कितने ही कारण हैं, जिन्हें उङ्गलियों पर नहीं गिना जा सकता। उनकी ग़रीबी तो तभी दूर हो सकती है जब कि (१) किसानों को ऋण-मुक्त कर दिया जाय, जिससे उनकी सारी कमाई महाजनों के यहाँ सूद के रूप में न पहुँच जाये (२) जमींदारी प्रथा उठा दी जाय (३) होल्डिंग का बटवारा फिर से किया जाय (४) Collective Farming की प्रथा क़ायम की जाय (५) आबपाशी का उचित प्रबन्ध किया जाय (६) मद्य-निषेध की योजना को पूर्ण सफल बनाया जाय (७) सहायक धन्धों का प्रबन्ध हो (८) बाढ़ रोकने का यथेष्ट उपाय किया जाय (९) सरकारी कृषि विभाग की गवेषणाओं का व्यावहारिक रूप से किसानों में प्रचार किया जाय आदि-आदि।

इनमें से कुछ पर प्रान्तीय सरकारें अपनी-अपनी स्थिति और आवश्यकता के अनुसार विचार कर रही हैं। मद्रास में मद्य-निषेध की योजना पर काफ़ी ज़ोर दिया गया है तथा अन्य कॉङ्ग्रेसी प्रान्तों में भी परीक्षा की जा रही है। आबपाशी के लिये संयुक्त प्रान्त में Ganges Grid-system का प्रबन्ध हो रहा है, बिहार में भी दिहातों में बिजली द्वारा आबपाशी के प्रबन्ध पर विचार हो रहा है। महाजनों की ज्यादतियाँ रोकने के लिये Moneylenders' Bill बनने जा रहे हैं। किन्तु फिर भी किसानों की सारी माँगे तब तक पूरी नहीं हो सकतीं और उनकी स्थायी समृद्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक देश में स्वायत्व-शासन न स्थापित हो जाय।



१



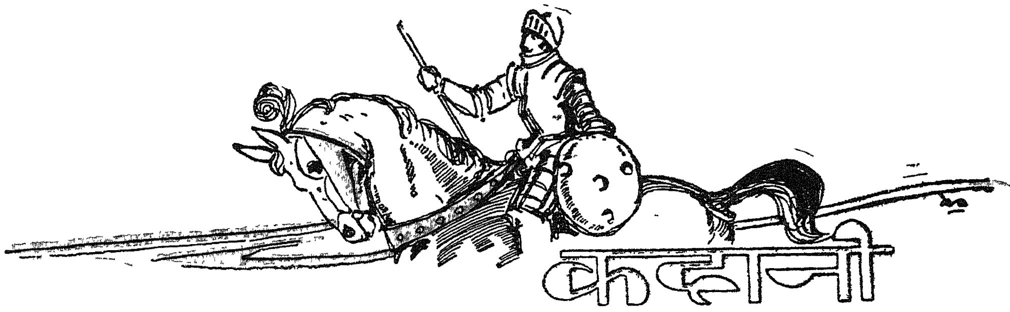
२



३



४



एक मित्र के रोज़नामचे के कुछ पृष्ठ

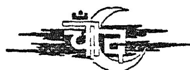
[श्रीमती रामेश्वरी नेहरू]

मेरी स्त्री

मेरी स्त्री का संसार में बहुत मान है। वह कुछ बहुत पढ़ी-लिखी नहीं है। न बी० ए० है न एम० ए०; न किसी स्कूल-कॉलेज की शिक्षा पाई है। घर ही में थोड़ा-बहुत अपनी कोशिश से सीखा है। हिन्दी का अभ्यास अच्छा कर लिया है, थोड़ी संस्कृत और अङ्गरेज़ी भी जानती है, परन्तु उसे बुद्धि बहुत अच्छी मिली है। बात की तह तक पहुँचती है और हर चीज़ की जाँच-पड़ताल अच्छी करती है। उसका संसार, जिसमें उसका मान है, कुछ बहुत बड़ा नहीं है। वह न लीडर है न सार्वजनिक कार्यकर्त्री; इसलिये उसको जानने वाले बहुत नहीं हैं। अपने कुटुम्ब, बिरादरी के लोग या मेल-मुलाक़ाती मित्र ही उसको जानते हैं। परन्तु मालूम नहीं, उसमें क्या बात है कि जो उससे मिलता है उसका आदर करता है, और आदर ही नहीं, उससे प्रेम भी करने लगता है। मैं भी उससे प्रेम करता हूँ। परन्तु मेरे मन को उसके समान स्त्री पाकर संतोष नहीं है। मैं बहुत सोचता हूँ कि क्या कारण है कि जिसे सभी जानने वाले पसंद करते हैं, जिसके व्यवहार में सब लोग एक प्रकार की मिठास और प्रेम पाते हैं, उसका मेरे प्रति व्यवहार, मेरे हृदय को शान्ति नहीं देता; उससे और मुझसे कोई झगड़ा नहीं होता। वर्षों बीत गये, पर मैंने नहीं देखा कि उसने मेरी किसी बात पर क्रोध किया हो, मुझसे किसी बात पर अनुरोध किया हो, मेरी किसी बात के विरुद्ध भावना दिखलाई हो, परन्तु फिर भी मुझे संतोष नहीं; मुझे ऐसा लगता है कि वह सर्वथा मेरी नहीं है। मेरी नहीं है तो क्या इसका हृदय किसी दूसरे की ओर लगा है, सो भी मैं नहीं कह सकता। मैंने तो कभी उसको किसी पुरुष से खुल कर बात करते भी नहीं देखा। और फिर वह तो इतनी सच्ची और धर्म-परायण है कि उसके लिये मैं यह अनुमान भी नहीं कर सकता कि वह अपने पति के सिवा स्वप्न में भी किसी दूसरे का ध्यान करेगी। फिर क्या कारण है कि मैं सदा उसके और अपने बीच में एक पर्दा-सा पड़ा हुआ अनुभव करता हूँ। वह मेरे पास बैठी भी होती है तो मुझे ऐसा ही जान पड़ता है मानो वह मुझसे कहीं बहुत दूर है। उसमें और मुझमें कुछ बहुत बड़ा अन्तर है। क्या है, सो तो मैं बता नहीं सकता, परन्तु ऐसा लगता है जैसे मैं और वह दो अलग-अलग लोकों के रहने वाले हों, मैं चाहता हूँ, उसका ध्यान मुझमें रहे। जो बातें मुझको पसन्द हैं, वे उसको पसन्द हों। जो मुझे नापसन्द हैं, वे उसको भी नापसन्द हों। वह सारे हृदय से मेरे आमोद-प्रमोद में, मेरे काम-धन्धे में, मेरे अच्छे-बुरे में

शरीक रहे। वह मेरी शरीक नहीं रहती, सो भी मैं नहीं कह सकता, क्योंकि बहुधा वह मेरे साथ ही रहती है; परन्तु ऐसा लगता है कि वह देह से मेरी शरीक है, मन से नहीं। इस बात का मुझे दुःख रहता है, क्योंकि मेरी इच्छा तो यह रहती है कि जिस चाव और उत्साह से मैं किसी काम को करूँ उसी चाव और उत्साह से वह भी उसमें शरीक हो, और जो बात मुझे अरुचिकर हो वह उसी भाँति उसे भी अरुचिकर हो। परन्तु मेरी स्त्री जो कुछ करती है, उसमें एक प्रकार की उदासीनता, तटस्थता दिखलाई देती है। किसी बात के न करने अथवा किसी वस्तु के न मिलने से उसे दुःख नहीं और करने या मिलने से उसे विशेष सुख नहीं दिखाई देता। मुझे सैर-तमाशों और पिकनिक आदि का बहुत शौक़ है। परन्तु जब कभी मैं उसको अपने साथ ले जाता हूँ तो मुझे उसके साथ उतना आनन्द नहीं मिलता, जितना अन्य स्त्रियों के साथ मिलता है। खेल-तमाशे, सिनेमा-थियेटर देखकर उस पर वह प्रभाव नहीं पड़ता, जो मैं अन्य स्त्रियों पर पड़ता देखता हूँ। न उसमें वह हँसी है, न वह जान है, न वह यौवन और उमङ्ग है, जो मुझे अन्य स्त्रियों में अच्छी मालूम देती है। खेल-कूद में भी वह बहुधा निरुत्साह सी रहती है। भागना, दौड़ना, खेल में अपनी जान लड़ा देना, यह बात उसमें नहीं है। हिन्दुस्तानी स्त्रियों को यह सब सिखाया ही नहीं जाता। यदि वह स्कूल, कॉलेज गई होती और वहाँ सहपाठिनियों के साथ अङ्ग-रेज़ी ढङ्ग के खेल खेले होते, तो शायद यह सब बात उसमें आ जाती। इसीलिये मैं समझता हूँ कि स्त्रियों के लिये स्कूल, कॉलेज की शिक्षा पानी बहुत आवश्यक है। इसके बिना उनमें जीवन का रस लेने और उसका सुख भोगने की शक्ति नहीं आती। वे किसी पश्चिमी शिक्षा पाए हुए पुरुष के मन को लुभा नहीं सकतीं। इस कमी के कारण मेरी स्त्री मेरी सच्ची सहचरी नहीं बन पाई।

मैंने यह भी देखा है कि वह मुझसे कभी कुछ माँगती नहीं। मैं अपने घर में सोलहो आने मालिक हूँ। मेरा रुपया-पैसा सब मेरे ही हाथमें रहता है और मेरे ही हुक्म से खर्च होता है। कहीं-कहीं मैं देखता हूँ कि पुरुष रुपये-पैसे पर, अपनी जायदाद पर सब अधिकार स्त्रियों को दे देते हैं। मैं इस बात को ठीक नहीं समझता। कमाते-धमाते, मेहनत-परिश्रम करके अपनी दौलत को दूसरे के हाथ में सौंप देना, चाहे वह अपनी स्त्री ही क्यों न हो, मुझे ठीक नहीं जँचता। मैं अपने धन को अपनी ही मर्ज़ी के अनुसार खर्च करना चाहता हूँ, और खर्च करता भी हूँ। जिसको और जैसे उचित समझता हूँ देता-लेता हूँ। मैं समझता हूँ कि मैं कृपण नहीं हूँ। धन सञ्चित करके रखते जाना मुझे अच्छा नहीं लगता। इसीलिये शायद धन मेरे पास रहता भी नहीं। जैसे आता है, वैसे ही हाथ से निकल जाता है। मेरी इच्छा होती है कि मैं अपनी स्त्री को भी कुछ दूँ, परन्तु क्या दूँ? वह तो कभी कुछ माँगती ही नहीं। केवल इतना ही नहीं, बल्कि मैं देखता हूँ कि उसको किसी वस्तु की इच्छा भी नहीं। देना उसको अच्छा लगता है, जो रुचि से भेंट को ले और हर्ष से उसका उपयोग करे। परन्तु जिसके लिये किसी वस्तु का मिलना न मिलना एक समान हो, उसको कोई क्या दे? मुझे याद नहीं कि आज तक मैंने उसको कोई ज़ेवर या कपड़ा बनवा कर दिया हो। परन्तु कभी उसने इसका बुरा माना हो, सो भी मुझे याद नहीं है। मेरा दिल चाहता है कि वह मुझसे इस बात का गिला करे, मुझसे कुछ माँगे, किसी वस्तु के लिये अपनी इच्छा प्रगट करे, जिसमें उसको कुछ देने का, उसकी किसी इच्छा को पूरी करने का मुझे अवसर मिले। परन्तु उसके मन में किसी अभिलाषा के न होने से मैं यह निश्चय ही नहीं कर पाता कि मैं उसकी ख़ातिर क्या करूँ। उसका इतना उदासीन रहना मुझे बुरा लगता है और एक-दो बार मैंने उससे इस बात का गिला भी किया। मैंने कहा, तुम अहङ्कार के कारण मुझसे कभी कुछ माँगती नहीं। तुम बड़े पिता की पुत्री हो, तुम्हारे मन में यह अभिमान है कि तुम मुझसे क्यों कुछ लो। इसीसे तुम ऐसा करती हो, नहीं तो क्या यह सम्भव है कि कभी तुम्हारा किसी वस्तु को लेने को दिल न चाहता हो। इस गिले का उत्तर वह शान्ति के साथ बहुत मीठा देती है, परन्तु मेरे हृदय में उसका पूरा विश्वास नहीं होता। वह मुझे झुठला देती है। कहती है 'आप क्या बात करते



हो ? कभी किसी हिन्दू-स्त्री के मन में भी अपने पति के प्रति अभिमान या अहङ्कार आ सकता है ? आप मेरे पति हो, भरतृ हो, मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हो। जो कुछ मुझे चाहिये, आप ही से तो मिलता है। खाती हूँ, पीती हूँ, आराम से रहती हूँ; और मुझे क्या चाहिये ? आप और मैं क्या कोई अलग-अलग थोड़े ही हैं। आप जो खर्च करते हो वह सब मैं ही तो करती हूँ। एक हाथ से न हुआ-दूसरे से हुआ। आपके हाथ को मैं अपना ही हाथ मानती हूँ और आप की मर्ज़ी को अपनी मर्ज़ी। मेरे आपके बीच में लेन-देन की चाल थोड़े ही चल सकती है कि मैं आपसे मागूँ और आप दें या आप मुझसे माँगें और मैं दूँ। मैं तो अपने आप को आप ही का एक भाग मानती हूँ। जो आप का है, सब मेरा ही है इसलिये जो कुछ आप जमा-खर्च करते हो, वह सब मैं ही कर रही हूँ। आप इसको निश्चित मानिये।' परन्तु उसके ऐसा कहने पर मैं विश्वास कैसे करूँ। मैं तो कभी खर्च करते हुए उससे पूछता नहीं और बहुधा तो उसको मालूम भी नहीं होता कि मैं कहाँ क्या खर्चता हूँ, फिर मैं यह कैसे मान लूँ कि जो कुछ मैं खर्चता हूँ, उसीकी मर्ज़ी से खर्चता हूँ। और वह अपने आप को मेरे साथ-साथ सम्पत्ति की मालकिन समझती है। ऐसे मालिक तो मैंने कहीं नहीं देखे, जिनको यह मालूम भी न हो कि उनका रुपया-पैसा किस तरह खर्च हो रहा है। यदि वह सचमुच ऐसा समझती तो अवश्य कभी मुझसे हिसाब माँगती, कभी मेरे खर्च के ढङ्ग की आलोचना करती, कभी अपनी मर्ज़ी से खर्च करना चाहती। यह सब वह नहीं करती, इसी से मुझे शङ्का होती है कि वह अपने मान में भरी बैठी रहती है, और मेरे पैसे का जितना कम हो सके, उतना कम उपयोग करती है। यह बात मुझे अच्छी नहीं लगती। मुझे ऐसा लगता है कि उसकी कोई भी ऐसी आवश्यकता नहीं जिसकी केवल मैं ही पूर्ति कर सकूँ। इसलिये वह कहे या न कहे, एक प्रकार से वह मुझसे स्वतन्त्र है। मुझे उसकी यह स्वतन्त्रता कैसे भा सकती है ? मैं तो यह चाहता हूँ कि वह मुझ पर ऐसे अवलम्बित रहे, जैसे लता वृक्ष के तने पर रहती है। शायद मेरा भी अहङ्कार ही हो, जिस के कारण मेरे हृदय में यह इच्छा है, परन्तु जो कुछ भी हो, उसका अहङ्कार हो, या मेरा अहङ्कार हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका यह ढङ्ग मुझे रुचिकर नहीं। इस से तो मैं समझता हूँ, कि वह स्त्रियाँ अच्छी जो रात-दिन वस्त्राभूषणों के तक़ाज़ों से पति को दम नहीं लेने देतीं। इस से पति को उनकी सेवा करने का अवसर तो मिलता है।

वह मुझसे कभी लड़ती भी नहीं। मैं उचित, अनुचित बहुतेरी बातें ऐसी करता हूँ जिनके कारण देखता हूँ, दूसरे घरों में बड़े-बड़े युद्ध हो जाते हैं। बहुत बेर मैं उससे उलझ जाता हूँ। गृहस्थी के प्रबन्ध में राई भर त्रुटि हो जाने से उसका पहाड़ बना कर घण्टों का लेक्चर दे डालता हूँ, 'तुम्हें घर का प्रबन्ध करना नहीं आता। देखो, अमुक स्त्री कैसी निपुणता से गृहस्थी चलाती है। तुम्हें चार आदमियों में बात करनी नहीं आती। देखो, अमुक स्त्री कैसे चटचट बातें करती है, दस आदमियों के मन को एक साथ अपनी बातों में लगाए रखती है; ड्राइंगरूम में, सभा-सोसायटी में बातें करना भी एक गहरी कला है, जिसे हर स्त्री को सीखना चाहिये। तुम तो बात करने का उद्योग ही नहीं करती हो।' वह यह सब शान्ति से सुनती है, और कोई उत्तर नहीं देती। एक बार मैं स्नान को जा रहा था। नियत स्थान पर मुझे अपना तौलिया नहीं मिला। इतने पर ही मैंने उसको अच्छी प्रकार डाँटा, परन्तु फिर भी वह चुप की चुप ही रही। मैं जानता हूँ कि बहुत बार मैं उससे अनुचित व्यवहार कर जाता हूँ, परन्तु उसकी इस अखंड शान्ति से मैं कभी-कभी खीझ उठता हूँ। इसी से उलझ कर मैं छोटी-छोटी बातों पर क्रोध करने लगा हूँ। किसी बात का उत्तर न मिलने से मुझे समझ में नहीं आता कि मैं हाड़-मांस की बनी स्त्री से व्यवहार कर रहा हूँ, अथवा किसी बेजान पुतली से; जिसे कोई बात न अच्छी न बुरी लगती है ! जिससे टकरा कर कोई प्रतिध्वनि नहीं उठती, न जिससे कभी कोई प्रत्युत्तर ही मिलता है। मैंने सुना है और देखता भी हूँ कि स्त्रियों के स्वभाव में बड़ी ईर्ष्या होती है। वे अपने पति का किसी दूसरी स्त्री से हँसना, बोलना, प्रेमालाप

करना सहन नहीं कर सकतीं। तुरन्त ही तनिक-तनिक सी बातों में उनका हृदय जलने लगता है। मैंने सोचा कि अपनी स्त्री को समाधि से जगाने के लिये यह एक अच्छा उपाय होगा। मैंने सखी-सहेलियों से सङ्ग-साथ किया, स्त्रियों से ऐसा व्यवहार शुरू किया कि जिससे मेरी स्त्री के हृदय में जलन पैदा हो। उनके साथ हँसी-ठट्ठा, विहार नित दिन की बात हो गई। उन्हें सिनेमा-थियेटर में ले जाना, होटल में चाय पिलाना; ताश, शतरञ्ज और अन्य खेल खेलने में मेरा बहुत सा समय बीतने लगा। मैं समझता था कि अब तो यह देवी अवश्य रोष करेगी, मुझसे गिला करेगी, शायद कुछ रोना-धोना भी करे, परन्तु मेरा यह विचार भी ग़लत हो निकला। वह सब कुछ देखती, परन्तु उसकी शान्ति किसी प्रकार से भङ्ग न होती। इन्हीं बातों से मेरे मन में यह सन्देह होने लगता है कि यह मुझसे प्रेम नहीं करती, केवल मेरे साथ निर्वाह कर रही है। नहीं तो कौन सी स्त्री ऐसी होगी, जो अपने पति से प्रेम करती हो और उसे अन्य स्त्री की ओर जाते हुए देखकर दुःख न माने। अपने हृदय पर हाथ रख कर मैं इतना तो कह सकता हूँ कि यही मेरी स्त्री यदि किसी अन्य पुरुष के साथ वही बातें करे, जो मैं अन्य स्त्रियों के साथ करता हूँ, तो क्रोध और ग्लानि से शायद मैं अपने आपे में न रहूँ और कौन जाने क्या कर बैठूँ? फिर, वह भी तो आखिर मनुष्य ही है, उसके ऊपर इन बातों का यह स्वाभाविक प्रभाव क्यों नहीं पड़ता!

एक बार मैंने उससे पूछा—'तुम्हें क्या मेरी कोई बात बुरी नहीं लगती? क्यों तुम कभी मेरी किसी बात पर आपत्ति नहीं करतीं। स्त्रियाँ तो जरा-जरा सी बातों पर अपने पतियों से लड़ जाया करती हैं। प्रेममयी लड़ाई में भी तो रस है। लड़ाई के बाद मेल में जो आनन्द मिलता है, उसका तो हमें-तुम्हें अनुभव ही नहीं है?' उसने उत्तर दिया—'मुझे तुम्हारी कोई बात बुरी नहीं लग सकती। हिन्दू स्त्री अपने पति में भगवान को देखती है। वह कैसा है, क्या करता है क्या नहीं करता, इससे उसको कोई सरोकार नहीं है। उसके लिये इतना ही बस है कि वह उसका पति है। मैं तुम्हें अपने भगवान का रूप मानती हूँ। भगवान की रज़ा में राज़ी होना मेरा धर्म है, इसलिए तुम्हारी रज़ा में राज़ी होने में मुझे कुछ कठिनाई नहीं है। मैं अपना सर्वस्व तुम्हें अर्पण कर चुकी हूँ, जिसके ये अर्थ हैं कि मैंने अपनी मर्ज़ी, अपनी इच्छाएँ, सब भगवान को सौंप दी हैं। जब मैं सर्वस्व दे चुकी हूँ तब मुझे कुछ भी बुरा कैसे लग सकता है। अच्छा-बुरा तो तब लगता है जब मनुष्य अपने व्यक्तित्व को अलग बनाए रखे, जब अभिलाषाएँ और कामनाएँ बनी रहें परन्तु जब अपना प्रथक व्यक्तित्व ही नहीं रहा तब कोई बात भी बुरी कैसे और क्यों लगे?'

'तो इसका तो यह अर्थ है कि मेरे साथ तुम्हारा विवाह हो गया है इसलिए तुमने मुझे अपना भगवान मान लिया है। तुम्हें मेरी ज़ात से प्रेम नहीं है। यदि मेरे स्थान में कोई और होता तो उसके साथ भी तुम ऐसा ही व्यवहार करतीं।'—मैंने उत्तर दिया।

उसने कहा—'ठीक ऐसा ही है। तुम्हारे स्थान पर मेरा कोई और पति होता तो वह भी मेरा पूज्यदेव होता। भगवान की खोज में, भवसागर से पार उतरने के उद्योग में मेरा पति मेरा एक साधन है। मन्दिर में जाकर मैंने पत्थर की मूर्ति का पूजन नहीं किया, घर में बैठकर अपने पति का पूजन किया। बस इतना ही मैं जानती हूँ, और इसी को अपना उद्देश्य मान कर मैंने अपने जीवन को ढाला है। परन्तु ऐसा मत समझो कि मुझे तुमसे प्रेम नहीं है, प्रेम अवश्य है, सब से प्रेम है। प्रेम तो जितना भी बढ़े कम है।' ऐसा वह कहती है, परन्तु मुझे उसके कहे पर विश्वास नहीं होता। वह प्रेम जो सबसे हो, मेरे पास उसका कोई मूल्य नहीं है। मैं तो यह चाहता हूँ कि मेरे प्रेम में कोई शरीक न हो। उसकी मुक्ति का साधन बनने में मुझे कोई आनन्द नहीं है। मैं उसका देवता भी बन कर नहीं रहना चाहता। मैं तो उसका सहचर, साथी प्रेमी और मित्र बन कर रहा चाहता हूँ। मुझे इस संसार की रहने वाली, गुण-दोषों से भरी हुई मानवी स्त्री चाहिए, मुझे देवी स्त्री की आवश्यकता नहीं है। मुक्ति के लिये तपस्या करनी हो तो उसके लिये गृहस्थ की कौन आवश्यकता है? जब तुलसीदास जी को भगवान से प्रेम हुआ

तो उन्होंने भगवान को अपनी स्त्री के रूप में तो नहीं देखा। जब कपिलवस्तु के राजपुत्र भगवान बुद्ध को मुक्ति की अभिलाषा हुई तो स्त्री-पुत्र को त्याग कर गृहस्थी छोड़ कर वे जङ्गलों में चले गये। शास्त्रों में कहीं भी किसी ऋषि-मुनि के सम्बन्ध में ऐसा नहीं लिखा है कि उन्होंने अपनी स्त्री को अपनी मुक्ति का साधन बनाया हो। तब हिन्दू धर्म्म ने स्त्री-पुरुष में अन्तर करके पुरुषों के साथ यह घोर अन्याय क्यों किया है? गृहस्थी और संन्यास साथ-साथ कैसे चल सकते हैं? फिर, मुमुक्षु के लिये तो चाहे चल भी सकें, जिसे मोक्ष की इच्छा नहीं है वह क्या करे? पति संसार में रह कर इसलोक का सांसारिक जीवन बिताना चाहे और पत्नी मोक्ष की खोज में रह कर उस लोक की तैयारी करती रहे, तो दोनों की कैसे बन सकती है? मोक्ष और दुनिया दोनों ही हाथ से जाते हैं सब मिट्टी में मिल जाता है, और मे पड़ती है सो अलग। इसलिये मैं तो समझता हूँ कि मेरी स्त्री स्वार्थिन है, मेरे प्रति उसका आचरण अन्याय-पूर्ण है। मेरे सुख को उसने मिट्टी में मिला दिया। उसको यदि केवल भगवान से ही प्रेम करना था और मोक्ष की इतनी चाहना थी, तो गृहस्थी छोड़ जङ्गलों में जाकर तपस्या करनी चाहिये थी। बन, पर्वत, कुटी, गुफा इसीलिये हैं। यह घर में रह कर घर को तपोवन बनाना किसने बताया? उसकी सब प्रशंसा करें, उसे त्यागिन, निस्वार्थिन कहें, मैं तो यह सब कहने को तैयार नहीं हूँ, मुझे तो अपने ही समान अपूर्ण स्त्री चाहिये थी। मैं देवी को लेकर क्या करूँ? देवियों के लिये तो देवता चाहिये सो मैं नहीं हूँ।

सजल-गान

[परमानन्द शुक्ल]

दो मत अपनी तरल हँसी यह
जिसमें खुलकर बह न सकूँ मैं
नहीं चाहिये सङ्गिनि, वह सुख
दुर्बल मन जो सह न सकूँ मैं!

आज व्यथा के चिर पतझर में
वन करील-सा खिलता है मन
काँटेही प्राणों के धन हैं
जिनसे प्रतिपल बिंधता जीवन।
वर दो, सुमुखि उपेक्षित रहकर
अपना यह दुख कह न सकूँ मैं।

सीपी के हिय की वह कितनी
प्रिय अतृप्ति सुन्दर होती है
अनजाने कुछ बूँद मिला यदि
आह वही बनता मोती है!
कितना अरे, बढ़ावा देती
छाया वह जो गह न सकूँ मैं।

देखो सघन अमावस की निशि
कितना प्रिय लगता सूनापन
जलन लिये जब तारक हँसते
कुछ कहने को पर, न कभी मन!
चाह यही बस इन तारों-सा
हुआ प्रात फिर रह न सकूँ मैं!

जापान का स्त्री और बाल-समाज

[श्री० विष्णुदत्त शुक्ल]

थोड़े से समय के लिए जाने वाला जापान-यात्री भी वहाँ के स्त्री-समाज के व्यवहार और उनकी सेवाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। छोटे-बड़े प्रत्येक कार्य में स्त्रियो का हाथ है। बाज़ारों में दूकानदारी करती हुई स्त्रियाँ मिलेंगी, बसों और ट्रामों में कण्डक्टर का काम करती हुई स्त्रियाँ मिलेंगी। दफ़्तरों और गद्दियों में क्लर्कों का काम करती हुई स्त्रियाँ मिलेंगी, लिफ़्टमैनों का काम करती हुई स्त्रियाँ मिलेंगी, कल-कारखानों में मज़दूरी करती हुई स्त्रियाँ मिलेंगी, रास्ता बताने के लिए 'गाइड' का काय करती हुई स्त्रियाँ मिलेंगी और न जाने क्या-क्या करती हुई स्त्रियाँ मिलेंगी। घर-गृहस्थी, व्यापार-व्यवसाय, समाज-साहित्य आदि सब क्षेत्रों में स्त्रियों का बड़ा ज़बर्दस्त हाथ है। यदि यह कहा जाय कि जापान की वर्तमान उन्नति में कम से कम ८० प्रतिशत हाथ स्त्रियों का है तो शायद अत्युक्ति न होगी। यह कह कर हम पुरुषों के श्रेय को न्यून करना नहीं चाहते। वास्तव में उन्नति के उपाय सोचने का श्रेय अधिकांश में पुरुषों को ही है, परन्तु उन विचारों को कार्यान्वित करने में स्त्रियाँ पुरुषों से बहुत आगे हैं। यदि स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा सोची गयी योजनाओं को कार्यान्वित करने में हाथ न बँटावें तो अकेले पुरुष इतनी उन्नति कदापि न कर सकें।

समाज में स्त्रियाँ क़ानूनन पुरुषों से निम्न श्रेणी की समझी जाती हैं। राजनैतिक अधिकार तो उन्हें दिये ही नहीं गये। फिर भी स्त्रियाँ पुरुषों की स्वामिनी हैं यह कहा जाय तो अनुचित न होगा। अपने परिवार में स्त्रियों का पूर्ण आधिपत्य है। परिवार का सब काम उन्हीं की इच्छा के अनुसार होता है। परिवार के कार्यों से तो पुरुषों का सरोकार ही नहीं होता। घर की सफ़ाई, रसोई-पानी का प्रबन्ध, लड़कों का लालन-पालन, घर के लिए आवश्यक वस्तुओं की ख़रीद-फरोख़्त सब काम स्त्रियों के हैं—इनमें पुरुषों का कोई हाथ नहीं रहता। यदि किसी बात में मत-भेद हो जाय तो, यद्यपि पुरुष समाज में श्रेष्ठ माना जाता है तथापि, घर के मामले में स्त्री की ही बात को मान्य समझा जायगा।

जापान की स्त्रियों में बड़ा आकर्षण है। उनके रूप में कोई विशेष लावण्य नहीं है परन्तु उनके व्यवहार में इतनी मधुरता है कि उनसे बातें करते समय उनकी कुरूपता लक्ष्य में आती ही नहीं। स्त्रियों से बात-चीत करना वैसे ही आकर्षक होता है फिर जापान की सुशिक्षित, शिष्टाचार परायण, विनयशील और सेवा-व्रती स्त्रियों से बात-चीत करने की तो बात ही क्या। घण्टों बातचीत करते रहिए जी न ऊबेगा। उनमें स्वयं तो प्रसन्नता होती ही है वे दूसरों को भी सदा प्रसन्न रखने की चेष्टा करती हैं। दुनिया की झञ्झटों से थके-माँदे परेशान होकर परिवार के लोगों के घर पहुँचते ही स्त्रियों के प्रेम-पूर्ण व्यवहार के कारण उनकी सारी परेशानी दूर हो जाती है। घर की सत्-गृहिणियों की तो बात ही क्या, होटलों में काम करने वाली स्त्रियाँ तक बाहर से थके-हारे आये हुए यात्रियों को प्रसन्न करने में बड़ी पटु होती हैं। बाहर की परेशानी होटल आते ही दूर हो जाती है। उनके चेहरे पर मुस्कराहट, उनके व्यवहार में प्रेम, उनके काम में सेवा की भावना, उनकी आँखों में शील, उनके मन में विनम्रता—सब कुछ इतनी आकर्षक मात्रा में मिलता है कि उनसे मिलकर मन मुग्ध हो जाता है।

उनका वाह्य आकर्षण भी कम नहीं है। जापानी ढङ्ग का चटकीला-भड़कीला "किमोनो" पहने हुए दूर से—इतनी दूर से जहाँ से उनके चेहरे की बारीकियाँ स्पष्ट न

होती हों, देखने पर वे इतनी आकर्षक लगती है जिसका ठिकाना नहीं। जापानी स्त्रियों में रङ्गों की परख बड़ी अच्छी मालूम होती है। ऐसे सुन्दर-सुन्दर रङ्ग के कपड़े वे अपने 'किमोनो' के लिए पसन्द करती है कि जिन्हें देखते ही बनता है। गठीले स्वस्थ शरीर पर इस प्रकार के रङ्ग-बिरङ्गे किमोनो अद्भुत शोभा पाते है। मालूम नहीं इस शोभा के कारण अथवा प्राचीनता के प्रेम के कारण उन्होंने अपनी पोशाक नहीं बदली। यद्यपि जापानी पुरुषों ने प्रायः शत प्रतिशत यूरोपियन ड्रेस अपना लिया है तथापि स्त्रियों में अब तक किमोनो का ही रिवाज है। कुछ स्त्रियों को छोड़ कर जिनकी संख्या बहुत कम है, अन्य सब स्त्रियाँ किमोनो ही पहनती हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने प्राचीन वेश की रक्षा की है।

उनके पहनावे में एक विचित्रता और है। वे कमर में विचित्र ढङ्ग से एक पट्टा-सा बाँधती हैं। सुन्दर रेशमी और ज़री के काम का चौड़ा-सा पट्टा जो कमर से लेकर छाती तक चौड़ा होता है वे बाँधती हैं। पेट पर एक छोटी-सी तकिया रखती हैं और पीठ पर भी वैसी ही एक तकिया रखती हैं। ये तकिया रखकर वे ऊपर से पट्टा लपेटती हैं। पीठ की तकिया पेट वाली से अधिक मोटी होती है और उसके ऊपर पट्टा बाँधने के बाद भी पट्टे के छोर (किनारे) लटकते हुए से छोड़ दिये जाते हैं। पट्टा खूब कस कर बाँधा जाता है। सारी पोशाक पहनने पर वैसे तो बड़ी आकर्षक मालूम होती है परन्तु इस पट्टे की वजह से पीठ पर एक कूबड़-सा निकल आता है। इस प्रकार पेट, पीठ कस लेने के सम्बन्ध में वहाँ के लोग कहते हैं कि इससे स्त्रियों की कमर मज़बूत रहती है और उनका पेट बढ़ने नहीं पाता। पहली बात तो राम जाने, परन्तु दूसरी बात सत्य अवश्य प्रतीत होती है।

जापानी स्त्रियाँ लड़कों को गोद में नहीं लेतीं, वे उन्हें पीठ पर लादे रहती हैं। पीठ पर जो पट्टा बँधा हुआ होता है उसके ऊपर लड़कों को बैठा कर एक कपड़े से उन्हें लपेट कर फेरी वालों के बोझ की तरह पीठ पर लादे रहती हैं। इस प्रकार वे लड़कों को घण्टों लिये रहती हैं और अपना सब काम किया करती हैं। इस पद्धति से यद्यपि यह सुविधा होती है कि उनके दोनों हाथ खुले रहते हैं जिनसे वे अपना सब काम करती रहती है तथापि लड़कों को बड़ी तकलीफ होती है। छोटे-छोटे बच्चों के पैर फैला कर पीठ के दोनों किनारों पर रखने से उनको अवश्य असुविधा होती होगी। साथ ही कपड़े से बँधे रहने के कारण साँस लेने में भी उन्हें कठिनाई होती होगी। फिर भी यह प्रथा प्रचार में है और स्वास्थ्य एवं शरीर-निर्माण के जानकार भी इसका विरोध करते हुए नहीं पाये जाते।

वहाँ स्त्रियों में पर्दा बिलकुल नहीं है। वे स्वतन्त्रता-पूर्वक भीतर-बाहर आ जा सकती है। चाहे जिसके साथ घूम-फिर सकती और बातचीत कर सकती हैं। उनके इस काम में सामाजिक रीति-रिवाज बाधक नहीं होते। इस सम्बन्ध में उन्हें उतनी ही आज़ादी है जितनी पाश्चात्य देशों की स्त्रियों को; फिर भी पाश्चात्य स्त्रियों की और इनकी तुलना नहीं हो सकती। पाश्चात्य स्त्रियों में लज्जा और सङ्कोच का एक प्रकार से अभाव-सा हो गया है जब कि जापानी स्त्रियों में शील, लज्जा, सङ्कोच यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है। इन गुणों के कारण जापानी स्त्रियों का आकर्षण पाश्चात्य स्त्रियों की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ जाता है।

जिस स्त्री-जाति में शिक्षा हो, स्वास्थ्य-सुधार की भावना हो, सफाई का ख़याल हो, परदा न हो और संयम के साथ विधवा-विवाह और तलाक भी रायज हों उसमें समाज-सुधार की बहुत थोड़ी गुञ्जाइश रह जाती है। फिर भी वहाँ पर एक बड़ी घृणित प्रथा प्रचलित है। पिता के ऋण के परिशोध के लिए वहाँ पर कन्याओं को भी कष्ट उठाना पड़ता है। कहते हैं, जिस पर ऋण होता है वह पिता ऋण-दाता को अपनी कन्या दे देता है। यह कन्या उस समय तक ऋण-दाता की सेवा में रहती है जब तक उसका ऋण चुक नहीं जाता (अधिकांश में यह अवधि पहिले से ही तय कर ली जाती है)। प्रत्यक्षतः कन्याएँ दी जाती हैं ऋण-दाता की सम्मानित सेवाओं के लिए ही, परन्तु उनसे घृणित कार्य भी लिए जाते हैं और वे न जाने किस धार्मिक भावना के ख़याल से उस प्रकार के घृणित व्यवहार का शिकार भी बन

जाती हैं। इसी प्रकार की एक प्रथा और भी प्रचलित है। वह यह कि कुटुम्ब का कर्ज़ चुकाने के लिए कन्याएँ चाय-घर, नाच घर और शराबखानों में काम कर लेती हैं जहाँ का वातावरण भी अधिकांश में दूषित होता है। कर्ज़ के सम्बन्ध में वहाँ पर न जाने कैसी धारणा है कि इस प्रकार के गर्हित कार्य करके भी उसका चुकाना श्रेयस्कर माना जाता है। इस प्रकार के कार्यों में अनेक युवतियाँ लगी हुई हैं। ये सब युवतियाँ अविवाहित ही होती हैं। उस अवस्था में जब किसी अनुचित सम्बन्ध से उनके गर्भ रह जाता है तब अधिकांश में तो कोशिश यह की जाती है कि जिस पुरुष से उनका सम्बन्ध हो गया है उन्हीं के साथ उनका विवाह कर दिया जाय। परन्तु यदि यह सम्भव न हुआ तो समाज में इस प्रकार गर्भ-धारण करने वाली कन्या का अनादर होता है और उस अनादर से अपनी रक्षा करने के लिए उस बेचारी को आत्मघात तक कर लेना पड़ता है। यह अवस्था कितनी भयङ्कर, कितनी घृणित और कितनी निन्दनीय है इस पर कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं। पहिले समाज उन्हें उस प्रकार का गर्हित जीवन बिताने के लिए बाध्य करता है या सुविधा और प्रोत्साहन देता है और फिर जब वे विपथ में पड़ जाती हैं तब उनका अनादर करता है! जापान जैसे देश में भी, जहाँ शिक्षा की अवस्था इतनी समुन्नत है, जहाँ विचारवानों की कमी नहीं है, इस प्रकार के अत्याचार स्त्री-समाज पर होते हैं!

ऊपर जिस अवस्था का वर्णन किया गया है उस से यह आशङ्का होना स्वाभाविक है कि वहाँ की स्त्रियों का चरित्र दोषपूर्ण है। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। अविवाहित अवस्था में इस प्रकार का जीवन बिता करके भी विवाह के बाद उनमें इतनी उच्च कोटि की पति-परायणता और सतीत्व की भावना आ जाती है जो आदर और सम्मान की वस्तु है। जो लोग यह समझते हैं कि एक बार पथच्युत हो जाने के बाद फिर स्त्री का जीवन कभी नहीं सुधर सकता उनके लिए जापान की इन कन्याओं का उदाहरण आश्चर्यजनक और आँखें खोल देने वाला है।

ऊपर कहा जा चुका है कि जापान में स्त्रियों में पर्दा नहीं है और उन्हें घूमने-फिरने की पूरी आज़ादी है। फिर भी उनका कार्य-क्षेत्र बहुत कुछ घर के भीतर रखा गया है, सार्वजनिक नहीं। सड़कों पर आते-जाते जापानी दम्पति साथ-साथ बहुत कम मिलेंगे। स्त्रियाँ अलग और पुरुष अलग घूमें-फिरेंगे; परन्तु साथ-साथ नहीं। इसी प्रकार सभाओं, पार्टियों तथा अन्य सार्वजनिक ढङ्ग के आयोजनों में भी स्त्रियों का सर्वथा अभाव देखने को मिलेगा। इन स्थानों में यदि स्त्रियाँ दिखलायी पड़ेंगी तो सेविका के रूप में; सभासद के रूप में नहीं। सार्वजनिक कार्यों के लिए मानो स्त्रियों की योग्यता स्वीकार ही नहीं की जाती। राजनैतिक क्षेत्र में तो यह बात और भी अधिक सत्य है। जापान की स्त्रियों को कोई राजनैतिक अधिकार नहीं है। पार्लियामेण्ट, लोकलबोर्ड आदि की सदस्य बनना या मजिस्ट्रेटी आदि प्राप्त करना तो दूर की बात है, उन्हें कहीं वोट देने तक का अधिकार नहीं मिला। देश के शासन में स्त्रियों का कोई हाथ नहीं। इस जागृति के युग में स्त्रियों की इतनी दयनीय उपेक्षा और वह भी जापान जैसे सुशिक्षित और समुन्नत देश में वस्तुतः खेद-प्रद है। और आश्चर्य तो यह है कि स्त्रियाँ स्वयं इस अवस्था से असन्तुष्ट नहीं मालूम होतीं। यह अवस्था आज से नहीं, न जाने कब से चली आ रही है फिर भी वहाँ पर स्त्रियों की एक भी ऐसी संस्था नहीं है जो इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का आन्दोलन करती हो और स्त्रियों के अधिकारों के लिए लड़ती हो। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि अपनी घरेलू स्थिति में स्त्रियों का जो प्राधान्य है उससे वे सार्वजनिक स्थिति की न्यूनताओं का अनुभव नहीं करतीं और दूसरे यह कि उनमें लड़ाई-झगड़ा करने की आदत नहीं होती। शायद इसीलिए सब काम शान्ति के साथ चलता जा रहा है। अस्तु।

जापान का बाल-समुदाय एक विचित्र ढङ्ग का बाल समुदाय है। उसमें सफ़ाई है, स्वास्थ्य है, अनुशासन है, प्रसन्नता है, स्फूर्ति है। वह चञ्चल है, परन्तु उसके चाञ्चल्य से अत्यन्त निकट रह कर भी किसी को कोई हानि न पहुँचे इतना अनुशासन भी उसमें है। वह

स्वतंत्र और स्वच्छंद है फिर भी समाज के शिष्टाचार और सभ्यता में उसकी स्वतंत्रता और स्वच्छंदता बाधक हो जाय इतनी निरङ्कुशता भी उसमें नहीं है। खुलकर खेलने की उसे पूर्ण स्वतंत्रता है। साथ ही सभ्य समाज के रीति-रिवाजों और संस्कारों की ऐसी गहरी छाप भी उस पर लगी हुई है कि वह अनियन्त्रित रूप से उच्छृं-खलता की ओर बहक नहीं सकता। इस प्रकार एक सँकरी गली में दोनों ओर के खतरे बचाते हुए, चतुर खिलाड़ी की भाँति वहाँ के बालक निर्द्वन्द होकर उछलते-कूदते रहते हैं। उस प्रकार के जीवन का उन्हें अनजान में ही, अभ्यास करा दिया जाता है। घर में माता-पिता, विद्या-लयों में शिक्षक और बाहर समाज के समस्त नर-नारी—सब के सब ऐसा शिक्षा-पूर्ण उदाहरण सामने उपस्थिति करते हैं कि वह जान भी नहीं पाता कि उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लग रहा है—अतः वह अपनी स्वाभाविक मस्ती के साथ खेलता भी रहता है और साथ ही साथ समाज के नियमों के प्रतिबन्ध का अभ्यासी भी बनता जाता है।

गन्दे कपड़े पहने, देह में मैल-मिट्टी लगाये, तथा नाक-थूक से मुँह पोते हुए भद्दे लड़के वहाँ ढूँढ़ने पर भी न मिलेंगे। उनके घर वाले उन्हें साफ़ रखने की कोशिश करते हैं और वे स्वयं भी अपने घर वालों से ही साफ़ रहना सीखते हैं। इसके अतिरिक्त जापानी बालक जितना अधिक अपनी माँ के पास रहता है उतने अधिक समय तक अन्य किसी देश का बालक शायद ही रहता हो। जापानी माता बँदरिया की तरह अपने बच्चे को पीठ पर लादे ही लादे घूमा करती है। इसलिए उनमें माता के सब गुण अनायास आ जाते हैं। माता की गोद से अलग होते-होते वे समाज की अनेक रीति-रिवाजों से, अनजान में ही परिचित हो जाते हैं और उसके बाद विद्यालयों में भेज दिये जाते हैं जहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध रहता है। वहाँ जाकर वे पूर्ण शिक्षा प्राप्त करते हैं।

उनमें काम करने की आदत भी पहिले ही से पड़ जाती है। जो लड़के काम करने योग्य हो जाते हैं उनको किसी न किसी काम में लगाये रहने का उनके माता-पिता यथेष्ट ध्यान रखते हैं। घर की सफ़ाई आदि जैसे कार्यों तक में वहाँ के लड़के माता-पिता या अभिभावकों की मदद करते हैं। जब इस प्रकार के कार्यों से फ़ुरसत रहती है तब घर के उद्योग-धन्धों से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों में घर वालों का हाथ बटाते हैं। इन सब कार्यों में उन्हें अपने बड़ों का सहारा बराबर मिलता रहता है। इस प्रकार के अभ्यास से उनमें परिश्रम-शीलता और कार्य-पटुता—दोनों आते है जो आगे चलकर जीवन में उनके सहायक होते हैं। इस परिश्रम-शीलता और कार्य-पटुता की शिक्षा उन्हें विद्यालयों में भी बराबर मिलती रहती है। विद्यालयों की दर्शनीय वस्तुओं के देखने आदि की योजना से बालकों का मनोरञ्जन, ज्ञान-वर्धन, स्वास्थ्य-सुधार, आदि जो कुछ होता है वह तो होता ही है, उस के साथ ही उनमें परिश्रम-शीलता, कष्ट-सहिष्णुता, अनुशासन-प्रियता भी आती है।

अनुशासन पालन की बात तो बहुत अधिक मात्रा में उनमें मिलती है। जिस समय बालकों की मण्डलियाँ यात्रा आदि के लिए निकलती हैं उस समय उन्हें देखिए कितनी संयम-शीलता, कितनी मुस्तैदी, कितनी नियम-बद्धता के साथ वे चलते हैं। अपने संरक्षक का आदेश पालन करने में तथा उनकी बातों को ध्यान पूर्वक सुनने में वे सदा दत्त-चित रहते हैं। रोना-चिल्लाना तो वहाँ के लड़के मानों जानते ही नहीं हैं। मेलों-मजमों में जहाँ सैकड़ों बच्चे हों, वहाँ भी रोते-चिल्लाते या हो-हल्ला मचाते हुए लड़के नहीं मिलेंगे। इनकी शाइस्तगी पर कभी-कभी तो आश्चर्य होने लगता है।

लड़कों और लड़कियों के देखने के अनेक अवसर मुझे मिले। समय-समय पर मैं उनसे मिलने तथा बातचीत करने के प्रयत्न भी करता था। भाषा न जानने के कारण सयाने आदमियों से भी जो विचार-विनिमय न कर सकता हो वह लड़कों के साथ बातचीत तो क्या कर सकता, परन्तु उनको खिलाने या उनके साथ खेलने का कुछ आनन्द अवश्य मिल जाया करता था। इस प्रयत्न में मैंने देखा कि जब किसी लड़के की ओर बढ़ूँ और उसे बुलाऊँ तो वह सङ्कोच में पड़ जाता और भागने की कोशिश करता और बहुत देर बाद इतना ढाढ़स उसमें आ पाता

था कि नज़दीक आये। क़रीब-क़रीब यही हाल लड़कियों का भी था। फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से लड़कियाँ अधिक साहसी मालूम हुईं। वैसे देखने पर भी जितनी तेज़ी लड़कियों के चेहरों पर दिखलायी पड़ती थी उतनी लड़कों के चेहरों पर न थी। इन लड़कों से मिल कर बात करने में जिसे वे समझते न हों, बड़ा मज़ा आता था। गोरा-गोरा बदन, गुलाबी गाल, मोटा-मोटा शरीर, प्रसन्न चित्त, साफ़-सुथरे कपड़े पहने जापान के ये खिलौने जापान की अपूर्व निधि हैं।

वास्तव में जापान के स्त्री-समाज और बाल-समाज दोनों में अपूर्व आकर्षण और एक विचित्र प्रकार की तेजस्विता है। जापान जाने वाला कोई व्यक्ति इनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।*

* पिछली जापान-यात्रा के अवसर पर जिन कतिपय बातों का अनुभव हुआ था, उन्हीं के आधार पर ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं।

—लेखक

मधुर-बेला

[श्री० ईश्वरलाल शर्मा 'रत्नाकर']

कोकिल ने पगली सी होकर स्नेहगान गाया कैसा ?।
अलसाई सी अरुण उषा में मधुर राग छाया कैसा ?

मेरी हृदय-विपञ्ची के क्यों कम्पित-कम्पित तार हुए ?
यह क्या, यह क्या, आज शूल भी सरस सुमन सुकुमार हुए !

"वह आता है, वह आता" ध्वनियाँ अन्तर से आती हैं,
पुलकित तन अलसित पलकें आँखें जल भर-भर लाती हैं !

मैं उन्मुक्त बनूँगी—जीवन-साध आज पूरी होगी,
अक्षय बन्धन में बाँधेगा आ मुझको वह रसयोगी !

मेरे गीत ! सजग हो जाओ पहन कल्पना के परिधान,
आज आ रहे हैं चिर निष्ठुर मेरे प्रिय—मेरे भगवान !!



पञ्जाब की जाग्रत महिलाएँ

आज या किसी आने वाले कल, जब भी भारतीय महिला-समाज के जागरण का इतिहास लिखा जायगा, मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि पञ्जाब-प्रांत का नाम सबसे पहले आयेगा। बाज़ारों में, मेलों और शादियों में शिक्षिता और सुन्दर पोशाक धारण किये पञ्जाबी बहनों को देखकर मेरा हृदय आनन्द से उछल पड़ता है। पर पञ्जाब की बहनों की जाग्रति केवल उनकी शिक्षा और पोशाक तक ही सीमित नहीं है; वह उनके जीवन में, उनके घर में, उनके प्रांत में बड़ी गहराई के साथ व्याप्त है। आज मैं संक्षेप में इसी विषय पर अपने विचार प्रकट करना चाहता हूँ।

पञ्जाब ही सर्व-प्रथम क्यों ?

ऊपर मैं लिख आया हूँ कि भारतीय महिला-समाज के जागरण में पञ्जाब का स्थान सर्वप्रथम है। पर शायद इतना कह भर देने से बहनों को शान्ति न होगी। उन्हें इसका कारण जानने की भी उत्सुकता होगी। भारत के विभिन्न प्रांतों में नारी को ऊपर न उठने देने में मुख्य कठिनाइयाँ रही हैं, परम्परागत रूढ़िवाद और सामाजिक बन्धन। पर सौभाग्य से पञ्जाब में रूढ़िवाद और सामाजिक बन्धनों को अपनी जड़ गहराई तक पहुँचाने का अवसर नहीं मिला। इसका एक विशेष कारण है—जो भारत के किसी भी अन्य प्रांत के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकता—और वह यह कि भारत पर उत्तर-पश्चिम से हुई चढ़ाइयों ने पञ्जाब को सदा आबादी और बरबादी के सङ्घर्ष में जकड़े रक्खा। आत्म-रक्षा और पेट की चिन्ता ने उसे कभी रूढ़ियों और सामाजिक बन्धनों की ओर अधिक ध्यान देने ही नहीं दिया। दूसरा यवन-आक्रमणकारियों का बहुत-सा भाग पञ्जाब के पड़ोस में बस गया और प्रत्यक्ष या परोक्ष, इच्छा से या अनिच्छा से, पञ्जाब को उससे रोटी-बेटी का व्यवहार करना पड़ा। आक्रमणों का आतङ्क तो कालान्तर में शान्त हो गया, पर वह अपनी अमिट छाप पञ्जाब पर छोड़ गया। अपने नये पड़ोसियों के सम्पर्क और जीवन-संग्राम की कष्ट-साध्यता ने पञ्जाब के सामाजिक और धार्मिक बन्धनों को ढीला कर दिया। वह समय तो बीत गया, पर आज भी पञ्जाब में सामाजिक और धार्मिक बन्धन भारत के अन्य प्रान्तों की अपेक्षाकृत अधिक ढीले, लचीले और शिथिल हैं।

पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव

यवन-काल के बाद भारत में अङ्गरेज़ आये। यह लोग पूर्ववती आक्रमणकारियों की भाँति उत्तर-पश्चिम से न आकर पश्चिम-दक्षिण से आये, पर इनसे पूर्व इनकी हवा पञ्जाब में पहुँच गई। यवन-राज्य के पतन और अङ्गरेज़ी-शासन की स्थापना से पूर्व पञ्जाब में सिक्खों का प्रभुत्व रहा। उनका कोई विशेष और स्थायी प्रभाव नहीं हुआ, क्योंकि उन्होंने अपना एक पृथक मत बना लिया। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके शासन ने पञ्जाब के धार्मिक और सामाजिक बन्धनों को ढीला करने में कुछ न कुछ सहायता ही पहुँचाई।

पर आधुनिक पञ्जाब के सामाजिक जीवन पर अगर सबसे अधिक असर किसी का हुआ है तो इसी पश्चिमी सभ्यता का। धार्मिक और सामाजिक बन्धनों की शिथिलता के कारण पञ्जाब ने पाश्चात्य सभ्यता को जिस शीघ्रता और सहूलियत के साथ अपना लिया; भारत के

किसी दूसरे प्रान्त ने नहीं। कहीं-कहीं तो पाश्चात्य सभ्यता का रङ्ग इतना गहरा हो गया है कि विशुद्ध भारतीयता के प्रेमी चौंक भी उठे हैं। पर यह सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि पाश्चात्य-सभ्यता में सब कुछ ऐसा नहीं है जिसे अपनाकर भारतीयता के मोह की रक्षा की जासके।

शिक्षा का बढ़ता हुआ प्रचार

पञ्जाब की बहनों को घर से बाहर लाने और समाज में आगे बढ़ाने का एकमात्र नहीं तो सब से अधिक श्रेय शिक्षा को है। पञ्जाब के हर नगर, क़स्बे और बड़े गाँव में कन्याओं की शिक्षा का प्रबन्ध है। पञ्जाब-सरकार ने स्वतः स्त्री-शिक्षा के प्रचार की ओर इतना ध्यान नहीं दिया, जितना कि महिलाओं ने चाहा और दिलवाया। आज पञ्जाब के साधारण से साधारण परिवार में भी कोई ऐसी कन्या न मिलेगी, जो निरक्षर हो। मैंने तो देखा है कि अब लड़कों की पढ़ाई पर उतना ध्यान नहीं दिया जा रहा, जितना कि लड़कियों को। यही कारण है कि आज पञ्जाब में स्कूलों की संख्या असाधारण गति से बढ़ रही है। कॉलेजों में पढ़ने वाली बहनों की संख्या भी कम नहीं है, और कई बार उन्होंने अपनी प्रतिभा का ऐसा परिचय दिया कि पुरुष भी दङ्ग रह गये।

पर यह न समझना चाहिये कि पञ्जाब की बहनों की शिक्षा केवल पुस्तकीय-ज्ञान तक ही सीमित है। बहुत सी बहनों ने डॉक्टरी, नर्स, अध्यापन, सिलाई-बुनाई और दन्दाँसाज़ी में विशेष योग्यता प्राप्त कर अपनी प्रतिभा का ख़ासा अच्छा परिचय दिया है। कई बहनें विदेश हो आई हैं। अब तो प्रति वर्ष कुछ न कुछ बहनें अध्यापन या डॉक्टरी की विशेष योग्यता प्राप्त करने विलायत जाती हैं। अभी थोड़े ही दिन हुए श्रीमती दत्त की अध्यक्षता में पञ्जाबी युवतियों का एक दल यूरोप की सैर करके लौटा है। मैं तो समझता हूँ कि इन बहनों का भ्रमण अन्य ज्ञान-पिपासु बहनों को भी विदेश में जाकर ज्ञानार्जन करने को उत्सुक बनायेगा और पञ्जाब के स्त्री-समाज में शिक्षा की लहर और भी प्रबलता के साथ आगे बढ़ेगी।

सामाजिक उन्नति और विकास

शिक्षा ने पञ्जाब की बहनों के जीवन को आमूल-चूल बदल दिया। पर्दा तो वे एक युग हुआ फाड़ चुकी थीं, अब जो थोड़ा-बहुत लोग-दिखाऊ पाखण्ड और झिझक थी, उसे भी बड़े साहस के साथ उन्होंने ठुकरा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि आज सामाजिक जीवन में यदि स्त्रियों का पलड़ा पुरुषों से भारी नहीं है तो हल्का भी नहीं है। वे समाज के हर क्षेत्र में पुरुष के समान भाग लेती हैं। सत्कार्य में उसे सहयोग देती हैं और अपनी इच्छा और अधिकारों के प्रतिकूल होने वाली जात का निर्भीकता और दृढ़ता से विरोध करती हैं। शिक्षित महिला-समाज में पुरुषों के अत्याचार और ज़्यादतियाँ एक प्रकार से अतीत की गाथाएँ हो गई हैं। बचपन की शादियाँ अपने आप उठ गई हैं, पुराने ढोंग-धतूरे लुप्त हो गये हैं, धर्म और जाति-पाँति की विडंबना मिट-सी गई है। अधिकांश विवाह जाति-पाँति तोड़ कर और प्रायः वर-वधू की सहमति से होते हैं। इसका एकमात्र श्रेय पञ्जाब की बहनों को है, जिन्होंने कि पुरुष का हृदय और समाज का कलेवर ही बदल दिया है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि पञ्जाब की बहनों ने पुरुषों पर विजय पाई है।

मुस्लिम बहनें पिछड़ी हैं!

ऊपर मैं जो कुछ कह आया हूँ वह अधिकांशतः हिन्दू या सिक्ख बहनों के सम्बन्ध में ही लागू होता है। दुर्भाग्यवश पञ्जाब की मुस्लिम बहनें एक प्रकार से इस नारी-जागरण के युग का अपवाद बनी हुई हैं। उनमें से साधारण घरानों की बहनें तो प्रायः शिक्षा से दूर ही रहती या रखी जाती हैं। जो कुछ पढ़ती हैं, तो वे कॉलेज तक बुरक़ा नहीं छोड़तीं और फिर शिक्षा समाप्त करने के बाद बुरक़ा उनके जीवन के साथ ही छूटता है। अभी पिछले दिनों पञ्जाब-असेम्बली की मुस्लिम सदस्याएँ बुरक़े में ही एसेम्बली में आईं और बुरक़े में से ही भाषण दिये! मैं तो समझ ही नहीं सका कि पढ़-लिखकर भी हमारी यह बहनें बुरक़े का मोह क्यों और कैसे नहीं त्याग सकीं? यही कारण है कि आज पञ्जाब के

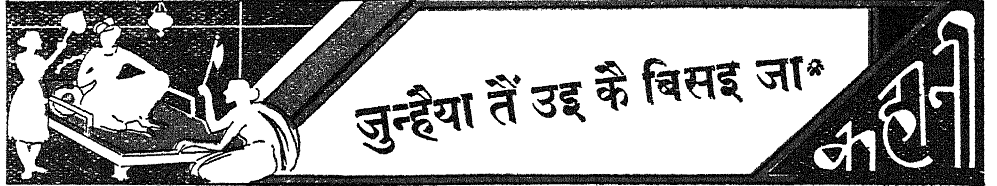
सार्वजनिक जीवन में केवल पुरुषों का प्राधान्य है और मुसलमानों में स्त्री-शिक्षा हिन्दुओं और सिखों की अपेक्षा शायद दशांश भी नहीं है।

कुछ मुस्लिम महिलाएँ भी ऐसी हैं कि जिन्होंने पर्दे को ठुकरा दिया है और जाति के मुल्ला-मौलवियों के शोरगुल का ख़याल न कर आगे बढ़ रही हैं। सर अब्दुलक़ादिर की धर्मपत्नी लेडी अब्दुलक़ादिर शायद इनमें प्रमुख हैं। अपने व्यवहार और प्रतिभा से उन्होंने न केवल पञ्जाब या भारत में बल्कि विदेशों में भी ख्याति प्राप्त की है। मैं तो कहूँगा कि जब तुर्की, मिस्र, अरब, ईरान, ईराक, अल्बानिया आदि की मुस्लिम महिलाओं ने पर्दा त्याग दिया और आज सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में आगे बढ़ रही हैं, तो पञ्जाब की भोली बहनें ग़ुलामी के इस चोले को उतार फेंकने में विलम्ब क्यों कर रही हैं? क्या उन्हें प्रकाश और स्वतन्त्रता प्रिय नहीं है?

फ़ैशन-परस्ती का रोग

मेरा यह लेख अधूरा ही समझा जायगा यदि मैं पञ्जाब में तीव्र गति से फैलने वाली एक संक्रामक महामारी का ज़िक्र न करूँ। वह महामारी है—'फ़ैशन परस्ती'। ख़ुशबूदार तेल, पाउडर, क्रीम, स्नो, सेंट, लिपस्टिक आदि का प्रचार बेहद बढ़ रहा है। कपड़ों और जूतों का फ़ैशन तो इतना बढ़ रहा है कि वर्ष में शायद दो-एक डिज़ाइन नये आविष्कार किये जाते होंगे। विवाह उत्सव और मेलों आदि को जाने दीजिये, आमतौर पर बाज़ारों में से गुज़रने और प्रातः सायं वायु-सेवन को जाने वाली महिलाएँ ऐसे चटकीले-भड़कीले और बारीक़ कपड़े पहनती हैं कि जिससे उनकी 'लाज ढँकने' की मर्यादा का पालन की अपेक्षा उल्लङ्घन ही अधिक होता है। देश की दरिद्रता को ध्यान में रखते हुए यदि पञ्जाबी बहनें फ़ैशन-परस्ती को कम कर बङ्गाल और गुजरात की भाँति सादगी को अपना सकें, तो शायद उनसे प्रान्त और देश को विशेष लाभ होगा। किसी अंश तक कुछ पञ्जाबी बहनों ने पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करते हुए कई ऐसी बातों को भी अपनाना शुरू किया है, जो शायद भारतीय नारी के लिए शोभा और गौरव का कारण नहीं हैं। इस अप्रिय प्रसङ्ग को मैं अधिक न बढ़ाकर सिर्फ़ यही कहूँगा कि पञ्जाब की जाग्रत महिलाएँ इस फ़ैशन-परस्ती के कलङ्क को धो बहावें।





[श्रीमती वृजेशकुमारी लाल जी]

उजेले पखवारे की नवमी को बारह बजे वह उठ बैठी। एकदम श्वेत साड़ी पहिने उसका दुबला-पतला सा शरीर कुछ लम्बा दिखाई दे रहा था—काँच की गिलसिया में एक द्रावक पदार्थ चमका उसने...। पास ही खाट पर कोई चीखा।

'अम्माँ।'

उसके हाथ की गिलसिया गिर पड़ी!

'शान्तिः शान्तिः।'

उसका काँपता गला जैसे सबको शान्त करने के लिए अनुरोध करके रो पड़ा हो।

'बेटा'—वह खाट के समीप गई।

'बेटा।'

उसने बहुत धीरे अपने उच्छ्वास को रोकते हुए फिर पुकारा। उसका गाल बहुत समीप बच्चे की श्वासों का अनुभव कर रहा था। उसके गाल पर अपना गाल रखते हुए उसने पूछा।—'बाबा तुम रोते हो?'

उसके 'बेटे' ने जैसे कुछ सुना नहीं—प्रलाप में वह बक रहा था—'अम्मा दादा मारते हैं।'

बड़े प्यार से उसने फूली आँखों से बहते हुए उन आँसुओं को चूमा। उनको बटोर कर कहीं वह चुरा-छिपा रख पाती। भावुक आँखों से उसने ऊपर-नीचे, चारों ओर देखा, उजेरे पखवारे की नवमी की जुन्हैया जुगजुगा रही थी।

बच्चे के गरम गाल पर अपना ठण्डा गाल फिर रख वह झपकी लेने लगी। वह देख रही थी। उसका बच्चा पड़ोस के बच्चों के सङ्ग लुका-छिपी खेल रहा था। उसने चुपके से झाँक कर देखा था, उसका बच्चा खेल रहा था। वह काम करने चली गई। इसके बहुत देर बाद जब वह अपनी नई शादी की सुखद बातों को अपनी सखी से कह रही थी, तभी सुनीता उसकी छोटी बहिन ने आकर कहा था—'दीदी बाबा तो कमरा बन्द करे है, खोलता भी नहीं न बोलता ही है।' तभी वह भागी, 'वे' भी दौड़े। न जाने क्या हुआ होगा उसके लाल को, सोच कर उसकी छाती काँप गई थी। तभी लोगों के तानों की परवाह न करके वह दौड़ी।

'बाबा दरवाज़ा खोल दे।'

उसने बहुत पुकारा, पर वह बोला नहीं। इसके बाद दरवाज़ा तोड़ डाला गया था। और सबों ने अन्दर जा कर देखा, वह खड़ा हुआ रो रहा था। उन्होंने कस-कस के उसे दो थप्पड़ मारे थे—'बोलता क्यों नहीं था रे?'

यही उनका प्रश्न था, जिसका उत्तर सिसकता बच्चा दे नहीं पा रहा था, और तभी हया और शरम को घोल कर पी जाने के बाद उसने 'उनका' हाथ पकड़ कर कहा था।

'मत मारो।'

उसका सारा गुस्सा उमड़-घुमड़ कर जैसे चिल्ला पड़ा हो—'मत मारो।'

कदाचित् वे भूल गए थे कि उसकी माँ नहीं थी।

थर-थर काँपती हुई 'वह' उस ६ साल के बच्चे को अपनी छाती में छिपा कर ले आई थी। 'ओहो! बड़ा प्यार है।' लोगों ने व्यङ्ग भी किया था।

उसी के बाद से वह बीमार पड़ा था। उसे बुखार था। उसके पूछने पर कि उसने दरवाज़ा खटखटाने पर जवाब क्यों नहीं दिया—बाबा ने बिलख-बिलख क

* चाँदनी तू, उदित होकर अस्त हो जा।

—लेखिका

रोते हुए बताया था—कि उसे पैजामे में पेशाब हो गई थी। कारण सुनने के बाद वह उसे गुदगुदा कर कितनी ज़ोर से हँसी थी ..।

झपकी में विमाता मुस्कराई।

'अम्माँ।' बच्चे ने पुकारा। वह एकाएक हड़बड़ा कर उठ बैठी।

'क्या है बेटा?'

'पानी।'

वह उठी, उसने पानी पिलाया। सब सो रहे थे, पर उसका लाल अङ्गारे सी जलती आँखों को मींजते हुए तड़फड़ा रहा था।

'अम्माँ'—उसने पुकारा।

'हाँ बेटा...।'

'वहाँ क्या है?'—आकाश की ओर उसने उँगली उठा कर पूछा।

'वहाँ?'—उसने अलक्षित दृष्टि से देख कर पूछा—'वहाँ?'

'हाँ अम्माँ—वहाँ।'

'वहाँ स्वर्ग है।' उसने जल्दी से कहा। उसका दिल धड़क रहा था।

'हाँ, दादा भी यही कहते थे। जब तुम ग़ुस्सा हो कर चली गई थीं तो मैंने उनसे पूछा था कि अम्माँ कहाँ है? तो उन्होंने कहा 'स्वर्ग में।' मैंने पूछा 'स्वर्ग कहाँ है?' तो उन्होंने कहा—'आकाश में।' मैं ख़ूब रोता था अम्मा, तुम भी रोई थीं तब? इतने दिनों तक तुम्हें मेरी याद नहीं आई?'

'आती थी बेटा।' उसकी कोरों में आँसू छल-छल छलक रहे थे...।

'और रोती भी थीं?'

'हाँ बेटा...बहुत।'

'पहले तो तुम काली थीं अम्मा'..... उसने विमाता के हाथ को अपने क्षीण हाथों से पकड़ कर कहा। 'अब गोरी कैसे हो गईं?'

'स्वर्ग से लौट कर बेटा। अब सो जाओ।'

'सो जाऊँ अम्मा?'

'हाँ बेटा।' वह थपथपा कर उसे सुलाने लगी। उसने फिर अपना गाल उसके गाल पर रक्खा और धीरे से गाया।

'दीन दुखी जन की पुकार पर
जो नित क़दम बढ़ाता है...'

उसकी आँखें थोड़ी झँपीं—वह कुछ झूमीं—फिर सो गया। उसके ओंठ हिल रहे थे। साँस कुछ गरम सी थी...वह मुस्करा रहा था।

* * *

टन्—एक बजा।

विमाता बैठी थी...वह बच्चे को निहार रही थी। उसने देखा, उसके बच्चे का मुस्कराता चेहरा कुछ सिकुड़ा, फिर ओंठ हिले और हँसी ग़ायब हो गई। वह चुप था, पर उसके आँसू बह रहे थे। अन्तर्द्वन्द के भाव उसके मुख पर स्पष्ट थे। मालूम देता था कि वह कुछ कहना चाहता है, पर कह नहीं पता।

विमाता के उठते-गिरते वक्षस्थल पर का आँचल आँसुओं से भीग उठा। उसने बच्चे के सिर पर हाथ रक्खा, जैसे उसके डर को एकदम भगा देगी।

माथा कुछ ठण्डा था, पसीने की बूँदें झलमला रही थीं। उसने देखा, बुख़ार तेज़ी से उतर रहा है। वह उठी, उसने बच्चे को फूल की तरह उठा लिया।

उसका आँचल नीचे गिर पड़ा। बेसुध सी वह पूजा-गृह की ओर चली। उसने वहीं उसे लिटा दिया। बुद्ध की तस्वीर को उसने बच्चे के माथे पर छुवाया। उसने अनुभव किया, जो छाया उसका पीछा कर रही थी, वह दरवाज़े पर खड़ी है, पर अन्दर नहीं आ पाती है। उसने धीरे-धीरे गाया।

'सखे मेरे बन्धन मत खोल......'

बच्चे ने आँखें खोलीं—

'अम्माँ!'—उसने पुकारा।

उसकी तन्मयता टूटी।

'बेटा।'

'अभी मुझे बड़ा डर लग रहा था।'

'कैसा डर बेटा?'

उसने कहने के लिये मुँह हिलाया, पर आवाज़ नहीं निकली। विवशता के आँसू टपक रहे थे—टप—टप। बाहर नवमी की जुन्हैया जुगजुगा रही थी।

'डर काहे का बेटा, मैं तो हूँ।'

'हाँ माँ, तुम तो हो। अच्छा अम्माँ मैं छोटा था तो क्या करता था?' तारम्य को तोड़ते हुए उसने एकाएक कहा। अपने बच्चे को बहलाने के लिए उसने कई घटनाएँ गढ़ रक्खी थीं। उसके रूठ जाने पर वह उन्हें कह कर उसे बहलाती थी, उसे याद आया।

'तुम?'—हड़बड़ा कर वह बोली।

'मैं जब कहती कि 'रोते नहीं' तब तुम सिर हिला कर कहते थे 'लोते एँ।'

बच्चा कुछ हँसा।

'छोटा था तब मैं कितना बड़ा था?'

'इतने'—उसने अपना बित्ता दिखाया।

'इतना?'—बच्चे ने अपने छोटे हाँथों की छोटी हथेली को भरसक चौड़ा करके कहा!

'हाँ बेटा।'

'और अम्मा पारसाल मैंने क्या किया था?'

'सत्तू मुझसे माँग ले गया था और बम्बे के नीचे तूने उसे ख़ूब धोला......।'

'अम्मा दर्द है।'—एकाएक वह चिल्लाया।

'कहाँ बेटा?'

'यहाँ-यहाँ।' उसने चारों ओर हाथ फेरा।

भयभीत हो विमाता ने देखा, छाया कुछ हिली।

'सुनीता मौसी को बुला दो अम्मा।'

बच्चे का गला घर्र-घर्र कर रहा था। उसने डर कर एक बार छाया की तरफ़ देखा, एक बार बच्चे की ओर।

दूर घण्टा बोला—टन्-टन्न...

दो बजे थे।

× × ×

उसने बच्चे को फिर उठाया।

'कहाँ ले जा रही हो माँ?' उसने पूछा।

'चुप।'—उसने धीरे से कहा। वह सुनीता के कमरे की ओर जा रही थी। उसने सुनीता को जगाया।

'सुनीता।'—उसने कहा।

'हाँ।'

'जा गोबर ला।'

वह आश्चर्य से देख रही थी, पर बोली नहीं। वह गोबर ले आई थी। विमाता ने ज़मीन पुतवायी और बच्चे को उस पर लिटा दिया।

'बेटा, बता तुझे डर क्यों लग रहा था?'—उसने कोमल स्वर से पूछा।

'मुझे?' उसने घबड़ा कर चारों ओर देखा।

सुनीता कुछ-कुछ समझ रही थी, वह फूट-फूट कर रोने लगी।

'सुनीता।'—उसने पुकारा।

सुनीता ने देखा, दर्वाज़े की ओर उँगली किए हुए उसकी बहिन उसे घूर रही है।

'तुम जाओ, यह मन्दिर-गृह है, रोकर इसे अपवित्र न करो, अगर रोना है तो जाओ नहीं तो चुपचाप बैठो।'

उसका मुँह अज्ञात ज्योति से दीप्त हो रहा था। सुनीता उठी, पर ठिठक गई, उसके आँसू रुक गए।

'तुम्हें डर लगता है?' उसने बच्चे से फिर पूछा।

'हाँ!'—कष्ट से उसने क ा।

विमाता ने बिखरे मन को बटोरा—वह जानती थी जो बात दुनिया नहीं कर सकती वह उसका गाना कर सकता है। उसने गाया रुक-रुक कर, धीरे-धीरे, अपने गाने का प्रभाव देख-देख कर।

बच्चा सजग हो मुस्करा उठा। उसने गाना रोका—

'अब मुझे डर नहीं लगता अम्मा।' वह—बोला।

'मुझे ऐसा लगा कि आकाश से एक काली-काली लम्बी औरत उतरी। उसने तुमसे मुझे छीन लिया। मैं रो रहा था, पर उसने मुँह बन्द कर दिया और एक ख़ूब ऊँचे जामुन के पेड़ पर धोती में बाँध कर लटका दिया। माँ, वह कौन थी?'

वह एकाएक हाँफने लगा, उसका पीला मुँह नीला पड़ने लगा—

'सीताराम अम्मा थीं।'—संयत शब्दों में विमाता ने कहा—

'वह देखो आ रही है, अम्मा मैं नहीं जाऊँगा—

वह...।'—उसका गला घर्र-घर्र हो रहा था। साँस जल्दी चल रही थी।

'जाओ बेटा सीताराम अम्मा के पास जाओ। वह मुझसे अच्छी हैं—उनकी बड़ी गोद है, वे तुम्हें मारेंगी नहीं।' उसने बच्चे का माथा चूमा।

'अम्मा।' उसका गला रुँध गया था।

'जाओ बेटा सीताराम अम्मा के पास...।'

उसके बच्चे की खुली आँखें मुँद रही थीं।

'अम्मा तुम दिखाई नहीं देतीं।' फुस-फुस करके वह बोला, उसकी आँखें मुँदी जा रही थीं।

'जाओ बेटा सीताराम अम्मा के पास...।'

उसे लगा, छाया उसके पास आ गई है।

'जाओ बेटा...।' साहस से उसने कहा।

'अम्मा...।' और उसकी आँखें मुँद गईं। वह सुख की नींद सो रहा था।

सुनीता रो दी। 'बाबा, बाबा।' वह चीखी।

'चुप...' विमाता धीरे से बोली...। ...वह सो रहा है...।

टन्-टन्-टन् टन...चार बज गए।

नवमी की जुगजुगाती चाँदनी अस्त हो रही थी...

विमाता स्तम्भित सी अपने बाबा के गीतन की छिटकी चाँदनी का अस्त अर्थी की तैयारी में देख रही थी...निश्चल, निर्जीव, निर्वाक्...

दूर कोई भैरवी गा रहा था...'जुन्हैया तैं उइ कै बिसइ जा...'

स्नेह-स्मृति

[आ० बी० शर्मा]

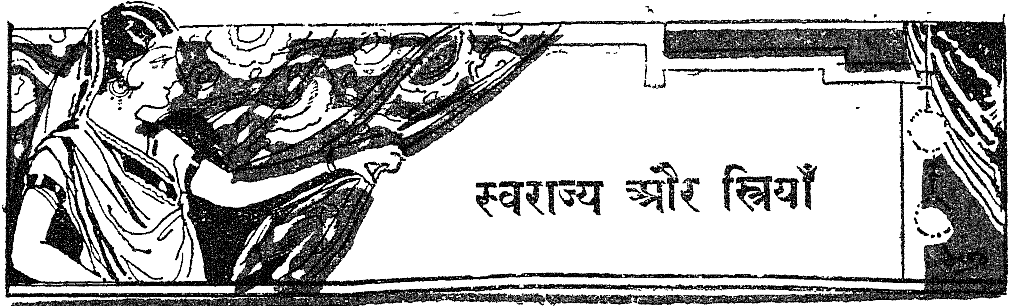
मेरी दीन कुटी में किसने ये मुक्ता बिखराये री!
लुटता स्वर्ण-जगत मम पल-पल,
हुई हास की क्रीड़ा निष्फल,
इस निदाघ में उपवन के सब रम्य सुमन मुरझाये री!

इन अधरों में हास कहाँ अब,
जीवन में उल्लास कहाँ अब,
मुरझाता ३ सून इस जी को कैसे सजनि, रिझाये री!

आज विदा का कटु क्षण आया,
अनल शून्य अम्बर में छाया,
प्यार तुहिन बन व्यथित हृदय-कलिका पर ढल-ढल आये री!

निर्वासित का क्या धन आली,
सूखे तृण में क्या हरियाली,
स्नेह-मूर्ति पर दृग-मुक्ता ही मैंने आज चढ़ाये री!

अश्रु-उदधि यह भरने दे तू,
व्यथित-हृदय को झरने दे तू,
क्वचित अश्रु-सागर में स्मृति का 'कमल' नित्य मुसकाये री!



स्वराज्य और स्त्रियाँ

[श्री० गणेशदत्त "इन्द्र" आगर]

मैंने "स्वराज्य और स्त्रियाँ" शीर्षक से एक लेख सितम्बर के 'चाँद' में लिखा था, जिसे पढ़ कर बहिन कुमारी सुमित्रा भार्गव बी० ए०, डी० टी० के हृदय को ठेस लगी और बहुत संभव है दूसरी बहनों को भी कुछ भ्रम पैदा हो गया हो। कुमारी जी ने दिसम्बर के चाँद में "स्त्रियाँ और स्वराज्य" शीर्षक लेख लिख कर अपना रोष भी प्रकट किया है। जैसा कुमारी जी ने मेरे लेख को पढ़ कर अपने विचार बना लिये हैं, वैसा मेरा उद्देश्य नहीं था। लेख के आरम्भ में ही मैंने लिखा था—

"राजकारणों में प्राचीनकाल की स्त्रियाँ, कब और कैसे भाग लेती थीं; यह बात हमारे इतिहास अच्छी तरह बता रहे हैं। जब राजकार्यों में स्त्रियों की प्रधानता हुई, तब हमारा पतन आरम्भ हुआ। जहाँ-जहाँ और जब-जब स्त्रियों ने पुरुषों के पीछे लग कर, उनके कहने में आकर, राजनैतिक कामों में हाथ बँटाया तब-तब अघटित घटना हुए बिना नहीं रही। बिना किसी प्रेरणा के, जिन नारी-हृदयों में देश-सेवा की भावना का उदय हुआ, उन्हीं रमणी-रत्नों ने कुछ करके दिखाया भी। रानी कर्णावती और प्रातः स्मरणीया महाराणी लक्ष्मीबाई हमारे इस कथन की पुष्टि कर रही हैं।"

इन वाक्यों के बाद मैंने महाराजा दशरथ की तृतीय पटरानी कैकेयी के सम्बन्ध में लिखते हुए, कैकेयी को राजा दशरथ की असामयिक मृत्यु का कारण बताया है। बस यही कैकेयी वाली बात श्रीमती कुमारी जी को बुरी मालूम हुई और इसी पर आपने अपना मत उक्त लेख में प्रकट किया है। आप मेरे लेख के कुछ वाक्यों को लेकर कैकेयी के लिये दुखी होकर कहती हैं:—

"हाय! कैकेयी निश्चय ही जन्म से ही अभागी थी, नहीं तो आज किसी को कहने का यह साहस न होता कि, स्वामी के प्राण बचाने का सफल प्रयत्न और उनकी विजय-प्राप्ति की मनोकामना भी उसका षड्यन्त्र था।... ...यह वही कैकेयी है, जिसके लिए हमारे पूज्य कवि सम्राट् मैथिलीशरण जी 'साकेत' में लिखते हैं—

पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई।
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"

दोनों लेखों के अंश यहाँ उद्धृत कर दिए गये हैं। लेखों में तो अधिक लिखा गया है, परन्तु वह बात जिन पर आपत्ति की गई है और जो उस पर विचार प्रकट किये गये हैं, वे ही यहाँ लिख दिए गए हैं। मैं स्त्री-जाति को किस सम्मान से देखता हूँ और राजनैतिक क्षेत्र में उन्हें कहाँ पर प्रतिष्ठित देखने का उत्सुक हूँ, इसे मैं ही जानता हूँ और कुछ-कुछ वे भी जान सकते हैं, जिन्होंने मेरे लेख को ध्यानपूर्वक पढ़ा हो। हाँ रानी कैकेयी के सम्बन्ध में जो मैंने कटु-सत्य कह डाला, सम्भव है, कई लोगों को बुरा प्रतीत हुआ हो। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हुए किसी के प्रति श्रद्धा रख कर या पक्षपात करके विचार करने से हानि के सिवा कोई लाभ नहीं होता। मैंने कैकेयी के प्रति कटु-वाक्यों का प्रयोग किया हो, सो नहीं। मैं महर्षि बाल्मीकि प्रणीत काव्य में से ही कैकेयी के सम्बन्ध में तत्कालीन मान्य पुरुषों के वाक्यों को यहाँ उपस्थित

करके कुमारी जी के दुःख, आश्चर्य, क्रोध और हास के मिश्रण के भ्रम को दूर कर देना चाहता हूँ।

जब राजा दशरथ से कैकेयी ने भरत को राज्याभिषेक और राम को वनवास अपने वरदानों के रूप में माँगे, तब राजा ने कैकेयी से कहा :—

"नृशंसे दुष्ट चारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ।
किङ्कृतं तव रामेण पापे पापं मयापिवा ।"

हे क्रूरे, पापिनी! दुष्ट चरित्रे! कुल का नाश करने वाली, मैंने या राम ने तेरा क्या अपराध किया? इत्यादि कटु वचनों से उसे सम्बोधन किया। जब देखा कि कैकेयी अपने निश्चय से टस से मस नहीं होती तब बेचारा वृद्ध राजा दशरथ, इक्ष्वाकुवंशीय प्रतापी धर्मात्मा दशरथ कैकेयी से कहता है—

"अञ्जलिं कुर्मि कैकेयी पादौ चा पिस्पृशामिते ।
शरणं भव रामस्य माऽधर्मो मामिहस्पृशेत् ॥

अर्थात्—कैकेयि! मैं तेरे सामने हाथ जोड़ता हूँ, तेरे पाँव छूता हूँ। तू राम की रक्षक बन, इत्यादि पाषाण-हृदय को द्रवित कर देने वाले बचनों पर भी कैकेयी न पसीजी! राजा के जीवन-मरण का प्रश्न सामने है, परन्तु कैकेयी कुछ नहीं सोचती। देवताओं द्वारा सरस्वती को प्रेरित कर कैकेयी की मति भ्रष्ट कर देने का रूपक, भावुकजनों की वस्तु है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका कुछ भी मूल्य नहीं है। क्या कैकेयी का अपने पति के लिये यह निष्ठुर व्यवहार श्लाघ्य था? ऐसे दुःखसागर में डूबते हुए राजा को कैकेयी ने कोई आश्रय नहीं दिया। बल्कि उसे कटु वचनों द्वारा और भी मर्माहत किया। वह कैकेयी, जो अपने पुत्र के हितार्थ पति के प्राणों की चिन्ता नहीं करती, क्या समझी जा सकती है? दशरथ कहते हैं :—

रममाणस्त्वयासार्द्धं मृत्युं त्वांनाभिलक्षये ।
बालो रहसि हस्ते न कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ॥

अर्थात्—तेरे साथ आनन्द मनाते हुए मुझे अपनी मृत्यु नहीं दिखाई दी। बालक की तरह एकान्त में काले नाग को मैंने खिलाया है। इतना कह कर वह कैकेयी के पैरों में गिर पड़ा, परन्तु कैकेयी ने ज़िद न छोड़ी। स्वयं बाल्मीकि ने कैकेयी के लिये "अनार्या" शब्द प्रयोग किया है। यह उस युग की कड़वी से कड़वी गाली है :—

"तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोदयम् ।"
"कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पपात महाद्युति ॥"

राम के वनगमन के समय दशरथ बेहोश होकर गिर पड़ा, सुमित्रा और कौशल्या रो पड़ीं, सुमंत्रादि धैर्य छोड़ कर पुकार उठे! महल में दुःख और करुणा का महासागर उमड़ पड़ा, परन्तु उस कैकेयी के मुख पर खेद की रेखा तक नहीं दीख पड़ी।

"देव्याः समस्ता रुरुदुः समेतास्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्निम्। रुदन्सुमन्त्रोपि जगाममूर्च्छां हाहाकृतं तत्रवभूव सर्वम्।"

सुमंत्र ने कैकेयी को क्या-क्या नहीं कहा :—

"नह्यकार्यं तमंकिञ्चित्तव देवीहविद्यते ।
पतिघ्निंत्वामह मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः ।
न चते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तु मर्हति ।"

× × ×

"आचरन्त्या न विदता सद्यो भवति मेदिनी ।"

अर्थात्—"कैकेयी! तू अपने पति को मारने वाली और कुल का नाश करने वाली है। जहाँ तू बसेगी कोई ब्राह्मण नहीं रहेगा। आश्चर्य है कि तेरे रहते पृथ्वी फट क्यों नहीं जाती।" कितने परुष वचन हैं? ज़रा वशिष्ठ जी के वचन सुनिये। वे कहते हैं—

"न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जित ।"

ऐ शीलशून्य कैकेयी, सीता बन-गमन के योग्य नहीं है। "शील रहित" शब्द का प्रयोग नारी के लिए कैसी गाली है; यह विचारणीय है। कैकेयी को सबने धिक्कारा, आबाल वृद्ध, नर नारी, सभी ने भर्त्सना की। राजा दशरथ ने पैरों गिर कर क्षमा चाही, परन्तु कैकेयी पर कुछ प्रभाव नहीं। बाल्मीकि ने लिखा है—

नैषाहि सा स्त्री भवति श्लाघनी येन धीमता ।
उभयोर्लोक योर्लोक पत्याया संप्रसाद्यते ।

वह स्त्री ही नहीं, जिससे पति क्षमा माँगे। अभी तक हमने ऐसे प्रमाण दिये जिनमें पुरुषों ने कैकेयी का धिक्कारा है। यह बात शायद कुमारी जी के लिए फिर कुछ लिखने का मौक़ा दे, अतएव कौशल्या जैसी सतीसाध्वी के मुख से निकले वचन सुनिए :—

सकामाभव कैकेयि मुङ्क्ष्वराजमकण्टकम् ।
त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा नृशंसे दुष्टचारिणी ॥
इच्छेज्जीवतुमन्यत्र कैकेय्यास्तक्त धर्मणः ।

कौशल्या ने कैकेयी को नृशंस, दुराचरण वाली, धर्मशून्य कह कर सम्बोधन किया है । अब स्वयं भरत के शब्दों में कैकेयी के लिए सुनिए—

"राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वारामंच तापसम् ।"
"उत्पन्नातुकथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी ।
साधु चारित्र विभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ।"
"कौसल्यां धर्म संयुक्तां वियुक्तां पापनिश्चये ।
कृत्वाकं प्राप्य से ह्यद्य लोकं निरय गामिनी ।"

अर्थात्—तू ही पिता जी की मृत्यु का कारण हुई है । पापिनी ! तुझे यह पाप-बुद्धि क्यों सूझी ? तू साधु-चरित्र से भ्रष्ट है । माता कौशल्या को पुत्र से वियुक्त कर तू किस लोक को प्राप्त होगी—तू अवश्य नरक-गामिनी होगी ।

कैकेयी के इस अधम कृत्य पर मैंने ही नहीं, तत्कालीन सभी लोगों ने कैकेयी को दोषी ठहराया है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी—

कैकय नन्दिनि मन्दमति, कठिन कुटिल पन कीन्ह ।
जेहि रघुनन्दन जानकिहि, सुख अवसर दुख दीन्ह ॥

× × ×

सुनि सुत बचन सनेहमय, कपट नीर भरि नैन ।
भरत स्रवन मन सूल सम, पापिनि बोली बैन ॥

× × ×

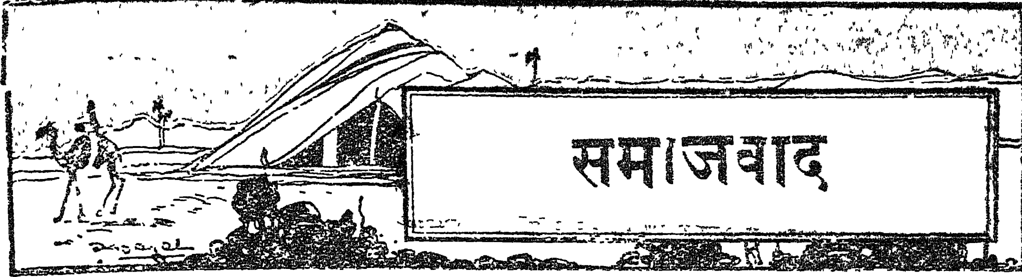
जबते कुमति कुमत जिय ठयऊ ।
खंड खंड होई हृदय न गयऊ ॥
बर माँगत मन नहिं भइ पीरा ।
गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा ॥

× × ×

जोहसि सोहसि मुँह मसिलाई ।
आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥

इत्यादि वचन भरत जी से कहलाए हैं । रघुवंश, अध्यात्म-रामायण आदि काव्य-ग्रन्थों में भी यही बात पाई जाती है । कैकेयी के क्रूरकृत्य को न कहकर, सत्य को छिपाने से ही तो स्त्रियाँ उन्नत नहीं हो जातीं । मैंने जो कुछ भी लिखा था, ऐतिहासिक तथ्य को लेकर ही । उससे बहन सुमित्रा जी के हृदय को दुःख हुआ, इसका मुझे खेद है ।

हमारे प्राचीन इतिहास-ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण और महाभारत ही कहे जाते हैं, अतएव उन्हीं में के दो प्रमाण देकर रघुवंश और कुरुवंश के राजकारणों में स्त्रियों की प्रधानता के कारण जो दोष आ गये थे उनका दिग्दर्शन कराया था । कैकेयी के अतिरिक्त दूसरे उदाहरणों पर कुमारी जी को कोई आपत्ति भी नहीं थी । अच्छा होता यदि कुमारी जी दो-चार ऐसे ऐतिहासिक प्रमाण पेश करतीं कि "राज-कारण में स्त्रियों के सम्मिलित होने पर अनेक लाभ हुए ।" ऐतिहासिक सत्य को स्त्री-जाति का अपमान नहीं समझना चाहिये । मैंने अपने लेख के आरम्भ में ही लिख दिया है कि "बिना पुरुषों की प्रेरणा के ही स्त्रियों को राजनैतिक क्षेत्र में क़दम बढ़ाना चाहिए । इसका यह अर्थ तो नहीं होता कि स्त्रियाँ राजनीति में हस्तक्षेप ही नहीं कर सकतीं । मैंने तो लेख में पुरुषों को ही दोषी ठहराया है कि उन्होंने जबरन् स्त्रियों को राजनीति में घसीट कर उन्हें मार्गच्युत किया है । इसमें स्त्री-जाति का कोई अपमान नहीं । स्त्रियों के लिये जो मैंने ठीक समझा वही लिखा है । स्वराज्यान्दोलन में स्त्रियों को प्रवेश कराके पुरुषों ने क्या-क्या अन्याय नहीं किये ? उन्हीं से बचने के लिए मैंने बहनों को कुछ सुझाया था । आशा है कैकेयी के प्रति मेरे विचारों की पुष्टि में दिए इन प्रमाणों से कुमारी जी को सन्तोष होगा ।



समाजवाद

[श्री० उमाशङ्कर]

कुछ समय पहले राजनैतिक कार्यकर्ताओं का यह आदर्श रहा है कि लोकतन्त्र शासन-प्रणाली ही सर्वोत्कृष्ट शासन-प्रणाली है। इस कारण इस आदर्श की प्राप्ति के लिये बहुत से राजनैतिक कार्यकर्ता बहुत यत्न करते थे, बहुत समय और शक्ति लगाते थे, बहुत त्याग करते थे तथा बहुत कष्ट और नाना प्रकार की यातनाएँ सहते थे। समझा यह जाता था कि दासता पाप है और लोकतन्त्र के आदर्श के आधार पर स्थापित स्वतन्त्रता पुण्य है। यह बात मान ली गयी थी कि लोकतन्त्र शासन-प्रणाली की स्थापना होने से स्वराज्य हो जायगा और सारा दुःख जाता रहेगा। इस प्रकार की स्वतन्त्रता के लिये बड़े-बड़े आन्दोलन हुए, बड़े-बड़े युद्ध हुए, बड़ी बड़ी क्रान्तियाँ हुईं, ख़ून की नदियाँ बहीं, महापुरुषों को कारागार की यातनाएँ सहनीं पड़ीं और जान भी देनी पड़ी। यह सब होता रहा और संसार के कुछ भागों में लोकतन्त्र शासन-प्रणाली की स्थापना भी हो गयी। लेकिन इस बीच में यह भी अनुभव होने लगा कि समाज की समस्याओं को जो अधिकांश में आर्थिक होती हैं, हल करने के लिये लोकतन्त्र शासन-प्रणाली अपर्याप्त है। लोग यह सोचने लगे कि जिसे लोकतन्त्र शासन-प्रणाली कहा जाता है, उसके स्थापित होने से समाज की सब श्रेणियों का उद्धार नहीं हो सकता। यह भी अनुभव किया जाने लगा कि इस प्रकार के स्वराज्य का अर्थ केवल यह हो सकता है कि कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों और धनिकों का राज्य और उन्हीं का सुख। इसलिये ग़रीब और दलित श्रेणी के लोग, जिनके ही लिये विशेष कर स्वराज्य की आवश्यकता होती है, ऐसी दशा में भी ग़रीब और दलित ही बने रहेंगे। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि दलित और ग़रीब लोग ऐसे स्वराज्य की प्राप्ति की आकांक्षा क्यों करें, जिसके स्थापित होने से उनका जीवन प्रायः उसी तरह दुखी रहेगा जैसा पर-राज्य में श्रमजीवी, दलित श्रेणी के लोग तो ऐसे ही स्वराज्य की आकांक्षा कर सकते हैं तथा उसके लिये यत्न कर सकते हैं, जिसके स्थापित होने से उनके दुःख दूर हो सकें और वे मनुष्य का जीवन बिता सकें। बस यहीं से समाजवाद के विचार का उदय होता है। समाजवाद के सिद्धान्तों के विषय में विचार करने के पहले वर्तमान सामाजिक दशा पर विचार कर लेना अच्छा होगा।

इस समय समाज में एक तरफ़ भीषण दारिद्रय है। बहुत से लोगों को दिन-रात कठिन परिश्रम करने पर भी पेट भर खाने को अन्न, तन ढकने को वस्त्र और रहने को जगह नहीं प्राप्य है। बहुत से लोग बेकार हैं, काम करना चाहते हैं, लेकिन उन्हें काम नहीं मिलता। एक तरफ़ तो ऐसे लोग हैं, जो क़ीमती से क़ीमती खाना खाते हैं, और भरपेट खाने के बाद थाली में भी छोड़ देते हैं और वह फेंक दिया जाता है। वे इतना अधिक खाते हैं कि बीमार पड़े रहते हैं, और दूसरी तरफ़ ऐसे लोगों की बहुत बड़ी संख्या है, जिन्हें खाने को सूखी रोटी ही नसीब होती है, अथवा जिन्हें सूखी रोटी भी नसीब नहीं होती। एक तरफ़ ऐसे लोग हैं जिनके रहने के लिये आलीशान मकान और बग़ीचे हैं; गरमी में खस की टट्टियों के अन्दर बिजली के पङ्खों के नीचे आराम से रहते हैं या पहाड़ों पर चले जाते हैं और जाड़े में गरम कमरों में सोते हैं। दूसरी तरफ़ बहुत से लोगों को सोने तक के लिये कोठरी नहीं है। वे गरमी में कड़ी धूप में परिश्रम करते हैं और जाड़े में शीत में ठिठुरते रहते हैं। एक तरफ़ तो तन

ढकने तक को वस्त्र नहीं मिलता और दूसरी तरफ़ लोग मखमल के फ़र्श पर जूता पहन कर चलते हैं और क़ीमती से क़ीमती रेशमी और पशमीने के वस्त्र धारण करते हैं। एक तरफ़ बीमारी में दवा और दूध भी प्राप्त नहीं होता और दूसरी तरफ़ डॉक्टरों की भीड़ लगी रहती है और क़ीमती से क़ीमती दवा दी जाती है। एक तरफ़ दुःख ही दुःख है और दूसरी तरफ़ सुख के सब साधन सुलभ हैं। एक तरफ़ बड़े-बड़े मकान और महल ख़ाली पड़े हैं और दूसरी तरफ़ एक ही छोटी कोठरी में कई मनुष्य सोते हैं।

निश्चय ही इस विषमता का, जिसमें एक तरफ़ सारा दुःख और दूसरी तरफ़ सारा सुख है, प्रतिकार होना चाहिये। इस बात का यत्न होना चाहिये जिससे यह भीषण विषमता दूर हो और सब लोग सुखमय जीवन बितावें। इतना ही नहीं, अपितु जिनके हिस्से में इस समय सारा सुख है, उनका भी जीवन अधिक सुखमय हो सके।

समाज में इस समय जो भीषण विषमता है अर्थात् एक तरफ़ जो सारा दुःख है और दूसरी तरफ़ सारा सुख है—उसको दूर करने का उपाय समाजवाद है। समाजवाद का मतलब यह है कि उत्पादन, विनिमय और वितरण के मुख्य साधन समाज के हाथ में रहें। इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि मशीन, कारख़ाने और भूमि आदि उत्पादन के मुख्य साधन सम्पूर्ण समाज या सम्पूर्ण राज्य के हाथ में रहेंगे। सम्पूर्ण-समाज लोकतन्त्र के आधार पर निर्वाचित अपने प्रतिनिधियों के द्वारा समाज की आवश्यकता के अनुसार वस्तुओं का उत्पादन करेगा, और इस बात का प्रबन्ध करेगा कि समाज के सब लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो अर्थात् उत्पादित वस्तुओं के वितरण और विनिमय के मुख्य साधनों पर भी समाज का नियन्त्रण रहे। रेल, जहाज़, बैङ्क आदि जो विनिमय के मुख्य साधन हैं, समाज की सम्पत्ति होंगे। इस प्रबन्ध का परिणाम यह होगा कि समाज की आवश्यकता के अनुसार ही वस्तुएँ तैयार होती रहेंगी और व्यक्तियों की आवश्यकता के अनुसार ही उन्हें मिलती रहेंगी। अगर ये साधन कुछ व्यक्तियों या कुछ व्यक्तियों के समूहों के हाथ में रहते हैं और उनकी सम्पत्ति हो जाते हैं, तो वे एक-मात्र अपने लाभ की दृष्टि से वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। साथ ही उन वस्तुओं से प्राप्त लाभ कुछ व्यक्तियों या कुछ व्यक्तियों के समूहों के पास इकट्ठा हो जाता है और ऐसा होने से समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न हल नहीं होता। समाजवाद के सिद्धान्तों के आधार पर सङ्गठित समाज में उत्पादन, विनिमय और वितरण के मुख्य साधन समाज की सम्पत्ति होंगे; समाज की आवश्यकताओं के अनुसार वस्तुएँ तैयार होंगी; अशक्तों को छोड़कर अन्य सब काम करने की शक्ति रखने वालों को काम करना अनिवार्य होगा और शक्तों और अशक्तों, सब की आवश्यकताओं की पूर्ति की जायगी।

वर्तमान स्थिति में कारख़ाने वाले लाभ के लिये वस्तुएँ तैयार करते हैं। वे जिन वस्तुओं के तैयार होने में ज़्यादा लाभ देखते है, उन्हें ही तैयार करते हैं। समाज की आवश्यकताओं पर उनका ध्यान नहीं रहता। वे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के लिये श्रमिकों को कम से कम मज़दूरी देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मज़दूरों को इतनी कम मज़दूरी मिलती है कि वह उनके भरण-पोषण तक के लिये पर्याप्त नहीं होती, अन्य आवश्यकताओं की बात दूर रही। फलतः मज़दूरों में असन्तोष बना रहता है और कारख़ानेदारों और मज़दूरों में तनातनी बनी रहती है। यही कारण है कि बराबर हड़तालें होती रहती हैं। झगड़ों को सुलझाने की हज़ार कोशिशें होती हैं, लेकिन वे नहीं सुलझतीं। इसी प्रकार ज़मींदारों की सदा यह आकांक्षा रहती है कि वे किसानों से अधिक से अधिक धन खींच लें। इसका नतीजा भी यही होता है कि ज़मींदारों और किसानों का झगड़ा कभी तै ही नहीं होता। एक तरफ़ कारख़ाने वाले और ज़मींदार बिना कुछ परिश्रम किये ही सारी सुविधाएँ प्राप्त करते हैं, और सब तरह से सुखी और सम्पन्न रहते हैं और दूसरी तरफ़ किसान और मज़दूर बहुत परिश्रम करके भी अन्न-वस्त्र-विहीन रहते हैं और सब तरह से दुःखमय जीवन बिताते हैं।

समाजवादी सिद्धान्तों के आधार पर सङ्गठित समाज में ये सब झगड़े न रहेंगे; मशीनें, कारख़ाने और

भूमि समाज की सम्पत्ति होंगी। इस बात का प्रबन्ध रहेगा कि सब लोग अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार काम करें और सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाजवादी राज्य में श्रेणियाँ ही न रहेंगी, इसलिये श्रेणी-युद्ध भी न होंगे।

वैसे तो इस समय भी समाज के लिये जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वे प्रायः सभी तैयार होती हैं। लेकिन इस समय समाज की आवश्यकताओं का ख़याल करके वस्तुएँ तैयार नहीं होतीं, और इसके सिवाय कुछ व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह एकमात्र अपने लाभ की दृष्टि से वे वस्तुएँ तैयार करते हैं। समाजवादी समाज में ऐसा न होगा। समाजवादी समाज में समाज की आवश्यकताओं को ही ध्यान में रख कर वस्तुएँ तैयार होंगी, लाभ करने और समाज को चूसने की भावना से नहीं।

कहा जाता है कि समाजवाद ज़मींदारों और पूँजी-पतियों का विनाश चाहता है। ये बातें ऐसे ढङ्ग से कही जाती है मानों इस समय जो लोग ज़मींदार या पूँजीपति हैं, समाजवादी व्यवस्था होने पर अपना जीवन ही न बिता पावेंगे, या बहुत कष्ट के साथ ज़िन्दगी काटेंगे। समाजवाद के सिद्धान्तों के आधार पर समाज का सङ्गठन होने का अर्थ यही होता है कि समाज में ज़मींदार और पूँजीपति नाम के मनुष्य न रह जायँगे, ज़मींदारी और पूँजीशाही प्रथा नष्ट हो जायगी, किसानों और मज़दूरों का शोषण बन्द हो जायगा। इस समय जो ज़मींदार और पूँजीपति है, वे समाजवादी राज्य में श्रमजीवी हो जायँगे; उन्हें अन्य श्रमजीवियों की तरह काम करना अनिवार्य हो जायगा और वे उन्हीं की तरह ही सुखी और सम्पन्न होंगे। इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि इस समय जो लोग ज़मींदार या पूँजीपति हैं, वे समाजवादी राज्य में भी सुखी रहेंगे, उनकी सब आवश्यकताएँ पूरी होंगी। भेद केवल इतना ही होगा कि इस समय ज़मींदार और पूँजीपति कुछ काम नहीं करते और तिस पर भी सुखमय जीवन बिताते और सब तरह से सम्पन्न रहते हैं। काम करने से जो सुख होता है वह समाजवादी राज्य में ज़मीं-दारों और अन्य पूँजीपतियों को भी प्राप्त होगा और इस दृष्टि से वे अधिक सुखी होंगे। कहने का मतलब यह है कि ज़मींदारों और पूँजीपतियों को समाजवाद से घबराना नहीं चाहिये; इस समय किसानों और मज़दूरों के आन्दो-लनों के कारण उन्हें जो चिन्ताएँ घेरे रहती हैं, वे समाजवादी राज्य में जाती रहेंगी।

हम लोग बहुत समय से एक विचित्र प्रकार के समाज में रहते आये हैं, इस कारण समाजवादी सिद्धान्तों के आधार पर सङ्गठित समाज का चित्र हमारे सामने स्पष्ट-रूप से दिखाई नहीं देता। जैसे-जैसे समाजवाद का विकास होता जायगा, वैसे-वैसे यह चित्र स्पष्ट होता जायगा और मालूम हो जायगा कि समाजवाद सर्वथा स्वाभाविक है। इस समय यही एक प्रणाली ऐसी दिखाई दे रही है, जिससे मनुष्य-समाज का दुःख दूर हो सकता है।

इस समय जो ज़मींदार या पूँजीपति हैं, उनको समाजवादी राज्य में खाने की आवश्यक सामग्री, पहनने के लिये आवश्यक वस्त्र और रहने के लिये काफ़ी अच्छा मकान उसी तरह प्राप्त होगा जिस तरह श्रमजीवियों को।

निजी सम्पत्ति का प्रश्न भी उठाया जाता है। समाज-वाद का पूर्ण विकास होने पर निजी सम्पत्ति का प्रश्न उठेगा ही नहीं। बात यह है कि उस समय उससे अधिक वस्तु का कोई उपयोग ही न रह जायगा जितनी कि किसी व्यक्ति को आवश्यकता होगी। समाजवादी राज्य का सङ्ग-ठन होने पर भी निजी सम्पत्ति इसी रूप में रह सकती है कि लोग अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ रख सकेंगे, लेकिन पूँजी न बढ़ा सकेंगे। लोग आवश्यकता के अनुसार घर, कपड़ा, खाने की सामग्री, पुस्तकें आदि रख सकेंगे, पर पूँजी न इकट्ठी कर सकेंगे। उस समय पूँजी बढ़ाने का उपयोग भी न रहेगा। बात यह है कि लोग पूँजी बढ़ाकर बड़े-बड़े व्यापार करते है, इससे लाभ उठाते हैं, समाज की आव-श्यकता का ध्यान नहीं रखते और समाज के बहुत से लोगों को आर्थिक दासता में जकड़ देते हैं। समाजवादी राज्य में यह बात न हो सकेगी। मूल बात यह है कि समाजवादी राज्य में आर्थिक शोषण बन्द हो जायगा, सब लोग काम करेंगे। सब सशक्त व्यक्तियों के लिये काम करना अनिवार्य होगा और सब सशक्त और अशक्त व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध रहेगा।

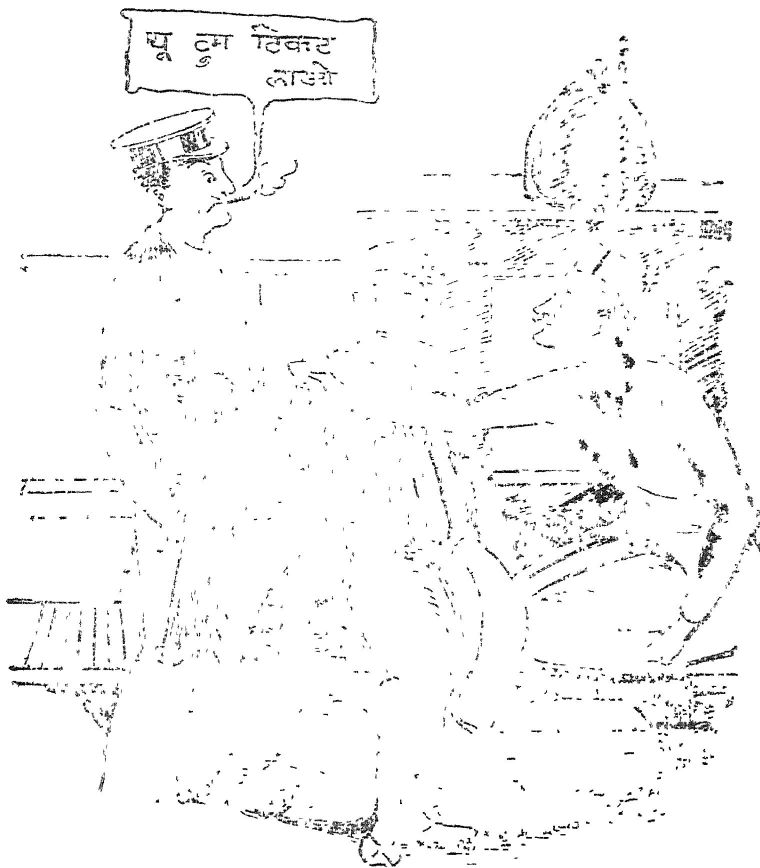
कहा जाता है कि जब लोगों को धन-सञ्चय करने का अवसर न मिलेगा और वे धन-सञ्चय न कर पावेंगे तो उन्हें अधिक से अधिक काम करने का, अपनी शक्तियों का अधिक से अधिक उपयोग करने का प्रोत्साहन न मिलेगा। यह बात वर्तमान अवस्था में कुछ अंश में सत्य अवश्य है, लेकिन वास्तव में ऐसी बात नहीं है। बात यह है कि मनुष्यों पर हज़ारों पीढ़ियों से बराबर ऐसा ख़राब संस्कार पड़ता आया है, उन्हें ऐसी अनुपयुक्त शिक्षा के प्रभाव में जीवन बिताना पड़ा है कि उनमें स्वार्थ और लोभ की भावना ने ज़ोर पकड़ लिया है और ऐसा मालूम होने लगा है कि यही मनुष्यों की प्रकृति के अनुकूल है। इस विषय पर थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि मनुष्य की प्रकृति लोभी और स्वार्थी नहीं है, और लोक-हित की भावना में उसे अधिक से अधिक प्रोत्साहन मिलता है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार और उत्तम साहित्यिक रचनाएँ स्वार्थ की भावना और धन के लोभ से नहीं हुई हैं। जिन लोगों ने बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं, उन्हें उन आविष्कारों को करने की उत्कट प्रेरणा हुई है और ऐसा करने में उनका चित्त लग गया है, तभी उन्होंने किया है। सुन्दर साहित्यिक रचनाएँ भी भीतरी प्रेरणा और अपने सुख के लिये हुई है। इसी प्रकार सभी के विषय में समझना चाहिये। एतदर्थ यह विचार भ्रमात्मक है कि धन का लालच न होने से लोगों को उन्नति करने और कोई बड़ा काम करने के लिये कोई प्रोत्साहन की बात न रह जायगी। और किसी देश या संसार की उन्नति रुक जायगी। सच बात तो यह है कि लोक-हित की भावना में ही काम करने के लिये सच्चा प्रोत्साहन मिलता है।

समाजवाद के आन्दोलन के कारण श्रेणी-युद्ध ज़रूर होता है। सम्भवतः श्रेणी-युद्ध के बिना समाजवाद की स्थापना न हो सकेगी। बात यह है कि जब समाज में शोषक और शोषित मौजूद हैं, तब उनका झगड़ा रोकना बहुत कठिन और सम्भवतः असम्भव मालूम हो रहा है। समाजवाद की स्थापना होने पर न शोषक रह जायँगे और न शोषित, और इस कारण उस समय श्रेणी-युद्ध भी न रहेगा। उस समय सब श्रमजीवी रहेंगे; उस समय श्रमजीवियों की एक ही श्रेणी रह जायगी और झगड़े का कारण जाता रहेगा। वर्तमान दशा में जब एक तरह के लोग दूसरी तरह के लोगों को चूसते है और उन्हें दबाते हैं, तो इन दो प्रकार की श्रेणियों में झगड़ा रहेगा ही। वैसे यह झगड़ा कुछ दबा सा मालूम होता है, समाजवाद के प्रचार से ऐसे झगड़े ज़रा उभड़ आते हैं। समाजवाद की स्थापना होने पर ऐसे झगड़ों का बीज ही नष्ट हो जायगा और फिर ऐसे झगड़ों की सम्भावना जाती रहेगी।

इस लेख में सर्वत्र समाजवाद शब्द का प्रयोग किया गया है, साम्यवाद शब्द का नहीं। समाजवाद का मतलब यह है कि समाज का इस प्रकार सङ्गठन किया जाय कि सारा समाज एक कुटुम्ब सा हो जाय, सब की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध किया जाय और सब अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार काम करें। समाजवाद का कदापि यह मतलब नहीं है कि सब मनुष्य बराबर हैं और सब मनुष्यों की शक्तियाँ बराबर हैं। समाजवाद कोई अस्वाभाविक सङ्गठन करना नहीं चाहता। समाजवाद अनुभव करता है कि समाज में सब लोग बराबर नहीं हैं, वरन् मनुष्यों की शक्तियों और योग्यताओं में भेद है। यह भेद है, इसी कारण समाजवाद की और भी आवश्यकता है। वर्तमान दशा में विशेष योग्यता रखने वालों को अपनी योग्यता का विकास करने का अवसर ही नहीं मिलता या बहुत मुश्किल से मिलता है। समाजवाद के सिद्धान्तों के आधार पर सङ्गठित समाज में सब को अपनी योग्यताओं और शक्तियों के अनुसार उन्नति करने का समान अवसर मिलेगा और समान सुविधाएँ मिलेंगी। सामान्यतः सब मनुष्यों की आवश्यकताएँ क़रीब-क़रीब समान होती है और इसी दृष्टि से समाजवाद सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध करना चाहता है। सबको खाना, कपड़ा और घर चाहिये। यह आवश्यकताएँ सब मनुष्यों की प्रायः समान हैं। यह नहीं होना चाहिये कि एक मनुष्य तो इतना धन प्राप्त कर ले कि उसके पास खाने, पहनने के लिये ज़रूरत से कहीं अधिक सामान हो और रहने के लिये

रेलवे-शिष्टाचार

(१)



थर्ड क्लास में

रेलवे [illegible]

(३)



सैकिण्ड क्लास में

रेलवे-शिष्टाचार

(४)

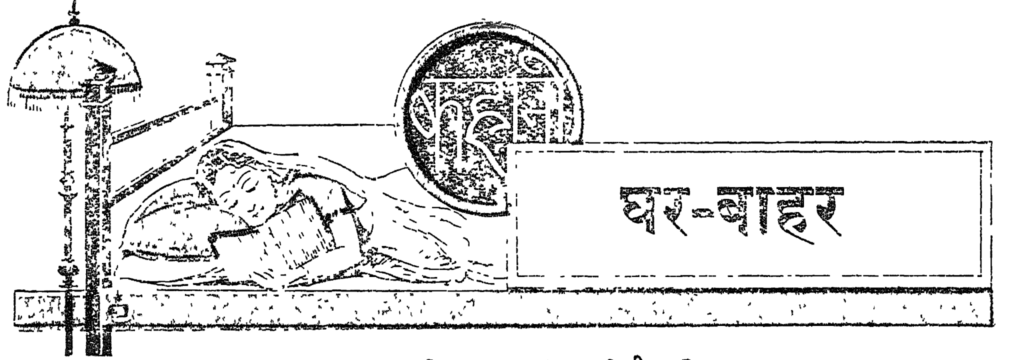


फ़र्स्ट क्लास में

ज़रूरत से कहीं ज़्यादा बड़ा मकान हो और एक मनुष्य भूखों मरे और जाड़े में ठिठुरता रहे और रहने के लिये एक कोठरी भी न हो। एक मनुष्य को हज़ारों रुपये की आमदनी हो और एक मनुष्य की कोई आमदनी हो न हो या बहुत कम हो। एक मनुष्य के लिये हज़ारों रुपया माहवार कम मालूम हो और एक मनुष्य के लिये दस रुपया माहवार ज़्यादा कहा जाय। यह भीषण भेद है। समाजवाद कहता है कि सब मनुष्यों की आवश्यकताएँ क़रीब-क़रीब समान हैं और उन्हें क़रीब-क़रीब समान रूप से पूरी करने का प्रबन्ध होना चाहिए। समाजवाद सब मनुष्यों की योग्यताओं और शक्तियों के विकास के लिये पूरा अवसर और पूरी सुविधा देना चाहता है और उनकी योग्यताओं और शक्तियों से पूरा लाभ उठाना चाहता है।

समाजवाद लोगों को दरिद्र और असहाय नहीं बनाना चाहता। समाजवाद इस प्रकार के समाज की स्थापना चाहता है जिसमें कोई दरिद्र न रहेगा, कोई ग़रीब और असहाय न रहेगा, बेकारी न रहेगी। मशीनें और कारखानें रहेंगे, लेकिन ये सब समाज की सम्पत्ति रहेंगे और इनके द्वारा मनुष्य कुचले, पीसे या चूसे न जायँगे। समाजवाद ज़मींदारों और पूँजीपतियों का दुश्मन नहीं है, बल्कि उनका भी मित्र है और उनकी बेकार परेशानियाँ दूर करना चाहता है। जो इस समय ज़मींदार, कारखानेदार या अन्य पूँजीपति हैं, वे समाजवाद की स्थापना होने पर उतने ही सुखी रहेंगे जितने अन्य लोग।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह समाजवाद के प्रचलित सिद्धान्तों के अनुसार व्यवस्थित समाज की दशा की झलक मात्र है। जैसे-जैसे समाजवाद का विकास होता जायगा, वैसे-वैसे उसकी विशेषताएँ प्रकट होती जायँगी। समाजवाद का पूर्ण विकास होने पर न साम्राज्य रह जायँगे, न फ़ौजें रह जायँगी और न राज्य ही रह जायँगे। उस समय कोई देश किसी दूसरे देश को जीतने की आवश्यकता ही अनुभव न करेगा, एक देश को दूसरा देश जीतने में कुछ लाभ ही न रह जायगा। न साम्राज्य बढ़ाने की आवश्यकता रह जायगी और न फ़ौज रखने की ज़रूरत रह जायगी। संसार के किसी भाग में आन्तरिक शान्ति की स्थापना के लिये फ़ौज और पुलिस रखने की ज़रूरत न रह जायगी, क्योंकि शान्ति भङ्ग के कारण ही न रहेंगे और न शान्ति भङ्ग होगी। लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार ही वस्तुएँ समाज के भण्डार से ले लेंगे और अपनी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार समाज की सेवा करेंगे; लूट-खसोट की कोई बात ही न रह जायगी। इस समय तो यह स्वप्न सी बात मालूम होती है, लेकिन इस समय संसार में अनेक ऐसी वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं, जिनका पहले स्वप्न ही देखा गया था। आज हम संसार के सब भागों से अपने घर पर बैठे-बैठे ही टेलीफ़ोन से बात कर लेते हैं। यह पहले स्वप्न सी बात समझी जाती थी। आज हम संसार के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में हवाई जहाज़ में बैठकर बहुत अल्पकाल में चले जाते हैं। यह बात तो पहले स्वप्न सी ही थी। आज ऐसी न जाने कितनी ही बातें प्रचलित हैं, जो पहले स्वप्न सी मालूम होती थीं। अभी तो थोड़े ही समय की बात है कि लोग "स्वराज्य" और "वन्दे मातरम्" कहने से बहुत डरते थे। भारत में कभी "स्वराज्य" भी होगा, यह लोगों को स्वप्न सी बात मालूम होती थी। आज "स्वराज्य" की स्थापना स्वप्न सी बात नहीं मालूम होती। कौन जानता है कि इसी प्रकार एक समय ऐसा आवे जब समाजवाद का पूरा विकास हो और समाजवाद के विषय में जो बातें इस समय स्वप्न सी मालूम हो रही हैं, वे सामने देखने में आवें। उस समय लोगों की इतनी उन्नति हो जायगी, लोग इतने सुशिक्षित हो जायँगे, लोगों में एक दूसरे का अहित न करने, एक दूसरे की भलाई और सेवा करने की इतनी पर्याप्त भावना आ जायगी, संसार का सम्पूर्ण मनुष्य-समाज इस प्रकार एक कुटुम्ब की तरह जीवन बिताना सीख जायगा कि राज्य और सेना की आवश्यकता ही न रह जायगी, साम्राज्य बढ़ाने की भावना तो बहुत पहले ही नष्ट हो रहेगी। यह स्वप्न पूरा होगा या नहीं, और होगा तो कितनी पीढ़ियों बाद, इन प्रश्नों का उत्तर देना इस समय बहुत कठिन है।



[श्री० ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल']

(प्रहसन)

पहला दृश्य

[स्थान—पञ्चानन का मकान]

(पञ्चानन समाज-सुधारक हैं । अपनी कोठरी में चटाई पर बैठे हैं । कोठरी लिपी-पुती स्वच्छ है । पास उनके मित्र सदानन्द बैठे हैं)

सदानन्द—पण्डित जी ! आज टाउन हाल में स्त्रियों के सुधार पर आपका व्याख्यान होने वाला है न ?

पञ्चानन—(सँभल कर) हाँ भाई, शहर के कुछ लोगों का आग्रह है कि मैं एक ऐसा व्याख्यान दूँ, जिससे स्त्री-जाति के सुधार में एक नया युग उत्पन्न हो जाय ।

सदानन्द—(मुसकरा कर) अच्छा, यह तो बड़ी अच्छी बात है । आप से बढ़ कर इस नगर में समाज-सुधारक कौन है ? लेकिन महाराज ऐसी वक्तृता दीजिए कि कट्टर पन्थियों के दिलों में चूहे कूदने लगें ।

पञ्चानन—(गर्व से गर्दन ऊँची करके) हाँ-हाँ, क्यों नहीं, ऐसा तो होगा ही । तो क्या सचमुच मेरे व्याख्यान की बड़ी धूम है ?

सदानन्द—वाह, व्याख्यान के संयोजक ने तमाम नगर में डुग्गी पिटवा दी है । आर्य-समाज, सनातन-धर्म और अछूत सभा के लोगों को भी निमन्त्रित किया गया है । कॉलेज के विद्यार्थी भी अच्छी संख्या में आवेंगे ?

पञ्चानन—(कुछ सोच कर) हाँ, यह तो अच्छा ही है, लेकिन सभा में कोई गोल-माल तो न होगा ? भाई, कॉलेज के लड़कों से मैं बहुत डरता हूँ । बड़े बकवादी होते हैं । व्यर्थ की बहस में पड़ना अपना समय नष्ट करना है ।

सदानन्द—(तनिक धीरे से) पण्डित जी, आप इतना घबराते क्यों हैं । कॉलेज के विद्यार्थी हौवा तो होते नहीं । आप समाज-सुधारक नेता हैं कि दिल्लगी ! (खाँस कर) आप ऐसी पुरजोश और धड़ल्ले की स्पीच दीजिये कि सब लोग ताकते रह जायँ । कोई बोलने लगे तो, उस पर ग़ौर ही न कीजिए । मानो आप सुन ही नहीं रहे हैं । फिर यदि गड़बड़ हो तो 'आर्डर' 'आर्डर' कह दीजिए, वे आप से आप चुप हो जायँगे ?

पञ्चानन—(मित्र के कन्धे पर हाथ रख कर) भई, तुम हो बड़े बुद्धिमान् ! अक़्ल से बात करना ख़ूब जानते हो । लेकिन 'आर्डर' 'आर्डर' कहने से वे चुप क्यों हो जायँगे ?

सदानन्द—विद्यार्थियों को इस शब्द के सुनने की रोज़ की आदत है, और ज़रा दुनियादारी भी तो समझना चाहिये । जहाँ आपने 'आर्डर' कहा तहाँ आपके प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ जायगी । वे समझ जायँगे कि आप लोगों को क़ाबू में करने की कला भली-भाँति जानते हैं ।

पञ्चानन—हाँ, जब मैं अपनी ही बात कहूँगा और

किसी की सुनूँगा ही नहीं तो मेरा कोई क्या बिगाड़ सकता है ?

सदानन्द—हाँ-हाँ, और क्या ! संस्कृत साहित्य का प्राचीन पंडित चाणक्य भी अपने नीतिदर्पण में ऐसा ही कहता है। अपनी कहे दूसरों की न सुने। फिर स्त्रियों के मामले में आपके सामने किसी को कुछ कहने का क्या अधिकार है ?

पञ्चानन—(गरम होकर) हाँ-हाँ, किसी को बोलने का क्या अधिकार ? केवल विशेषज्ञ ही बोल सकता है। बिल्कुल ठीक ! (भावभङ्गी से) किसी को बोलने का क्या अधिकार ! सोलह आने की बात कही !

(पञ्चानन की पत्नी देवकी का घूँघट मारे हुए आना। उसकी धोती कुछ मैली है। हाथ-पैर में बुन्देलखण्डी कड़ा पहने है।)

देवकी—(धीरे से) चलिए खिचड़ी तैयार है।

पञ्चानन—(क्रोधित हो, वक्र दृष्टि से उसकी ओर देखकर) यहाँ क्यों घुसी आ रही है। देखती नहीं है, आदमी बैठे हैं। चल अभी आया। (मित्र की ओर देख कर) इन नौकरानियों से आजिज़ आ गया हूँ। अभी-अभी मेरी वाइफ़ के साथ बुन्देलखण्ड से आई है। भई, ऐसी ढीठ है कि क्या बताऊँ, कुछ कहना होता है तो सर पर चढ़कर बोलती है।

सदानन्द—अच्छा, तो यह नौकरानी है ? कुछ पूछिए न पण्डित जी, नौकरानियाँ अजीब होती हैं। सभ्यता का नाम नहीं होता। आपकी श्रीमती जी ऐसी ढीठ नौकरानी को कैसे पसन्द करती होंगी।

पञ्चानन—(कुछ सँभलकर) भई, हम लोग तो काफ़ी एडवांस । देखिए न ! अभी तक मेरी श्रीमती टहल कर ही नहीं लौटी हैं। पर्दा-वर्दा के मैं सख्त खिलाफ़ हूँ। रही नौकरानी की बात, तो आप जानते है, ससुराल का मामला है। जल्दी निकाल देने में ज़रा हँसी होगी। लेकिन मैं इसको सभ्यता सिखाऊँगा, ज़रूर सिखाऊँगा।

सदानन्द—अवश्य ! अवश्य ! नहीं, आज तो ख़ैर मैं बैठा हूँ, कल कोई भला आदमी आ जाय तब तो आप की नाक कट जायगी।

पञ्चानन—(नाक पर हाथ फेर कर) हाँ, ज़रूर-ज़रूर नाक कट जायगी, मैं इसे सभ्य बना कर ही रहूँगा।

सदानन्द—क्यों न हो, आप आदर्श स्थापित न करेंगे तो कौन करेगा। हाँ, पण्डित जी गुस्ताख़ी माफ़ कीजिएगा, कृपया खिचड़ी न खाया कीजिए। बड़ी वाहियात चीज़ है।

पञ्चानन -(ज़रा मुस्करा कर) नहीं भाई, तुम तो जानते हो, मैं पक्का शाकाहारी हूँ। यों तो सवेरे 'टोस्ट' और 'चाय' मेरा नित्य का कलेवा है। आज श्रीमती जी के बाहर चले जाने से सब गड़बड़ हो गया है। लेकिन, व्याख्यान देने जाना है, इससे सोचा कि कोई हलकी चीज़ खाकर चलना चाहिए, जिससे पेट हलका रहे।

सदानन्द—(भाव-भङ्गी से) बात तो आपने लाजवाब सोची। गर्मी का मौसम है। चाय के गरम कर देने का अन्देशा भी है। फिर मौक़ा भी गरमाहट का ही है। इससे खिचड़ी ही उत्तम होगी। वाक़ई, आप बड़े दूरन्देश है।

पञ्चानन—भाई, मैं अपना प्रोग्राम पहले ही ठीक कर लेता हूँ। क्योंकि मुझे तो भुगतना होता है।

(देवकी दरवाज़े से होकर दूसरी तरफ़ जाती है। पञ्चानन सदानन्द की आँख बचाकर उसकी ओर घूरते और दाँत पीसते हैं)

पञ्चानन—(मित्र की ओर देखकर) हाँ तो अब थोड़ा ही समय रह गया है। देखूँ, नौकरानी परेशान कर रही है। फिर वहाँ तो भेंट होगी ही।

सदानन्द -- अच्छा तो मैं भी चलता हूँ, वहीं भेंट होगी।

पञ्चानन—(दरवाज़े की ओर घूरता है, फिर मित्र की ओर देखकर) हाँ-हाँ, वहाँ मुलाक़ात क्यों न होगी, मैं ठीक वक़्त पर आ जाऊँगा। लेकिन सदानन्द ! तुम मेरे गुरु भाई हो। मेरी इज़्ज़त-आबरू तुम्हारे हाथ में है। किसी तरह मेरी भद्द न हो।

सदानन्द—वाह, यह आप क्या कहते हैं। मेरे रहते हुए आपकी भद्द ! ज़बान काट लूँगा ज़बान ! आप मुझे समझते क्या है ?

पञ्चानन—आपसे आशा ऐसी ही है !

(सदानन्द का प्रस्थान । पञ्चानन का उठ कर घर के भीतर जाना) ।

दूसरा दृश्य

[स्थान-पञ्चानन के घर का आँगन]

(देवकी आधा घूँघट मारे चूल्हे के पास बैठी है । पञ्चानन क्रोधित होकर उसके पास जाता और बड़-बड़ाता है ।)

पञ्चानन-(घूँसा तान कर क्रोध में) क्यों री ! देख कर नहीं चलती । जानती नहीं, कौन बैठा है, कौन नहीं । आँख में पट्टी बाँधे रहती है ।

देवकी—(काँपती हुई धीरे से) मुझे क्या मालूम कौन बैठा था ।

पञ्चानन—शर्म को घोल कर पी गई है ! कौन था ? (दाँत पीसता है) । ऐसी बेपर्दगी, ऐसी बेहयाई ! जानती नहीं, बाहर मेरी इज्ज़त कैसी है । इज्ज़त लेना चाहती है । (धोती का छोर पकड़ कर) ऐसी गन्दी धोती ! बाप रे, इसने तो आज मेरी इज्ज़त ले ली थी ।

देवकी—क्या करूँ, आप मुझे ही बार-बार कहते हैं । कितनी बार कहा कि धोती धोबी को दे दीजिए । या साबुन ही मँगा दीजिए । किससे कहूँ, कोई सुनने वाला है !

पञ्चानन—(क्रोध में) धोबी ! धोबी क्या पैसे नहीं लेता, मुफ़्त धोता है ? तेरा कोई लगता है ? चली है धोबी से कपड़ा धुलाने, हुँ !

देवकी—पैसे पाने पर कौन धोबी है जो कपड़ा न धो देगा ? मैं बाहर निकलती होती तो तुम्हारी यह बातें मुझे क्यों सुनने को मिलतीं ।

पञ्चानन—(दोनों हाथ कमर पर रख कर) अच्छा ! अब धोबी के यहाँ जायगी । तुझे भी अब शहर की हवा लग रही है । तेरा क्या ठिकाना, जब मैं घर पर न रहता हूँगा तो कहीं ज़रूर जाती होगी । पैसा ! पैसा ! करके तूने मेरी ज़िन्दगी ख़राब कर दी है । पैसा क्या तेरे बाप का है । अब अगर पैसे का नाम लिया (गले की ओर हाथ बढ़ाता है) तो गला घोंट दूँगा ।

देवकी—(सिसक कर रोती हुई) हे भगवान ! अब किसी तरह छुटकारा नहीं । क्या करूँ, मेरी मौत भी नहीं आती । कलेजा पक गया है ।

पञ्चानन—(ज़ोर से) फाँसी लगा ले फाँसी ! बेवकूफ़ की बेटी ! तुझे कितना समझाऊँ, तेरे दिमाग़ में तो भूसा भरा है । अक़्ल तो तेरे भेजे में है ही नहीं ! अरे, कपड़े रँग ले रँग ! ज़रा अक़्ल से काम ले । खासे नीले रङ्ग से कपड़ा रङ्ग लेने से धोबी का पिण्ड छूट जायगा । अब ज़माना आ गया है, जब कि किफ़ायत से काम निकालना चाहिए । नहीं तो दाने-दाने को मोहताज हो जायगी ।

देवकी—यह बात थी तो अब तक क्यों नहीं बताया । बाज़ार से रङ्ग ही ला देते ।

पञ्चानन—अब तो सब कुछ मैं करूँगा ही । यह भी कोई बतलाने की बात थी । लेकिन अक़्ल के दुशमन के लिए क्या चारा ! इसकी इतनी हिम्मत ! मेरे मित्र बैठे हैं और पैर में बेड़ी पहने चली आ रही है । बेशर्म कहीं की !

देवकी—बेड़ी ! बेड़ी कैसी ?

पञ्चानन (पैर की ओर इशारा करके) अरे यही मोटा कड़ा और क्या ?

देवकी—हाय ! यही तो मेरा सुहाग है । तुम्हारे जीते जी मैं कड़ा नहीं उतार सकती । मारो, काटो, गाली दो, बको-झको, जो चाहे सो कहो, लेकिन कड़ा न उतारूँगी ।

पञ्चानन—(कुछ द्रवित होकर) हाँ-हाँ, पतिभक्ता तो तुम ऐसी हो कि क्या कहना ! तुम्हारी ही वजह से मैं ज़िन्दा हूँ । (समझा कर) देखो आज फिर समझाए देता हूँ, यह दुनिया बड़ी विचित्र है । मैं एक समाज-सुधारक हूँ । चारों तरफ़ देखकर चलता हूँ । लेकिन दुनिया कुएँ में कूदे, मैं तो अपने घर की मर्यादा नहीं तोड़ सकता । मेरे १५ पुश्त से धर्म का पालन होता चला आया है ।

देवकी—(घूँघट सर पर चढ़ाकर) आख़िर आप का मतलब क्या है ?

पञ्चानन—(बैठकर) यही कि आजकल की स्त्रियाँ न जाने किस ओर जा रही हैं। हाथ-पाँव में कुछ नहीं। विवाहिता भी विधवा का वेश बनाए हुए हैं। शर्म, हया, पर्दा का नाम नहीं रह गया। मेरे पिता जी कहते थे कि बेटा, बूढ़ा हो गया, मगर तुम्हारी माता जी का मुँह मैंने कभी नहीं देखा। (सर नीचा करके) हाय ! मेरी सती-साध्वी माता ! तुम जीवित होतीं तो क्यों आज मुझे घर में मगज़पच्ची करनी होती। देखो, यदि मैंने आज बात न बना दी होती तो न जाने क्या हो जाता।

देवकी—(ज़रा कुछ व्यग्रता से) बात क्या बना दी ?

पञ्चानन—(मुसकराकर) यही कि मैंने अपने मित्र से बहाना बना दिया कि यह मेरी नौकरानी है, बुन्देलखण्ड से आई है। तुम्हीं बताओ, यदि ऐसा न होता तो आज 'टाउन हाल' में मुँह दिखाने लायक़ रहता ?

देवकी—(क्रुद्ध होकर) तो क्या मैं तुम्हारी पत्नी नहीं हूँ, नौकरानी हूँ। मैं सब सह सकती हूँ, दूसरों के सामने अपमान नहीं सह सकती। मैं कल भैया को बुला कर नैहर चली जाऊँगी।

पञ्चानन—अरे बाप रे बाप ! घोर कलियुग है। गुड़ खिलाना ज़हर हो रहा है। (विनम्रता से) देखो, इसमें अपमान क्या है ? वे यह तो जानते नहीं कि तुम पत्नी हो। अपना मतलब निकल गया। हम तुम राज़ी तो क्या करे क़ाज़ी। ग़लती तुम्हारी ही थी। न तुम सामने आतीं न ऐसा मुझे कहना पड़ता।

देवकी—नहीं, उन्होंने पहचान लिया होगा।

पञ्चानन—पहचान ! पहचान तो उनके फ़िरिश्ते भी नहीं सकते। मैंने कच्चे घाट का पानी नहीं पिया। मेरा नाम है पञ्चानन शास्त्रालङ्कार ! (व्याख्यान का स्मरण करके) अरे अब तो वक़्त हो गया है। मुझे अब जल्दी करनी चाहिए। देखो, मेरे जाने पर किवाड़े बन्द रखा करो, कोई लाख पुकारे, किवाड़ मत खोलना। मैं जब आऊँ तो मुझे भी भीतर से किवाड़ की दरारों से पहचान कर किवाड़ खोलना।

देवकी—आख़िर कहाँ जाना है ?

पञ्चानन—(उत्सुक होकर) अरे तुम नहीं जानती हो ? आज मेरा टाउन हाल में 'स्त्री-सुधार' पर व्याख्यान है। वहाँ बड़े-बड़े घर की महिलाएँ आएँगी, लोग आएँगे और कॉलेज के विद्यार्थी भी आवेंगे। आज काफ़ी मज़ा आएगा (उठकर चलता है)।

देवकी—अरे खिचड़ी ठण्डी हो गई, कुछ खा तो लो। पता नहीं वहाँ कितनी देर लगे।

पञ्चानन—मुझे देर हो रही है। तुम्हारी बकझक के मारे तो और नाक में दम रहता है। अच्छा लाओ, कुछ खा ही लूँ। (कपड़ा उतार कर हाथ-पाँव धोकर नङ्गे बदन भोजन करने बैठता है)।

तीसरा दृश्य

[स्थान—टाउन हाल का मैदान]

(मैदान में पञ्चानन का व्याख्यान। तालियों की गड़गड़ाहट। व्याख्यान की समाप्ति। विद्यार्थियों द्वारा पण्डित जी की दावत। मेज़ के चारों ओर विद्यार्थी, सदानन्द और पञ्चानन बैठे हैं। मेज़ पर रसगुल्लों की तश्तरी। चाय का प्याला, छुरी-काँटा रखा है। लोग चाय पी रहे हैं।)

विद्यार्थी—पण्डित जी, चाय पीजिए। लाइये मैं बना दूँ।

पञ्चानन—(रसगुल्ले की ओर देखकर) नहीं, आज तो मेरा व्रत है। मैं चाय नहीं पीऊँगा।

विद्यार्थी—तो मिठाई ही खाइये। बढ़िया रसगुल्ले आपके लिए ख़ास तौर से मँगाए गये हैं।

पञ्चानन—(सदानन्द की ओर देखकर फिर सोचकर) अच्छा (उङ्गली का इशारा करके) यह रसगुल्ले मेरे ही लिए मँगाए गये हैं। देखने में तो बड़े ख़ूबसूरत हैं, लेकिन भाई, इसमें विदेशी चीनी पड़ी होगी ? यों तो आप लोग जानते हैं, मैं परहेज़ या छुआछूत नहीं मानता, लेकिन आज व्रत के दिन शुद्ध भोजन करना चाहिए।

विद्यार्थी—क्यों नहीं, अवश्य, अवश्य ! लेकिन पण्डित जी यह शुद्ध देशी चीनी का बना है। फलाहारी भी है। आपको एतराज़ न होना चाहिए।

पञ्चानन—हाँ, तब तो ठीक है। मालूम होता है, आप लोग ज्योतिषी भी है। नहीं भला रसगुल्लों की इस वक़्त क्या ज़रूरत थी।

एक विद्यार्थी—(दूसरे विद्यार्थी की ओर इशारा करके) पण्डित जी यह जोतिष शास्तर के बड़े जानकार हैं।

पञ्चानन—(रसगुल्ले खाते हुए) मैं तो आप सभी को ज्योतिषी समझता हूँ।

दूसरा विद्यार्थी—यह सब आपकी कृपा है।

(पञ्चानन जी रसगुल्ले खाकर अपने दुपट्टे से हवा करते हैं। तीन-चार अन्य विद्यार्थी वहाँ आते हैं।)

पहला—पण्डित जी जयराम जी की !

दूसरा—पण्डित जी बन्दगी।

तीसरा—महाशय जी, नमो नमः।

चौथा—(हँसकर) पण्डित जी जय सियाराम की।

(पञ्चानन आश्चर्य और विस्मय से सबकी ओर देखते हैं, फिर नीचे की ओर देखने लगते हैं।)

पहला—पण्डित जी, हम लोगों ने आपको तकलीफ़ दी, क्षमा कीजिए। हम लोग आप से कुछ पूछना चाहते हैं।

सदानन्द—(उत्सुकता के साथ) हाँ-हाँ, आइए, बैठिए; पूछिए। पञ्चानन जी थक गये हैं, लेकिन आप को जो पूछना हो पूछिए।

तीसरा विद्यार्थी—(बैठे हुए लोगों को सम्बोधित करके) अरे साहब, पण्डित जी ने तो आज कमाल कर दिया। स्त्री-सुधार पर ऐसी पुरजोश स्पीच मैंने जिन्दगी में नहीं सुनी। वाह वाह ! क्या तर्क थे, कैसे कथानक थे ! सारी बातें हम लोगों के रोम-रोम में समा गई है।

(लड़के बैठते हैं, पण्डित जी बड़े ग़ौर से उनकी ओर देखते हैं।)

अन्य विद्यार्थी—हाँ, समा क्यों न जायँ। पण्डित जी व्याख्यान ही ऐसा देते हैं कि कलेजे में तीर की तरह जाकर चुभ जाता है।

(दो-तीन लड़के 'वाह' 'वाह' कह कर अपने वक्ष-स्थल पर हाथ रखते हैं।)

पञ्चानन—(प्रसन्न होकर) आप लोग तो मुझे बनाने लगे।

दूसरा विद्यार्थी—पण्डित जी, भला आपको कौन बना सकता है। हम सभी लोगों को परमात्मा ने बनाया है।

पञ्चानन—हाँ-हाँ, क्यों नहीं, परमात्मा तो सब को बनाता ही है।

तीसरा—अच्छा पण्डित जी, पर्दे के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ?

पञ्चानन—पर्दा, अरे पर्दा इस युग में ! हर्गिज़ न होना चाहिये। स्त्री-जाति के लिये यह कलङ्क है। आप लोगों ने तो पढ़ा ही होगा कि हमारे आदि पुरुष कुछ पहनते ही नहीं थे। बाद को पेड़ की छाल पहनने लगे थे। अपना वही पूर्व गौरव प्राप्त कीजिये। पर्दे का बायकाट कीजिए। अख़बारों में लिखिए, यदि सत्याग्रह सम्भव हो तो इसका भी सहारा लिया जाय।

लड़के—(ताली पीट कर) क्या ठिकाने की बात कही है !

चौथा लड़का—पण्डित जी, गुस्ताख़ी माफ़ हो तो एक बात कहूँ, बुरा न मानिएगा।

पञ्चानन—(मुसकराकर) नहीं-नहीं, बुरा मानने की क्या बात है। जो कुछ कहना हो, कह डालो। कसर न रहे। इस वक़्त सौ ख़ून माफ़।

विद्यार्थी—पण्डित जी, आपकी श्रीमती जी व्याख्यान में नहीं पधारीं ! यदि वे व्याख्यान देतीं तो स्त्रियों पर अधिक प्रभाव पड़ता।

पञ्चानन—(गर्दन ऊँची करके) वाह ! आप लोगों ने देखा ही नहीं, आई तो थीं। अभी-अभी गई है। बड़ा सुन्दर व्याख्यान देती हैं। हः हः हः हः ! वे तो पर्दे के सख्त ख़िलाफ़ हैं। बड़ी एडवांस हैं। आप लोगों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि 'स्त्री-सुधार' का जो बीड़ा मैंने उठाया है, वह उन्हीं की प्रेरणा से।

('वाह' 'वाह' की आवाज़ होती है)

एक लड़का—(दूसरे लड़के के कान में चुपचाप कहता तब तो ख़ूबसूरत भी ख़ूब होंगी) (प्रत्यक्ष) हाँ

परिडत जी, हम लोग एक दिन आपके घर आना चाहते हैं।

पञ्चानन – (आश्चर्य-चकित होकर) घर! भई घर में तो मुझे फ़ुर्सत नहीं। मेरे मिलने का कोई ठिकाना नहीं।

चौथा लड़का—ख़ैर, कभी न कभी तो आप से भेंट हो ही जायगी। लेकिन आपकी श्रीमती जी तो मिल ही जायँगी।

पञ्चानन—वे, वे तो और भी झञ्झटों में पड़ी रहती हैं। स्त्रियों की सभा में उन्हें व्याख्यान देने के लिए कलकत्ता और बम्बई तक जाना पड़ता है। फिर आप लोग तो पढ़े-लिखे हैं; बिना जान-पहचान के एडवांस से एडवांस स्त्री को पहले बोलने में सङ्कोच होता ही है।

दूसरा विद्यार्थी—हाँ, यह तो आपका कहना ठीक है। लेकिन सार्वजनिक सेवा-वृत्ति वाली स्त्रियों के लिए सङ्कोच की कोई बात नहीं। परिडत जी, बात दरअसल यह है कि हम लोग अपने कॉलेज के एक डिबेट में उन्हें सभानेत्री बनाना चाहते हैं।

पञ्चानन—अवश्य बनाइये! इसमें क्या हर्ज है। लेकिन आजकल ज़रा वे अलील हैं। स्वस्थ होते ही मैं आप लोगों को सूचित करूँगा।

चौथा लड़का – परिडत जी, 'तलाक़' के सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं?

पञ्चानन—हाँ-हाँ, तलाक़ की प्रथा तो निहायत ज़रूरी है। अब तो मौक़ा भी अच्छा है। सुधारकों के हाथ में शासन आया है। क़ानून बदलवाइये, आन्दोलन कीजिए। यदि पुरुष स्वतन्त्र हैं तो स्त्रियों को स्वतन्त्रता मिलना बहुत ज़रूरी है।

एक लड़का—धर्मशास्त्र तो आज्ञा नहीं देते!

पञ्चानन—धर्म-शास्त्र, पुराने पड़ गये हैं। नये धर्म-शास्त्र बनवाइये। आजकल परिडत एक से एक बढ़कर हैं। क़ानून बदल जायगा तो धर्म-शास्त्र को कौन पूछता है। यथा राजा तथा प्रजा।

सदानन्द—पञ्चानन जी ठीक कहते हैं। नवयुवकों के हाथ में समाज का कल्याण है।

(लड़के एक दूसरे की ओर देखकर प्रसन्न होते, मुस्कराते और पञ्चानन की प्रशंसा करते हैं और उन्हें नमस्कार कर वहाँ से प्रस्थान करते हैं।)

चौथा दृश्य

[स्थान—पञ्चानन जी के घर का दरवाज़ा]

(देवकी दरवाज़े के बाहर रङ्ग वाले से रङ्ग ख़रीद रही है। दो-तीन पड़ोस की स्त्रियाँ भी खड़ी हैं।)

देवकी—(भयभीत होकर) एक पैसे का मुझे नीला रङ्ग दे दो।

रङ्गवाला—(रङ्गों के डिब्बे खोलकर रङ्ग दिखाते हुए) लीजिए बहू जी, तरह-तरह के बढ़िया रङ्ग हैं—गुलाबी, बैजनी, अनारी, पीला, हरा—उम्दा रङ्ग लीजिए।

देवकी—नहीं, मुझे एक पैसे का नीला रङ्ग चाहिए।

दूसरी स्त्री—हाँ बहू जी, कुछ अच्छे रङ्ग चार-छः पैसे के ले लीजिए। एक पैसे के रङ्ग से क्या होगा?

देवकी—नहीं, नहीं, मुझे सिर्फ़ एक पैसे का नीला रङ्ग चाहिए। जल्दी दो, पता नहीं वे किस वक़्त आ जायँ।

रङ्गवाला – बहू जी, अच्छा गुलाबी रङ्ग भी ले लीजिए!

देवकी – मुझे जल्दी दो, नहीं मैं जाती हूँ, लो पैसा।

स्त्रियाँ – ले लो बहू जी, अभी परिडत जी के आने का वक़्त नहीं हुआ।

देवकी—मैं जाती हूँ (वह जाना चाहती है)।

रङ्गवाला—अच्छा लीजिए एक पैसे का गुलाबी और एक पैसे का नीला।

देवकी – अच्छा लाओ।

(इतने में परिडत जी आ जाते हैं। देवकी को घर के बाहर रङ्ग वाले को पैसे देते हुए देख लेते हैं। स्त्रियाँ भाग जाती हैं। देवकी भीतर भागती है और किवाड़ बन्द कर लेती है।)

पञ्चानन—(क्रोध से) क्यों बे रङ्ग वाले, मेरे दरवाज़े पर क्यों आया? औरतों को बहकाने आता है। ठहर, आज मैं तुझे मज़ा चखाता हूँ।

रङ्गवाला—नहीं बाबूजी, लो मैं जाता हूँ।

पंचानन – जाता कहाँ है, आज बैठ, देखूँगा तू कितनी देर मेरे दरवाज़े पर बैठता है। तुझे पुलिस में

दूँगा। मुझे तूने समझ क्या रखा है। और उसे—उसे तो......।

(पण्डित जी क्रोध में दरवाज़े की ओर बढ़ कर कुण्डी खड़खड़ाते हैं। रङ्ग वाला पोटली लेकर खिसक देता है।)

पंचानन—खोल किवाड़, जल्दी खोल, अभी तुझे बताता हूँ!

(देवकी चुपचाप किवाड़ खोल देती है)

पंचानन—(क्रोध से दाँत पीस कर) क्यों बाहर निकली! बोल जल्दी (देवकी का हाथ झटक कर), मैंने कहा था न कि मेरे न रहने पर किवाड़ न खोलना। क्यों खोला! बोल !!

देवकी—(खिसकती हुई) नीला रङ्ग लिया है, धोती रङ्गना था।

पंचानन—(ज़ोर से) एक दिन में तेरी धोती कहाँ फटी जा रही थी। दिखा कहाँ रङ्ग है? (देवकी नीला रङ्ग दिखाती है, गुलाबी पुड़िया भी पास पड़ी है, पञ्चानन उसे भी उठा कर देखते हैं।)

पंचानन—और इस रङ्ग को क्यों खरीदा? गुलाबी रङ्ग की क्या ज़रूरत थी। गुलाबी में कपड़े रङ्ग के किसे दिखावेगी? ठहर जा, कल से तुझे बताऊँगा। ताला बन्द करके जाऊँगा ताला! अब रङ्गरेज़ और रङ्ग-वाले से दिल्लगी-मज़ाक की सूझी है!

(देवकी ज़ोर से रोने लगती है। पड़ोस की स्त्रियाँ आकर मकान के दरवाज़े के बाहर खड़ी हो जाती हैं।)

पञ्चानन—स्त्री चरित्रं, पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः' यह शास्त्र-वाक्य झूठ नहीं हो सकता।

(देवकी फूट-फूट कर रोती है, बाहर खड़ी स्त्रियाँ आपस में कहती हैं—"बड़ा कसाई है।" पञ्चानन पीछे मुड़ कर स्त्रियों की बात सुन लेते है और उनकी ओर दौड़ते हैं)

पञ्चानन—(क्रोध में) मेरे दरवाज़े पर क्यों तुम लोग खड़ी हो, चली जाओ, अपना मुँह काला करो। यहाँ गाना, नाच, तमाशा या नाटक नहीं हो रहा है। तुम्हीं लोगों ने तो मेरी औरत को बिगाड़ दिया है। मेरे मामले में तुम लोग बोलने वाली कौन होती हो। मैं तो कसाई हूँ। जाओ, जाओ, मेरे यहाँ से! (औरतों की ओर ज़ोर से दौड़ता है)।

(स्त्रियाँ बड़बड़ाती, पञ्चानन को बुरा-भला कहती और देवकी से सहानुभूति दिखाती हुई चली जाती हैं।)

पञ्चानन—(भीतर जाकर जलते हुए चूल्हे को देख कर, एक लोटा पानी लेकर बुझाता है) आज न खाऊँगा न तुझे खाने दूँगा। तूने मेरी इज़्ज़त ले ली। रङ्ग खरीदने चली है। जाती क्यों नहीं, बाज़ार से सौदा ला!

(देवकी रात्रि में ज़मीन में पड़ कर सो जाती है। पञ्चानन प्रातःकाल उठ कर दरवाज़े में ताला लगा कर चला जाता है। पड़ोस की स्त्रियाँ चुपके से आती हैं।)

एक स्त्री—(दरवाज़े के बाहर से किवाड़ की साँस से देख कर) बहू जी उठो, खाना खाओ, क्या करोगी, ऐसा कसाई तो मैंने देखा नहीं!

देवकी—(उठ कर किवाड़ के पास आती है) क्या कहूँ बहिन! समझ में नहीं आता। नाक में दम हो गया है।

दूसरी स्त्री—कहाँ गए हैं बहू जी (ताले को देख कर) आज तो ताला लगा कर गये हैं!

देवकी—कहीं 'स्त्री-सुधार' पर लेक्चर देने गये होंगे।

पहली स्त्री—बहू जी, दुनिया ही उल्टी है। मसल है कि लोमड़ी दूसरे को सगुन बतलावे, खुद कुत्तों से कटवावे।

दूसरी—हाँ बहू जी, क्या करोगी, आजकल घर-बाहर की ऐसी ही समस्या है।

(स्त्रियों का प्रस्थान)



बिखरे फूल

बुन्देलखण्ड की स्त्रियों की वेषभूषा

जलवायु का प्रभाव निवासियों पर पड़ता है यह निर्विवाद है और उसी के अनुसार लोगों की वेष-भूषा हुआ करती है। इसी कारण प्रत्येक जलवायु अपनी विभिन्नता रखती है। बुन्देलखण्ड एक पहाड़ी प्रान्त है, जहाँ अधिक पहाड़ी स्थल हैं। बहुत थोड़ा सा भाग ऐसा है, जो उपजाऊ कहा जा सकता है। यही कारण है कि यहाँ खेती बहुत कम होती है, जिसका फल है कि इस भू-भाग के किसान निर्धनता के साक्षात अवतार हैं। इस प्रान्त की भाषा अपनी ही है और वह है बुन्देलखण्डी, पर थोड़े से स्थल ऐसे हैं, जहाँ यह भाषा बघेलखण्डी और खड़ी बोली से मिश्रित हो गई है। इस प्रान्त का पहिनावा, पुरुष और स्त्रियों का, भारतवर्ष के और भागों से भिन्नता रखता है। यहाँ भी प्रति ५० मील के अन्तर पर स्त्रियों की वेष-भूषा बदली हुई पाई जाती है। बुन्देल-खण्ड एक ऐसा प्रान्त है, जहाँ सुधार की भावनाएँ बहुत पीछे जाग्रत हुई हैं।

स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में अब पुरुषों की धारणाएँ सीधे पथ पर आ रही हैं तथा वे स्त्री-शिक्षा का समर्थन भी करने लगे हैं, पर इस बात में यह प्रान्त अभी पीछे ही पड़ा है। आशा अवश्य हो रही है कि इसका नागरिक भाग थोड़े दिनों में सुशिक्षित हो जायगा, पर जहाँ शहर इने-गिने हों और उनका ही सुधार हो तो वह सुधार क्या कहा जा सकेगा। यहाँ क्या, पूरे भारतवर्ष में देहातों की संख्या अधिक है और वास्तविक सुधार यदि देश का कुछ हो सकता है तो तभी जब देहात उन्नति की ओर अग्रसर हों।

यों तो भारत के प्रत्येक गाँव में दरिद्रता देवी का साम्राज्य छाया है, पर यहाँ वह और अधिक है। यहाँ पर उन्नति के मार्ग में तीन प्रधान बाधाएँ हैं :—

१—देहातों की अतिशय निर्धनता

२—पुरुष-समाज में शिक्षा का अभाव

३—रूढ़वादिता तथा अन्ध-विश्वास का प्राबल्य

यहाँ पर कला-कौशल है ही नहीं कि लोग जिसके द्वारा अपनी जीविका निर्वाह कर सकें। क्योंकि मनुष्य जब जीविका की उलझन से निश्चिन्त होता है, तभी वह अपने सुधार की इच्छा कर सकता है। यहाँ जो कुछ व्यवसाय है वह श्रीमानों तक ही सीमित है। इस प्रान्त के बड़े व्यवसायी प्रायः बाहरी पुरुष हैं। खेती के सम्बन्ध में पहिले ही लिखा जा चुका है कि वह बहुत कम होती है। यदि किसी वर्ष ओला या और कोई ईश्वरीय प्रकोप हो गया तो और भीषण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे समय में पेट का प्रश्न प्रत्येक समय मनुष्यों के सम्मुख रहता है।

बुन्देलखण्ड में केवल चार जिले हैं और बाक़ी भाग इसका रियासतों में सम्मिलित है। सी० पी० का थोड़ा सा भाग भी इसी में शामिल है। इसमें नगर कोई नहीं है। झाँसी अवश्य इस पद को पाने के लिए प्रयत्नशील है। बाँदा भी कानपुर और इलाहाबाद के निकट होने के कारण

नगर-सौरभ सूँघा करता है। इसके अतिरिक्त और सब शहर क़स्बे या बड़े ग्राम के तुल्य है।

इस प्रान्त में स्त्रियों के दो पहिनावे पाये जाते हैं—

(१) घाँघरा

(२) साड़ी या धोती

घाँघरा इस प्रान्त ही का नहीं, अपितु भारत की अपनी वस्तु है, जिसकी बनावट में कला का अस्तित्व है। यह पहिनाव आज भी हमें हमारे राधा-कृष्ण के उच्च कला-प्रेम को प्रदर्शित करता है। घाँघरा यदि वस्तुतः पूछा जाय तो व्रज की वस्तु है। राधा-कृष्ण के जितने चित्र हमें मिलते हैं उनमें यही घाँघरा देखा जाता है। इसका पहिनावा कलापूर्ण है। इसकी महत्ता आज इस पेटीकोट व जार्जेट के युग में यद्यपि पूर्व की भाँति सर्व-मान्य नहीं है, पर फिर भी कला-प्रदर्शन व उच्चादर्शों के क्षेत्र में अब भी वह अकाट्य है। नर्तकियों को अपनी कला का अभिनय दिखाने में इसी का आश्रय लेना पड़ता है। शरीर को कला का रूप देने में इसकी आवश्यकता अनि-वार्य रूप से पड़ती है। इस भाग में यह अधिकता से पहिना जाता है। यह कभी-कभी बड़ा ख़र्च करा कर तैयार कराये जाते हैं। विवाह आदि शुभ अवसरों पर बनाये गये लहँगे काफ़ी मूल्य ख़र्च करके ख़रीदे या बनवाए जाते हैं। इनकी सुन्दरता देखने योग्य रहती है। जब नई दुलहिन इसे पहिन लेती है तो यह उसकी सुन्दरता को बहुत बढ़ा देता है।

त्योहारों तथा शुभ कार्यों के प्रारम्भ में लहँगे की आवश्यकता अवश्य ही पड़ती है। बिना इसके कार्य-साफल्य नहीं होता। इसके ऊपर ओढ़ने के लिए एक ओढ़नी रहती है, जो प्रायः उसी रङ्ग में रङ्गी होती है जिसका लहँगा होता है। कोई साड़ी रङ्गी हुई, जो रङ्गरेज़ विशेष रूप से तैयार करते हैं, पहिनती हैं। इस ओढ़नी का नाम बुन्देलखण्डी में 'लुगरा' है। कोई रेशमी साड़ी या रेशमी कपड़े की धोती इसके ऊपर से ओढ़ती हैं। स्थिति तथा अपनी शैली के अनुसार यह तैय्यार कराई जाती है। यह तो हुआ ओढ़ना और पहिनना। शरीर में पहिनने के लिए इसके नीचे बण्डी पहिनी जाती है। यह बण्डी भी काफ़ी बेल-बूटेदार रहती है। इसका रङ्ग भी ओढ़नी के रङ्ग से मिलता-जुलता रहा करता है। यह वेष स्त्रियों को त्योहार के अवसरों पर ऐसा भला मालूम होता है कि वे साक्षात् लक्ष्मी-स्वरूपिणी प्रतीत होती हैं। लहँगे के पहिनने से शरीर में काफी स्फूर्ति रहती है, जो साड़ी में नहीं देखी जाती। लहँगा केवल मँहगा पड़ता है, यही इसका दोष कहा जा सकता है। सम्प्रति युग विज्ञान का युग है, इसमें कला का वास्तविक रूप विज्ञान से आच्छादित रहता है, अतः यह पहिनाव आज के वाता-वरण में पड़ी हुई कॉलेज-छात्राओं के लिए समालोचना का विषय अवश्य है, पर देहातों में इसका पहिनाव अब भी काफ़ी सर्वव्यापी है।

दूसरा पहिनावा साड़ी का है। साड़ी की उपयोगिता भी सिद्ध हो चुकी है। यह अपनी सादगी के लिए प्रसिद्ध है। इसकी मनोहरता पर मुग्ध होकर प्रायः मुस्लिम महिलाएँ भी आज पैजामा को तिलाञ्जलि दे रही हैं। यूरोपीय महिलाएँ भी इसके पहिनने को लालायित रहा करती हैं। जब वस्तुतः इसे पहिन लेती हैं तब वे अपनी सुन्दरता तथा मनोहरता में विशेष अन्तर पाती हैं। साड़ी की कई क़िस्में हैं। इसके नये-नये Style आज बाज़ार में निकलते हैं, जिसका श्रेय मेरे विचार में पारसी महिलाओं को अधिक है। साड़ी से निम्नलिखित लाभ हैं—

(१) घाँघरे की अपेक्षा व्यय कम लगता है।

(२) साड़ी में सफ़ाई अधिक देखी जाती है।

(३) ओढ़ते हुए अच्छी तरह बनती है तथा देखने में सुन्दर मालूम होती है।

साड़ी के नीचे जम्पर या सादा बनियाइननुमाँ वस्त्र पहिना जाता है। यह पहिनाव ज़िलों में जहाँ शिक्षित समुदाय है, देखा जाता है। देहातों में भी अब कुछ घर ऐसे मिल जाते है, जहाँ यह पहिनाव प्रचलित हो गया है।

वस्त्रों के सम्बन्ध में तो उपर्युक्त दो पहिनावे देखे जाते हैं, पर ज़ेवरों में विभिन्नता है। शहराती स्त्रियों के ज़ेवर तो सीमित रहते हैं, साथ-साथ वह सुन्दर भी देखे जाते हैं, पर देहात की महिलाओं में ज़ेवरों का बड़ा भोंड़ा रूप दिखाई देता है। शहरों में स्त्रियाँ झाँझ, लच्छा,

कड़े आदि पहनती हैं, पर देहात में यह बात नहीं है। हमीरपुर और झाँसी प्रान्त में छोटी जाति की स्त्रियों में पैर में एक विशेष भाँति का जेवर देखा जाता है, जिसे 'गूजरी' कहते है। राठ में तथा उसके इर्द-गिर्द इसका पहिनावा काफ़ी तादाद में देखा जाता है। इस ज़ेवर का वज़न डेढ़-दो सेर से तीन-चार सेर तक प्रायः देखा जाता है। इसकी धातु काँसा मिश्रित रहती है। इसके अन्दर स्त्रियाँ कङ्कड़ डालती हैं या बेचने वाले स्वयं डाल देते हैं, जिसके कारण काफ़ी झनझनाहट इनमें हुआ करती है। जब चार-छः स्त्रियाँ झुण्ड में चलती हैं तो उन गूजरियों की झनझनाहट एक विचित्रता का संसार निर्माण किया करती है। दर्शक बिला हँसे हुए नहीं रह सकता। बाँदा प्रान्त में 'बहुटा' या 'बरा' की अधिकता है। यहाँ की देहात की स्त्रियाँ ९९ फ़ीसदी इसका व्यवहार करती हैं और अपनी सुन्दरता के लिए इसे एक कारण समझती हैं। यहाँ एक बात और विशेषतः देहातों में दिखाई पड़ती है और वह यह है कि नाक में एक ज़ेवर कील के स्थान में पहिना जाता है, जो पुँगरिया कहलाती है। यह बुन्देलखण्ड भर में देखी जाती है। पर यहाँ यह काफ़ी मोटी पहिनी जाती है। उसी के ऊपर नाक के ऊपरी भाग में भी एक छोटी सी पुङ्गरी पहनी जाती है। दो पुङ्गरी का पहिनावा काफ़ी तादाद में देहातों में देखा जाता है। देहातों में स्त्रियों के पहिनावे में अल्हड़पन अधिक देखा जाता है, वे सर से पैर तक जेवर पहिनती हैं। देहाती मेलों के अवसरों पर जब स्त्रियाँ मेला देखने जाती हैं, तब जेवरों का व्यवहार देखा जाता है। बुन्देलखण्ड के अधिकांश भाग में स्त्रियाँ चूड़ियों के पीछे कड़े पहिनती हैं, पर बाँदा तथा हमीरपुर के थोड़े भाग में यह कड़े भी विचित्रता रखते है। यह कड़े पोले बनवाये जाते हैं, जो काफ़ी मोटे रहते हैं। उनके दोनों सिरों पर सिंह की आकृति बनाई जाती है। यह कड़े यहाँ स्त्रियाँ चूड़ियों के पीछे पहिनती हैं। गले में प्रायः सुतिया, लल्लरी, बिचौली पहिनी जाती है, जो प्रायः समान है।

इन स्त्रियों की इस प्रकार की वेष-भूषा दो बातों का परिणाम कही जा सकती है। एक तो निरक्षरता और दूसरी रूढ़िवादिता मिश्रित अन्ध-विश्वास। उनको इतनी शिक्षा ही नहीं मिलती कि वे उन्नति के उपाय सोच सके। देहातों में अब ज़िला-बोर्डों ने यद्यपि स्कूल खोल रक्खे है पर वे वास्तविक आवश्यकता को पूर्ण नहीं करते। बहुत स्थलों पर लड़कों को कठिनाई पड़ती है। चार-पाँच मौज़ों में एक प्राइमरी स्कूल देखा जाता है। चार-पाँच मील के लड़के पढ़ने दूसरे मवाज़ियात में आते हैं। जब बरसात में नाले चढ़ते हैं या बारिश बड़े ज़ोर की होती है, तब ये दूर के गाँव वाले बच्चे अपनी इच्छा के विरुद्ध घर रह जाते हैं और पाठशाला नहीं जा पाते। देहातों में शिक्षा के मार्ग में छुआछूत का भूत भी रोड़ा अटकाता है। अछूत बच्चे इसके कारण भी नहीं पढ़ पाते। जब बालकों की ऐसी दशा है तब बालिकाओं को कौन पूछता है। अब देहाती पाठशालाओं में एकाध लड़की लड़कों के साथ अ, ब में पढ़ती हुई नज़र आने लगी है, जिससे प्रकट है कि देहातों में यदि समाज और राष्ट्र के सुधारक किञ्चित भी उद्योग करें तो यह कमी दूर हो सकती है। बुन्देलखण्ड की स्त्रियों का सुधार अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है और न उस समय तक हो सकता है, जब तक कि यहाँ के देहातों का सुधार नहीं होता।

—गोवर्द्धनदास त्रिपाठी

* * *

तब के गाँव



भारतवर्ष तो सदा ही गाँवों का देश रहा है। श्रमिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के पश्चात् थोड़ी ही अवधि में यूरोप की काया-पलट हो गई। जहाँ सीधे-सादे ग्रामवासी रहते थे, वहाँ अब व्यापार, पूँजीवाद एवं कल-पुर्ज़ों के केन्द्रस्थल हो गये हैं। किन्तु भारत की दशा कुछ और ही है। पाश्चात्य सभ्यता एवं वर्तमान मशीन-युग के प्रभाव में पड़कर भी यहाँ के गाँव, गाँव ही रह गये। हाँ, इनकी हालत अवश्य

ही दर्दनाक हो गई है। जब इनकी तुलना हम भारतवर्ष के उन ग्रामों से करते हैं, जो इस देश के उन्नति-काल में थे, तो हमारा हृदय क्षोभ, दुःख एवं लज्जा से टूट जाता है।

दो-ढाई हज़ार वर्ष पूर्व भारतीय गाँवों की क्या हालत थी? शायद इसकी कल्पना करते ही हमें मानव-जीवन की बहुत सी तकलीफ़ों का शीघ्र ही ज्ञान हो जाता है। आज तो हमारे गाँव रोग, दरिद्रता, अत्याचार, धर्मान्धता और अशिक्षा के घर हो रहे हैं। आप यूरोप और अमेरिका, रूस और जापान की ओर एक बार सरसरी दृष्टि दौड़ाएँ, वहाँ के और यहाँ के ग्रामों के दो बिल्कुल भिन्न चित्रों को देख एवं भारतीय कृषकों के अभावों एवं कष्टों को समझ कर कठोर से भी कठोर हृदय पसीज उठेगा। किन्तु मैं समझती हूँ कि हमें विदेश से तुलना करने की कोई भी आवश्यकता नहीं। स्वयं भारत ही में—अतीत या प्राचीन भारत में—सुख एवं शान्ति से परिपूर्ण उन्नत ग्रामों की स्पष्ट झलक देख पड़ेगी।

ईसा से पूर्व तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दियों में मौर्य-वंशी सम्राटों के अधीन भारत की सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति हुई थी। चाणक्य जैसे चतुर एवं विद्वान् राजनीतिज्ञ की चलाई प्रणाली का अनुसरण कर चन्द्रगुप्त, विन्दुसार एवं राजर्षि अशोक ने देश की सेवा में ही अपना जीवन बिता डाला। यही कारण है कि उस युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष ही उन्नति के शिखर पर था। तब गाँवों की अवस्था कितनी सन्तोषप्रद एवं सुधरी हुई थी, इसका अन्दाज़ हम स्वयं लगा सकते हैं।

मौर्यों के राजत्व-काल में सरकार के एक प्रधान विभाग का नाम था—उन्नति विभाग, जिसे आज हम 'Development Depaitemnt' कहते है। इसका प्रधान ध्येय था—ग्राम-सुधार एवं ग्राम-सङ्गठन। परित्यक्त एवं नष्टप्राय गाँवों को छोड़ कर जनता कोई दूसरा ही स्थान चुनती थी और गवर्नमेन्ट की ओर से उन्हें पूरी सहायता मिलती थी। यदि किसी गाँव की जनसंख्या बहुत बढ़ जाती तो आबादी को कम करने के निमित्त लोग दूसरे-दूसरे स्थानों में जा बसते थे। परदेशियों के रहने का भी वहाँ पूरा प्रबन्ध होता था। ऐसे-ऐसे ग्रामों की जनसंख्या दो-ढाई हज़ार से अधिक न हो पाती थी। इनका क्षेत्रफल ३ या ४ वर्ग मील के लगभग होता था। इनकी सीमा और रक्षा का भी पूरा इन्तज़ाम किया जाता था। कभी-कभी तो पहाड़ी, नदी, नहर, तालाब, झील, बाँध इत्यादि प्राकृतिक सीमाओं के द्वारा ही गाँव की रक्षा का प्रबन्ध होता था।

सरकार की ओर से सर्व-साधारण में ज़मीन बाँट दी जाती थी, जिससे किसी को कम या किसी को अधिक ज़मीन या सम्पत्ति भोग करने का मौक़ा न मिले। यज्ञ के पुरोहित, शिक्षक, मन्दिर के पुजारी, विद्यार्थी एवं गो, ब्राह्मण, और सन्यासी के लिए भी सरकार अलग ही भूमि दान देती थी। यह दान ब्रह्मदेय कहाता था और इस पर किसी तरह का कर अर्थात् टैक्स या जुर्माना आदि न लगाया जाता था। सोम के पैदावार के निमित्त ब्राह्मण और तपोनुष्ठान के लिए तपस्वी भी इस भूमिदान के भागी होते थे। इस भूमि या खेतों में रहने वाले पशु-पक्षी की हत्या भी कोई न कर सकता था। धर्म एवं क़ानून के विरुद्ध ऐसे शिकार करने वालों को कड़ी से कड़ी सज़ा दी जाती थी। दान में दी गई भूमि को कोई खरीद भी नहीं सकता था। हाँ, यदि कोई हक़दार या उत्तराधिकारी न हो तो अवश्य ही इस सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार होता था।

राज-कर्मचारी भी ज़मीन पाने के हक़दार होते थे, जिससे राज्य-सेवा के फलस्वरूप उन्हें किसी प्रकार की आर्थिक कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। शेष भूमि दो भागों में विभक्त की जाती थी—(१) वे ज़मीनें जिनका बन्दोबस्त रैयत के साथ कई वर्षों के लिये होता था और जिनसे सरकार को मालगुज़ारी प्राप्त होती थी और (२) वे ज़मीनें जिन्हें रैयत स्वयं जोतने के लायक़ बना अपने व्यवहार में लाती थी। ऐसी भूमि पर किसानों का परम्परागत अधिकार हो जाता था। इतना ही नहीं, पशुओं के पालने और कृषि की उन्नति के निमित्त ज़मीन सरकार की ओर से मुफ़्त दी जाती थी।

ग्रामों का सुधार एवं सङ्गठन इस रीति से किया जाता था कि राजा और प्रजा दोनों ही की अत्यधिक भलाई हो। श्रेणी अथवा वर्ग-युद्ध (Class war) की वहाँ कोई गुञ्जाइश न थी। ज़मींदार और किसान, छूत या अछूत को पारस्परिक लड़ाई के लिए कोई अवसर ही न मिलता था, क्योंकि क़ानून के अनुसार कोई भी किसी पर मनमाना अत्याचार न कर पाते थे। सहयोग समितियों से (co-operative societies) गाँव की सफ़ाई, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि कार्य सम्पन्न होते थे। म्यूनिसिपैलिटी इतने ही कर्त्तव्य से तुष्ट न हो गाँव-निवासियों की प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, परिवार एवं नौकर-चाकरों के अधिकारों की पूरी रक्षा करती थी। ज़बरदस्ती यदि कोई ग़ैर-क़ानूनी काम करता या पाप करता तो गाँव के अधिकारी पञ्चायत के द्वारा उसे दण्ड देते। अनाथालय, अस्पताल, अतिथि-भवन, धर्मशाला, खेलकूद एवं जनता की आवश्यकताओं को पूरी करने के निमित्त भी सरकार की ओर से पूरा इन्तज़ाम रहता था।

यदि अचानक कोई मुसीबत आ पड़ती या बाढ़, अकाल, भूकम्प, रोग या राजकीय आन्दोलनों के कारण प्रजा की अवस्था ख़राब हो जाती तो गवर्नमेण्ट मालगुज़ारी या जुर्माना माफ़ कर देती थी। पशुओं की रक्षा करना कृषि और उन्नति विभाग का एक प्रमुख कर्तव्य था। सड़कों पर चलना या समूचे देश में कहीं भी व्यापार करना बिल्कुल निरापद था। उत्तम सड़कों एवं नहरों की संख्या इतनी पर्याप्त थी कि शीघ्रता से वाणिज्य करने में किसी को कोई कठिनता अनुभव करनी न पड़ती थी। इसके अतिरिक्त खनिज पदार्थ, उद्योग-धन्धा, जङ्गली चीज़ एवं पशु आदि की प्राप्ति एवं उन्नति के निमित्त सभी साधन मौजूद थे।

म्युनिसिपैलिटी को गाँवों के मकान, मन्दिर इत्यादि बनने या तोड़ने पर पूरा अधिकार था। प्रत्येक मकान के निकट एक बगीचा, छोटी सी ज़मीन, एवं तालाब ज़रूर ही होते थे। आजकल की तरह जीर्ण-शीर्ण सटे-सटे झोपड़ों के समूह गाँवों के सदृश्य अवस्था उस समय कहीं भी देखने में न आती थी। बिहार में तो मकान को काफ़ी मज़बूत बनाने के निमित्त ऐसा प्रबन्ध किया गया था कि भयानक भूकम्पों से भी वे सुरक्षित रहें। मालूम तो ऐसा होता है कि १९३४ के भूकम्प वाले बिहार में ही ईसा से ३६६ वर्ष पूर्व एक महा-प्रलयकारी भूडोल हुआ था। गाँवों की सफ़ाई का इतना ख़याल था कि प्रत्येक मकान के रसोई-घर एवं पाखाना, सड़क, नहर, इत्यादि को साफ़ करना केवल सरकार का ही कर्तव्य नहीं था, बल्कि ग्रामनिवासियों का भी कर्तव्य था। यदि गाँव के रहने वाले इसमें चूक जाते तो वे कड़ी सज़ा के भागी होते थे। बाढ़ के दिनों में प्रत्येक परिवार को विपत्ति का सामना करने के लिए सभी इन्तज़ाम करना पड़ता था—हाँ, सरकार की ओर से उन्हें पूरी सहायता प्राप्त थी। काठ का तख़्ता, बाँस, नाव, बोतल और पीपा, डोंगी, आदि सभी ज़रूरी चीज़ें मौजूद रहती थीं। बाढ़ आ जाने पर सभी को प्राणपण से गाँव की सेवा और रक्षा करनी पड़ती थी। दुर्भिक्ष के समय बीज, रुपया, उद्योग-धन्धा, अन्न-वस्त्र, दवा, इत्यादि से सरकार गाँव वालों के प्राणों की रक्षा करने में कोई कसर न उठा रखती थी।

तब के गाँवों का यह चित्र कितना सुखद और सुनहरा है! इसका स्मरण होते ही हमें भारत के रत्न चाणक्य और राजर्षि अशोक की याद हो उठती है। किन्तु—

तब और अब के गाँवों में कितना महान् अन्तर है?

—श्रीमती ललिताप्रसाद

* * *

समाज के प्रति सदस्यों के कर्त्तव्य

मनुष्य-जीवन का ध्येय उन्नति-पथ पर आरूढ़ होकर भावी मनुष्य-समाज के लिए आदर्श स्थापित करना है, जिसके प्रकाश में आने वाला समाज अपने लिए कल्याणकारक मार्ग ढूँढ़ सके। इस आदर्श की आधार-शिला निजी अनुभव द्वारा प्राप्त निष्कर्ष है। अतएव समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य पूर्व आदर्शों

पर आचरण करना और स्वयं नवीन आदर्श स्थापित करना है।

हमारे समाज का क्या रूप है और वह किस ओर अग्रसर हो रहा है, यह सोचना, उसपर मनन करना, समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए आवश्यक है। केवल अपनी उन्नति ही उसका एकमात्र उद्देश्य नहीं, वरन् समस्त समाज के उत्थान के लिए उसे प्रयत्नशील होना चाहिए। पूर्व समाज ने जो-जो आदर्श स्थापित किये हैं, उन पर परिस्थितियों के अनुसार विवेचन कर उसे पग बढ़ाना है। समयानुसार जो आदर्श उसके लिए हितकर हैं, उन्हें अपनाना और समाज के कार्य-क्रम को सुचारु रूपेण चलाते रहना है।

प्रत्येक समाज किन्हीं नियमों द्वारा सञ्चालित होता है, स्वयं नहीं, परन्तु अपने सदस्यों द्वारा, जो अपने कर्त्तव्यों का परिपालन करते हुए कार्य-संलग्न रहते हैं, यदि कोई सदस्य उसके किसी नियम की अवहेलना करता है, तो समाज उसे दण्ड देने का अधिकारी है। दण्ड चाहे चेतावनी रूप में हो या किसी अन्य रूप में। यहाँ तक कि वह सदस्य विशेष का, जिसका अपराध गुरुतर है और जिसके कारण समाज को किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना हो सकती है, वहिष्कार कर सकता है। अतएव प्रत्येक सदस्य को समाज के नियमों का पालन करते हुए उसके प्रति कर्त्तव्य परायण बनना चाहिए।

समय एवं परिस्थितियों के अनुसार समाज के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। कभी-कभी परिस्थितियाँ इस प्रकार की आ जाती हैं कि समूचे समाज के स्वरूप में एक क्रान्ति की आवश्यकता आ पड़ती है। परन्तु ऐसा प्रायः नहीं हुआ करता। समयानुसार उसके जिस अङ्ग में सुधार तथा कुछ परिवर्त्तन नहीं किया जाता, तो उसमें बुराइयाँ आनी आरम्भ हो जाती हैं; परिणामतः दूसरे अङ्ग भी शिथिल पड़ने आरम्भ हो जाते हैं। समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है कि वह समाज को इस दुर्दशा से बचाने का यत्न करे और इस प्रकार अवनति से उसकी रक्षा करे।

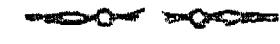
आज हमारे हिन्दू-समाज की शोचनीय दशा का यही कारण है। अब हमारा और हमारे समाज का कल्याण इसी मे है कि समयानुसार इसके नियमों में सुधार एवं आवश्यक परिवर्त्तन करें।

क्या हमारे समाज के सदस्य इस ओर ध्यान देने का कष्ट करेंगे?

—सुशील

* * *

विचार-प्रवाह



मानस मराल एवं हृद-विहङ्ग! कहाँ उड़े जा रहे हो? कल्पना की आँधी में, वसन्त के मस्त एवं मधुर मलय-मारुत के बीच से होकर कहाँ जाने का विचार है? आकांक्षाएँ, आलाप और अभिन्न आदतें चरित्र की चंचलता तथा पागलपन की मधुर-मदिरा के सहारे कहाँ तक जीवन-ज्योति का अनुसरण कर भावनाओं और काव्य की ओर दौड़ चलेंगी? शान्तिमय सुरीले सद्भाव बिखर कर सुषमा-सङ्गीत सुनाने की सफलता चाहते हैं। चारु-चेष्टायें चुन-चुन कर चेतनाहीन चञ्चल चित्र खींच चैतन्यता, चमत्कार एवं चुपचाप चुम्बनों से जीवन-सहेली का मनुहार करती हैं। अरे यह कहाँ का खेल है। शब्दों के इस विभिन्न और विचित्र व्यवहार ने वाक् शक्ति पर व्यर्थ प्रहार करने का प्रयास किया है। स्नेहसिञ्चित शब्दो! थोड़ा विश्राम लो, कल परीक्षा है।

२

मैं नहीं जानती, मुझे क्या हो गया है? मेरे हृदय की सारी कल्पनामयी विचित्र भावनाएँ न जाने क्यों सौन्दर्य एवं प्रेममयी यौवन-स्वरूप स्फूर्ति को सँवारने में लगी हुई हैं। यौवन का यह भार-रूप स्वरूप न जाने किस ओर बहा जा रहा है। मस्ती एवं वासना का विराट दर्शन कभी-कभी हृदय को डाँवा-

डोल कर देता है। सम्प्रति नाटकीय-स्वप्न-रेखा सम मूर्त्तियाँ हृदय-मन्दिर में अपना-अपना अस्तित्व छोड़ जाने की चेष्टाएँ किया करती हैं और उनकी स्मृति एवं दर्शन का मानसिक काव्य-कला पर अपूर्व प्रभाव पड़ कर उत्तेजना का काम किया करता है। × × स्वाभाविकता के सरल एवं सहृदय स्वरूप! ठहरो, अभी थोड़ी देर है।

३

जिसे हम आज सभ्यता कहते हैं—वह सामान्य-व्यवहार से परे एक अधिकाधिक गूढ़ होने वाली वस्तु है। संसार में आज दिन न मालूम कितने गूढ़ और दाँव-पेंचों से युक्त राजनीति तथा अर्थशास्त्र के प्रपञ्च भरे पड़े हैं। हरेक राष्ट्र सर्वमान्य बनना चाहता है और अपने अधिकार-बल की डींग हाँक कर आगे बढ़ कर राजनैतिक परिस्थितियों से मुठभेड़ लेना चाहता है। हिटलर, मुसोलिनी और जापान युद्ध-भूत से बचने का स्वाँग रचकर भी सामरिक-तैयारियों में जी-जान से तुले मालूम पड़ते हैं। अख़बार भी विश्व-व्यापक कठिनाइयाँ गा-गाकर वातावरण को और भी भयानक और नीरस बनाते जा रहे हैं। संसार का नया ढकोसला, नया दिखावा और प्रलोभन की दौड़ भी विचित्रता से हीन नहीं है। नवीन-नवीन समितियाँ उत्पन्न हो-हो कर कार्यक्षेत्र की वास्तविकता त्यागकर बाह्य-आडम्बर, झूठे उत्साह और करुण-क्रन्दन का सहारा लेकर नवीन सुधार-भावनाओं को प्रोत्साहन देती हैं। सेवा, सङ्गठन और प्रेम के नाम पर किस नये बाज़ार की तैयारियाँ हो रही हैं। पता नहीं, इनके पीछे कौन सा परिणाम चक्कर काट रहा है।

४

मेरे ग़रीब विचार--आकांक्षाओ और जीवन की ध्येयमयी लालसाओ! जाओ, दूर भाग जाओ, इतनी दूर चली जाओ, जिसमें मैं तुम्हें कभी भी स्मरण न कर सकूँ। लोगों ने मुझे बाँध दिया है, गहरे गढ़े में फेंक कर मोटी लौह-ज़ञ्जीर से जकड़ दिया है—दाम्पत्य-रज्जुओं से कस दिया है, जिसमें मैं उठ भी न सकूँ, हिल भी न सकूँ और विचारों के साथ उड़ भी न सकूँ। वासना, विरह और प्रेम मेरे सम्मुख आ-आकर मुझे भुलावा दें और मैं उनके पञ्जे में पड़ कर अपने कर्तव्य, अपनी स्पर्द्धा और निजी अस्तित्व को भूल जाऊँ।

५

वे क्या पसन्द करते हैं—यह प्रश्न मेरे मन में कई बार उठा—तूफ़ान मचाकर हृदय के उस कोने में विलीन हो गया, जहाँ स्मृति-रूप प्रेम और सेवा का निवास है। मैंने उन्हें कहते सुना था, पाउडर, लेवेंडर और स्नो के प्रति! मैंने हास्य-रेखाओं में पाया था उनकी रसिकता और दीवानापन। अधखिली ओष्ठ-पङ्खड़ियों पर मुझे उनमें व्यसनों से—सिगरेट के धुएँ से, चाय के कप और शराब के प्यालों से घृणा दीख पड़ी थी। × × × उस दिन कितनी ही विचित्र बातों पर और जीवन की समस्याओं पर उनके विचार प्रकट हुए थे—परन्तु विशेषता रखती है शरारती—तूफानी दुष्ट स्त्री-जाति!

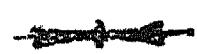
वे चाहते हैं—ज्ञान, नाम और जीवन का सर्वोत्तम-सफल पद। जिसमें स्वतन्त्रता हो, व्यक्तिगत कार्योत्सुकता हो और हो सांसारिकता से परे मानव-जीवन का गहन और गूढ़तम दर्शन। परन्तु भारतीयता और स्वजनों के स्नेह से रक्षित वह पद जिसमें लालसा, कर्तव्य और उन्नत ध्येय हो, जो कृत्रिमता से परे निष्कपट, आचरण का पन्थ दिखलाने में सहायता दे। सुनती हूँ, उनकी इच्छा दीनता को लेकर अपने को देश-हितैषी बनाने की थी। परन्तु मेरा और पूँजीपति समागम उसे कुछ अंशों तक क्षत-विक्षिप्त कर गया। चलो अब यों रहा। हम दोनों एक दूसरे को अपने तईं योग्य बनाकर—एक दूसरे की पसन्दगी का मिलाप कर वर्तमान परिस्थितियों से लड़कर जीवन के विभिन्न

वातावरणों में स्वच्छन्दता से विचरण कर सकें। हम दोनों का ऐसा सङ्गम बने, जिसमें जीवन की कठोरतायें, परिस्थितियों के साथ प्रयाग-रूप धारण कर हमें अपनी गोदी में विश्राम दें, और यह विश्राम हमारी शक्तियों को विकसित कर आगे जीवन-समुद्र के भीषण तूफ़ानों में मिल कर भी अपनी निर्मलता क़ायम रख सके। देखना है, जीवन के इन मनोहर पलों की स्मृतियाँ कैसा अन्तिम परिणाम उपस्थित करती हैं।

—निर्मला क० पण्ड्या

* * *

विधवा



प्रेमा अभी निरी बालिका ही थी। जब वह केवल दस ही वर्ष की थी तभी से समाज उसकी ओर अङ्गुली उठा रहा था। माँ-बाप की एकमात्र लड़की थी, फिर भी समाज की आँखों में वह काफ़ी उमर की हो चुकी थी। प्रेमा की माँ को स्त्री-समाज खाये डाल रहा था। जो भी स्त्री मिलती, वही दस बातें सुनाकर, प्रेमा की अविवाहित अवस्था पर ताना देती। अब इसी कारण माँ ने सोचा कि वह प्रेमा की शादी जल्दी ही कर डाले, परन्तु प्रेमा के पिता, अभी से शादी करने को तैयार न थे। उनका विचार प्रेमा को आगे और पढ़ाने का भी था, फिर उनकी प्यारी बेटी अब उनके पास न रहेगी, इसी बात को याद कर, वे शादी की बात को हो टाल देते थे, परन्तु आज माँ के काफ़ी अनुरोध करने पर वे राज़ी हो गये। दिन व्यतीत होते देर नहीं लगती। शुभ लग्न के अनुसार प्रेमा की शादी एक अच्छे कुटुम्ब में, सब तरह सम्पन्न सुयोग्य वर से हो गई। प्रेमा भी आखिर बालिका ही ठहरी, शादी के पहिले ही उसे शादी का अत्यन्त शौक़ था। वह कहा करती थी कि "दादी, तुम अम्माँ से कहकर मेरी शादी जल्दी करा दो"। प्रेमा की दादी भी प्रेम में मग्न हो उसे गोद में बैठाकर कहा करती—"देख प्रेमो, शादी बाद तुझे अच्छे-अच्छे ज़ेवर, कपड़े मिलेंगे और सुन्दर से दूल्हे की तू रानी बनेगी"। प्रेमा कहती—"दादी, जभी तो तुमने और अम्माँ ने अपनी शादी जल्दी कर ली, तुम न मानो मेरा कहना, मैं बाबू जी से लड़ूँगी कि अम्माँ, दादी मेरी शादी नहीं करतीं।"

× × ×

सुसराल के सभी लोग प्रेमा को चाहते थे। सास, ससुर की वह एकमात्र पुत्रवधू थी। प्रेमा दिनभर नरेन्द्र के साथ खेल में ही व्यस्त रहती थी। कुछ दिन योंही बीत गये। प्रकृति के नियम के अनुसार दुःख-सुख लगे ही रहते हैं। जिस प्रकार दिन के बाद रात्रि होती ही है उसी प्रकार दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख अवश्य ही आता है। इनके सुख के दिन धीरे-धीरे लोप हो गये। अचानक नरेन्द्र हैज़े से पीड़ित हो गया। अब तो प्रेमा बहुत दुखी हो रही थी। डॉक्टरों ने जवाब दे दिया कि—"अब जीने की कोई आशा नहीं।" नरेन्द्र के माँ-बाप का प्राणाधार रत्न, और प्रेमा के प्राणों का जीवन आज वहाँ जाने वाला था, जहाँ से वह कभी भी लौट न सकेगा। सभी रोने में मग्न थे, सभी चाहते थे कि ईश्वर नरेन्द्र को स्वस्थ कर दे। परन्तु ईश्वर भी उसी को चाहता है जिसे सब चाहते हैं। नरेन्द्र की हालत गिरती जा रही थी। उसके हाथ-पाँव क्रमशः ठण्डे पड़ते जा रहे थे, वह अभागा अब सिर्फ़ आध घण्टे का मेहमान और था, बस अन्तिम बार यही वह प्रेमा को देख सका। उसने प्रेमा की ओर स्नेह भरे नयनों से देखा और पानी माँगा। प्रेमा ने गङ्गा-जल को एक घूँट पिलाई, उसके पाँच मिनट बाद ही वह प्रेमा को अकेली छोड़ गया।

माँ-बाप ने खाना-पीना सब कुछ छोड़ दिया, वे रात-दिन रोते-विलपते रहते और नरेन्द्र की स्मृति में, उसकी याद में पागल हो रहे थे। जब-जब वे प्रेमा को देखते, उनके हृदय जल उठते। वाह रे निष्ठुर समाज! तेरे ही कारण भारतवर्ष में, आज दिन अनेकों बाल-विधवाएँ मिलेंगी जो प्रेमा जैसी अवस्था की हैं, जो जानतीं भी नहीं कि विवाहित जीवन क्या है! विवाह किसे कहते हैं। सास कहती, "प्रेमा, मुझे भी मृत्यु क्यों नहीं आ जाती, जो मेरे लाल को ले गई और मैं अभागिन अभी तक जीवित हूँ।" प्रेमा आखिर बच्चा ही थी, वह कुछ दिनों तक तो नरेन्द्र को याद कर लेती थी, परन्तु

बाद में खेल-कूद में सब कुछ भूल गई। सास जब कहीं नये-नये कपड़े पहिन कर जाती, तो प्रेमा भी चमक-दमकदार कपड़े पहिनने के लिये ज़िद् करने लगती। वह भी सास की तरह ही सब गहने-कपड़े पहिनती। सास कहती—"प्रेमा, तुम्हें सबके सामने ये सब वस्त्र-आभूषण नहीं पहिनने चाहिये, जाति वाले क्या कहेंगे।" प्रेमा कहती, "माँ, पहिले तो तुम रोज़ ही मुझसे लड़ा करती थीं कि मैं रङ्गीन कपड़े पहिने रहा करूँ और अब तुम्हें क्या हो गया है? अरे! तुम तो रो सी रही हो? बोलो माँ, मुझे आज ये नई चूड़ियाँ पहिनकर चलने दो, मेरे साथ वाली सभी ने ऐसी चूड़ियाँ पहिनी हैं।" सास सोचती—आह, ईश्वर! प्रेमा अभी बिलकुल नादान है, उसमें बचपन भरा हुआ है, सभी को बचपन में नये-नये कपड़े, गहनों का शौक लगा ही करता है, पर मेरी प्रेमा! आज वह कुछ भी पहिनने की अधिकारी नहीं। प्रेमा जो कुछ भी कहती, उसके सास-ससुर कभी भी उस वस्तु को मना न करते; प्रेमा वैसे ही रहती, जैसे वह नरेन्द्र के सामने रहती थी।

पास-पड़ोसिन जब प्रेमा को देखतीं तो दाँतों तले अङ्गुली दबातीं। वे कहतीं, सास ने खुद ही प्रेमा को बिगाड़ रक्खा है, जब प्रेमा उनके घर खेलने जाती तो वे हज़ारों ताना दे-देकर प्रेमा से कहतीं—"अरी कुलटा, तूने ही नरेन्द्र को मारा है, अब तू शृङ्गार वग़ैरह करना छोड़ दे, विधवा ये सब नहीं किया करतीं।" तब प्रेमा सब हाल आकर सास से कहती कि—"माँ! सब क्यों मुझे विधवा, कुलटा कहकर पुकारते हैं?" माँ दो आँसू बहाकर कहती—"प्रेमा, हम तो तुझसे कुछ भी नहीं कहते, सबको कहने दे, अपना क्या बिगड़ता है। अब तू किसी के भी घर खेलने मत जाया कर, घर में ही रहा कर। धीरे-धीरे प्रेमा बढ़ने लगी; उसी प्रकार जिस प्रकार चन्द्र की कलाएँ क्रमशः पूर्णिमा तक बढ़ती जाती हैं। उसकी सुन्दरता और यौवन को देखकर किसका हृदय दो टूक न होगा! अब अवस्थानुसार प्रेमा समझदार होती जा रही थी, वह अब सबकी बातें सोचती और घण्टों सोचा करती। दिन व्यतीत होते देर नहीं लगती। उसे अब सोलहवाँ साल था। वह नरेन्द्र की याद कर-करके रोती रहती। अब उसे कुछ भी शृङ्गार सम्बन्धी चीज़ें अच्छी न लगतीं, उसका अधिक से अधिक समय अपने प्यारे नरेन्द्र की याद में बीतता, दिन काटने मुश्किल होने लगे। इसी दुखद समय से उसे मालूम हुआ कि मुझे कैसा जीवन व्यतीत करना चाहिये। सब मुझे विधवा कहते हैं, यह क्यों? हाँ, ठीक है, मुझ जैसी अभागिनों और सौभाग्यवती स्त्रियों में बड़ा अन्तर है। उसकी आत्मा मानो कह रही थी—"प्रेमा! तू ही अकेली अभागिन नहीं है, तेरी ही अवस्था की बाल-विधवाएँ अपने देश में बहुत हैं, तू फिर दुखी क्यों हो रही है।" उसके सास-ससुर अपार धन-राशि के मालिक थे। प्रेमा ने धन से विधवा-आश्रम बनवाने की सोची। उसने अपने विचार ससुर और सास को भी बताये। सबकी आज्ञानुसार, उसने अपने प्रिय नरेन्द्र की स्मृति में विधवा-आश्रम बनवा दिया। आज आश्रम में देश की अनेकों विधवाएँ और अन्य देवियाँ जिन्हें समाज अकारण ही ठुकरा देता है, आश्रय पा रही हैं। उसकी देख-रेख का प्रबन्ध अब प्रेमा ही करती है। आज प्रेमा का अधिकांश समय आश्रम के प्रबन्ध में और ईश्वरोपासना में व्यतीत होता है।

—सुशीला भार्गव

* * *

मोहेंजोदड़ो में कला और कौशल

मोहेंजोदड़ो की कला यथार्थवाद के अन्तर्गत है। यद्यपि बहुत प्राचीन होने के कारण मूर्तियाँ साफ़ मालूम नहीं होती हैं, फिर भी उनको देखकर यह विदित हो जाता है कि यहाँ के निवासियों ने प्रतिकृतियाँ उतारने में बड़ी कुशलता प्राप्त की थी। पौटरी को सजाने का यहाँ के निवासियों को बड़ा शौक था। किन्तु यह उनका कौशल है। मुद्राओं, तावीजों तथा ताम्र पत्रों पर अङ्कित चित्रों में शक्ति तथा जीवन मालूम होता है। सर जॉन मार्शल कहते हैं कि पशुओं का इतना सुन्दर चित्रण कोई पटु चित्रकार ही कर सकते थे। पक्षियों का बहुत कम चित्रण मोहेंजोदड़ो में हुआ है। केवल किसी-किसी चित्र पर बतख का चित्रण पाया जाता है।

हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो तथा आमरी की कला में आडम्बर प्रलक्षित होता है। कुछ मूर्तियों में कमजोरी तथा इन्द्रीयगणता का निरूपण बड़े सुन्दर ढङ्ग से हुआ है। ग्रीक कला ही की तरह यहाँ की कला भी भावी कला पर प्रकाश डालती है। लम्बे नेत्र तथा भोग की कुछ दशाओं का चित्रण भी कुछ मूर्तियों में पाया जाता है। पशुओं के चित्रण में एक अद्भुत अभिजातिमतता तथा पृथकता मालूम होती है। वृक्षों की टहनियों तथा पत्तों का चित्रण भी अनूठा हुआ है। प्रकृति तथा अलौकिकता के मिश्रण से मोहेंजोदड़ो की कला बहुत उच्चकोटि की हो गई है। मुद्राओं के इतने प्रचार का कारण अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है। इनके प्रयोग का कारण शायद लौकिक या धार्मिक रहा हो। हिरोडोटस ने एक स्थान पर लिखा है कि उसके काल में प्रत्येक बेबीलोन निवासी अपने पास एक-एक मुद्रा रखता था।

भारतवर्ष में नृत्य अभी तक संस्कार पद्धति का अङ्ग माना जाता है। मोहेंजोदड़ो के निवासियों ने जिनका जीवन इतना धार्मिक था, अवश्य नृत्य को कुछ न कुछ स्थान दिया होगा। फेईन्स के एक टुकड़े में नृत्य का एक दृश्य अङ्कित है। मि० दयाराम साहनी को भी पीतल की एक नर्तकी की मूर्ति मिली थी। यह बतलाना अवश्य कठिन है कि नृत्य किस दृष्टि से यहाँ अपनाया जाता था।

सौंदर्य्य-साधनों में मोहेंजोदड़ो निवासी बहुत बढ़े-चढ़े थे। समस्त सिंध प्रान्त में स्वर्ण-मिश्रित धातु तथा ताम्र के गहने मिले है। सर जॉन मार्शल का कथन है कि उस काल में यहाँ ताम्र नहीं मिलता था, किन्तु यह धारणा निर्मूल है। चान्हू डेरो तथा रिजनोत की खुदाई में कई ताम्र वस्तुएँ मिल चुकी हैं। इन दोनों स्थानों में अमेरिका की पुरातत्व संस्थाओं की ओर से खुदाई हो रही है।

सिर के फीते तथा तावीजों का मोहेंजोदड़ो में बड़ा प्रचार था। कुछ फीते स्वर्ण के बने हैं। बाल गूँथने के पश्चात् इन्हें सिर पर लगाया जाता था। इन लोगों को केश-कलापों का भी बड़ा शौक था। यद्यपि वे अजन्ता के केश-कलापों की तरह सुन्दर नहीं है, फिर भी जमाने के अनुसार उनका सौन्दर्य-प्रेम ठीक ही था। स्त्री, पुरुष दोनों बाल सँवार कर पीछे की ओर गाँठ बाँधते थे। माथे पर फीता इसलिए बँधा रहता था कि बाल इधर-उधर न बिखरें। स्त्रियाँ कभी-कभी कङ्घियों को बालों में लगा लिया करती थीं। चेहरा देखने के तीन पीतल के शीशे भी यहाँ पर मिले हैं। शीशे का कुछ कार्बोनेट तथा काला पाउडर भी एक स्थान पर पाया गया है। सम्भवतः कार्बोनेट चेहरे पर व काला पाउडर नेत्रों पर लगाया जाता था। तावीज़ शायद धार्मिक प्रेरणा के कारण पहिने जाते थे। हाथों की अँगूठियों का भी विशेष प्रचलन था। आश्चर्य होता है कि कहीं पर भी सोने की अँगूठियाँ नहीं मिली हैं। सभी अँगूठियाँ या तो पीतल की और या ताँबे की बनी है। कानों की बालियाँ तथा नाक की कीलें स्त्रियों के प्रधान आभूषणों में से थे। कड़े तथा कण्ठहार भी बराबर पहिने जाते थे। कण्ठहारों पर हड्डी, हाथी दाँत, क़ीमती पत्थर तथा सीपी को गुट्टियाँ गुँथी है। एक कङ्कण में ६ लड़ियाँ हैं। इन लड़ियों में प्रत्येक चपटी गुट्टी के बाद सोने की गुट्टी लगी है।

मोहेंजोदड़ो का मूर्ति का शिल्प बहुत बढ़ा-चढ़ा था। मूर्तियों में या तो साधारण मिट्टी को या चूने तथा मिट्टी के मिश्रण को महत्व दिया जाता था। कुछ मूर्तियाँ कुरूप तथा भद्दी हैं। इनकी रूप-रेखा शायद बच्चों द्वारा हुई है। ताँबे तथा पीतल में खुदी मूर्तियाँ भी यहाँ पर बहुत पाई गई हैं। मोहेंजोदड़ो में प्राप्त ताँबे की दो तलवारों की तुलना फ़िलिस्तीन की तलवारों से की जा सकती है। भालों के फल बड़े जबरदस्त होते थे। एक फल १८ इञ्च लम्बा तथा ५ इञ्च चौड़ा है। समस्त खुदाई में ताँबे तथा पीतल के बर्तनों का अभाव है।

शीशे का केवल एक थाल अभी तक प्राप्त हो सकी है। बर्त्तनों को बनाने के औज़ार तथा हथियार बड़े सुन्दर होते थे। कितने ही हथियारों पर चित्र-लिपियाँ तक अङ्कित हैं। उस्तरे, मछली मारने के काँटे,

तीरों के सिर, खुँकरियाँ तथा अन्य कई घरेलू प्रयोग की वस्तुएँ मोहेंजोदड़ो में मिली हैं। चाकुओं तथा खुकरियों के बीच चित्रकारी दिखलाना ज़रा कठिन सा है।

मोहेंजोदड़ो के मिट्टी के बर्तन अपने ढङ्ग के एक ही होते थे। सभी वर्तन कुम्भ पर बनाये जाते थे। मार्शल कहता है कि फुट चक्र प्रयोग की प्रणाली केवल पञ्जाब, सिंध तथा बलूचिस्तान तक ही सीमित थी। बर्तनों पर पॉलिश भी की जाती थी। पॉलिश करने का ध्येय शायद छोटे-छोटे छेदों को बन्द करना रहा हो। कला और कौशल को एक करने का यहाँ के निवासियों ने प्रयत्न किया था। पौटरी के बर्तनों पर जो बेल-बूटे बनते थे, उनपर कई रङ्गों का प्रयोग होता था। श्वेत, पीतवर्ण, लाल, श्वेत रक्त तथा क्षीर-शर रङ्गों द्वारा बर्तनों पर पॉलिश की जाती थी।

कुछ छोटे-छोटे मिट्टी के बर्तन बड़ी कुशलता के साथ बनाये गये हैं। इनके अन्दर कोई पवित्र वस्तु तथा इत्र रक्खा जाता था। आकृति-आधार यहाँ के निवासियों की धार्मिकता का परिचय देते हैं। इन पर भी पॉलिश तथा सुन्दर कारीगरी की गई है। कितने ही बर्तनों के मध्य में ४, ५ रेखाएँ एक ओर से दूसरी ओर तक पहुँचती हैं। ये मिट्टी के बर्तन तथा घड़े अभी तक आर्द्रता से बचे हुए हैं। कुम्भकार की कला सिन्धु प्रान्त में खूब फली-फूली।

गीत

[श्री० ब्रह्मदेव]

सन्ध्या हो चली !
लौट कर चल री, तिमिर में
आशा की छली !

किरण आई उषा की जब,
डूबता था चाँद का शव,
जगा तेरा उर विरह-रव
तभी की निकली !

तीर सी तीखी दुपहरी,
रही पर तू स्तब्ध ठहरी,
हेरती प्रिय तरी, प्रहरी
युग-युग की जली !

जल गई री अरुण आशा,
चल घिरी नीली निराशा,
कूल पर फैली पिपासा
रजनी की पली !



नारी और प्रतिक्रिया

[श्री० सागरप्रसाद राय, विशारद]

मनुष्य-शरीर के अवयवों में जिस तरह एक के साथ दूसरे का सम्बन्ध है उसी तरह समाज में भी जीवन का जीवन के साथ सम्बन्ध है। शरीर के किसी अवयव पर चोट पहुँचने से केवल वही अवयव दर्द का अनुभव नहीं करता, प्रत्युत सम्पूर्ण शरीर उस दर्द का अनुभव करता है और उसे दूर करने का यत्न करता है। इसी रूप में स्त्री और पुरुष का समाज के साथ सम्बन्ध है।

समाज अपने प्रत्यङ्गों में किसी एक को उपेक्षित कर अपने लक्ष्य को स्थिर बनाये रखने में कभी समर्थ नहीं हुआ है। मनुष्य-शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव की नाईं ये दो भी समाज के दो मुख्य अवयव हैं। जहाँ एक दूसरे में भिन्नता रहने पर समाज अपने अस्तित्व को क़ायम रख नहीं सकता, फिर वैयक्तिक उत्कर्ष की कल्पना भी उपहासास्पद ही होगी। नारी, समाज के उन अङ्गों में मुख्य है जिनके बिना समाज के अन्य उपाङ्ग नीरस, बेकाम और व्यर्थ हैं। जब नारी में जागृति का बादल गरजता है, तब समाज में शक्ति रूपी बिजली कौंध उठती है और मानव अपने उज्ज्वल कर्म में तल्लीन हो जाते हैं। ऐसी महान शक्ति को उपेक्षिता समझ कर समाज कभी भी सुदृढ़ता प्राप्त नहीं कर सकता, वह विश्रृंखल ही हो जायगा। वर्तमान युग क्रान्ति के साथ उत्कर्ष का है; इसमें कोई भी किसी के बंधन में रहना पसंद नहीं करता। बन्धन से विमुक्त होने के लिए वह कठोर से कठोर कर्म करने में भी नहीं हिचकता। ऐसी स्थिति में भी समाज प्राचीन रूढ़िगत सत्ताओं को क़ायम किये हुए है। इन्हीं सत्ताओं के ग्रहण करने का परिणाम है सृष्टि-निर्म्मात्री को कठपुतली समझ बैठना—यह कठपुतली नहीं समाज की समर्थ सूत्रधारिका है, जिसके बिना समाज चल नहीं सकता।

अतः समाज और नारी का सम्बन्ध अविच्छिन्न है, अविच्छिन्न क्या अटल है। समाज का कर्तव्य है कि वह वर्ग-स्थिति को कुचल कर उज्ज्वल पथ का निर्माण करे और नारी के महत्त्व को समझ कर उसकी शक्ति पर श्रद्धा रखे तथा नारी का कर्त्तव्य है समाज के प्रत्येक कर्म में हाथ बँटाये। एक के दर्द का अनुभव दूसरा करे और एक के अभाव का दूसरा। पुरुष-समाज की वैयक्तिक उन्नति भी सामूहिक उन्नति पर निर्भर करती है।

राष्ट्र व्यक्तिगत शक्ति पर ही निर्भर नहीं है, बल्कि मनुष्य-समाज के साथ-साथ इसके और भी भिन्न-भिन्न सहायक उपकरण हैं, इनमें वह किसी भी अङ्ग को छोड़ आगे नहीं बढ़ सकता। राष्ट्रीय-आकांक्षाएँ तभी सिद्ध हो सकती हैं जब हम इसके प्रधान और श्रेयस्कर तत्व को समझें और उन्हें राष्ट्र-कार्य में समाविष्ट करें। जिस तरह समाज नारी को उपेक्षिता समझ कर जीवित रहने में समर्थ सिद्ध नहीं हो सकता, ठीक उसी तरह राष्ट्र भी। दो शक्तियों के संयोग से एक प्रबल शक्ति आविर्भूत होती है और वह शक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र में ऐसा कार्य करती है जिससे राष्ट्र नाम की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। राष्ट्र जब परतन्त्रता की बेड़ियों से पूर्णतया जकड़ा रहता है तब नारी ही ऐसी शक्ति दिखलाई पड़ती है जो बन्धन को ढीला कर उत्थित मार्ग का निर्माण करती है। किसी राष्ट्र के अर्द्ध भाग के लिए असम्भव है कि वह अपने दूसरे अर्द्ध भाग की सहानुभूति और सहायता के बिना स्वतन्त्रता प्राप्त कर ले। प्रत्येक देश में स्त्री-संस्थाओं ने अमूल्य सेवा क

है। इङ्गलैण्ड के मजदूर दल में भी स्त्री-संस्था का समावेश है। स्त्री-संस्थाएँ बड़ी स्फूर्ति के साथ सामाजिक, राजनैतिक, बौद्धिक और नैतिक उन्नति कर सकती हैं। पुरुष चाहे आत्म-बलिदान करे, जीवन उत्सर्ग कर दे, लेकिन स्त्रियोचित तेज और कार्य-क्षमता का समावेश इसमें नहीं हो सकता, चूँकि वेही त्याग में सुखानुभव करने वाली हैं। त्याग राष्ट्र का आवश्यक उपादान है और यह स्त्रियों में अनादि काल से अवस्थित है। राष्ट्र में नारी का प्रमुख स्थान है और वह स्थान वैसा ही महत्त्वपूर्ण है जैसा अर्ध भाग की पूर्ति के लिए दूसरे अर्ध भाग की सहायता।

जीवन ही समस्यामय है, लेकिन इसके रहस्य को खोल कर समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करना तथा कर्त्तव्य-पथ का निर्माण करना प्रत्येक मानव का मानवोचित कर्म है। स्वार्थ-साधना इनमें बाधा पहुँचाती है। स्वार्थ को सर्वथा त्याज्य समझ निस्वार्थ भाव का रखना समाज या राष्ट्र में विशेष स्थिति की सृष्टि करने के समान है। हमारे बीच सब से महत्त्वपूर्ण समस्या है नारी-समस्या। यह एक ऐसी विकट समस्या है, जो हमें बिलकुल पङ्गु बनाये हुए है। स्त्री-पुरुष ईश्वर-प्रदत्त लीलामय क्षेत्र के दो श्रेष्ठ उपकरण हैं। दोनों का सम्बन्ध-सूत्र बड़ा ही मजबूत है। प्रत्येक एक दूसरे का परिचायक स्वरूप है। लेकिन वर्तमान हमें दोनों के बीच भिन्नता दिखलाने में पूर्ण समर्थ है। पुरुष स्त्री को वासना और भोग-विलास की सामग्री समझे हुए है और स्वार्थ से वशीभूत होकर स्त्रियों की सत्ता को ही भिन्नता के रूप में समक्ष रखता है। ऐसा विचार उन्हें अवनति के विषम गर्त्त में गिराने के सिवाय और कर ही क्या सकता है। समाज नारियों के लिए अग्निकुण्ड बना हुआ है, इस कुण्ड में रूढ़िगत सत्ताएँ प्रज्वलित वह्नि में घी का काम कर रही हैं। बाल-विवाह, कन्या-विक्रय, अशिक्षा, पर्दाप्रथा आदि समस्याएँ उपस्थित हैं, जिसका प्रकांड ताण्डव हम अपनी आँखों से बराबर निहारा करते हैं। बेचारी अबोध बालिका, जिसे सांसारिकता का कर्म कुछ भी विदित नहीं, जिस पर भारत की आत्मा टिकी हुई है, वह आजीवन वैधव्य के भार को ढोते हुए कराल यन्त्रणाएँ सहा करती हैं, साथ ही सामाजिक दृष्टि में वह घृणिता ही है। विधवा-विवाह की चर्चा समाज के प्रति अन्याय के समान है। धन-लोलुपता में पले स्वार्थान्ध पुरुष बालिका को बेचकर उसके जीवन को मरण बना डालने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं करते। बूढ़े बच्चों से अपनी शादी कर लेते हैं, इसका परिणाम दुखद ही नहीं विषम स्थिति का उत्पादक है। सामाजिक अवगुण्ठन को हम पर्दा-प्रथा की संज्ञा देते हैं। स्त्रियाँ समाज रूपी बन्द पिंजड़े की चिड़ियाँ हैं, उन्हें बाहर निकलने का समाज में कोई उपाय नहीं, वे भीतर ही भीतर पर्दे में सड़ा करती हैं। पर्दा-प्रथा क्या है, गोया जेल प्रथा है, जिसमें अत्याचार, नृशंसता, करालता ही का बोलबाला है। शिक्षा का पूर्ण अभाव दिखलाई पड़ता है। शिक्षा में समाज ने स्त्रियों का स्थान रखा ही नहीं, वह पुत्र-प्रसव और चूल्हे-रूपी जीवन-साधन में अपना कर्म करे।

परिस्थिति के अनुरोध से युग अपनी आकांक्षा, आवश्यकता तथा उपादेयता का निर्माता स्वयं बनता है। वर्तमान परि थति कुछ और ही दिखलाई पड़ती है, सर्वत्र नारी-आन्दोलन, नारी-जागरण और नारी-सुधार की गूँज व्यापक बन गई है। सामाजिक बन्धनों से विमुख कर नारियाँ अपना कर्म-क्षेत्र स्वयं निर्माण करने को तत्पर हैं। परतन्त्रता के पाश से सर्वथा छूटकर स्वतंत्रता की ओर उन्मुख हैं। यह बड़ा ही महान और उच्चादर्श है। क्रांति के साथ उत्कर्ष की उपादेयता में जहाँ उपेक्षा के साथ उच्छृंखलता के भाव का सृजन होता है, वहाँ शीघ्र ही गति में ऐसी शिथिलता आ जाती है और सहयोग का भी ऐसा अभाव हो जाता है कि वह गति-रुद्ध होकर कठिन हो जाती है और वह चिरंतन रूप में टिक नहीं सकती। इसलिए कर्तव्य के साथ अधिकार को अपनाये रहने से ही आन्दोलन का रूप वट-बीज के सदृश छोटे रूप में ही विशाल रूप का परिचय संसार को शीघ्र दे सकेगा। इसमें सन्देह नहीं कि चन्द नारियाँ कर्त्तव्य और अधिकार को हाथ में लिए हुए अपने लक्ष्य को चिरंतन रूप प्रदान करने में सचेष्ट और तत्पर हैं।

अधिकारों की भूख उच्छृंखलता की प्रेरक तथा

प्रतिक्रिया का भाव इसे उद्दीप्त करने का एक साधन मात्र है। इस उद्दण्ड भावना से कभी किसी की उन्नति सम्भव नहीं। यह सच और मान्य है कि पुरुषों का ज़ुल्म नारियों पर हुआ है, इनका व्यापक क्षेत्र संकुचित क्षेत्र में परिवर्तन किया गया है। लेकिन इससे मुक्त होने के लिए उन्हें पुनीत और दिव्यादर्श सम्मुख रखना चाहिए, न कि प्रतिक्रिया की भावना। स्त्रियों के बीच प्रायः यह भावना दिखलाई पड़ती है कि पुरुष हमारा काम करे और हम उनका कार्य करें। ऐसी भावना स्त्रीत्व के लिए विनष्टकारी ही कही जायगी। कोमलाङ्गी का कर्म कठोर नहीं होता। इनका क्षेत्र भी कोमल है। इस मत को चाहे लोग मान्य न समझें, लेकिन यह सत्य है। और यह भी सत्य है कि वह बराबर कोमल नहीं रहता, समय पाकर कठोर भी हो जाता है। किन्तु अपनी भावना को संयत रूप में रखने से ही उन्नति सम्भव है। कर्त्तव्य और कथन दो भिन्न-भिन्न समाज के उपकरण हैं, दोनों के समन्वय से ही उचित पथ का निर्माण हो सकता है। कहना, करने से आसान है, जब तक कर्तव्य दिखा न दिया जाय तब तक कहने का कुछ मूल्य नहीं—स्त्रियाँ कहती भर हैं, किन्तु कर्तव्य-पथ का अनुसरण करती कतिपय ही दिखाई पड़ती हैं। होना तो यह चाहिए कि कर्त्तव्य उनका आगे रहे और कथन पीछे। प्रतिक्रिया से स्त्रियाँ उन्नति-पथ पर नहीं चल सकतीं, फिसलने की ही सम्भावना रहेगी। ऐसी परिस्थिति में प्रतिक्रिया की भावना जो आज व्यापक बन रही है, सर्वथा उपेक्षणीय है।

प्रतिक्रिया प्रकृति-प्रदत्त एक वस्तु है, लेकिन इसका रूप वहीं तक मान्य है, जहाँ तक वह उच्छृङ्खलता और अशिष्टता का रूप धारण न करे। पुरुष के स्वार्थमय व्यापार ऐसे हैं जिनके लिए इन्हें प्रतिक्रिया करनी पड़ती है। प्रतिक्रिया में स्पर्द्धा की भावना सम्मिलित रहनी चाहिए; श्रद्धा और प्रेम का पूर्ण समन्वय होना चाहिए। सुधार और स्वतन्त्रता ऐसी चीज़ है, जिसके लिए प्रत्येक मानव सब दिन से इच्छुक है और रहा है। नारियाँ इस ओर अग्रसर अवश्य हों, किन्तु वहीं तक जहाँ तक इनके कार्य और क्षमता हैं। पुरुषों के सहयोग में रह कर इन्हें कर्म-प्रवृत्त होना चाहिए। इसका अर्थ बन्धन नहीं, पुत्रोत्पत्ति की मशीन नहीं, बल्कि योगक्षेत्र है। प्रतिक्रिया को महत्वाकांक्षा और सद्भावना के रूप में ग्रहण कर उन्हें अपने कर्म में समाविष्ट करना आवश्यक है। जब तक इसे प्रतिशोध की संज्ञा दी जायगी तब तक वह अनुन्नति की राह बनी रहेगी। प्रतिक्रिया वास्तव में योग-दान है, इसे योग-दान और योग क्षेत्र समझ इस ओर हाथ बढ़ाना आवश्यक है और यही प्रति-क्रिया वास्तव में प्रतिक्रिया है।

हमारे बीच प्राचीन भवितव्यताओं का पूर्ण अभाव दीख पड़ता है, जहाँ राष्ट्रीयता और एकता का प्रेम-सूत्र बँधा था, मानव उचित स्वातन्त्र्य को समझते हुए कर्म-प्रवृत्त होते थे, वहीं प्रेम-सूत्र आज छिन्न-भिन्न हो गया है। जिसे आज हम अबला समझते हैं, उसी की जागृति से भारत में शक्ति संचरित हुई थी। वर्त्तमान समय इसकी उपेक्षा कर जीवित रहने को असमर्थ है। इस युग में सर्वत्र स्वतन्त्रता की आवाज़ फैली हुई है—स्त्रियाँ स्वातन्त्र्य-पथ में बेधड़क बढ़ती जा रही हैं। यह बढ़ना राष्ट्र-धर्म के नाते उचित मार्ग का निर्माण करता है, लेकिन स्वतन्त्रता को 'हक़' समझ कर बदनाम या दूषित करना उचित नहीं। कार्य-विनिमयता इनमें डेरा डालकर इन्हें पुरुष और पुरुष को स्त्री बनाने में समर्थ सिद्ध हो रही है। ऐसी बातें स्वतन्त्रता का अवलम्बन नहीं कर सकतीं। समाज में स्त्री-पुरुष दोनों समान हैं, दोनों मानवता के प्रतीक हैं। लेकिन यह मानना ही पड़ेगा कि पुरुष पुरुष हैं, स्त्रियाँ स्त्रियाँ हैं, दोनों का व्यक्तित्व भिन्न है। वास्तविक स्वातन्त्र्य क्या है, उचित कर्त्तव्य-क्षेत्र का निर्माण है। दोनों को अपने व्यक्तित्व पर ध्यान रखते हुए अहम् और अहंकार का त्याग करते हुए, नवयुग निर्माण के लिए भगीरथ प्रयत्न ही स्वातन्त्र्य का मूल-क्षेत्र है। राष्ट्र-धर्म का निर्वाह स्वातन्त्र्य-क्षेत्र के लिए आवश्यक है। राष्ट्र-धर्म सब से बढ़कर धर्म है, इसी में वास्तविक स्वातन्त्र्य छिपा हुआ है। इसको ईश्वरदेय समझ मायाजन्य वस्तुओं का परित्याग कर इसे अपनाने की चेष्टा आवश्यक है अर्थात् राष्ट्रीय उत्थान के लिए वास्तविक स्वातंन्त्र्य और राष्ट्र-धर्म दोनों साथ-साथ चलते हैं।



૧



૨



૩



૪



૫

किसी महान वस्तु-स्थिति को प्राप्त करना प्रत्येक मानव-जीवन का लक्ष्य और धर्म होना चाहिए; लक्ष्य में वर्ग, धर्म, सम्प्रदाय की गुंजाइश का अर्थ है लक्ष्य-भ्रष्ट होना। लक्ष्य यदि व्यापक और श्रेष्ठ है तो उसकी प्राप्ति में अनिवार्य अनौचित्य भावना में विकार का उद्रेक नहीं कर सकता। नारी का लक्ष्य नारी-जीवन को जीवन बनाये रखने में है, उसके लिए क्रिया का अनौचित्य भी किसी विकार को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। सहयोगदान प्रकृति का नियम बन गया है। शारीरिक अवयवों में एक दूसरे की उन्नति से ही अपने अस्तित्व को टिकाऊ बना सकते हैं, किसी की उपेक्षा उसके लिए सम्भव नहीं है। समाज के लिए, जिसे अपने से ही केवल सम्बन्ध नहीं, रहा है, देश के उत्कर्ष के साथ संसार के लिए जिसका यत्न हो रहा है, उसके लिए यह सम्भव नहीं कि अपने अङ्ग विशेष की ही उपेक्षा कर जीवित रह सके। अर्थात् उसका यह कर्म है कि नारी का स्थान सङ्कुचित नहीं व्यापक रूप में ग्रहण करे। राष्ट्र का यह पुनीत कार्य है कि नारी को अपने अस्तित्व में ऐसा मिश्रण करे जिससे वह नई शक्ति में ढल जाय तथा अपने नाम की सार्थकता सिद्ध कर सके।

नारी-समस्याओं को हल करने के लिए शिक्षा की कितनी आवश्यकता होती है, यह सबको विदित ही है। शिक्षा का अर्थ किताबी कीड़ा नहीं, बल्कि मानवता की अभिवृद्धि के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति से है। गृह-सौंदर्य बनाये रखने के साथ-साथ राष्ट्र कार्य में हाथ बटाने की शिक्षा व्यावहारिक शिक्षा पर ही निर्भर है, अतः शिक्षा का रूप व्यावहारिक होना चाहिये। यहाँ पर हमें सहशिक्षा के बारे में यही ज्ञात करना है कि यह कोई बुरी नहीं है। लेकिन लोग इसे बुरी समझ रहे हैं। इसका कारण है तुल्य वातावरण का अभाव। जब तक सहशिक्षा में तुल्य वातावरण नहीं हो, तब तक इससे उन्नति नहीं हो सकती है और वैवाहिक कुप्रथाओं के लिए हिन्दू पत्नियों का सक्रिय आन्दोलन करना आवश्यक है। वे बाल-विवाह को रोकें और रोक कर इसके आवश्यक गुणों का प्रचार करें। इनका पत्नीत्व केवल पुरुष पर निर्भर नहीं है, वे स्वयं समाज-सञ्चालिका हैं। जब तक समाज ऐसी कुप्रथाओं को नहीं रोकेगा तब तक वह समाज नहीं कहला सकता। विधवा-विवाह, कन्या-विक्रय आदि बन्द हो जाना चाहिए। हमारी ग्रामीण नारियों में इसका प्रचार आवश्यक है। स्त्रीत्व गुणों में अपरिवर्तनीय गुण है प्रेमाकर्षण। यह गुण ईश्वर-प्रदत्त है। शारीरिक प्रेम कुत्सित अनाचार और वासना का दृढ़ प्रतीक है। शारीरिक प्रेम को तुच्छ समझ कर सर्वथा उपेक्षित कर वे ऐसे महान आदर्श की सृष्टि करें, जिसमें सदाचार, सौन्दर्य, मानवता की आभा प्रदीप्त और उद्भासित हो उठे। ऐसा होने से समाज में, देश में, राष्ट्र में शृंखलता, स्वतन्त्रता, आप से आप दास-वृत्ति धारण कर लेंगी, समस्याएँ स्वयं हल हो जायँगी।

समस्याओं को हल करने के लिए पुरुषों को त्याग, सहिष्णुता, प्रेम, सदाचार दृढ़-प्रतिज्ञ बनना चाहिए और यह बनना राष्ट्र या देश के प्रति कर्तव्य-पालन करने के सदृश है और यह नारियों के सदृश इनका पत्नीव्रत धर्म है। नारियों को चाहिए कि वे प्रतिक्रिया (विकृति) की भावना छोड़ कर अपने कर्तव्य-पथ का निर्माण करें, अपनी शक्तियों को उपयोग में लावें, पातिव्रत धर्म के साथ-साथ राष्ट्र-धर्म को निभाते चलें, तभी राष्ट्र, समाज और देश की उन्नति सम्भव है, अन्यथा कभी भी स्वातन्त्र्य-पथ का निर्माण नहीं हो सकता।



पाठकों की लेखनी से

श्रीमती सम्पादिका जी,

कायस्थ जाति की क़रारदाद की रक्तरञ्जित प्रथा का ज़िक्र और उसके दुष्परिणाम आपने बहुत सुने होंगे। मैं आपका ध्यान एक ऐसी ही घटना की ओर आकर्षित करना चाहती हूँ। आशा है, आप इस पत्र को 'चाँद' में अवश्य प्रकाशित करके उपकार का कार्य करेंगी। आपका पत्र सदा से अन्याय और कुरीतियों का विरोधी रहा है अतः आपसे यह आशा करनी निर्मूल नहीं है कि आप स्वयं इस अन्यायों के विरुद्ध आवाज़ उठायँगी।

यह घटना मेरी सखी से सम्बन्ध रखती है, जो एक एडवोकेट की कन्या हैं। इनका विवाह........निवासी श्री..........के साथ पाँच वर्ष पूर्व सम्पन्न हुआ था। इस विवाह के पक्का होने में बड़ी कठिनाइयाँ पड़ीं। जब वर के पिता लड़की देखने आये थे तो बातचीत के दौरान में कहा था कि मैं दृढ़ आर्यसमाजी हूँ, अतः विवाह 'संस्कारविधि' के अनुसार वैदिक रीति से होगा। चूँकि कन्या के पिता स्वयं एक दृढ़ आर्यसमाजी हैं, अतः उन्होंने इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया। और आगत-स्वागत जितना वह कर सकते थे, किया। इन महाशय ने कन्या को पसन्द करके एक चैन अपनी ख़ुशी से भेंट की और बिदा हुए। वे शहर में ही अपने एक मित्र के घर पर ठहरे और दूसरे ही दिन फिर एडवोकेट साहब से आकर कहा कि "चैन मुझे वापस कर दीजिये, क्योंकि मैंने घर से चलते समय इसे जल्दी में तुलवाया नहीं था अतः मैं जल्द वहाँ जाकर इसका हिसाब ठीक कराकर भेज दूँगा और शादी इसी गर्मी में होगी—सब प्रबन्ध कीजियेगा।"

इन्होंने तुरन्त चैन वापस कर दी। इन महाशय ने अपने घर जाकर पत्र लिखा और अपने दोस्तों से भी कहलाया कि "चूँकि आपने मुझे नज़राना नहीं दिया और आप से शादी में भी अधिक ख़र्च करने की उम्मीद नहीं है, अतः यह विवाह न हो सकेगा।" उनको बहुत लिखा गया कि चूँकि विवाह संस्कार-विधि और वैदिक रीति से हो रहा है, इसलिए नज़राना नहीं दिया गया, पर उन्होंने एक न सुनी। अन्त में एक भारी रक़म लेकर कन्या के पिता उनके यहाँ गये। इन महाशय ने ८०००) का तख़मीना बनाया और कहा कि यदि आप इतना दे सकें तो विवाह हो सकता है, अन्यथा नहीं। पर बीच में बहुत से आर्य-समाजी सज्जन पड़े और यह सौदा ४०००) पर तय हुआ। इस प्रकार यह विवाह पक्का हुआ।

अस्तु, किसी प्रकार विवाह हो गया। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि बीच-बीच में बहुत सी माँगें इनकी ओर से पेश की गईं और एडवोकेट साहब को पूर्ण करनी पड़ीं। इन महाशय ने १०००) का ज़ेवर भी माँगा जिसका सवाया एडवोकेट साहब ने उनको दे दिया और यह अधिकार दिया कि आप अपनी पसन्द का ज़ेवर बनवा लें। पर इन महाशय ने इस अधिकार का बेजा इस्तेमाल किया और १०००) की जगह और अधिक का जेवर अपनी मर्ज़ी से जान-बूझ कर बनवा बैठे और अधिक रुपया जो ख़र्च हुआ उसकी माँग एडवोकेट साहब से की। विवाह हो गया था और मेरी सखी कुछ दिनों सुसराल रह कर चली आई थी। शादी भर इन महाशय का यही अमल रहा कि लेने के वक़्त तो कह देते थे कि "साहब क्या करें, रवाज ही यह है" और चढ़ावा वग़ैरह के समय कहने लगे कि हम तो संस्कार-विधि के अनुकूल शादी कर रहे हैं, उसमें चढ़ावे वग़ैरह का ज़िक्र ही नहीं है, हम क्यों ले जाएँ। और सचमुच विवाह के अवसर

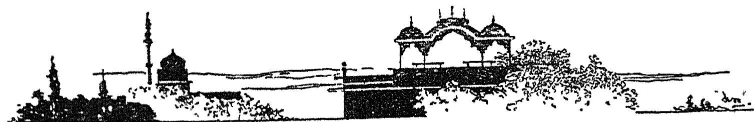
पर कुछ भी नहीं लाये । सम्पादिका जी, देखा आपने, अपने स्वार्थ के लिये लड़के वाले किस प्रकार होशियार हो जाते हैं। ऐसे स्वार्थियों को क्या कहा जावे । अस्तु ।

इसके बाद इन महाशय ने अपनी तबीयत का पूरा परिचय दिया अर्थात् एडवोकेट साहब को स्पष्ट लिखा कि "ज़ेवर में जो अधिक रुपया खर्च हो गया है वह पहले भेजिये, तब रुख़सत लड़की की कराई जायेगी ।" मामला बहुत बढ़ा और कई सज्जनों ने इसे निबटाना चाहा, पर इन महाशय पर रुपयों का भूत इस प्रकार सवार था कि उन्होंने किसी की न सुनी । इस झगड़े का नतीजा यह हुआ कि मेरी सखी चिन्ता करके बीमार हो गई और टी० बी० के भयङ्कर रोग में ग्रसित हो गई। पर इन महाशय का लोभी हृदय न पसीजा। यह अपने पुत्र का दूसरा विवाह करने को तैयार हो गये । अन्त में एडवोकेट साहब रुपया देने को राज़ी हो गये। इन महाशय ने यह कह कर कि इस चीज़ में यह कमी है, उस चीज़ में यह कमी है, तुरन्त ५००) का बिल बनाकर भेज दिया और जब वह अदा कर दिया गया तब रुख़सत मेरी सखी की हुई ।

इसके बाद पाँच वर्ष का समय व्यतीत हो गया, मेरी सखी आजकल फिर अपने पिता के घर गई हुई है। इन महाशय को उनके पुराने मिज़ाज ने फिर उभारा है और उन्होंने एक नया तरीक़ा रुपया ऐंठने का निकाला है । उन्होंने एडवोकेट साहब को लिखा है कि जो घड़ी और मेज़ आपने शादी के समय दी थी, सड़ी हुई निकली, अतः इनको बदलिये, अगर आप न बदलेंगे तो मैं अपने लड़के को लड़की लेने न भेजूँगा । छिः-छिः ! कितना निकृष्ट रूप है । सम्पादिका जी, इससे बढ़ कर और नीचता क्या हो सकती है । एडवोकेट साहब व मेरी सखी दोनों इस अपमान पूर्ण समझौते के लिये तैयार नहीं हैं । मेरी सखी पढ़ी-लिखी सुशील, और बहुत उच्च विचारों की है । वह इस समझौते से मरना लाख दर्जे अच्छा समझती है । आप कहेंगे कि लड़की के पति क्यों नहीं कुछ करते ! पर आजकल के नौजवानों को क्या कहा जावे । अन्तःकरण से वह और उनका सारा परिवार इन महाशय की इस बेजा हरकत पर शर्मिन्दा व विरुद्ध है, पर हृदय में इतना बल नहीं है कि कुछ कर दिखायें । दूसरे इन महाशय ने धमकी दी है कि यदि मेरे ख़िलाफ़ कुछ किया गया तो मैं आत्महत्या कर लूँगा । यह महाशय यह भी कहते हैं कि मैं ३-४ महीने बाद अपने पुत्र का दूसरा विवाह कर लूँगा । मैं नहीं समझती कि ऐसा कौन आँख का अन्धा होगा जो उनके पुत्र को अपनी कन्या देकर जन्म भर को दुख के जाल में फँसना पसन्द करेगा । अपनी सखी की चिन्ता का क्या हाल लिखूँ, अनुभव करने की बात है— इन महाशय ने अपने व्यवहार से आर्य-समाज को भी कलङ्कित कर दिया ।

कृपया आप बतलाइये इस मामले में क्या किया जावे । मेरी सखी को इस प्रकार अपमानित होकर जाना क़तई पसन्द नहीं है । वह और उसके पिता कहते हैं कि जिस प्रकार संसार में लड़कियों की रुख़सत कराई जाती है, उस प्रकार करायें तो वह दोनों तैयार हैं, पर इन महाशय पर लोभ का जो भूत सवार है वह किसी प्रकार नहीं उतरता । आप ही बताइये, ऐसे व्यक्ति का क्या विश्वास । यदि यह माँग पूरी कर भी दी गई तो फिर कोई दूसरी माँग शुरू कर देंगे जिस प्रकार कि पाँच वर्ष बाद यह की है। समझ में नहीं आता कि क्या किया जावे !

—उक्त सखी की एक दुखी बहिन





[संग्रहकर्ता—कविवर "बिस्मिल" इलाहाबादी]

हक़ीक़त में हो तुम दुनिया से अच्छे
हक़ीक़त में मगर दुनिया ही क्या है
हमारे दिल में है सारी ख़ुदाई[1]
ख़ुदा के घर में अब रक्खा ही क्या है
तुम्हे दुनिया में लूँ, उक़बा[2] में चाहूँ
बजुज़[3] इसके मेरा दावा ही क्या है
हमेशा देखती हैं दिल की आँखें
हमारा आपका परदा ही क्या है
अगर सुन लें वह हाले ज़ार ऐ 'दाग़'
तेरे कहने का फिर कहना ही क्या है

—'दाग़' देहलवी

* * *

था कभी दिल में हसरतों का हुजूम[4]
अब यहाँ दर्दो ग़म का डेरा है
दैरो[5] काबा में उसको ढूँढ़ चुके
सातवाँ आठवाँ यह फेरा है
दिल में रहता है दर्दो ग़म का हुजूम
एक को सैकड़ों ने घेरा है

* * *

कौन सी बज़्म[6] बढ़ के है इससे
हम कहाँ जायें तेरी मजलिस से
दुशमनी उसने की हमारे साथ
दोस्ती की उमीद थी जिससे

—'नूह' नारवी

* * *

भुलाते हैं वह मुझको शाद[7] हूँ मैं
अजब सूरत से उनको याद हूँ मैं
वह मुझको क़ैद करके भूल जायें
न याद आकर कभी आज़ाद हूँ मैं
उमीद इसकी नहीं रक्खोगे ख़ुश तुम
मुझे नाशाद रक्खो शाद हूँ मैं
निशाँ क्या पूछते हैं आप मेरा
बस एक आवारओ बरबाद हूँ मैं
मुझे दिल से भुलाते हैं वह क्या क्या
मगर कब भूलता हूँ याद हूँ मैं

—'कमाल' लखनवी

* * *

दाग़े हसरत से दिल हो मालामाल
यही दौलत यही ख़ज़ाना है
उठो उठो मुसाफ़िरो उठो
सुबह तक कारवाँ रवाना है

१—संसार, २—परलोक, ३—सिवाय, ४—भीड़, ५—मन्दिर, ६—सभा ।

७—ख़ुश ।

क्या कहें उड़ के जा नहीं सकते
वह चमन है, वह आशियाना[८] है

—'यास' लखनवी

* * *

दोस्त ही जब काम दुश्मन का करे
फिर कोई दुश्मन का क्या शिकवा करे
शौक़ उसके देखने का है अगर
पहले इनसाँ अपना नज्जारा[९] करे
लाख ईज़ाएँ[१०] कोइ दे .खुश रहे
हौसले को आदमी दरिया करे
पूछते हैं ख़्वाहिशे दिल आप क्या
यह तमन्ना है तुम्हें देखा करे
तुझको देखेगा वह ऐ परदा नशीं
जो कि इस दुनिया से .खुद परदा करे
क़तरा-कतरा ही रहा तो लुत्फ़ क्या
आदमी इस क़तरे को दरिया करे

—'अकबर' दानापुरी

* * *

है ज़माना भी क्या तेरा बेताब
रात-दिन करवटें बदलता है
शमआ[११] कहती है यह पतिंगों से
कहो पहले से कौन जलता है

* * *

दिन मेरा रोता है मेरी रात को
रात रोती है मेरी दिन के लिए
सारी दुनिया के हैं वह मेरे सिवा
मैंने दुनिया छोड़ दी जिनके लिए
वाए क़िस्मत वह भी कहते हैं बुरा
हम बुरे सबसे हुए जिनके लिए
लाश पर इबरत[१२] यह कहती है 'अमीर'
आये थे दुनिया में इस दिन के लिए

—'अमीर' लखनवी

* * *

आह मेरी रसा नहीं होती
क्यों मुवाफ़िक़ हवा नहीं होती
हक़[१३] के जलवे नज़र नहीं आते
जब नज़र पारसा[१४] नहीं होती
जब्र की इन्तिहा तो होती है
सब्र की इन्तिहा नहीं होती
बन्दगी का ख़याल है नाहक़
बन्दगी जब अदा नहीं होती
पहले होती थी हर किसी से वफ़ा
अब किसी से वफ़ा नहीं होती
मैं तो दुनिया से हो भी जाऊँ जुदा
मुझसे दुनिया जुदा नहीं होती
कौन उसको नज़र से पहिचाने
अक़्ल जब रहनुमा[१५] नहीं होती
क्या कहें दिल की बात ए 'बिस्मिल'
शायरी में अदा नहीं होती

—'बिस्मिल' इलाहाबादी

* * *

८—घोंसला, ९—देखना, १०—दुख, ११—दीपक, १२—नसीहत, १३—ईश्वर, १४—पाक, १५—रास्ता दिखाने वाला।

भारत की नाविक-शक्ति

[श्री० नरसिंहराम शुक्ल]

दुनिया के प्राचीन देशों में भारत प्राचीनतम देश माना जाता है। इसके गत तीन-चार सहस्र वर्ष के इतिहास को देखने से पता चलता है कि वह केवल स्वतन्त्र ही नहीं था, अपितु भू-मण्डल के कतिपय देशों में उसका आधिपत्य भी स्थापित था। आधिपत्य की बात में किसी को कुछ सन्देह भी हो सकता है परन्तु इतना तो अब सर्वमान्य बात हो चली है कि इस देश के निवासी प्राचीन काल में, संसार के सभी देशों में पहुँचे थे। कुछ व्यापार करने, कुछ धर्म-प्रचार करने, कुछेक ज्ञान और विद्या-प्रचार करने एवम् कुछेक विजयार्थ अन्य देशों की यात्रा किया करते थे। पूर्वीय द्वीप समूह, रोम, बैबीलोनिया, यूनान, मेक्सिको आदि देशों में भारतवासियों के पहुँचने के यथेष्ट प्रमाण मिल चुके हैं।

इनमें से अधिकांश यात्राएँ समुद्र मार्ग से ही होती थीं। उस समय भी लोग नाविक शक्ति के महत्व के क़ायल थे। कृष्ण ने मथुरा छोड़कर समुद्र के किनारे द्वारिका को क्यों राजधानी बनाया। द्वारिका में कौन सी बड़ी खूबी थी? जलवायु, प्राकृतिक सौन्दर्य, उपज आदि किसी भी बात में द्वारिका की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती। ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि मथुरा से सब से निकट का समुद्री किनारा द्वारिका ही पड़ता है। उस समय भी पश्चिमीय राष्ट्र बल-शाली थे और आक्रमण-शील हुआ करते थे। उन्हीं आक्रमण-शील राष्ट्रों से रक्षा के लिए कृष्ण ने द्वारिका में अपना अड्डा बनाया और समूचे यदुवंशियों की फ़ौज का कैण्टोनमेण्ट द्वारिका में लाकर स्थापन किया।

इस घटना से भी महत्वपूर्ण घटना देवासुर-संग्राम की है। समुद्र से चौदह रत्न निकालने की दन्त-कथा केवल कपोल-कल्पित नहीं है। देवासुर-संग्राम, समुद्र पर अपना आधिपत्य एवम् प्रभुता क़ायम रखने के लिए भारतीयों एवम् असुरों में हुआ था। सामुद्रिक व्यापार उन दिनों भारतीयों के ही हाथ में था। इस देश के लोग सुदूर देशों में व्यापार करने जाते थे। मैसूर प्रान्त में खुदाई के समय प्राचीनतम् रोम साम्राज्य के सिक्के पाये गये हैं।

हमारे संस्कृत एवम् पाली साहित्य में इस सम्बन्ध में पर्याप्त उल्लेख पाये जाते हैं। अर्जुन का उलूकी से जो विवाह हुआ था, उसमें उन्हें समुद्र-मार्ग से ही यात्रा करनी पड़ी थी। कहा जाता है कि उलूकी अमेरिका के मेक्सिको प्रान्त की रहने वाली थी। मेक्सिको में भी सूर्य की मूर्तियाँ पाई गई हैं। प्रलय के समय मनु ने नाव पर ही बैठ कर उत्तर की ओर यात्रा कर अपनी रक्षा की थी।

सुप्रसिद्ध साँची स्तूप पर, जो ईसा से शताब्दियों पूर्व का बताया जाता है, जहाज़ों की चित्रकारी हुई है। मुसलमानी शासन-काल में भी भारत की अपनी एक नौ-सेना थी। शिवाजी भी नौ-सेना रखे हुए थे।

अङ्गरेज़ों के आगमन से इस देश के इतिहास का नया अध्याय आरम्भ होता है। अङ्गरेज़ों के पहिले जितने भी आक्रमणकारी आये, वे सब के सब अधिकांश थल मार्ग से ही आये थे, परन्तु अङ्गरेज़ जल-मार्ग से आये। अङ्गरेज़ों की नाविक शक्ति संसार में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। वे पक्के माझी माने जाते हैं। नाविक-शक्ति, थल-शक्ति से कहीं अधिक महत्व-पूर्ण है। नाविक-शक्ति के ही बल पर भारतवर्ष, किसी समय सारे विश्व में तपा हुआ था—सच पूछा जाय तो उसके पराजय का कारण, गुलामी का कारण, मुसलिम



आक्रमण, जलवायु की विचित्रता, अथवा आपसी कलह आदि नहीं है। सूक्ष्म रूप से विचार करने से यही भान होता है कि यदि देश की नाविक-शक्ति क्षीण न हुई होती तो यह देश आज तक पराधीन ही न बना रहता।

अस्तु, आज के भारत की नाविक-शक्ति, नौ-सेना का इतिहास उसका अपना इतिहास नहीं है, वरन् अङ्गरेज़ जाति और ब्रिटानिया द्वीप का है, जिसका आरम्भ सोलहवीं शताब्दी के तृतीय चरण से हुआ।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से भारत की नाविक-शक्ति का अङ्गरेज़-अध्याय आरम्भ होता है। पहिले-पहल अङ्गरेज़ों ने सूरत और बम्बई पर आधिपत्य जमा कर जहाज़ी अड्डा क़ायम किया। कभी, सूरत बम्बई से भी बड़ा बन्दरगाह समझा जाता था।

कोलम्बस भारत का पता लगाने चला था, वह अमेरिका पहुँच गया। वास्कोडिगामा सीधे १४९८ में कालीकट आ पहुँचे। अलबुकर्क ने सन् १५१० में पुर्तगीज राज्य स्थापित किया। पुर्तगीज़ों के नब्बे वर्ष बाद एडवर्ड बोनावेञ्चर नाम का अङ्गरेज़ी जहाज बङ्गाल की खाड़ी में पहिली बार पहुँचा। सन् १५९९ में डच व्यापारियों ने गरम मसाले की क़ीमत बढ़ा दी, फलस्वरूप ब्रिटेन में "गवर्नर्स एण्ड कम्पनी आफ दी मर्चेन्ट्स ट्रेडिङ्ग अन्टू दी इस्ट ईन्डीज़" की स्थापना हुई, और कप्तान हाकिन की अध्यक्षता में 'हेक्टर' नाम का जहाज सूरत के बन्दरगाह में लगा। हाकिन को जमीन पर उतार कर 'हेक्टर' वापस चला गया। 'हाकिन' ही सबसे प्रथम अङ्गरेज़ थे जो सम्राट् जहाँगीर के पास गये और सूरत में व्यापार करने की उनसे आज्ञा ली।

हेक्टर के बाद ड्रैगन और ओसियेण्डर नाम के दो और अङ्गरेज़ी जहाज सन् १६१२ में आये। उनका आना सुनकर पुर्तगीज़ बहुत घबड़ाये और उन्होंने चार जहाज भेजकर अङ्गरेज़ी जहाज़ों पर धावा बोल दिया। अक्टूबर के महीने की २९ तारीख को दोनों में पहिला जहाजी युद्ध हुआ। तीन दिन के घमासान युद्ध के अनन्तर अङ्गरेज़ों की जीत रही। इस जीत के कारण अङ्गरेज़ों की धाक जम गई और मुग़लों की ओर से उन्हें सूरत में कारख़ाना आदि बनाने की भी अनुमति मिल गई।

यद्यपि सन् १६६० तक अङ्गरेज़ों ने नियमित रूप से अपनी थल-सेना भारत में नहीं रखी थी, तथापि सन् १६१२ की जहाज़ी लड़ाई के उपरान्त ही उन्हें छोटी-मोटी नौ-सेना रखनी पड़ी थी। इस नौ-सेना का नाम 'बम्बे-मेरिन' रखा गया। उस समय के जहाज़ अधिक से अधिक दो मस्तूल के होते थे। उनकी तौल भी डेढ़ सौ टन से लेकर तीन सौ टन के भीतर होती थी। उन पर दो डेकें होती थीं। प्रमुख डेक पर तोपें चढ़ा दी जाती थीं। उन जहाज़ों का नाम 'गार्ब' था जो अरबी भाषा के 'ग़ोराब' शब्द से निकला है। सन् १६१४ में विलायत से चार जहाज़ और आये। उस समय भी पुर्तगीज़ों ने आक्रमण किया, परन्तु तीन-चार दिन की मोरचाबन्दी के उपरान्त उन्हें भागना पड़ा। सन् १६८७ में बम्बई का द्वीप प्रेसीडेन्सी क़रार दिया गया तब से 'बम्बे मेरिन' का महत्व और भी बढ़ गया। सन् १७४२ तक बम्बे मेरिन में जहाज़ों की संख्या बढ़ कर ६ और उन पर सजी हुई तोपों की संख्या ढाई सौ तक पहुँच गई। बड़े जहाज़ों के अतिरिक्त बीस छोटे जहाज़ भी इकट्ठा कर लिये गये। इन जहाज़ों पर १०० अफ़सर और २००० सिपाही तैनात थे। परन्तु थोड़े ही दिनों में बम्बे मेरिन की शक्ति क्षीण कर दी गई, कारण कम्पनी उनका व्यय-भार वहन करने में असमर्थ सी हो चली।

'बम्बे मेरिन' की क्षीण दशा देख कर समुद्री-डाकुओं ने आक्रमण किया और केवल चौबीस घण्टे के युद्ध के अनन्तर आधे दर्जन अङ्गरेज़ी जहाज़ छिन्न-भिन्न होकर डाकुओं के हाथ लग गये।

सन् १७७४ में फ्रान्स और अङ्गरेज़ों के मध्य लड़ाई छिड़ गई। भारत-स्थित फ्रान्सीसियों की सहायता के लिए फ्रान्स से जहाज़ चल पड़े। इसकी खबर पाकर ब्रिटेन ने भी हिन्द-महासागर में अपने जहाज़ भेजे। यह पहिला अवसर था जब कि हिन्द-महासागर में यूरोप के

राष्ट्रों के लड़ाकू जहाजों ने प्रवेश किया। यहीं से केवल भारतीय समुद्री किनारे का ही नहीं अपितु समूचे हिन्द-महासागर के इतिहास का दूसरा अध्याय आरम्भ होता है।

ब्रिटेन की सुशिक्षित जहाजी सेना ने आकर बम्बे मेरिन का पुनर्संगठन किया और दोनों ने मिलकर फ्रान्सीसी लड़ाकू जहाजों का मुक़ाबिला किया।

सन् १७६१ ई० में 'बम्बे मेरिन' को ब्रिटेन की सरकार ने अपनी खास वरदी पहिनने की आज्ञा प्रदान की। अफ़सर नीले और पीले रङ्ग का मिला हुआ फ्राक कोट व वेस्टकोट पहनते थे। बड़े-बड़े अफसर साने के तार के फीते भी लगाते थे।

'बम्बे मेरिन' केवल अरब सागर के भारतीय तट में ही नहीं वरन् ईरानी तट पर भी देख-रेख रखता था। सन् १७७५ में बसरा का घेरा आरम्भ हुआ, जहाँ अङ्गरेज़ों की एक फ़ैक्टरी थी। घेरा डालने वाले ईरानी थे, और वह स्थान तुर्कों के अधिकार में था। फ़ैक्टरी के तीन आदमियों पर आक्रमणकारियों ने छापा मारा और उन्हें जान से मार डाला। फलस्वरूप लड़ाई आरम्भ हो गई। ईरानी जहाज़ों की संख्या पर्याप्त थी। इधर अङ्गरेज़ और तुर्क मिल गये। लगभग एक सप्ताह तक जल-युद्ध होता रहा। सातवें दिन ईरानी जहाज़ मोरचा छोड़ कर हट गये। तब से वहाँ भी इनका प्रभुत्व जमना आरम्भ हो गया।

सन् १७६६ ई० में बम्बई के गवर्नर ने फ्रान्सीसी नगर माही पर आक्रमण किया। बम्बई मेरिन का काम केवल जहाज़ी लड़ाई लड़ना ही नहीं था, वह व्यापार में सहायता करता था, परन्तु प्रमुख काम किनारों और द्वीपों का पता लगाना था। सन् १७७२ ई० में मेकरान, सिन्ध, कराँची, काठियावाड़ आदि के समुद्री किनारों का पता लगाया गया। सन् १७७४ में अण्डमन द्वीप का पता लगाया गया। अण्डमन द्वीप को जहाज़ लेकर जाने वाले कप्तान का नाम लेफ्टेनेण्ट आरकीबाल्ड ब्लेयर था। उन्हीं के नाम पर अण्डमन के प्रमुख बन्दर का नाम पड़ा, जो आज दिन भी पोर्ट ब्लेयर के नाम से प्रसिद्ध है।

बम्बे-मेरिन की शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही और वह अफ्रीकन समुद्री तट तक का धावा मारता रहा। सन् १८०१-१८०२ में सर राल्फ अबर क्रोम्बी और लार्ड कीथ की देख-रेख में मिस्र देश के तट पर होने वाले समुद्री युद्ध में इसने भाग लिया।

सन् १८१२ में जावा की विजय में बम्बे-मेरिन ने प्रमुख भाग लिया। सन् १८२० में बम्बे-मेरिन की वरदी में फिर परिवर्तन किया गया। सन् १८४०-४२ में चीन से लड़ाई हुई। उस समय हिन्दुस्तानी नौ-सेना (बम्बे मेरिन) ने भी काम किया। इसके पहिले सन् १८२४ में बरमा के युद्ध में भी बम्बे मेरिन सम्मिलित हुआ था। सन् १८२८ ईस्वी से बम्बे-मेरिन को यूनियन जैक लगाने की आज्ञा दी गई।

सन् १८३४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक प्रकार से तोड़ सी दी गई। उस समय कम्पनी द्वारा जीते गये प्रान्त अङ्गरेज़ी राज्य क़रार दिये गये। उसके साथ-साथ बम्बे मेरिन भी 'इण्डियन नेवी' (हिन्दुस्तानी नौ-सेना) के रूप में परिणत हो गया। सन् १८३६ में अदन पर आक्रमण हुआ। इसमें सफलता पाने का मुख्य श्रेय हिन्दुस्तानी नौ-सेना को ही है।

स्वेज़ की नहर के खुलने के पहिले बम्बई से लेकर स्वेज़ तक समुद्री रास्ते का सर्वे करने का काम हिन्दुस्तानी नौ-सेना को ही सौंपा गया था। स्वेज़ नहर खुल जाने के बाद डाक ले जाने ले आने का भी काम इन्हें ही सौंप दिया गया। मेल ढोने का काम सन् १८५५ तक होता रहा। सन् १८५५ में ओरियण्टल स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की स्थापना हुई।

सन् १८५२ में बरमा का दूसरा युद्ध आरम्भ हुआ। कलकत्ता से सारी थल-सेना इन्हीं लड़ाकू जहाज़ों पर चढ़कर रङ्गून पहुँची। हिन्दुस्तानी जल-सेना की ही बदौलत बरमा पर अङ्गरेज़ों का आधिपत्य जमा। सन् १८५६-५७ के चीनी-युद्ध में फिर यहाँ का जहाज़ी बेड़ा चीन गया। इन युद्धों के अतिरिक्त भारतीय तट की रक्षा करने का कार्य भी उसे ही करना पड़ता था

यह "इण्डियन नेवी" जो बम्बे मेरिन के स्थान पर क़ायम हुआ था, सन् १८६२ में तोड़ दिया गया और उसके स्थान पर रायल इण्डियन मेरिन की स्थापना हुई। सन् १९१४ में, इस सेना में छः विशालकाय सशस्त्र जहाज़ थे, जिन पर देख-रेख का काम ब्रिटिश सिपाहियों और अफ़सरों के हाथ में था। महायुद्ध के समय ये जहाज़ अरब सागर और लालसागर में रखवाली के लिए नियुक्त किये गये। सन् १९१६ तक मैसोपोटामियाँ के लिए फ़ौजें ले जाने का भी काम इन्हीं का था।

परन्तु अब तक इन जहाज़ों पर काम करने वालों में हिन्दुस्तानियों का नाम-निशान नहीं था। सन् १९१९ के सुधार के समय इस सम्बन्ध में काफ़ी आन्दोलन भारतवासियों ने किया। परन्तु सन् १९२८ तक इस सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण बात नहीं हुई। सन् १९२८ में एक ब्रिटिश एडमिरल की इसलिए नियुक्ति की गई कि वह भारतीयों को इस सम्बन्ध में शिक्षा दे।

इस समय रायल इण्डियन मेरिन की देख-रेख में निम्न-लिखित कार्य होते हैं :—

१—हिन्दुस्तानियों को शिक्षा देना (युद्ध के समय के लिए)।

२—भारत-सरकार के अधिकार में रहने वाले बन्दरगाहों का संगठन और जलयुद्ध से बचाव का उपाय करना।

३—सर्वे का काम।

४—सेना का सामान और सैनिक लाने और भेजने का काम।

सन् १८६९ ई० से लेकर सन् १८९६-९७ तक भारत प्रति वर्ष पन्द्रह लाख रुपया ब्रिटेन को नौ-सेना के ख़र्च के रूप में देता रहा। भारत का कुल ख़र्च इस सम्बन्ध में इस समय क़रीब सत्तर लाख रुपया प्रति वर्ष है।

सन् १९२६ ई० के अक्टूबर और नवम्बर माह में लन्दन में एक इम्पीरियल कॉन्फ्रेंन्स हुई। उसमें इस बात पर विचार किया गया कि नये ढङ्ग से भारतीय नौ-सेना का प्रबन्ध किया जाय। परन्तु समस्या इतनी जटिल साबित हुई कि कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सका।

रायल इण्डियन नेवी में इस समय एक गोदाम का जहाज़, ४ फ़ौजी जहाज़, २ पेट्रोल और एक सर्वे के जहाज हैं। एक जहाज़ और तैयार होकर विलायत से आ रहा है।

निरन्तर आन्दोलन करते रहने पर भी जल-सेना का भारतीयकरण अभी तक नहीं हो पाया है। सन् १९२८ ई० में इस सम्बन्ध में एक बिल असेम्बली में उपस्थित हुआ था। परन्तु वह एक वोट से गिर गया। सन् १९३४ ई० में फिर बिल उपस्थित किया गया।

सन् १९३४ ई० की दूसरी अक्टूबर को "रायल इण्डियन नेवी" की बम्बई में नींव डाली गई। उस दिन से "रायल इण्डियन मेरिन" का नाम समाप्त हो गया। इस समय इसके सेनापति एक फ़्लैग-आफिसर हैं। 'इण्डियन मेरिन' के जो काम थे, वही इण्डियन नेवी के भी काम हैं, उनके अतिरिक्त बङ्गाल की खाड़ी के मछली-घाटों की रक्षा का भी भार इसी पर रखा गया है।

भारतीयों को जहाज़ सम्बन्धी शिक्षा 'डफ़रिन' जहाज़ पर दी जाती है, जिसमें प्रति वर्ष एक करोड़ पीछे एक विद्यार्थी लिया जाता है। गत तीन-चार वर्षों से जो विद्यार्थी पास करके निकल रहे हैं, उनमें से अधिकांश अभी तक बेकार हैं।

जन-साधारण से लेकर बड़े-बड़े विद्वान तक विश्व-व्यापी युद्ध की आशङ्का कर रहे हैं। हाँ, यह युद्ध कब और किस समय होगा, इस सम्बन्ध में कुछ ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता है। संसार के सभी देश अपनी-अपनी रक्षा के प्रबन्ध में संलग्न हैं। भारत की रक्षा का भार ब्रिटेन के हाथ में है। परन्तु परिस्थिति ने यदि ब्रिटेन को यूरोप के भूमध्यसागर के आगे न बढ़ने दिया तो उस समय निहत्थे भारत की क्या दशा होगी, इसके स्मरण मात्र से कलेजा दहल उठता है। अबीसीनिया ऐसा स्वतन्त्र देश, जिसके पास युद्ध का कुछ सामान भी

मौजूद था तथा जिस देश की दुर्गम पर्वत-स्थलियों, घाटियों तथा विकट दर्रों में पहुँचना कोई साधारण खेल नहीं था, आज इटली का ग़ुलाम बन गया और शान्तिप्रेमी यूरोपीय राष्ट्र देखते रहे। कहाँ तो बेलजियम देश से होकर सेना जाने के प्रश्न को लेकर जर्मनी ऐसा शक्तिशाली राष्ट्र मटियामेट कर डाला गया, और कहाँ अबीसीनिया के भयङ्कर नर-संहार को देखकर भी विश्व-शान्तिप्रेमी राष्ट्रों के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मौक़े से अङ्गरेज़ इस देश की रक्षा के लिए न पहुँच सके तो इसकी क्या दशा होगी ?

थल, जल और वायु, इन तीन प्रकार की शक्तियों में कोई भी शक्ति भारत के पास नहीं है—जो कुछ है, वह अङ्गरेज़ों की है। यद्यपि उनका व्यय-भार भारत को ही वहन करना पड़ रहा है, तथापि उसके गाढ़े दिनों में काम आने वाला कोई भी नहीं दीखता है। क्या भारतवासी अब भी अकर्मण्य बने हुए आपस में ही छोटी-छोटी समस्याओं को लेकर लड़ते रहेंगे ?

निशा-निमंत्रण से

[श्री० 'बच्चन']

साथी नया वर्ष आया है !

वर्ष पुराना, ले, अब जाता,
कुछ प्रसन्न-सा, कुछ पछताता,
दे जी-भर आशीष, बहुत ही इससे तूने दुख पाया है !
साथी, नया वर्ष आया है !

उठ इसका स्वागत करने को,
स्नेह-बाहुओं में भरने को,
नए साल के लिए, देख, यह नई वेदनाएँ लाया है !
साथी नया वर्ष आया है !

उठ, ओ पीड़ा के मतवाले,
ले ये तीक्ष्ण-तिक्त-कटु प्याले,
ऐसे ही प्यालों का गुण तो तूने जीवन भर गाया है !
साथी, नया वर्ष आया है !



फ़िल्म और समाज

[श्री० महेन्द्रकुमार]

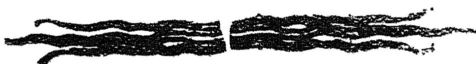
संसार परिवर्तनशील है, और इसकी परिवर्तनशीलता के साथ मानव-जीवन का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। इसकी प्रगति के साथ ही चलने में मनुष्य जाति का कल्याण है। किसी कवि ने कहा है—'जैसी बहे बयार, पीठ तब तैसी दीजै।' इस बीसवीं सदी ने तो अपने प्रथम चरण में ही अपने नये-नये आविष्कारों से संसार को चकित ही नहीं किया, वरन् इस तरह उलझा दिया है कि हर देश और मनुष्य का, उन आविष्कारों की प्रगति के साथ चल कर, अपनी समस्याओं को सुलझाना ही अनिवार्य कर्त्तव्य हो गया है। अन्य पाश्चात्य देश तो समयानुसार चलकर बहुत आगे बढ़ गये हैं। हम भारतवासी ही ऐसे हैं, जो अभी उन उन्नतिशील देशों से टक्कर लेने में बहुत ही पिछड़े हुए हैं। यदि हम अभी से अपने को न सँभाल सके तो हमारी जाति और समाज का ह्रास अवश्यम्भावी है।

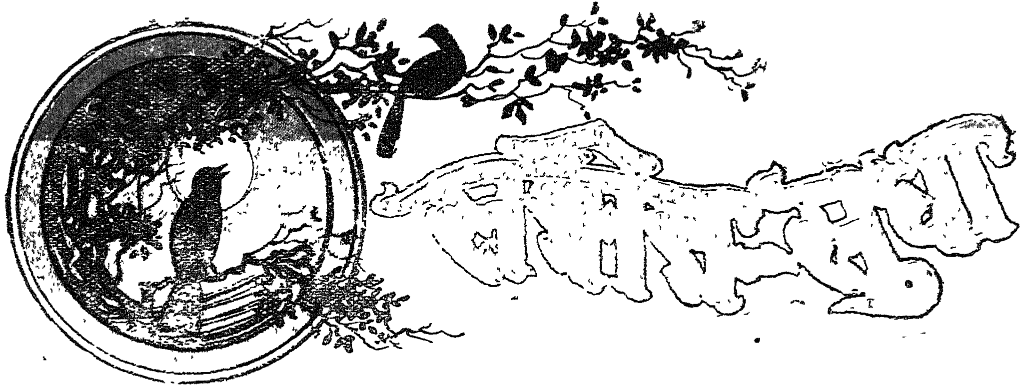
इस बीसवीं सदी का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार सिनेमा है। पिछले दस सालों के अन्दर सिनेमा संसार में आश्चर्यजनक उन्नति कर इस समय प्रगति के महान् साधनों में से एक गिना जाने लगा है। राष्ट्रनिर्माण के लिए इसका उपयोग प्रत्येक देश में होने लग गया है। उदाहरण-स्वरूप जापान, रूस, इटली और अन्य अनेक देश यह स्पष्ट रूप से साबित करते हैं कि इन देशों ने, जहाँ की जनता की अवस्था भारत के समान ही थी, सिनेमा के द्वारा ही कितनी आशातीत उन्नति की है। भारत में भी यह अपनी शक्ति दिखाने में पीछे नहीं रहा है। कुछ ही दिन पहले जहाँ लोग इसे केवल मनोरञ्जन की सामग्री समझते थे, और माता, पिता नेता, गुरुजन इत्यादि इसे समाज के नवयुवकों के चरित्र नष्ट करने का केन्द्र-स्थान मानते थे; उसे ही अब वे आदर की दृष्टि से देख रहे हैं। अभी हाल ही में एक सभा में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"आज की दुनियाँ में सिनेमा एक भारी ताक़त है। उसका बहुत अधिक प्रभाव है, जिसके निकट भविष्य में और भी अधिक बढ़ने की सम्भावना है। इसकी सहायता से हम लाखों व्यक्तियों को शिक्षा दे सकते हैं और उन्हें दूर-दूर के देशों की झाँकी दिखा सकते है।" इसके कुछ ही दिनों के बाद एक दूसरी सभा में भाषण देते हुए फिर आपने कहा था कि 'मैं उन लोगों में से नहीं हूँ, जो सिनेमा को बुरा समझते हैं। वास्तव में सिनेमा आज की दुनियाँ में एक बड़ी भारी ताक़त है; और जैसा कि होता है, यह बड़ी-बड़ी ताक़तें दोनों तरह के कामों में लाई जा सकती हैं—अच्छे कामों में भी, बुरे कामों में भी।' इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सिनेमा का महत्व हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक नेता भी अब समझने लगे हैं।

अब यह पूर्ण रूप से निश्चित है कि सिनेमा समाज के लिए एक ऐसी महत्वपूर्ण वस्तु है, जिसका प्रयोग

बुद्धिमानी से किया जाना चाहिये, जिससे आश्चर्यजनक फल प्राप्त हो सके। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे देश में सिनेमा की महान् शक्ति को अभी तक उन कार्यों में नहीं लगाया गया है, जिनमें लगाया जाना चाहिए। हमारे फ़िल्म-निर्माताओं ने अब तक उसे एकमात्र रुपये कमाने का साधन ही बना रखा है। रुपये कमाना कोई बुरी बात नहीं, किन्तु प्रत्येक मनुष्य का अपने देश और समाज के प्रति कुछ कर्तव्य होता है; और फ़िल्म-निर्माताओं तथा साहित्यकारों आदि का उत्तरदायित्व अपेक्षाकृत अधिक होता है। लेकिन हमारे भारत के फ़िल्म-निर्माताओं ने इस उत्तरदायित्व का अनुभव बिलकुल नहीं किया, और वे देश तथा समाज के हित के लिए किसी प्रकार भी बलिदान करने को तैयार नहीं दिखाई देते। यह कहते हुए हम उन दो-चार फ़िल्म-निर्माताओं पर लाञ्छन नहीं लगा रहे हैं, जिन्होंने अपवाद-स्वरूप वास्तव में इस प्रकार का बलिदान करने की चेष्टा की है। इन बातों को सोचते हुए राष्ट्रपति द्वारा दी गई धमकी कि 'एक अवसर आ सकता है, जब क़ानून उन्हें ठीक मार्ग पर चलने के लिये बाध्य कर दे' एक विशेष महत्व रखती है। यहाँ पर हमें यह भी कहना पड़ता है कि इसमें सारा दोष फ़िल्म-निर्माताओं का ही नहीं है, इस अपराध के दोषी हमारा समाज और हमारे सामाजिक नेता भी हैं; जिन्होंने दो साल पहले तक इस ओर ध्यान ही नहीं दिया था। लेकिन इधर दो साल से कुछ लोग अग्रसर हुए हैं, जिन्होंने भारतीय फ़िल्म-व्यवसाय की उन्नति में बहुत कुछ मदद पहुँचाई है। उनमें motion picture Society of Bombay का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। किन्तु उनका कार्य अभी तक व्यावसायिक दृष्टि से ही होता रहा है। सामाजिक समस्याओं की ओर अभी तक उन्होंने भी कुछ ध्यान नहीं दिया है। इसका मुख्य कारण यह भी हो सकता है कि हमारी सरकार ने इस बड़े आविष्कार को व्यावसायिक या सामाजिक, किसी भी दृष्टि से अभी तक नहीं अपनाया है। जब से हमारी काङ्ग्रेस ने ग्यारह में से सात प्रान्तों में बहुमत प्राप्त किया है, तब से इस नूतन चमत्कार से प्रेम रखने वाले सभी बड़ी आशाएँ रखते हैं कि अब जब हमारे सामाजिक और राजनैतिक नेता देश का शासन कर रहे हैं, तो इस फ़िल्म-निर्माण-कला की व्यावसायिक वृद्धि के साथ ही सामाजिक हित की दृष्टि से प्रचार भी अवश्यम्भावी होगा।

विशेष प्रसन्नता की बात है कि इधर कुछ फ़िल्म-निर्माताओं ने इस उत्तरदायित्व को समझा है, और मनोरञ्जन के साथ-साथ शिक्षाप्रद चित्रपट तैयार कर समाज की सेवा करने की आवश्यकता अनुभव करने लग गये हैं। ऐसे उदार फ़िल्म-निर्मातागण व्यावसायिक दृष्टि से उन लोगों की अपेक्षा, जो तीसरे दर्जे के असभ्य चित्र तैयार कर रहे हैं, घाटा सहकर भी समाज की समस्याओं को हल करने वाले शिक्षाप्रद अच्छे चित्र बनाकर समाज की बड़ी सेवा कर रहे हैं। अच्छा चित्र हम उसे ही कह सकते हैं, जोकि हमारे सामाजिक जीवन की त्रुटियों, उसकी अलग-अलग समस्याओं, तरह-तरह की कठिनाइयों को सुन्दर रूपेण एक दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित करे। साथ ही मनोरञ्जन को भी पूरा स्थान मिलना चाहिए, ताकि दर्शक उन सामाजिक समस्याओं को देखकर उकता न जाएँ, वरन् उस मनोरञ्जन द्वारा उन्हें उन समस्याओं पर विचार करने का पूरा अवसर प्राप्त हो सके। यह सत्य है कि चित्रपटों द्वारा सामाजिक समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता, किन्तु उसके द्वारा इतना निश्चय है कि समाज को किसी विशेष आवश्यक समस्या की ओर शीघ्रातिशीघ्र आकर्षित कर, दो-एक रास्ते दिखाकर उसे उसके हल करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। समाज का ऐसे फ़िल्म-निर्माताओं के चित्रपटों को अपना कर तथा समय-समय पर अपने विचार प्रगट कर उन्हें ठीक रास्ते पर चलने के लिए उत्साहित करना परम कर्त्तव्य है।





लेखक—
श्री० एस० डी० आपटे
सङ्गीत-प्रवीण

राग देश—
पंजाबी (विलंबीत)

शब्दकार—
सूरदास

इस राग में दो निषाद लगते हैं।

वादी - पंचम, संवादी—रिषभ। जाति—सम्पूर्ण, समय—रात का दूसरा प्रहर।

आरोहावरोह

सा री म प, नी सा। सा नी धप, ध, म ग री ग सा।

पकड़

रीमप, नीधप, पध, मगरीगसा।

गीत

मना रे माधव सौं करु प्रीति।
काम क्रोध मद लोभ मोह तू, छाँड़ि सबै विपरीति॥
भौंरा भोगी बन भ्रमै, मोद न मानै ताप।
सब कुसुमन मिलि रस करै, कमल बँधावै आप॥

स्थायी

						री		म							
प	नीसारींसा	नी	धप	मग	रीग	नीं	सा	री	म	प	नी	नी	सानी	सा	प
म	नाऽऽऽ	रे	ऽऽ	माऽ	ऽऽ	ध	व	सौं	ऽ	क	रु	प्री	ऽऽ	ति	ऽ
२								३				१			

प	नीसारीसा	नी	धप	सा	नी	धप	ध	म	गरी	नीं	सा	री	म	प	रीमपऽ
म	नाऽऽऽ	रे	ऽऽ	का	ऽ	मऽ	क्रो	ऽ	धऽ	म	द	लो	ऽ	भ	मोऽऽऽ
२				+				३				१			
मपनी	ऽ	ध	प	ऽ	म	प	नी	नी	नी	सा सा	सा	मपनीसा	रीं	नी ध	प
ऽऽऽऽ	ह	तू	ऽ	छाँ	ऽ	डि	स	बै	ऽ	वि	प	रीऽऽऽ	ऽ	तिऽ	ऽ
२				+				३				१			

अन्तरा

म	प	नी	ऽ	नी	सा	सा	ऽ	नी	सा	ऽ	प	मपनीसा	रीं	नीं ध	प
भौं	ऽ	रा	ऽ	भो	ऽ	गी	ऽ	ब	न	ऽ	ऽ	अऽऽऽ	ऽ	मैंऽ	ऽ
+				३				१				२			
नी	सा	री	री	रीगम	रीग	नी	सा	नी	सा	ऽ	नीसारी	नी	ध	प	ऽ
मो	ऽ	द	न	माऽऽ	ऽऽ	ने	ऽ	ता	ऽ	ऽ	ऽऽऽ	ऽ	ऽ	प	ऽ
+				३				१				२			
म	प	नी	सा	प	नी	ध	प	री	म	प	मपध	म	गरी	नीं	सा
स	ब	कु	सु	ऽ	म	न	ऽ	मि	लि	ऽ	ऽऽऽ	र	सऽ	क	रे
+				३				१				२			
नीं	सा	री	म	री	म	प	नी	पनी	सारी	सानी	धप	प	नीसारीसा	नी	धप
क	म	ल	बँ	धा	ऽ	वे	ऽ	आऽ	ऽऽ	पऽ	ऽऽ	म	नाऽऽऽ	रे	ऽऽ
+				३				१				२			





अजी सम्पादिका जी,

जय राम जी की !

आजकल किसी सभा-सोसायटी का सभापति बन जाना इतना सरल है कि पूछिये नहीं। अपनी स्त्री का पति बनना उससे कहीं अधिक कठिन है। पति बनने के लिए केवल जोरू होने भर से ही काम नहीं चलता। बहुतेरे व्यक्ति ऐसे हैं कि उनके स्त्री तो मौजूद है, लेकिन वे उसके पति नहीं हैं। पत्नी रहते हुए भी पति बनने का सौभाग्य प्राप्त न होना एक विचित्र सी बात है। परन्तु जब यह संसार ही विचित्र है तब विचित्रताओं का क्या घाटा है। केवल यही नहीं, इसका दूसरा पहलू भी विचित्र है, यानी पति रहते हुए भी बहुत सी स्त्रियाँ पत्नी नहीं है। इस प्रकार विचित्रताओं का पता लगाया जाय तो उनका सिलसिला नहीं टूट सकता।

हाँ तो, आजकल कमेटी, सभा, सङ्घ, समिति की इतनी भरमार है कि उनके लिये सभापति ढूँढ़े नहीं मिलते। आजकल जहाँ चार आदमी इकट्ठे हुए बस कोई न कोई सङ्घ या कमेटी बन गई। कुर्ता कमेटी, चप्पल सङ्घ, छाता यूनियन, दर्जी सभा इत्यादि संस्थाएँ धड़ल्ले के साथ अपना काम कर रही हैं। जिस प्रकार बे माँ-बाप का बच्चा और बिना पति की स्त्री दयनीय समझी जाती है, उसी प्रकार वह समझा जाता है जो किसी सभा या सङ्घ का सदस्य नहीं है। लोग कहते हैं यह सङ्गठन का युग है, आजकल सबको सङ्गठित होकर रहना चाहिए, कोई अकेला न रहे। अस्तु !

अभी तक अपनेराम बिल्कुल तने तनहा रहे। अल्लाह मियाँ के सिवा और किसी का सहारा नहीं था, परन्तु आजकल अल्लाह मियाँ अपने सहारे बहुत कम लोगों को रहने देते हैं। इसलिए एक दिन चार-पाँच आदमी आ ही तो धमके। अपनेराम के एक परिचित उनके साथ थे, उन्होंने सबका परिचय दिया। एक साहब बोले—'बहुत दिनों से आपके दर्शनों की लालसा थी।'

अपनेराम ने सोचा, अच्छा ! अपनेराम भी इस क़ाबिल हुए कि लोगों को अपनेराम के दर्शनों की लालसा रहती है ! हे परमात्मा खैर करना ! जान पड़ता है, ये कमबख़्त चन्दा माँगने आये हैं। उनसे अपनेराम बोले—'दर्शनों की लालसा ज़रूर रही होगी। उस दिन तीन-चार सज्जन अपनी संस्था के लिए चन्दा माँगने आये थे, वे भी यही कहते थे।'

'लेकिन हम लोग तो चन्दा माँगने नहीं आये।'

उफ ! बड़ी तसल्ली हुई ! तब तो ये लोग वाक़ई अपनेराम के दर्शन पाने के पात्र हैं।

'इसीलिए तो आपको दर्शन मिल भी गये !।'—अपनेराम बोले।

'लेकिन हम लोग कुछ माँगने अवश्य आये हैं।'

अपनेराम ने सोचा—चन्दा नहीं माँगेंगे तो क्या माँगेंगे—कोई लेख ? इन लोगों की सूरत तो ऐसी नहीं जान पड़ती कि इन्हें कभी लेख की ज़रूरत पड़ती होगी। उहँ, होगा भी ! जब चन्दा नहीं माँगेंगे तो फिर

चाहे जान भी माँगें तो चिन्ता नहीं है। यह सोचकर अपनेराम परिचित से बोले—'तुम्हें तो मालूम होगा कि ये लोग किस लिए आये हैं, तुम्हीं जल्दी से बता दो।'

'ये लोग स्वयम् ही बतावेंगे'। परिचित राम मुस्करा कर बोले।

अपनेराम भी सोंठ हो गये। जिस बात का भय था वह तो स्पष्ट ही हो गई, अब क्या परवाह है। थोड़ी देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं। अन्त को एक महाशय बोले—'आपको एक कष्ट देने आये हैं।'

अपनेराम जल्दी से बोले—'फ़र्माइये! फ़र्माइये।'

'हम लोग एक सभा बनाना चाहते है।'

'तो शौक़ से बनाइये।'

'हम चाहते हैं कि आप भी उसके सदस्य बनें।'

'ओहो! तो यह कहिये, आप मुझ अनाथ को सनाथ बनाने आये हैं।'

'इसका क्या मतलब ?'

'इसका मतलब समझने में ज़रा देर लगेगी। हाँ तो उस सभा का उद्देश क्या है ?'

'केवल सङ्गठन! आप जानिये, आजकल सङ्गठन में ही शक्ति है।'

'जी हाँ, आप बिलकुल बजा फ़र्माते हैं। मुझे सङ्गठन के लाभों का अनुभव है।'

'अवश्य होगा।'

'होगा नहीं, है! जिस समय अपनेराम तथा लल्ला सङ्गठित हो जाते हैं उस समय लल्ला की महतारी की एक नहीं चलती और जिस समय लल्ला तथा लल्ला की महतारी सङ्गठित हो जाते हैं उस समय......अच्छा तो आप क्या चाहते हैं ?'

'और हम यह चाहते हैं कि आप उस सभा के सभापति बन जायँ।'

'अजी नहीं! ऐसा मज़ाक़ न कीजिए।'

'मज़ाक़! मज़ाक़ किस चिड़िया का नाम है ?'

'अच्छा! तो क्या आप सचमुच कह रहे हैं ?'

'कह नहीं रहे हैं, हम आपको सभापति बना चुके—केवल आपकी स्वीकृति चाहिए।'

वाह रे परमात्मा! तेरी माया भी अपार है। अपनेराम सभापति बन चुके और अपनेराम को ख़बर तक नहीं। उनसे अपनेराम बोले—'देखिये जनाब! पति तो मैं एक बार जिसका बनना था बन चुका।'

'बस एक बार और बन जाइये।'

अपनेराम के परिचित महोदय भी बोले—'इन्होंने आपको अपनी सभा का सभापति चुन लिया है। मेरे विचार से तो अब आपको स्वीकार कर लेना चाहिए।'

और सुनिए! कहते है, स्वीकार कर लेना चाहिए। अपनेराम बोले—'ख़ैर, आप लोगों की यदि यही इच्छा है तो मुझे स्वीकार है।'

इतना सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए। मानों बड़ा भारी क़िला फ़तह किया। अपनेराम ने पूछा—'सभापति की हैसियत से अपनेराम को क्या करना होगा, यह बता दीजियेगा।'

'वह सब आपको मालूम हो जायगा। कल हम लोग मीटिङ्ग करने जा रहे हैं, उसमें आपको सब पता चल जायगा।'

'कल किस समय मीटिङ्ग होगी।'

'यही शाम के सात बजे। ठीक रहेगा न ?'

'हाँ, ठीक रहेगा।'

इसके पश्चात् वे लोग विदा हो गये। अपनेराम सोचने लगे कि आज सवेरे किसका मुँह देखा था जो यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। सोचते-सोचते याद आया कि सवेरे अपने ख़िलते मुट्टू का मुँह देखा था। ओफ़ ओह! उसके दर्शन इतने शुभ होंगे, यह किसे मालूम था। अब कभी-कभी प्रयत्न करके सवेरे उसका मुँह देख लिया करेंगे।

दूसरे दिन मीटिङ्ग हुई। अपनेराम नियत समय पर पहुँच गये थे।

पन्द्रह-सोलह आदमी इकट्ठा थे। अपनेराम के पहुँचते ही कार्यवाही आरम्भ हुई। एक महोदय बोले—'मैं प्रस्ताव करता हूँ कि हमारी आज की सभा के सभापति श्री० विजयानन्द दुबे जी बनाये जायँ।'

अपनेराम का कलेजा धक् से हुआ और बेतहाशा मुँह से निकल गया—'बस केवल आज की ?'

प्रस्तावक ने हाथ के इशारे से चुप रहने के लिए कहा। अपनेराम चुप हो गये। परन्तु पेट में चूहे कूदने लगे कि अपनेराम से तो कमबख़्तों ने परमानेएट सभापति बनाने का वादा किया और यहाँ मामला टेम्परेरी दिखाई पड़ रहा है। आख़िर बिल्ले का मुँह कहाँ तक शुभ हो सकेगा, कुछ न कुछ मनहूसियत तो रहेगी ही।

इसके बाद एक महोदय बोले—'आज का कार्यक्रम पदाधिकारियों का चुनाव है। सब से पहले सभापति का चुनाव होना चाहिए।'

इतना सुनते ही एक महाशय बोल उठे—'मैं प्रस्ताव करता हूँ कि इस सभा के सभापति श्री० विजयानन्द दुबे जी बनाये जायँ।'

एक दूसरे सज्जन ने प्रस्ताव का अनुमोदन कर दिया और अपनेराम सर्वसम्मति से सभापति स्थापित हो गये। अब अपनेराम का चित्त ठिकाने आया, लेकिन साथ ही यह अफ़सोस हुआ कि मुट को मनहूस समझकर उसके प्रति बहुत बड़ा अन्याय किया गया।

इसी प्रकार उप-सभापति एक नहीं पूरे चार चुने गये। एक मन्त्री, दो सहायक मन्त्री, एक कोषाध्यक्ष। इस प्रकार सबको कोई न कोई पद देने का प्रयत्न किया गया; परन्तु फिर भी कुछ अभागे बाक़ी ही रह गये। ऐसों को केवल कार्य-कारिणी का सदस्य बनाकर उनके आँसू पोंछे गये।

सभा विसर्जन होने पर एक महाशय अपनेराम से बोले—'दुबे जी! आप से कुछ बातें करनी हैं। कोई समय दीजिए।'

'कल आ जाइये।'

दूसरे दिन वह महाशय अपनेराम से मिले। बोले—'दुबेजी, आप कहाँ जा फँसे।'

'जा फँसे'—यह बकता क्या है। फँसते कोई और होंगे, अपनेराम तो शान के साथ गये हैं।

अपनेराम ने पूछा—'क्यों? इसमें जा फँसने की क्या बात है?'

'बात यह है कि वहाँ कुछ होना-हुवाना नहीं है, ख़ाली स्वाँग है।'

'अपनेराम सभापति बन गये, यह क्या कुछ कम हुआ? और आप चाहते क्या हैं?'

'आपको सभापति न बनना चाहिए था।'

'तो क्या बनना चाहिए था?'

'कुछ भी नहीं। यह संस्था चले चलावेगी नहीं।'

'आख़िर क्यों नहीं चलेगी?'

'इसमें दो-एक ऐसे आदमी आ गये हैं, जो इसे चलने नहीं देंगे।'

'वे कौन आदमी हैं?'

उन्होंने दो नाम बताये।

अपनेराम बोले—'इतने आदमी चलायँगे तब तो चलेगी नहीं और दो आदमी उसे रोक देंगे। अपनेराम यह वाहियात बात मानने के लिए तैयार नहीं हैं।'

'ख़ैर, आज आप न मानें, परन्तु एक दिन आपको मेरी बात माननी पड़ेगी।'

'हरगिज़ नहीं मानूँगा।'

'माननी पड़ेगी तब भी न मानेंगे?'

'माननी कैसे पड़ेगी, कोई ज़बरदस्ती है?'

'ख़ैर देख लीजिएगा।'

'सो तो अपनेराम न जाने क्या-क्या देख चुके हैं।'—वह चुप होकर चले गये।

इसके पश्चात् एक मास व्यतीत हो गया, परन्तु सभा की न कोई बैठक हुई और न अन्य कोई कार्य हुआ। अपनेराम सोचने लगे कि अच्छे सभापति बने, कोई टके तक को नहीं पूछता। क्या उस कमबख़्त की बात सच्ची निकलेगी। एक दिन रास्ते में मन्त्री महोदय मिले। अपनेराम ने पूछा—क्यों जनाब! सभापति बनाकर तो बिठा दिया; परन्तु कोई कार्य नहीं होता, क्या बात है?

'एक दिन तो बैठक हुई थी; परन्तु आप आये ही नहीं।'

'बैठक हुई थी! और मुझे सूचना तक नहीं।'

'आपके पास सूचना भेजी तो गई थी।'

'मुझे तो नहीं मिली।'

'आप मिले न होंगे।'

'तो सभापतित्व किसने किया?'

'उप-सभापति ने।'

इतना सुनते ही अपनेराम बिगड़ उठे, बोले— देखिये जनाब ! अपनेराम के सिवा और कोई सभापतित्व नहीं कर सकता और यदि करेगा तो अपनेराम बहुत बुरी तरह पेश आवेंगे ।'

वह बोले—'परन्तु उपसभापति तो इसीलिए होता है कि जब सभापति न हो तो वह सभापति का कार्य करे ।'

'सभापति न हों तब न ? परन्तु सभापति ससुरा तो मौजूद था । सो यार लोगों ने उसे खबर भी की और सभा कर डाली !'

'सूचना तो आपके पास भेजी गई थी ।'

'सभापति के पास और सूचना ! जी चाहता है सिर पीट लूँ । आपको सब काम सभापति की आज्ञा से करना चाहिए ? आप सभापति के पास सूचना भिजवाते हैं । इस अन्धेर को तो देखिये !'

'सूचना निकालना, बैठक का आयोजन करना, यह काम मन्त्री का है । असल में सब काम तो मन्त्री ही करता है ।'

'जी नहीं, हमारे सभापतित्व में यह धाँधली नहीं चलेगी कि सब काम मन्त्री करे और सभापति मुँह ताका करे । भविष्य में सब काम अपनेराम करेंगे—आप केवल अपनेराम की आज्ञा पालन करते रहेंगे ।'

'यह तो बड़ी अच्छी बात है, मैं झंझटों से बच जाऊँगा । परन्तु यह नियम-विरुद्ध बात होगी ।'

'होने दीजिए ।'

'यदि आपको काम करने का इतना उत्साह है तो आप मन्त्री बनते तो बड़ा अच्छा होता ।'

'मन्त्री काहे को बनते ! अपनेराम तो सभापति ही बन सकते हैं !'

'यही तो मैं भी कहता हूँ । आप मन्त्री का कार्य नहीं कर सकेंगे ।'

'करेंगे जनाब—कर न सकने के क्या अर्थ ? अब आयन्दा सूचना अपनेराम निकालेंगे और जिसको जी चाहेगा उसे बुलायँगे—कोई जरा भी चीं-चपड़ करेगा तो उसे सभा से निकाल देंगे ।'

'कार्यकारिणी के सदस्यों को तो बुलाना ही पड़ेगा !'

''पड़ेगा' शब्द अपनेराम के सामने मत कहिये ।'

'कोरम तो पूरा करना ही पड़ेगा ।'

'जहाँ अपनेराम बैठ जायँगे वहाँ कोरम अपने आप पूरा हो जायगा । चार आदमियों की जगह तो अकेले अपनेराम घेर लेते हैं—फिर भी कोरम पूरा न होगा ? और आयन्दा चुनाव में उपसभापति का पद तोड़ दिया जायगा । उपसभापति मामला खराब करते हैं । सभापति न हुआ तो ख़ुद सभापति बन जाते हैं । यह बड़ी भारी गुस्ताखी है । अपनेराम इसे सहन नहीं कर सकते ।'

'ऐसा तो इसलिए किया जाता है कि यदि किसी कारणवश सभापति न आसके तो उप-सभापति कार्य चला ले—कार्य रुका न रहे ।'

'जी नहीं, ऐसा नहीं होने पायेगा । अब बिना सभापति के सभा स्थगित रहेगी ।'

'इससे तो कार्य में बाधा पड़ेगी ।'

'आपको कार्य की तो इतनी भारी चिन्ता है, परन्तु सभापति की जरा भी चिन्ता नहीं । अपनेराम का इतना अपमान !'

'इसमें अपमान की तो कोई बात नहीं !'

'है कैसे नहीं । मानो तो देव नहीं पत्थर !'

'इन बातों से तो मन्त्रिमण्डल और आप में बड़ा मतभेद हो जायगा ।'

'हाँ ! और यह आप जानते ही हैं कि मन्त्रियों और गवर्नर में मतभेद...।'

मन्त्री महदोय बोल उठे—'गवर्नर !'

'हाँ-हाँ, गवर्नर ! आप इतना चौंकते क्यों हैं ! केवल नाम का भेद है, वरना अपनेराम का भी वही दर्जा है जो गवर्नर का होता है—सभापति न कहा गवर्नर कहा, गवर्नर न कहा सभापति कहा । पद तो एक ही है !'

'तो यह कहिये, आप गवर्नरी की हवा में हैं ।'

'जान पड़ता है, अपनेराम को यह मन्त्रिमण्डल तोड़ना पड़ेगा !'

मन्त्री महोदय चुपचाप चले गये ।

तीन दिन बाद वही सदस्य अपने पास आकर बोले—'देखिये, मैंने क्या कहा था ।'

'तो क्या हुआ ?'

'सभा समाप्त हो गई।'

'अपनेराम ने तो समाप्त नहीं की।'

'तो इससे क्या होता है। सब खेल ख़त्म हो गया।'

'वह कैसे ?'

'आपसी वैमनस्य के कारण।'

'लेकिन समाप्त कैसे हो गई ?'

'जिन्होंने सभा के दफ़्तर के लिए अपना कमरा दिया था उन्होंने अब इन्कार कर दिया! दफ़्तर की दरी जिन्होंने दी थी, वह अपनी दरी उठा ले गये। जिन्होंने अल्मारी देने कही थी, वह अब देने से इन्कार करते हैं। स्टेशनरी का सामान मन्त्री जी दाब बैठे। वह कहते हैं, हमने अपने पास से ख़रीदा था—हम नहीं देंगे—हमारी इच्छा। कमरे के मालिक ने कमरे में अपना ताला डाल दिया।'

यह शुभ समाचार सुनकर अपनेराम को ज़रा भी ग़श नहीं आया—यह प्रसन्नता की बात है। अपनेराम का दिल इन बातों में बड़ा मज़बूत है। अब आयन्दा सभापति बहुत समझ-बूझ के बनेंगे।

भवदीय,

विजयानन्द (दुबे जी)

मेरा गान

[स्वर्गीया प्रभादेवी माथुर]

मैं न समझी सजनि अब तक
आह, अपने गान ही को!

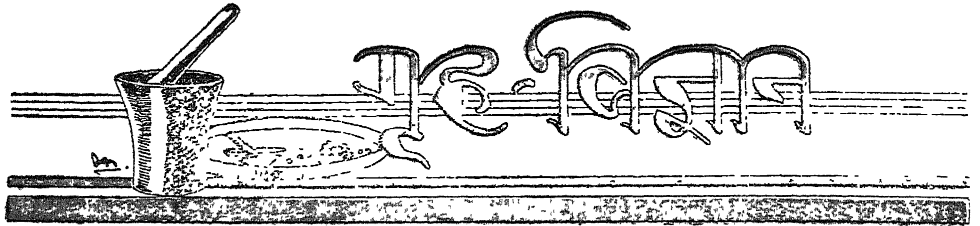
नयन में है बस रहा प्रिय स्वप्न सा साकार होकर;
इस हृदय की बीन में वह छिप गया झङ्कार होकर;
हो जुदा कैसे अरे जो प्राण का कम्पन बना है,
श्वास पलने पर हमेशा झूलता मधु-प्यार होकर!

आज इतने पास होकर दूर ही वह क्यों सदा से......
यह नहीं हैं गीत सखि मैं तो पुकारूँ प्राण पी को!! मैं—

लुट रही है सजनि प्रतिक्षण विरह ही में अश्रु-शबनम;
मैं अचानक चौंकती होता जभी पदचाप का भ्रम;
ध्यान उनका ही मुझे हरदम रहा करता सखी री,
चल रहा है इस तरह ही जिन्दगी का शून्य सा क्रम!

आज रोकर ही अरे समझा रही मैं म्लान जी को!!
मैं न समझी सजनि अब तक आह, अपने गान ही को!!





केले के गुण

केला हमारे देश का प्रायः सर्वत्र पाया जाने वाला फल है। यद्यपि भिन्न भिन्न प्रदेशों के केलों की आकृति, वर्ण और स्वाद में भी काफ़ी अन्तर पाया जाता है, पर इसका उपयोग सब जगह समान रूप से होता है। लाभ की दृष्टि से भी इसका दर्जा बहुत ऊँचा है। इसमें मनुष्य के शरीर के लिये पर्याप्त मात्रा में पोषक तत्व पाया जाता है। केले के फल और पेड़ के सभी अवयव मनुष्यों के लिये हितकारी हैं। नीचे हम इन विभिन्न अवयवों के उपयोग के सम्बन्ध में कुछ चुने हुए नुस्खे देते हैं, जिनसे साधारण लोग भी काम ले सकते हैं :—

१—कच्चा केला और कच्ची गूलर सम भाग लेकर और सुखाकर चूर्ण कर ले। इस चूर्ण को सुबह-शाम १ तोला रोज़ देने से स्त्रिय के रक्त-प्रवाह और श्वेत प्रदर को लाभ होता है। केवल कच्चे केले की फली खाने से भी लाभ होता है।

२—रक्त-पित्त अर्थात् मुँह या नाक से ख़ून आने में पकी हुई केले की फली को शकर में मिलाकर दूध के साथ फेंट कर चाटने से लाभ होता है।

३—केले की फली हृदय के दर्द में शहद के साथ फेंट कर खाने से बड़ा लाभ करती है। मात्रा १ तोला शहद और दो फली। शहद से केले का भारीपन जाता रहता है।

४—आँत के विकारों में जैसे दस्तों का आना, पेचिश (प्रवाहिका), संग्रहणी आदि में दही और केला फेंट कर खाने से लाभ होता है। दही के साथ थोड़ी सी केसर भी डालनी चाहिये। दही की मात्रा थोड़ी हो और केला अधिक।

५—सुज़ाक के लिए केले का फूल बड़ा उपयोगी है। केवल पुष्प-दल को सुखा कर चूर्ण कर ले। १ तोला केला-पुष्प चूर्ण, १ तोला कल्मी शोरा, दो सेर दूध और दो सेर पानी लेकर सब को एक कोरे घड़े में शाम को भर दे और सुबह कच्चा दूध मिला दे। एक-एक गिलास रोगी को पिलाना शुरू करे। उस दिन रोगी कोई अन्य भोजन न करे। दूसरे दिन केवल दूध पिये। अवश्य लाभ होगा।

६—केले का स्वरस अर्थात् डण्डी और पत्तों का रस और फली के ऊपर का पराग साँप के ज़हर में अथवा किसी प्रकार के विष में लाभ करता है।

७—केले की नीरस फली जो सफ़ेद होती है, वह उठी हुई आँखों में लगाने से लाभ करती है।

८—सुर्मे में केले के डण्ठल की २१ भावनाएँ दे और फिर १ भावना नीम के कोंपल के रस की दे। सुर्मे का $\frac{1}{20}$ कपूर और $\frac{1}{20}$ फिटकिरी मिलाकर तैयार कर लें। इससे आँखों की गर्मी और धुँधलापन दूर हो जाता है। यह सुर्मा बड़ा लाभदायक होता है।

९—केले के ऊपर की बाँझ फलियाँ, जो प्रायः गिर जाती हैं, पाँच-सात लेकर शिवलिङ्गी के पाँच-सात बीजों के साथ पीसकर रजोधर्म के तीसरे दिन वन्ध्या स्त्री को खिलाने से एक या दो मास में उसका वन्ध्यापन दूर हो जायेगा और सन्तानोत्पत्ति होगी। प्रत्येक मास पाँच-छः दिन तक खिलाना चाहिए।



१०—मिश्री, गाय का घी और केला, तीनों वस्तु पाव भर लेकर मथ ले। इनमें दालचीनी १½ तोला, लोध १ तोला, धाय के फूल, बड़ी इलायची प्रत्येक ६ माशे, सोंठ ८ माशे, माजूफल ३ माशे महीन पीसकर मिलाये। दो तोला सुबह-शाम खाने से रक्त और श्वेत दोनों प्रकार के प्रदर में बड़ा गुण करता है।

११—चोट या रगड़ लगने से केले के छिलके को बाँध देने से सूजन नहीं बढ़ती।

१२—केले में लोह होता है, इसलिए वह पाँडु रोग में बहुत लाभकारी होता है।

१३—पागल कुत्ते के विष पर पके हुए जङ्गली केले के बीज खाना और पीसकर लेप करना चाहिए।

१४—हिचकी पर जङ्गली केले की पत्तियों की राख एक माशा, एक तोला शहद के साथ मिलाकर चाटना चाहिए।

१५—शोथ पर पक्का केला और गेहूँ का आटा जल में घोलकर और गरम करके लेप करना चाहिए।

१६—सङ्खिया के विष पर केले की जड़ का रस पीना चाहिए।

१७—जीभ में छाले पड़ने पर पक्का केला गाय के दही के साथ प्रातःकाल खाना चाहिए।

१८—कामला पर पक्का केला शहद के साथ खावे।

१९—भस्मक रोग पर केला घी के अथवा केले के पेड़ का रस पीना चाहिए।

२०—प्रदर, सोम और मूत्रातिसार पर पक्का केला और आँवला का रस, दो भाग शक्कर मिलाकर खाना चाहिए।

२१—प्रदर और धातु-विकार पर पका हुआ एक केला, छः माशे घी के साथ ८ दिन तक सुबह-शाम खाना चाहिए।

२२—पित्त रोग पर पक्का केला और घी खावे।

२३—केला से अजीर्ण होने पर बड़ी इलायची खाना चाहिए।

२४—प्रदर पर के । पीसकर और दूध में पकाकर दो दिन तक खाय।

२५—वमन पर केले की जड़ का रस और शहद पिये।

२६—क़ब्ज़ियत पर कच्चा केला उबाल कर खाय।

२७—त्रिदोष की शान्ति के लिए केला और शक्कर खाय।

२८—अतिसार में पक्के केले के भीतर दो सरसों बराबर अफ़ीम रखकर खाना चाहिये।

—नारायणप्रसाद अरोड़ा





गीता का व्यवहार-दर्शन

लेखक, श्रीयुत सेठ रामगोपालजी मोहता; प्रकाशक, श्रीसत्यनारायण प्रिंटिङ्ग प्रेस, फ़्रियर रोड, कराँची; पृ०-सं० ६०० से ऊपर।

यह सिद्धान्त प्रायः सभी विद्वानों को मान्य है कि श्रीमद्भगवद्गीता संसार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में से है; अथवा संसार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक यही है। यद्यपि प्राचीन काल से आज तक विद्वानों ने ऐसे और भी ग्रन्थ-रत्नों का निर्माण किया है, जिनको करोड़ों व्यक्ति अपना मुक्तिदाता मानते हैं और जिनके परायण से शान्ति-लाभ करते हैं। पर गीता के समान 'गागर में सागर' वाली सूक्ति को चरितार्थ करने वाली रचना आज तक नहीं की गई, इससे कदाचित् ही किसी को मतभेद होगा। गीता के सात सौ श्लोकों में संसार के श्रेष्ठ तत्व-ज्ञान को मथ कर रख दिया गया है। दुनिया में कदाचित् ही कोई धार्मिक, आध्यात्मिक अथवा व्यावहारिक समस्या ऐसी होगी, जिसका निर्णय गीता द्वारा न किया जा सके। इतना ही नहीं, संसार में जो सबसे कठिन समस्या त्याग और कर्म के विभेद की है और जिसको हल करने में सभी देशों के विद्वानों को प्रायः असफल होकर एक ही अङ्ग का आश्रय लेना पड़ा है, उसका सामञ्जस्य भी गीता में अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से किया गया है। सच पूछा जाय तो हमारी सम्मति में गीता-निर्माण का वास्तविक उद्देश्य ही यही है और यही उसकी शिक्षा का मुख्य सारांश है।

गीता की इसी महानता तथा श्रेष्ठता को हृदयङ्गम करके प्राचीन काल से आधुनिक समय तक एक नहीं सैकड़ों विद्वानों ने उस पर टीकाएँ और भाष्य लिखे हैं। प्राचीन भारत के पूजनीय शङ्कराचार्य और रामानुजाचार्य से लगा कर वर्तमान काल में विद्वद्शिरोमणि लोकमान्य तिलक तक ने एक वाक्य से गीता के महत्व को स्वीकार करके उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट करने की चेष्टा की है। इनमें से प्राचीन काल के अधिकांश विद्वान् त्याग-मार्ग के अनुयायी संन्यासी थे, इसलिये उन्होंने गीता की व्याख्या में त्यागभाव को ही प्रधानता दी। आरम्भ में तो यह त्याग-भाव अथवा निवृत्ति मार्ग किन्हीं अंशों में देश की परिस्थिति के अनुकूल था, इसलिये उससे सर्वसाधारण का कुछ हित भी साधन हुआ। पर बाद में देश की अवस्था दिन पर दिन बदलती गई और निवृत्ति मार्ग ने क्रमशः संसार से उदासीनता, नैराश्य, भाग्यवाद और अन्त में अकर्मण्यता का रूप धारण कर लिया। इस बीच में जनता में विद्वान माने गये लोगों की बुद्धि का भी विपर्यय होता रहा और धीरे-धीरे उन्होंने गीता को पूर्णतया सांसारिक व्यवहारों का विरोध करने वाला ग्रन्थ बना डाला। उनकी इस प्रवृत्ति का देश और समाज पर कितना हानिकारक कुप्रभाव पड़ा, इसका वर्णन इस ग्रन्थरत्न के लेखक श्री मोहताजी ने एक स्थान पर बड़े मार्मिक ढङ्ग से किया है। आप लिखते हैं:—

"भगवान् बुद्ध के समय से इस देश में निवृत्ति-मार्ग पर लोगों की अधिक श्रद्धा हो गई, और यहाँ के लोग संसार के व्यवहारों को सर्वथा बन्धन का हेतु मानने लगे। दर्शनशास्त्र केवल निवृत्ति के ही प्रतिपादक समझे जाने लगे। प्रवृत्ति में दार्शनिक तत्त्वज्ञान अनावश्यक ही नहीं, किन्तु उसका विरोधी ठहराया गया; फलतः दार्शनिक विषय, केवल पुस्तकीय ज्ञान (Theory)—कोरे शास्त्रार्थ करने के लिए ही रह गये। संसार के व्यवहार

में वेदान्त के सिद्धान्तों का उपयोग बिलकुल ही छूट गया और गृहस्थ छोड़कर संन्यास लेने वालों ही का दर्शनों पर अधिकार हो गया। दूसरे शब्दों में दार्शनिक तत्वज्ञान का उपयोग संसार के व्यवहारों से लुप्त होकर केवल संन्यास ही में होने लगा। यहाँ तक कि उपनिषद् और गीता जैसे ज्ञान-कर्म-समुच्चय अर्थात् व्यावहारिक वेदान्त के ग्रन्थों का भी निवृत्ति मार्ग की पुष्टि में ही उपयोग होने लगा और उसी के अनुकूल इनके अनेक भाष्य और टीकाएँ बन गईं। साम्प्रदायिक टीकाकारों ने अपने-अपने मत की पुष्टि और अपने अनुयायियों को अपने सिद्धान्त समझाने की स्वार्थ-सिद्धि के लिए उपनिषद् और गीता का आश्रय लेकर, इनके अर्थ की यहाँ तक खींचा-तानी की, और शास्त्रार्थ के वागाडम्बरों का तूल इतना बढ़ा दिया, कि इनके अर्थ में बहुत ही गड़बड़ हो गई और इनका असली तात्पर्य (व्यावहारिक वेदान्त) बिलकुल अज्ञात हो गया। गीता के विषय में तो कहीं-कहीं यहाँ तक कहा जाने लगा कि 'गीता का अर्थ कृष्ण ही जानें' जिसका भावार्थ यह निकलता है कि स्वयं कृष्ण के सिवाय दूसरा कोई उसका सच्चा तात्पर्य समझ ही नहीं सकता, अतः न अब इस युग में फिर से कृष्ण का अवतार हो और न गीता का वास्तविक अर्थ ही समझा जा सके। कैसे आश्चर्य की बात है कि जब अपने सिवाय दूसरा कोई उसको समझ ही न सके, तो गीता बनाने का परिश्रम उन्होंने नाहक किया। तात्पर्य यह कि साधारण जनता भगवान् के सार्वजनिक उपदेश का यथार्थ लाभ उठाने से वञ्चित हो गई। बहुत से लोगों ने तो इसको निवृत्ति-मार्ग की पुस्तक समझ कर, इसके पढ़ने से संसार से वैराग्य हो जाने के डर से इसको पढ़ना छोड़ कर, केवल मृत्यु के समय सुनाने योग्य ही निश्चय कर लिया। इस तरह उपनिषदों और गीता में प्रतिपादित व्यावहारिक वेदान्त, भारतवर्ष में बिलकुल लुप्त हो गया, और ज्ञान के प्रकाश बिना अज्ञान के अन्धकार में संसार के व्यवहार होने लगे, जिसका परिणाम जैसा होना स्वाभाविक है, वैसा ही हुआ, अर्थात् आर्य-संस्कृति के व्यवहार-रूपी शरीर में से, आध्यात्मिक मूल-सिद्धान्त रूपी जीव निकल गया। तब, जिस तरह जीव-रहित शरीर में अनेक प्रकार के विकार व गलाव उत्पन्न हो जाते हैं, वही दशा इस हुई। इस देश के अधिकांश लोग अपने व्यवहारों में आध्यात्मिकता को बिलकुल भूल कर, आधिभौतिकता में अत्यन्त आसक्त हो गये, जिससे जड़ता (तमोगुण) का इन पर साम्राज्य हो गया, और बुद्धि का विपर्यास होकर सत्य को झूठ और झूठ को सत्य मानने लगे; भौतिक शरीरों को ही सब कुछ मान कर, आपस में अनन्त प्रकार की भिन्नताएँ उत्पन्न करके, व्यक्तिगत अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ पर ही प्रायः सबका लक्ष्य रह गया, जिससे एक दूसरे से घृणा और तिरस्कार के भाव उत्पन्न हो गये, और आपस की एकता का लोप होकर सारे देश में फूट फैल गई; अधिकांश लोग आपस में असत्य और छल-कपट का व्यवहार करके एक दूसरे को हानि पहुँचाने लगे, जिससे सम्मिलित शक्ति से काम करने की योग्यता प्रायः लुप्त हो गई; भौतिक शरीरों में इतना मोह बढ़ गया कि अधिकांश लोग मरने और कष्ट सहने से डरने लगे; बुद्धि से काम लेना छोड़ कर अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के दास हो गये; मानसिक दुर्बलता के कारण बात-बात में वहम और शङ्काएँ खड़ी करके सदा सशङ्कित रहने लगे; आत्मिक निर्बलता बढ़ जाने से स्वावलम्बन का भाव बहुत कम रह गया; प्रत्येक कार्य में अपने से भिन्न देवी-देवता, भूत-प्रेत आदि अदृष्ट कल्पित शक्तियों, अथवा अपने से भिन्न लोगों का आश्रय लेकर, अधिकतर परावलम्बी, उत्साहहीन, निरुद्यमी और आलसी बन गये, और आत्मा की स्वाभाविक स्वतन्त्रता एवं परिपूर्णता के भावों से विमुख होकर, दूसरी दृष्ट वा अदृष्ट शक्तियों के दास बन कर, उनके मोहताज हो गये; भूतकाल के अभिमान में शोचनीय वर्तमान और अन्धकारमय भविष्य पर ध्यान देना प्रायः भूल गये, और अपने अवगुणों एवं त्रुटियों को छिपाने एवं दबाये रखना ही अपने लिए हितकर मानने लगे। इन्हीं कारणों से इस देश का धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और आर्थिक पतन हुआ और इन्हीं कारणों से राजनैतिक स्वतन्त्रता खोकर, इस देश के लोग, जिन लोगों में ये दुर्गुण, यहाँ के लोगों से कम थे, उनके अधीन हो गये।"

इस प्रकार जब देश दुर्दशा के पङ्क में पूर्ण रूप से फँस गया और साधारण जनता अत्यन्त कष्ट की अवस्था में कालयापन करने लगी तो कुछ देश-हितैषियों की आँखें खुलीं और अन्यान्य सुधारों के साथ वे देश के आध्यात्मिक जीवन में उत्पन्न हो गये इस नाशकारी भाव का मूलोच्छेद करने की चेष्टा करने लगे। इनमें प्रमुख स्थान स्वर्गीय लोकमान्य तिलक का है, जिन्होंने बड़े से बड़े टीकाकारों से टक्कर लेते हुए गीता की 'कर्मयोग शास्त्र' नामक व्याख्या लिखी। लोकमान्य का यह ग्रन्थ-रत्न विद्वत्ता और आध्यात्मिक विषयों के विश्लेषण की दृष्टि से अभूतपूर्व और वन्दनीय है। यदि यह कहा जाय कि कई सौ वर्षों से हमारे देश में ऐसे विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ की रचना नहीं हुई थी तो कोई अतिशयोक्ति नहीं। इस महान ग्रन्थ ने गीता रूपी अमूल्य रत्न पर पड़े मैल को दूर करके उसके वास्तविक तेजोमय स्वरूप को सर्व-साधारण के सम्मुख प्रकट कर दिया।

माननीय मोहता जी का 'गीता का व्यवहार-दर्शन' भी लोकमान्य का मार्गानुयायी है और इसमें गीता के व्यवहारानुकूल स्वरूप का भली प्रकार विवेचन किया गया है। इससे विदित हो जाता है कि गीता संसार अथवा गृहस्थाश्रम के त्याग का उपदेश नहीं देती, वरन् वह संसार में रहते हुए और सब कर्मों को यथाविधि करते हुये भी उनमें लिप्त न होने के राजमार्ग का रहस्य प्रकट करती है। इस दृष्टि से गीता का अध्ययन मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। इसी के द्वारा वे अपने और विश्व के वास्तविक स्वरूप तथा पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन को सार्थक कर सकते हैं।

इस पुस्तक की एक विशेषता यह है कि मोहता जी ने इसको सरल भाषा में लिखा है और विवेचन प्रणाली के क्लिष्ट न होने देने का भी पूर्ण ध्यान रखा है। इससे यह ग्रन्थ उन लोगों के काम का भी हो गया है, जो विशेष विद्याध्ययन के अभाव से इस उच्च कोटि के ग्रन्थ को समझ सकने में असमर्थ रहते थे।

दूसरी सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ऐसे महान ग्रन्थ को मोहता जी ने बिना मूल्य ही अधिकारी जनता तक पहुँचाने की व्यवस्था की है। इस छः सौ से अधिक पृष्ठों के, उत्तम काग़ज़ पर स्वच्छ छपे तथा सुन्दर जिल्द-युक्त ग्रन्थ को कोई भी गीता-प्रेमी व्यक्ति लेखक (कराँची) के पास से डाकव्यय के लिये दस आने के टिकट भेजकर मँगा सकता है। दुनिया में सभी प्रकार के दान प्रशंसनीय है, पर विद्या-दान की महिमा सबसे अधिक मानी गई है। इस ग्रन्थ को सर्वसाधारण के लिये इतना सुलभ बनाकर मोहता जी अक्षय कीर्ति के भागी हुए हैं। हमारा आन्तरिक विश्वास है कि गीता-प्रेमी सज्जन अवश्य ही इस सुविधा से पूर्ण लाभ उठाएँगे।।

—एन० जी०

सचित्र दरबार ग्वालियर अङ्क—सम्पादक ऋषभचरण जैन, सिविल लाइन्स दिल्ली; वार्षिक मूल्य २०) (राज संस्करण) ७) (साधारण)।

ग्वालियर के विषय में ज्ञातव्य लेखों तथा अनेक रङ्गीन और सादे चित्रों से सुसज्जित यह अङ्क ३०० पृष्ठ का वृहद् ग्रन्थ है। सजावट और छपाई आदि की दृष्टि से भी सुन्दर निकला है। यदि इसमें ग्वालियर की साधारण जनता के जीवन का और विशेष परिचय मिल सकता तो अङ्क की उपयोगिता अधिक बढ़ जाती। अङ्क सम्पादक के अध्यवसाय का सूचक और संग्रहणीय है।

विशाल-भारत—प्रवेशाङ्क; मूल्य ॥।), सम्पादक सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन; विशाल-भारत कार्यालय १२०।२ अपर सरकुलर रोड, कलकत्ता।

सदा के समान 'विशाल-भारत' का प्रस्तुत अङ्क भी अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप ही निकला है। कम स्थान में अधिक उपयोगी सामग्री का समावेश कर देना उसकी अपनी विशेषता रही है। प्रस्तुत अङ्क अनेक सामयिक और साहित्यिक लेखों, उत्कृष्ट कहानियों तथा कविताओं से पूर्ण है। चित्रों का चुनाव और विषयों का सम्पादन सुरुचि का परिचायक है।





शिक्षिता नवयुवती का अपहरण

कानपुर के पाँच प्रतिष्ठित व्यक्तियों, म्यूनिसिपल बोर्ड के मेम्बर पं० जयनारायण शुक्ल तथा स्काउट आर्गनाइज़र पं० लक्ष्मीनारायण वाजपेयी और डॉ० मथुराप्रसाद तथा उनकी दो लड़कियाँ—चन्द्रकला और कलावती गिरफ़्तार किये गये है। उपर्युक्त गिरफ़्तारियाँ एक पढ़ी-लिखी बाईस वर्षीय नवयुवती के बयानों के अनुसार हुई हैं। पाँचों अभियुक्त ज़मानत और मुचलकों पर छूटे हैं। उपर्युक्त मुक़दमे की पेशी सिटी मजिस्ट्रेट श्री पैग़म्बरबख़्श की अदालत में ता० २१ जनवरी को हुई। कचहरी में बहुत भारी जनसमुदाय उपस्थित था। भीड़ क़रीब २-२॥ हज़ार से अधिक होगी। अदालत से मजमे को हटाने के लिये पुलिस को कई बार बल-प्रयोग करना पड़ा, फिर भी गुल-गपाड़े से अदालत के कामों में विघ्न पड़ता ही रहा, तब विवश होकर पत्रों के सम्वाददाता और मुक़दमे के पैरोकारों के अतिरिक्त समस्त दर्शक कोर्ट कम्पाउण्ड से निकाल दिये गये। पुलिस के सख़्त पहरे मे अपहरण की हुई नवयुवती ने बड़ा ही सनसनीपूर्ण बयान दिया है।

* * *

पुत्र की हत्या

पीलीभीत ज़िले के पूरनपुर गाँव के द्वारकाप्रसाद नामक एक व्यक्ति को पुलिस ने गिरफ़्तार किया है। कहते हैं, एक दिन संध्या हो जाने के बाद इसने अपने आठ वर्षीय पुत्र से पास के ही कुएँ से पानी लाने को कहा; पर लड़का चूँकि आठ साल का ही छोटा सा था अतः उसे अँधेरे में घर के बाहर जाने में भय लगता था। लड़के ने कुएँ से पानी लाने से इन्कार कर दिया। इस पर बाप का पारा बेहद चढ़ गया। पहले तो लड़के को डाँटा; पर जब डाँट से काम न चला तो लड़के को उसने जला डालने की धमकी दी। छोटा सा बच्चा इस धमकी को 'धमकी' से अधिक और समझ ही क्या सकता था। वह आख़िर जब पानी भरने नहीं गया तब द्वारकाप्रसाद ने क्रोध से आग-बबूला होकर सचमुच लड़के के सिर पर एक बोतल मिट्टी का तेल डालकर दियासलाई से आग लगा दी। बेचारा लड़का मशाल की तरह जलने लगा। उसकी चीख़-चिल्लाहट सुनकर जब तक उसकी माता उसे बचाने दौड़ी तब तक वह इस दुनिया से कूच कर चुका था।

* * *

भाभी पर क़ातिलाना हमला

एटा ज़िला के सिउपुरा नामक गाँव में दुर्गा उर्फ़ नेकसा ब्राह्मण ने अपनी भाभी मुसम्मात पार्वती पर चाक़ू से कातिलाना हमला किया। शोर मचते ही पड़ोसियों ने जाकर देखा तो पार्वती को ज़मीन पर ख़ून से लथपथ पड़ा पाया और नेकसा को भागते हुये देखा। घायल को अस्पताल में लाकर दाखिल किया गया है, जहाँ उसकी हालत चिन्ता-जनक है। पता चला है कि भाई-भाई की लड़ाई में ऐसा किया गया है।

* * *

पाँच लड़कियाँ बरामद हुईं

लाहौर की पुलिस ने हीरामण्डी मुहल्ले के एक घर पर धावा किया, और घर से पाँच लड़कियाँ बरामद कीं। कहा जाता है कि ये लड़कियाँ अमृतसर, जलन्धर और पटियाला से भगा कर लाई गई थीं। इन लड़कियों को भगाने के सम्बन्ध में एक औरत पकड़ी गई है।

* * *

कुत्सित जीवन पर वाध्य किया

दिल्ली के बाज़ार सीताराम में एक व्यक्ति ने अपनी स्त्री के ऊपर इस वजह से चाकू द्वारा आक्रमण किया कि उसके कहने पर स्त्री ने अनैतिक जीवन व्यतीत करने से इन्कार किया। स्त्री का नाम मुसम्मात रामदेवी उर्फ़ प्रेमवती है। हौज़ काज़ी की पुलिस में उसने जो रिपोर्ट लिखाई है उसमें उसने कहा है कि मैं अपने पति लछमनसरूप कायस्थ के साथ गत ११ वर्ष से स्त्री की हैसियत से रहती थी। लछमनसरूप पहिले तार और डाक-विभाग में नौकर था, किन्तु बाद में वह बरखास्त कर दिया गया। वह जुआड़ियों का सट्टा खोल रखे था और बेकार होने की वजह से वह मुझे अनैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए वाध्य करता था।

* * *

कलियुगी भीम प्रो० राममूर्त्ति की मृत्यु

गत १६ जनवरी को बालनगिर (उड़ीसा) जनरल अस्पताल में कलियुगी भीम के नाम से सुविख्यात प्रोफेसर राममूर्ति का देहावसान हो गया।

एक विराट जलूस के साथ उनका शव स्मशान घाट पहुँचाया गया। जलूस में प्रधान मन्त्री, लाला राजकनकर एम० ए०, बी० सी० एस० रेवेन्यू मिनिस्टर, मि० एल० साहनी एवं अन्य प्रमुख सरकारी और ग़ैर-सरकारी व्यक्ति शामिल थे।

प्रो० राममूर्ति ने शारीरिक शक्ति के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की थी। उन्होंने इङ्गलैगड, यूरोप एवं अन्यान्य देशों में जाकर अपने अद्भुत कौशल दिखा कर लोगों को चकित कर दिया था।

लड़की का ख़ून

अवध की चीफ़ कोर्ट के माननीय जस्टिस जियाउल हसन तथा माननीय जस्टिस हैमिल्टन ने हत्या के एक मामले की अपील पर फ़ैसला सुनाया और अपील नामञ्जूर करके अभियुक्त की फाँसी की सज़ा बहाल रक्खी। अपील भरोसे (जाति का पासी) नाम के एक व्यक्ति द्वारा पेश की गई थी। उसके ऊपर यह अभियोग चलाया गया था कि उसने मुसम्मात मुन्नी नाम की एक नौ वर्ष की लड़की पर अत्याचार किया और उसके बाद उसकी हत्या कर डाली। मामला सीतापुर के सेशन जज की अदालत में पेश किया गया था और सेशन जज ने उसके ऊपर ताजीरात हिन्द की दफ़ा ३०२ के अनुसार जुर्म लगा कर उसे फाँसी की सज़ा दी थी।

* * *

अविवाहितों पर टैक्स

संसार में आजकल आदमियों में कुँआरे रहने की बीमारी फैल रही है। इस कुप्रथा को रोकने के लिये मध्य यूरोप में तो कुछ पहले ही कुँआरों पर टैक्स लगा दिया गया था। दक्षिणी अमरीका के ब्रेज़ील नामक प्रदेश में भी पिछले वर्ष कुँआरों पर यह टैक्स चालू कर दिया गया है। ब्रेज़ील के रायो ग्रान्डो डोसुल नामक राज्य में कुँआरों से ५ शिलिङ्ग (२ रु० १२ आने) प्रति मास टैक्स वसूल किया जाता है। वहाँ कुँआरों की अन्त्येष्टि क्रिया पर भी टैक्स लगा हुआ है। मैक्सिको में कुछ स्त्रियों ने पार्लियामेण्ट में दरख्वास्त दी कि जो लोग शादी नहीं करते, उनपर टैक्स लगना चाहिये। अतः वहाँ पर ३० वर्ष से ऊँचे आयु के कुँआरों पर टैक्स लगाये जाने पर विचार हो रहा है।





[सम्पादकीय]

मिश्र की नारियाँ



वर्तमान समय में समस्त संसार में नारी-जागरण की लहर आई हुई है। जिन देशों में नारियाँ पहले से ही स्वतन्त्र अस्तित्व रखती थीं, उनकी तो बात ही क्या, आजकल ऐसे देशों की नारियाँ भी उन्नति-पथ पर आरूढ़ हो रही हैं, जहाँ वे सैकड़ों वर्षों से लगभग गुलामी की अवस्था में थीं। इनमें विशेष रूप से मुस्लिम देशों की गणना की जाती है। वैसे इस्लाम के सिद्धान्तानुसार नारियों को कितने ही ऐसे अधिकार प्राप्त हैं, जो अन्य देशों की महिलाओं को उपलब्ध नहीं हैं, पर व्यावहारिक रूप से अधिकांश मुस्लिम महिलाओं की अवस्था अभी हाल तक अत्यन्त शोचनीय थी। पर्दे और अशिक्षा ने उन्हें सर्वथा असहाय और परावलम्बी बना रखा था। पर गत महायुद्ध के बाद से संसार में जो नव-जागरण की लहर आई है उसने मुस्लिम देशों की सामाजिक व्यवस्था पर विशेष रूप से प्रभाव डाला है, और वहाँ की नारियों की अवस्था की कायापलट कर दी है। उदाहरण-स्वरूप हम मिश्र देश की नारियों के सम्बन्ध में सहयोगी 'भारत' के एक लेख के आधार पर कुछ बातें पाठकों को बतलाते हैं, जिनसे हमारे समाज-सुधारक सज्जन कितनी ही काम की बातें जान सकते हैं :—

"वर्तमान मिश्र में नारी की मानसिक और नैतिक उन्नति के लिए सर्व प्रकार की चेष्टाएँ की जा रही हैं। सैकड़ों स्कूल खुले हुए हैं, बालिका और युवतियों को आधुनिक प्रणाली के अनुसार शिक्षा दी जा रही है। इन स्कूलों में पढ़ाई के अतिरिक्त रसोई बनाना, कपड़ा सीना, आदि विषय भी सिखाए जाते हैं। जीविका उपार्जन के लिए शारीरिक परिश्रम भी कराया जाता है। सिर्फ़ इतना ही नहीं, बल्कि एक विदेशी भाषा भी सिखायी जाती है। बहुत सी युवतियाँ विश्वविद्यालयों में प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त हैं। जो प्रतिभाशाली छात्रा विदेश जाना चाहती है, उसे सरकार की ओर से पूरी सुविधा मिलती है। दस या बारह अध्यापिकाएँ एक दल बना कर इङ्गलैण्ड, फ्रान्स आदि देशों में शिक्षा-प्रणाली का अध्ययन करने जाती हैं। जब वे वहाँ से लौटती हैं, तो अपनी रिपोर्ट शिक्षा-मन्त्री के सामने पेश करती हैं। शिक्षा-मन्त्री इन अध्यापिकाओं की रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा-प्रणाली में सुधार करता रहता है। गत महायुद्ध के पहले मिश्र के बालिका विद्यालयों में ३३०० छात्राएँ थीं। लेकिन शिक्षा-प्रचार के साथ-साथ आज छात्राओं की संख्या पूरी सवा तीन लाख है।

बहुत सी, नारी-समितियाँ स्थापित हुई हैं। सन् १९२३ में फेमीनिस्ट यूनियन नामक एक समिति स्थापित हुई थी। इस समिति की सदस्याएँ अपनी जाति की उन्नति करने का व्रत ग्रहण करती थीं। इस समिति के कुछ उद्देश्य इस प्रकार हैं :—

(१) मिश्र में सहशिक्षा हो।

(२) बहु-विवाह की प्रथा रोकना और तलाक़ क़ानून को और भी सरल बनाना।

(३) १६ वर्ष के पहले कोई भी माता-पिता अपनी लड़की की शादी न कर सके।

(४) स्त्री को पुरुष के समान ही अधिकार मिलें, और नौकरी योग्यता के हिसाब से दी जाय, पुरुष और स्त्री का भेदभाव न रक्खा जाय।

इसके अलावा और भी बहुत से उद्देश्य हैं। यह

यूनियन सिर्फ़ लम्बे-चौड़े प्रस्ताव पास करके चुप न बैठा, बल्कि ये सब प्रस्ताव क़ानून के रूप में परिणत हो जायँ, इसके लिए इस यूनियन ने ज़ोरदार आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन का फल यह हुआ कि अनेक बाधा-विपत्तियों के बाद ये प्रस्ताव क़ानून के रूप में बिना दिये गये।

वहाँ की छात्राएँ राजनैतिक विप्लवों में पीछे नहीं हैं। दो-तीन वर्ष पूर्व कैरो में जो छात्र-विप्लव हुआ था, उसमें सैकड़ों छात्राओं ने भाग लिया था और अपने प्राणों को उत्सर्ग कर दिया था। इतना ही नहीं, बल्कि आहत छात्रों की सेवा-सुश्रूषा भी उन्होंने की थी। इन सब घटनाओं से प्रमाणित होता है कि मिश्र की नारी दिन ब दिन आगे बढ़ती जा रही है, और पुरुषों से किसी भी हालत में वह पीछे नहीं रहना चाहती। मिश्र वालों ने अपनी मातृजाति को स्वाधीनता देकर प्रशंसनीय कार्य किया है।"

* * *

भारतीय गृह और सजावट

मनुष्य स्वभाव ही से सुन्दरता का प्रेमी है। वह प्रायः वस्तुओं के प्राकृतिक रूप से ही संतुष्ट न रह कर उनको अपनी रुचि के अनुसार भाँति-भाँति से अलंकृत करता रहता है। तरह-तरह के वस्त्र-आभूषण, सजावट की सामाग्री, फ़ैशन आदि इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। इसी प्रवृत्ति के प्रभाव से हम अपने शरीरों को ही अलंकृत नहीं करते, वरन् अपने निवास-स्थानों को भी सजाते हैं। घरों को तरह-तरह के रङ्गों से रँगना, तरह-तरह की चित्रकारी करना, तस्वीरें, गुलदस्ते और दूसरी सजावट की चीज़ें लगाना इसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत है। किसी ज़माने में हमारे देश में यह प्रवृत्ति जन-साधारण में काफ़ी विकसित हुई थी, जिसका प्रमाण प्राचीन साहित्य में तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं की खोज में प्राप्त वस्तुओं से भलीभाँति मिलता है। पर इधर जब से भारतवर्ष का पतन होने लगा, अन्य सब विषयों की तरह इस दृष्टि से भी यहाँ की दशा हीन हो गई। वर्तमान समय में यहाँ निर्धन और धनी सभी श्रेणी के व्यक्तियों के गृहों में सुरुचिपूर्ण सजावट का अभाव दिखलाई पड़ता है। अनेक लोगों के विचार में यह त्रुटि कोई विशेष महत्व की नहीं, क्योंकि जब विपरीत परिस्थितियों में पड़ कर हमारा जीवन-निर्वाह ही कठिन हो रहा है, तो सजावट और सुन्दरता की ओर कहाँ से ध्यान दिया जाय। पर यह तर्क सारयुक्त नहीं। अगर हम स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्तियों को, जिनसे कि मनुष्य का जीवन सार्थक कहा जा सकता है, इस प्रकार उपेक्षा करेंगे, तो हम जीवन के किसी भी विभाग में वास्तविक उन्नति कर सकने में असमर्थ होंगे। इस विषय में सुप्रसिद्ध भारतीय विदुषी श्रीमती हंसा मेहता ने एक लेख में कितने ही महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं, जिसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है:—

"कुछ लोग तर्क करते हैं कि हिन्दुस्तान जैसे ग़रीब देश में जहाँ लोगों को शाम तक किसी तरह अपना पेट पालने की ही चिन्ता लगी रहती है, घर को अलंकृत बनाने का विचार उत्पन्न होना असम्भव है। किन्तु जहाँ तक घर की सजावट का सम्बन्ध है, यह तर्क ठीक नहीं मालूम होता। घर को सजाने में निर्धनता बाधक नहीं हो सकती। अगर लोगों में सजावट की रुचि हो तो किसी और चीज़ की ज़रूरत नहीं है। धनवान व्यक्तियों में भी यह रुचि सदा नहीं दिखलाई पड़ती। अनेक मालदार आदमियों को यह नहीं मालूम रहता कि घर में किस-किस चीज़ की व्यवस्था होनी चाहिए, उसे किस तरह सजाना चाहिए कि वह सुन्दर दिखाई पड़े।

पश्चिम में घर को अलंकृत बनाने की कला पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है। आधुनिक काल में घरों की सजावट कैसी होनी चाहिए, इसके सम्बन्ध में वहाँ अनेक पुस्तकें लिख डाली गई हैं। लोगों को घर की सजावट की शिक्षा देने के लिए वहाँ समय-समय पर आदर्श गृहों का प्रदर्शन किया जाता है। घरों को सजाना और अलंकृत बनाना कुछ लोगों का पेशा ही बन गया है। जो लोग यह पेशा करते हैं उनकी काफ़ी

आमदनी होती है और वे सुख से रहते हैं। वहाँ यह व्यवसाय लाभजनक सिद्ध हो रहा है। वे सब तरह की युक्तियों और आविष्कारों का उपयोग कर घर को इस तरह सजाते हैं कि घर के लोगों को किसी तरह की असुविधा नहीं होती और न उन्हें किसी काम के लिए अधिक परिश्रम ही करना पड़ता है। इस प्रकार के सजाए हुए घर में गृहस्वामिनी को गृहस्थी का काम भारस्वरूप नहीं प्रतीत होता । पश्चिम के घरों से भारतीय गृहस्थ कई बातें सीख सकते हैं।

घर को उपयोगी और अलंकृत बनाने की पहली ज़िम्मेदारी मकान बनाने वाले पर होती है। भारतीय गृह-निर्माताओं का यह कर्तव्य है कि वे आधुनिक काल की नई परिस्थितियों तथा जलवायु का ख़याल करके मकान का ख़ाका तैयार करें। घरों में सब तरह की सुविधाओं और आराम की व्यवस्था होनी चाहिए; चाहे वे घर मालदारों के लिए बनते हों और चाहे ग़रीबों के लिए। आज हम देखते हैं कि धनवान लोगों की कोठियों में सब तरह की सुविधाओं का इन्तज़ाम रक्खा जाता है, किन्तु ग़रीबों के लिए जो घर बनाये जाते हैं, वे मनुष्यों के रहने लायक़ नहीं होते। केवल एक कमरे वाले जो घर बनाये जाते हैं वे घर का ख़ाका तैयार करने वालों अथवा घर का निर्माण करने वालों के गर्व की चीज़ नहीं हैं। लोग तर्क करते हैं, कि गाँवों में यही लोग एक कमरे वाले झोंपड़ों में रहते हैं अतः नगरों में उनके लिए अधिक सुविधाओं की व्यवस्था करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह तर्क ठीक नहीं है। गाँवों में झोंपड़ों के बाहर काफ़ी खुली जगह सुलभ रहती है और गाँव वाले उसका उपयोग कर सकते हैं। नगरों में यह सुविधा नहीं रहती । उक्त तर्क से यह प्रकट होता है कि जिन सामाजिक परिस्थितियों में लोगों को रहना पड़ता है उन पर मकान बनाते समय ध्यान नहीं दिया जाता।

इसके बाद घर को अलंकृत बनाने की कला का नम्बर आता है। अलंकृत करने वाले का काम और अधिक ज़िम्मेदारी का होता है। उसे उन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करना पड़ता है जो मकान बनाते समय रह जाती हैं। हमारे देश में ऐसे लोग नहीं पाये जाते जो घर सजाने का पेशा करते हों । अधिकांश लोगों की रुचियों का विकास भी नहीं होता। उपर्युक्त रहनुमाई न होने से तथा कलापूर्ण रुचि के अभाव के कारण कुछ धनवान व्यक्ति भी जो बड़ी से बड़ी रक़म ख़र्च करने के लिए तैयार रहते हैं, अपने घरों को सर्वोत्तम रूप से सजा नहीं पाते। किन्तु घर सजाने की निपुणता की वास्तविक परीक्षा तब होती है जब कम हैसियत के लोगों के घर सजाने का प्रश्न आता है । अगर बुद्धिमानी से काम लिया जाय तो ऐसे घरों को भी इस तरह सजाया जा सकता है कि वे सुन्दर दिखाई पड़ने लगें।"

* * *

समान अधिकार की माँग

आजकल हमारे देश में समाज-सुधार के सम्बन्ध में बड़ी खींचा-तानी चल रही है और विशेष कर स्त्रियों के अधिकारों के सम्बन्ध में तो बहुत अधिक मतभेद देखने में आता है। हम यहाँ उन लोगों की बात नहीं कहते जो मनु महाराज के आदेशानुसार स्त्री का किसी भी दशा में स्वाधीन होना पाप समझते हैं, अथवा जो उनको केवल वंश-क्रम को स्थिर रखने का एक साधन मात्र समझते हैं, वरन् हम उन लोगों में भी, जो सार्वजनिक रूप से समाज-सुधारक स्वीकार किये जाते हैं, स्त्री-स्वाधीनता और स्त्रियों के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ज़मीन-आसमान का अन्तर देखते हैं। जब कि एक सब कुछ सुधार करने पर भी स्त्रियों को गृहलक्ष्मी के रूप में ही देखना चाहते हैं, दूसरे उनको सार्वजनिक क्षेत्र में लाकर पुरुषों के बिल्कुल समकक्ष या उनसे भी चार क़दम आगे पहुँचा देना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में आजकल अनेक व्यक्ति प्रायः वाद-विवाद करते रहते हैं, पर यदि वे इस बात को स्मरण रखें कि इस समस्या का निर्णय स्त्रियाँ ही अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं, तो उनका बहुत सा परिश्रम और समय बच जाय। इस विषय में महिलाओं में मतभेद न हो, यह बात नहीं है, तो भी वे जो कुछ कहती हैं, अपनी अवस्था

और आवश्यकताओं को समझ कर कहती हैं, न कि कोरी भावुकता अथवा आदर्शवादिता के आधार पर। इस सम्बन्ध में हाल ही में बाँकुड़ा महिला सम्मेलन की सभानेत्री कुमारी लावण्यलता चन्दा ने जो उद्गार प्रकट किये हैं, वे वास्तव में विचारणीय हैं :—

"आज हम अपने घरों के संकीर्ण क्षेत्र में बन्द होकर रहना नहीं चाहतीं। हमारे राष्ट्र को जिन कठिनाइयों और कष्टों का सामना करना पड़ रहा है, वे परिमाण में बहुत अधिक हैं और दिन पर दिन वे जटिल होते जाते हैं। अगर हम इन समस्याओं को हल करना चाहते हैं, तो हमको इन पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना चाहिये। इस समय संसार के विभिन्न राष्ट्रों में राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक क्रान्तियाँ हो रही हैं और उनका प्रभाव भारतवर्ष पर भी पड़ रहा है।"

इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान समय में समस्त संसार में जो राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल मची है, उसका प्रभाव भारत पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसलिये हमारा कल्याण इसी में है कि हम रूढ़िवादिता को छोड़ कर परिवर्तन की इन शक्तियों को पहिचानें और उनके अनुसार मार्ग का अनुसरण करना सीखें।

* * *

माता स्वरूपरानी नेहरू का स्वर्गवास

गत १० जनवरी को राष्ट्र के प्रमुख नायक पं० जवाहरलाल नेहरू की माता पूजनीया स्वरूप रानी नेहरू का स्वर्गवास हो गया। इस सम्वाद को समस्त देश ने शोक के साथ सुना और प्रत्येक छोटे बड़े भारतीय ने उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। वास्तव में माता स्वरूप रानी ने अपने त्याग और तपस्या द्वारा जो गौरवान्वित पद प्राप्त किया था उसका उदाहरण सहज में मिल सकना कठिन है। वे वीर-पत्नी और वीर-जननी ही नहीं थीं, उन्होंने वृद्धावस्था में स्वयं भी असीम साहस और तेजस्विता का परिचय दिया था। उन्होंने देश की पुकार सुनकर राजा महाराजाओं के तुल्य ऐश्वर्य को ठुकरा दिया और अपने प्राणप्यारे पति और आँखों के तारे पुत्र को घोर सङ्कट के मार्ग पर बढ़ने की सहर्ष अनुमति दी। १६३२ के आन्दोलन में उन्होंने जिस प्रकार प्रयाग में जनसमूह का नेतृत्व किया और पुलिस की लाठियों से घायल हुईं वह कथा भारत के इतिहास में सदा अमर रहेगी। हम पूज्य मृतात्मा के नाम पर सादर श्रद्धाञ्जलि देते हैं और कामना करते हैं कि उनका दिव्य आत्मबल सदा भारतवासियों को देश-सेवा के पवित्र मार्ग में अनुप्राणित करता रहे।

* * *

स्वर्गीय शरतचन्द्र चटर्जी

बङ्गाल के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीशरतचन्द्र चटर्जी के देहावसान से भारतवर्ष का एक ऐसा महान कलाकार उठ गया जिसने स्वदेश में ही नहीं, विदेशियों की दृष्टि में भी भारतीय साहित्य को गौरवान्वित बनाया था। उन्हें कहानी और उपन्यास लिखना आरम्भ किये ३० वर्ष से अधिक नहीं हुये थे, पर इसी बीच में उन्होंने अपने नाम को भारतीय साहित्य मे अमर कर दिया। बङ्गभाषा-भाषी उनको अपने समय का सर्वोच्च कलाकार मानते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि उनकी रचनाएँ आने वाले बहुसंख्यक वर्षों तक ऐसे ही सम्मान और उत्सुकता के साथ पढ़ी जायँगी जैसी कि उनके जीवन-काल में पढ़ी जाती थीं। वे वास्तविक अर्थ में साहित्यिक थे और अन्तिम समय तक उनके जीवन का एकमात्र ध्येय यही रहा। साहित्य की साधना में ही उन्होंने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था, यहाँ तक कि इस मार्ग के अनुगामी बन कर वे आजन्म अविवाहित और गृहस्थी के बन्धनों से पृथक् रहे। आज भारतवासी सरस्वती के इस वरद् पुत्र को याद करके शोक-संतप्त हैं और एक स्वर से उनकी कीर्ति गान कर रहे हैं।

और आवश्यकताओं को समझ कर कहती हैं, न कि कोरी भावुकता अथवा आदर्शवादिता के आधार पर। इस सम्बन्ध में हाल ही में बाँकुड़ा महिला सम्मेलन की सभानेत्री कुमारी लावण्यलता चन्दा ने जो उद्‌गार प्रकट किये हैं, वे वास्तव में विचारणीय हैं :—

"आज हम अपने घरों के संकीर्ण क्षेत्र में बन्द होकर रहना नहीं चाहतीं। हमारे राष्ट्र को जिन कठिनाइयों और कष्टों का सामना करना पड़ रहा है, वे परिमाण में बहुत अधिक हैं और दिन पर दिन वे जटिल होते जाते हैं। अगर हम इन समस्याओं को हल करना चाहते हैं, तो हमको इन पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना चाहिये। इस समय संसार के विभिन्न राष्ट्रों में राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक क्रान्तियाँ हो रही हैं और उनका प्रभाव भारतवर्ष पर भी पड़ रहा है।"

इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान समय में समस्त संसार में जो राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल मची है, उसका प्रभाव भारत पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसलिये हमारा कल्याण इसी में है कि हम रूढ़िवादिता को छोड़ कर परिवर्तन की इन शक्तियों को पहिचानें और उनके अनुसार मार्ग का अनुसरण करना सीखें।

* * *

माता स्वरूपरानी नेहरू का स्वर्गवास

गत १० जनवरी को राष्ट्र के प्रमुख नायक पं० जवाहरलाल नेहरू की माता पूजनीया स्वरूप रानी नेहरू का स्वर्गवास हो गया। इस सम्वाद को समस्त देश ने शोक के साथ सुना और प्रत्येक छोटे बड़े भारतीय ने उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। वास्तव में माता स्वरूप रानी ने अपने त्याग और तपस्या द्वारा जो गौरवान्वित पद प्राप्त किया था उसका उदाहरण सहज में मिल सकना कठिन है। वे वीर-पत्नी और वीर-जननी ही नहीं थीं, उन्होंने वृद्धावस्था में स्वयं भी असीम साहस और तेजस्विता का परिचय दिया था। उन्होंने देश की पुकार सुनकर राजा महाराजाओं के तुल्य ऐश्वर्य को ठुकरा दिया और अपने प्राणप्यारे पति और आँखों के तारे पुत्र को घोर सङ्कट के मार्ग पर बढ़ने की सहर्ष अनुमति दी। १६३२ के आन्दोलन में उन्होंने जिस प्रकार प्रयाग में जनसमूह का नेतृत्व किया और पुलिस की लाठियों से घायल हुईं वह कथा भारत के इतिहास में सदा अमर रहेगी। हम पूज्य मृतात्मा के नाम पर सादर श्रद्धाञ्जलि देते हैं और कामना करते है कि उनका दिव्य आत्मबल सदा भारतवासियों को देश-सेवा के पवित्र मार्ग में अनुप्राणित करता रहे।

* * *

स्वर्गीय शरतचन्द्र चटर्जी

बङ्गाल के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीशरतचन्द्र चटर्जी के देहावसान से भारतवर्ष का एक ऐसा महान कलाकार उठ गया जिसने स्वदेश में ही नहीं, विदेशियों की दृष्टि में भी भारतीय साहित्य को गौरवान्वित बनाया था। उन्हें कहानी और उपन्यास लिखना आरम्भ किये ३० वर्ष से अधिक नहीं हुये थे, पर इसी बीच में उन्होंने अपने नाम को भारतीय साहित्य मे अमर कर दिया। बङ्गभाषा-भाषी उनको अपने समय का सर्वोच्च कलाकार मानते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि उनकी रचनाएँ आने वाले बहुसंख्यक वर्षों तक ऐसे ही सम्मान और उत्सुकता के साथ पढ़ी जायँगी जैसी कि उनके जीवन-काल में पढ़ी जाती थीं। वे वास्तविक अर्थ में साहित्यिक थे और अन्तिम समय तक उनके जीवन का एकमात्र ध्येय यही रहा। साहित्य की साधना में ही उन्होंने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था, यहाँ तक कि इस मार्ग के अनुगामी बन कर वे आजन्म अविवाहित और गृहस्थी के बन्धनों से पृथक् रहे। आज भारतवासी सरस्वती के इस वरद् पुत्र को याद करके शोक-संतप्त हैं और एक स्वर से उनकी कीर्ति गान कर रहे हैं।





नर्तन

जो स्वर मीरा ने गाया था, वही आज मैं गाऊँगी ;
प्रभु के सम्मुख नाच-नाच कर, मैं मीरा बन जाऊँगी !—'कुमार'



चाह नहीं उत्साह नहीं है, है कैसा उद्वाह ?
लील रहा है सुरसरिता को, खारी सिन्धु अथाह ।
आत्म-समर्पण करती शशि की कला राहु को आज ।
यह अचरज विलोक विस्मित है नभ-नक्षत्र-समाज ।
कुसुम कली वानर के कर में, पड़ कर है म्रियमाण ।
मृदु-लतिका का प्रेमालिङ्गन, करता है पाषाण ।
व्यथित हृदय में छिपा रो रहा, है युवती का प्रेम ।
जहाँ प्रथम ही अश्रुपात है, वहाँ कहाँ है क्षेम ।
नयन-नयन से, हृदय-हृदय से, और प्राण से प्राण ।
कहते यही मौन भाषा में, करिए मेरा त्राण ।
उत्सव की मृदुमयी निशा में, किसे भला है ध्यान ?
जग की कोमल मानवता का, होता है बलिदान ।

—श्रीकान्तनारायणसिंह

चाँदनी के चार दिन थे

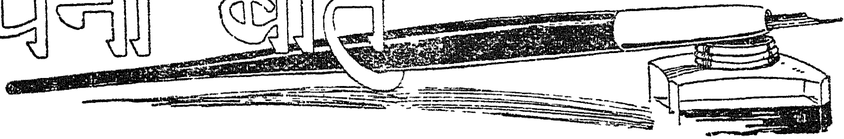
चाँदनी के चार दिन थे
मधु-मिलन के दिन हमारे !

कल्पना के इन्दु का प्रतिबिम्ब गति चपल जल पर
देखकर हँसते रहे थे, आह, हम पूरे समय भर,
पर समय बहता चला उन चल-लहरियों में निरन्तर,
और हम बैठे रहे
इस विश्व-सरिता के किनारे ! चाँदनी के०

नियति के कर-सी उठी पर एक व्यग्र अधीर लहरी,
खींच तट से ले चली मुझको निमिष भर भी न ठहरी,
पाश में भरने बढ़ी फिर चञ्चला-सी धार, गहरी,
बह रहा हूँ आज जिसकी
वक्र लहरों के सहारे ! चाँदनी के०

नियति-शासित हो विवश यों था हमारा सङ्ग छूटा,
सह प्रहार, कगार-सा वह मिलन का सुख-स्वप्न टूटा,
विकल जल पर इन्दु के प्रतिबिम्ब-सा ही भाग्य फूटा,
उड़ गए उडु-रूप नभ में,
स्वप्न के सामान सारे ! चाँदनी के०

स्वप्न टूटा, वह गए क्षण, छिप गया वह चन्द्र चञ्चल,
होड़ जिससे लगाकर तुम खिलखिलाती रहीं प्रतिपल;
तिमिर छाया और फिर हम-तुम अज्ञात, ओझल,
कहो क्या फिर भी कभी
प्रिय, शशि-दरश होंगे तुम्हारे ? चाँदनी के०



स्त्री के अर्थ-स्वातन्त्र्य का प्रश्न

(१)

अर्थ सदा से शक्ति का अन्ध अनुगामी रहा है। जो अधिक सबल था उसने सुख के साधनों का प्रथम अधिकारी अपने आपको समझा और धन का अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार ही विभाजन करना कर्तव्य माना। यह सत्य है कि समाज की स्थिति के उपरान्त उसके विकास के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह सबल रहा चाहे निर्बल, मेधावी था चाहे मन्दबुद्धि, सुख के नहीं तो जीवन-निर्वाह के साधन देना आवश्यक सा हो गया, परन्तु यह आवश्यकता भी शक्ति की पक्षपातिनी ही रही। सबल ने दुर्बलों को उसी मात्रा में निर्वाह की सुविधाएँ देना स्वीकार किया, जिस मात्रा में वे उसके लिए उपयोगी सिद्ध हो सके। इस प्रकार समाज की व्यवस्था में भी वह साम्य न आ सका जो सब के व्यक्तित्व को किसी एक तुला पर तोलता।

सारी राजनैतिक, सामाजिक तथा अन्य व्यवस्थाओं की रूपरेखा शक्ति द्वारा ही निर्धारित होती रही और सबल की सुविधानुसार ही परिवर्तित और संशोधित होती गई, इसी से दुर्बल को वही स्वीकार करना पड़ा जो उसे सुगमतापूर्वक मिल गया। यही स्वाभाविक भी था।

आदिम युग से सभ्यता के विकास तक स्त्री सुख के साधनों में गिनी जाती रही। उसके लिए परस्पर सङ्घर्ष हुए, प्रतिद्वन्दिता चली, महाभारत रचे गये और उसे चाहे इच्छा से हो और चाहे अनिच्छा से, उसी पुरुष का अनुगमन करना पड़ता रहा जो विजयी प्रमाणित हो सका। पुरुष ने उसके अधिकार अपने सुख की तुला पर तोले, उसकी विशेषता पर नहीं; अतः समाज की सब व्यवस्थाओं में उसके और पुरुष के अधिकारों में एक विचित्र विषमता मिलती है। जहाँ तक सामाजिक प्राणी का प्रश्न है, स्त्री, पुरुष के समान ही सामाजिक सुविधाओं की अधिकारिणी है, परन्तु केवल अधिकार की दुहाई देकर ही तो वह सबल निर्बल का चिरन्तन सङ्घर्ष और उससे उत्पन्न विषमता नहीं मिटा सकती।

जिस प्रकार अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं ने स्त्री को अधिकार देने में पुरुष की सुविधा का विशेष ध्यान रखा है, उसी प्रकार उसकी आर्थिक स्थिति भी परावलम्बन से रहित नहीं रही। भारतीय स्त्री के सम्बन्ध में पुरुष का भर्ता नाम जितना यथार्थ है उतना सम्भवतः और कोई नाम नहीं। स्त्री, पुत्री, पत्नी, माता, आदि सभी रूपों में आर्थिक दृष्टि से कितनी परमुखापेक्षिणी रहती है, यह कौन नहीं जानता। इस आर्थिक विषमता के पक्ष और विपक्ष दोनों ही में बहुत कुछ कहा जा सकता है और कहा जाता रहा है।

आर्थिक दृष्टि से स्त्री की जो स्थिति प्राचीन समाज में थी, उसमें अब तक परिवर्तन नहीं हो सका, यह विचित्र सत्य है।

वेद-कालीन समाज में पुरुष ने नवीन देश में फैलने के लिए सन्तान की आवश्यकता के कारण और अनाचार को रोकने के लिए विवाह को बहुत महत्व दिया और सन्तान की जन्मदात्री होने के कारण स्त्री भी अपूर्व गरिमामयी हो उठी। उसे यज्ञ आदि धर्म-कार्यों में पति का साथ देने के लिए सहधर्मिणीत्व और गृह की व्यवस्था के लिए गृहिणीत्व का स्पृहणीय पद भी प्राप्त हुआ, परन्तु धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से उन्नत होने पर भी आर्थिक दृष्टि से वह नितान्त परतन्त्र ही रही।

गृह और सन्तान के लिए द्रव्य-उपार्जन पुरुष का कर्तव्य था, अतः धन स्वभावतः ही उसी के अधिकार में रहा। गृहिणी गृहपति की आय के अनुसार व्यय कर गृह का प्रबन्ध और सन्तान-पालन आदि कार्य करने की अधिकारिणी मात्र थी।

प्राचीन समाज में पुरुष से भिन्न स्त्री की स्थिति स्पृहणीय मानी ही नहीं गई, इसके पर्याप्त उदाहरण उस समय की सामाजिक व्यवस्था में मिल सकेंगे। प्रत्येक कुमारिका वयस्क होने पर गृहस्थ धर्म में दीक्षित होकर पति के गृह चली जाती थी और फिर पुत्रों के समर्थ होने पर वानप्रस्थ आश्रम में पति की अनुगामिनी बनती थी। पुत्र पिता की समस्त सम्पत्ति का अधिकारी होता था, परन्तु कन्या को विवाह के अवसर पर प्राप्त होने वाले यौतुक के अतिरिक्त और कुछ देने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई। जिन कुमारिकाओं ने गृह-धर्म स्वीकार नहीं किया उन्हें तपस्विनी के समान अध्ययन में जीवन व्यतीत करने की स्वतन्त्रता थी, परन्तु उस स्थिति में गृहस्थ के समान ऐश्वर्य-भोग उनका ध्येय नहीं रहता था।

स्त्री को इस प्रकार पिता की सम्पत्ति से वञ्चित करने में क्या उद्देश्य रहा, यह कहना कठिन है। यह भी सम्भव है कि स्त्री के निकट वैवाहिक जीवन को अनिवार्य रखने के लिए ही ऐसी व्यवस्था की गई हो और यह भी हो सकता है कि पुरुष ने उस सङ्घर्षमय जीवन में इस विधान की ओर ध्यान देने का अवकाश ही न पाया हो। कन्या को पिता की सम्पत्ति में स्थान देने पर एक कठिनाई और भी उत्पन्न हो सकती थी। कभी युवतियाँ स्वयंवरा होती थीं और कभी विवाह के लिए बलात् छीनी भी जा सकती थीं। ऐसी दशा में पैतृक सम्पत्ति में उनका उत्तराधिकार होने पर अन्य परिवारों के व्यक्तियों का प्रवेश भी वंश-परम्परा को अव्यवस्थित कर सकता था। चाहे जिस कारण से हो, परन्तु इस विधान ने पिता के गृह में कन्या की स्थिति को बहुत गिरा दिया, इसमें सन्देह नहीं। विधवा भी पुनर्विवाह के लिए स्वतन्त्र थी, अतएव उसके जीवन-निर्वाह के लिए विशेष प्रबन्ध की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

प्राचीन समाज का ध्यान अपनी वृद्धि की ओर अधिक होने के कारण उसने स्त्री के मातृत्व का विशेष आदर किया, यह सत्य है; परन्तु सामाजिक-व्यक्ति के रूप में उसके विशेष अधिकारों का मूल्य आँकना अनिवार्य न हो सका। उसके निकट स्त्री पुरुष की सङ्गिनी होने के कारण ही उपयोगी थी, उससे भिन्न उसका अस्तित्व चिन्ता करने योग्य ही नहीं रहता था। अपनी सम्पूर्ण सुविधाओं और समस्त सुखों के लिए स्त्री का पुरुष पर निर्भर रहना ही अधिक स्वाभाविक था, अतः समाज ने किसी ऐसी स्थिति की कल्पना ही नहीं की, जिसमें स्त्री पुरुष से सहायता बिना माँगे हुए ही जीवन-पथ पर आगे बढ़ सके। पिता, पति, पुत्र तथा अन्य सम्बन्धियों के रूप में पुरुष स्त्री का सदा ही भरण-पोषण कर सकता था, इसलिये उसकी आर्थिक स्थिति पर विचार करने की किसी ने आवश्यकता ही न समझी। स्त्री के प्रति समाज की यह धारणा इतनी पुरानी हो गई है कि अब हम उसकी अस्वाभाविकता और अनौचित्य को एक प्रकार से भूल ही गये हैं; अन्यथा ऐसी स्थिति बहुत काल तक न ठहर सकती।

आरम्भ में प्रायः सभी देशों के समाज ने स्त्री को कुछ स्पृहणीय स्थान नहीं दिया परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्त्री की स्थिति में भी परिवर्तन होता गया। वास्तव में स्त्री की स्थिति समाज का विकास नापने का मापदण्ड कही जा सकती है। नितान्त बर्बर समाज में स्त्री पर पुरुष वैसा ही अधिकार रखता है, जैसा वह अपनी अन्य स्थावर सम्पत्ति पर रखने को स्वतन्त्र है। इसके विपरीत पूर्ण विकसित समाज में स्त्री पुरुष की सहयोगिनी तथा समाज का आवश्यक अङ्ग मानी जाकर माता तथा पत्नी के महिमामय आसन पर आसीन रहती है। भारतीय स्त्री की स्थिति में आदिम-युग की स्त्री की परवशता और पूर्ण विकसित समाज के नारीत्व की गरिमा का विचित्र सम्मिश्रण है। उसके प्रति समाज की श्रद्धा की मात्रा पर विचार कर कोई उसे पूर्ण संस्कृत समाज का अङ्ग ही समझ सकता है, परन्तु उसके जीवन का व्यवहारिक रूप एक दूसरी

ही करुण गाथा सुनाता है। सम्भवतः उस धर्मप्राण युग ने स्त्री को धार्म्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से उन्नत स्थान देकर ही अपने कर्तव्य की इति समझ ली; उसकी व्यावहारिक कठिनाइयों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जा सका। मातृत्व की गरिमा से गुरु और पत्नीत्व के सौभाग्य से ऐश्वर्यशालिनी होकर भी भारतीय नारी अपने व्यावहारिक जीवन में सबसे अधिक क्षुद्र और रङ्क कैसे रह सकी, यही आश्चर्य है। समाज ने उसे पुरुष की सहायता पर इतना निर्भर कर दिया कि उसके सारे त्याग, सारा स्नेह और सम्पूर्ण आत्म-समर्पण बन्दी के विवश कर्तव्य के समान जान पड़ने लगे।

शताब्दियों की शताब्दियाँ आती जाती रहीं, परन्तु स्त्री की स्थिति की एकरसता में कोई परिवर्तन न हो सका। किसी भी स्मृतिकार ने उसके जीवन की विषमता पर ध्यान देने का अवकाश नहीं पाया; किसी भी शास्त्रकार ने पुरुष से भिन्न करके उसकी समस्या को नहीं देखा।

अर्थ सामाजिक प्राणी के जीवन में कितना महत्व रखता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसकी उच्छृङ्खल बहुलता में जितने दोष हैं वे अस्वीकार नहीं किये जा सकते, परन्तु इसके नितान्त अभाव में जो अभिशाप हैं वे भी उपेक्षणीय नहीं। विवश आर्थिक पराधीनता अज्ञात रूप में व्यक्ति के मानसिक तथा अन्य विकास पर ऐसा प्रभाव डालती रहती है, जो सूक्ष्म होने पर भी व्यापक तथा परिणामतः आत्मविश्वास के लिए विष के समान है। दीर्घकाल का दासत्व जैसे जीवन की स्फूर्तिमती स्वच्छन्दता नष्ट करके उसे बोझिल बना देता है, निरन्तर आर्थिक परवशता भी जीवन में उसी प्रकार प्रेरणा-शून्यता उत्पन्न कर देती है। किसी भी सामाजिक प्राणी के लिए ऐसी स्थिति अभिशाप है जिसमें वह स्वावलम्बन का भाव भूलने लगे, क्योंकि इसके अभाव में वह अपने सामाजिक व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता। समाज में पूर्ण स्वतन्त्र तो कोई हो ही नहीं सकता; क्योंकि सापेक्षता ही सामाजिक सम्बन्ध का मूल है। प्रत्येक व्यक्ति उसी मात्रा में दूसरे पर निर्भर है, जिस मात्रा में दूसरा उसकी अपेक्षा रखता है। पुरुष-स्त्री भी इसी अर्थ में अपने विकास के लिए एक दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखते हैं, इसमें सन्देह नहीं। कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब यह सापेक्ष भाव एक की ओर अधिक घट या बढ़ जाता है। स्त्री और पुरुष यदि अपने सुखों के लिए एक दूसरे पर समान रूप से निर्भर रहते तो उनके सम्बन्ध में विषमता आने की सम्भावना ही न रहती, परन्तु वास्तविकता यह है कि भारतीय स्त्री की सापेक्षता सीमातीत हो गई। पुरुष अपने व्यावहारिक जीवन के लिए स्त्री पर उतना निर्भर नहीं है जितना स्त्री को होना पड़ता है। स्त्री उसके सुखों के अनेक साधनों में एक ऐसा साधन है जिसके नष्ट हो जाने पर कोई हानि नहीं होती। एक प्रकार से पुरुष ने कभी उसके अभाव का अनुभव करना ही नहीं सीखा, इसी से उसे स्त्री के विषय में विचार करने की आवश्यकता भी कम पड़ी। स्त्री की स्थिति इससे विपरीत है। उसे प्रत्येक पग पर प्रत्येक साँस के साथ पुरुष से सहायता की भिक्षा माँगते हुए चलना होता है।

जीवन में विकास के लिए दूसरों से सहायता लेना बुरा नहीं, परन्तु उसे किसी को दे सकने की क्षमता न रखना अभिशाप है। सहयात्री वे कहे जाते हैं, जो साथ चलते हैं; कोई अपने बोझ को सहयात्री कह कर अपना उपहास नहीं करा सकता। भारतीय पुरुष ने स्त्री को या तो सुख के साधन के रूप में पाया या भार के रूप में, फलतः वह उसे सहयोगी का आदर न दे सका। उन दोनों का आदान-प्रदान सामाजिक प्राणियों के स्वेच्छा से स्वीकृत सहयोग की गरिमा न पा सका, क्योंकि एक ओर नितान्त परवशता और दूसरी ओर स्वच्छन्द आत्म-निर्भरता थी। उनके कार्यक्षेत्र की भिन्नता तो आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है, परन्तु इसमें उनकी सापेक्षता में विषमता आने की सम्भावना नहीं रहती। यह विषमता तो स्थिति-वैषम्य से ही जन्म और विकास पाती है।

महायुद्ध के बादल घिर आये

[श्री० प्रेमनारायण अग्रवाल, एम० ए०]

संसार के वर्तमान अशान्त वातावरण में दो स्थान ऐसे हैं—एक पूर्वीय मध्य यूरोप में और दूसरा सुदूर पूर्व में—जहाँ लड़ाई होने की कल्पना राजनीतिज्ञों ने विगत महासमर के खतम होते ही करना प्रारम्भ कर दिया था। युद्ध में रत देश और उनके कुछ राजनीतिज्ञ जब यह कह रहे थे कि १६१४-१६ का महायुद्ध अगले महायुद्ध के न होने के लिये (War to end war) लड़ा जा रहा है, कि उसी समय निष्पक्ष राजनीतिज्ञ दूसरे महासमर की कल्पना कर रहे थे। उनका खयाल था कि आगामी युद्ध के कारणों की सृष्टि यह युद्ध ही करेगा।

इन राजनीतिज्ञों की बात अब सच साबित होती दिखलाई पड़ती है। विगत महासमर के बाद अभी तक कोई लड़ाई न हुई, जैसा कि कहा जाता था, सो बात भी नहीं है। इस युद्ध के बाद संसार के किसी न किसी भाग में कोई न कोई लड़ाई जारी ही रही है। इन लड़ाइयों में हम उन लड़ाइयों को शामिल नहीं कर रहे हैं जो संसार के कितने ही पराधीन देशों में शासकों तथा उनके अधीन जनता में होता रहा है—स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये। यदि इनको भी जोड़ लिया जाय तब तो परिस्थिति अत्यन्त पेचीदा मालूम पड़ती है, क्योंकि एक बहुत बड़े भू भाग पर यूरोप के थोड़े से छोटे-छोटे राष्ट्रों का साम्राज्य क़ायम है। उन सभी देशों में महासमर के बाद जीवन-जागृति के मूलस्वरूप स्वतंत्रता-आन्दोलन ज़ोर पकड़ता जा रहा है। इनको छोड़कर हमारा तात्पर्य उन देशों से है, जो स्वतंत्र होते हुए एक दूसरे से लड़ते रहे हैं, अपने-अपने स्वार्थों के कारण। दक्षिण-अमेरिका के छोटे-छोटे देशों में बराबर अनबन रही है और प्रायः लड़ाइयाँ भी हो गई हैं। वह छोटे राष्ट्रों में सीमित होने के कारण इतनी बड़ी नहीं थीं, जो संसार के देशों का ध्यान उधर जाता और उनसे अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर कोई विशेष प्रभाव पड़ने की सम्भावना होती। इनसे अधिक महत्वपूर्ण तो महासमर के बाद जापान के चीन पर प्रहार रहे हैं, जिनमें उसने मन्चूरिया को हड़प लिया और जिसके कारण राष्ट्र सङ्घ (League of Nations) को भी उसमें हस्तक्षेप करना पड़ा। दूसरा अधिक महत्वपूर्ण युद्ध था इटली का अबीसीनिया में, जिसमें भी राष्ट्र-सङ्घ ने मुँह की खाई। इन दोनों युद्धों से संसार के वातावरण में एक बार फिर महासंग्राम छिड़ने की लहर आई थी, पर किन्हीं कारणों से दोनों अवसरों पर महायुद्ध छिड़ते-छिड़ते बच गया। चीन पर जब जापान ने धावा किया था तब अमेरिका को बुरा मालूम पड़ा और उसने इङ्गलैण्ड से कड़ाई करने की अपील की, पर इङ्गलैण्ड के चुप रहने से जापान का मतलब सिद्ध हो गया। इसी प्रकार अबीसीनिया के युद्ध में इङ्गलैण्ड, फ्रांस आदि देशों का नुक़सान रहा। इङ्गलैण्ड ने एक बार राष्ट्र-सङ्घ में जान फूँक कर उसे (Sanction) लगाने के लिये मजबूर किया और वह लगा भी दिये गये। परन्तु वास्तविक रोक-थाम या नुक़सान पहुँचाने के लिये आवश्यकता थी कि इटली में जाने वाले तेल को रोका जाय। बिना इसके उसकी लड़ाई की मशीनें आदि काम न कर सकतीं। इटली ने इस बार खुल्लम-खुल्ला इङ्गलैण्ड से कह दिया कि इनके लगाते ही वह बौखला उठेगा और उसके मेडीटेरेनियन के हथियारबन्द किलों पर धावा शुरू कर देगा। बस इङ्गलैण्ड इससे घबरा उठा, Oil Sanctions नहीं लगाये गये और इटली को अबीसीनिया में बहुत कुछ सफलता मिली। इस युद्ध में यूरोप के देशों का भारी नुक़सान हुआ, पर वह चूँ न कर सके।

इनके अतिरिक्त भी कई बार ऐसे मौक़े आये और आते रहते हैं, जिनमें लड़ाई छिड़ सकती है। यूरोप में मुसोलिनी और हिटलर ज़बरदस्त ऊधम मचाये हुये है और उनके कार्य प्रायः ऐसे होते हैं, जिन पर महासमर नहीं तो कम से कम यूरोप में तो अवश्य युद्ध शुरू हो जाना चाहिये, परन्तु नहीं होता। कुछ देश, जैसे इङ्गलैण्ड, फ्रान्स आदि ऐसे मौक़ों को टाल जाते है और ऐसा करने में उनको जो नुक़सान होता है, उसे भी सहन कर लेते हैं। बहुतेरे राजनीतिज्ञों का कहना है कि इधर कुछ वर्षों में इङ्गलैण्ड का प्रभुत्व (prestige) बहुत गिर गया है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उसका उतना मान नहीं रहा। इसके प्रभाव में कमी होने का कारण यही रहा है कि इङ्गलैण्ड ने युद्ध को टालने के लिये विशेष प्रयत्न किया और यह परवाह नहीं की कि इससे उसके नाम पर कलङ्क लगता है। ऐसा करने के लिये उसने अपने क़ायदों आदि को तोड़ने में ज़रा भी आना-कानी नहीं की। यही कारण है कि 'राष्ट्र-सङ्घ' निर्जीव हो गया है। अन्यथा पाठकों को मालूम होगा कि इटली-अबीसीनिया के युद्ध में इङ्गलैण्ड ने Sanctions लागू करने में सब राष्ट्रों का नेतृत्व किया और इस निश्चय को पार्लियामेण्ट में घोषित करते हुए पर-राष्ट्र सचिव मि० एडन ने एक महत्वपूर्ण भाषण दिया था। अन्य राष्ट्रों ने इङ्गलैण्ड का साथ दिया, पर बाद में जब इटली ने इङ्गलैण्ड को चुनौती दे दी और इङ्गलैण्ड के लिये Oil Sanctions लगाने की हालत में युद्ध अनिवार्य मालूम पड़ा तो, झट से उसने oil Sanction को लगाने का विचार त्याग दिया। लड़ाई तो टल गई और अन्य राष्ट्रों ने तेल पर रोक नहीं लगाई, पर इससे इङ्गलैण्ड की काफ़ी बदनामी हो गई।

हाल ही में इङ्गलैण्ड ने जो विशाल शस्त्रीकरण की योजनायें बनाई हैं, उनके सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों की यही राय है कि इङ्गलैण्ड अब अपने खोये हुए प्रभाव को बढ़ाने के लिये ही ऐसा कर रहा है, ताकि दूसरे देशों पर इसकी सेना का प्रभाव पड़े।

फ्रान्स ने बराबर इङ्गलैण्ड का साथ दिया। वास्तव में वह यही समझता है कि इङ्गलैण्ड के साथ रहने में ही उसका कल्याण है। पर इङ्गलैण्ड ने इसका ख़याल भी न करके, अपना उल्लू सीधा करने का बराबर प्रयत्न किया है। इङ्गलैण्ड ने फ्रान्स के सामने बराबर जर्मनी की पीठ ठोकी, ताकि वह भी मज़बूत हो जावे। जहाँ जर्मनी और फ्रान्स की बातें आईं, इङ्गलैण्ड ने बराबर जर्मनी का साथ दिया। आज इङ्गलैण्ड में जर्मनी के प्रति मित्र-भाव बढ़ रहे हैं। वह अब उतना विरोधी नहीं रहा जितना पहिले था या जितना फ्रान्स अब भी है। फ्रान्स को जर्मनी से भारी डर है। महायुद्ध के बाद जब फ्रान्स ने जर्मनी को सब तरह से बलहीन कर दिया, फिर भी उसके उठने के डर से उसने प्रशिया (prussia) से बराबर दोस्ती रक्खी। फ्रान्स ने उसको धन, जन और सब प्रकार से सहायता करके एक मजबूत राष्ट्र बनने में ज़बरदस्त साथ दिया है। यही नहीं, उसने पूर्वीय मध्य यूरोप के अन्य राष्ट्रों के प्रति भी मित्रता के भाव रक्खे और उन्हें अपना दोस्त बनाये रखने के बराबर प्रयत्न किये।

संसार के राजनैतिक क्षेत्र में वास्तव में इङ्गलैण्ड का ज़बरदस्त स्थान है। सभी राष्ट्र उसकी ओर ताकते हैं, उससे प्रकाश या नेतृत्व की आशा करते हैं। इसका कारण यह है कि विगत कितने ही वर्षों से इङ्गलैण्ड का संसार में बोलबाला रहा है। इसकी Nabal power का संसार में मुक़ाबला करने वाला कोई नहीं था, उसका साम्राज्य भी अन्य समस्त राष्ट्रों से अधिक है, उसकी ताक़त भी इसी हिसाब से प्रबल है। उसका साम्राज्य प्रत्येक देश में फैला हुआ है। किसी भी देश की परिस्थिति पर विचार करने के लिये इङ्गलैण्ड का होना भी आवश्यक है।

यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि अगले महासमर में इङ्गलैण्ड किस ओर रहेगा। इस सम्बन्ध में संसार के राजनीतिज्ञों को कुछ भी पता नहीं है, न वह कोई कल्पना करने का साहस ही करते हैं, क्योंकि इङ्गलैण्ड के रुख में अजीब-अजीब बातें हैं। वह जब जैसा मौक़ा देखता है, तब वैसा ही बन जाता है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अगले महासमर में इङ्गलैण्ड भाग भी लेगा या नहीं। यदि लेगा तो किस ओर से। जो इङ्गलैण्ड

के आज मित्र हैं और जो उससे सहायता की आशा लगाये बैठे हैं, मौक़े पर वह उनके ख़िलाफ़ होने में ज़रा भी हिचकिचाहट से काम नहीं लेगा। जो उसके शत्रु हैं, जिनसे दोनों को डर है, युद्ध के समय एक ही तरफ़ आ सकते हैं। इङ्गलैण्ड के बारे में सभों की यही राय है कि वह जब किसी की तरफ़ से भाग लेगा तो उसके निश्चय का पता उसी दिन लगेगा। रात में या उस शाम को, जिसके सबेरे इङ्गलैण्ड महासमर में भाग लेने की घोषणा करेगा। उससे पहले किसी को पता नहीं लग सकता कि वह किस ओर होगा। अपने प्रभाव, शक्ति आदि अनेक कारणों से संसार की राजनीति में वह ख़ूब दिलचस्पी लेता है और दूसरे राष्ट्र उसको ignore नहीं कर सकते। यह भी लोगों का अनुमान है कि इङ्गलैण्ड जल्दी से किसी युद्ध में भाग न लेगा। महायुद्ध के छिड़ने के बाद वह जिस ओर होगा, उस देश को भारी सहायता मिल जायगी। इङ्गलैण्ड की ऐसी नीति क्यों है, इस सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों के विचार बहुत कुछ स्पष्ट और सुलझे हुये हैं।

उनका कहना है कि इस समय संसार में दो प्रकार के देश हैं, एक वह जिनके पास साम्राज्य है और वह उससे सन्तुष्ट से हैं और दूसरे वह जिनके पास साम्राज्य नहीं है या है तो इतना जिससे वह सन्तुष्ट नहीं हैं। इनको प्रायः Have है और Heve not के नाम से पुकारा जाता है। इङ्गलैण्ड, फ़्रान्स आदि देश वह हैं जिनके पास काफ़ी साम्राज्य है और वह इससे सन्तुष्ट से हैं। इटली, जापान तथा जर्मनी उनमें हैं, जो अपने से असन्तुष्ट हैं और अधिक साम्राज्य चाहते हैं। इनमें से इटली ने हाल ही अबीसीनिया को हड़प लिया है और जापान ने भी चीन के कुछ भाग को हथिया लिया है। पहिले भी इनके पास कुछ था इतना और मिल गया, फिर भी सन्तुष्ट नहीं हैं। इनमें जर्मनी अवश्य ऐसा है जिसके पास दरअसल कुछ भी नहीं है। जो कुछ था वह विगत महासमर में छिन गया। इसे उपनिवेशों की सख़्त आवश्यकता है।

संसार में इस समय जो अशान्ति और गड़बड़ी फैल रही है, वह अधिकांश में इन्हीं देशों के कारण है, इसके वास्तविक ज़िम्मेदार यही हैं। विगत महासमर के बाद जब राजनीतिज्ञों ने दूसरे महासमर की कल्पना की थी, तब इसी आधार पर कि इटली तथा जापान को काफ़ी नहीं मिला था और वह जानते थे कि शक्तिशाली होते ही यह हाथ-पैर फड़फड़ाना शुरू कर देंगे, जिससे संसार की शान्ति एक बार फिर ख़तरे में पड़ जायगी। इटली में मुसोलिनी के उदय से परिस्थिति बहुत जल्द बदल गई और वह लड़ाई के लिये तैयार होकर उपनिवेश बनाने के लिये देश चाहने लगा। इधर हिटलर के शासन-काल में जर्मनी में इतना ज़बरदस्त परिवर्तन हो गया जिसकी किसी को आशा न थी। वहाँ आजकल युद्ध के लिये बड़े ज़ोरों से तैयारियाँ हो रही हैं, पाठक उनसे अपरिचित न होंगे। जापान ने भी इङ्गलैण्ड और अमेरिका की बराबरी करने के लिये ख़ूब लड़ाई के साजो-सामान तैयार किये। इस प्रकार यह तीनों देश लड़ाई के लिये तैयार हो गये और अब इसी कारण गड़बड़ी मचाने लगे। वह इसी फ़िक्र में हैं कि किसी तरह उनका लाभ हो। परन्तु संसार की परिस्थिति अब इतनी बदल गई है कि एक देश दूसरे देश पर बिना संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किये लड़ाई जारी नहीं रख सकता। लड़ाई छेड़ कर चलाना अत्यन्त कठिन है इसलिये कि किसी भी समय अन्य देश उसमें कूद कर संसार-व्यापी महासमर की रचना न कर दें। पाठक जानते होंगे कि अबीसिनिया तथा चीन-जापान के पिछले युद्ध के समय रूस पर संसार की अन्य शक्तियों ने दस्तन्दाज़ी करने की कोशिश की थी, पर इन आक्रमणकारियों के सौभाग्य से संसार-व्यापी युद्ध प्रारम्भ होते-होते बच गया।

दूसरी तरफ़ साम्राज्यवादी देश (Hoves) लड़ाई नहीं चाहते। वह लड़ाई को टालने के लिये उत्सुक हैं और इसके लिये सदैव प्रयत्न करते हैं। यदि लड़ाई हो तो वह उसमें पड़ना नहीं चाहते। बिना पड़े यदि उनको थोड़ा-बहुत नुक़सान भी हो तो भी वह इसे सहन करके उसमें कूदने से दूर रहते हैं। यही कारण है कि इन देशों ने पिछले अबीसिनिया आदि के युद्धों में काफ़ी नुक़सान उठाया है। वह उनमें उसी समय पड़ना चाहते हैं जब कि उनके लिये इनमें भाग लेना आवश्यक हो

जाय और बिना इसके इनको जबरदस्त हानि हो या इनके साम्राज्य पर धक्का लगने की उम्मीद हो। उम्मीद ही नहीं, कुछ लग भी जाये। बिना किसी जबरदस्त नुक़सान के वह देश लड़ाई में भाग नहीं ले सकते। उनका लाभ इसी में है कि अन्य देश आपस में लड़-झगड़ कर स्वयं कमज़ोर हो जायँ और इनका सिक्का मानते रहें या अपने झगड़ों को तय करने के लिये इनके पास आयें। यह अपने साम्राज्य से अधिक से अधिक लाभ उठाने के पक्षपाती हैं। पिछले महासमर में इनको काफ़ी हानि उठानी पड़ी थी। जीतने पर भी इनकी हालत अच्छी नहीं थी। लड़ाई में इतना खर्च हुआ कि इङ्गलैण्ड और फ्रान्स अमेरिका के उल्टे क़र्ज़दार हो गये। इनको अपने पुराने ढङ्ग पर पहुँचने के लिये बड़ा परिश्रम करना पड़ा। और यदि कहीं दुर्भाग्य से इनकी हार हो जाय तो फिर इन पर वही बीते जो इन्होंने जर्मनी पर बिताई थी। फल यह हो कि इनका ज़ोर चौपट हो जावे। अन्य कितने ही कारणों से लड़ाई इन देशों के लिये हानिकर ही है। यही कारण है कि वह इससे सदैव बचकर खेलते हैं। इनकी इसी नीति के कारण 'राष्ट्र-सङ्घ' अपङ्ग बना हुआ है। पर जब यह चाहेंगे उसे सबल बना कर अपना काम निकालने लगेंगे, जैसा कि इन्होंने पिछली अबीसीनिया की लड़ाई के समय किया था। मन्चूरिया के प्रश्न को ठीक तरह से न सुलझा सकने के कारण इसका प्रभाव ख़तम सा ही था, पर अबीसीनिया की लड़ाई में यह एकाएक इतना जीवित हो गया कि Sanctions तक लगाने चल दिया।

वास्तव में (Hoves) की इस नीति के कारण ही आगामी महासमर, जिससे अनेक पराधीन देशों का भी लाभ है, अभी तक टलता आया है। यदि यह देश इस प्रकार की नीति प्रारम्भ से ही न बर्तते आते तो अभी तक युद्ध आरम्भ हो गया होता, जिनको इन्होंने अभी तक टाला है, उनमें दो-एक के बारे में हम ऊपर लिख आये हैं।

युद्ध कब शुरू होगा, इसके सम्बन्ध में अनेक राजनीतिज्ञों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। यह जानते हुये भी कि राजनीति में भविष्यवाणी करना सरल नहीं है, कुछ राजनीतिज्ञों का कहना है कि पिछला महायुद्ध हुआ था, उसके सम्बन्ध में अनेक राजनीतिज्ञों की बातें सत्य साबित हुई थीं।

आगामी महासमर के सम्बन्ध में हाल ही में जापानी लेखक लेफ्टीनेण्ट, कमाण्डर टोटा इशीमारु ने एक पुस्तक प्रकाशित की है और उसमें उन्होंने संसार की वर्त्तमान राजनैतिक परिस्थिति का सुन्दर चित्र खींचा है। आपने अगले महासमर के होने की तारीख़ सन् १९३९ ई० में रक्खी है। अपनी इस भविष्यवाणी को उन्होंने छः कारणों पर स्थित किया है, जिनका मन्शा संसार के प्रमुख शक्तिशाली देशों की सामरिक तैयारी के पूरे होने से है। अगला महासमर हो कभी ही, चाहे इसी समय हो, पर इनके छः कारण हमको पसन्द नहीं आये और न हम अपने को उनसे सहमत ही पा सके।

युद्ध के प्रारम्भ होने के लिये आवश्यक नहीं है कि उनमें कूदने वाले देश पूर्ण रूप से युद्ध के लिये तैयार ही हों। सामरिक तैयारी युद्ध होने में जल्दी भले कर दे, पर उनकी तैयारी के यह मानी नहीं हैं कि वह युद्ध करना चाहते हैं। संसार की नाज़ुक परिस्थिति में युद्ध सामग्री से लैस होना आवश्यक ही है, कि न मालूम किसे युद्ध में जूझना पड़े और ऐसी परिस्थिति में जब कि निःशस्त्रीकरण परिषद (Disarmament Conference) के असफल होने से सभी अपनी सैनिक-शक्ति बढ़ाने की कोशिश में हों। जब परिस्थितियाँ नाज़ुक हो जाती हैं, तब देशों को युद्ध के लिये मैदान में उतर आना पड़ता है, चाहे वह युद्ध के लिये पूरी तरह से तैयार हों या न हों। संसार की वर्तमान आपाधापी तथा कशमकश में एक न एक देश सदैव अधिक तैयार दिखलाई पड़ेगा और दूसरे कम। प्रत्येक राष्ट्र समयानुसार अपनी सैनिक-शक्ति को कम समझ सकेगा। प्रतिस्पर्द्धा के बढ़ने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि सन् १९३९ ई० के क़रीब शक्तिशाली राष्ट्र अपनी बढ़ी हुई सैनिक शक्ति से सन्तुष्ट हो सकेंगे। इसके बाद वह एक दूसरे की ताक़त देखकर अपनी सैनिक शक्ति को और भी बढ़ाने के लिये फिर भी जुट सकते हैं, और जुटेंगे।

विश्व-समाज में स्त्री-पुरुष-सम्मिलन

[श्री० उमाशङ्कर बहादुर]

दुनिया के कोने-कोने में आज इस बात के लिए एक प्रबल आन्दोलन फैल रहा है कि विश्व-समाज में स्त्री-पुरुष का परस्पर सम्मिलन होना चाहिए, उनमें पूर्ण समानता होनी चाहिए। यदि पुरुष को कोई विशेष अधिकार प्राप्त है तो स्त्रियों को भी वह अधिकार मिलना चाहिए। यदि पुरुष शासन करता है तो स्त्री भी करे, यदि पुरुष खेल-कूद में शामिल होता है तो स्त्री भी हो, और यदि पुरुष किसी विशेष विद्यालय में पढ़ता है तो स्त्रियाँ भी उसमें पढ़ें। यदि स्त्री पतिव्रता हो तो पुरुषों को भी पत्नीव्रत का पालन करना चाहिए।

इस मत को लेकर आज बड़ा वाद-विवाद हो रहा है। उन्नत, सभ्य एवं शिक्षित नारियाँ इस क्रान्ति में भाग ले रही हैं और उन्होंने बहुतेरे पुरुषों की सहायता भी प्राप्त कर ली है। इस आन्दोलन में भाग लेने वाले प्रमुख देश, इङ्गलैण्ड फ्रान्स, रूस, अमेरिका इत्यादि हैं। सुना जाता है कि जर्मनी और इटली अब धीरे-धीरे स्त्रियों की स्वतन्त्रता छीन लेने पर पड़े हैं। फिर भी जिन देशों में नारी-जागरण आन्दोलन चल रहा है, उनकी संख्या ही अभी तक अधिक है। उसका प्रभाव भारत पर भी बहुत पड़ा है। यहाँ की स्त्रियाँ भी उन्हीं के प्रदर्शित पथ पर अग्रसर हो रही हैं। रूस में तो स्त्रियों को आजकल सैनिक शिक्षा दी जाने लगी है, ताकि वे पुरुषों का मुक़ाबला कर सकें और स्वदेश को आपत्ति के समय में बचा सकें। फ्रान्स और इङ्गलैण्ड में स्त्रियाँ आफ़िसों में काम करने लगी हैं। यही नहीं, बल्कि वे अब अपने व्यायाम, कुश्ती और खेलों के करिश्में दिखा-दिखा कर दुनिया की आँखें चकाचौंध कर रही हैं। बहुतों ने तो यह सिद्ध किया है कि स्त्रियाँ पुरुषों से किसी विषय में कम नहीं, हाँ थोड़ी मिहनत की ज़रूरत है ज़रूर।

जो इन बातों में विश्वास नहीं करतीं वा करती भी हैं तो किसी विशेष कारण से आगे नहीं बढ़तीं, वे भी इन पुरुषों से मिलना-जुलना चाहती हैं। इन पुरुषों के साथ समाज में घूमना-फिरना चाहती हैं। खेल-तमाशे में, स्कूल-कॉलिजों में, या ऐसी ही दूसरी जगहों पर वे पुरुषों से मिलना चाहती हैं। ऐसा करने से वे एक दूसरे को— पुरुष स्त्री को और स्त्री पुरुष को पहचान सकेंगी। उनके जीवन का दुख-सुख दाम्पत्य जीवन पर ही निर्भर करता है। यदि दाम्पत्य जीवन में सुख न मिला तो सारा जीवन ही व्यर्थ प्रतीत होने लगता है। आज प्रति सैकड़ा सत्तर दम्पत्ति दुखी हैं, इसका कारण भी वे यही बताती हैं। यह सिद्धान्त स्त्री और पुरुष दोनों का है। अतएव विवाह होने के पहले यह अत्यावश्यक है कि जिसके साथ जीवन का नाता जुटने को है, उसके चरित्र से, उसके मनोभावों से पूर्ण परिचित हो जाया जाय। पारिवारिक जीवन के दोनों स्तम्भ एक दूसरे के एकदम निकट हों, ताकि कोई भी शक्ति किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न कर सके। प्रेम पहले से बढ़ा रहे। फिर विवाह होने के बाद वे हार्दिक आनन्द लूटें। आज दुनिया में इसी की लहर तमाम जगह फैल रही है।

गरज यह कि हर हालत से प्रतियोगिता के खयाल से, नारी-स्वातन्त्र्य के खयाल से, वा दम्पति के प्रेम के खयाल से, विश्व के मानव-समाज में स्त्री-पुरुष-सम्मिलन बहुत ज़रूरी है। समाज का निर्माण तभी हो सकेगा और तभी सभ्यता भी उन्नति करेगी।

* *

स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरे के बिना सर्वथा अपूर्ण हैं। इसीलिए स्त्रियों को अर्धाङ्गिनी कहा गया है। इसी अपूर्णता के कारण स्त्री और पुरुष में एक विचित्र आकर्षण वर्तमान है। प्रकृति का यह नियम है कि सभी पूर्ण होना चाहते हैं, अतएव मानव जाति भी पूर्ण होना चाहती है। जब कभी एक पुरुष एक स्त्री को देखेगा, उसकी ओर वह आकर्षित होगा ही और यही बात

स्त्रियों के साथ भी लागू होती है । जब स्त्री-पुरुष का परस्पर सम्मिलन होता है, प्रेम उपजता है, और इसी प्रेम में मनुष्य पूर्णता का अनुभव करता है । इसी पूर्णता को प्राप्त करने के लिए मनुष्य ने विवाह की प्रथा का आविष्कार किया । विवाह वह प्रण है जो प्रेम का अन्त होने नहीं देता, पर मनुष्य अपनी कमज़ोरियों से हार कर इस प्रण को भूल जाता है, तब दाम्पत्य-जीवन में वैमनस्य घर जमाता है और वह नरक-तुल्य हो जाता है ।

अब ज़रा विचारने की बात आई । स्कूलों और कॉलिजों में वा ऐसी ही अन्य जगहों में अविवाहित स्त्रियों और पुरुषों का सम्मिलन होगा तो वे एक दूसरे के प्रति आकर्षित होंगे वा नहीं ? और सच तो यह है कि एक दूसरे से आकर्षित होकर मिलने के लिए ही वे ऐसा करते हैं । इसका परिणाम बहुत ही बुरा होता है । आज संसार में जिन देशों को सभ्य होने का गर्व है, उन देशों में व्यभिचार की वृद्धि का यही कारण है । बाल-डांस में, क्लबों वा नृत्य-शालाओं में बेगुनाह, निरपराध भोला-भाला युवक जाता है या वे युवतियाँ जाती हैं जिन्हें संसार के धोखे का कुछ पता नहीं ? उन्हें समाज के वे धूर्त लोग जो इस फन में प्रवीण हैं, सर्वनाश की ओर खींच कर ले जाते हैं । इन्द्रिय सुख के प्रलोभन में पड़ वे अपना सब कुछ खो बैठते हैं । उनका जीवन ही नष्ट हो जाता है ।

फिर भी स्त्रियाँ शृङ्गार करेंगी ही, और जहाँ ये नाज़नियाँ दिन में तीन-तीन बार मुँह रँगेंगी, कपड़े बदलेंगी वहाँ जब ये मनचले पुरुष देखेंगे तो उनका मन क्यों न लग जायेगा ? सह-शिक्षा आज की सभ्यता का एक प्रधान चिह्न है । किन्तु वहाँ वे ही युवक या युवतियाँ पढ़ती हैं जो अधिकांश रूप में अविवाहित रहती हैं, उनकी नसों में यौवन का गर्म-गर्म रक्त प्रवाहित होता रहता है । ऐसी अवस्था में उनका परस्पर में आकर्षित होना और फिर व्यभिचार का फैलना क्योंकर असम्भव हो सकता है ? अन्य देशों की दशा और भी दयनीय है । वहाँ विवाह के पहले 'कोर्टशिप' और उसके बाद एक पति के अलावा अन्य पुरुष वा पुरुषों से प्रेम यह तो साधारण सी बात है । यह उनके यहाँ 'फ़ैशन' और सभ्यता में दाख़िल है । यही कारण है कि उनके यहाँ तलाक़ इस प्रगति से बढ़ रहा है कि हर देश को इसके रोकने के लिए नये क़ानून बनाने पड़ रहे हैं । इस तरह जब हम देखते हैं कि इतनी मिहनत के बाद भी (इन 'कोर्टशिपों' के होते हुए भी) जब तलाक़ इस तरह बढ़ रहा है, तो निश्चय ही उनके हृदय में प्रेम नहीं । अतः जिस हृदय में प्रेम नहीं, उसका दाम्पत्य जीवन ही क्या ? उनके मिलने से शान्ति और सुख के बदले क्लान्ति और दुख ही नज़र आ रहा है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्मिलन से कोई लाभ नहीं । यह हानिकारक है ।

पुनश्च । स्त्रियों की प्रकृति कुछ ऐसी है कि वे पुरुषों से मुक़ाबला कर नहीं सकतीं । उनकी बनावट पुरुषों से भिन्न है । वे कोमल होती हैं—उनके बराबर दौड़-धूप भी नहीं सकतीं । एक विद्वान का मत है कि कठोर व्यायाम स्त्रियों को मातृत्व के सर्वथा अयोग्य बना देता है । बहुतेरी स्त्रियाँ पुरुष हो जाती हैं । इसका भी मुख्य कारण यही रहा है कि वे सभी की सभी पुरुषों की प्रतियोगिता में कसरत इत्यादि में शामिल हुई हैं । यदि दौड़-धूप, खेल-कूद स्त्रियों से मातृत्व के अयोग्य हो जाएँ, तो ऐसे खेल-कूद की क्या ज़रूरत ? प्रेम की विजय तो सन्तान में ही है । किन्तु इसका यह कभी भी मतलब नहीं कि स्त्रियाँ मशीन की तरह बच्चे पैदा किये जाएँ, चाहे वे संसार के बोझ ही बनकर क्यों न रहें ?

अब यदि स्त्रियाँ यह कहें कि वे अविवाहित रहेंगी तो ऐसा होना कभी सम्भव नहीं है । यौवन की धधकती हुई आग को वे अपने हृदय में कैसे जलने दे सकती है । एक भावुक हृदय प्रेम करेगा ही, उस प्रेम के लिए नारी का कोमल हृदय अवश्य ही तड़पेगा, फिर विवाह क्योंकर न होगा ? और प्रेम हो तो सच्चा विवाह है । यह और बात है कि कोई सामाजिक बन्धन में न बँधे । किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बराबर कम रही है । ये उस नियम के अपवाद हैं । आज यही अपवाद संसार के हित के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं, विश्व समाज के जले हृदय पर आज ये नमक छिड़क रहे हैं । वेश्या-गमन, भ्रूण-हत्या, शिशु-हत्या ये सभी इसी अपवाद के फल-स्वरूप हैं ।

विश्व समाज में स्त्री-पुरुष-सम्मिलन से शारीरिक ह्रास तो होता है ही, साथ ही मस्तिष्क पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। जिससे जिसे प्रेम होगा उसके लिए वह सदा चिन्ता में लीन रहेगा, सोचता रहेगा कि किस प्रकार अपने आराध्य से मिलूँ और इस तरह उसकी मानसिक शक्ति क्षीण होती जायगी।

इसका कुप्रभाव हमारे बच्चों पर भी पड़ता है। बच्चे जब अपने माँ-बाप को अन्य स्त्री-पुरुष से मिलते-जुलते देखते हैं, तो उनके अन्दर भी यह इच्छा प्रज्वलित हो उठती है कि हम भी उन्हीं की तरह मिलें। और सभा-सोसायटियों में, वा मदरसों में जब उन्हें कोई मौक़ा मिलता है, तो वे अपने पितृ-गणों सा ही आचरण प्रदर्शित करते हैं। आगे चल कर इसका कुप्रभाव उनके चरित्र पर पड़ता है, और कुछ दिनों बाद वे समाज के भार-स्वरूप बन जाते हैं। उनका स्वास्थ्य सदा के लिए विदा ले लेता है, आयु क्षीण हो जाती है और जीवन ही वृथा प्रतीत होने लगता है। ऐसे ही लड़के आगे चल कर आत्म-हत्या इत्यादि करते हैं।

बहुतेरी स्त्रियाँ तो पुरुषों से इसलिए मिलती हैं कि विवाह के पूर्व वे पुरुषों के चरित्र से पूर्णतया परिचित हो जाएँ, उनके मनोभावों को समझने लगें। किन्तु पहले इसके कि वे उन्हें पहचान सकें, वे अपना ही चरित्र खो बैठती हैं। वह 'समाज का कुत्ता' इनके पीछे पड़ता है। अपने नाग-फाँस को इनके गले में डाल देता है, तब ये बेचारी असहाय होकर उसके आगे झुक जाती हैं। एक बार काम निकल जाने पर, जब इन बेचारियों का सब कुछ खो चुकता है, वह इन्हें ठुकरा देता है।

इन पहलुओं पर गौर करके देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि स्त्री-पुरुष का परस्पर सम्मिलन विश्व-समाज के लिये घातक छोड़ कर और कुछ नहीं है। किसी का यह सोचना कि इससे मानव जाति का कल्याण होगा, केवल मिथ्या है। यदि कोई स्त्री ऐसा चाहती है वा इसमें हाथ बटाती है तो या तो वह निरी भोली है, या पाश्चात्य सभ्यता का कुप्रभाव उसके चरित्र पर बहुत पड़ा है। किन्तु वह पुरुष जो इसमें सहयोग प्रदान करता है वह हर हालत में समाज का काँटा है। वह अपने को ज़ब्त नहीं रख सकने के वजह से ही ऐसा करता है और अन्त में उन भोली-भाली बालाओं के जीवन को नरक-तुल्य बना कर ही छोड़ता है।

स्त्री-पुरुष का परस्पर सम्मिलन उसी दशा में प्रोत्साहित किया जा सकता है जब व्यभिचार को बुरा न माना जाए, जब संसार के लोग मानव-जाति के नाश पर तुल जाएँ। कभी एक दिन था जब मनुष्य बहुत काल तक ब्रह्मचर्य्य रखता था, वह स्त्रियों से दूर, समाज से दूर, नाते-रिश्ते से दूर किसी गुरु के आश्रम में पलता था, शिक्षित भी होता था। उस समय उसकी आयु आज की तुलना में बहुत होती थी, स्वास्थ्य ठीक होने से वह सुखोपभोग भी अधिक कर सकता था। किन्तु आज तो बच्चे मुश्किल से बारह-चौदह वर्ष के हो पाते हैं कि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध समझने लगते हैं। बीस वर्ष के होते होते या कभी-कभी उसके पहले भी वे व्यभिचार में लीन हो जाते हैं। तब उनके मुख पर से कान्ति उड़ जाती है, वे सर्वथा तेजहीन हो जाते हैं।

इन बच्चों के कल्याण की बात उनके माता-पिता सोचते हैं ज़रूर, पर उसे कार्य्य-रूप में कभी परिणत नहीं करते। वे कुछ तो शर्माते हैं और कुछ "फ़ैशन आफ दी डे" कह कर टाल देते हैं। पर होता क्या है। क्या वे अपने बच्चों के सच्चे मित्र हैं? इसका उत्तर तो उनका हृदय स्वयं देगा। यदि लोगों ने शीघ्र ही इस पर ध्यान न दिया तो यह निश्चित है कि मानव-जाति पतन पर तुली हुई है। सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्मिलन की भी उन्नति होती जाती है। इससे व्यभिचार बढ़ता जा रहा है। विश्व-समाज में अशान्ति फैल रही है और मानव-जाति नाश की ओर बढ़ती चली जा रही है।

बिहार और स्त्री-जाति

[श्री० प्रतापनारायण सिंह 'पद्म']

भारत के सभी प्रान्तों में नारी-आन्दोलन उन्नति कर रहा है। इसके द्वारा स्त्री-जाति का बहुत बड़ा उपकार हुआ है; परन्तु बिहार अन्य सभी प्रान्तों से पिछड़ा हुआ है। यहाँ की स्त्री-जाति में अशिक्षा, परदा आदि का बोलबाला है। यहाँ नारी-आन्दोलन की प्रगति बहुत धीरे-धीरे आगे बढ़ रही है।

स्त्री-शिक्षा

स्त्री-शिक्षा का नाम लेने से बिहार के अधिकांश स्त्री-पुरुष नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं और उनमें से कुछ सज्जन संस्कृत का यह वाक्य —"स्त्री शूद्रौ न धीयताम् इति श्रुतेः"—पेश करते हैं और पाश्चात्य स्त्रियों का अन्धानुकरण करने वाली दो-चार फ़ैशन-प्रिय महिलाओं का उदाहरण दिखलाते हैं। जिस प्रकार बालकों का पढ़ाना कर्तव्य समझा जाता है, उसी प्रकार बालिकाओं को भी उचित शिक्षा देने की व्यवस्था करनी चाहिए। बालिकाओं को घर के छोटे बच्चों को खेलाने वाली धाई बनाकर रखना घोर अत्याचार और पाप है। यह पाप न गङ्गा में डुबकी लगाने से मिट सकता है और न शिव पर जल चढ़ाने से ही। हमारी दृष्टि में बालकों को शिक्षा नहीं देना उतना हानिकर नहीं है जितना बालिकाओं को शिक्षा से वञ्चित रखना। यदि स्त्रियाँ शिक्षिता होंगी तो अपनी सन्तानों को सुशिक्षित और विद्वान् बना सकती हैं। दस-बीस पुरुषों के द्वारा उतना शिक्षा का प्रचार नहीं हो सकता जितना एक माता के द्वारा।

कुछ स्त्रियाँ डिग्री की प्राप्ति के लिए बड़े वेग से आगे बढ़ रही हैं। हम उनसे कहेंगे कि आधुनिक शिक्षा-पद्धति सदोष है। दूषित वस्तुओं से अलग रहने में ही कल्याण है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति लार्ड मेकाले के मस्तिष्क की उपज है जिसका उद्देश्य छात्रों-छात्राओं को यूरोपीय रङ्ग में रङ्गना और क्लर्कों को पैदा करना है। जिस शिक्षा का उद्देश्य ऐसा घृणित है उसकी ओर सवेग दौड़ना अनुचित है। हमारी बहनों से विनीत प्रार्थना है कि वे इस प्रकार 'मैडम' बन कर अपने जीवन को नष्ट करने का प्रयत्न न करें। भारतीय विश्वविद्यालय से जितने छात्र और छात्राएँ निकलती हैं, उनकी आत्मा यूरोपीय रङ्ग में रङ्गी रहती है। स्त्रियों को किसी तरह नौकरियाँ मिल जाती हैं, पर पुरुष बेकारी के रोग से जकड़े जाते हैं। नौकरियाँ भी परिमित हैं। यदि सभी कोई नौकरी करने की ही इच्छा करें तो उतनी जगह ख़ाली कहाँ हैं? यदि स्त्रियाँ भी पुरुषों तथा अपनी दो-चार बहिनों की देखा-देखी करेंगी तो उन्हें भी नौकरी के लिए ऑफ़िस का दरवाज़ा खटखटाना पड़ेगा और 'नो वैकेंसी' (जगह नहीं है) के शब्द सुनने होंगे।

बिहार में स्त्री-शिक्षा का प्रचार बहुत ही कम है। स्त्रियों के लिए उपयोगी शिक्षण-संस्था सिर्फ़ एक ही दरभङ्गा ज़िलान्तर्गत है, जो सुचारु रूप से चल रही है। सिर्फ़ एक या दो संस्था से काम नहीं चलने का। जब तक ऐसी संस्थाओं की अधिक संख्या में स्थापना नहीं होगी तब तक स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार होना असम्भव है। बिहार की स्त्रियों में अशिक्षा का आधिक्य है। यहाँ के स्त्री-समाज में अविलम्ब शिक्षा का प्रचार होना चाहिए।

परदा प्रथा

बिहार की जनता को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। पहली श्रेणी में बड़े-बड़े जमींदार आदि

आयेंगे, दूसरी में मध्य स्थिति वाली जनता, जिनकी गणना न तो गरीबों में हो सकती है न धनिकों में ही, और तीसरी श्रेणी में मज़दूर और साधारण कृषक। परदा का अधिक प्रचलन पहली और दूसरी श्रेणी में है। पहली श्रेणी में परदा का उतना बोलबाला नहीं है जितना मध्यम श्रेणी वालों में। तीसरी श्रेणी के लोगों को मज़दूरी और परिश्रम के बिना भर पेट अन्न नहीं मिल सकता। अतएव उनको वाध्य होकर खेतों और खलिहानों में जाना ही पड़ता है। इसलिए उन लोगों में परदा करने से काम चल ही नहीं सकता है।

बिहार की स्त्रियाँ पराये से परदा नहीं करती हैं। वे अपरिचित चूड़ी आदि सामान बेचने वाले आदमियों से परदा नहीं करती हैं, घर के बड़ी-बड़ी उम्र वाले नौकरों से हँस-हँस कर बोल सकती हैं और मेले-ठेले में शान से घूम सकती हैं। इसके लिए कुछ भी मनाही नहीं है। परन्तु अपने ससुर, जेठ आदि के सामने, जो पिता भाई के समान हैं, बोलना तो दूर रहा, घूम-फिर भी नहीं सकती है। उनके ससुर आदि भी इसको नम्रता कहते हैं।

एक बात का उल्लेख कर देना हम नहीं भूल सकते। बिहार के नवयुवकों का विवाह होने पर वे अपनी पत्नियों से अपनी इच्छानुसार नहीं मिल सकते और न उनकी पत्नियाँ ही। दोनों अपने इच्छानुसार तभी मिल सकते हैं, जब वे दो-चार सन्तान के माँ-बाप बन जाते हैं। लेखक की एक देखी घटना है—"एक नवयुवक कहीं दूसरी जगह नौकरी करते थे। संयोगवश एक दिन उनको अपने गाँव में आना पड़ा। उनकी पत्नी और वे मिलन के लिए व्याकुल हो उठे; परन्तु दिन में दोनों का मिलना कठिन था। रूढ़िवादियों के शब्दों में वे दिन में मिलकर पाप के भागी बनते। उनको शाम को ही लौट जाना था। वे विवश थे, आखिर पत्नी की भेंट किये बिना ही उन्हें लौट जाना पड़ा। उनकी पत्नी चहार-दीवारी के भीतर छटपटाती ही रह गई।" यह बिहार की ही बात है। इससे भी बड़ी-बड़ी अनेक घटनाएँ घटती ही रहती हैं फिर भी हम लोग सचेत नहीं होते। कान में तेल डाल कर पड़े हुए हैं।

परदा-प्रथा के उठ जाने से शील और नम्रता में कुछ भी अन्तर नहीं हो सकता। घूँघट ढोंग मात्र है। परदा-प्रथा के नष्ट हो जाने से हम अपनी खोई शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। परदा-प्रथा के उठे बिना किसी भी देश या राष्ट्र की उन्नति नहीं हो सकती। परदे के परित्याग से स्त्रियाँ स्वास्थ्य-लाभ करेंगी, सुशिक्षिता बनेंगी, अपनी सन्तानों को भी शिक्षा देकर अच्छे पथ पर चला सकेंगी और पुरुषों के कामों में भी सहायता देने में समर्थ हो सकेंगी।

कन्याओं का क्रय-विक्रय

आजकल बिहार के मैथिल और कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में विवाह के नाम पर बड़े-बड़े अत्याचार हो रहे हैं। विवाह के नाम पर छोटी-छोटी अबोध कन्याएँ बेची जाती हैं। उनके अभिभावक इसका तनिक भी ख़याल नहीं करते हैं कि कन्याओं के वर (चिरसङ्गी) बूढ़े, लँगड़े, लूले या रोगी हैं। उन्हें सिर्फ़ रुपये से मतलब रहता है कन्या मरे या बचे। इस प्रकार पशु की तरह कन्याएँ बेची जाती हैं। बेचारी जान भी नहीं पाती हैं, कब उनका विवाह हुआ, कब वे विधवा हुईं। सभी तरुण विधवाएँ संयम से नहीं रह सकतीं; वे दुराचारियों के चङ्गुल में फँस कर अपने सतीत्व को नष्ट कर देती हैं। इस तरह लोभी ब्राह्मणों ने समाज में अनाचार और दुराचार फैला रखा है। कन्या-विक्रय का केन्द्र दरभङ्गा जिला का सौराठ है, जहाँ प्रतिवर्ष सभा होती है और कन्याओं के जीवन को बूढ़ों के गले में बाँध कर नष्ट किया जाता है। वहाँ यह कह कर लड़कियाँ बेची जाती हैं कि हमको बारात के भोजन की सामग्री के लिए एक या दो हज़ार रुपए चाहिए। इससे कम में हमारा काम नहीं चल सकता। इस प्रकार दो-चार दिनों में मरने वाले कामुक बूढ़े रुपए गिन कर विवाह का ढोंग किया करते हैं। समाज-सुधारकों को इस ओर जल्द ध्यान देना चाहिए। कन्याओं के क्रय-विक्रय द्वारा समाज में दुराचार, अनाचार, व्यभिचार आदि की वृद्धि होती है, जिससे समाज की बड़ी क्षति होती है।

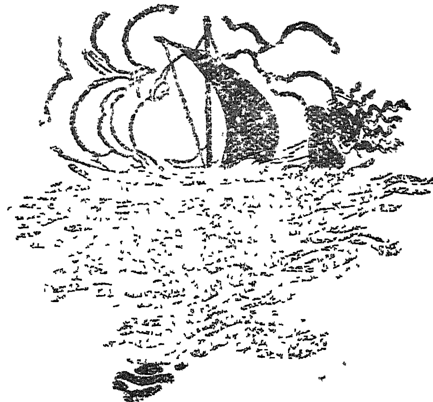
इसके अतिरिक्त बिहार में स्त्रियों के प्रति और-और

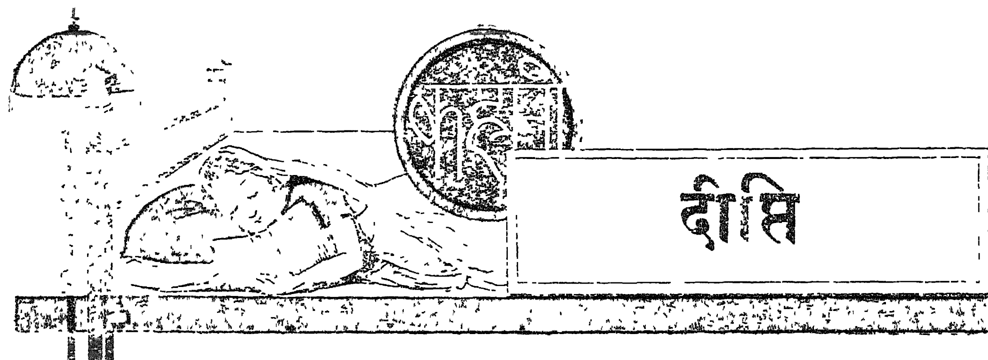
अत्याचार होते हैं जिनका दो-चार शब्दों में उल्लेख कर देना आवश्यक है। राजपूतों में कन्या-वध ज़ोरों से हो रहा है क्योंकि उनके पिता दहेज देने में असमर्थ होते हैं। नव-बहुओं के ससुराल (पतिगृह) आने पर निम्न-लिखित परिस्थितियों में सास की गालियाँ सुननी पड़ती है और झाड़ू से उनकी पूजा भी होती है। इतना ही नहीं, उनकी सास इसके साथ साथ सुबह-शाम उनके माता-पिता को भी गाली देकर आशीर्वाद दिया करती है। इस दुर्व्यवहार के कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

(१) दहेज कहने के अनुसार नहीं मिलना।
(२) कुरूपा होना।
(३) ब्याह के बाद एक साल ही बाद पुत्र उत्पन्न न होना।
(४) सिर्फ़ लड़कियाँ ही पैदा होना।
(५) संयोगवश कुछ शिक्षिता होना।

उपर्युक्त बातों में एक भी बात होने पर सास जी की कड़ुवी कृपा नववधुओं पर हुआ करती है। कभी-कभी सास जेठानी आदि मारपीट करने पर भी तैयार हो जाती है।

बिहार में अशिक्षा, परदा तथा अनेक भयङ्कर कुरीतियों का बोलबाला है। संसार परिवर्तनशील है। सभी वस्तुओं में परिवर्तन होता ही रहता है। जो समाज सदा प्रगतिशील सनातन मानव-धर्म को छोड़ कर जन्म-जन्मान्तर तक की पुरानी लकीर को पीटते हैं, उसके नष्ट होने में कुछ भी शङ्का नहीं रहती है। हमारी समाज-सुधारकों, नवयुवकों तथा बहनों से विनय है कि वे नारी-आन्दोलन की प्रगति को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करें। पुरानी लकीर पीटने वाले सदा से नाक-भौं सिकोड़ते तथा चिल्लाते ही आये हैं और चिल्लाते ही रहेंगे; उनकी परवाह न कर इस क्षेत्र में कमर कस कर जुट पड़ें। शिक्षा के द्वारा ही समाज की सारी कुरीतियाँ नष्ट हो सकती हैं। अतएव शिक्षा का प्रचार ज़ोरों से करना परम कर्तव्य होना चाहिए। हमारी बिहार के नव-युवकों से विनीत प्रार्थना है कि वे सर्व-प्रथम अपनी-अपनी पत्नियों को शिक्षित करें और इसके साथ ही कन्याओं का क्रय-विक्रय, कन्या-वध आदि कुरीतियों का शीघ्र ही विरोध करें। अपनी और समाज की भलाई करने में किसी को भी नहीं चूकना चाहिए। स्त्रियों के ऊपर ही राष्ट्र की उन्नति और अवनति निर्भर है।





दीप्ति

[श्रीमती निर्मला मित्रा]

रात को कोई नौ बजे के क़रीब गेट पर आकर 'हाई-सीलेण्डर' कार लगा, और दीप्ति उसके अन्दर से उतर पड़ी, अन्दर ड्राइवर के स्थान पर बैठे बैरिस्टर हितेन्द्र ने शुभ-रात्रि ज्ञापन कर 'कार' आगे बढ़ाया, किन्तु रुक भी गया ततक्षण ही, बोला—"और कल का प्रोग्राम तो बता जाँय, रविवार का दिन क्या ऐसे ही जायगा ?"

दीप्ति भी गेट के अन्दर कुछ दूर आगे बढ़ गई थी, वह रुक कर बोली—"जी, मुझे खयाल है, कल सुबह आप यहाँ पर आयें, चाय के टेबुल पर सब ठीक हो जायगा। उस समय मेरी दो-एक साथिन भी होंगी, और सम्भवतः यह भी रहें।" और वह इशारे से गृहस्वामी को निर्देश करते हुए आगे चल पड़ी।

दीप्ति के साथ ज्योतिर्मय की शादी एक तौर से तय थी, किन्तु दीप्ति को इस बात का पता नहीं था कि उसके पिता अपने वसीयतनामें में, यह बात भी लिख गये थे कि "मेरी लड़की दीप्ति की शादी, मेरे दोस्त के लड़के ज्योतिर्मय से ही हो, यह मेरी इच्छा है, किन्तु समय के पलटने के साथ मानवीय मनोदशा भी बदलती रहती है, इसलिए बीस साल की उम्र तक दीप्ति को सारी बातों की छूट रही बाद वह चाहे तो ज्योतिर्मय से ही विवाह सम्बन्ध स्थापित करे, और न चाहे तो इसकी कोई ज़बर-दस्ती उस पर नहीं है।"

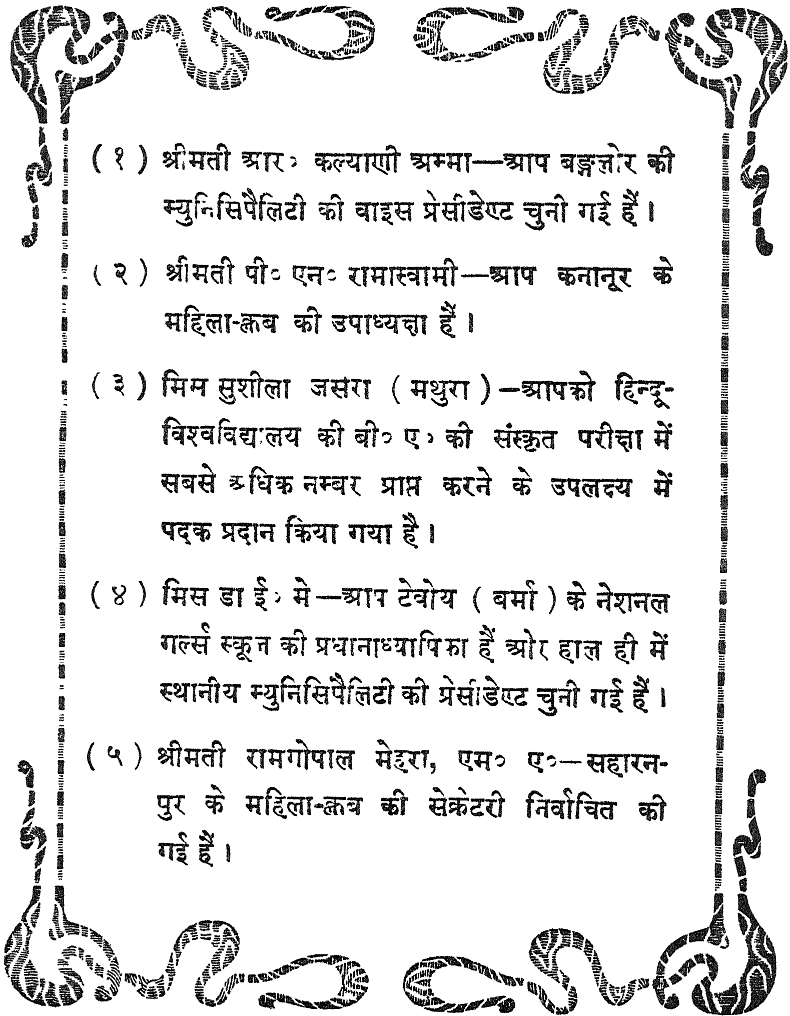
अब दीप्ति के पिता के स्वर्गवास के तेरह साल बीत चुके हैं। आठ साल की दीप्ति को ज्योतिर्मय के पिता अपने साथ ले आये थे—अपना कहकर कोई आत्मीय दीप्ति के लिए संसार में नहीं था, सो दीप्ति यहाँ, एक ही मकान में, ज्योति के साथ हँसी, खेली, पाली-पोसी गई, एक जगह, एक ही वातावरण में रहकर दोनों का चञ्चल बालकपन गुज़रा, किशोर उम्र का सारा अल्हड़पन भी बीत गया, और अब यौवन के रश्मिपात से दोनों जितने रमणीय बन बैठे हैं, उतने ही गम्भीरपन ने उन दोनों को मानों अतल-सागर बना दिया है। दीप्ति कभी मुखर हो भी उठती है, किन्तु ज्योतिर्मय का तल तो मापा ही नहीं जा सकता है।

इस बीच ज्योति के पिता भी न रहे, तो दीप्ति के पिता की इच्छा की ख़बर भी दीप्ति को देता कौन! ज्योतिर्मय की दीदी है,—दीदी विधवा है, बुद्धिमती है, और है परम गम्भीर। उसी के ऊपर गृहस्थी का सारा भार—बैङ्क के रुपए-पैसे का हिसाब-किताब, जन्मभूमि देश की, थोड़ी सी ज़मी-जोत की ख़बरदारी आदि है। आज तक सब दीदी ने सम्भाल रखा था, किन्तु अब ज्योतिर्मय ने यह सब झञ्झट अपने ऊपर ले लिया है, और जब से सारे काग़ज़ात उसके हाथ आये, तभी से ज्योतिर्मय ने दीप्ति से सम्हल कर चलना शुरू कर दिया? विशेष कर जिस दिन से दीप्ति की सहपाठिनी आशा के भाई हितेन्द्र का आना-जाना शुरू हुआ, उस दिन से ज्योतिर्मय दीप्ति से और भी दूर हो गया। और दीप्ति भी नवीन साथियों के समागम से, दिन पर दिन मानो आनन्द की सरिता बन बैठी! कॉलेज की एक









(१) श्रीमती आर० कल्याणी अम्मा—आप बङ्गलोर की म्युनिसिपैलिटी की वाइस प्रेसीडेण्ट चुनी गई हैं।

(२) श्रीमती पी० एन० रामास्वामी—आप कनानूर के महिला-क्लब की उपाध्यक्षा हैं।

(३) मिस सुशीला जसरा (मथुरा)—आपको हिन्दू-विश्वविद्यालय की बी० ए० की संस्कृत परीक्षा में सबसे अधिक नम्बर प्राप्त करने के उपलक्ष्य में पदक प्रदान किया गया है।

(४) मिस डा ई० मे—आप टेवोय (बर्मा) के नेशनल गर्ल्स स्कूल की प्रधानाध्यापिका हैं और हाल ही में स्थानीय म्युनिसिपैलिटी की प्रेसीडेण्ट चुनी गई हैं।

(५) श्रीमती रामगोपाल मेहरा, एम० ए०—सहारनपुर के महिला-क्लब की सेक्रेटरी निर्वाचित की गई हैं।

भी छुट्टी व्यर्थ नहीं जा पाती थी, आज 'गार्डेन पार्टी' तो कल कहीं पिकनिक को ही निकल पड़ना, इत्यादि कुछ न कुछ लगा ही रहता था। और घर में अब, ज्योतिर्मय और दीप्ति से मुलाक़ात कभी-कभी होती है। सुबह चाय के टेबुल पर वह हाज़िर हो गयी, तो ज्योतिर्मय उस दिन बिछौने पर से ही उठने में असम्भव विलम्ब कर देता है, दीप्ति ठीक समय पर खाना खाकर कॉलेज चली जाती है, तो अधुना छात्र-जीवन में मुक्त ज्योतिर्मय खाने को आता है ग्यारह बजे। दीदी कहती है, "अच्छा ज्योतिर्मय, सुबह का बना खाना ठण्डा हो जाता है, तू भी दीप्ति के साथ आ जाय, तो मैं तुझे भी गरम-गरम परस दूँ।"

ज्योतिर्मय हँस कर कहता—"किन्तु तुम भी तो वही ठण्डा खाना दिन के तीसरे पहर खाती हो, क्या तुम्हारा जीवन मनुष्य का जीवन नहीं है?"

दीदी हँस पड़ती—"भली चलाई विधवा की भी! चौबीस घण्टे में एक बार तो खाना है, सो कभी खाया।"

ज्योतिर्मय चट से बात पलट कर कहता, "किन्तु ठण्डे खाने पर मेरी रुचि दिनोंदिन बढ़ती जा रही है दीदी, पाँच साल से सत्ताईस साल की उम्र तक नौ बजते न बजते, स्कूल और कॉलेज के लिए नित्य प्रति गरम खाना खा-खाकर मैं हद से ज़्यादा उकता गया हूँ, सो फिर से नौ बजे खाना शुरू करने को कहना तो मेरे प्रति तुम्हारा अविचार ही होगा।"

तब दीदी स्नेह में भर कर कहती—"अच्छा, अच्छा भाई, तू मेरे ही साथ बैठकर रोज खाया करना।"

और शाम को भी ऐसे ही टालमटोल कर ज्योतिर्मय काट देता। किन्तु दीप्ति को लगता 'क्यों इतनी अकड़, इतना मिज़ाज उनका काहे को है जो मुँह तक नहीं देखना चाहते! बड़ी अच्छी सूरत है न आपकी, जो मैं ही बैठी-बैठी निरखा करूँ! अच्छा, देखा भी जायगी किसको पहले गरज़ होती है!"

और अब दीप्ति ने भी सामने की राह छोड़ पीछे की सीढ़ियों से ही चढ़ना-उतरना शुरू कर दिया। शाम को ज्योतिर्मय सामने बगीचे में टहला करता है तो दीप्ति चल देती है बोटानिकल गार्डन तो किसी दिन चाँदपाल घाट या विक्टोरिया मेमोरियल हाल, इत्यादि। कभी आशा साथ रहती है और कभी हितेन्द्र अकेला ही उसे घर तक पहुँचा जाता है।

किन्तु अदृष्ट का उलटा फेर! आज दीप्ति को ही गरज पहले पड़ी! दीप्ति जानती थी कि ऊपर के अन्धकार बरण्डे में चेयर में पड़े ज्योतिर्मय ने, दीप्ति और हितेन्द्र का सारा परामर्श सुन लिया है, फिर भी, वह इतने ज़िद्दी और हठीले आदमी हैं कि सुबह चाय के टेबुल पर अपनी मरज़ी से हरगिज़ न आवेंगे। विशेष कर तड़के ही उठ कर, कहीं चल न दें तो नाम नहीं। और उस दिन ऐसा ही हुआ था। दीप्ति ने अपने कई सहपाठी और सहपाठिनियों को निमन्त्रण दिया—किन्तु ऐन मौक़े पर ही ज्योति ग़ायब! भला, यह भी कोई उपेक्षा थी। हितेन्द्र और सुधाकर तो तुरन्त ही चेयर छोड़कर उठ पड़े और कहने लगे थे—"मिस लाहिड़ी, आप के निमन्त्रण में, गृहस्वामी की पूरी अनासक्ति झलक रही है; किन्तु आपने क्यों हम सबको ऐसी उपेक्षा का पात्र बनाया?" और दीप्ति की आँखों में अवमानना से आँसू आ गये थे। वह अतिशय लज्जा, घृणा से सभा के सामने कह बैठी थी—"तो आप लोग भी अब साफ़ सुन लीजिए, कि मैं मिस्टर राय की मोल ली हुई ग़ुलाम नहीं हूँ; और पैसे का ज़्यादा हिस्सा भी मेरा ही है, तब इस गृह की कर्त्री मैं ही हूँ, मेरी इस पार्टी में, आज अगर राय रहते भी तो वे भी मेरे निमन्त्रितों में से एक समझे जाते, आप सब इस बात पर विश्वास रख कर, तशरीफ़ रखें।"

"शाबास! शाबास! आधुनिक नारी का यही तो परिपूर्ण विकास है", इत्यादि कह कर सभा शान्त हुई।

और दिवस के तीसरे पहर ढले, जब ज्योतिर्मय मलिन, शुष्क चेहरा लेकर लौटा था, तब दीदी उस पर बुरी तरह बिगड़ पड़ी थी। किन्तु वह फिर भी हँस कर कहता गया, "बड़ी भूल हो गयी दीदी, आज की पार्टी की बात मैं एकदम भूल गया था, कई दिन से अच्छी एक बन्दूक़ की ज़रूरत थी, सो आज काशीपुर हो ही आया।"

अपने गाँव में बाबूजी के नाम पर हाई स्कूल खोल दिया है, और उसी स्कूल का हेडमास्टर बन कर मैं जा रहा हूँ।"

दीदी अकचका गई, बोली—"फिर यहाँ हम सबको देखेगा कौन?"

ज्योति ने कहा—"दीप्ति काफ़ी समझदार हो गयी है, अब उसका रुपया-पैसा, घर-गृहस्थी वह ख़ुद सम्भाले। और तुम्हारी बात, तो तुम मेरे साथ भी चल सकती हो, और मानो तो मैं कहता हूँ, जब तक न दीप्ति विवाहित हो जाय, तब तक तुम यहीं रहो।"

और दीप्ति बीच में ही कूद पड़ी—"हाँ, मुझ पर पहरा देने के लिए अब दीदी को छोड़े जाते हैं, कोई प्रयोजन नहीं दीदी, तुम चाहे जहाँ जा सकती हो। मैं सुबह उठ कर ही अपना ठिकाना बोर्डिङ्ग हाउस में कर लूँगी और परीक्षा के बाद चली जाऊँगी मंसूरी।"

दीदी ने पूछा—"तो मंसूरी में भला अपना कौन धरा है जो तू वहाँ अकेली जायगी हवा खाने को?"

और ज्योति के मुँह से अचानक ही निकल पड़ा—"शायद हितेन्द्र साथ रहेगा।"

बस, दीप्ति एकदम बारूद सी जल उठी, भयानक आघात से दोनों भाई-बहिन के हृदयों को कुचल कर बोली—"हाँ जायगा तो हितेन्द्र, किन्तु उस पर तुम्हारी इतनी जलन क्यों? आज की ही बात नहीं, बराबर दो साल से लक्ष्य कर रही हूँ, जब से वह इस मकान में आया-जाया करता है, तभी से तुम दूर भागे-भागे फिरते हो, किन्तु क्यों? क्या किसी का बन्धु, भाई, मित्र न रहे? क्या तुम्हीं लोग बड़े हृदयग्राही हो, जो तुम्हीं लोगों को लेकर मैं अपना जीवन नीरस बना लूँ।" और आँखों पर आँचल थामे दीप्ति पीछे पैर, अपने कमरे में चली गई।

* * *

और आज दीप्ति मकान पर आई थी, कुछ कपड़े आदि और ले जाने के लिए।

खबर पाते ही हितेन्द्र दौड़ा आया, बोला—"अभी गङ्गासिंघ रास्ते में मिला था, बोला, घण्टे भर के लिए दीप्ति बाबा मकान पर आई हैं, अच्छा, तीन माह में छः बार तुमसे मुलाक़ात करने गया, किन्तु एक बार भी तुमने मुलाक़ात न की? अच्छा क्यों न मुलाक़ात की थी?"

दीप्ति चाय का कप सामने सरका कर बोली—"आप की मूर्खता की लज्जा से।"

हितेन्द्र की आँखें फैल गयीं—"ऐं! मेरी मूर्खता की लज्जा से?"

गम्भीर होकर दीप्ति ने कहा—"हाँ आपको मालूम है कि बोर्डिङ्ग की लड़कियों को 'थर्ड-पारसेन्ट' किसी से मिलने नहीं दिया जाता है!"

हितेन्द्र बिगड़ा, बोला—"तो तुम साफ़ क्यों नहीं कह देती हो कि यह मेरे भावी पति हैं, इनसे मेरा 'एनगेजमेण्ट' हो गया है।" और दीप्ति चित्रलिखी-सी कुछेक क्षण, हितेन्द्र के मुँह की तरफ़ ताकती रह गई!

फिर दम लेकर उसने अपने आप ही कहा—"इनसे मेरा एनगेजमेण्ट हो गया है, तो कब हो गया है हितेन्द्र बाबू?"

हितेन्द्र कुछ झेंप-सा गया, बोला—"ठीक तुम्हीं से कोई निश्चित तय नहीं हुआ है, किन्तु ज्योतिर्मय तो तुम्हें मुझे सौंपने के लिए तैयार बैठा है; अभी उस दिन ही इलाहाबाद जा रहा था, हावड़ा के स्टेशन पर मुलाक़ात हुई, बोला जो करना है जल्दी तय कर डालो। हितेन्द्र, एक निश्चित ठिकाने दीप्ति को रखकर मैं मुक्ति पा जाऊँ। जानते ही हो लड़की बड़ी हो जाने से, समाज में चार बातें काना-फूँसी की चलती ही हैं, और मैं नहीं चाहता कि दीप्ति के नाम से कहीं कुछ चर्चा चले।"

दीप्ति निष्प्रभ होकर दिगन्त बेला की तरफ़ देखती रही। बाहर दिगन्त प्रसारित नभोमण्डल, और उसी विराट शून्यता को केन्द्र कर, उसका सारा चित्त मानों एकाएक शून्यमय हो उठा। कुछ क्षण खिन्न सी रहकर, धीरे-धीरे बोली—"तो उन्होंने आप से यह सारी बातें कही हैं?"

"हाँ कही तो हैं, और यह भी ज्योति ने कहा है, कि दीप्ति से पूछ कर, तुम मुझे जल्दी ख़बर देना, ताकि मैं उसके विवाह में अच्छा प्रबन्ध कर सकूँ।"

"ठीक, तो आप मुझसे विवाह करने को तैयार हैं ?"

हितेन्द्र अत्यन्त विस्मय भरे स्वर में बोल उठा—"यह तुम कैसी बातें पूछ रही हो दीप्ति ! भला तुम जैसी लड़की तो राजाधिराजों की सिरमौर हो सकती है, फिर मैं तो एक सामान्य व्यक्ति हूँ, मुझे तो यह संयोग अहोभाग्य ही मानना चाहिए।"

"किन्तु हितेन्द्र बाबू, विवाह तो कोई हँसी-खेल नहीं होता है, जो आपके और ज्योतिर्मय बाबू की खुशी से हो जाय, मैं सच कहती हूँ कि यह सम्बन्ध मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है।"—और वह धीरे से उठ कर अन्यत्र चली गई।

यह एक अद्भुत लड़की है ! यह एक अपार विस्मय है !! भला, इसका मिज़ाज कौन पाएगा !!!

हितेन्द्र सड़क पर चलते चलते सोच रहा था।

× × ×

और रोष-क्षोभ से तमतमाता चेहरा लेकर, एक अबेला मुहूर्त में, दीप्ति जमालगढ़ के हेडमास्टर के द्वार पर जब गाड़ी से उतरी, तो ज्योतिर्मय चमक उठा। दीप्ति के सुविन्यस्त बाल मुँह के आस-पास यथेच्छ पड़े हैं, आँखों के कोहे भारी रोदन से असम्भव रूप से फूल पड़े हैं। किसी भयङ्कर दुर्घटना का आभास उसके चेहरे पर देख कर, ज्योति ने व्याकुलता से पूछा—"क्यों दीप्ति, अच्छी तो हो ? और दीदी ?"

किन्तु दीप्ति अन्दर चली गयी।

निरुपाय ज्योति ने ड्राइवर रङ्गनलाल से प्रश्न किया किन्तु उसे कोई बात मालूम नहीं थी। आखिर ज्योति ने अन्दर आकर पुकारा—"दीप्ति, दीप्ति !"

दीप्ति एक कमरे से निकल कर दालान में आई, ज्योति कह उठा—"देखो भला, कितनी अड़चन हुई, पहले खबर भी देतीं तो मैं किसी से खाना तो बनवा रखता।"

दीप्ति झल्ला पड़ी, बोली—"तो तुम क्या सोच रहे हो, मैं यहाँ निमन्त्रण खाने के लिए घर छोड़ कर आई हूँ ?"

कुण्ठित ज्योति बोला—"नहीं, नहीं, मैं यह कब कह रहा हूँ, किन्तु घर पर अतिथि आने से ही।"

और दीप्ति ने आँखों को आँचल से ढक लिया—"हाँ, मैं अब अतिथि हो गयी हूँ, मुझे विदा करने के लिये दुनिया भर को निमन्त्रण दे बैठे हो, किन्तु क्यों, तुम्हारी मजाल क्या, जो मुझे तुम मेरे ही घर से निकाल बाहर करो, किसके हुक्म से तुमने हितेन्द्र को लपकाया है ?"

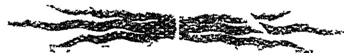
ज्योति सङ्कुचित और त्रस्त हो उठा, बोला—"छिः छिः, क्या-क्या बातें तुम कर रही हो दीप्ति तुम्हें मकान से दूर करने की मुझमें शक्ति कहाँ है ! विवाह के बाद तुम शान्तिपूर्वक उसी मकान में रह सको, यही सोचकर मैं यहाँ पर आ बसा हूँ। अवश्य हितेन्द्र को कहने की भूल मेरी हुई, किन्तु यदि उससे विवाह करना न चाहो तो तुम अपनी रुचि लायक पात्र पसन्द करो, मैं सानन्द उसी के हाथ में तुम्हें दान कर दूँगा।"

दीप्ति ने आँखें उठाईं बोली—"तो आखिर तुम मुझे दान करने पर ही उतारू हुये हो ?"

और ज्योतिर्मय उसकी दीप्त दृष्टि की तरफ़ देखता स्तब्ध रह गया।

दीप्ति बोली—"अपने पिता के वसीयतनामे को मैं पढ़ चुकी हूँ। आठ साल की मुझे, तुम्हारे बाबू जी ने अपने घर लाकर स्नेह-प्रेम से क्यों पालन किया, यह भी मैं जानती हूँ। नादान उम्र से जिस घर में मेरी प्रतिष्ठा हो गयी है, उस घर के सारे कर्तव्यों को निभाना मेरा ही फ़र्ज़ है, किन्तु तुम्हारी रुचि मुझ पर न रहे, तो तुम सानन्द किसी लड़की से विवाह करो। लेकिन मेरे विवाह के लिए, किसी पुरुष को, फिर कभी मुझ तक पहुँचाया तो तुम्हारी शपथ, तुम्हारे ही पैरों पर, सिर कूट-कूट कर प्राण छोड़ दूँगी।"

और अपनी दीप्त ज्योति से, ज्योति को निष्प्रभ कर दीप्ति ने बाहर आकर पुकारा—"रङ्गनलाल गाड़ी स्टार्ट करो।"





नारी जाति के प्रति मनु, कालिदास और तुलसीदास

[कुमारी कञ्चनलता सब्बरवाल]

नारी शब्द इतना मधुर, पूर्ण और उच्च भावों से ओत-प्रोत है कि विश्व भर के प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति उसको समय-समय पर समझने का यत्न करती रही है। नारी जाति को भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने किस रूप में देखा, यह विचारणीय है। प्राचीन काल में जो नारी का स्थान धार्मिक और सामाजिक दोनों रूप से था उसकी तो विशेष व्याख्या ही करनी व्यर्थ है। विवाह समय के लिये वेद में एक मन्त्र आता है :—

सम्राज्येधि श्वसुरेषु साम्राज्युत देवृषु,
ननान्दु साम्राज्येधि साम्राज्युत श्वश्र्वाः।

"हे नव-वधू! तू श्वसुर के घर में प्रवेश कर। किन्तु किस रूप में? पैर की जूती के रूप में नहीं। दीन-हीन, काम-वासना तृप्तिकरणी दासी के रूप में नहीं, प्रत्युत साम्राज्ञी के रूप में, उस राजा की रानी और महारानी के रूप में।" कैसा ऊँचा आदर्श था और कितनी सुन्दर प्रथा थी। वेद भगवान न केवल स्त्री को पुरुष का better half कह कर ही छोड़ देता है, बल्कि वह उसे उस राज्य की अधीश्वरी कह कर पुकारता है, फिर क्यों न वह अधीश्वरी भी तन, मन और हर प्रकार से अपने राज्य की एकान्त हितचिन्तिका होगी। क्यों न वह उन उच्च आदर्शों का पालन कर सकेगी जिनको देख कर अखिल विश्व दाँतों तले उँगली दबा लेगा। उस राज्य की एकमात्र साम्राज्ञी को क्या आवश्यकता होगी कि वह एक मुट्ठी अन्न और दो गज वस्त्र के लिये भी अदालत का द्वार खटखटाये—यह था आदर्श! कभी और किसी काल में भी गुलाम और आश्रित कुछ नहीं कर सकते। वह नारी, जो कि गुलाम और आश्रिता बनी हुई है, संसार में क्या कर सकेगी। दूसरी ओर अधिकार के ही लिए, आजादी के ही लिये पागल होने वाली नारी भी वेद के इस उच्च साम्राज्ञी-पद से च्युत हो जाती है। इस एक ही भाव, एक ही मन्त्र और एक ही बात से नारी-जाति के प्रति वैदिक काल की भावनाओं का परिचय मिल जाता है।

अब देखना चाहिये कि मनु महाराज की स्त्रियों के सम्बन्ध में क्या भावनायें हैं। वास्तव में मनुस्मृति हिन्दू मात्र के लिये एक अमूल्य रत्न है; एक सुन्दर बहुमूल्य ग्रन्थ है। मनु महाराज कहते हैं :—

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोक यात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम्॥

—मनु० ९—२७

उत्पन्न करना, पालना और नित्य लोकाचार का सचमुच आधार जिसने विश्व यात्रा को आसान करने के लिये गृह-कार्य का भार उठाया है वह स्त्री है।

कैसी सुन्दर व्याख्या है और कितने उच्च भाव हैं नारी जाति के प्रति। विशेषतया "प्रत्यहं लोक यात्रायाः" ध्यान देने योग्य विषय है। नारी न केवल पुरुष की better-half सजने, सजाने और सौन्दर्य की पुतली बन जाने के ही लिये है, बल्कि लोक-यात्रा को सुगम करने के ही लिये उसने यह गृहस्थ का भार उठाया है। फिर यह उत्पन्न करने वाली जननी और पालन करने वाली पालिका है। तात्पर्य यह कि अब भी यदि वह गृह की एकान्त साम्राज्ञी नहीं तो भी रानी अवश्य है। गृह-व्यवस्था अब भी उस ही का चरण-चुम्बन कर रही है, अब भी उस ही को लोकाचार का आधार बनना है।

कुछ लोग मनु के निम्नलिखित श्लोक को लेकर नारी स्वतन्त्रता पर कुठाराघात करते हैं।

बाल्ये पितुर्वशेतिष्ठेत्पाणि ग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वातंत्रताम्॥

मनु० ५—१४८

किन्तु उन्हें साथ ही साथ यह भी देख लेना चाहिये कि वही मनु महाराज यह भी स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि—

स्त्रियां तु रोचमाना यां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।

— मनु० ३—६२

पत्नी यदि भर्ता को शोभा देती है, वो ही सब कुलों की शोभा होती है तथा—

संतुष्टो भार्याया भर्ता भर्ता ार्या तथैवच ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याण तत्र वैध्र‌ुवम् ॥

—मनु० ३—६०

उसी कुल में कल्याण का अचल वास होता है, जहाँ भर्ता भार्य्या से और भार्य्या भर्ता से प्रसन्न रहे। अब कहाँ वह अस्वतन्त्रता रह जाती है? कहाँ वह पर्दे के अन्दर पूर्ण रूप से दासी बना कर रखने की व्यवस्था रह जाती है? कहाँ पत्नी को आश्रिता दासी और गुलाम बना कर रखना रह जाता है? आज हमारे समाज में कहाँ है यह आदर्श? कितनी ही स्त्रियाँ आज पतिवती होती हुई भी—सौभाग्य सुन्दरी होती हुई भी घरों में बैठी विधवाओं से भी अधिक करुणाजनक जीवन यापन कर रही हैं और ये मनु भगवान् के मानने वाले न जाने किस घोर निद्रा में बैठे हुए बार-बार यही कह देते हैं कि तुम स्वतन्त्रता की उपासिका नहीं हो सकतीं। दूसरी ओर "अति सर्वत्र वर्जयेत्" के समान अनेक नवयुग की उपासक पश्चिमी संस्कृति की क़ायल बहिनें इस अनुचित स्वतन्त्रता के कुपरिणामों से दुःख पा रही हैं और न जाने कितने अभागे पति उनकी स्वतन्त्रता के मूल स्वरूप सिल-बट्टे से कुश्ती लड़ते दृष्टिगोचर होते हैं। यदि इसी का नाम स्वतन्त्रता है तो ऐसी स्वतन्त्रता की भारतीय स्त्रियों को शायद आवश्यकता ही नहीं। वहाँ तो यह भी कहा गया है कि—

न कश्चियोवितः शक्तः प्रसह्य परि रक्षितुम् ।

—मनु ६-१०

नारी-रक्षा का अर्थ किसी प्रकार से उनको बाँध कर रखना नहीं है। अब अस्वतन्त्रता का अर्थ पर्दे में रखना या समानाधिकार न देना कहाँ रह जाता है? वह तो इन शब्दों में नारी-रक्षा का स्वरूप रखते हैं—

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसंगेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।

और यही मनु की सम्मति में पुरुष जाति का कर्तव्य है। यों तो वह स्वयं कह चुके हैं कि—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

क्या इन शब्दों के बाद भी कोई मनु के "न भजेत स्त्री स्वातन्त्रताम्" का अर्थ उसकी इच्छा के विरुद्ध समस्त अधिकारों से वञ्चित करके घर की चहारदीवारी में बन्द करना बतला सकता है? फिर उन स्त्रियों के लिये जो आत्म बलवती नहीं हैं या नहीं हो सकती हैं, स्वतन्त्र न होना ही अच्छा है। मनुस्मृति में कहीं भी यह विधान नहीं आता कि नारी को पर्दे की गुड़िया बन कर रहना चाहिये। उस समय में तो गुरुपत्नी युवा शिष्य के सम्मुख होती थी और मनु जी ने उसका बड़ा ही सुन्दर दृश्य खींचा है—

कामं तु गुरु पत्नीनां युवतीनां युवाभुवि ।

विधिवद्वन्दन कुर्याद सावहमिति ब्रुवन ॥

—मनु २-२१६

युवा शिष्य युवती गुरुपत्नी को अपना नाम बता कर भूमिष्ठ होकर नमस्कार करे। इससे ऐसा कभी भी भास नहीं होता कि मनु जी स्त्री-स्वतन्त्रता के द्वेषी थे, यद्यपि अनुचित आज़ादी उन्हें नापसन्द थी।

यद्यपि इन थोड़ी सी पंक्तियों में मनु के हृदयगत भाव जो कि उन्होंने नारी जाति के प्रति प्रकट किये हैं, प्रकट कर सकना नितान्त असम्भव है, तो भी किसी भी हिन्दू को यह कहते सङ्कोच नहीं होना चाहिये कि मनु महाराज के स्त्री जाति के प्रति बहुत ही उच्च भाव थे।

अब कालिदास को लीजिये। कविवर कालिदास ने भी नारी जाति के प्रति अपने अमूल्य साहित्य में कुछ विचार प्रकट किये हैं। शकुन्तला को ही लीजिये; कालिदास की दृष्टि में जहाँ शकुन्तला कोमलता की पुतली भोली-भाली नारी जाति का एक साधारण सा उदाहरण है, वहाँ ही दूसरी ओर उसके हृदय में आत्म-सम्मान की एक उच्च हिलोर उठ रही है। शकुन्तला पतिव्रता तो अवश्य है, किन्तु उसके पातिव्रत्य में वह उच्च त्याग का आदर्श नहीं है, जो सीता के इन शब्दों से टपक रहा है:—

भूयो यथा जननान्तरोपि,

त्वमेव भर्ता न च विप्रयोभव ।

सीता के हृदय में लेशमात्र भी यह भाव नहीं

आता कि वह उस पति के द्वारा परित्यक्त की गई है जिसके कि लिये वह यह वरदान माँगती है कि वह उसका जन्म-जन्म में पति हो। यही कालिदास की दृष्टि में सच्ची पातिव्रत्य धर्म पालने वाली देवियों का आदर्श था। किन्तु दूसरी ओर उन्होंने साधारण मध्य कोटि की आत्मावलम्बिनी महिलाओं के हृदयों पर भी शकुन्तला के चरित्र द्वारा छाप लगा दी है। अपमानिता सीता यदि त्याग का नमूना है तो दूसरी ओर परित्यक्ता शकुन्तला का हृदय भी दुष्यन्त को बिना खोटी-खरी सुनाये नहीं मानता। यहाँ तक कि वह उसे चोर, लम्पट आदि भी कह डालती है और शायद यही भाव कालिदास के उन पुरुषों के प्रति रहे हों जो कि प्रेम को एक सच्चा और सर्वोत्तम सम्बन्ध न समझते हों। भले ही उन्होंने दुष्यन्त की अवस्था शाप द्वारा कुछ अच्छी कर दी हो, किन्तु तो भी ऐसे व्यक्तियों के प्रति कालिदास के हृदय में कभी भी उच्च भावनाएँ प्रतीत नहीं होतीं। प्रत्युत आदि से अन्त तक उनकी सहानुभूति कुछ शकुन्तला की ओर ही प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त भी कालिदास की दृष्टि में गृहिणी का वह एक उत्तर-दायित्वपूर्ण गौरवमय पद था, उसे अधिकार था कि वह पुत्री के विवाह में उचित सलाह दे सके "प्रायेण गृहिणी नेत्रा, कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः।" यह गृहिणी का पद था। आज हमारी पुत्रियों के विवाह में माता की सम्मति प्रायः नहीं के बराबर ली जाती है और नाई, पुरोहित ही बहुत से परिवारों में कन्याओं के भाग्य-विधाता समझे जाते हैं।

कालिदास की दृष्टि में पतिव्रता स्त्री धर्म-कार्य में सहायता ही करने वाली है, बाधक नहीं। वे कहते हैं:—

स्त्री पुत्रानित्थं नाम्यैषा व्रतम हि माहेतं सताम्।

पतिव्रता स्त्रियों और प्रायः नारी मात्र के ही लिये कालिदास के हृदय में बहुत ही उच्च भावनाएँ हैं और यह कविता की उच्च उड़ान् नहीं, वरन् एक गम्भीर सत्य है। अब तुलसीदास जी की विचार-धारा देखिये:—

जो घर वर कुल होय अनूपा।
करिय विवाह सुता अनुरूपा॥
न तु कन्या बरु रहे कुमारी।
नाथ उमा मम प्राण पियारी॥

शायद इससे यह भी भास होता है कि उस समय में कुँवारी कन्या के हाथ पीले करना उतना आवश्यक नहीं समझा जाता था जितना कि उसे सुवर और उत्तम कुल में सौंपना।

इसके अतिरिक्त भी तुलसीदास जी ने स्त्रियों के प्रति कितना भी अविश्वास, कितना भी सन्देह किया हो, चाहे जितनी बार—

"नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं,
अवगुण आठ सदा उर रहहीं"

का जाप किया हो, पतिव्रता स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में परम आदर था, पतिव्रता स्त्रियों के सम्मुख उनका भी मस्तक झुक जाता था।

शम्भु शरासन डिगै न कैसे।
कामी बचन सती मन जैसे॥

कितनी सुन्दर भावना है। शिव का धनुष यदि दृढ़ता में किसी से उपमा पा सकता है तो पतिव्रता नारियों के मन से ही।

इसके सिवाय तुलसीदास के सम्मुख कौशिल्या, जननी सीता और मन्दोदरी के भी उज्ज्वल और ऐसे ज्वलन्त उदाहरण थे कि वह उन्हें कभी भी न भूल सकते थे। उनकी मूक लेखनी सुमित्रानन्दन भार्या उर्मिला के उज्ज्वल चरित्र को कभी भी न भुला सकेगी। कुछ भी हो, तुलसीदास को देखते हुए हमें यह कहना ही पड़ेगा कि वह काल और समाज का प्रभाव था, जिसने तुलसीदास की भावनायें इस दिशा में प्रवर्त्तित कीं, अन्यथा कालिदास ने तो नारी जाति का उच्चतम आदर्श ही दिखाया है, जो कि इन्दुमति की मृत्यु पर कहे हुए अज के शोक-सन्तप्त श्लोक से भली प्रकार पता लग जायेगा:—

गृहिणी सचिवः सखी प्रिय,
प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणा विमुखेन मृत्युना,
हरतात्वां वद किंन मे हृतम्॥

उन्होंने अज के मुख से पत्नी को ही उसका सर्वस्व कहला दिया है।

समय के साथ ही साथ मानव-प्रवृत्तियाँ भी बदलती गईं और इन्हीं से नारी-जीवन दुःखमय बनता गया।

शरच्चन्द्र के जीवन और कर्तृत्व पर एक दृष्टि

[श्री० कामेश्वर शर्मा

भारत की राष्ट्रीय जन-जागृति के अमर औपन्यासिक स्व० प्रेमचन्द जी के वियोग का घाव अभी भरा भी नहीं था कि १६३८ ई० के वर्षारम्भ में ही हमारे बीच से हमारे गृह-जीवन के सफल कलाकार शरच्चन्द्र भी चल बसे। बङ्गाल के वर्तमान कथा-शिल्पियों में कवीन्द्र रवीन्द्र के बगल में बैठने लायक लेखक एकमात्र शरच्चन्द्र ही थे। हिन्दी-पाठकों के बीच जो श्रद्धा और सम्मान स्व० प्रेमचन्द जी का था, वही श्रद्धा और सम्मान बङ्ग-भाषा-भाषियों के बीच शरच्चन्द्र को भी प्राप्त हुआ। सचमुच प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र—ये दोनों भारतीय उपन्यास-गगन के दो उज्ज्वलतम नक्षत्र थे। एक के द्वारा यदि राष्ट्रीय भावनाओं को चेतना मिली, तो दूसरे के द्वारा हमारे सामाजिक-संस्कार का काम सम्पन्न हुआ। प्रथम ने यदि ओजस्विता की व्यञ्जना की, तो दूसरे ने कोमलता की। यदि एक की कहानियाँ जीवन-सङ्घर्ष से सम्बन्ध रखती हैं, तो दूसरे की हृदय-सङ्घर्ष से। और इस तरह प्रथम की कथा-सामग्री का क्षेत्र विस्तृत है, दूसरे का परिसीमित। अपनी रचनाओं में प्रेमचन्द ने समूचे मानव-जीवन की समीक्षा की है, किन्तु शरच्चन्द्र ने हृदय की भावनाओं के विश्लेषण पर ही अधिक ध्यान दिया है, और यही कारण है जो पाठकों को शरच्चन्द्र की कृतियों में कला के कोमल उपकरणों का अधिक दर्शन होता है। दूसरे प्रेमचन्द जी की कथा-वस्तु पाठकों की उत्सुकता में किसी प्रकार का नूतन आवेग पैदा नहीं करती। वह बहुत शान्त और सरल गति से हमारे अनुमान के साथ चला करती है। पर शरच्चन्द्र के किसी उपन्यास को पढ़ते समय बीच ही में कुछ अनुमान कर लेना असम्भव सा है। उनकी लेखनी कब कहाँ मुड़ जायगी और उसकी परिसमाप्ति कैसे कहाँ होगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। घटना के बाद घटना का आगमन वहाँ इस प्रकार होता है कि पहले से ही उस सम्बन्ध में कुछ निश्चयात्मक कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तु-विन्यास के इसी कौशल के कारण शरच्चन्द्र को लोग औपन्यासिक जादूगर कहा करते थे।

शरच्चन्द्र के रचना-कौशल की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने उपन्यासों में एक भी व्यर्थ की बात नहीं लिखी। आजकल के औपन्यासिक अपने उपन्यासों में उपकथा को इतनी बढ़ा देते हैं कि मूल कथा प्रायः उनके भार से चप-सी जाती है। किन्तु शरच्चन्द्र ने अपने उपन्यासों में वैसी अनावश्यक बातें एक भी नहीं आने दीं। अनावश्यक क्या, उन्होंने बहुत सी आवश्यक बातें भी नहीं लिखीं। लिखी हैं केवल अत्यावश्यक बातें। कुछ ही पृष्ठों में घटनाओं का समावेश उन्होंने इस तरह कर दिया है, भावों का प्राचुर्य्य ऐसा भर दिया है कि बहुधा हमें सुदीर्घ वर्णन में भी वैसा पढ़ने को नहीं मिलता। उनकी पुस्तकें देवदास और चरित्रहीन में क्रमशः देवदास और सतीश के आकस्मिक पतन को देखकर पाठकों को लेखक पर थोड़ी देर के लिये कुछ रञ्ज, कुछ खीज अवश्य होती है, पर पीछे जब वह धैर्यपूर्वक सूक्ष्म दृष्टि से इस पर विचार करने को तैयार होता है, तो उसे फिर लेखक की कलम चूम लेने की ख्वाहिश होती है। परिस्थिति का प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है, इस बात को तो सफलतापूर्वक प्रेमचन्दजी ने भी व्यक्त किया है। पर, ऐसा करने में उनका कोई खास लक्ष्य होता था। प्रेमचन्दजी आदर्शवादी थे। वे किसी बात की, किसी भी घटना

की अवतारणा इसी दृष्टि से करते थे कि उससे आदर्शवाद के किसी खास विषय की सिद्धि होगी। पर शरच्चन्द्र थे वस्तुवादी। वे अपनी ओर से कुछ नहीं कहकर पाठकों के सामने केवल यथातथ्य घटना को प्रगट कर देते थे। और इस तरह समाज का कोई भी प्राणी क्यों न हो—साधु-असाधु, सती-असती, पापी-पुण्यात्मा सभी के चरित्रों पर उन्होंने दृष्टि-निपात किया है। अब तक हमारे लेखक अथवा कलाकार मानव-जाति की महिमा एवं माधुर्य, हृदय की उदारता एवं सदाशयता, त्याग एवं वीरत्व की खोज धनवानों और कुलीनों, अतिमानवों और सेनानायकों के चरित्रों में ही करते थे। किन्तु शरत बाबू ने उनके इस संकुचित दृष्टिकोण को व्यापक उदारता में परिवर्तित कर दिया। उन्होंने मानवता का वह रूप हमारे सामने प्रगट कर दिया, जिसको अब तक हम हेय एवं घृणित समझ कर अवहेलना करते आ रहे थे। मनुष्य को मनुष्य होने के नाते ही एक सहज जन्मगत अधिकार प्राप्त है, इस बात की उद्घोषणा शरत्बाबू ने बड़े जोरदार शब्दों में की। उनका विश्वास था कि दुनियाँ की सारी चीजें मानव-जाति के लिये हैं। जिस वस्तु से मनुष्य को कोई लाभ नहीं वह दुनियाँ की वस्तु नहीं, इसलिए मनुष्य क्या चाहता है और उसे क्या देना चाहिए, इसकी चिन्ता में सदैव सतर्क रहे।

बङ्गाल के साहित्याकाश में इस महाप्राण का आगमन एक आकस्मिक घटना थी। लगभग ३१, ३२ की उम्र तक तो बङ्गाल इनका नाम भी नहीं जानता था। और यह सचमुच के सैलानी चक्कर काटते हुये जहाँ पहुँचे थे, वहाँ और चाहे जो सुप्राप्य हो, पर साहित्य तो दुर्लभ था। शुरू में दो-चार ही ऐसे व्यक्ति थे, जो उनकी प्रतिभा के जानकार थे। और वही लोग इन पर नज़र रखकर इनकी उस समय की लिखी गयी पुस्तकों को सावधानी से बचा रखने की कोशिश किया करते थे। अपनी प्रतिभा की अवहेलना आप करने वाला व्यक्ति मैंने और कहीं नहीं देखा। बाहरी आलोक से डरने वाले शरद की प्रथम एक कहानी जब छद्म नाम से बाहर आयी और फिर उनके अन्तरङ्ग मित्रों की राय से जब "बड़ी दीदी" प्रथम छद्म नाम से ही एक पत्रिका में प्रकाशित की गई, तो लेखक का वास्तविक नाम जानने के लिये सारा बङ्गाल बेचैन हो उठा। बङ्गाली मननशील पाठकों ने केवल दो रचनाओं को पढ़कर ही पहिचान लिया कि लेखक के हृदय में कौन सी आग, मानव-जाति की कौन-सी वेदना की आकुलता ऊधम मचा रही है।

इसके बाद एक महज़ मामूली-सी बात हुई। साहित्य के इस महारथी को नौकरी मिली थी रङ्गून में अकौटेन्ट जेनरल के दफ़्तर में। वहाँ किसी एक साधारण बात पर छोटे साहब से इनकी हाथापाई हो गई। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनों बाद इन्हें नौकरी से इस्तीफ़ा दे देना पड़ा। इस प्रकार बड़ी चेष्टा के बाद विधाता ने इस सैलानी को अन्त में अपने घर की ओर भेज दिया।

फिर तो शरच्चन्द्र ने साहित्य की नदी में, कुछ ही अरसे के बीच रस का प्लावन ही कर दिया। इन्होंने पुस्तक के बाद पुस्तक, लेख के बाद लेख और कहानियों का ताँता बाँध दिया। बङ्गाल के पाठकों ने उनकी खासी क़दर की। शरच्चन्द्र के उपन्यासों और कहानियों की ग्राहकों के बीच धूम मच गई। मालूम नहीं, किसी भारतीय लेखक को इस शीघ्रता से इस ख़ूबी के साथ अपनी जीवितावस्था में पुस्तकों के प्रकाशन के साथ-साथ इतना आदर मिला है या नहीं।

किन्तु यह मानना पड़ेगा कि सांसारी लोगों का एक दल तापमान यन्त्र लेकर साहित्य के स्वास्थ्य का निरूपण करने के लिए अड़ गया था। उस समय जिन्होंने यह काम किया था, वे भी अभिनन्दन के पात्र हैं। जब कोई अद्भुत और अभिनव बात होती है तब तरह-तरह के आदमी उसके अनेक काम करने लग जाते हैं। अद्भुत की यही तो विशेषता है कि वह सभी तरह के लोगों को काम में लगा लेता है।

शत्रु हिसाब से हो या मित्र के नाते, जिस दिन दामोदर नद में बाढ़ आई, कुली-मज़दूर तक, सभी कुदाल लेकर उसी काम में लग गये। बहुत बड़ा नास्तिक तक यह नहीं कह सकता था कि साहित्य के इस तापमान यन्त्र की कुछ भी सार्थकता नहीं है।

किन्तु उस क्षेत्र में तो यह यन्त्र बिल्कुल ही निकम्मा, सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हुआ, क्योंकि इसके हृदय का जोर ११० डिगरी तक ही तो है। पर भला वैसा यन्त्र उस ताप की परीक्षा कैसे कर सकता है, जहाँ समूचा रस का समुद्र ही उबल रहा है।

आजकल आर्ट अथवा कला की बीसों तरह की परिभाषाएँ हैं। साधारण पाठक का मन उन परिभाषाओं के बीहड़ वन में भटक जाता है। कला तक उसकी पहुँच ही नहीं होती। पर हमें एक सनातन सूत्र याद है। वह करीब-करीब ऐसा ही है:—

"आर्ट वह है जो चाहे जिस वस्तु के भीतर प्रवेश करके उसके असली प्राण को लाकर बाहर प्रगट कर दे। कुशल चित्रकार थोड़ी-सी आड़ी-टेढ़ी सतरें खींचकर सच्ची तसबीर बना देगा; किन्तु अधकचर शिल्पी इससे दस गुणी सतरें खींचकर भी वैसा नहीं बना सकेगा। चतुर चितेरा जानता है कि चित्र का असल रहस्य कहाँ छिपा हुआ है, और वह उसी रहस्य को गाँठ लेता है। उसने तो उसके तह में घुस कर उसके मर्म को समझ लिया है, और जब मर्म प्रगट हो गया तब छिपा ही क्या रह गया?"

इस तरह तह में जाकर जिन्होंने सच्चा मर्म समझ लिया है, वही कलाकार हैं—और कोई कलाकार नहीं हो सकता। बाहरी कारीगरी आनन्द देती है, प्रीति देती है, पर है वह बाहर की ही चीज़। उसका मूल्य भी इतना ही है। इस प्रकार तह तक पहुँच कर खोज करने वाले, पते की बात कहने वाले आर्टिस्ट सभी देशों में बहुधा विरल होते हैं। किन्तु जो लोग इस मम के ज्ञाता हो जाते है, उन्हीं के पीछे—दुनियाँ के हज़ार मना करने पर भी—लोगों की भीड़ चलती है और ऐसे ही लोग अमर हो जाते हैं। बङ्गाल ने जो उस शीघ्रता से शरच्चन्द्र को पहचान लिया सो क्या किरणमयी के कारण या अचला के कारण? नहीं, बङ्गाल ने तो शरद को उनकी उस अन्तर्दृष्टि की वजह से अपनाया, जो मानव के चिरन्तन चित्र को चित्रित कर देती है, जो उसकी कामना को तो सार्थक कर देती है, किन्तु भले और बुरे की दोहाई देकर सत्य को ओझल नहीं करती।

इसी अन्तर्दृष्टि के कारण शरच्चन्द्र में असीम निर्भयता थी। असल में डरता तो शक्की है। जिसने सत्य को समझ लिया है, उसे भला सन्देह क्यों होने लगा? वह जो बात कहेगा, निडर होकर कहेगा; क्योंकि उसे विश्वास है कि यह सच है। जिस घर में भूतों का डर रहता था, जिस घर में दिन-दोपहर के वक़्त आदमी भयङ्कर भूत का विकट चेहरा देखकर बेहोश हो जाता था, उसी घर में पन्द्रह-सोलह की उम्र में शरद् अकेले जाते और हारमोनियम बजा कर मज़े में लौट आते। उनके हारमोनियम के स्वर पर रीझ जाने के कारण ही या और किसी वजह से, भूत उनका बाल भी बाँका नहीं कर सका। भूत के भय की शरद ने कभी परवाह ही नहीं की। वह चाहे भुतहे घर का हो, चाहे समाज का या साहित्य का। साहित्य में शरद की निर्भीकता के अनेक उदाहरण हैं, जिन्हें उनके सभी पाठक जानते हैं। देखो न, उन्होंने अपनी पुस्तक का नाम बेखटके 'चरित्रहीन' रख दिया। मजा यह कि वह नाम श्रुतिमधुर भी नहीं, उलटा इसमें यह दोष है कि इस नाम के सुनते ही लोग उँगली उठा कर कान बन्द कर लेते हैं। शरद की किरणमयी, अचला, वामन की बेटी, बड़ी दीदी, राजलक्ष्मी, श्रीकान्त, सभी गतानुगतिक बङ्गाल में अत्यन्त साहस का परिचय देते हैं। किन्तु मेरी समझ में उनकी सबसे बढ़ कर दुःसाहसिक अद्भुत सृष्टि 'अभया' है। वह तो एकदम खुलेआम समाज को मल्ल युद्ध के लिये ललकारती है। समाज के घाव को उँगली से दिखा कर पूछती है कि ऐ बङ्गाल के रहने वालो, हमारी जैसी निर्दोष सचेतन नारी और हमारे साथ की गयी अमानुषी समस्या का तुम्हारे पास क्या समाधान है? बङ्गाल में यह समस्या कुछ नयी नहीं है। बङ्गाली-समाज इससे डर कर इसे शास्त्रीय विधान के नीचे दबा देना चाहता था, पर निर्भीक पुरुष शरच्चन्द्र ने उसे बतलाया कि यह रोग किसी तरह दबा देने से दब जाने को नहीं। यह यदि बिल्कुल जड़ से उखाड़ कर नहीं फेंक दिया गया तो समाज की जड़ तक

भिद कर उसे क्षय-ग्रस्त कर डालेगा। तो फिर इसका निदान क्या है? शरद ने बतलाया और बहुत सुन्दर बतलाया कि इसका निदान है एकमात्र नारी-जाति की सम्मान और आत्म-प्रतिष्ठा।

नारी-जाति की उसी सम्मान और प्रतिष्ठा की भावना से शरद साहित्य की पंक्ति-पंक्ति ओत-प्रोत है। समाज का निष्ठुर अनुशासन आदिकालीन है और आगे भी रहेगा। पर अब तक वह जो अपनी लाल-लाल आँखें दिखला कर संसार पर शासन करता रहा है, मानव-जाति को परित्रासित बनाता रहा है, उसका वह व्यवहार अब अवश्य बदल जाना चाहिए; इसमें सन्देह नहीं। समाज की इसी चतुर्दिक ताण्डव लीला के विरुद्ध शेष युद्ध करने को शरच्चन्द्र बद्ध-परिकर हो उठे। समाज में जिसके लिये कोई स्थान, कोई सम्मान नहीं था, मानव-धर्मी कलाकार शरद् ने उसी को अपनी लेखनी के द्वारा करुणा दान कर श्रद्धास्पद एवं पूज्य बना दिया। इसीलिये उन्होंने जहाँ कहीं किसी नारी-चरित्र की सृष्टि की है, वहीं उसके 'नारीत्व' की अपेक्षा उन्होंने उसके मानवी रूप को ही विशेष रूप से दिखलाया।

पाठकों को यह जानकर सचमुच बड़ा आश्चर्य होगा कि नारी-जाति की प्रकृति और मनोवृत्ति का इतना सफल चित्रकार शरच्चन्द्र आजन्म अविवाहित रहे। फिर भी क्या किशोरी, क्या गृहिणी और क्या विधवा, किसी भी प्रकार की स्त्री की लज्जा, संकोच, कर्त्तव्य और धर्म, प्रेम या सेवा उनकी आँखों से छिपी नहीं रही। प्रेम के तो वे दार्शनिक रूप ही थे।

जिस तरह शरच्चन्द्र साहित्य में सरलता, वास्तविकता और प्रेम के उपासक थे, उसी तरह इन गुणों की अभ्यर्थना वे अपने व्यक्तिगत जीवन में भी किया करते थे। प्रचुर सम्पत्ति एकत्र करके भी उन्होंने कभी अपने बाहर या भीतर आत्म-गरिमा की भावना नहीं आने दी। साहित्यिक शरद अपने व्यक्तिगत जीवन में एक सहज मामूली आदमी थे। देश-सेवा और समाज-सेवा उनका चिरन्तन आदर्श था। पीड़ित, निःशोषित, विताड़ित और लाञ्छित के प्रति समवेदना एवं सहानुभूति वे केवल अपनी पुस्तकों में ही प्रगट नहीं किया करते थे, प्रत्युत उनका वह भाव क्रियात्मक रूप में भी बराबर दिखलाई देता था। बालीगञ्ज में अपने रम्य प्रासाद के रहते हुये भी वह बराबर शहर के कोलाहल से दूर दिहात में रहा करते थे। और वहाँ वे निरक्षर, ग़रीब गाँव वालों के दुःख-सुख में बराबर भाग लिया करते थे। दिहात निवासी जनता साहित्यिक शरद् को नहीं जानकर ग्रामीण शरद को ही जानती थी। शरद् बाबू ने स्वयं होमियोपैथिक चिकित्सा का भी मनन किया था और इसके द्वारा वे ग़रीब गाँव-निवासियों में बिना मूल्य औषधि वितरण किया करते थे। कितने के तो वे पथ्यादि का भी प्रबन्ध कर देते थे।

असहयोग आन्दोलन के समय शरद् बाबू ने कांग्रेस के कामों में भी कुछ दिनों तक आत्म-नियोग किया था। कुछ दिनों तक वे हवड़ा-जिला-राष्ट्रीय-समिति के सभापति और प्रादेसिक राष्ट्रीय समिति के सदस्य भी थे। इसके अलावा यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने कांग्रेस के कामों में अधिक भाग नहीं लिया, फिर भी समय पर आवश्यकतानुसार वे इससे पीछे भी नहीं थे।

अपने बाल्य-स्मृति की बात लिखते हुए शरद बाबू ने जो कहा था, उसे उन्हीं के शब्दों में देते हुए अब इस लेख को समाप्त करूँगा।

"मेरा लड़कपन और यौवन, दोनों कठिन दारिद्र्य के बीच अतिवाहित हुआ। अर्थाभाव के कारण मेरी शिक्षा-दीक्षा भी भली प्रकार नहीं हो सकी। भागलपुर (बिहार) में मेरा जन्म हुआ और वहीं मैं मैट्रिक तक किसी तरह पढ़-लिख सका। अपने पिता से उत्तराधिकार रूप में मुझे केवल स्थिर-चित्तता और साहित्य के प्रति प्रगाढ़ प्रेम मिला। मेरे पिता ख़ूब विद्वान थे। उपन्यास, कहानी, कविता और लेख-साहित्य के सभी उपांगों की सृष्टि के लिये वे चेष्टाशील रहा करते थे। किन्तु कभी किसी एक विषय को आदि से अन्त तक उन्होंने पूरा नहीं किया। इस समय उनकी कोई भी रचना मेरे पास नहीं है, पर मैं जब अपनी स्मृति को तेज करता हूँ तो मुझे मालूम होने लगता है कि यदि वे उन में से किसी एक को पूरा कर गये होते तो वह कृति बङ्गला-साहित्य की

एक अमर निधि होकर चमक जाती। अपने लिखने के सम्बन्ध में मुझे यह ठीक-ठीक याद नहीं आता कि मैंने अपने लड़कपन में कभी कुछ लिखने का प्रयास किया था या नहीं। हाँ, अपनी सत्रह साल की उम्र में मैंने गल्प लिखने का प्रयास अवश्य किया था। पर कठिनता बोध के कारण मैंने कुछ ही दिनों में उससे अपना हाथ खींच लिया। उसके बाद अकस्मात् १८ साल बाद एक दिन फिर से कुछ लिखने को बैठा। सन् १९१३ में हमारे कुछ बाल-बन्धुओं ने एक मासिक पत्रिका का आयोजन किया। किन्तु पत्रिका की अप्रतिष्ठा और कम प्रचार के कारण किसी यशस्वी लेखक ने उसमें लिखना स्वीकार नहीं किया। अतः हमारे उन साथियों का ध्यान मेरी ओर आकर्षित हुआ। १७ वर्ष पूर्व कहानीकार बनने का मेरा वह प्रयत्न उन्हें याद हो आया। एक दिन मेरे सभी बाल्य-सहचर मेरे पास आ धमके और मुझे अपनी पत्रिका 'यमुना' के लिये गल्प लिखने को उद्बुध करने लगे। अपनी दुर्बलता को जानते हुए भी उस समय मैंने इस बात को कबूल तो कर लिया, लेकिन विधि विधान से मुझे अपनी रोटी की खोज में एकाएक रंगून चला जाना पड़ा। मेरे मित्रों को जब यह पता चला तो वे तार और पत्र लिखकर वहाँ भी मुझे लिखने को लाचार बनाने लगे। अतः बड़ी लज्जा और सङ्कोच के साथ मैंने एक छोटी सी कहानी लिखकर उनके पास 'यमुना' के लिये भेज दी। वह यमुना में प्रकाशित हुई एवं पाठकों के बीच समादृत। इस प्रकार अपने केवल एक दिन की चेष्टा में ही मैं बङ्गला-पाठकों के बीच विख्यात हो गया। तब से अब तक बराबर मैं लिखता जा रहा हूँ। बङ्गला-साहित्य में सम्भवतः मैं ही एक वैसा समादृत लेखक हूँ, जिसने अपनी प्रतिकूल अवस्था के बीच भी अपना स्थान बना लिया है।"

यह आँसू का विन्दु

[श्रीमती ज्ञानदेवी सक्सेना, विदुषी]

प्रम करूँगी मैं मिट-मिट कर, प्रेम करूँगी मैं निश्चय;
प्रियतम के चरणों में चढ़ने को, उत्सुक है आज हृदय!

किसका भय? जब मिला मुझे, वरदान अमर पागलपन का,
और बसाया है नयनों में, जब सखि! मैंने महाप्रलय!!

डुबा चुकी हूँ लोक-लाज मैं, भुला चुकी हूँ सारा ज्ञान;
अरी, हृदय के पागलपन पर, मिटा चुकी हूँ सुख-सम्मान!!

यह आँसू का विन्दु नहीं है, सजनि! सिंधु है विस्मृति का!
जिसमें आज डुबा देना है, मुझको यह "मैं" "तुम" का गान!!

यह अन्तिम अरमान हृदय का, इसका, सरल न करना मोल;
पागलपन से करना होगा, मेरे पागलपन का मोल!!



भारतीय नव शासन-विधान और स्त्रियाँ

[श्री० अक्षयवरलाल]

सभ्य संसार के इतिहास में स्त्रियों का आन्दोलन अपेक्षाकृ नया है। भारतवर्ष की सभ्यता यद्यपि बहुत प्राचीन है, तथापि भारतवर्ष के वर्तमान महिला-आन्दोलन को पाश्चात्य देशों से बहुत सहारा मिला है। प्राचीन भारतीय समाज में महिलाओं का उच्च स्थान रहा है, इससे भारतीय इतिहासज्ञ इनकार नहीं कर सकते। मनुस्मृति, रामायण, महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि भारतीय समाज में महिलाओं की प्रतिष्ठा को पर्याप्त स्थान था परन्तु राज्य-शासन के सम्बन्ध में जब जन-सत्तात्मक प्रणाली का कोई निशान न था, उनके मताधिकार की बात सोचना समीचीन नहीं जँचता। परन्तु इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि यदि राष्ट्रीय जीवन का विकास न रुका होता तो भारतवर्ष में भी वे सभी अच्छी बातें आ गई होतीं, जो पाश्चात्य देशों में विकसित हुई हैं। जब छठी, सातवीं शताब्दी के लगभग भारतीय राष्ट्रीय जीवन की धारा सूखने लगी तो फिर उसकी जीर्ण-शीर्ण धारा ही आज तक हमें जीवित बनाये रखने में समर्थ रही है। बीच-बीच में कई बार राष्ट्रीय सूत्र को एकत्र करने तथा उसमें नवीन जीवन लाने की अनेक चेष्टायें अवश्य हुईं परन्तु उनका एकाङ्गी होने के कारण पूर्ण विकास न हो सका और वे समूचे भारतीय जीवन को न जगा सकीं।

सौभाग्यवश विज्ञान के उदय होने के कारण भारत एकाकी न रह सका। और उसके मृतप्रायः शरीर में भी ख़ून दौड़ने लगा। यही कारण हुआ कि भारतवर्ष ने अपनी गुलामी को अनुभव किया और उसकी जञ्जीरों को तोड़ने का प्रयत्न आरम्भ किया। इसी जागरण के फलस्वरूप अनेक सामाजिक आन्दोलन आरम्भ हुये और अन्त में १८८५ ई० में राष्ट्रीय महासभा का भी जन्म हुआ। यद्यपि आरम्भ में इसके जन्म का उद्देश्य भारतीय जागृति को रोकने का ही था, परन्तु बहुत ही थोड़े दिनों बाद इसने ऐसा रास्ता अख्तियार किया जिसका इतिहास पाठकों को भलीभाँति मालूम है। इस जागृति के कारण भारतीय महिला-समाज में भी जागृति आई और उसने भी अपने अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा प्रारम्भ की। जहाँ यूरोपीय महिलाओं को अनेक सामाजिक सुविधायें थीं वहाँ भारतीय महिलाओं के सम्मुख अनेक सामाजिक बन्धन भी थे, परन्तु उन्होंने साहसपूर्वक उन बन्धनों को तोड़ने का प्रयत्न किया। जिसके फलस्वरूप उन्हें राजनैतिक अधिकार भी प्राप्त होने लगे, जब कि यूरोप के इटली, स्पेन, फ्रांस तथा जर्मनी जैसे देशों में भी उन्हें अब भी मताधिकार प्राप्त नहीं है। भारतीय नव-शासन-विधान में स्त्रियों का क्या स्थान है, इसका विचार करने के पहले यह जान लेना परमावश्यक है कि महिलाओं को यह अधिकार कैसे मिले और उनका इतिहास क्या है!

भारतवर्ष में महिला-आन्दोलन का शैशव-काल है, किन्तु महिला-आन्दोलन की प्रगति को देखकर किसे प्रसन्नता न होगी। यह आन्दोलन राजनैतिक आन्दोलन से अधिक शक्ति ग्रहण कर सका है। सन् १९२० ई० के असहयोग आन्दोलन तथा १९३० व १९३२ के सत्याग्रह संग्राम में भारतीय महिलाओं ने भारतीय प्रतिष्ठा को जितना बढ़ाया है उसे सोच कर हृदय गद्गद हो जाता है। इस राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने सन् १९१९ में जो सुधार दिया उसमें स्त्रियों के मताधिकार की बात को प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के

निर्णय पर यद्यपि मताधिकार के लिये भारतीय महिलाओं ने आन्दोलन किया था, पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की धारणा थी कि भारत का पुरुष समाज अपने स्त्री-वर्ग को मताधिकार न देगा। परन्तु सबसे पहिले १६२१ में मद्रास ने स्त्रियों का मताधिकार स्वीकार किया। इसके बाद अन्य प्रान्तों ने इसमें आगे क़दम बढ़ाया। सन् १६२८ में साइमन कमीशन के सामने फिर यह प्रश्न आया कि भावी शासनविधान में स्त्रियों को मताधिकार दिया जाय कि नहीं। साइमन कमीशन ने भारतीय महिलाओं के मताधिकार का समर्थन किया। अन्त में गोलमेज़ कान्फ़रेंस की मताधिकार कमेटी ने भारतीय महिलाओं का शासनकार्य में रहने की अनिवार्यता दिखलाई। इसके बाद लोथियन कमेटी ने भारतीय महिलाओं के वोट देने तथा निर्वाचन में खड़े होने के लिये उनके क्वालिफ़िकेशन (Qualification) पर विचार किया, जिसका पूर्ण विवरण पाठकों को नव-शासन-विधान में भलीभाँति मिलेगा। कहने को तो यह कहा जाता है कि लोथियन कमेटी ने अधिक से अधिक महिलाओं के वोट देने का अधिकार दिया, परन्तु सचमुच ऐसी बात नहीं है। नवीन शासनविधान के अनुसार २० लाख स्त्रियों को सम्पत्ति के आधार पर, ४० लाख स्त्रियों को पत्नीत्व के आधार पर और ३ लाख स्त्रियों को शिक्षा के आधार पर मताधिकार प्राप्त हुआ है। इस प्रकार अनेक बुराइयों के रहते हुए भी प्रान्तीय असेम्बलियों में ४१ तथा केन्द्रीय असेम्बली में ६ महिलाओं की सदस्यता का स्थान रखा गया है।

इसमें तनिक संदेह नहीं कि वर्तमान विधान से स्त्रियों को भी अपनी शासन सम्बन्धी बुद्धि का परिचय देने का अवसर प्राप्त हुआ है और इसी के फलस्वरूप संयुक्त प्रान्तीय मंत्रिमण्डल में श्रीमती विजयलक्ष्मी के पदाधिकारी बनने पर किसे हर्ष न होगा। परन्तु इससे हम नारी-समाज की सभी बुराइयाँ दूर करने में सफल न होंगे, क्योंकि प्रथमतः इस विधान ने हमारी भारतीय महिलाओं में भी वही साम्प्रदायिक विष फैलाने का उपक्रम किया है जिसके बल पर विदेशी शासन आज तक टिका हुआ है, परन्तु सौभाग्यवश भारत की सभी महिला-संस्थाओं ने एक स्वर से इसका विरोध किया है और संयुक्त निर्वाचन की माँग पेश की है। महिलाओं के सम्प्रदाय के उपेक्षणीय आचरण से एक आशा की किरण भारतीय राजनीति में दौड़ जाती है। हम आशा से इस किरण को ऐसे प्रकाश में देखना चाहते हैं, जो साम्प्रदायिकता की जड़ जला कर राख कर दे। पुरुषों के अंध स्वार्थों ने आज तक इस साम्प्रदायिकता की नींव को मज़बूत ही बनाया है। इस नव-शासन-विधान द्वारा तनिक सी मिली सुविधाओं को सदस्यगण को भारत की जटिल समस्याओं को हल करने में लगानी चाहिये। उन्हें नारी-समाज की सभी बुराइयों को दूर करने में जुट जाना चाहिये, उन्हें असेम्बलियों की सफलता पर गर्व करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसमें तनिक सन्देह नहीं कि असेम्बलियों में पहुँची हुई अधिकांश बहिनें या तो कांग्रेसी हैं या बड़े-बड़े राजा, महाराजा, अफसरों की स्त्रियाँ हैं, क्योंकि अभी इस अभागे देश में शिक्षित स्त्रियों की संख्या ही २ प्रतिशत है। अतः पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य पर पहुँचने के लिये परमावश्यक है कि हम अपने को सङ्गठित कर लें। कई अखिल भारतीय महिला-संस्थाएँ हैं, पर किसी संस्था का सारे देश में जाल सा नहीं बिछ गया है। ये संस्थाएँ शहरों तक सीमित हैं। क्या स्त्री-सदस्यागण अपनी ग्रामीण बहनों की ओर पर्याप्त ध्यान देने की कृपा करेंगी? यदि हाँ, तो इसके लिये उन्हें ग्रामों में जाकर स्त्री-सभाएँ करके स्त्री-संस्थाओं का आयोजन करना होगा जो उनके शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, मनोरञ्जन का प्रबन्ध कर सके। उनको सामाजिक अत्याचारों से बचाये। स्त्रियों के सङ्गठन का कार्य बड़ा कठिन है, परन्तु उनको सामाजिक जीवन से जानकार बनाने के लिये इसे करना होगा। इस प्रकार के सङ्गठन में शहर की वे साहसी बहनें उपयोगी हो सकती हैं, जो सेवा से प्रेरित होकर ग्राम्य-जीवन बिताने का व्रत ले सकती हों। ऐसी कुछ साहसी बहनें प्रशंसनीय कार्य कर रही हैं। संयुक्तप्रान्त में श्रीमती विजयलक्ष्मी स्थानीय बोर्डों की मंत्रिणी हैं। हम आशा करते हैं कि आप कोई ऐसा उपाय अवश्य निकालेंगी, जिससे

स्त्री-शिक्षा का ग्रामों में व्यापक प्रचार हो जायगा। हम आशा लगाये हुये हैं कि जैसी कांग्रेस की नीति ग्रामों की समस्या की ओर रही, हमारी ग्रामीण बहनों की शिक्षा की ओर एक नया क़दम उठाया जायगा और उनकी सामाजिक कुरीतियों की जड़ काट दी जायगी, ताकि वह अपना स्वतंत्र विकास कर सकें। अतः नये शासन-विधान से यदि स्त्री-समाज का लाभ कुछ हो सकता है तो यही कि उन्हें सच्चा नागरिक बनाने में तनिक भी कमी न की जाय, क्योंकि नारी-समाज की उपेक्षा कर हम आगे नहीं बढ़ सकते।

लहर

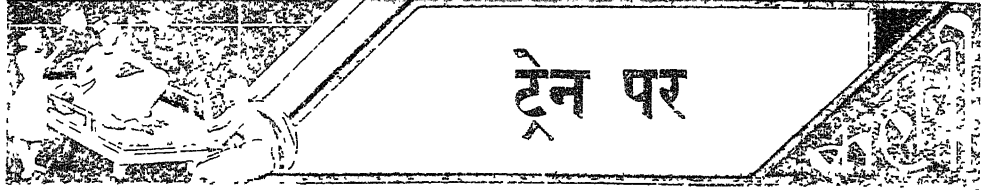
[श्री० "प्रभात", एम० ए०, साहित्याचार्य]

वह गई—रे, वह गई!—

गा उठी कोयल, हुआ गुञ्जित तमावृत कूल-कानन,
टूट कर तारा गिरा, कवि का उमड़ आया विकल-मन।
बन्द वीणा होगई, बेसुध शिथिल हो तार सारे,
छा गये उडु बन क्षितिज मे बिखर स्वर के करुण स्पंदन।
एक पल ठहरी न, चुपके से उधर वह बह गई!
वह गई—रे, वह गई!!

स्वप्न-सी आई किधर से, कौन-सा सन्देश लेकर?
कौन जाने मौन में किस कल्पना का देश लेकर?
आँकती अब लेखनी तृण-पत्र पर रुक-रुक कहानी—
इस अँधेरी रात मे कंपित-प्रणय अनिमेष लेकर!
बोल नभ के शून्य! क्या वह बात कोई कह गई?
वह गई—रे, वह गई!

झाँकता अभिशाप आ अनजान-सा मेरे हृदय में,
हृदय में ही प्रलय बसता या हृदय बसता प्रलय में।
है छिपाये प्रकृति अपनी वेदना ज्वालामुखी में,
मैं छिपाता प्यार अपना इस सुलगते अश्रु-चय में।
चुप खड़ी तट पर अकेली नाव मेरी रह गई!
वह गई—रे, वह गई!!



ट्रेन पर

[श्री० भगवतीप्रसाद वाजपेयी]

चलती हुई गाड़ी का एक रिज़र्व्ड डब्बा है, जिसमें दो व्यक्ति अत्यन्त निकट बैठे हुए परस्पर प्रेमालाप कर रहे हैं। एक व्यक्ति बोलता अधिक है। उसके भावों में भी वेग है। जब बातें करता है, तो दस-पाँच मिनट तक बोलता ही रहता है। उस समय उसकी वाक्धारा में कहीं मन्दता नहीं आती। मानो उसे अपनी बात कहनी ही कहनी है; कहीं से कुछ लाकर, नये सिरे से, पेश नहीं करना है। सोचने की जैसे क़तई ज़रूरत ही नहीं है उसे।

उसका नाम है राधाकुमुद। लम्बा क़द है। बदन पर स्लेट कलर का मुलायम ओवर कोट और उसके नीचे पैरों पर कभी-कभी झलक उठने वाला (उसी से मिलते-जुलते रङ्ग का) पैराट उस पर बहुत खिल रहा है। सिर पर ऊपर की ओर, क़रीने से सँवारे हुए, मर्यादित केश कभी-कभी भीनी-भीनी ख़ुशबू लहरा उठते हैं। आँखें कुछ-कुछ लाल हैं और रात के जागरण को बिना पूछे बतला उठती हैं। पैराट के पॉकेट से कभी-कभी सिगरेट निकाल कर दो-चार कश लेकर, उसकी आग बुझा कर फेंक देता है। बातें करते-करते एकाएक चुप हो जाता और मुलायम बर्थ के सिरे से पीठ टेक कर आराम से पैर पसार लेता है। कभी खिड़की के शीशे से गुज़रते हुए दृश्यों की तीव्र गति पर लक्ष करता है, कभी पास होते हुए स्टेशनों की चिर शृङ्खलित; निश्चित रूप-रेखा से उलझ पड़ता है और कभी फिर सीट के नीचे पैर लटका कर सहवासी से बातें करने में निमग्न हो जाता है।

दूसरे व्यक्ति की स्थिति इससे कुछ भिन्न है। वह अधिक बातें करने का आदी नहीं है। बहुत कुछ वह बिना कहे ही कह डालता है। उसे कोई बात किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किसी के बिना कहे ही वह बहुत कुछ जान लेता है। तभी वह, जो उसके आगे आता है; उसे देखता भर रहता है। आँखें खोल कर देखता है, बन्द करके भी देखता है और कभी-क [illegible] तो आँखों से न देख कर अपने अन्तर से देखता है। किन्तु उसके दर्शन में वेग नहीं है। आतुरता नहीं है। है एक तरह की शान्त समाहित, अपेक्षा और उससे लिपटी हुई प्राणमयी निष्ठा।

उसका नाम है सुनन्दा।

सुनन्दा देखने में कुछ ऐसी बहुत सुन्दर नहीं है। गेहुँआ वर्ण है। मुँह में शीतला के छोटे-छोटे दाग़ भी हैं। खादी की एक ख़ुशनुमा साड़ी के ऊपर एक कोट पहने हुए है। भीतर अण्डरवियर, जैक्ट और पुलओवर। कानों में मोतियों की झालरों के रिङ्ग और हाथों में दो-दो चूड़ियाँ। दाहिने हाथ की अनामिका में एक अँगूठी। जब से इस डब्बे में आकर बैठी है, तब से बैठी ही है; उठने या लेट रहने की उसे ज़रूरत ही नहीं पड़ी। पैरों की एड़ियों में खिलखिलाती हुई लालिमा को देख कर कभी-कभी एक-आध बार सस्मित हो उठी है। तभी झट से फिर अपने आपको कम्बल से अच्छी तरह ढक लिया है। राधाकुमुद की बातों के सिलसिले में एक बार कह चुकी है, कुछ खा लो, पी लो, हाँ, खाओ; तो मैं भी खाऊँ। मुझे बड़ी भूख लगी है।

तश्तरी पर मिष्ठान्न निकाल कर रख दिया है। जब देख लिया कि राधे बाबू खा रहे हैं, तभी उसी में से एक-आध कौर ख़ुद भी खा लिया है। किन्तु बहुत अधिक भूख रहने पर भी उसकी पहचान का वैसा कोई लक्षण नहीं देख पड़ा है।

दूसरी बार उसने कहा—सो क्यों नहीं जाते। कै दिन के जगे हो, कुछ ठीक है? मैं तो दिन में सो चुकी हूँ। मैं सोना भी चाहूँ, तो जल्दी मुझे नींद न आयेगी। लेकिन तुम न साओगे, तो तुम्हारी तबियत न ख़राब हो जायगी?

बस, यही दो बातें उसने कही हैं। रात के चार बजे हैं। फ़रवरी मास की सत्रहवीं तारीख़ है। कहीं ओले पड़े हैं, पानी भी बरसा है। दो दिन से योंही अत्यधिक ठिठुरन रही है। फिर इस समय तो तूफ़ान मेल की यात्रा है, खिड़कियों की साँसों का ज़ोर से, जैसे चीरती हुई, ज़बरदस्ती हवा घुसी चली आती है।

सुनन्दा ने अभी कह डाला है—'मैं तो दिन में सो चुकी हूँ।' ख़ूब! पगली ने जब यह बात कही, तो अपनी ही यह बात उसे कितनी मीठी प्रतीत हुई। अजी कुछ पूछो मत, बहुत मीठी। लेकिन क्या उसने यह बात सच कही थी?

झूठ—एकदम झूठ।

लो, सुनन्दा झूठ बोल गयी। लेकिन उसके इस झूठ में क्या किसी प्रकार का कोई कलुष है? क्या उसके द्वारा किसी का कुछ अनिष्ट हुआ है?—कौन कहे? किसमें इतना साहस है, जो सुनन्दा के इस झूठ को बुरा कहे? कहे भी; तो क्या वह झट से उसे उत्तर न दे देगी कि वह तो एक कल्पना की बात थी। उसने कल्पना कर ली थी कि वह दिन को ख़ूब गाढ़ी नींदों में सो चुकी है। इसलिए रात को उसका जगना सर्वथा स्वाभाविक है। उसने एक स्थिति के सत्य को कल्पना के रूप में देख लिया है, तब उसका कथन झूठ कहाँ है? झूठ और चीज़ है जी। कल्पना से झूठ का साम्य क्या। कल्पना तो कांक्षा का एक अजीब स्वरूप होता है। स्थूल दृष्टि-जगत् से परे, एकदम अन्तर्लोक की वस्तु है वह। किन्तु झूठ तो यथार्थ स्थिति से प्रतिकूल मन का एक कलुष होता है!

मिर्ज़ापुर स्टेशन पर गाड़ी खड़ी हुई थी। थोड़ी देर में गाड़ी धीरे-धीरे चल दी; फिर मोशन पर आ गयी।

राधे बर्थ पर लेटा हुआ, कम्बल से अपने को अच्छी तरह ढक कर, सो जाने की चेष्टा में था। सुनन्दा बैठी बैठी ऊँघने लगी थी। किन्तु वह सोना नहीं चाहती थी। तभी ऊँघ-ऊँघ कर एकदम से सचेत हो जाती थी।

इसी समय एकाएक उस डब्बे का द्वार खुल गया। एक व्यक्ति उस रिज़र्व्ड कम्पार्टमेंट में भी आ ही गया। उसके बाल बिखरे हुए थे। आँखें गड्ढों में धँसती जा रही थीं। ब्राउन पैंट पर खाद्य पदार्थों के दाग़ स्पष्ट झलक रहे थे। क्रीज़ उसकी एकदम मिट चुकी थी। कोट के भीतर की शर्ट का कालर मैला पड़ गया था। दाढ़ी बढ़ रही थी। थोड़ा-थोड़ा हाँफ रहा था। जान पड़ा, मानों दौड़ता हुआ आया हो। मुद्रा पर विवशता की स्पष्ट छाप थी।

सुनन्दा काँप गयी। उसे देखते-ही-देखते उसका मुख स्याह-सा पड़ गया।

राधे उठ कर खड़ा हो गया। तपाक से आगे बढ़ कर, वह उसे पीछे ठेलने ही जा रहा था कि उसे तुरन्त अपना यह भाव बदल देना पड़ा, जब उसी निमेष में उसने सुना—

"आप मुझे क्षमा करें। अगले स्टेशन पर ही मैं उतर जाऊँगा। इसी क्षण अगर मैं इस डब्बे को भी न पा सकता, तो मुझसे यह ट्रेन छूट ही जाती। इस ट्रेन में जो एक बरात लौटी जा रही है वह ...।"

वाक्य पूरा न हो पाया था कि राधे बोला—ओः यह बात है। तब मैं आपके इस आकस्मिक आगमन से भी बड़ा सुखी हुआ।...आप शौक़ से बैठिये। इधर निकल आइये।

"बैठने के लिए मुझे सीट का एक कोना भर चाहिए। भले ही वह ख़ाली पड़ी हो! आपको मैंने कष्ट दिया। आपकी क्षण-क्षण की कल्पना और उसकी भाव-धारा के बीच में अप्रत्याशित रूप से एक मूर्तिमान व्याघात बनकर आ गया। मुझे इसकी बड़ी लज्जा है। लेकिन मैं करता क्या? मुझे सूझ यह पड़ा कि इसी डब्बे में चला जाऊँ, तभी ख़ैर है। आप जानते हैं, मनुष्य अपनी मर्यादाओं में कितना बँधा हुआ है; तो भी कुछ ऐसे अपराध भी उसे विवश होकर करने ही पड़ते हैं।"

आगन्तुक बात करते हुए सदा राधे की दृष्टि पर ध्यान रखता है। अवसर पाकर वह कभी-कभी सुनन्दा की ओर भी देखने लगता है।

और सुनन्दा लेट गयी है। कम्बल से उसने अपना सिर तक ढक लिया है।

राधे बोला—आपका यह सोचना ठीक ही है। क़ानून इसे अपराध ही कहेगा। किसी की भी विवशता दूसरे व्यक्ति के अधिकारों में हस्तक्षेप अथवा व्यतिरेक उपस्थित कर सकने की क्षमता नहीं पा सकती। लेकिन अब आप इसका खयाल छोड़ दीजिये। आपकी स्थिति में यदि मैं होता, तो मैं भी ऐसा ही करता। खैर, इस अप्रिय प्रसङ्ग को छोड़ कर हम लोग अब दूसरी बातें करें तो अच्छा। आप अच्छी तरह से बैठ जाइये। तीस-चालिस मिनट की तो बात है। अगला स्टेशन इलाहाबाद पड़ता है। यहाँ पर इस डब्बे से उतर कर अपना डब्बा पा जाने के लिए आपको काफ़ी वक़्त मिलेगा, चिन्ता की कोई बात नहीं है।

इस पर आगन्तुक ने कहा—लेकिन आप अब मेरे लिए और कष्ट न उठाइये। मेरा खयाल है, आप सो रहे थे। तो फिर इतमीनान के साथ आप सो ही जाइये। मैं नहीं चाहता कि आपको मेरी ज़ात से और किसी तरह का कष्ट हो।

"मैं सो तो नहीं रहा था, हाँ, सो जाने की चेष्टा में ज़रूर था। लेकिन जब तक आप बैठे हैं, तब तक मेरे लिए सो सकना कैसे सम्भव है?"—कहते-कहते राधे के मुख पर एक मृदुल हास मुद्रित हो गया।

"ओः सचमुच! भाई मुझे क्षमा करो। मैं बहुत शर्मिन्दा हूँ। मैं और कितनी बार क्षमा माँगूँ!"

यह व्यक्ति जब कोई बात कहता है, तो ऐसा जान पड़ता है, जैसे उसकी अन्तरात्मा की सारी मिठास उसकी वाणी पर उतर आयी है। उसकी आँखें बाहर निकली सी पड़ती हैं। स्वर उसका इतना मन्द है, इतना धीमा कि सहज ही उसका गुञ्जन प्रशान्त पड़ जाता है। राधे को यह स्पष्ट बोध होने लगा है कि उसके स्वर की यह मन्दता सुनन्दा के लिए है। जिसमें उसकी निद्रा को किसी प्रकार का धक्का न लगे। तभी उसके मन में आ जाता है—यह व्यक्ति कितना शिष्ट है, कितना सभ्य!

राधे बोला—आप नाहक़ इतना परेशान हो रहे हैं! मैंने कहा न कि आप इस बात को भूल ही जाइये। आख़िर आप इतना पछता क्यों रहे हैं! बतलाइए, मैं आपकी इस परेशानी को दूर करने के लिए क्या करूँ। अच्छा, अगर आप मेरी स्थिति में होते, तो मेरे साथ किस तरह पेश आते। बतलाइए, बतलाइए, आप मौन क्यों हो गये?

"'मैं आपकी स्थिति में होता'...! आप यह क्या कह रहे हैं।" उसने कहा—"आपने यह बात कह कैसे डाली? आपने यह न सोचा कि उस स्थिति की कल्पना न मैं कर सकता हूँ, न आप कर सकते हैं। स्थिति स्थिति है। उसकी कल्पना नहीं हो सकती। किसी भी स्थिति को कल्पना की आँखों से कोई देख भी सका है! फिर उस स्थिति में अपने मनोभावों की बात को इस स्थिति में रह कर सोचना तो और भी अकल्पित है! खैर, ये बातें बहस-तलब हैं। इस समय इनकी चर्चा करना फ़िज़ूल का एक दर्द सिर मोल लेना है। आप सो जायें। बस, और अधिक कष्ट न करें।"

लेटता हुआ राधे बोला—अच्छा तो, अगर मैं सो जाऊँ, तो आपको कुछ शान्ति मिल जायगी। अच्छी बात है। मैं आप जैसे व्यक्ति को दुखी होते नहीं देख सकता। मैं आपसे फिर कभी मिलूँगा, क्या आप अपना पता मुझे दे सकते हैं?

तब उस व्यक्ति ने एक विज़िटिङ्ग कार्ड राधे को देते हुए कहा—लेकिन यह सब बेकार है। आप मुझ जैसे अभागे व्यक्ति को कभी याद नहीं कर सकते!

"आप विवाह करके लौट रहे हैं, फिर भी ऐसी बातें कर रहे हैं, जिनको सुन कर मर्म-स्थल पर आघात-सा लगता है। आपकी तबियत भी अच्छी नहीं जान पड़ती। क्या इन दिनों आप कुछ अस्वस्थ रहे हैं!"—राधे बोला।

उसने कहा—मैं अब कुछ भी जवाब न दूँगा। जब तक मैं बातें न बन्द करूँगा, आप सो नहीं सकते, यह निश्चित है।

राधे का शरीर योंही शिथिल हो रहा था। दो-तीन मिनट में ही उसकी आँखें झपक गयीं।

थोड़ी देर में ट्रेन इलाहाबाद स्टेशन पर आकर खड़ी हो गयी। आगन्तुक चुपचाप उससे उतर कर प्लेट-फ़ार्म पर आ गया। सुनन्दा ने उठ कर पास की खिड़की खोल ली। तब वह व्यक्ति उसी खिड़की के निकट आकर बोला—

"अब तुम जाओ सुनन्दा। मैं भी अपना रास्ता पकड़ता हूँ। मैं तुम्हारा क्या विश्वास करूँ, जब मुझे अपना ही विश्वास नहीं रहा। अपने प्राणों का मोह तो मैं संवरण कर सकता हूँ, किन्तु तुमको स्वामी रूप में यह जो देवता मिला है, उसके विमल जीवन के उत्तरंग मोह को मैं किसी तरह का आघात नहीं पहुँचा सकता।...बस जाता हूँ।"

इसी क्षण राधे हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ और बोला—"यह आदमी जाते वक्त क्या कह गया, तुमने कुछ सुना? यह कौन था? कौन था यह? क्या तुम इसे जानती हो?"

सुनन्दा का सुमन-शोभन मुख, बात की बात में जैसे स्याह पड़ गया हो। उसने चाहा, उसकी आँखें नतमुखी हो जायँ, किन्तु वह राधे की ओर, उसी अस्थिर दृष्टि से, देखती ही रही। टस-से-मस तक न हुई। हाँ, उसकी आँखों की पुतलियाँ कुछ चमकने ज़रूर लगीं। एक बार उसके मन में यह भी आया, वह कह दे—'मैं क्या जानूँ, कौन था! मैं तो सो गयी थी। गाड़ी खड़ी हो जाने पर, स्टेशन के शोर-गुल से मेरी नींद उचट गयी, तभी मैं उठकर बैठ गयी।' किन्तु वह अपने आप को सदा के लिए बदल जो चुकी है, स्वामी के आगे वह झूठ कैसे बोले? क्षण-भर को इस सङ्कल्प-विकल्प के पश्चात् उसने अत्यन्त दृढ़ होकर कह दिया—जानती हूँ। वह मेरा मित्र रह चुका है। इधर कुछ दिनों से विक्षिप्त सा रहता है।

अब सब कुछ राधे की समझ में आ गया। एक-एक करके उसकी सारी बातें उसे याद आने लगीं।

ओः उसने कहा था—"लेकिन यह सब बेकार है। आप मुझ जैसे अभागे व्यक्ति को कभी याद नहीं कर सकते!...मैं आप की स्थिति में होता—आपने यह बात कह कैसे डाली! आपने यह न सोचा कि उस स्थिति की कल्पना न मैं कर सकता हूँ—न आप कर सकते हैं! इस ट्रेन में जो एक बरात जा रही है, वह...!"

करुणार्द्र हो-होकर राधे अतिशय आन्दोलित हो उठा। इधर ट्रेन अपनी चरम गति की तीव्रता से धक-धक् करती चली जा रही थी। उधर राधे का हृत्पिण्ड धक-धक् कर रहा था। अन्त में अपनी जीवनगत सम्पूर्ण निपीड़ित मानवता को जैसे मुट्ठी में भर कर, एक ही दाँव के आगे फैलाता हुआ वह बोला—तुम उसके साथ जाना चाहो, तो उसे खोज कर मैं तुम्हें सौंप सकता हूँ।

रुद्ध कण्ठ से सुनन्दा बोली—मैं जानती हूँ, तुम ऐसा कर सकते हो! तभी तो मैं तुम्हें पा सकी हूँ। लेकिन मैं तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ कि वह मेरा कोई नहीं है। रही गयी उसकी बात। सो मनुष्य के इस पागल मन को तुम बाँध भी सकते हो कि बाँधने ही चले हो! मेरे सिर में योंही कौन कम दर्द रहता है, तुम और जो ऐसी बातें करोगे, तो मैं बावली हो जाऊँगी। भावगर्वित राधे तब सुनन्दा के बर्थ पर आ गया।



सहशिक्षा भारतीय समाज के लिए विष का घूँट है

[श्री० माहेश्वरीप्रसाद सिंह, विशारद]

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय समाज के लिए वर्तमान समय में सहशिक्षा कितनी हानिकर है। सहशिक्षा के विरोध की काफ़ी चर्चा पत्रों में भी हो चुकी है। सहशिक्षा के प्रयोग के लिए महात्मा गाँधी जी ने अपने साबरमती आश्रम में एक ही साथ लड़के और लड़कियों को शिक्षा देने का कार्यक्रम बनाया था और साथ ही साथ व्यायाम करने का, खाने-पीने आदि का भी! परन्तु इसका परिणाम उल्टा निकला। इस प्रकार देखा गया कि सहशिक्षा भारतीय सभ्यता के प्रतिकूल है। तो भी सहशिक्षा के प्रेमी भाई अपने मत की पुष्टि के लिए अनेक तर्क करने में ही अपनी सफलता समझते हैं।

इसी बात को लेकर आज अखबारी दुनिया में चहल-पहल मची हुई है। किसी भी पत्र-पत्रिका को उलट जाइए, अवश्य आपको सहशिक्षा के सम्बन्ध में कुछ न कुछ समाचार मिलेंगे ही। जहाँ आप सहशिक्षा के पक्ष में कुछ पढ़ते होंगे, वहाँ आप उसके विपक्ष में भी कुछ न कुछ अवश्य पढ़ते होंगे। अतः इस प्रकार की रीति परम्परा से चली आ रही है, अच्छा और बुरा संसार में सब दिन से है और जब तक यह संसार है, तब तक यह रहेगा ही। संसार में भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले मनुष्यों का रहना स्वाभाविक है और रहेगा। यदि सबका विचार एक सा हो जाय तो समझना चाहिए कि संसार की भी इतिश्री है।

मनुष्य अपने रुचि-वैचित्र्य के अनुसार किसी वस्तु को अच्छा या बुरा समझता है, किन्तु मेरा कथन है कि जिस समय कोई मनुष्य संसार की अप्रिय वस्तु को भी प्रिय समझने लगता है, उस समय उसके प्रति जन-साधारण का बिगड़ना एक स्वाभाविक बात हो जाती है। सबों के हृदय में उसके प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है और उसे दूर करने के लिए सभी तन्मय दिखाई पड़ते हैं।

सहशिक्षा के सम्बन्ध में भी यही बात लागू हो सकती है, कारण ज्यों-ज्यों सहशिक्षा का प्रचार करने के लिए आयोजन किया जाता है, त्यों-त्यों इसका घोर विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। प्रायः भारत के इने-गिने दो-चार सहशिक्षा-प्रेमियों को छोड़ कर यह देखने में आता है कि सभी भारतीय सन्तान एक स्वर से सहशिक्षा का घोर विरोध कर रहे हैं। सचमुच सहशिक्षा भारतीय समाज के लिए उपयुक्त है अथवा अनुपयुक्त, पाठक स्वयं समझ सकते हैं, परन्तु इस समय यह एक गम्भीर विषय हो गया है, इसलिए प्रत्येक भारतीय को इस विषय का पूरा अध्ययन करना चाहिए और अपने अध्ययन के बल पर सहशिक्षा के संबंध में निष्पक्ष भाव से विचार करना चाहिए। भारतीय-समाज में सहशिक्षा का प्रचार परिणामतः अच्छा नहीं हो सकता। कारण, प्राच्य और पाश्चात्य सभ्यता में बहुत कुछ विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। भारतीय सभ्यता के अन्तर्गत जो आदर्श हमारी मातृ-जाति में दृष्टिगोचर होता है, वह आदर्श आज पाश्चात्य महिलाओं में यूरोपीय सभ्यता के अन्तर्गत नहीं है।

जिस शिक्षा के द्वारा आज अङ्गरेज महिला हम भारतीयों के बीच पूज्य दृष्टि से देखी जाती है और उसका अनुकरण हमारी देवियों को कराया जाता है, जिस तत्परता के साथ भारतीय बच्चे और बच्चियों को अङ्गरेजी शिक्षा-दीक्षा दी जाती है, यदि उसी तत्परता के साथ, उसी उत्साह के साथ आज भारतीय संतान को निजत्व का बोध कराया जाय, अङ्गरेजी के स्थान में निज भाषा में शिक्षा-दीक्षा दी जाय, तो कभी ऐसी

स्थिति ही न उत्पन्न हो कि हमें सहशिक्षा का समर्थन करना पड़े। यों तो बाहरी दृष्टि से सहशिक्षा में जो तड़क-भड़क, शान-शौकत, आदि बातें पायी जाती हैं उसे देख कर हमारे कुछ भाई उसके फेर में पड़ गये हैं और पश्चिमी सभ्यता के रङ्ग में रंग कर उसे उपयोगी बतलाते हैं। मेरे जानते यह उनका शुद्ध भ्रम है।

वे कहते हैं—आज भारतीय महिलाएँ अशिक्षित हैं, इस प्रकार की बुराई को दूर करने के लिए एक ही उपाय दृष्टिगोचर होता है और वह है सहशिक्षा यानी लड़के और लड़कियों को एक ही पाठशाला में शिक्षा-दीक्षा दी जाय—इससे जल्द हमारी महिलाएँ शिक्षिता हो जायँगी। पश्चिमी सभ्यता के अन्तर्गत सहशिक्षा एक विशेष गुण है और उसका ग्रहण करना हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए, क्योंकि स्वदेशोन्नति में यही एक बाधा है, जिससे आज भारत गुलाम बना हुआ है। स्त्रियों के साहचर्य से पुरुषों में कोमल भावनाएँ जाग्रत होती हैं, जिससे उनका जीवन सुखमय व्यतीत होता है। स्त्री और पुरुष परस्पर एक दूसरे के दबाव में नहीं रहते, जिससे उनके भावी जीवन में किसी प्रकार के दुख की आशङ्का नहीं की जा सकती।

ऊपर लिखित बातों से पाठक अच्छी तरह समझ गये होंगे कि सहशिक्षा को उपयोगी बनाने वाले हमारे भाई केवल पाश्चात्य तड़क-भड़क के प्रभाव में आकर अङ्गरेज महिलाओं के सदृश ही भारतीय महिलाओं को बनाना चाहते हैं। इस प्रकार का कार्य भारतीय सभ्यता के विरुद्ध और सर्वथा अनुपयुक्त है। हमारा उन भाइयों से नम्र निवेदन है कि इस प्रकार केवल बाहरी दृष्टि से न देख कर आन्तरिक दृष्टि से यूरोप आदि देशों का इतिहास उलट जाँय तो आपको पता लगेगा कि वहाँ की वास्तविक परिस्थिति कैसी है। आज सहशिक्षा की बदौलत इङ्गलैण्ड अमेरिका आदि देशों के निवासियों का सामाजिक जीवन दुरूह हो उठा है। वहाँ दाम्पत्य-प्रेम शायद ही किसी को प्राप्त हो, क्योंकि वहाँ की स्त्रियाँ स्वतंत्र होती हैं और उनके लिए पुरुष एक खिलौने के समान हैं। वे जब चाहती हैं अपनी इच्छानुसार नित्य नया संबंध जोड़ती और अपने को धन्य समझती हैं। वहाँ की स्त्रियाँ बड़ी लालची और सुन्दर पुरुषों को फँसाने की ताक में रहती हैं। इस रोग से यूरोप का कोई देश अछूता नहीं है। विशेषकर अमेरिका में आधुनिकता ही के प्रभाव से प्रवाहित होकर महिलाएँ उच्छृङ्खल बनी हुई हैं। वहाँ की स्त्रियाँ बड़ी विलासिनी और सौंदर्यप्रेमी होती हैं। वहाँ की स्त्रियाँ जब चाहती हैं, पति को जेल भेज सकती हैं या अन्य आपदाओं में फँसा सकती हैं। वहाँ के नियम स्त्रियों के नैतिक पतन के कारण बन रहे हैं। यही कारण है कि आज इङ्गलैण्ड, अमेरिका आदि देशों में आतङ्क छाया हुआ है। इस प्रश्न को सुलझाने में बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ लगे हुए हैं और स्त्रियों का सारा अधिकार छीन कर पुरुषों को देना चाहते हैं। हाल ही में एक अखबार में एक लेख छपा था, जिसमें अमेरिकन स्त्रियों का अपने पतियों के साथ के व्यवहार का कारुणिक दृश्य खींचा गया था, जिसे पढ़ कर हृदय काँप उठा। स्त्रियों की स्थिति के कारण ही इङ्गलैण्ड, अमेरिका आदि के निवासी इस प्रकार तबाह हो रहे हैं, और इसे रोकने के लिए आकुल हो रहे हैं। यह प्रश्न आपके सम्मुख उपस्थित है, फिर भी यह एक विचारणीय विषय है और अपने विचारानुसार सहशिक्षा को आप यथार्थ में और कहाँ तक भारतीय समाज के लिए उपयुक्त समझते हैं, इसे निष्पक्ष भाव से आप ही कहें।

अब पाठकों का समय न लेकर हमें आंशिक रूप में सहशिक्षा को भारतीय समाज के विपरीत बतलाते हुए तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना है।

पाश्चात्य देशों में और भारत में एक बड़ा अन्तर है। यहाँ स्त्री एक छिपी हुई शक्ति है, घर उसका क़िला है, कुटुम्ब उसका साम्राज्य है। वह गृह-लक्ष्मी है। वह भारतीय सामाजिक और आध्यात्मिक गुणों का उद्गम है। अनेक महान पुरुष अपनी माताओं के कारण ही आदर्श पुरुष हुए। जो लोग यह समझते हैं कि यहाँ की स्त्रियाँ अकर्मण्य, आलसी और मूर्ख हैं, उन्हें वास्तव में भारत का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हुआ है। उनके सदाचारी, कार्यदक्ष और बुद्धिमान होने में कोई संदेह नहीं। उनमें कमी है साक्षरता की और सार्वजनिक जीवन के साथ सहानुभूति की।

मेरी धारणा स्वप्न में भी स्त्री-शिक्षा के विरोध करने में नहीं है, किन्तु अपने अधिकारों और कर्त्तव्य-कर्मों को समझने के लिए सहशिक्षा की आवश्यकता ही नहीं है। केवल सहशिक्षा के द्वारा किसी भी महिला का एम०ए०, बी०ए० होना आवश्यक नहीं है, यह ज्ञान अलग साधारण शिक्षा से भी प्राप्त किया जा सकता है। फिर पश्चिमी सभ्यता के अनुसार सहशिक्षा द्वारा उच्च शिक्षा-प्राप्त महिलाएँ कहाँ तक सफल गृहिणी बन सकती हैं; इसे स्वयं भोक्ता पुरुष ही जानते होंगे। यह मातृत्व का ह्रास नहीं तो क्या है?

इसके साथ ही हम अल्प शिक्षा के भी विरोधी हैं। स्त्रियों को केवल अक्षर-ज्ञान प्राप्त करा कर शुद्ध पठन-पाठन की आशा करना आकाश-कुसुमवत है। मैं मानता हूँ कि भारत में बहुत सी ऐसी देवियाँ है जो सिर्फ अक्षर-ज्ञान के द्वारा ही आगे चल कर अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं, पर यहाँ ऐसी देवियों की भी कमी नहीं है, जो अक्षर-ज्ञान के सहारे अश्लील पुस्तकें पढ़ती हैं और कभी-कभी पतिता भी हो जाती हैं। इसलिए भारतीय महिलाओं को इतना ज्ञान अवश्य करा देना चाहिए जितने से वह अच्छी तरह अपने अधिकार और कर्तव्य को समझ-बूझ सकें। यह कार्य महिला-विद्यालयों द्वारा सहज में हो सकता है।

आज हमारी जो महिलाएँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर इधर-उधर विचरण करती हुई पायी जाती हैं, क्या वे समाज को पूर्ण बना सकी हैं? वास्तव में सहशिक्षा के साथ ही उच्च शिक्षा भी भारतीय स्त्रियों के लिए लाभदायक नहीं हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उच्च शिक्षा-प्राप्त महिलाओं से तो आज हमारी अशिक्षित स्त्रियों का गृह-जीवन ही अच्छा है। ये गृहस्थी के काम, सीना-पिरोना, भोजन पकाना इत्यादि अच्छी तरह कर सकती हैं। ये अपने बच्चों को इतना हृष्ट-पुष्ट रखती हैं कि जितना आजकल विदेशी साबुन तथा इत्र-फुलेल लगा कर रखना संभव नहीं है। इन्हें सौ-पचास देशी दवाइयाँ भी मालूम हैं जिनसे ये साधारण दवा-दारू भी कर लेती हैं और ज़रा सी बातों के लिए डॉक्टरों या वैद्यों के पास नहीं दौड़तीं।

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से पुरुष और स्त्री का कार्य सर्वथा भिन्न है। सचमुच में सहशिक्षा भारतीय स्त्री के लिए विष के समान है। प्रायः देखा जाता है कि जिस तेज़ी के साथ आजकल पञ्जाब, मद्रास तथा बङ्गाल आदि प्रांतों में सहशिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है, उसी तेज़ी के साथ आज वहाँ की महिलाएँ पश्चिमी सभ्यता का अनुकरण करने लग गयी हैं। प्राकृतिक सौंदर्य को नष्ट करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के विदेशी प्रसाधनों का व्यवहार करती हैं। अङ्गरेज़ महिलाओं के सदृश वेषभूषा बना कर इन्द्रलोक की परियों की नक़ल करने लग गयी हैं। यही तो शिक्षा है और यही उसका दुष्परिणाम है। अतः सहशिक्षा-प्रेमी भाइयों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे इस प्रकार अपनी थोथी दलीलों को लेकर राष्ट्र के व्यापक हित में बाधक न बनें। सहशिक्षा भारत के लिए सर्वथा विष तुल्य है। जिसको दूर करने के लिए हमें प्राणपण से लग जाना चाहिए, तभी देश, जाति की और अपनी भलाई होगी।



वर्ण-व्यवस्था की छीछालेदर

[कुमारी विश्वमोहिनी व्यास]

प्रत्येक देश की प्रजा आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक कारणों से भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त देखी जाती है। किन्तु भारतवर्ष में हिन्दू-जाति जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था के नियमानुसार विभक्त है वह एक अनोखी चीज़ है। समस्त भूमण्डल में इस प्रकार की व्यवस्था ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष भी इसी भूमण्डल का एक भू-खण्ड है और जैसे-जैसे परिवर्तन इस देश में होते रहे हैं, वैसे ही या उनसे मिलते-जुलते परिवर्तनों का सामना अन्य देशों को भी करना पड़ा है। फिर भी भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति, विकास और प्रसार का जो स्वरूप हमारे सामने है, वह संसार के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। अन्य देशों में जहाँ वर्ग विभाजन एक दबाव का परिणाम दिखाई पड़ता है वहीं भारतवर्ष में यह एक नैतिक और उचित सामाजिक नियम के रूप में विद्यमान रहा। प्रायः यह देखा जाता है कि भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग अपने को उस वर्ग का सदस्य होने के नाते गौरवशाली और सन्तुष्ट सदस्य समझते हैं।

आधुनिक वर्ण-व्यवस्था कोई नई चीज़ नहीं है। वैदिक काल में ही चार वर्णों का निर्माण हो चुका था। ऋग्वेद के मन्त्रों में चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है। जिस समय आर्यों की संख्या बहुत बढ़ गई और उन्हें भारत के मूल निवासियों के साथ युद्ध करने के कारण यज्ञादि के लिये यथेष्ट समय न मिला तब उन्होंने वर्णों की रचना कर दी। सुविधानुसार आर्य्य जाति चार वर्गों में विभक्त की गई। ब्राह्मण वेदों का पाठ करते और यज्ञादि कराते थे, क्षत्रिय शत्रुओं से युद्ध करते, वैश्य व्यापार और खेती करते थे और शूद्र अन्य वर्णों की सेवा करते थे। ऐसा विदित होता है कि अधिकांश शूद्र भारत के मूल निवासियों की सन्तान थे, जिन्हें आर्यों ने युद्ध मे पराजित किया था। कालान्तर में और भी अनेकों भेद हो गये। आर्य लोग गौर वर्ण के थे, इसलिये वे काले वर्ण के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। यही काले लोग धीरे-धीरे शूद्र कहलाने लगे।

हमारी भारतीय वर्ण-व्यवस्था का हमारे धर्म-शास्त्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। वेदों में प्रायः दो वर्णों के ही नाम आते हैं, एक आर्य और दूसरे दस्यु। आर्य्य अधिक सभ्य थे तथा दस्यु अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही थे। आर्य्य अधिक शक्तिशाली भी थे इसी कारण उन्होंने भारत के मूल निवासियों को सुगमता से हरा दिया। इन दो वर्णों को छोड़ कर दो-एक स्थानों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चार वर्णों का भी नाम आता है। परन्तु मुख्यतः दो ही वर्णों की प्रधानता है।

यदि क्रमानुसार देखा जाये तो विदित होगा कि स्मृति-निर्माण के युग में हमारी वर्ण व्यवस्था काफ़ी दृढ़ हो गई थी। ये चार वर्ण उस समय और भी अनेक प्रकार के भागों में विभक्त हो गये थे। याज्ञवल्क्य स्मृति के वर्ण-जाति-विवेक-प्रकरण में एक स्थान पर लिखा है कि सजातीय पुरुषों और सजातीय स्त्रियों में शुद्ध विवाहों से सन्तान के बढ़ाने वाले सजातीय पुत्र ही उत्पन्न होते है। यदि भिन्न जातीय विवाह हो तो भिन्न प्रकार की सन्तान होती है। जैसे यदि ब्राह्मण का क्षत्रिया से विवाह हो तो मूर्द्धावसिक्त, वैश्य कन्या से

अम्बष्ठ और शूद्र कन्या से निषाद वा पारासव पुत्र होता है। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार के भेद हो गये।

स्मृति-काल के बाद भी अनेक भेद हो गये और आज वही चार भेद बढ़ कर हजारों की संख्या में हो गये हैं, जिनको पृथक्-पृथक् करना कठिन हो गया है। अनेक जातियों के बनने में भारत के भौगोलिक पृथकत्व ने भी सहायता की। जिस प्रकार सरयू पार रहने वाले सरयूपारीण, कान्यकुब्ज देश के रहने वाले कान्यकुब्ज आदि। धर्म, व्यवसाय और भाषा की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न जातियों का बनना सुगम हो गया। ब्राह्मण हिन्दू समाज में सर्वश्रेष्ठ थे, उन्होंने रहन-सहन और स्वच्छता सम्बन्धी अनेक प्रकार के नियम बनाये। जिन लोगों ने इनका यथेष्ट पालन किया वे उच्च जाति के हो गये और जिन्होंने इनका कम पालन किया वे छोटी जाति के समझे जाने लगे। जो जाति ब्राह्मणों के आदर्शों के समीप रही वह अपेक्षाकृत उच्च हो गयी और दूसरी अपेक्षाकृत छोटी समझी गयी। कुछ लोगों का यह भी मत है कि अहिंसा के सिद्धान्त का भी जाति के विकास पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। जिन्होंने मांस भक्षण किया, वे नीच और परित्यक्त हो गये और इस प्रकार इन लोगों की एक भिन्न जाति हो गयी और इन लोगों में भी भेद हो गये। कालान्तर में जाति की व्यवस्था कठोर हो गई और उसने हिन्दू-समाज को जकड़ कर शक्तिहीन कर डाला।

हमारी वर्ण-व्यवस्था का आज जो दूषित रूप हो गया है, उसने हमारे समाज में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न कर दिये हैं और जिसका फल आज सारे भारत-वासियों को भोगना पड़ रहा है। परन्तु कोई भी वर्ण-व्यवस्था में सुधार के लिये प्रयत्न नहीं करता। आज जातियाँ इतनी छोटी-छोटी हो गई हैं और उसमें इतनी पृथकता दिखाई पड़ती है कि उसे देखकर विस्मय होता है। एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु यदि इनके मूल को देखें तो वे एक ही वृक्ष की भिन्न-भिन्न शाखाएँ विदित होंगी। भिन्न जातीय भाव के कारण एक दूसरे के प्रति हमारे भाव सङ्कुचित हो गये हैं। हम आज यदि देखें तो विदित होगा कि सहानुभूति का क्षेत्र तो सङ्कुचित हो गया है तथा उसके स्थान पर स्वार्थ ने अपना आधिपत्य जमा लिया है। आधुनिक वर्ण-व्यवस्था से एक और बड़ी हानि जो हो रही है वह है कि एक जाति के लोग अपनी कन्याओं का सम्बन्ध दूसरी जाति के लोगों में कभी भी नहीं करेंगे। ऐसा करने में वे अपना अपमान समझते हैं। चाहे उनकी अपनी जाति में कोई योग्य व्यक्ति न भी हो, वह अपने को उच्च रखने के लिये अनुपयुक्त व्यक्ति से ही सम्बन्ध कर देते हैं। केवल अपने को उच्च रखने के लिये वे एक निर्दोष व्यक्ति की बलि चढ़ा देते हैं। इससे स्त्री जाति तथा भारतीय समाज की बड़ी हानि हो रही है। लोगों में स्वाभाविक राष्ट्रीयता का भाव एकदम लुप्त हो गया है। एक जाति का दूसरी जाति से बहुधा परस्पर ईर्ष्या-द्वेष रहता है। और अधिकतर लड़ाई-झगड़े भी होते रहते हैं। आपस में सहयोग न होने के कारण जिस प्रकार सामाजिक उन्नति होनी चाहिये, नहीं हो रही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियों के लोग शूद्रों को नीच समझते हैं और उनको हेय दृष्टि से देखते है। यदि कोई चमार सारे कार्य क्षत्रियों के समान करता है, तो एक दूसरा क्षत्रिय इसमें अपना अपमान समझता है। जो व्यक्ति जिस जाति में उत्पन्न हुआ है उसको उसी जाति का जो पेशा हो वही करने के लिये नैतिक दृष्टि से बाध्य किया जाता है। इससे यह होता है कि वह उस कार्य को अपने मन से नहीं कर पाता, जिससे न तो उस कार्य की वृद्धि होती है और न और दूसरे की ही, जिसको वह करना चाहता है। कोई शूद्र जाति का व्यक्ति राजनैतिक कार्य करना चाहता है और यदि वह उन्नति करे तो बहुत उत्तम राजनीतिज्ञ हो भी सकता है, परन्तु यदि वह जाति का मोची है तो उसको वह आदर कभी न मिलेगा जो एक उच्च जाति के व्यक्ति को। इसी प्रकार कला-कौशल की उन्नति में बाधा पड़ी। प्राचीन समय में (आज से कुछ वर्ष पहिले) नृत्य एक हेय कला समझी जाने लगी थी। लोग नर्तकी और नर्तक को नीच समझते थे, इससे

नर्तक भी इस कार्य को उतने उत्साह से नहीं करते थे, जितने उत्साह से वे कर सकते थे और पहले करते आ रहे थे। परिणाम-स्वरूप नृत्य-कला की वास्तविक उन्नति न हो सकी। जुलाहे का काम और दूसरे कार्यों के समान ही सराहनीय, उपयोगी और आवश्यक है, परन्तु लोग इस कार्य को एक नीच कार्य समझते हैं। जो व्यक्ति इस जाति में जन्म लेता है वह भी समझता है कि यह उसका दुर्भाग्य है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो विदित होगा कि वर्त्तमान जाति-व्यवस्था प्रजा-सत्तात्मक नहीं है, क्योंकि प्रजातन्त्र राज्य में सब मनुष्य एक से समझे जाते हैं। परन्तु हमारी वर्णव्यवस्था सबको एक जैसा नहीं समझती। राष्ट्रीयता का अभाव भी इसी का परिणाम है।

जब संसार में कोई नियम, कोई विधान, कोई रीति, कोई प्रथा अथवा कोई संस्था अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती और उससे लाभ के बदले समाज को हानि पहुँचने लगती है तब किसी न किसी रूप में विनाश आरम्भ हो जाता है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देशों में सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक क्रान्तियाँ होती रही हैं। जिन देशों में लोगों ने समय की गति से लाभ उठाया है, वहाँ की सामाजिक दशा और देशों की अपेक्षा अधिक दृढ़ रही है और व्यर्थ के रक्तपात का अवसर भी नहीं आया। जिन देशों में क्रांतियाँ होती रहती हैं, वहाँ की व्यवस्था में कुछ अस्वाभाविकता का अंश आ जाता है और वह फिर नये सिरे से नियम में जकड़ जाता है, जो आगे चलकर फिर समय के प्रतिकूल हो जाता है। संसार प्रगतिशील है इसलिये संसार में रहने वाले मनुष्यों के सारे नियम, सारे कार्य भी प्रगतिशील ही होने चाहिये। एक नियम आज की स्थिति के हिसाब से बहुत लाभदायक हो सकता है, पर यह कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि वह सर्वदा इसी प्रकार लाभ पहुँचाता रहेगा। हो सकता है कि वही नियम आगे चल कर समाज तथा देश को हानि भी पहुँचाये।

इसलिये भारतवासियों को अब भी समय के साथ ही अपनी वर्ण-व्यवस्था के सारे नियमों में उचित परिवर्तन कर लेने चाहिये, अन्यथा फिर बड़ी भारी हानि का सामना करना पड़ेगा।

जीवन

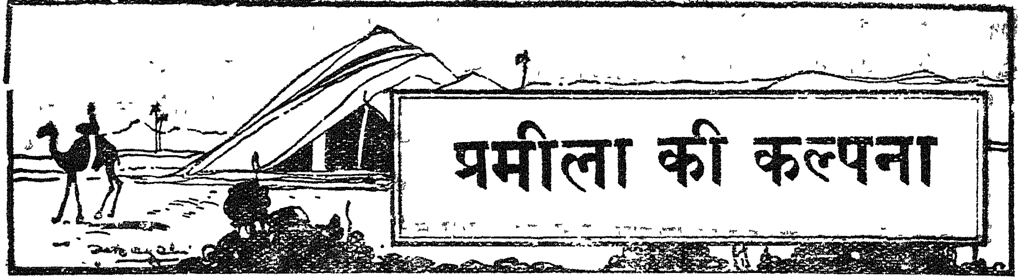
[श्रीमती सुशीलकुमारी मिश्र]

यह जीवन है गूढ़ पहेली !
सुलझाये से अधिक उलझने वाली ग्रन्थि अकेली।

आँसू में सुख तुलता रहता,
सुख की लहरें ले दुख बहता !
पता नहीं यह सुख-दुख क्या है—
कैसी अगम पहेली !

जीवन में कैसा रहस्य है—
समझ न कोई पाया—
सुख में दुख, दुख में सुख मिलता
अद्भुत खेल खिलाया—

विश्व-नियंता तेरी माया—
उलझन भरी पहेली !
जीवन है एक गूढ़ पहेली !



प्रमीला की कल्पना

[आचार्य, श्री जानकीवल्लभ शास्त्री]

आँखें भाग्यवश जिनकी आँखों की पुतलियाँ उजली पड़ जाती हैं, उन्हें 'स्वच्छ-दृष्टि' समझना गौर करने वाले की बारीकी का एक बड़ा सा नमूना होगा, अभाग्यवश अगर उसकी आँखें भी बारीक, मक्खी से होड़ करने वाली यानी औरों की निगाह में झटपट न आ सकने वाली न हों। आखिर 'अन्तर्दृष्टि' का और अर्थ ही क्या है, यही न कि उसकी आँखें बाहर नहीं, किन्तु आधुनिक नवयुवकों के नयनों की तरह धँसती-धँसती अनन्त के अन्तराल में अन्तर्धान हो गई हैं ?

आए दिन छायावाद के साए में आए, रहस्यवादी कवियों और आलोचकों को, बेचारे प्यारे पाठकों को समझने-समझाने के लिए, ऊपर के दोनों शब्दों (स्वच्छ दृष्टि और अन्तर्दृष्टि) को बार-बार प्रकाश में लाना पड़ता है। कहना पड़ता है, "प्रेमी पाठक 'स्वच्छ-दृष्टि' से हमारे गहन विचारों का अवलोकन और मनन करें; 'अन्तर्दृष्टि' से हमारे अन्तर के एकान्त-कान्त स्वच्छ कक्ष को प्रत्यक्ष करें।" यानी इनकी स्वच्छदृष्टिता तथा अन्तर्दृष्टिता के प्रमाण में पेश किए गए इन ज्वलन्त अक्षरों में त्वरत्व, अविश्वास या हिचक की जरा भी गुञ्जायश नहीं।

जिनके विचारों की कच्ची दीवार में बड़ी-बड़ी दरारें आरपार दीख पड़ती हैं, जिन्हें (दरारों को) 'अन्तर्दृष्टि' होने की वजह से, देख सकने में, उन्हें लाचारी महसूस करनी पड़ती है, उन्हीं की आकुल आत्माओं का निःशङ्क अङ्कन ऊपर की पंक्तियों में है। कह नहीं सकता, इस निबन्ध में बँधे मेरे मुक्त विचार उसी श्रेणी में परिगणित हो सकेंगे या नहीं, यद्यपि ये उपरिलिखित दृष्टिद्वय के दायरे के अन्दर भर में क़ैद होने के हामी नहीं।

प्रमीला माईकेल की कमनीय कल्पना का मनोरम निदर्शन है। अबला का इतना प्रौढ़-रूप साहित्य में एकदम कम अङ्कित किया गया है। राम-भक्ति की छाँह में ऊँघते हुए पाप-ताप तप्त समाज को, मुमकिन, सीता ही का ख्वाब लाजवाब जँचे, पर साहित्य के प्रकाश में प्रमीला की उन्मूलित-मूर्त्ति कम महत्त्वपूर्ण नहीं कही जा सकती। 'मेघनादवध' में रामपक्ष की कापुरुषता चाहे अनभिनन्दनीय हो, पर प्रमीला की प्रतिमा अवन्दनीय हो नहीं सकती। 'कल्याण' के विशेषाङ्क की तरह तुन्दिल; तगड़े, 'नैषध' में, सुप्रसिद्ध कलाकार श्रीहर्ष ने दमयन्ती के प्रस्तर-चित्र-निर्माण में जैसी अजन्ता की कारीगरी दिखलाई है—प्रमीला की झलमलाती तसबीर पर माईकल की अतुल तूलिका के रंग, वैसे ही, अमल कमल-दल पर बसन्त-प्रभात की स्वर्णिम किरणों के समान असमान मालूम पड़ते हैं।

जिसे बिच्छू की डङ्क का कोई खौफ़-खतरा नहीं वह योगी भी हो सकता है और जादूगर भी। स्वर्णलङ्काऽलङ्कार कर्बुर-वृन्द के व्यक्ति के आइने में अपने कवित्व की परिछाईं देखने वाला माईकेल साहित्य युग का कल्कि अवतार नहीं बल्कि कवित्व ब्रह्म का परिपूर्ण अंशुमय अंश भी था, उसकी प्रमीला निशाचरीय मनोवृत्ति की प्रौढ़ कल्पना नहीं, पङ्क से उत्पन्न पङ्कज-प्रकृति देवी-मूर्त्ति की कोमल कल्पना है। वह कल्पना, जो सचाई का नाश करने वाली महर्षि वाल्मीकि की रामायण, या

भक्ति की भव्य भावनाओं से लबालब भरे रामचरित मानस के लिए सम्भव नहीं।

रूप, जो विश्व को रूपवान् बनाता है, स्वयम् अरूप है। प्रेम, जो अमरत्व प्रदान करता है, स्वयं निर्जीव है। और प्रमीला, रूप तथा प्रेम की साक्षात् देवी—राक्षसी है—

"कालनेमी नामे दैत्य विख्यात जगते
सुरारि, तनया ताँर प्रमीला सुन्दरी।"

कालनेमी, जो देवतों के खिलाफ़ आवाजें कसते रहने और हमेशा की बग़ावत की वजह से दुनिया में काफी मशहूर हो चुका है, की सुन्दरी तनया इश्क और नज़ाकत की तुनुक पुतली नहीं, प्रेम के डगर में रूप के भार से डग भरती नाज़नी नहीं—

"महाशक्ति-अंशे, देव, जनम वामार
महाशक्ति-सम तेजः। कार साध्य आँटे
विक्रमे ए दानवी रे?"

महाशक्ति के अंश से पैदा होने वाली और महाशक्ति ही की तरह तेजस्विनी जिसका मुकाबला करना 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' की कौन कहे, बड़े-बड़ों के लिए भी बड़ा खतरनाक है।

—"दम्भोलि-निक्षेपी
सहस्राक्षे ये हर्यक्ष बिमुखे संग्रामे,
से रक्षेन्द्र, राघवेन्द्र, राखे पदतले
विमोहिनी, दिगम्बरी यथा दिगम्बरे।"

लड़ाई में इन्द्र की इज्जत का कचूमर निकालने वाले राक्षसेन्द्र मेघनाद को पैरों तले रखती है, जैसे काली शङ्कर को।

यह है उस वीर-तनया, वीर-पत्नी, वीर-वधू और वीर-बाला का संक्षिप्त परिचय। प्रेम, शौर्य्य और सौन्दर्य्य की गरिमा पतिप्राणा प्रमीला का अपना अनूप रूप। पर स्त्री की कल्पना शौर्य्य से नहीं, प्रेम और सौन्दर्य्य से शुरू होती है। शौर्य्य उसका आहार्य्य गुण है, पर प्रणय की सहजन्मा है वह। उसका ग़रूर पति है मजबूत बाजू नहीं। उसका वासन्तिक विकास सतीत्व है, यौवन नहीं। कहना चाहिए, अर्जित शौर्य्य उसके सतीत्व की रक्षा, और संसृति के सकल अन्तरायों पर विजय प्राप्त करते हुए पतिदेव के पावन पाद-पद्मों तक बेरोक टोक पहुँचने देने का मददगार भर है। सती प्रमीला भी ऐसी ही सुशीला है। है कोई हृदय-हीन ऐसी, "प्रियेष सौभाग्यफला हि चारुता" के सुचार-विचारों वाली वीर्य्यवती, मेघनाद की परम प्रेयसी प्रमीला को राक्षसी मानने के लिये ज़िद्द किए बैठा?

शौक के लिए क़िले के बहुत दूर बाहर प्रमोदवन बना हुआ था। यह लङ्का का स्वर्ग था। अपनी खास-खास सहेलियों के साथ प्रमीला आज यहीं, राह में निगाह गड़ाये बैठी है। उसका शौहर दुश्मनों के सामने जौहर दिखाने गया हुआ है, इसलिए बहार के न होने से बाग़ का नक्शा ही बदल गया है। बेचारी बेताब हो रही है—"क्या वजह, वह अब तक लौटे नहीं, क्या लड़ाई में... ......?"

"प्रमोद-उद्याने काँदे दानव-नन्दिनी
प्रमीला, पति-विरहे कातरा युवती।
अश्रु-आँखि विधुमुखी भ्रमे फूलवने
कभु, व्रज-कुञ्ज-बने, हाय रे येमनि
व्रजबाला, नाहिं हेरि कदम्बेर मूले
पीतधड़ा-पीताम्बरे, अधरे मुरली।
× × ×
चारिदिके सखी-दल यत,
विरस-बदन, मरि, सुन्दरीर शोके!
केनो जाने फूलकुल विरसवदना,
मधुर विरहे एबे तापे वन-स्थली।"

वह सोचती है—"चलते ही वक्त मेरा मन जाने क्यों उन्मन हो रहा था, मैंने कितने करुणापूर्ण शब्दों में अपने विरह की बाबत बातें बताई थीं, पर उन्होंने तो मुसकुरा कर जवाब दे दिया था—'मैं तुम्हें छोड़कर, तुमसे प्रेम सम्बन्ध तोड़कर कहाँ कहीं जा रहा हूँ, मैं अभी राघव का विनाश कर लौट आता हूँ—

इन्द्रजिते जिति तुमि सति,
बैंधेछ ये दृढ़ बाँधे, के पारे खुलिते
से बाँधे? त्वराय आमि असिव फिरिया
कल्याणि, समरे नाशि तोमार कल्याणे
राघवे। विदाय एबे देह, विधुमुखि!'

पर इतनी देर हो गई, यह दिन भी बीत चला, उनके लौटने का कोई लक्षण इस क्षण तक नहीं दीख रहा; अब क्या होगा ?

रात भी आई, पर मेघनाद न आया। अब शबे-फ़ुरक़त की बेताबी की बारी आई। प्रमीला की प्रेमलीला वृद्धि पर रही। अत्यन्त अधीर हो सखी वासन्ती से कहने लगी, "यह देखो, काल-भुजंगिनी के समान मुझे डँसने के लिए काली रात आ पहुँची। सखि, इस भयङ्कर समय में वह कहाँ होंगे ? वह तो तुरत आने के लिए कहकर गये थे, पर इतनी देर हो गई, लौटे नहीं ! मेरी समझ में तो यह बात कतई नहीं आ रही, अगर तुम्हें कुछ मालूम हो तो बताओ।" वासन्ती ने बताया उसे इस क़िस्म से घबराने की कोई ज़रूरत नहीं। वह आते ही होंगे। इसलिए उन्हें विजयोपहार देने के लिए एक फूलहार तैयार करना चाहिए। सब फूल बीनने गईं। गजरा तैयार हो गया, पर पसीने से तर, लड़ाई की बातें बताता हुआ, हौसला पूरा कर मेघनाद विजय-हार पहनने नहीं आया। अब प्रमीला के धैर्य्य का बाँध टूट गया, कलेजे के टुकड़े आँखों की राह पानी-पानी होकर बह निकले। सँभालने की कोशिश करती हुई कुछ डेग रपट कर ढेर होती होती बची; कातरता और शौर्य्य का सामञ्जस्य सा करती बोल उठी—

"एई त तुलिनु
फुलराशि; चिकनिया गाँथिनु, स्वजनि,
फुलमाला; किन्तु कोथा पाव से चरणे,
पुष्पाञ्जलि दिया याहे चाहि पूजिवारे !
के बाँधिल मृगराज बुझिते ना पारि।
चल, सखि, लङ्कापुरे याई मोरा सवे।"

"सखियो, फूल तो चुन लिए और गूँथ-गूँथ कर गजरा भी बना डाला, पर उन चरणों का तो कहीं पता ही नहीं जिनकी पूजा कर यह पुष्पाञ्जलि अर्पित करती ! उफ़, यह तो मेरी समझ में आता ही नहीं कि किसने सिंह के गले में जंजीर डाल दी ! सखियो, अब चलो, चलें लङ्का की ओर।"

वासन्ती ने समझाया—"आज तुम लङ्का में किस प्रकार प्रवेश करना चाह रही हो, वहाँ तो राघवीय सेना अलङ्घ्य सागर के समान लहरा रही है। लक्ष-लक्ष रामपक्षीय सिपाही नगर के चारों ओर मँडला रहे हैं, हाथों में अस्त्र-शस्त्र धारण किये, साक्षात् यमराज के समान।" यह सुन कर प्रमीला तो आग-बबूला हो गई। बोली—"क्या कहती हो, वासन्ति ? जब नदी सिन्धु से मिलने को निकल चलती है तो क्या दुनियाँ वालों में फिर यह ताकत है कि उसके प्रवाह को रोक दें ? मैं 'दानव-नन्दिनी' हूँ, 'रक्षःकुल वधू', मेरा श्वसुर 'रावण', और पति 'मेघनाद' है। सुनती हो, मैं उस भिखारी राम से क्योंकर डरने लगी ? आज मैं अपनी भुजाओं के ज़ोर से लङ्का के भीतर पैठूँगी और देखूँगी किस तरह राम मुझे रोकते हैं !

"कि कहिलि, वासन्ति ? पर्वत गृह छाड़ि
बाहिराय यवे नदी सिन्धुर उद्देशे,
कार हेन साध्य ये से रोधे तार गति ?
दानव नन्दिनी आमि; रक्षः-कुल-वधू;
रावण श्वसुर मम, मेघनाद स्वामी ;—
आमि कि डराई, सखि, भिखारी राघवे ?
पशिव लङ्काय आजि निज-भुज-बले ;
देखिव केमने मोरे निवारे नृमणि ?"

वामा-दल-बल के साथ प्रमीला चल पड़ी। कुछ देर बाद लङ्का के पश्चिम फाटक पर पहुँची। एक ही साथ सैकड़ों शंख बजाये गये और स्त्रियों ने सैकड़ों धनुष एक ही साथ टंकृत किये। फिर क्या था ?

"काँपिल लङ्का आतंके; काँपिल
मातंगे निषादी; रथे रथी; तुरङ्गमे
सादीवर; सिंहासने राजा; अवरोधे
कुलवधू; विहङ्गम काँपिल कुलाये;
पर्वत-गहरे सिंह; बनस्थली बने;
डूबिल अतल जले जलचर यत।"

इस फाटक के पहरेदार हनूमान् जी थे। उन्होंने अपने अधिकार के अनुकूल कुछ प्रतिकूल बातें कीं। 'नृमुण्डमालिनी' नामक सखी ने उन्हें गहरी फटकार बताई। आख़िर राम के कानों तक प्रमीला की कामना पहुँची। उन्होंने उसके सतीभाव पर प्रमोद और विस्मय प्रकट करते हुए लङ्का-प्रवेश की अनुमति दे दी। नृमुण्ड-

मालिनी ने दैन्य-भाव से प्रमीला की याचना राम के सामने नहीं बताई थी, साफ़-साफ़ कहा था—'हम हमेशा लड़ने को तैयार हैं, बाज़ू के ज़ोर से लङ्का में पैठना है हमें।' पर राम ने लड़ने का नाम तक न लिया। हनूमान् रास्ता दिखाने के लिए चले, तो प्रमीला के मुँह से उग्र शौर्य्य-वीर्य्य की स्वर्ण वर्णावली निकली—

"रघुबर पति-बैरी मम ;
किन्तु ता बलिया आमि कभू ना विवादि
ताँर संगे। पति मम वीरेन्द्र-केशरी,
निज-भुज-बले तिनि भुवन-विजयी ;
कि काज आमार यूझि ताँर रिपु सह ?"

"मुझे मालूम है कि राम मेरे पतिदेव के विरोधी हैं, फिर भी मुझे उनके साथ छेड़खानी करने की तबीयत नहीं होती, कारण, मेरे पति वीरेन्द्र-केशरी* हैं, वे अपनी ही भुजाओं के बल से भुवन-विजयी हैं, मुझे उनके वैरी के साथ इस तरह लड़ाई कर मदद पहुँचाने की क्या ज़रूरत है!"

राह मिल गई। रात्रि का अज्ञानावरण चीर कर योगी की तरह प्रमीला ने पति-ब्रह्म का प्रकाश-पद प्राप्त कर लिया। मेघनाद को मानस-शुक्ति में प्रेम-मुक्ता की तरह प्रमीला संपुटित हो गई। स्वर्ण-सिंहासन ने दम्पती को हृदयासीन कर जीवित की तरह मुसकिरा दिया। सारी शूरता प्रणय की छाया में सो गई। विदाई के समय की विरह-भीरु प्रमीला-चण्डी सुलभ रोषावेश से अन्तराय के वीराने बञ्जर देशों को पार कर मिलन मन्दिर में प्रेम की देवी-प्रतिमा की तरह प्रतिष्ठित हो गई। पास-पड़ोस के लोगों की, सखी-सहेलरियों की, हँसी-खुशी का ठिकाना न रहा। एक ही पलक में—

"अरुण-पंख तरुण-किरण
खड़ी खोल रही द्वार। जागो"

* सिंह दूसरे के चोट किए शिकार को नहीं पसन्द करता। अपनी सिंहिनी की मदद भी उसे इस मामले में मंजूर नहीं। 'केशरी' शब्द इसी सुन्दर भाव की अभि-व्यञ्जना कर रहा है। —ले०

का समय आ गया। कुञ्जवन के पक्षियों का कलरव सुन वीरकुञ्जर मेघनाद जगा और प्रमीला के पद्म-कर को अपने कर-पद्म में लेकर, प्रेम की रहस्यात्मक कथाएँ गूँज-गूँज कर नलिनी के कानों में कहने वाले भौंरे की तरह—

"डाकिछे कूजने
हैमवती ऊषा तुमि, रुपसि तोमारे
पाखी कुल! मिल, प्रिये कमल-लोचने!"

अन्तरङ्ग के अन्तिम-स्तर तक का स्पर्श करने वाला प्रणय-सङ्गीत अलापने लगा। अङ्गड़ाइयाँ ले-लेकर नींद की ख़ुमारी उतारती हुई लट-पट सँभालती प्रमीला उठ बैठी फिर मेघनाद ने—'चल, प्रिये, एवे विदाय हईव नमि जननीर पदे' कह कर प्रमीला को साथ चलने के लिए तैयार किया, क्योंकि मातृ-पद-वन्दना के पश्चात् तुरत ही उसे यज्ञशाला जाना था, आज इसी यज्ञ की मदद से उसे लड़ाई फ़तह करनी जो थी।

भगवान् शिव के मन्दिर में मन्दोदरी पुत्र-विजय की उच्चाकांक्षा से निराहार, अनिद्र, आराधना पर थी। दम्पती के आगमन की बात सुन बाहर आई। विदाई की बात से उसकी आँखें छलछला गईं। उसने राघव-पक्ष के प्रभुत्व का डर दिखलाया, पर अभिमानी मेघनाद ने उसकी भीरुता का उपयुक्त समाधान कर दिया। फिर मन्दोदरी ने डबडबाई आँखों से पुत्र से एक याचना की कि उसके धैर्य्य के लिए वह प्रमीला को उसी के पास रहने दे। मेघनाद ने नाहीं नहीं की। प्रमीला भी राज़ी हो गई, वह पतिव्रतात्व के विज्ञापन की हठी न थी। जननी की पद-पूजा कर मेघनाद बाहर आया। रानी रोती हुई पतोहू के साथ घर के अन्दर चली गई। मेघनाद ने पालकी वहीं छोड़ दी, पैदल ही अकेला धीरे-धीरे यज्ञशाला की ओर बढ़ा।

"सहसा नूपुर ध्वनि ध्वनिल, पश्चाते
चिर-परिचित, मरि, प्रणयीर काने
प्रणयिनी पद-शब्द! हासिला वीरेन्द्र,
सुखे बाहु-पाशे बाँधि इन्दीवराननना
प्रमीला रे।"

अचानक चिरपरिचित मञ्जीर का मञ्जु शिञ्जन मेघनाद के उर के भीतर बजता सा मालूम पड़ा, वह वहीं रुक गया। हँसकर प्रमीला को बाहुपाश से कस लिया। वह फिर से मिलने आई थी।

"हाय, नाथ," कहिला सुन्दरी
भेवेछिनु, यज्ञगृहे याब तब साथे;
साजाईब वीरसाज तोमाय। कि करि ?
बन्दी करि स्वमन्दिरे राखिला शाशुड़ी।
रहिते नारिनु तबु पुनः नाहि हेरि
पद युग ! शुनियाछि, शशिकला ना कि
रवि-तेजे समुज्ज्वला; दासीओ तेमति,
हे राक्षस-कुल-रवि ! तोमार बिहने
आँधार जगत, नाथ, कहिनु तोमारे।"

रोकर कहने लगी कि मेरी साध आपके साथ यज्ञागार में जाने तथा वीरोचित सज्जा से आपको सज्जित करने की थी, पर क्या करूँ, सासु जी ने अपने मन्दिर में मुझे बन्दी बना लिया है। आपके चरणों के दर्शन न होने पर मेरे लिए दुनियाँ में अँधेरा ही अँधेरा है। जिस प्रकार सूर्य्य की रोशनी न मिलने पर चन्द्रकला म्लान पड़ जाती है, हे राक्षस-कुल-रवि, आपके बग़ैर अब मेरी भी ठीक वही हालत होगी।

मेघनाद ने धैर्य्य-पूर्वक समझा दिया कि राघव का विनाश कर उसे लौट आने में बहुत देर न होगी। फिर आज यज्ञ की मदद भी रहेगी। प्रमीला डबडबाई आँखें विदा दे देवी-देवते मनाने लगी।

दूसरी सुबह प्रमीला सोकर उठी तो उसे तरह-तरह की अमङ्गल-सूचक अनुभूतियाँ होने लगीं, क्षण-क्षण पति की विपदाशङ्का उसे सातङ्क करने लगी, फिर पुर-वासियों के आर्तनाद ने तो उसे बहुत ही व्यग्र कर दिया, उसने अधीर होकर सखी वासन्ती से कहा, और कहा ही क्यों ? साथ चलने के लिए अनुरोध भी किया, फिर दोनों शिवालय चली गईं। पर प्रमीला के प्राणेश का तो अवसान हो ही चुका था। जहाँ-जहाँ यह दुस्सम्वाद पहुँचा था, वहीं-वहीं से आर्तचीत्कृति सुनाई पड़ने लगी थीं। रावण को भी यह ख़बर बेख़बर करने के लिए मिली। ऐसे-ऐसे समाचार झूठे भी नहीं होते। और प्रमीला को ? उसे यह बात न मालूम हुई होगी ! हुई भी होगी, तो उसे तीव्र शीतलता का अनुभव हुआ होगा। इतनी शीतलता कि उसे वह्नि की विषम-ज्वाला भी शीतल मालूम पड़ने लगी होगी, अब वह वह्नि में ही शिशिरावगाहन करेगी। जब सीता को यह बात मालूम हुई तो वे अपने ही भाग्य को कोसने लगीं कि "उन्हीं की वजह से आज इतने महान् व्यक्तियों का नाश हुआ है।—

"मरिल वासवजित् अभागीर दोषे
आर रक्षोरथी यत, के पारे जनिते ?
मरिव दानव-बाला अतुला ए भवे
सौन्दर्य्ये ! वसन्तारम्भे, हाय लो शुकाल हेन फूल !

वसन्त के आरम्भ में कुसुम सूख रहा है, जो सौन्दर्य्य की प्रतिनिधि प्रमीला अब भस्ममात् होने जा रही है।"

आज अग्निदेव का देव-रूप प्रकट होने वाला है। उनकी, सब कुछ जला देने वाली शक्ति की अभिव्यक्ति का यह समय है। संसार का असार अश्रु-जल उन्हें शीतल नहीं कर सकता। आख़िर देव की ज्वाला ठहरी; प्रताप ठहरा !

"सुवर्णशिविकासने, आवृत कुसुमे
बसेन शवेर पाशे प्रमीला सुन्दरी,—
मर्त्ये रति मृतकाम सह सहगामी !
ललाटे सिन्दूर-बिन्दु, गले फूलमाला,
कङ्कण मृणालभुजे, विविध भूषणे
भूषिता राक्षसवधू।"

ललाट-पट पर सिन्दूर-बिन्दु लगाए, गले में फूल-माला डाले, कोमल करों में कङ्कण पहने, और भी विविध विभूषणों से विभूषित होकर राक्षस-वधू सुन्दरी प्रमीला सती होने सिन्धु के किनारे गई। परिजन-पुरजनों के अतिरिक्त उसके साथ प्रबल वामा-दल भी था। सागर-तीर पर पहुँच कर निशाचरों ने यथाविधि चिता रची। सुगन्ध चन्दन-काष्ठ ढेर के ढेर इकट्ठे किये गये, यही हाल घी का भी रहा। गङ्गा के पवित्र-जल से शव नहलाया गया। कौशेय-वसन पहिनाया गया। रक्षः पुरोहितों ने गम्भीर-स्वर से मन्त्रोच्चारण करना आरम्भ

किया। प्रमीला ने भी उस महातीर्थ में स्नान कर अपने सकल रत्नालङ्कार उतार दिये और उन्हें दान कर दिया। गुरुजनों को प्रणाम किया और अपने दैत्य बालादल को मधुर सम्भाषणपूर्व्वक कहा —

"लो सहचरि, एक दिने आजि
फुराइल जीव लीला जीवलीलास्थले
आमार ! फिरिया सबे जाओ दैत्यदेशे !
कहिओ पितार पदे ए सब वारता
वासन्ति ! मायेरे मोर"

"लो सखियो, यह एक आज का दिन है, जब मेरी इहलौकिक जीवन-लीला समाप्त हो चली ! तुम सब दैत्य-लोक वापस चली जाओ। सखि वासन्ति, वहाँ मेरे पिता से यहाँ की यह सब बातें बताना, और मेरी माँ से"— इतना कहते-कहते गला भर आया, वह चुप हो गई। और सकल वामादल हाहाकार कर उठा। फिर क्षण ही भर में अपने शोक को संवरण कर बोली —

"हाँ, मेरी माँ से कहना कि 'मुझ अभागिनी के भाग्य में जो कुछ विधाता ने लिख रक्खा था, वह एक दिन घटित हुआ। और तुम लोगों ने मुझे जिसके साथ सौंपा था—लो आज मै उसी के साथ चली। पति के अतिरिक्त सती के लिए और कौन सो गति इस जगती में है ?' सखियो, और मैं अब क्या कहूँ ? तुम सबों से मैं यही भिक्षा माँगती हूँ, कि दुनियाँ की उलझनों में पड़ कर मुझे हमेशा के लिए भूल मत जाना।" फिर प्रसन्नमुख पति के पद-तल में जा विराजी। राक्षसों ने बाजे बजाए। वैदिकों ने तार-स्वर से वेदध्वनि की। सामूहिक हाहाकार आकाश में गूँज गया। चारों ओर पुष्पवर्षा होने लगी। दम्पती ने अग्नि-रथ से स्वर्ग-प्रस्थान किया।

प्रमीला की यह मौलिक-कल्पना पूर्व और पश्चिम की मिश्रित भावनामयी, आमूल-नवल है। उद्दाम-स्फूर्त्ति प्रेम की मधुर मूर्त्ति की प्राण बनकर महाप्राण हो गई है, प्रमीला इसीलिए जीवित है। माइकेल के समय का वङ्ग-साहित्य पातिव्रत्य की शिक्षा-दीक्षाओं से ओत-प्रोत है, प्रमीला के चारित्रिक विकास के करण-कारण इसीलिए अकल्पित हैं। प्रमीला की सरलता, तरलता, कवि की आत्मा से सहज अनुप्राणित हैं, अनल्प अनुभूति ही प्रमीला कल्पना की विभूति है।

पर प्रमीला का चरित्र सब ओर से निष्कलमष ही नहीं है। 'आमि कि डराइ सखि भिखारी राघवे' का गरूर राम की सहज-सरल मनोवृत्ति के सामने वहाँ चूर-चूर हो गया है, जहाँ उसने निरर्थक उद्दण्डतापूर्ण व्यङ्ग्योक्ति की है—

"पति मम वीरेन्द्रकेशरी,
निज भुजबले तिनि भुवन विजयी
कि काज आमार यूझि ताँर रिपु सह !"

प्रमीला का सभ्य बधूभाव वहाँ अभावमय हो रहा है, जहाँ उसने मन्दोदरी की कातरतापूर्ण प्रार्थना पर सहवास स्वीकार कर पति के पास अपना छिछोरापन जाहिर किया है—

"कि करि ?
बन्दी करि स्वमन्दिरे राखिला शाशुड़ी !"

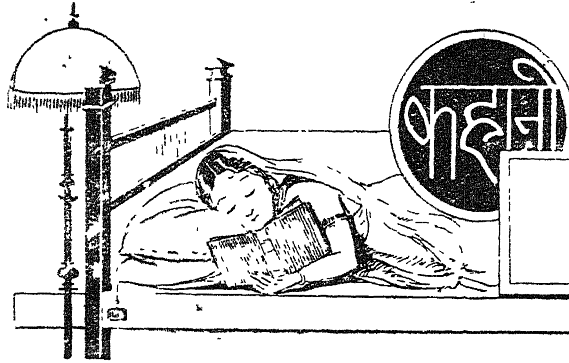
यहाँ की सीता भी उसके (दम्पति के) विनाश की बात पर उष्णतर दीर्घोच्छ्वास छोड़ती और अश्रु धार बरसाती हुई, उसके प्रगल्भ व्यक्तित्व को कम नहीं करतीं। इतनी उदारता प्रमीला के मानस-पटल में कहाँ ?

अगर तुलसी, भवभूति आदि की सीता सुकुमारी और रामप्राणा हैं, तो यहाँ की प्रमीला प्रचण्ड, रूप-गर्विता और पतिजीविता है। वासना का अंश प्रमीला के चरित्र-व्योम पर नीलिमा की कूची भर फेर सका है, पर वही सीता में अंशु बन गया है, आश्चर्य्य है ! फिर बाल्मीकि की सीता काफ़ी प्रौढ़ भी हैं, सुन्दरता में तो वह अपना सानी नहीं रखतीं—

"रूप अतन्द्र, चन्द्र मुख, श्रम रुचि,
पलक तरल तम, मृग-दृग तारे।'

तो भी प्रमीला की सृष्टि साहित्य का गर्व है। प्रमीला साहित्य स्वर्ग की देवी की कल्पना है। सौन्दर्य्य, शौर्य्य और सतीत्व का सूक्ष्म सामञ्जस्य यदि नारीत्व के विकासोल्लास का स्वर्गिक चरम सोपान है, तो निस्सन्देह प्रमीला उसी पद पर प्रतिष्ठित है ! प्रमीला 'मेघनाद' ही की नहीं, 'मेघनाद-वध' की भी प्राण है।





अचला

[श्री० 'पहाड़ी']

"इतना ऐश्वर्य" अचला अपने में गुनगुनाई। यह जानकर उसे भारी दुःख हुआ। समझ पाई कि भूल और ग़लती का बचाव न करना, अपने को पहचान से अलग हटाए रहना और.........। अब उसे लगा, कमरे के बीच वह अकेली, असहाय खड़ी है। आज तक की अपनी लापरवाही के प्रति अविश्वास कर वह थाह पा गई, कहीं ग़लती ज़रूर थी। दिल में एक कमी महसूस होती, अज्ञेय की ढूँढ़ कैसे हो। फिर.. ..। पाश्चात्य ढङ्ग पर सजा कमरा। दरवाज़ों पर सुन्दर इम्ब्रोडरी के पड़े परदे। बीच में प्रशियन बिछी दरी। दिवालों पर टँगे प्राकृतिक दृश्यों के चित्र व बनी खालें। और नीली साड़ी पर ओवरकोट पहिने आखिर अपने को कहाँ ले जाने तुली है। क्या एक-एक दिन जीवन का फ़िज़ूल काट कभी अपने से सवाल पूछेगी—अचला तू क्या है? यही क्या तू चाहती थी? यही तेरा धर्म था। इसी के लिए तूने जन्म लिया। तेरी चाहना और तृष्णा...?

वह जानती थी कि उसका सामाजिक दायरा अलग है। हर एक के साथ उसे चलना नहीं है। छोटी-छोटी पार्टियों से सम्बन्ध वह न रखेगी। कुछ गिने-चुने लोगों के बीच रह वहीं चबा-चबाकर बातें करते, एक फ़िज़ूल वक़्त भद्र श्रेणी वालों की पार्टियों, आई० सी० यस०, पी० सी० यस० के क्लबों, ब्रिज, पिकनिक में कट जाता है। इनसे वास्ता रख, अपने पर सोच लेने का उसे मौक़ा नहीं मिलता। दिन भर के ढेर से प्रोगामों के बाद जब वह अपने बङ्गले में लौटती है, तब इतनी थकी आती है कि चैन से गहरी नींद सो, दुनिया की बातों पर सोच लेने की उसे फ़ुर्सत नहीं। अपनी स्वतंत्रता में वह ख़ुश है। पिता नहीं, माँ नहीं और एक बड़ी दौलत की स्वामिनी बनी, अपने पिता के बनाये मान-सम्मान के बीच बाहर झाँक लेने का उसे मौक़ा नहीं मिलता। घर की बूढ़ी नौकरानियों के पुराने अधिकारों को मान्य मान, वह उनकी देख-रेख और पालन करना अपना कर्तव्य गिनती है।

अचला के जीवन में दुःखान्त की भावना उदित न हुई थी। यह उसने न सोचा था, एक दिन वह अपने को भी धोखा देवेगी। वह अब देर से समझी कि उसका जीवन रद्दोबदल चाहता है, 'क्या' वह नहीं जानी, समझी। इतना निश्चित कर पाई, जहाँ एक दिन ख़ुद ग़लती पकड़ेगी वहीं वह अपने को पकड़कर ठीक कर लेगी।

अचला के दिल में बैठा डर उसे डराने लगा। डर कर उसने मुलायम तकिए को छाती से लगा आँखें मूँद लीं। अपने को निपट अन्धकार के बीच सौंप कुछ वह टटोल लेना चाहती थी। बड़ी देर उस अन्धकार में कुछ रेखाएँ खींच, सही राह बनाना चाहती थी। अपने को असमर्थ पा दुःख होता। यह बात जान फिर मन भारी करती। मर्मान्तक पीड़ा में तिलमिला, ख़ूब गहरी साँसों के बीच, अपनी भीनी पलकों को खोल कर उसने पुकारा—"शारदा।"

नौकरानी आई, बोली—"क्या है बीबी ?"

"तू दिनेश को जानती है !"

नौकरानी ने अचला को देखा, कुछ नहीं बोली।

"वही ! जो उस दिन आया था !"

नौकरानी ने फिर अचला को देखा। बचपन से पालकर जिसे इतना बड़ा किया, उसे मूकता से सुझाना चाहती थी, उसे अब कुछ याद नहीं रहता। वह बहुत बूढ़ी हो गई है।

अचला ने चुपचाप रजाई ओढ़ ली। कमरे में ई० डी० क्लोन और इकलिप्टिस की महक बह रही थी। इसी में वह अपने दिल के जगे दुःख को सुला रही थी। उफ़ ! अचला ने करवट बदली। गहरी साँस ली। उसके जीवन में क्या 'यही' देखना था। आज उसकी परेशानियाँ, परेशानियों की तरह उसे छेड़तो क्यों उस पर क़ब्ज़ा कर रही थीं। कुछ हो, वह भूल क्यों नहीं जाती, सब कुछ, सारा व्यापार, सारी दुनिया और रोज़ की दुनियादारी को भी। दिनेश से अब उसे कोई वास्ता नहीं है। वह अपने को कमज़ोर साबित कर क्या नारी अभिमान को मिटा देगी, यही न। वह भी स्त्री है। उसकी भावनाएँ, विचार एक साधारण स्त्री की तरह हैं। वह भी उन्हीं तत्वों की बनी है, जो स्त्री का सहारा है, बल है। एक ओट, एक आसरे की चाह उसे तो नहीं। स्वामी और पत्नी की गहरी अनुभूति उभर कर उसे अब अपने में कहीं खींच, सिमेट न लें। 'प्रेम' वह नहीं मानती। वह उपेक्षा उसे लगता है। श्रद्धा वह मान लेने तय्यार है, उसकी वह भूखी है, उसकी हँसी उड़े, लोग मजाक करें, संसार अवहेलना कर ठुकरा दे, वह ......किन्तु.... ? वह डरेगी नहीं। उसका भी दिल है। वह भी बात समझ लेने वाली ताक़त रखती है। उसके दिल में भी नारी-आग है।

आज अचला ने अपना घमण्ड बिसार दिया। वह ज़रा सी बात, घटना, उस पर गहरा प्रभाव छोड़ गई। मि० माथुर से वह क्या चाहती है। हाँ, मि० माथुर सिविल सर्जन और उनका मान कुछ उसका मान थोड़े ही है। फिर भी मि० माथुर के प्रति उसका एक कर्तव्य है। वह उसे भले लगते हैं। वह एक ऐसा आदमी है, जो उसके दिल में गुदगुदी पैदा कर, समस्या गढ़ चला जाता है। उसकी बात मान लेने को वह तय्यार रहता है। कभी उसने अचला के नारी-हुकुम को नहीं टाला, उसकी फ़ुर्सत दुनिया की अपेक्षा लिए हो, अचला का वह साथ हर वक्त देता है।

इस मनबुझाव से भी अचला अपने को सान्त्वना न दे सकी। जो बात मन में उठी, वह उठती जाती थी। वह अपने को न पकड़ पाती। उसकी सारी सामर्थ्य चूकती लगी। सिर में दर्द था, मन में भारी उचाट, वह अलसाई एक ओर चुपके निश्चित सो जाना चाहती थी कि उसका दिमाग़ बिलकुल खाली रहे। वह खालीपन शायद उसकी पीड़ा को कम करेगा। अपने को दुनिया से नीची सतह पर गिन लेना वह न चाहती थी। यह ज़रूरत ठीक जँची। इस छोटी उपेक्षा के प्रति मन को, बाँध लेना उचित जाना। वह क्यों दुनिया भर की ज़िम्मेदारी ले ले। जहाँ वह है, उससे बाहर न जावेगी।

वह दिनेश को मूर्ति 'लेकिन' बनी मन में गाँठ बाँधे थी, दिनेश २७-२८ साल का युवक, दुबला-पतला। चेहरे पर ज्ञेय तेज़, बड़े-बड़े बिना सँवारे रूखे बाल, गोरे रङ्ग पर हल्की पीली पड़ती झाइयाँ। पट्टू का कोट, मोटी खादी की धोती।

दिनेश क्या चाहता था, उससे ! लगा आज वही दिनेश पास आ, कहता—अचला अभी भी वक्त है। हैं, तुम आलसी, सुस्त क्यों लग रही हो ! चुपचाप आराम से लेटी रहो, यह आरामी तुम्हारे लिए ही है, मुझे बंधन नहीं चाहिए, फिर भी......।

क्यों खयाली दिनेश उसे अपने में रख लेने की फ़िक्र में है। यह हक़ अब दिनेश की अनजानी पुकार क्यों लगती है, या वह बात गढ़ रही है। अपनी गढ़न्त की परेशानी में उलझती जाती है।

किन्तु दिनेश राष्ट्र को अपना कर्तव्य समझ कर अचला को क्यों कुचल गया। अपने को देश के सवाल में हल कर, अचला को नीचा साबित करना क्या वह चाहता था। राष्ट्र, देश, बलिदान, त्याग के जाल के बीच अचला को क्या सुझाने वह आया। अचला के घमण्ड को चूर करने का क्या यह एक हथियार था। उसी

दिनेश ने एक दिन आकर कहा था—"अचला, आज तक वक़्त नहीं मिला। आज आया हूँ, तुम्हारे पास, जानती हो क्यों? एक दिन एकाएक आकर इस तरह खड़ा हूँगा, कभी सोचा था तुमने?"

वक़्त का बहाना, उसकी मज़ाक़ उड़ानी अनुचित लगी। भला पुरुष ने यही सीखा है। वह बोली थी—"तुम्हारे समय के बचत की मुझे परवाह नहीं।"

रूखे स्वर में वह कहता रहा—"ठीक कहती हो तुम। आज भी आया ज़रूरी काम से हूँ। अपनी आत्मा को कुचल कर तुम्हारे आगे कुछ कह लेने खड़ा हूँ। अपना कुछ अधिकार समझ यह कहता हूँ। शहर मे तुम्हारी चर्चा के प्रति उदासीन न रह सका। भारतीय नारी की वह लज्जा तुमने कहाँ त्याग दी। यह तुम्हारी शिक्षा न थी। तुम्हारे क्या-क्या अरमान थे, जानती हो...?"

"यही कहने आप आए हैं"—अचला ने तपाक से बात काटी—"मैं कुछ और ही सोचती थी, मैं अपना कर्तव्य और उत्तरदायित्व समझती जानती हूँ। कौन आज मुझे नहीं चाहता। मेरी दौलत, मेरी शान, मेरी इज़्ज़त की वजह से कौन ऐसा है, जो प्रेम की भीख माँग विवाह का प्रस्ताव नहीं करता है। सारा युवक-समुदाय भिखारी है······। भीख···। ठीक व्यक्ति वे नहीं। मैं पहचान जानती हूँ। दुनिया फुस-फुस करती मुझे खेल बना लेना चाहती है। इस दुनिया को आप आज न पहचान सकेंगे। मुझे ख़ुद खेल खेलना है। आप अपना क़ीमती वक़्त बचा कर आये। शुक्रिया···। अचला वह पुरानी नहीं, आज तो अब ··।" अचला हँस पड़ी थी। चुप रही।

"अचला" कहते दिनेश ने एक बार आँखें उठाई थीं। "याद नहीं है वह दिन, जब हम छोटे थे। वही, जब हम साथ-साथ खेलते थे। जिस दिन मै इङ्गलैण्ड पढ़ने गया था, तुम कितनी रोई थीं। लौट मैं अपनी भूल की अवहेलना नहीं सह सका। और आज···?"

"न बहलाओ मुझे उन बातों की याद दिला कर, तब एक दूसरे को ठीक पहचानते थे। आज, जानती हूँ मैं पुरुष स्वार्थ को। अपने को ऊँची सतह पर खड़े कर लेने में वह क्या-क्या रङ्ग नहीं बदलता है। आपका मालाओं से भरा गला जब अख़बारों के फ़ोटो में देखा, बड़ी हँसी आई थी मुझे। आप भी दुनिया को ठग लेने यह कर सकते हैं, विश्वास न आया था। ख़ैर······। ग़लत मैं ही सही, आप सही चलें······।"

"अचला" कह दिनेश रुक पड़ा, आगे का कहना उसे कुछ सूझा नहीं।

"और पिता एक दिन जो कह गए थे, वह आज भी हम पर लागू होगा, यह ख़याल भुला देना। उन दिनों पिता जी ने ख़ुद आपको ठीक नहीं पहचाना था।"

"मुझे यह चाहना नहीं है अचला"—कह दिनेश ने एक बार अचला की आँखों में अपनी आँखें डुबोते कहा। सिर्फ़ तुम गृहस्थी में रहो—कहीं जहाँ ठीक लगे।"

"अच्छा तमाशा होगा वह"—अचला ने बात काटी थी।

दिनेश चला गया था। वह बहुत उनमनी और उदास थी। दिल उचाट था, तब ही मि० माथुर ने आकर, उसकी नारी अनुभूतियों को जगाते कहा था—"हल्लो मिस अचला आप Tired (थकी) लगती हैं।"

अचला चुप रही थी। कुछ देर बाद जवाब दिया था—"हाँ डॉक्टर, आज सुबह से सिर-दर्द है।"

मि० माथुर ने आपने हाथ से उसका माथा छू लिया था। तब ही अचला ने आँखें मूँदे सोचा था—"यह कितना सभ्य आदमी है। नारी को पहचानता है।"

आज वह दिनेश के प्रति क्या सोच, निश्चित कर लेना चाहती है। जब वह दूर है, अलग है, फिर क्यों जाल बिछाकर उलझे। इस दुनिया में फ़िक्र, तवालतों को मोल लेना आसान काम है। जो ज़रा बातों पर अटका, हार गया। ज़िन्दगी निरा गुड्डे-गुड्डी का खेल भी तो नहीं। वह दिनेश की ख़याली मूर्ति गढ़, उसके आगे खड़ी हो, अपने अभिमान को जगाकर क्या चाहती है? अपने तेज का उपयोग। वह और दिनेश?

मि० माथुर उसकी सब बातें रख लेते हैं। कुछ, किसी बात पर, कहीं भी ना नहीं करते। उसकी ज़रूरतें जानते हैं। उसे कुछ भी कमी महसूस कर लेने का मौक़ा आज तक नहीं दिया। वह तो चाहती थी दिनेश बड़ा अफ़सर हो, दोनों साथ रहें। वह बात ख़्वाब लगी, वह

उम्मीद खतम हो गई थी। दिनेश ने उसके विश्वास की परवाह नहीं की।

मि० माथुर कहते थे—"मिस अचला दरी का डिज़ाइन, आप साथ चली चलें तब ही तय होगा।"

गोल कमरे के लिए वह एक अच्छे, नए डिज़ाइन की दरी चाहती थी। दिनेश जब आगाह कर गया था—तुम अपने को समझ लो अचला। उसी के एक सप्ताह बाद ही एक दिन मि० माथुर ने आकर कहा—"चलो आज दरी का ऑर्डर दे आवें।"

वह सिविल सर्जन मि० माथुर के साथ जेल गई थी। वह लाल-लाल ईंटों की बनी ऊँची इमारत...। मि० माथुर के ऑफ़िस में बैठी वह दरी का डिज़ाइन देख रही थी। जेलर रेखाएँ बनाता समझा रहा था। पास की मेज़ पर मि० माथुर जरूरी काग़ज़ों पर दस्तखत कर रहे थे। कुछ दूरी पर क़ैदी लोग खड़े थे। क़ैदियों में हल्ला मचा। उसने देखा, दो क़ैदी एक को पीट रहे थे। वॉर्डर उस क़ैदी को आगे लाया। उसकी नाक से ख़ून बह रहा था। माथे पर गहरा घाव था। वॉर्डर बोला था—"यह अण्डर ट्राइल है हजूर।"

अचला ने देखा, वह दिनेश था। वह सन्न रह गई थी। दिनेश उसकी मेज़ की ओर आया। अचला के हाथ से क़लम ले काग़ज़ पर जाल बिछाता बोला था—"यह सब से नया डिज़ाइन है मिस अचला!" कमज़ोरी की वजह से लड़खड़ा कर ज़मीन पर गिर पड़ा था।

तन्द्रा से चौंकती वह अपने में गुनगुनाई थी—दिनेश, सिपाही उसे ले गए थे। और वह लौट आई थी। लौट कर परसों से अपने को समझ लेना चाहती है, दिनेश वहाँ क्यों था, वह बहता ख़ून...। अब...। जीवन का सारा छुपा दुःख खुल जाता। याद आती बचपन की, दिनेश की, वह जो ऊँचे-ऊँचे पेड़ों में चढ़ कर उसके कहने पर पक्के फल तोड़ लाता था। बिलकुल निडर—भय से भिड़ने हर वक्त तय्यार। कभी अचला की बात की अवज्ञा न की थी। रूठ जाने पर नए-नए तरीक़ों से मना लेता था। तब क्या दोनों नासमझ थे?

एक-एक धुँधला चित्र आगे आता। ज़रा झाँकी देकर छुप जाता, सुझाता—'अचला, यह क्या सोचती है तू।'

अचला चुप रहती। अपने लिए भला वह क्या ठीक समझती। जैसे कि दिनेश अपनी बाहुओं को फैलाता कह गया हो "× × मैं तुमको ख़ूब पहचानता हूँ अचला। तुम्हारी पसन्द का दरी का डिज़ाइन यह है। तुम्हारी रुचि की पहचान, भला यह हक़ क्या मुझे नहीं।'

भूल, भूल, भूल......। मि० माथुर कुछ कहते नहीं। कहीं स्वार्थ उनको नहीं छूता। वे अचला के आदर को पहचानते हैं। वह उसका कितना खयाल नहीं रखते। घमण्ड उनको नहीं। दुनिया ठीक सोचती है, अचला के मि० माथुर स्वामी होंगे, यह उसकी भी हवस है, फिर दिनेश......?

एक 'ट्रेजडी' का सवाल उठा क्यों, वह अपनी भावनाओं को दिनेश के आगे झुका देना चाहती है। साबित कर कि नारी कमज़ोर है। यह वह न सह सकेगी। मि० माथुर के साथ समाज में वह मस्तक ऊँचा कर चलती है! शहर की तमाम युवतियाँ उससे ईर्षा करती हैं। एक दिन जब......। वह ठीक है। ज्यादा क्या सोचे।

लेकिन, दिनेश ने इङ्गलैण्ड चले जाने पर जब पत्र न भेजा था, तब वह कितनी गुस्सा नहीं हुई थी। आखिर पत्र आया था। एक फोटो साथ था। लिखा था—यह दुनिया अजीब है अचला। यहाँ के मनुष्य ठीक बात जानते हैं। कर्तव्य का मूल्य समझते हैं...।

देखा था फिर एक जीवन उसने, अपने को दिनेश के साथ। सारा पिछला मज़ाक़ आगे आता। दिनेश उसका कान उमेठता जब कहता था, "यह हक़ भी मुझे है।" तब अपनी तौहीनी पर अचला उससे न बोलने का इक़रार मन ही मन करती थी। लेकिन...।

काश कि यह बचपन का झगड़ा ही होता। आज अब दिनेश। उनका वह झगड़ा.....। सोचा फिर उसने, हमारी समझ ही हमारी अज्ञानता तो नहीं, हमारा एक दूसरे पर दावा कि हम बड़े हैं, ही तो हमारी भूल नहीं।

हार्न की आवाज़ सुनकर वह चौंकी, मि० माथुर आए थे। वह सम्भल गई। वे आकर बोले—"आप अब कैसी हैं। ज्यादा Excited (उत्तेजित) रहना ठीक

नहीं, उस दिन का वाक़या ही ऐसा था। कितना बुरा पेशा है यह। आपको Complete rest (पूरा आराम) चाहिए।"

अचला अपने दिल के हल्ले को दबाती चुप रही।

नौकरानी चाय ले आई। अचला मि० माथुर के सहारे उठ सोफ़े पर बैठ गई। चाय की चुस्की जल्दी-जल्दी लेते मि० माथुर बोले--"मुझे आज जल्दी जाना है। जेल से अभी urgent call आई है।"

अचला ने पूरी आँखों से मि० माथुर की ओर देखते दुहराया—"urgent call"। मि० माथुर ने भूल से कह दिया, परसों वाला क़ैदी मर गया, उसकी लाश का 'पोस्ट मार्टम' है।

अचला चौंकी, गुमसुम रह गई। कुछ सूझा नहीं उसे, अविश्वास को ठुकरा दबे स्वर में बोली—"मर गया।" चाय की प्याली काँपते हाथ से छूट पड़ी। सारी चाय साड़ी पर बिखर गई।

मि० माथुर बोले—"वह तुम्हारे लिए मरा। कुछ क़ैदी तुम पर भली-बुरी बातें कर रहे थे। वह उनको समझाने लगा। एक ख़ूँख़ार क़ैदी ने गुस्से में उस पर हमला किया। वह नामी बैरिस्टर था। देश के लिए...।

अचला की आँखों की पलकें भीग गईं। बोली, वह उठते-उठते "तुम अब जाओ डॉक्टर। वह बचपन का मेरा साथी था। हमने हमेशा साथ-साथ रहने का इक़रार किया था। झगड़ा कर हम अलग हो गए थे। अब दोस्ती फिर हो गई। वह अपना काम अधूरा छोड़ गया है। मैं उसका नेम निभाऊँगी।"

बेहोश होकर वह मि० माथुर के पाँवों में गिर पड़ी।

रहस्य

[श्रीमती 'नलिनी']

किसकी स्मृति का यह मदिर तीर !
करता है रह रह उर अधीर !

विद्युत सा पुतली के घन में—
सहसा चमका था कौन आह !
हो गया अरे संज्ञा-विहीन !
क्योंकर मानस बेसुध अथाह !

किसने छिप कर उर-वीणा पर—
गाया कैसा विस्मृत विहाग !
मधु सा कुसुमों में छलक पड़ा—
सूने जीवन में मधुर राग !

किसकी चितवन का इन्द्रजाल !
कर गया मुग्ध मानस मराल !
रँग गई चित्र जीवन-पथ पर
किसकी इठलाती मदिर चाल !

मेटने आह ! किसकी पियास—
छलका नयनों से अमल नीर !
झर-झर देती शत-शत स्पन्दन !
किसकी यह मीठी प्रणय पीर !

किसके इंगित पर मंत्र-मुग्ध !
जा रहा चला जीवन अमोल !
निशि-दिन किसका पथ हेर रहे !
हो-हो अधीर दृग द्वार खोल ?

जीवन की उलझी जटिल ग्रन्थि,
क्यों क्षितिज चरण सी है अनन्त !
है कैसा वह अज्ञात देश—
जिसका न आदि जिसमें न अंत ?

मैथिल-समाज की कुछ कुरीतियाँ

[श्री० सेवाधर झा 'मधुप', साहित्यरत्न]

आज आधुनिक सभ्यता के नवीनतम विकास के साथ-साथ सर्वत्र जागरण के चिह्न जिस रूप में देख पड़ते हैं, उससे यह सहज ही जाना जा सकता है कि आज की दुनिया एक विभिन्न दिशा की ओर चलकर एक नयी अवस्था प्राप्त करने जा रही है। क्या साहित्य, क्या समाज, क्या राजनीति, सब में एक-एक नये जीवन के समावेश से प्रत्येक के रूप और सौन्दर्य में एक विचित्र आकर्षण आ गया है। कुछ दिन पहले जहाँ क्रन्दन की ध्वनियाँ सुनाई पड़ रही थीं वहाँ आज क्रान्ति की चिनगारियाँ उड़ती नज़र आ रही हैं। प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रतिकूल सत्ता के प्रति विरोध की वह जाग्रत भावना देख पड़ती है, जिससे यह सहज ही संभावित हो सकता है कि संसार में फिर से एक नवीन परिवर्तन आने को है। साथ-साथ हम यह प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि इस परिवर्तन के साथ प्राचीनों के यथासम्भव त्याग से नवीनता में मनोमोहकता का प्राचुर्य पाया जा रहा है।

दुनिया परिवर्तनशील है। सृष्टि के आदिकाल से लेकर आज तक उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही आया है और उसके अन्त तक होता रहेगा। इस परिवर्तनशीलता के साथ साथ समय का प्रवाह जिस रूप में रहता है, युग की पुकार भी उसके अनुकूल ही होती है। मनुष्य की अवस्था जब जिस ओर ढलती है, इस प्रकार की ध्वनि भी समय-समय पर परिवर्तित होती रहती है। हमारे लिए एक समय था, जब हम हताश होकर निश्चेष्ट बैठे हुए अपने भाग्य का रोना रो रहे थे और आज का भी एक युग है, जिसमें हम जाग्रत होकर अपने अधिकार के लिए पूरी दृढ़ता के साथ लड़ रहे हैं। पूर्व का हमारा वह रुदन आज क्रान्ति की भावना को उत्पन्न कर विलीन हो गया। इस अवस्था में भी जब अपनी स्थिति से परिचित होकर उसे बदलने के लिए आ जुटे हैं, अगर इसका सामना पूर्ण रूप से न किया जाय तो हो सकता है कि हमारी वही पहले की अवस्था पुनः समासीन हो जाय। युग के परिवर्तन का सारा भार मानव-समाज पर अवलम्बित रहता है। यदि इसका सञ्चालन पूर्ण शक्ति और सदुद्योग के साथ न किया जाय तो सम्भव है कि अनुकूल भी विपरीत हो जाय।

आज की शताब्दी में हमारे लिए यह गौरव का विषय है कि हमारे प्रत्येक समाज में जागरूकता के कुछ न कुछ भाव अवश्य ही समाविष्ट हुए हैं। आज का युग ही जागरण का युग है। इस युग में क्या ऊँच, क्या नीच, क्या स्त्री और क्या पुरुष, सब के हृदय में स्वाधीन होने की भावना प्रबल हो उठी है। उनकी दबी हुई आत्माएँ आज अपने उद्धार के लिए समुत्सुक होकर सारी शक्ति और कौशल को काम में ला रही हैं।

आज सबके सामने से ऊँच-नीच के प्रश्न का वह भेद-भाव जाता रहा। वे ही स्त्रियाँ जो कल अत्यन्त नीच समझी जाती थीं, आज पुरुषों के समकक्ष होने की योग्यता के समागम मे उनकी नीचता विलीन हो रही है। कल का वह युग, जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों की गुलाम बनकर रहती थीं, अब समाप्त-प्रायः हो गया है। अब वे भी अपने अधिकार-रक्षा के लिए अपने क्षेत्र में लड़ते हुए पर्याप्त सफलता के साथ आगे बढ़ रही हैं। हमारे लिए यह परम हर्ष का विषय है कि वे हमारी किसी भी प्रकार की लड़ाई में हमें सहायता और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाने के लिए समुद्यत हो रही हैं।

किन्तु इस जागरण के युग में भी जब हम अपने मैथिल-समाज की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें बहुत

ही निराशाजनक भविष्य देख पड़ता है। मैथिल-समाज के प्राचीन और आधुनिक स्त्री-समाज को देखकर यह कहना पड़ता है कि अभी उनके सुधार का श्रीगणेश भी नहीं हुआ है। इसमें तिल भर भी सन्देह नहीं कि इसका सारा दायित्व पुरुष-समाज पर है। इस समाज के पुरुष अपने बढ़ने के लिए तो यथाशक्ति पूरा प्रयत्न करते हैं, किन्तु उनके यहाँ की स्त्रियों को अपने सुधारने का शायद ही कभी अवसर प्राप्त होता हो। इसका एकमात्र कारण रूढ़िगत परम्पराओं का पालन ही कहा जा सकता है। आज भी मैथिल-समाज प्राचीन परम्पराओं के इस प्रकार वशीभूत है कि उन परम्पराओं का नाश उन्हें ज़रा भी पसन्द नहीं आता। यही कारण है कि जिन-जिन रीति रिवाजों के कारण हमारा समाज रसातल जा सकता है तथा चारों ओर से जिनके तिरस्कार की ध्वनि गूँजती रहती है, वे ही अब तक मैथिल-समाज से दूर नहीं जा सके हैं। यह वायु-मण्डल इस प्रकार दूषित हो गया है कि उसमें स्वच्छता के समावेश के लिए थोड़ा भी स्थान अवशिष्ट नहीं है। फलतः मैथिल-समाज में अनमेल विवाह, कन्या-विक्रय प्रथा, परदा-प्रथा तथा स्त्री-शिक्षा की ओर से उदासीनता, ये आज भी उसी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, जिस रूप में कुछ काल पहले भी थे।

इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ के पुरुषों में शिक्षा का अभाव नहीं है, प्रत्युत उनमें से कितने तो देश के गौरव समझे जाते हैं, और इसी के फल-स्वरूप कुछ युवकों ने इन गन्दी प्रथाओं के विरोध में ज़ोरदार आवाज़ उठायी भी थी, किन्तु हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि वहाँ की रूढ़िप्रियता के कारण उनकी एक भी न चली।

आज सर्वत्र अनमेल विवाह तथा कन्या-विक्रय-प्रथा के विरोध में इस प्रकार के ज़ोरदार आन्दोलन चलने पर भी मैथिल-समाज से ये प्रथाएँ हट न सकीं। आज भी ये उसी रूप में अवस्थित हैं और इसी के फल-स्वरूप वहाँ प्रतिदिन नयी-नयी विपत्तियों का सृजन होता है। लड़के और लड़कियों के पिता को अपनी सन्तान के विवाह के अवसर पर उन्हें पर्याप्त द्रव्य लेने की आवश्यकता सदैव एक-सी बनी रहती है। कहीं-कहीं तो यहाँ तक देखा जाता है कि लड़के के पक्ष के लोगों को घर के बैल, गायों तक को बेचकर रुपये जुटाने के लिए बाध्य होना पड़ता है और लड़की के पिता भी ऐसी ही विपत्ति में आ पड़ते हैं। लड़का या लड़की कैसी भी हो, उनमें चाहे कितने ही अवगुण क्यों न भरे हों, किन्तु रुपये के आते ही सारे अवगुण दूर हो जाते हैं और एक दूसरे के प्रतिकूल विवाह कराकर उनका जीवन विपत्तिमय बनाया जाता है। चाँदी के टुकड़ों का यह खेल वहाँ आज भी एक ही रूप में दिखाई पड़ रहा है।

अनमेल विवाह के द्वारा समाज किस अवनति के गर्त में पड़ता या पड़ सकता है, यह किसी से अविदित नहीं, फिर भी हमारा मैथिल-समाज उसके सुधार से एक प्रकार से उदासीन सा है। जिन-जिन बातों का मैं उल्लेख कर रहा हूँ, वे कुछ नवीन नहीं प्रत्युत बहुत पुरानी हैं, फिर भी लोग उस ओर आकर्षित होने पर भी, उस पर कुछ ध्यान नहीं दे रहे हैं। यह जानते हुए भी कि विधवाओं की संख्या-वृद्धि का कारण यह अनमेल विवाह ही है, अब तक उसमें सन्तोषजनक कमी नहीं आई है। और यही कारण है कि मैथिल-समाज के प्रत्येक घर में दो-एक विधवाएँ अवश्य पाई जाती हैं। अनमेल-विवाह और विक्रय प्रथा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के रुकते ही दूसरे में भी स्वयं सुधार हो जा सकता है, किन्तु वहाँ कन्या के पिता अपनी ग़रीबी दूर करने के बहाने लड़के या उसके पक्ष वालों से पर्याप्त द्रव्य प्राप्त कर, अपनी लड़की को जान-बूझकर विनाश की ओर ढकेलते हैं। इस तरह के विवाह के परिणाम की चिन्ता उन्हें ज़रा भी नहीं रहती। मैंने तो यहाँ तक देखा है कि वे विवाहार्थी, जिनके चार-पाँच सयाने लड़के हैं, उनका विवाह ६-१० वर्ष की लड़की के साथ किया जाता है। हर्ष का विषय है कि बहु-विवाह की प्रथा इस समाज से धीरे-धीरे निर्मूल होती जा रही है। फिर भी कहीं-कहीं लोग तीन-चार तक शादियाँ कर लेते हैं, किन्तु उनकी संख्या अब उँगली पर गिनने लायक़ है।

मैथिल समाज की सब से बुरी प्रथा जो अब तक एक रूप में जा रही है, वह है 'सभा' की प्रथा। इस

सपूतों की करतूत

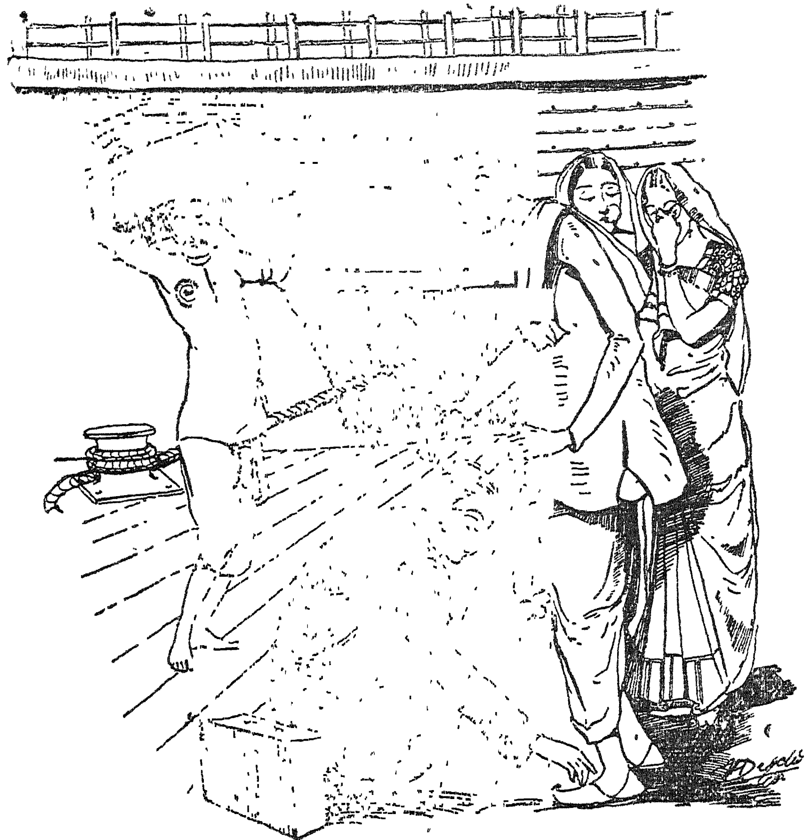
(१)



घर की सब सम्पत्ति बेचकर पुत्र को बैरिस्टर बनाने का आयोजन किया जा रहा है।

सपूतों की करतूत

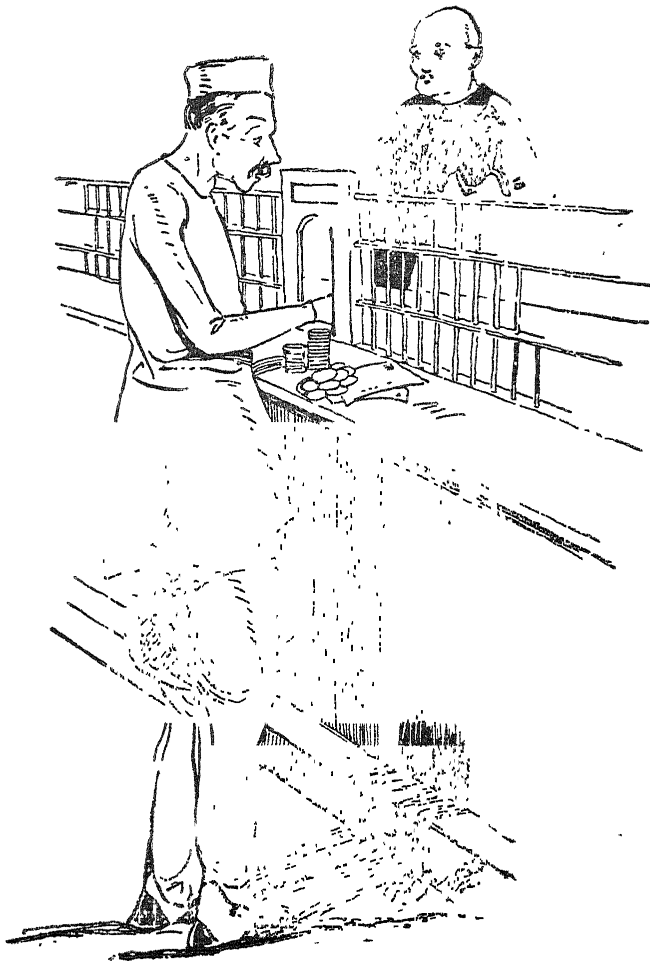
(२)



पिता जी आशीर्वाद देकर और बराबर कुशल-समाचार देते रहने का आग्रह करके पुत्र को लन्दन के लिए रवाना करते हैं ।

सपूतों की करतूत

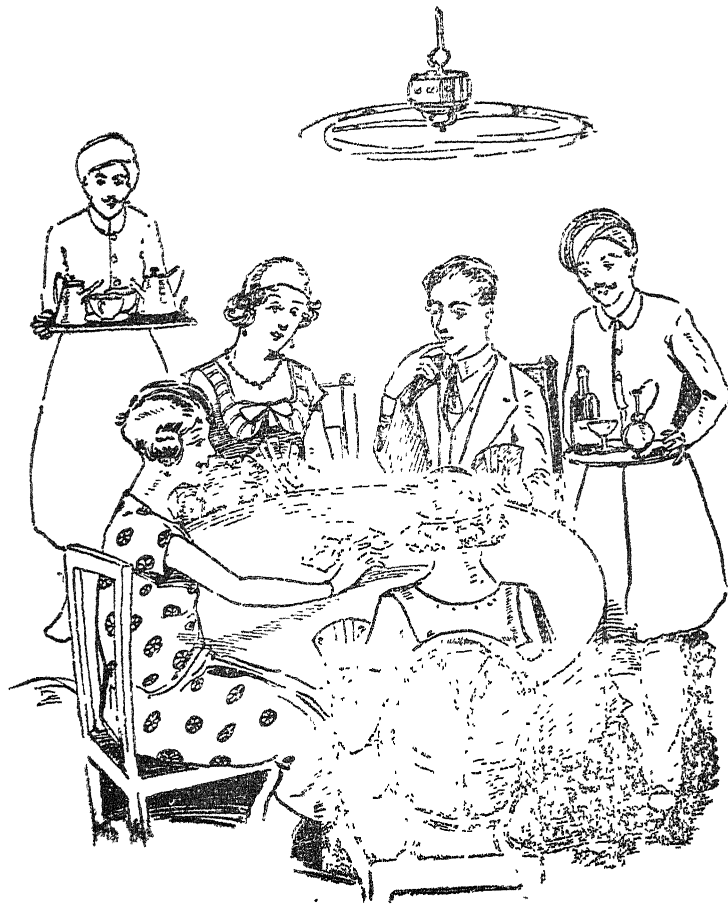
(३)



पुत्र की फ़र्मायश आने से तार-मनीऑर्डर द्वारा फिर रुपया भेजा जाता है।

सपूतों की करतूत

(४)



विलायत में बैठे सपूत इन रुपयों का सदुपयोग किस प्रकार
कर रहे हैं, यह देखिए !

सपूतों की करतूत

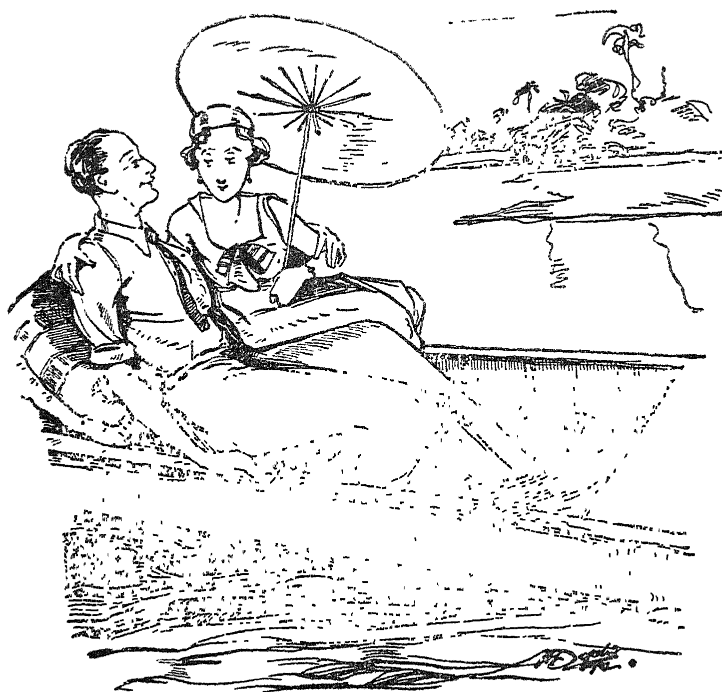
(५)



इधर बूढ़े बाप पोस्टमैन से पुत्र की चिट्ठी की बात
पूछते-पूछते थक गए !

सपूतों की करतूत

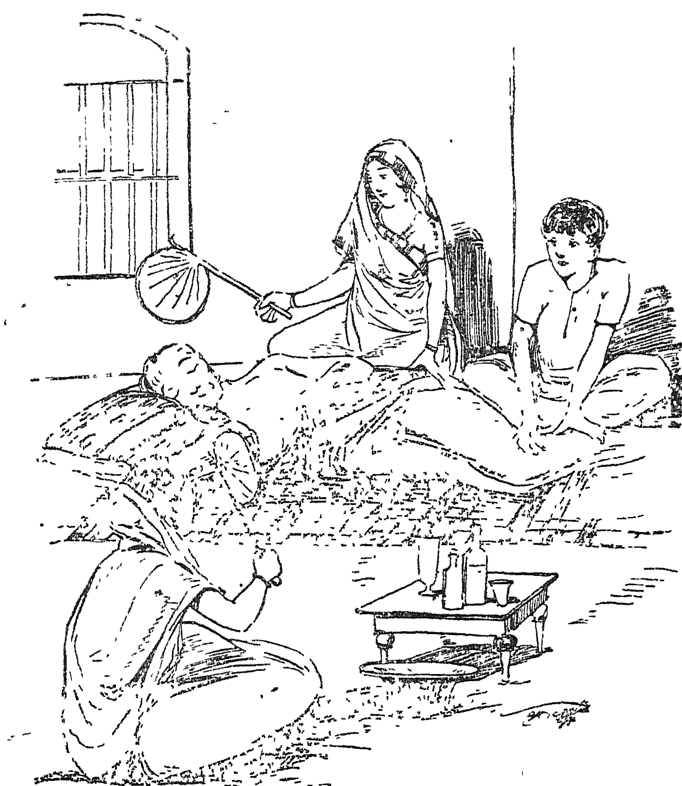
(६)



उधर सुपुत्र विलायत में श्वेताङ्गिनी प्रेयसी के साथ नौका-विहार का आनन्द लूट रहे हैं।

सपूतों की करतूत

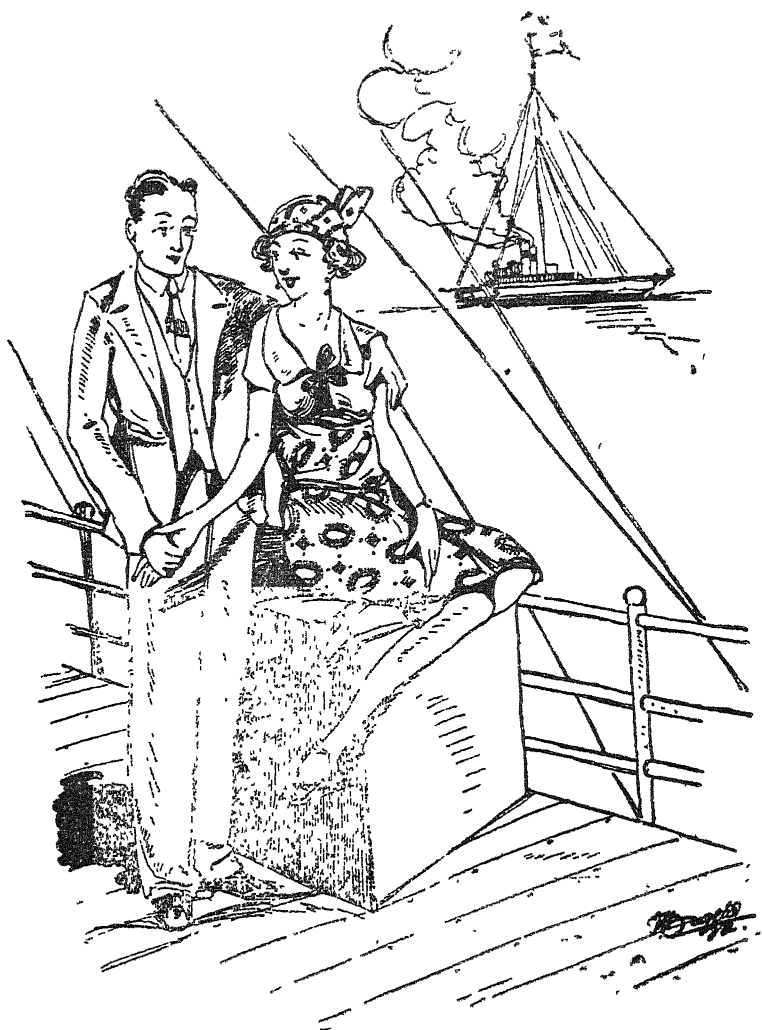
(७)



पुत्र की करतूत का हाल प्रकट होने पर बुड्ढे बाप को ऐसा धक्का लगा कि चारपाई ही पकड़ ली।

सपूतों की करतूत

(८)



सपूत बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके सब प्रकार से साहब बनकर मातृ-भूमि को प्रत्यागमन कर रहे हैं।

प्रथा के विरोध में 'चाँद' में १६३०-३१ में काफ़ी आन्दोलन चला था, किन्तु समाज के अभाग्य के कारण कुछ भी न हो सका। इस 'सभा' को यदि हम सन्तान-क्रय-विक्रय की 'हाट' कहें तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। इसमें दोनों पक्ष के लोग आते और दाम-मोल निश्चित कर विवाह की बातचीत करते हैं। इस 'हाट' में किसी भी प्रकार रुकावट, कोई कर अथवा टैक्स नहीं। इच्छानुकूल लोग अपने मन की साध पूरी करते और अपने विनाश की भित्ति निर्मित करते हैं। यह 'हाट' कई जगहों में लगती है, जिनमें 'सौराठ' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यहाँ की रङ्गत देखते ही बनती है।

निस्सन्देह उनकी यह 'सभा' आज की नहीं, प्रत्युत बहुत दिनों की चली आती हुई प्रथा है, जो शायद भारत ही नहीं, बल्कि समग्र संसार में एक निराली वस्तु है, किन्तु आज एक बार सारा मैथिल-समाज आँखें खोलकर दुनिया की ओर देखे। मैं तो कहूँगा कि यदि वे समझ-बूझकर 'सभा' की प्रथा को बढ़ाने में प्रोत्साहन देते हैं तो अपने समाज, देश और राष्ट्र के प्रति अन्याय करते हैं, उनकी गर्दन पर छुरी चलाते हैं।

आज जो हम अपने समाज के बीच षोडश और सप्तदश-वर्षीया निरवलम्ब विधवाओं को बढ़ते देख रहे हैं उनमें इस सभा का किसी अंश में कम भाग नहीं है। भला ऐसी अवस्था में जब उन विधवाओं के यौवन की वसन्त ऋतु रहती है, उनसे वैधव्य भार वहन कराकर असह्य यातनाओं का भोग करवाना इस समाज के लिए कहाँ तक उचित है, कहा नहीं जा सकता। किन्तु सच बात तो यह है कि इस अवस्था के प्रभाव से ही भ्रूण-हत्या आदि घोर पापों का अवसर प्राप्त होता है। निष्ठुर समाज उन स्त्रियों को निराश्रय बनाकर उन्हें विधर्मी बनवाने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं करता। न जानें यदि इन अनाथाओं का जीवन सुखमय रहता तो इनमें से कितने नर-रत्नों की उत्पत्ति होती। किन्तु, यहाँ पिता तो अपना समय सुख में व्यतीत करता है और पुत्री अपने भाग्य पर रोकर अपना समय बिताने को बाध्य की जाती है।

यदि हम इस समाज के स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी विषय पर ध्यान देते हैं तब तो हमें और भी हताश होना पड़ता है। यहाँ की यह रीति तो है ही कि विशेषकर लड़कियों का विवाह अल्प वयस में हो कर दिया जाता है साथ ही सबसे एक भद्दी रीति यह है कि विवाह के उपरान्त लड़कियाँ स्कूल या पाठशाला जा ही नहीं सकतीं। इधर यदि कुछ ध्यान दिया गया है तो दो-चार पाठशालाएँ कहीं-कहीं लड़कियों के लिए देख पड़ती हैं। लोगों का विश्वास है कि विवाहित लड़कियों के पाठशाला या स्कूल जाने से उनकी इज्जत में धब्बा लगेगा। कहना न होगा कि इन उपर्युक्त कारणों से मैथिल-समाज में बहुत ही कम स्त्रियाँ लिखी-पढ़ी मिलती हैं। शिक्षा के अभाव से ही इस समाज की स्त्रियाँ अपने जीवन के वास्तविक महत्व को नहीं समझ सकतीं। भला, ऐसी अवस्था में तो उनसे अधिक आशा रखना बिलकुल व्यर्थ ही है। उनका सम्पूर्ण कर्त्तव्य तो केवल चूल्हे की पूजा तक ही सीमित है। यह ठीक है कि स्त्रियों के लिए गृह-कार्य में पटुता प्राप्त करना आवश्यक है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनके जीवन का मोल इतना ही है। जब स्त्रियाँ 'सहधर्मिणी' और 'अर्द्धाङ्गिनी' कही गई हैं, तब उनकी शिक्षा की ओर ध्यान न देना पुरुष-समाज की अवहेलना मात्र है। यदि भारत ही ले लिया जाय तो कहना न होगा कि मैथिल-समाज को छोड़ और समाजों की स्त्रियाँ पर्याप्त उन्नति-वृद्धि कर रही हैं। फिर यह उदासीनता हमारी उन्नति की बाधक के सिवा और कुछ नहीं कही जा सकती। क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि निकट भविष्य में हमारे घर की स्त्रियाँ भी यथायुक्त शिक्षा प्राप्त कर अपने जीवन की वास्तविकता समझने लगेंगी?

इन कुरीतियों पर दृष्टि डालने के बाद और एक प्रधान कुरीति छूट जाती है, जिसे हम परदा-प्रथा कहते हैं। यों तो इसके लिए सारा बिहार ही मशहूर था, किन्तु आज हमारे बिहार में इस विषय में सन्तोष-जनक सुधार हुआ है। केवल हमारे मैथिल-समाज में ही यह प्रथा इस रूप से चल रही है कि हम उसके दूर होने की आशा शीघ्र नहीं कर सकते।

आज भी यह प्रथा इस रूप में चल रही है कि नयी बधुएँ अपने घर के आदमियों के सामने घर से

बाहर नहीं निकल सकतीं। परदा-प्रथा की यह विकरालता देखकर हमें बहुत ही हताश होना पड़ता है। सच तो यह है कि हमने सादियों से स्त्रियों को गुलाम बनाकर रखना सीखा है, और अब भी वही चाह रहे है। किन्तु क्या यह विश्वास किया जा सकता है कि इस युग में भी लोग इस प्रकार की मनमानी कर सकते हैं। हमारे समाज में बहुतों के मुँह से यह सुना जाता है कि परदे के बाहर आने से स्त्रियों में चञ्चलता आ जायगी और हो सकता है कि उनके चरित्र में भी पवित्रता न रह जाय। लेकिन आज की शताब्दी में जब सर्वत्र स्वाधीनता की पुकार से नया जागरण देखा जा रहा है तब यह विश्वास नहीं किया जा सकता है कि उनकी यह धारणा बिल्कुल सत्य है। उनका यह अन्ध-विश्वास तब तक दूर नहीं किया जा सकता, जब तक वे स्वयं एक बार इसे कार्य-रूप में परिणत कर नहीं देख लेते।

मैं ऊपर ही कह चुका हूँ कि प्रगति की हवा से कोई भी वंचित नहीं रह सकता। आज इस जाग्रति के अवसर पर जब लोगों के मन और मस्तिष्क में क्रान्ति की भावना पूर्ण रूप से समाविष्ट हो चुकी है, तब यह कहा नहीं जा सकता कि उनका यह अनधिकार प्रयत्न कब तक रहेगा।

प्राचीन काल ही से जब समाज ने स्त्रियों को पूरी स्वाधीनता दे रक्खो है तब हमारा कोई अधिकार नहीं कि हम उनके स्वत्व पर थोड़ा भी आघात करें। और उनके जीवन को विपत्तिमय बनाते हुए उन्हें अशिक्षित रखकर परदे के नीचे सड़ने दें। सच तो यह है कि जब तक पुरुषों के मस्तिष्क से पुरानी धाँधलियाँ दूर न हो जायँगी तब तक वे शायद ही स्त्रियों का पूरी स्वतंत्रता देने पर राजी हो जायँ। आवश्यकता है कि पहले हम अपनी विचार-धारा को परिवर्त्तित करें, तदनन्तर उनकी मातृत्व भावना का समादर करते हुए क्रमशः उन कुरीतियों में सुधार करने का यत्न करें।

जब सारा समाज यह जानता है कि स्त्रियों पर ही समाज-सञ्चालन का सारा भार निर्भर करता है, वे ही उसे बना या बिगाड़ सकती हैं, तब भी उनके सुधार पर हस्तक्षेप कर लोग अपने स्वार्थ में तनिक भी त्रुटि नहीं आने देना चाहते।

हमारे मैथिल-समाज का यह दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि हम सब कुछ समझते हुए भी नासमझ बन रहे हैं। हमारे लिए वह कितनी प्रसन्नता की बात होगी, जब हम अपने को नये रूप में बढ़ते हुए पावेंगे। हमारी स्त्रियाँ किसी भी समाज की स्त्रियों से कम तेजस्विनी और प्रतिभाशालिनी न होंगी। परन्तु इसके लिए तो सबसे पहले यह आवश्यक है कि हम स्त्री-शिक्षा पर पूरा ध्यान दें। शिक्षा से ही मानव-जीवन का निर्माण होता है। तदनन्तर क्रय-विक्रय तथा अनमेल विवाह को रोककर समाज में युगान्तर उपस्थित कर दें। बस, इन कुरीतियों के विनाश के बिना हमारा भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकता।



पैलेस्टाइन की समस्या

पैलेस्टाइन की समस्या एक बड़ी जटिल समस्या है। इस वक्त तो ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रश्न पर ही समस्त संसार की शान्ति निर्भर है। पैलेस्टाइन भूमध्य सागर के पूर्व तरफ़ एक छोटा देश है। इसके प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने पर मालूम होता है कि दो हज़ार वर्ष पहले इस देश पर यहूदियों का अधिकार था और ये यहूदी मिश्र देश से होकर इस देश में आये थे। थोड़े ही दिनों में यहूदियों ने इस देश को, जो उनके आने के पहले बिलकुल उजाड़ व रेगिस्तान था, एक सुन्दर सरसब्ज़ देश बना दिया। मगर यहूदी ज़्यादा दिन तक आराम से न रहने पाये थे। उनको अरबों के हमलों की वजह से अपने प्यारे देश को छोड़ना पड़ा और वे दूसरे देशों में जगह-जगह चले गये। तब से इन लोगों का कोई एक राष्ट्र न रह गया। यहूदियों के चले जाने पर पैलेस्टाइन हमेशा के लिए अरबों का देश हो गया और वे सैकड़ों वर्षों से वहाँ रहते आते हैं।

पैलेस्टाइन की कठिन समस्या का श्रीगणेश सन् १६१७ में होता है। इस समय महायुद्ध ने भीषण रूप धारण कर लिया था। कोई यह न कह सकता था कि इस विकट युद्ध में किस पक्ष की विजय होगी। अङ्गरेज़ों को इस समय विजयी होने के लिए धन की आवश्यकता थी। क्योंकि प्रतिदिन लाखों रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा था। इस समय इङ्गलैण्ड के मन्त्री मिस्टर बालफोर को धन पाने के लिए एक अच्छा उपाय सूझ पड़ा?

यहूदी जाति बहुत धनी जाति है। ये लोग पैलेस्टाइन को पुनः अपना घर बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। मि० बालफोर ने सोचा कि यदि यहूदियों को फुसलाया जाय कि इङ्गलैण्ड पैलेस्टाइन को यहूदियों का घर बना देगा तो वे उनको लड़ने के लिए काफ़ी रुपया दे सकते हैं। अतएव १६१७ में एक घोषणा की गई, जो बालफोर घोषणा के नाम से मशहूर है। इसके द्वारा इङ्गलैण्ड ने पैलेस्टाइन को यहूदियों का घर बना देने का वादा किया। यहूदी लोगों ने अङ्गरेज़ों के कहने में आकर अङ्गरेज़ों को बहुत सा रुपया लड़ाई में विजय पाने के लिए दिया और इस तरह इङ्गलैण्ड को धन मिल गया। लड़ाई में इङ्गलैण्ड विजयी हुआ, विजय के साथ ही उसको अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करना था। उपनिवेश मन्त्री मिस्टर विण्टसन चर्चिल स्थिति को समझने के लिए पैलेस्टाइन भेजे गये। उन्होंने भी बालफ़ोर नीति का समर्थन किया। १६२२ में पैलेस्टाइन इङ्गलैण्ड को लीग आफ़ नेशन्स की तरफ़ से मैण्डेट के रूप में दिया गया। पैलेस्टाइन प्राप्त होते ही इङ्गलैण्ड को अपनी नीति का पालन करना पड़ा।

नीति की घोषणा करना तो सरल था, परन्तु उस नीति को काम में लाना एक मुश्किल काम था। पैलेस्टाइन अरब लोगों का देश था। सैकड़ों वर्षों से वे वहाँ रहते आते थे। उनकी राय के विरुद्ध उन्हीं के देश में

यहूदियों को ला बसाना आसान न था। फिर भी सन् १६२२ से १६२६ तक लाखों यहूदी वहाँ आकर बसे। सैकड़ों एकड़ भूमि अरबों के हाथ से निकल कर यहूदियों के हाथ पहुँच गई और उनको हर तरह की आसानी मिल गई। यहूदियों का आना अरबों को अच्छा न लगा। वे अपनी ज़मीन को यहूदियों के हाथ में जाने देना न चाहते थे और इसलिए वे यहूदियों को अपना घोर शत्रु समझने लगे। दोनों जातियों में अनबन हो गई। अरबों का यह कहना था कि यहूदी हमारे देश में क्यों आ रहे हैं, और यहूदियों का कहना था कि अरब हमको हमारे प्राचीन घर में नहीं रहने देना चाहते। उनके धार्मिक विचारों ने भी उन्हें एक दूसरे का शत्रु बना दिया। पैलेस्टाइन में एक दिवाल है, जो 'वालिङ्गवाल' के नाम से मशहूर है। यह दिवाल हज़रत मूसा के समय से चली आ रही है और यहूदी लोग यहाँ इकट्ठा होकर रञ्ज मनाते हैं। इस दिवाल के पास एक मसजिद भी है। इसलिए अरब लोग यहूदियों का अपने मसजिद के पास रोना पसन्द नहीं करते। अरब लोग भी जेरुसलम को अपना तीर्थ-स्थान समझते हैं, क्योंकि एक रात को पैग़म्बर साहब इस नगर से होकर गुज़रे थे। ईसाई भी जेरुसलम को ईसा की जन्मभूमि होने के कारण अपना तीर्थ मानते हैं।

सन् १६२६ में दिवाल के प्रश्न पर यहूदियों और अरबों में बहुत मारपीट हुई। दोनों तरफ़ से बहुत से लोग मारे गये, बहुत से अरबों पर मुक़दमा चलाया गया और बहुतों को फाँसी दी गई। इस पर अरब बहुत क्रोधित हुए—पैलेस्टाइन में अशान्ति फैल गई।

फिर भी यहूदियों का वहाँ जाना रुका नहीं। सन् १६३३, ३४, ३५ में यहूदी बड़ी से बड़ी तादाद में जर्मनी से निकल कर पैलेस्टाइन में आये और सन् ३६ तक उनकी आबादी ४ लाख तक पहुँच गई। अरबों की आबादी क़रीब ८ लाख थी। इन दोनों क़ौमों के अलावा थोड़ी तादाद में अङ्गरेज़ भी वहाँ बसते हैं।

यहूदी क़ौम धनी व चालाक थी। उनके आने से पैलेस्टाइन में बहुत सा रुपया बाहर से आ गया। यहूदी लोग साइंस की नई ईजादों का इस्तेमाल ख़ूब जानते थे। उन्होंने अपने धन की मदद से बहुत से कारख़ाने खोले, खेतों में पुराने हलों की जगह नई मशीनों का प्रयोग कराया, देहातों और शहरों की हालत बहुत सुधार दी गई; नये और सुन्दर शहर बसाए और अच्छी-अच्छी सड़कें बनवाईं। इन सब कामों का नतीजा यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में पैलेस्टाइन से बेकारी बिलकुल दूर हो गई और तमाम मज़दूरों की आमदनी तिगुनी तक हो गई। यहूदियों ने इन सब बातों से बड़ा काम यह किया कि उन्होंने अपनी ज़मींदारियों में लगान बहुत कम कर दिया। अगर किसी ज़मीन का लगान पहले २०) होता था तो वह उसका ४) ही लेना पसन्द करते थे। इस तरह ग़रीब अरबों को यहूदियों से बड़ा फ़ायदा पहुँचा।

इन बातों को देखकर वहाँ के अरब ज़मीदार और महाजन यहूदियों से जलने लगे और यहूदियों के ख़िलाफ़ यह कह कर कि वह अरबों का मज़हब नाश करेंगे और अरबों को मज़दूर बनाकर ख़ुद राज करेंगे, उनको भड़काया और नतीजा यह हुआ कि १६३६ में देश में घोर अशान्ति फैली और कई महीनों तक दोनों जातियों में एक भारी झगड़ा होता रहा। दोनों तरफ़ से सैकड़ों आदमी मारे गये और घायल हुए और देश भर में हड़ताल जारी रही। अङ्गरेज़ यहूदियों की तरफ़ से अरबों को दबा रहे थे। मगर जब यह देखा कि झगड़ा रुकने वाला नहीं है तब एक एलान शान्ति क़ायम करने के लिए किया, जिसका समर्थन दूसरे अरब देशों ने भी किया। एलान में यह कहा गया कि पैलेस्टाइन में शान्ति होने पर एक कमीशन तमाम झगड़ों के कारणों को समझकर अरबों की तकलीफ़ों को दूर करने की कोशिश करेगा। एलान होने पर झगड़ा रुक गया और एक शाही कमीशन तैयार हुआ। इस कमीशन ने पैलेस्टाइन को भिन्न-भिन्न जातियों के लिये अलग-अलग हिस्सों में बाँट देने का प्रस्ताव किया। जिस रोज़ से इस कमीशन की रिपोर्ट तैयार हुई है, तमाम मुसलमान और यहूदियों के बदन में आग लग गई। यहूदी लीडरों का यह कहना है कि इस तरह से यहूदियों के एक बड़े सपने का ख़ात्मा हो गया, अरबों का भी कहना यह है कि वह इस बटवारे को

किसी तरह नहीं मान सकते, क्योंकि यह उनके लिए हितकर नहीं है। हिन्दुस्तान में और दूसरे मुसलमान देशों में भी फ़िलिस्तीन दिवस मनाकर अरबों के विरोध से सहानुभूति प्रकट की जा रही है और ब्रिटिश साम्राज्य की नीति का घोर विरोध किया जा रहा है।

इस समय मामला यहीं पर रुका हुआ है। देखना है भविष्य में क्या होता है। अन्त में पाठकों को यह भी समझ लेना चाहिए कि पैलेस्टाइन पर इङ्गलैण्ड क्यों इतना दाँत लगाये है। जब से मिश्र देश आज़ाद हो गया है और अबिसिनिया इटली के हाथ में चला गया है तब से पैलेस्टाइन का मूल्य अङ्गरेज़ों के लिए कई गुना बढ़ गया है। स्वेज़ नहर पर अपना प्रभुत्व रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इस नहर के पास के किसी देश पर इङ्गलैण्ड अपना अधिकार रक्खे और पैलेस्टाइन ही एक ऐसा देश है, जिससे इनका मतलब पूर्ण रूप से हल हो सकता है। फिर यहाँ हवाई जहाज़ों का एक बड़ा बेड़ा है और यहीं से होकर पूरब को यूरोप से हवाई जहाज़ जाते हैं, अतएव इङ्गलैण्ड इसे अपने अधिकार से बाहर नहीं जाने देना चाहता।

—कृष्णमोहन श्रीवास्तव

* * *

पर्दे की ओट में

बिहार प्रान्त में आजकल जो पर्दा-प्रथा के विरुद्ध एक बुलन्द आवाज़ उठ रही है, उससे यहाँ के लकीर के फ़क़ीरों में शङ्का और भय का भाव ज़ोर पकड़ रहा है। वे इसे स्वयं अच्छी तरह जानते हैं कि समय की गति, परिस्थिति और उनके फल पर उनका कुछ अधिकार और प्रभाव नहीं है फिर भी वे तर्कहीन दलील पेश करते हैं कि पर्दा सभ्य घरों की इज्जत है। पर्दा का प्रतिबन्ध उठ जाने से स्त्रियाँ स्वतन्त्र हो जहाँ चाहेंगी, जायँगी; जिससे चाहेंगी, मिलेंगी। अतः बाहर के प्रलोभनों से उनके ख़राब होने की अधिक सम्भावना है।

मालूम नहीं, जब भारत में पुरुष लोग अपने सत्व और स्वतन्त्रता के लिए इतनी कोशिश और कुरबानियाँ कर रहे हैं, तब फिर वे बिचारी स्त्री जाति की आज़ादी और हक़ को कुचलने के लिए क्यों उनके पीछे पड़े हैं? राजनीति के साधारण नियम को वे नहीं समझते कि वह देश कभी दासता की बेड़ियों को नहीं तोड़ सकता जहाँ एक जाति, दूसरी जाति के हक़ को हड़पने और स्वतन्त्रता को कुचलने के लिए वर्गीय सङ्घर्ष भीषण रूप से चला रही है और ख़ास कर स्त्रियों को दासता में जकड़े रहना और उनकी शक्तियों को प्रस्फुटित न होने देना तो भारी भूल है। कारण, स्त्रियाँ, पुरुषों की जीवन-सङ्गिनी हैं, जिनका तन, मन, धन पुरुषों की उन्नति और वृद्धि के लिए सदा मौजूद हैं। दोनों को संसार में सहयोग के भाव से चलना चाहिए न कि प्रतिद्वन्दी के रूप में।

क्या पर्दे के भीतर ख़राबियाँ नहीं पाई जातीं? पता नहीं कि आपने कभी शान्त हृदय से हँसी-मज़ाक़ की प्रथा पर, जो समाज के पाप का एक मूल कारण है, सोचने का कष्ट उठाया है या नहीं। वर्तमान काल में छोटे से लेकर बड़े समाजों में स्त्री और पुरुषों के बीच हँसी करने की चाल कहाँ तक अनर्थ और कुपरिणाम का कारण है, यह इस प्रान्त के रस्म और रिवाज को देखते ही समझा जा सकता है।

इस ओर नवयुवकों को विवाह के बाद साली से हँसी करने का द्वार खुल जाता है और घर के लोग भी इसमें बुरा नहीं मानते। नवयुवतियाँ, मेहमानों से अकेली कोठरियों में भद्दी-भद्दी गप्प, हँसी और बातें करती हैं। रङ्ग फेंकतीं, अबीर लगातीं, सोये हुए मेहमानों को काजल कर देतीं तथा तरह-तरह की इसी प्रकार की बहुत सी हँसी करती हैं, जिससे नवयुवकों और अविवाहित लड़कियों को बिना रोक-टोक से मिलने तथा छेड़-छाड़ करने का काफ़ी मौक़ा मिलता है। बेचारी लड़कियाँ, जिन्होंने बाहरी दुनियाँ का न प्रकाश पाया, न कभी उसकी बातें सुनीं, नवयुवकों की पेचीली बातों का रहस्य क्या समझ सकती हैं। वे चरित्रहीन युवकों के पञ्जे में पड़ जाती हैं।

इसके बाद, भावज और सरहज से हँसी करने की

प्रथा इस प्रदेश में कम नहीं। उम्र और पद में बड़ों की स्त्रियों से खराब खराब बातें और हँसी करना लोगों को कैसे अच्छा लगता है। स्त्रियाँ भी इसे कैसे पसन्द करतीं हैं और यह कितना न्यायसङ्गत है, समझ में नहीं आता। यदि देखा जाय तो इसमें भी कुपरिणाम का कम भय नहीं है। वृद्ध-विवाह और बेमेल-विवाह की एक ऐसी धुन लोगों को समा गयी है कि उन अतृप्त और असन्तुष्ट स्त्रियों से हँसी-मज़ाक़ कुछ दूसरा ही रूप धारण कर सकता है।

इतने पर ही इस प्रथा का अन्त नहीं होता। ममानी से भी इधर लोग खूब खुल्लमखुल्ला हंसी करते हैं, यही ज़रा सोचने का विषय है। मामा की स्त्री को ममानी कहते हैं। इनसे पिता जी तो सरहज के नाते हँसी कर आते और पुत्र जी ममानी के रिश्ते से। अब समझिये, यह कैसी चाल है। यह प्रथा अधिकतर गया और पटना ज़िले में प्रचलित है, जो एक समय मगध के नाम से अपनी सभ्यता, संस्कृति और विद्या के लिए सुविख्यात था।

इसे छोड़ दो-एक जगह तो ऐसी-ऐसी जघन्य प्रथाएँ हैं, जिन्हें सुन दाँतों अङ्गुली काटना होता है। भागलपुर ज़िले में लोग नानी से हँसी करते और संथाल परगने में दादी से। जिन्हें हमारे माता-पिता पूजते, उनसे हम हँसी और खराब बातें करें, कितनी तर्कहीन चाल है। ऐसी प्रथा तो, इस प्रदेश के जङ्गली और पहाड़ी जाति—कोल, भील, संथालों में भी चालू नहीं है, जिन्हें हम असभ्य और मूर्ख कहते है। हमारी समझ में, उन लोगों के सामाजिक बन्धन और नियम, समाज के कल्याण के लिए, हम लोगों से कहीं अच्छे हैं। अस्तु।

यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि हँसी-मज़ाक़ की प्रथा एक ऐसी बीमारी है, जो समाज को होनहार शक्तियों को दिनोदिन खोखला और निर्बल बना रही है। वे सब लड़के और लड़कियाँ, जो कुछ अधिक दिनों तक संयमी रह कर अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति कर सकते थे, समाज के इस वातावरण में आगे नहीं बढ़ सकते। सचमुच, हँसी की प्रथा ने, युवतियों और युवकों की कामवासना का उचित उम्र के पूर्व जाग्रत कर, उन लोगों के नैतिक पतन में उत्तेजना दे, बड़ी ख़राबी की है।

पर्दा-प्रथा के हिमायती अब आँखें खोल देखें कि ख़तरा कहाँ है? भय, पर्दे के अन्दर है या बाहर? और इसका आपने कुछ उपाय सोच रखा है? उत्तर मिलेगा, "कुछ भी तो नहीं।" वे तो पुरानी प्रथा की परिपुष्टि कर समाज में अपना प्रभुत्व और प्रभाव जमाये रखना चाहते हैं, जो इस क्रान्ति के युग में मुश्किल ही नहीं वरन् असम्भव है

पर्दा-प्रथा मिटाने का मतलब भारत में पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार करना नहीं है। भारतवर्ष उसके लिए तैयार और योग्य नहीं और न ऐसी किसी की धारणा ही रही है। पर्दा हटाने का मतलब स्त्रियों को तालीम दे, उन्हें सभ्य और शिक्षित बनाना है। प्रधानतः विधवा और बेकस बहिनों को उद्योग-धन्धे का ज्ञान दे, उनके जीवन को स्वतन्त्र और सुखमय बनाना है। यदि देखा जाय तो वस्तुतः रोटी के दो टुकड़ों ही के लिए स्त्रियाँ, पुरुषों के अत्याचार और बर्बरता का शिकार बनती रही है। स्त्रियाँ, जो आर्थिक मामलों में परतन्त्र नहीं, वे आराम और चैन की ज़िन्दगी बसर करती हैं। और फिर पर्दा नहीं रहने से हानि ही क्या है? प्राचीन समय में, इसी पुण्यभूमि में सीता, सावित्री, द्रौपदी, मन्दोदरी और दमयन्ती सी वीर और सती-साध्वी देवियों ने जन्म ले, इस देश की मान-मर्यादा को बढ़ाया है। फिर वे कब पर्दे के अन्दर रहीं?

अतः पर्दा-प्रथा के समर्थकों के कथन में उनका एक बड़ा स्वार्थ साधन है। वे इसे भली भाँति समझते हैं कि यदि स्त्रियाँ पर्दे की सीमा से पार हो बाहरी दुनियां से परिचित हो जायँगी तब हमारे लिए रोटियाँ कौन सेंकेगा, चिलम कौन चढ़ायेगा, पङ्खा कौन झलेगा। कहीं यदि बाहर जा इन्होंने रोटियों और कपड़े का सवाल हल कर लिया, तब तो वे दासी रहना कभी पसन्द नहीं करेंगी। वे व्यवहार और रहन-सहन में समानता चाहेंगी। सच पूछिये तो एक बड़े अरसे से पुरुषों ने स्त्रियों को, अपने आराम और आफ़ियत के लिए, भेड़-बकरी सा पर्दे में

रखते हुए मनमाना काम लिया है जिनको न पूरा प्रकाश नसीब होता है न अच्छी हवा, न भरपेट अन्न सुअवसर होता है, न पूरे कपड़े ! पुरुष तो शोषक वर्ग हो गये हैं, जो स्त्रियों के जीवन के मोल पर अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना चाहते हैं और करते हैं।

मर्दों के अत्याचारों से यदि स्त्रियाँ बचना चाहती हैं तो पर्दे के विरुद्ध एक घोर आन्दोलन आरम्भ करना उनके लिये अनिवार्य है। "पर्दा का नाश हो" (Down with Pardah) के नारों से उन्हें मर्दों को थर्रा देना होगा। कोई परवा नहीं, विरोधी शक्तियाँ कितनी भी क्यों न हों। पर्दा हटा कर शिक्षा के प्रकाश में स्त्रियाँ अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति कर सकती हैं। —कृष्णनन्दनप्रसाद, बी० ए०

* * *

सङ्गीत और कविता



सङ्गीत में एक अद्वितीय मधुरता, सौंदर्य-रस और जीवनी-शक्ति विद्यमान है। जन्म से ही इस प्राकृत सम्पत्ति को लेकर मनुष्य इस भाव-विलक्षण संसार-वाटिका में प्रवेश करता है। किसी नन्हें बालक की मियाऊँ-मियाऊँ की सी रोने की अस्पष्ट परन्तु मीठी आवाज़ में भी सङ्गीत की सचमुच गुप्त शक्ति का विकास पाया जाता है।

सङ्गीत की महिमा स्वयं प्रकृति देवी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से एक अविरल स्रोत-स्वरूप में आविर्भूत हो रही है। छोटे-छोटे पक्षी अपने मधुर कलरव से जङ्गल में मङ्गल कर देते हैं। कोकिला की हृदय-विदारिणी कूक वा बुलबुल का व्यथित आलाप राह जाते पथिक को अपनी ओर खींच लेते हैं। वृक्षों के पत्ते और डालियाँ पवन के मंद झोंकों से झूला झूलते हुये हल्के मोहन राग का विस्तार करते हैं। प्रवाहित कालिन्दी का कलकल नाद तक मानवी हृदयों पर एक अनोखी मस्ती आच्छादित कर देता है। सङ्गीत में बसी हुई प्रकृति की प्रतिध्वनि निस्संदेह मधुर रागिनी के रूप में पवित्र और निर्मल गङ्गोत्री से निकली हुई पतित-पावनी भगवती भागीरथी की तरह असंख्य प्राणियों को शान्ति और आनन्द के शुद्ध-शीतल जल से परिप्लावित करती है।

हीरक जड़ित नीले आकाश के नीचे चाँदनी की उज्ज्वल छटा में रात्रि के पिछले निस्तब्ध प्रहर किसी स्वच्छ सलिला के सुरम्य सुन्दर तट पर दूर से वीणा की सुरीली झङ्कार के साथ एक मधुर सुस्वर क्रिया-कलाप से किसके कर्ण अमृत-रस पान नहीं करने लगते। सङ्गीत की उस मिश्रित ध्वनि से हृदय का तार-तार बज उठता है। केवल यही क्यों, सूक्ष्म रूप में वह सुषुप्त आत्मा को जागृति और सञ्जीवन के पुण्य पावन सङ्गम पर ला खड़ा करती है। सङ्गीत अन्तःकरण की नस-नस और रग-रग में मानवी प्रेम की एक अछूती लहर प्रवाहित कर देता है। सङ्गीत के इस प्रेम-प्रवाह में इस विमल शीतल जल में आत्म-स्नान कर प्राणि-मात्र का संताप मिट जाता है।

कविता की शक्तियाँ भी अगणित और अकथनीय हैं। वह उत्साहहीन निर्जीव व्यक्तियों को तरोताज़ा और उत्साहित करके कर्तव्य-परायणता के कठिन से कठिन मार्ग पर अग्रसर कर देती है। वह रण-क्षेत्र से भागे हुए कायर सैनिक को वीरता के गीत सुना-सुना कर युद्ध-भूमि में तलवारों की धार पर चला देती है! कविता शून्य और शुष्क हृदय में दया और सहानुभूति की नन्हीं-नन्हीं कोमल कोंपलें उगा देती है। शताब्दियों से सोयी हुई मानव आत्माओं को जगा कर वह उनमें स्फूर्ति और नवजीवन का सञ्चार कर देती है।

और जिस सुन्दर सुहावने पुलिन पर भावोद्भावनी कविता और सरस सङ्गीत का मधुर-मिलन हो जाये, वहाँ पर मनुष्य लीलामयि प्रकृति की ललित लीला के स्वर्गिक दृश्य का अवलोकन कर एक बार तो आत्म-विस्मृत हो जाता है। उस आत्मविस्मृति में उसे संसार का सब कुछ और अपना आपा तक भूल कर दिव्य आनन्द का रसास्वादन होने लगता है। वह आनन्द-अतिरेक ही फिर मनुष्य के हृदय से क्रियात्मक जीवन का वेगपूर्ण स्रोत प्रवाहित करता है। वास्तव में सङ्गीत और कविता जीवित जीवन का ही रूपान्तर है।

—केदार





कुछ लाभकारी फल

अब यह बात सर्वसम्मत हो चुकी है कि फल खाना मनुष्य के स्वास्थ्य को उत्तम बनाये रखने के लिये अनिवार्य है। फलों से जो आवश्यकीय तत्व अल्प मात्रा में मानव शरीर को प्राप्त होते हैं, वे अन्य खाद्य सामग्रियों द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकते।

पर खेद है कि फलों में इस प्रकार की विशेषताएँ होने पर भी हमारे अधिकांश भाई उनके गुणों और उनकी उपयोग विधि से प्रायः अनजान देखे जाते हैं। वे फलों का खाना ज्यादा से ज्यादा एक शौक़ की तरह समझते हैं। वे यह नहीं जानते कि प्रत्येक फल में अनेक प्रकार के छोटे-बड़े रोगों के दूर करने की शक्ति विद्यमान है। ऐसे व्यक्तियों के लाभार्थ हम अपने देश में आमतौर पर मिलने वाले फलों में से कुछ का वर्णन और विभिन्न प्रकार से उनका उपयोग देते हैं।

अमरूद

स्वाद में अमरूद कषाय, अम्ल और मधुर है। यह शीतल, सांद्र, गुरु, तीक्ष्ण, कफ-कारक, शुक्र-वर्धक और वात-पित्त नाशक है। यह अनूनावस्था और श्लारवावस्था में कफ और वात-वर्धक है, प्रत्नावस्था में त्रिदोष-नाशक है। यह उन्माद-नाशक और रुचि कारक होता है।

अजीर्ण, अग्निमांद्य और अफरा में अमरूद बड़ी उत्तम दवा है। ऐसे रोगी को भोजन के पश्चात् अमरूद खाना चाहिए। साधारण लोगों को भोजन के पहले, निराहार ही अमरूद खाना चाहिए।

नमक और कालीमिर्च मिला कर अमरूद खाने से उसका कफकारक अवगुण नष्ट हो जाता है। अमरूद छील कर नहीं खाना चाहिए।

अमरूद का बीज बड़ा दृढ़ होता है, इसलिए बीज निकाल कर खाना चाहिए। चूँकि बीज पचता नहीं, इसलिए उसमें कोई गुण नहीं है। अगर साबूत बीज आन्त्रिपुच्छिमा में चला गया तो "एपेण्डीसाइटिस" होने का डर रहता है। जब किसी रोगी का जिगर सड़ने लगे, तब अमरूद के बीज को पीस उसकी चाय या फाँट देना चाहिये। जिगर के सड़ने पर अमरूद लाभ करता है। अमरूद रक्तवर्धक है और बच्चों के लिये लाभदायक है।

नीचे अमरूद से कई तरह की बीमारियों को दूर करने के अनुभूत प्रयोग दिए जाते हैं :—

१—अमरूद के बीज १ तोला, त्रिफला के बीज एक तोला, फिटकिरी सफेद आधा भाग, व्याघ्र नखी १ तोला, और तूतिया आधा माशा का सुरमा धुंध, ढबका, तिमिर (नज़ला) और रोहों में लाभ करता है।

२—अमरूद के बीज और उसका बीसवाँ भाग भुना हुआ तूतिया का सुरमा फुल्ली, माड़ा और नाखूना में गुणदायक है।

३—उदर-शूल पर अमरूद की मुलायम पत्ती पीस कर पीना चाहिये।

४—भाँग का नशा अमरूद खाने तथा उसकी पत्ती का रस पीने से उतर जाता है।

५—दाँतों के दर्द पर अमरूद की पत्ती के काढ़े से कुल्ले करने चाहिये।

६—मुँह के छाले पर अमरूद की पत्ती और कत्था लगाना चाहिये।

आँवला

यह कषाय, अम्ल, मधुर, शीतल और हलका है और दाह, पित्त, वमन, प्रमेह और शोक का नाश करता है। यह रसायन है किञ्चित कटु, स्वादिष्ट और तिक्त है। जरा और व्याधि-नाशक है। वीर्यजनक, केशों को हितकारी, सारक, हितकारक और अरुचि-नाशक है। रक्त-पित्त, खाँसी, विष, ज्वर, मलवद्धता, सूजन, पिपासा, रक्त-विकार और त्रिदोष-नाशक है। आँवला अपने खट्टेपन से वायु का नाश करता है, मधुरता तथा शीतलता से पित्त का नाश करता है और कषाय तथा रुक्षगुण से कफ का नाश करता है। इस प्रकार त्रिदोष नाशक है।

सूखे हुए आँवले में उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त निम्न-लिखित गुण भी होते हैं—टूटी हुई हड्डी को जोड़ने वाला, धातु वर्धक, नेत्रों को हितकारी, लेप से कान्ति बढ़ाने वाला, पसीना और मेद-वृद्धि-नाशक।

आँवले की गुठली की मींगी प्रदर रोग, वमन, पित्त, वात, ज्वर, श्वास और खाँसी को नष्ट करती है। यह कषैली, मधुर, वीर्य-जनक है।

१—आँवले का चूर्ण एक सेर लेकर आँवले के स्वरस में घोटे, दूसरे स्वरस में घोटे। इस प्रकार २१ भावनायें दे। यह चूर्ण प्रदर नाशक, बीसों प्रकार के प्रमेह और मधुमेह को नष्ट करने वाला और सातों धातुओं को बढ़ाने वाला है। मात्रा २ से ४ तोला तक।

२—शरीर में जिस स्थान पर मेद बढ़ गया हो, वहाँ आँवले की टोटी बाँधने से लाभ होगा।

३—आँखें सूजी हों, दर्द होता हो, उठी हों, तो पलकों पर आँवले का लेप करने से शीघ्र लाभ होगा।

४—वृद्धामलकी योग से अर्थात् १ आँवले से ४० तक बढ़ाता जाय और फिर क्रमशः घटा देवे, तो दोष सुधर जायँगे।

५—आँवले का मुरब्बा कफ के विकारों को छोड़ कर वात और पित्त के समस्त रोगों में लाभदायक है।

६—आँवले का फाँट पीने से खुश्की दूर हो जाती है, परन्तु फाँट में दूध नहीं डालना चाहिये।

७—आँवले का सार रक्त-दोष और फोड़ा-फुन्सी को बहुत लाभ करता है। जितना आँवला हो उसका बीसवाँ भाग रसौत, रसौत का बीसवाँ भाग भाँग, भाँग का बीसवाँ भाग भिलावा (शुद्ध) सबका चूर्ण करके १ माशा सुबह-शाम खाना चाहिए।

८—आँवला स्त्रियों के प्रदर रोग में अत्यन्त हितकारी है। आँवले का रस और शहद मिला कर कुछ समय तक लगातार सेवन करने से अवश्य लाभ होगा। मात्रा १ से २ तोला तक।

ख़रबूज़ा

ख़रबूज़ा मूत्रल, बलकारक, कोष्ठ को शुद्ध करने वाला, गुरु, स्निग्ध, स्वादुतर, शीतल, वृष्य अर्थात् वीर्यवर्धक, पित्त और वातनाशक है। ख़रबूज़ा उन्माद-नाशक, दाह को दूर करने वाला, श्रमहारी, कफकारक और उदर के विकारों को दूर करने वाला होता है।

जिस ख़रबूजे में खट्टा और फीका रस प्रधान होता है, वह रक्त-पित्त को पैदा करता है अर्थात् उसके खाने से नकसीर आदि फूटती है। और यह मूत्रकृच्छ्र अर्थात् सुज़ाक को पैदा करने वाला होता है। यह पेशाब में जलन पैदा करता है। किन्तु यह तभी होता है जब खट्टे और फीके ख़रबूजे अधिक खाये जायें या इन्हीं का कल्प किया जाय।

प्रत्यग्रावस्था में ख़रबूजा कषाय और क्षार रस प्रधान होता है। इस अवस्था में यह कफ-नाशक है, किन्तु पथरी आदि मसाने के कई रोग उत्पन्न करता है। श्लाटवावस्था में अर्थात् कच्चा या बतिया की अवस्था में ख़रबूजा में अम्ल, कषाय, क्षार और कटु रस प्रधान होता है। यह पित्त और रक्त को दूषित करता है और मूत्रकृच्छ्र को उत्पन्न करता है।

ख़रबूजे के गूदे में पौन भाग पोषक तत्व, चौथाई भाग चिकनाई, साढ़े सात भाग कार्बोज, चौथाई भाग खनिज पदार्थ और ९० भाग जल होता है।

ख़रबूजा खाकर दूध पीने से विषूचिका (हैज़ा) हो

जाता है। खरबूजा खाकर शर्बत पीने से खरबूजे के दोष नष्ट हो जाते हैं।

अनूनावस्था में खरबूजा मधुर रस प्रधान और किंचित क्षारयुक्त रहता है (फीकापन क्षार का लक्षण है) और खाने योग्य हो जाता है। इस अवस्था का खरबूजा श्वांस के लिए लाभ करता है।

बानावस्था का खरबूज़ा अधिक लाभ करता है। खरबूज़े के अधिक गुण इसी अवस्था में होते हैं।

प्रत्नावस्था में खरबूज़ा कफकारक होता है। किन्तु सूखी खाँसी के लिए लाभदायक है, क्योंकि सूखी खाँसी बात से होती है। संग्रहणी वाले के लिए प्रत्नावस्था का खरबूज़ा लाभदायक है। संग्रहणी वाले को प्रत्येक स्वाभाविक वस्तु प्रत्नावस्था ही की देनी चाहिए। जैसे मठा संग्रहणी वाले के लिए इसलिए उपयोगी है कि वह दूध की प्रत्नावस्था है।

बानावस्था का ख़रबूज़ा खा सकते हैं, किन्तु नाशोन्मुखावस्था का नहीं खाना चाहिए। इस अवस्था का ख़रबूज़ा फ़ौरन सुज़ाक या चिलक पैदा कर देता है।

ख़रबूज़ा खाने से और ख़रबूज़े का लेप करने से बात की सूजन और श्वांस नाश हो जाती है। ख़रबूज़े के ऊपर के छिलके में श्लक्ष्ण और सांद्र गुण होते हैं। इसमें रेचक गुण अधिक है।

ख़रबूज़ा सर्वाङ्ग उपयोगी अथवा सात्म्य फल है।

१—लू लगने पर ख़रबूज़े के बीज पीस कर सिर पर लेप करना तथा ख़रबूज़े का रस शरीर पर मलना चाहिए।

२—अरुचि में ख़रबूज़े के बीज और मिश्री जल में पीस कर पीना चाहिए।

ख़रबूज़े का कल्प—ख़रबूज़े का कल्प दिल के लिए बड़ा अच्छा है। कल्प करने से दिल की धड़कन दूर हो जाती है। स्त्रियों के गर्भाशय के ऊँचे हिस्से के सामने पटल आ जाने से उनका एक पैर भारी हो जाता है और सूजन आ जाती है। ऐसी अवस्था में ख़रबूज़े का कल्प बहुत लाभ करता है। उन्माद वाले को छानकर ख़रबूज़े का स्वरस देना चाहिए, क्योंकि तन्तु उसे नुक़सान करते हैं। कल्प करने में बाद में दूध भी चल सकता है। किसी कल्प में पानी नहीं पीना चाहिए। इसलिए ख़रबूज़े के कल्प में शर्बत नहीं पीना चाहिए। नपुंसकता के लिए ख़रबूज़े का कल्प कराने के बाद दूध का कल्प कराना चाहिए। ख़रबूज़े का कल्प ग्रीष्म ऋतु ही में होना चाहिए। अगर ग्रीष्म ऋतु ही में वर्षा शुरू हो जाये तो कल्प बन्द कर देना चाहिए। यदि कल्प में चिलक पैदा हो जाये, तो ख़रबूज़े के बीज देना चाहिए। मसाने के समस्त रोगों के लिए ख़रबूज़े के बीज लाभदायक है।

यदि कल्प में दस्त आने लगें या अन्य किसी प्रकार के दस्त आते हों तो बीज का छिलका घोंट कर और ख़रबूज़े के रस में या पानी में गोली बनाकर देने से लाभ होगा।

—नारायणप्रसाद अरोड़ा



अजी सम्पादिका जी,

जयराम जी की

होली के अंकों में यार लोगों ने एक सम्मेलन कर डाला। सम्मेलन करने के पक्ष में अपनेराम कदापि नहीं थे, परन्तु अपनेराम की बात ही किसी ने नहीं सुनी। जब सम्मेलन का प्रस्ताव किया गया तो अपनेराम ने कहा—'होली को तो सम्मेलन और अधिवेशन से मुक्त रक्खो। आजकल बात-बात में सभा-सम्मेलन होता है।'

एक महाशय बोले—'आपको सभा-सम्मेलन इतना अखरता क्यों है?'

'अपनेराम को अखरता-वखरता कुछ नहीं, क्योंकि अपनेराम सभा-सम्मेलन से यथासम्भव अलग ही अलग रहते हैं।'

'अलग ही अलग रहने की वजह?'

'वजह चाहे जो हो; परन्तु अपनेराम अभी तक उसकी शकल नहीं देख पाये।'

'तो यह कहिये कि आपको केवल परमात्मा के नाम पर सभा-सम्मेलनों से द्वेष है।'

'आप चाहे जो समझें।'

'खैर, आपको द्वेष हो या वैमनस्य। सम्मेलन अवश्य होगा।'

'काहे का सम्मेलन?'

'कवि-सम्मेलन, साहित्यिक सम्मेलन।'

'कवि सम्मेलन। परमात्मा खैर करना। कवि-सम्मेलन तो प्लेग और हैज़ा का भी ताऊ होता जा रहा है!'

'अजी ग़नीमत समझिये कि कवि-सम्मेलनों की बदौलत आपको कभी-कभी मक्खियों से फ़ुर्सत मिल जाती है, वरन मक्खियाँ तो एक मिनिट के लिए भी आपके मुखपिण्ड को नहीं छोड़तीं, क़ुर्बान होती ही रहती हैं।'

'आपके वाक्य का अन्वय, पदच्छेद तथा भाष्य करने के बाद अपनेराम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि आपका मतलब यह है कि अपनेराम हर समय मक्खी मारा करते हैं।'

'अजी तोबा कीजिए। आप बेचारे क्या खाके मक्खी मारेंगे। मक्खियाँ तो आप पर अपने आप ही मरती रहती हैं।'

'अपने आप कैसे?'

'कोई आत्म-हत्या कर लेती होगी, कोई दुर्घटना से मर जाती होगी। क्योंकि 'इस सादगी पर कैसे मक्खी मरे भला, मरती है तुम पे मक्खी, मक्खीमार के बिना।'

'ठीक है। आपके कवि-सम्मेलनों में भाग लेने की अपेक्षा मक्खियाँ मारना कहीं अच्छा है।'

'खैर। इस सम्मेलन में तो आपको आना ही पड़ेगा।'

'कोई ज़बरदस्ती है?'

'जी हाँ। ज़बरदस्ती है!'

अपनेराम चुप हो रहे कि अधिक बोलना उचित

नहीं। ये लोग हठ पर उतारू हो जायँगे तो प्राण बचाना कठिन होगा।

तीसरे दिन एक आदमी अपनेराम के पास एक काग़ज़ लेकर आया। उसमें लिखा था :—

"कविवर खञ्जन जी की बुढ़िया अम्माँ की हालत बहुत ख़राब है। डॉक्टर लोगों ने जवाब दे दिया है। इसलिए पूरी आशा है कि आज रात में अवश्य ही मर जायगी। इसलिए यह निश्चित किया गया है कि निम्न-लिखित कवि तथा साहित्यिक कल प्रातःकाल श्मशान में जाने के लिए तैयार रहें, क्योंकि श्मशान में एक कचूमर सम्मेलन होगा। कचूमर सम्मेलन का तात्पर्य है कि उसमें सब सम्मेलन मिश्रित होंगे। कवि-सम्मेलन भी होगा, साहित्यिक सम्मेलन भी होगा और भगवान जाने क्या-क्या होगा। कवि-सम्मेलन के लिए निम्न-लिखित समस्या निश्चित की गई है—'बुढ़िया मरने का शोक नहीं, यमदूतों ने घर देख लिया।' स्वतन्त्र कविताएँ भी पढ़ी जायँगी और जिसका जी चाहे वह पढ़े—कोई रोक-टोक नहीं होगी।" नीचे कवियों तथा साहित्यिकों के नाम लिखे थे। अपनेराम ने अपने नाम के आगे हस्ताक्षर कर दिये। अपनेराम ने सोचा, यार लोगों ने क्या दाँव मारा है! श्मशान घाट तो अवश्य ही जाना पड़ेगा—इसलिए सम्मेलन में भी भाग लेना ही पड़ेगा। भगवान करे "खञ्जन जी" की बुढ़िया हज़ार वर्ष जिये। यमदूत उसे पहचानने में भूल कर जाँय और उसे न ले जाकर उसके बदले में किसी दूसरी बुढ़िया को ले जाँय। यदि "खञ्जन जी" की बुढ़िया बच जाय तो सवा पाँच पैसे का प्रसाद बाटूँ।

परन्तु खञ्जन जी की बुढ़िया मर ही गई। न जाने यार लोगों ने कैसे ताड़ लिया था कि मर ही जायगी, बचेगी नहीं। अब अपनेराम विवश हो गये। श्मशान घाट तो जाना ही पड़ा।

वहाँ पहुँच कर लोग थोड़ी देर चिता-विता लगना देखते रहे।

एक महाशय बोले—'सब लोग कवि-सम्मेलन में भाग लेने के लिए श्मशान के विश्राम-गृह में चलें। एटेन्शन! राइट टर्न! क्विक मार्च!'

सब लोग राइट-लेफ़्ट करते हुए विश्राम-गृह में पहुँचे। सब लोगों के भूमि पर बैठ जाने पर एक महाशय खड़े होकर बोले—'सज्जनो, चूँकि इस सम्मेलन के मनोनीत सभापति 'खञ्जन जी' ही हैं; परन्तु वह इस समय अपनी बुढ़िया के दाह-संस्कार में व्यस्त हैं, इसलिए मैं प्रस्ताव करता हूँ कि उनके स्थान में विजयानन्द दुबे जी उनका कार्य करें।'

अपनेराम तुरन्त खड़े होकर बोले—'सज्जनो! मैं इस सम्मान के सर्वथा अयोग्य हूँ। इसलिए आप लोग मुझे क्षमा करें। यदि अपनेराम से खञ्जन जी को "आफ़ीशियेट" करवाना ही है तो खञ्जन जी को यहाँ बुला कर उनसे सम्मेलन का सभापतित्व कराइये, अपनेराम जाकर उनकी बुढ़िया का दाह-संस्कार करते हैं।'

इस पर बड़ा हो-हल्ला मचा। लोग बोले—'यह असम्भव है, माँ का दाह-संस्कार केवल पुत्र ही कर सकता है। इस मामले में 'प्राक्सी' से काम नहीं चल सकता।'

इस प्रकार लोगों ने ज़बरदस्ती अपनेराम को सभापति बना दिया। अब अपनेराम को सभापति का आसन ग्रहण करना पड़ा। आसन-वासन वहाँ क्या था। भीड़ से अलग सामने बैठ गये।

सब से पहले जो कवि कविता पढ़ने खड़े हुए, उन्होंने कहा—'चूँकि समस्या एक ऐसे छन्द की है, जिसके साथ ताल का होना अत्यन्त ही आवश्यक है और चूँकि हम अपनी कविता केवल गाकर ही पढ़ सकते हैं, इसलिए यदि कोई सज्जन मुँह से तबला बजा सकते हों तो वह कृपया खड़े हो जाँय।' यह सुनते ही तुरन्त एक महाशय खड़े हो गये और धुन धुन ताक धुन! करके उन्होंने मुँह से तबला बजा सकने की क्षमता प्रकट की। कवि महोदय प्रसन्न होकर बोले—'ठीक है। बस कहरवा की ताल शुरू कीजिए। मैं सारङ्ग के सुरों में कविता कहूँगा।' कवि महोदय ने कहना शुरू किया :—

'विधना ने खञ्जन जी पर
यह कैसा उल्कापात किया!
इतनी बाली उमरिया में
उनकी माता को मार दिया।'

'ताक धिना धिन ! ताक धिना धिन !' ताल चल रही थी। कवि महोदय ने इस एक पद्य को तीन-चार बार गाया—स्वरों का आरोहण-अवरोहण दिखाया, मुरकी लगाई, तान लगाई। लोगों ने वाहवा ! की आवाजें लगाना आरम्भ कीं। एक महाशय बोले—जी के कहने का ढङ्ग कितना मनोहर है। कविता खिल उठती है।

एक महाशय बोल उठे—'माता तो बूढ़ी थी, बाली उमरिया क्यों कहा ?'

कवि महोदय बोले—'खञ्जन जी की बाली उमरिया, उनकी माता की नहीं।'

अपनेराम बोल उठे—'चूँकि बूढ़ा और बाला बराबर कहा जाता है, इसलिए यदि माता के लिए भी बाली उमरिया कहा गया तो बहुत सुन्दर कहा गया।' इतना सुनते ही लोगों ने वाहवा ! वाहवा ! का दौंगड़ा बरसा दिया।

एक महोदय बोले—'वाह दुबे जी ! कितना सुन्दर भाष्य किया आपने। जी ख़ुश हो गया। इसीलिए तो कहा है कि कविता समझना बड़ा कठिन काम है।' कवि ने फिर कहना आरम्भ किया :—

'खञ्जन जी बेचारे अब तो हुए अनाथ ज़माने में।
रह गई केवल उनकी पत्नी अब तो उनके ज़नाने में।'

एक महाशय खड़े होकर बोले—'मैं सभापति जी से प्रार्थना करूँगा कि वह कवियों को सावधान कर दें कि वे ग़लत बयानी न करें। खञ्जन जी के जनाने में केवल उनकी पत्नी ही नहीं, वरन् उनकी एक विधवा चाची भी हैं।'

कवि जी बोले—'क्षमा कीजिए, यह बात मुझे मालूम नहीं थी। अच्छा दूसरा चरण अब यह हो गया—

'रह गई केवल उनकी पत्नी चाची उनके जनाने में।'

कवि जी ने शेष कविता पढ़कर समाप्त की। लोगों ने बड़ी प्रशंसा की।

इसके पश्चात् एक दूसरे कवि आये और बोले—'सज्जनो, यद्यपि यह समय 'विहाग' का नहीं है, फिर भी मैं अपनी कविता 'विहाग' की ही धुन में कहूँगा, क्योंकि मैं इसी धुन में अपनी कविता कहा करता हूँ।'

'जो आपकी धुन है वही ठीक है।'—एक ने कहा। कवि जी बोले :—

'यम ने खञ्जन जी से यह
कब का अपना प्रतिशोध लिया।
उनसे उनकी माता का
जो ऐसा विकट वियोग किया।'

सहसा तबला बजाने वाला बोला—'आप बेताले हो जाते हैं।'

'वाह वा। तुम्हें इससे क्या ? मैंने तुमसे कब कहा कि मेरे साथ तबला बजाओ।'

'कहने की आवश्यकता नहीं। जो गाकर कविता कहेगा, उसके साथ तबला अवश्य चलेगा।'

'कोई ज़बरदस्ती है ?'

अपनेराम ने तुरन्त रूलिङ्ग दी—'बेशक़ जब यह निश्चित हो गया है कि तबला बजेगा तब वह अवश्य बजेगा।'

'तो एक सारङ्गी भी मँगवा लेते।'—कवि जी झल्लाकर बोले।

'आपका कथन ठीक है। सारङ्गी की कमी अपनेराम भी महसूस करते हैं; परन्तु इस समय उसका प्रबन्ध नहीं हो सकता।'

इसी समय कुछ अन्य लोग, जो किसी दूसरे शव के साथ आये थे, विश्रामगृह में आ गये और खड़े होकर कवि-सम्मेलन का आनन्द लेने लगे।

अपनेराम बोले—'अच्छा चलिये, आगे चलिये।'

कवि जी—'चलूँ क्या ख़ाक ! आप ताल-स्वर देखते हैं, मुझे उसका ज्ञान नहीं है।'

'तो फिर गाकर कविता क्या झख मारने के लिए पढ़ते हो ? ज़माने भर के बेताले, बेस्वरे, परन्तु कविता गाकर ही पढ़ेंगे।' एक ओर से आवाज़ आई।

'बेताले बेस्वरे हों, पर कोकिलकण्ठ तो हैं।'

'कोकिलकण्ठ हैं तो 'कूऊ' की आवाज़ लगावें तो अच्छी मालूम हो, कविता क्यों पढ़ते हैं ?'

'क्यों ? क्या कोकिलकण्ठ होने से कविता न पढ़नी चाहिए ?'

'केवल कोकिलकण्ठ होने से काम नहीं चलता। कोयल यदि कविता पढ़ने लगे तो ?'

अपनेराम ने व्यलिङ्ग दी—'इस विवाद को समाप्त कीजिए। यदि पढ़ना हो तो पढ़िये, अन्यथा दूसरे के लिए स्थान खाली कीजिए।'

कवि जी मुँह फुला कर चले गये। इसके पश्चात् दो-चार अन्य कवियों ने अपनी-अपनी कविताएँ पढ़ीं।

एक महाशय उठ कर बोले—'मेरा विचार है कि अब कवि-सम्मेलन समाप्त किया जाय; क्योंकि खञ्जन जी की माता की शोक-सभा भी करनी है।'

अपनेराम बोले—'यही अपनेराम की भी राय है।'

'सभापति की कविता के पश्चात् सम्मेलन समाप्त किया जाय।'

अपनेराम बोले—'खञ्जन जी को बुला लाइये, वह कविता पढ़ जाँय। इस समय तो खाली बैठे होंगे।'

'जी हाँ, बिल्कुल खाली बैठे हैं—अभी चिता समाप्त होने में देर है।'

'तो उन्हें बुला लीजिए!'

एक व्यक्ति उन्हें बुलाने गया। थोड़ी देर पश्चात् वह लौट कर बोला—'खञ्जन जी तो कुछ बोले नहीं, पर उनके एक रिश्तेदार बहुत बिगड़े। कहने लगे आप लोगों को शर्म नहीं आती कि इस अवसर पर आप कवि-सम्मेलन करने बैठे हैं। ख़ैर, आप लोग चाहे जो करें; परन्तु खञ्जन जी पर कृपा रखिये।'

अपनेराम बोले—'बड़ा अरसिक आदमी मालूम होता है और संसार की माया में भी फँसा है। लेकिन आश्चर्य है कि खञ्जन जी यह सब सुन कर चुप बैठे रहे।'

'खैर! जाने दीजिए! आप ही कोई कविता पढ़ दीजिए। रस अदाई हो जाय।'

अपनेराम बोले—'अपनेराम कवि बिलकुल नहीं हैं। इसलिए......'

'यह हमें मालूम है। कोई कविता हो।'

'तो किसी दूसरे की सुना सकता हूँ?'

'हाँ! हाँ! किसी की भी हो।'

अपनेराम तबले वाले से बोले—'ज़रा ताल ठीक लगाइयेगा।' अपनेराम ने गला साफ़ करके पीलू की आलाप ली, तत्पश्चात् भूषण की यह कविता गाना आरम्भ किया—

'ऊँचे घोर मन्दिर के अन्दर रहन वारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।'

दर्शकों में से एक बोला—'लाहौलविला! भूषण की कविता और गाकर! तोबा! तोबा!'

अपनेराम बोल उठे—'इस बदतमीज़ को निकाल दो। यह कविता का मर्म नहीं समझता। हम भूषण के बाप की कविता गाकर पढ़ते हैं। बिना गाकर पढ़े कविता का रङ्ग नहीं जमता।'

दूसरी मण्डली के आदमी, जो खड़े कवि-सम्मेलन देख रहे थे, उनमें से एक बोला—'आप ठीक कहते हैं। आप वही सुर छेड़े चलिये। क्या बढ़िया कविता है—वाह!'

अपनेराम बोले—'देखिये! यह महाशय कविता के पारखी हैं, जौहरी हैं। केवल पहला चरण सुनते ही समझ गये कि कविता बढ़िया है।'

वह बोला—'आपने जब पीलू की आलाप ली थी, तभी मैं समझ गया था कि कविता बढ़िया होगी।'

'वाह वा! आप ही जैसे लोगों की बदौलत तो कवियों की क़द्र है, जो केवल कण्ठस्वर से ही कविता का मर्म समझ लेते हैं।'

'ख़ैर! आप कहिये।'

'यदि आप लोगों को यह कविता पसन्द नहीं तो दूसरी सुनिये।' इतना कहकर अपनेराम ने भीमपलासी की आलाप ली और कहना प्रारम्भ किया—'आइ कै सलाबत खाँ जोर कै जनाई बात।'

वह व्यक्ति जिसने अपनेराम की प्रशंसा की थी, बोला—'वाह वा। सलाबत खाँ को किस लोच के साथ आप कहते हैं। वाह! इसी के माने तो कविता है।'

अपनेराम ने कहा—'इस कविता में सलाबत खाँ लाख रुपये का शब्द है। यही तो कविता की जान है। समझने वाले ही समझ सकते हैं।'

इतना सुनते ही एक महाशय खड़े होकर बोले—

'मैं प्रस्ताव करता हूँ कि अब सभापति जी को धन्यवाद देकर सम्मेलन समाप्त किया जाय।'

अपनेराम—'और हमारी कविता अधूरी ही रहेगी? अच्छा न सुनो, तुम लोगों के भाग्य ही खोटे हैं; हम क्या करें। खैर! तो धन्यवाद जाकर खञ्जन जी को दीजिए; असली सभापति वही है।'

यह राय सबको पसन्द आई। सब लोग खञ्जन जी के पास पहुँचे। खञ्जन जी खोपड़ी पर हाथ धरे चुपचाप बैठे थे। सब लोग खञ्जन जी के सामने जाकर खड़े हो गये। एक बोला—'आज के कवि-सम्मेलन का सभापतित्व करने के लिए हम लोग आपको बधाई...।'

खञ्जन जी बिगड़ कर बोले—'ऐसी-तैसी में गया आपका सम्मेलन। आप लोग इतना नहीं देखते कि क्या अवसर है, क्या समय है, बड़े अफ़सोस की बात है।'

अपनेराम बोले—'आप हैं बेवक़ूफ़। कवि-सम्मेलन के लिए समय और अवसर की पाबन्दी! आप कवियों की स्वतंत्रता का अपहरण करना चाहते हैं?'

खञ्जन जी बोले—'आप तो कवि हैं नहीं, आपको क्यों बुरा लगता है?'

अपनेराम बोले—'बुरा इसलिए लगता है कि अपनेराम इस सम्मेलन के सभापति......अरे! नहीं! नहीं! सभापति तो आप ही हैं। क्षमा कीजियेगा। आप बिलकुल ठीक कहते हैं। इसी समय एक व्यक्ति बोला—'खञ्जन जी, उठिये चिता ठण्ढी कीजिए।'

खञ्जन जी उठकर चले गये। अपनेराम भी स्नान करने के लिए घाट की ओर चल दिये।

भवदीय,
विजयानन्द (दुबेजी)

गीत



[श्री० आरसी]

थी अभी तो बालिका;
गिर पड़ी भूपर सुरभि—
अभिमानिनी शेफालिका!

जब खुले छवि के विलोचन,
नैश के भुज-पाश में
आबद्ध था जग का तपोवन!
लख सकी न प्रभात यौवन का
अनङ्ग—कुमारिका!

नव-वधू का प्रथम परिचय,
एक क्षण ही तो किया
सीमन्तिनी ने प्रणय-अभिनय!
बन न पाई फिर किसी के
कंठ की वर-मालिका!

जागरण का पुलक कम्पन,
सुन पड़ा मधुपावली का
कुञ्ज में न अनन्त गुञ्जन!
रह गई तृष्णाकुलित ही
शरत-वन की वीथिका!

रख कपोलों पर किरण-कण
(पूर्व का अमिताभ उदयन)
एक कंचन के शिलीमुख ने
पिया ज्यों अधर-चुम्बन;—
किस कुटिल विधि ने किया
खण्डित सुहाग-मृणालिका?

पाठकों की लेखनी से

श्रीमती सम्पादिका जी,

मुझे 'चाँद' पढ़ने का बचपन से शौक है। मैं हमेशा हर मास 'चाँद' में दुखियों के—कितनी अबलाओं के पत्र पढ़ा करती हूँ, जिसमें आप से नेक सलाह पूछी जाती है। आप क्या मुझे भी वैसी सम्मति देकर कृतार्थ कर सकेंगी ?

मैं एक उच्च वंश की हिन्दू युवती हूँ। मेरे बाप और सब सम्बन्धी अमीर आदमी हैं। मगर मैं उस समाज में पैदा हुई हूँ जहाँ लड़कियों की कोई चाह नहीं। जहाँ उन्हें स्वावलम्बी बनने के उद्देश्य से शिक्षा नहीं दी जाती, दी जाती है केवल विवाह की हाट में उनका मूल्य बढ़ाने के लिये। जहाँ बाप को कन्या का विवाह कर अपना फ़र्ज़ ही चुकाना होता है; उसकी कन्या का भविष्य सुन्दर हो, उसे ऐसी इच्छा नहीं होती। कन्या का विवाह उसके लिए कर्त्तव्यमात्र ही है। दूसरे घर में वह सुखी हो या दुखी, इसकी उन्हेंकिञ्चित् परवा नहीं होती। वह तो उसका भाग्य है। यदि वह अधिक पढ़ने की इच्छा प्रकट करे तो बाप का फ़ज़ूल खर्च होता है; इतने पैसों से वह उसकी शादी कर अपना फ़र्ज़ अदा कर सकता है। यदि समय के अनुसार उसे किसी वस्तु की आवश्यकता पड़े तो माँगने पर बाप से सिवाय अनादर के और कुछ नसीब नहीं होता।

आप सच मानिये। उदाहरण के लिए मैं एक घटना लिखती हूँ। मेरे बाप सदा अपने मित्रों और सम्बन्धियों से मेरे भाई की बड़ी प्रशंसा किया करते हैं, कहते हैं—"मेरा लड़का बड़ा लायक़ है। फलानी परीक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होने पर उसे स्वर्ण-पदक मिला, फलाने विषय में सफल होने पर उसे यूनीवर्सिटी की ओर से वजीफा मिला, मेरा बेटा 'स्पीच' बड़ी अच्छी करता है; सब प्रोफ़ेसर सराहते हैं, कईयों ने उसे सार्टीफ़िकेट भी दिये हैं!" इन्हीं पिता से एक दिन मैंने कुछ पैसे माँगे। पूछा गया "क्या करने हैं?" मैंने कहा "मैंने एक लेख लिखा है। उसे किसी पत्रिका में भेजना चाहती हूँ। उसपर दस पैसे के टिकट लगाने हैं।" उत्तर मिला-"जाओ आराम से बैठो। लेख लिखकर तुम्हें कौन सी कमाई कमा लेनी है।" मैं खड़ी ही रह गई, बिल्कुल स्तब्ध। मेरी आँखों से टप-टप आँसू गिर पड़े। एक बेटे को सुयोग्य बनाने के लिए बाप हज़ारों रुपये व्यय कर सकता है, हर एक आदमी के सामने बेटे की तारीफ़ के गीत गाता है; किन्तु, बेटी के लिए सिवाय फटकार के उसके पास कुछ नहीं, उसपर धन व्यय करना तो एक ओर रहा, उसे शिक्षा देना तो दूर रहा, उसका साहस, उसका दिल एक झिड़की से तोड़ दिया जाता है। आह! कैसा भला न्याय है?

अब उस शिक्षित भाई का भी आदर्श देखिए। समाज उसे सुयोग्य कहता है, यूनीवर्सिटी ने उसे कई उपाधियाँ दे रखी हैं, मगर उसकी बुद्धि यही सोचा करती है कि मेरी बहिन का विवाह किसी अच्छे घर न हो, कारण अपने बराबर का सम्बन्ध ढूँढ़ने से उन्हें दहेज अच्छा देना पड़ता है। यदि दहेज अमीरी ढङ्ग का न हो तो अपनी नाक कटती है और यदि कोई साधारण सा घर, वर हो तो उसे जो दे दो उसी में शोभा हो जाती है।

चाहे वर पक्ष वालों को इस लालच का ध्यान भी न हो। मेरे भाई के मुँह से सबसे पहिले यही बात निकलती है—'हम देंगे कुछ नहीं।'

मैं मानती हूँ कि हमारे समाज में दहेज-प्रथा ने बहुत सी बुराइयाँ उत्पन्न कर दी हैं। किसी अवस्था में कन्या वालों को वर-पक्ष वालों को हैसियत से भी बढ़कर देना पड़ता है। वर पक्ष वालों की लालच की धमकी ने हमारी कई बहिनों के जीवन को अन्धकारमय बना दिया है। लालची बनना कभी अच्छा नहीं होता। मैं कहती हूँ—"निर्धन को कन्या दे दो, लालची को कभी मत दो।" मगर मैं पूछती हूँ कि लड़की के माँ-बाप को लड़की को देना क्यों दुखता है? वह अपने लड़के को ऊँची से ऊँची शिक्षा देते हैं, उसके विवाह पर चाव से बहू के लिये हज़ारों रुपये लगा कर वस्त्राभूषण बनाते हैं, जीवन भर वह बाप से लेकर खाता है, सुख-दुख में माँ-बाप का उसपर हाथ है, वह लड़का माँ-बाप की सारी पूँजी का अधिकारी है, तो उसी बाप को लड़की के लिए दो-चार हज़ार का दहेज क्यों मुसीबत सा—भार सा सूझता है?

मेरा पिता यदि अमीर होकर मेरी आवश्यकताओं को पूरा करना अपना कर्तव्य नहीं समझता, जो तन ढाँकने के लिए मुझे दो वस्त्र तक नहीं लाकर दे सकता, मेरे रोग-ग्रसित होने पर जो मुझसे तनिक सहानुभूति नहीं कर सकता, तो मुझे उसका दिखावे का देना क्योंकर प्रिय होगा?

मैं अपने भावी देवता से कहती हूँ कि यदि तुम्हें मेरा कोई गुण, कोई सौन्दर्य्य रिझा सके तो शौक से आओ। मेरी वरमाला तुम्हें अर्पण है। यदि तुम जान सको कि मेरा निस्वार्थ प्रेम, सहनशीलता, कोमलता और त्याग तुम्हारे लिए जीवन-सुधा है तो मेरा प्रेम-निर्झर सहस्र-सहस्र स्रोतों में झरता हुआ तुम्हारे चरणों पर गिरता रहेगा। मगर यदि तुम यह आशा रखो कि तुम्हारी भावी पत्नी एक उच्चवंश से सम्बन्ध रखती है, जहाँ आवश्यकता पड़ने पर तुम्हें कोई सहायता मिल सकेगी या तुम्हें मेरे माता-पिता अपना प्रेम-पात्र बना सकेंगे तो यह सर्वथा निर्मूल है।

मैं यह जानना चाहती हूँ कि हम लड़कियों को अपने ऊपर किये हुए अत्याचार चुपचाप सह लेने चाहिये कि नहीं? अपने अधिकारों के लिए बाप से लड़ना चाहिये और न्याय के लिए दुहाई देनी चाहिये या नहीं? हमें स्वतन्त्रता का पाठ सीखना चाहिये कि सहनशीलता का?

मेरा विचार है कि हमें सब अत्याचार शान्त बनकर सह लेने चाहिये; मगर जब हमारा वश चले, जब हमारी बारी आये तो हमें इन बुराइयों को दूर करने की चेष्टा करना चाहिये। हम अपने से छोटों को सब अधिकार दें, उन्हें उन्नत बनाएँ।

क्या आप सहमत हैं? बस, यही जानने की आप से याचना है।

हिन्दू समाज में पैदा हुई—

एक बहिन



हिन्दी-साहित्य के संभाव्य संस्कार

[श्री० सत्यप्रसाद थपलियाल]

बहुधा कहा जाता है कि किसी भी साहित्य की गति-विधि निर्धारित करना कठिन है। साहित्य-सरिता की धारा अविरल तथा स्वतन्त्र होकर बहती जाती है। उसकी उन्नति के उपाय सोचे जा सकते हैं। उनका प्रयोग भी किया जा सकता है, किन्तु साहित्य की शाश्वत गति में उनका अधिक योग नहीं रहता। फिर भी चिन्तनशीलता निस्सन्देह उन्नति के मूल में अन्तर्हित रहती है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि किसी विषय पर सोचते रहने से ही उसका उन्नत स्वरूप आविर्भूत होता है। एक व्यक्ति की विचारधारा साहित्य-स्रष्टा की हृदय-कक्षाओं को स्पर्श कर सकती है। उन्नायक के मार्ग को प्रशस्त करने में विचारक का सहयोग यदि व्यक्त रूप से नहीं तो अव्यक्त रूप से आवश्यक होता है। यह ठीक है कि स्रष्टा प्राचीनता के वातावरण से ही नूतन उपादान एकत्रित करता है, अथवा अकस्मात् उदित होने वाली प्रतिभाएँ साहित्य में अपने असाधारण व्यक्तित्व की एक स्पष्ट छाप लगाती हैं; किन्तु ललित वस्तु की सृष्टि करने में उपकरण जुटाने का काम विधायक के अलावा अन्य व्यक्ति भी करते ही रहते हैं।

भारतीय साहित्य जटिल समस्याओं से ओत-प्रोत है। साहित्य की ही कृपा से हमारे संस्कारों में ईश्वर की भावना परिलिप्त है। एक ओर योगियों का ईश्वर अपने अनुरूप ही साहित्यिकों को अद्भुत कल्पना-लोक में ले जाता है, तो दूसरी ओर अवतारवादियों तथा प्रकार-वादियों का वर्ग ईश्वर के लोकरञ्जनकारी रूप में आश्चर्य की उद्भावना कर पाठकों को मुग्ध करता है। तात्पर्य यह है कि साहित्य में ईश्वरीयता का आरोप कर हमारे पूर्वजों ने साहित्य-परिधि को बौद्धिक-पर्यवेक्षण से परे एक अनुभव मात्र की वस्तु बना दिया। फिर, साहित्यान्तर्गत समस्त विश्व के कल्याण की भावना तो एक साधारण सी बात हो गई, लेकिन मनुष्य का चित्रण भी ईश्वर की अन्वाकृति को आधार मान कर किया गया। मनुष्य ब्रह्मा है, विष्णु है, और शिव का रुद्र रूप भी है। मनुष्य रूप आवश्यकतानुसार सभी काम करने में समर्थ होता है। वह ईश्वर की विभिन्न शक्तियों की मूर्त अभिव्यक्ति है। पुरुष देवता है और राक्षस भी। स्त्री देवी है और चण्डी भी। ग़ालिब ने मनुष्य की श्रेष्ठता का दिग्दर्शन कराते हुये कहा है—

"तेरे सर्वे क़ामत से एक क़द्दे आदम,
क़यामत के फ़ितने को कम देखते हैं।"

वह प्रलय से भी भयङ्कर और विनाशकारी है!

ऐसे मनुष्य-जीवन की व्याख्या आज हिन्दी-साहित्य में कम हो गई है। नख-शिख वर्णन या हज़ार प्रकार की नायिकाओं की लाखों भाव-भङ्गिकाओं में व्यापक मानव-व्यापारों का चित्रण नहीं के बराबर हुआ है। प्रेम को श्रृङ्गार के अवगुण्ठन में नग्न प्रदर्शित कर देने से वह छिछला हो गया है। बहुधा कहानी-लेखक या उपन्यासकार प्रेम को कोरी पार्थिवता की पुट देकर सनसनी पैदा करते आये हैं। नवीनता लाने के बहाने बहुत से लेखक लक्ष्यहीन बातें कह डालते हैं। स्थित के रूप में मुग्धकारिता का आरोप करने के लिये यदि सम्भाव्य या सम्भावनापूर्ण कल्पित कथा-वस्तु का आधार लिया जाय तो ठीक है। किन्तु ऊटपटाङ्ग, देश-काल के विपरीत क्षेपकों को अपनी रचनाओं में सम्मिलित करके कलाकार बनने का दावा पैर उठा कर बड़ा बनने से कम हास्या-

स्पद नहीं है। मानव-जीवन को रहस्यमय समझ कर उसे अछूता छोड़ देना भी ठीक नहीं है, बहुधा अनुभूति-हीन लेखक अपनी अल्पज्ञता को छिपाने के लिये कह बैठते हैं—"जीवन एक पहेली है। उसको सुलझाना मुश्किल है।" किन्तु जीवन के विषय में उनकी धारणा क्या है, किन-किन वाञ्छनीय आदर्शों का समावेश जीवन में होना चाहिये, आदि बातों का विश्लेषण वे नहीं करते। इस तरह का वितण्डावाद साहित्य को प्रगतिशील बनाने में बाधाएँ उपस्थित करता है। सुबह से शाम तक हम जीवन के नाना व्यापारों को देखते रहते हैं। यदि इन्हीं में हम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा नवीनता या चमत्कार ढूँढ़ें तो अच्छी सी अच्छी कलापूर्ण कृति तैयार हो सकती है। आवश्यकता केवल तीव्र अनुभूति की है। पर्य्यवेक्षण के लिये सहानुभूति और सहिष्णुता तथा आर्द्र हृदय भी अनपेक्षित हैं।

भारतीय मनोवृति प्रागैतिहासिक काल से ही भविष्य की सम्भाव्य उन्नति की ओर रही है। पुनर्जन्म की भावना का विकास इसी मनोवृत्ति से हुआ है। इस जन्म के सञ्चित कर्म दूसरे जन्म में फलित होंगे। इस भावना में साहित्य के लिये बहुत बड़ी प्रेरणा अन्तर्हित है। इष्टदेव और ईश्वरत्व का भाव भी साहित्य के प्रस्फुरण में प्रचुर योग देता रहा है। विदेशी आदर्शों के आधार पर हिन्दी में भी अधार्मिकता का विनाशकारी प्रवेश अवाञ्छनीय है। यह बात सच है कि साहित्य को विश्व-जनीन होना चाहिये, किन्तु देशगत तथा जातिगत विशेषताओं को लेकर ही। साहित्य में अधार्मिकता को अपनाकर नवीनता लाने वालों का क्षेत्र सङ्कुचित हो जाता है। धार्मिकता से तात्पर्य निस्सार कर्मकाण्ड से नहीं है। कर्मकाण्ड के मूल तत्वों में जो आनन्द और मङ्गल समाहित है उसी को धार्मिकता की संज्ञा दे सकते हैं। परिस्थिति विशेष के सुधार के लिये अन्य समस्याओं या परम्पराओं की उपेक्षा हितकर हो तो हो, किन्तु साहित्य-क्षेत्र में यह प्रवृत्ति हितकर नहीं हो सकती। परम्पराओं में विश्वास करते हुये हमें अपनी कला में नवीन आदर्शों का प्राचीन आदर्शों से सामञ्जस्य स्थापित करना चाहिये। साथ ही "पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वंनवमित्यवद्यम्" में समाविष्ट सत्यता की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। राजनीति-क्षेत्र में जो चयन होता रहता है उसकी साहित्य-क्षेत्र में अधिक आवश्यकता नहीं होती। भारतीय साहित्य का क्षेत्र भूलोक तक ही सीमित नहीं है। वह चौदह लोकों का ज्ञान अर्जित करके उनसे भी आगे बढ़ने का प्रयत्न करता आया है। आज हमारे साहित्यिकों की सूझ इतनी सूक्ष्म नहीं रही है। क्षणभंगुर सिद्धान्तों की बाढ़ में बहना साहित्य की गति को अवरुद्ध करना है। काल का साहित्य-निर्माण में जो योग होता है, वह उसकी उपेक्षा करने का संकेत नहीं है। समय की गति में अरूपराग का भी कुछ न कुछ योग होना ही चाहिये। सदैव मूर्त और यथार्थ की नीरसता का पल्ला पकड़े घसीटते जाना भी अहितकर है। अमूर्त सृष्टि से विषय-उपादान ग्रहण करना साहित्य की व्यापकता में रस का सञ्चार करना है।

वर्तमान से असन्तुष्टता प्रकट करना सत्साहित्य का एक लक्षण होता है। किन्तु उससे एकदम दूर उड़ जाना भी कुलक्षण है। आज की सभ्यता से उकता कर बहुत से लोग प्रचीनता की ओर भाग रहे हैं, उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक सभ्यता के आवरण में कुछ न कुछ तथ्य मूल रूप में आछन्न रहता है। आज की सभ्यता बुद्धि-व्यवसायात्मक है। विज्ञान के विकसित रूप और उसी तथ्यान्वेषण प्रवृत्ति में साहित्य के लिये बहुत बड़ी प्रेरणा है। "प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य की चेतन-सत्ता अधिकतर इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। अन्तःकरण के विकास से सभ्यता बढ़ी और सभ्यता ने मनुष्य के ज्ञान को बुद्धि-व्यवसायात्मक बनाया। अब यह विस्मृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा।" वैज्ञानिक विवेचन के आधार पर परिस्थितियों का सजीव चित्रण उपयुक्त होगा।

प्रायः कहा जाता है कि विज्ञान की चरम उन्नति के पश्चात् कला और साहित्य की विकसित अवस्था के दर्शन होते हैं। यह साहित्यकारों के लिए बहुत अच्छा निर्देश है। विज्ञान-जन्य सुविधाओं से व्यावहारिक " यों

में अनेकरूपता आती है और परिणामतः आनन्द की समष्टि। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार व्यावहारिक कार्यों में भी आनन्द समाहित रहता है। वे काव्य के बाधक नहीं हैं। हाँ, एक बात का सदैव ध्यान रहना चाहिए कि व्यावहारिक कार्यों का प्रयोग साहित्य में व्यञ्जनापूर्ण होना जरूरी है। उनमें स्रष्टा का व्यक्तित्व और उसकी अन्तर्वृत्तियों की रसात्मकता का समावेश अनिवार्य होता है। इसके कुछ उदाहरण हमारे आज के साहित्य में मिल सकते हैं। हमारे श्रेष्ठ कहानी-लेखक और उपन्यासकार अब केवल समाज की बुराइयों का नग्न चित्र खड़ा नहीं करते। समाज से कथा-वस्तु लेकर मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में उसे सुन्दर बनाते हैं। इसका उपयोग भावी साहित्य में प्रचुरता के साथ होना चाहिये। कमी के ऊपर आँसू बहाकर काग़ज़ को रँग देना सत्साहित्य नहीं होता। अपनी अन्तरतम मनोवेग धाराओं से इन अभावों को स्निग्ध बना कर संभाव्य आदर्श की स्थापना करनी ही श्रेयस्कर है।

संस्कृति-सङ्घर्ष और भाव-यातायात का साहित्य-निर्माण में विशेष योग रहता है। हम आज संसार की विभिन्न संस्कृतियों से केवल परिचित ही नहीं हैं, वरन् जीवन में उनका प्रयोग भी करते हैं। विदेशी लेखकों की रचनाओं को हम अविकल या अनूदित रूप में पढ़ते रहते हैं, इससे दृष्टिकोण विस्तृत होता है। साथ ही किसी बड़े कलाकार की कृति आत्मचिन्तन की थाह बतलाती है। हम उसकी कसौटी पर अपनी अनुभूतियों को कस सकते हैं। किसी बड़ी सफल कृति को पढ़ने के पश्चात् यदि हम भी स्वयं कुछ अच्छी चीज लिख डालते हैं तो इसे अनुकरण की संज्ञा नहीं दे सकते। भावापहरण साहित्य में अक्षम्य दोष नहीं माना जाना चाहिये। परन्तु साथ ही इस दिशा में एक बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। वह यह कि हम जो कुछ लिखें वह हमारी ही चीज़ हो। तारीफ़ खाने में नहीं है, उग्र से उग्र वस्तु को हज़म कर जाने में ही तारीफ़ है। बड़े कलाकार की नक़ल करने के लिये पहले उसके विचार-धरातल तक अपने विचारों को उठाना चाहिये।

संसार में सबको समान समझते हुये भी देशगत परिस्थितियों और संस्कृति-विशेषताओं को भुलाना ठीक नहीं होता। रचना करते समय देश का वातावरण हमारे सामने रहता है। कल्पना-चक्षुओं से किसी अन्य वातावरण को भी देख सकते हैं, किन्तु उसमें सजीवता नहीं आ सकती। साम्यवाद सम्बन्धी रचनाओं को लिखते समय लेखक रूस के वातावरण में विचरने का आनन्द ले सकता है, किन्तु उसकी सजीव अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। भारत में लिखते समय चिर-परिचित भारत ही अभिव्यक्ति को सुलभ और सफल बना सकता है। हाँ, विदेशी प्रभाव देशगत साहित्य की उन्नति में कुछ बाधक होता है, किन्तु नितान्त घातक नहीं। राजनैतिक परतन्त्रता भी बहुत बड़ी बाधा उपस्थित नहीं करती। हिन्दी ने तो जन्म से ही परतन्त्रता की भ्रू-भङ्गिमाओं के समक्ष उन्नति की है। रामचरित-मानस और सूरसागर विदेशी शासकों की क्रूर आततायिता के रहते ही रचे गये थे। आज क्यों हताश हुआ जाय? प्रतिभाशील कलाकार इन क्षुद्र अवरोधों की परवाह नहीं करता। उसका मस्तिष्क स्वतन्त्र होता है। वह विद्रोह करने से डरता नहीं। उसका हृदय आततायी को भी मित्र समझता है। हमें ऐसी परिस्थिति में आशङ्का नहीं करनी चाहिये! हमारे साहित्य को तो सब से बड़ा धक्का हमारे धनी-मानी अङ्गरेज़ी के अभिभावकों द्वारा लग रहा है। यहाँ अवश्य परतन्त्रता ने साहित्य का गला दबाने का प्रयत्न करने के लिये चंगुल फैलाये हैं। अपने को विदेशी भाषा और विदेशी साहित्य का मास्टर समझने की भूल करने वाले कह बैठते हैं—'नेटिव लिटरेचर' में पढ़ने लायक़ कुछ नहीं है। उनका यह कथन अनुमान से व्यक्त होता है। पढ़ने का तो प्रयत्न ही नहीं करते! हिन्दी की अङ्गरेज़ी से तुलना करते समय हिन्दुस्तान और इङ्गलैण्ड के अन्तर को वे सर्वथा भूल जाते हैं। हिन्दी को अपूर्ण भाषा कह डालते हैं, क्योंकि उसमें पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये क्षेत्र नहीं है। क्षेत्र हो कहाँ से? वे सोचते हैं अङ्गरेज़ी में और लिखना चाहते हैं हिन्दी में! निदान यह कि हिन्दी की शब्दावली उनको फ़ीकी लगती है। वे मुँह बिगाड़ कर अलग हो जाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अङ्गरेज़ी

का अध्ययन बिल्कुल ही बन्द हो जाय। वह एक समृद्ध साहित्य है। अपने साहित्य की उन्नति के लिये अङ्गरेज़ी ही नहीं, अन्य यूरोपीय तथा विदेशी साहित्यों का मनन अनिवार्य सा है। साहित्य की उन्नति के लिये प्रतिभा के साथ-साथ अध्ययन भी तो आवश्यक होता है।

पढ़ना और मनन करना तो कुछ आपत्ति खड़ी नहीं करता; किन्तु हिन्दुस्तानी लोगों का अङ्गरेज़ी में कविता लिखना तथा अन्य ललित शाखाओं की रचना करना तो बहुत ही हास्यास्पद है। उनकी गणना किसी अङ्गरेज़ी साहित्य के इतिहास में नहीं होती और न वे स्वदेशी साहित्य में ही कोई स्थान पाते हैं। इन लोगों से अनुरोध है कि वे अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग न करें। क्षणिक सम्मान-प्राप्ति भारतीय आदर्श नहीं है। स्वार्थपरता और क्षणभंगुर ख्याति की लालसा अनुकरण की विकृतावस्था है। दूसरी संस्कृति में सर्वाङ्गीण विनिमज्जित होने के पूर्व यह सोच लेना सर्वथा उपयुक्त होता है कि उसका रङ्ग स्थायी आनन्द दे सकता है कि नहीं। अस्थायी चटक-मटक में अपनी विवेकहीनता का परिचय देकर अपनेपन को खोना ठीक नहीं। वह साधारण जीवन-सिद्धान्तों तथा साहित्य-शाखाओं को रङ्गीन करने की असावधानता पर भी लागू होता है। प्रत्येक साहित्यिक की मनोवृत्तियाँ मुख्यतः अपने निकटतम वातावरण की परिस्थितियों के अनुरूप ही विकसित होती हैं। जलवायु और भौगोलिक स्थिति का उसके मस्तिष्क तथा हृदय पर विशेष प्रभाव पड़ता है। वहिरङ्ग प्रकृति उसकी कोमल वृत्तियों को स्पर्श करती है। प्रतीकों के लिये उसे अपनी निकटस्थ प्रकृति के पास ही जाना पड़ता है। यह अलग बात है कि सूक्ष्म रूप से उसके अन्तराल में प्रविष्ट हो वह विश्वजनीन भावों की अनुभूति कर सके। सम्यक् विश्लेषण से यह सम्भाव्य भी है और यही प्रवृत्ति साहित्य में वाञ्छनीय भी होती है।

कुछ नवोत्थित साहित्यिक इस ओर अग्रसर हो रहे हैं, किन्तु उन्हें समुचित प्रोत्साहन नहीं मिलता। आलोचकों का एक ऐसा वर्ग खड़ा हो गया है, जो किसी भी वस्तु को नवीन रूप में देखने के लिये तय्यार नहीं होता। ख़ैर, ऐसी आलोचना का न तो कोई महत्व है और न सच्चे साहित्यिक को यह मार्गच्युत कर सकती है। साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करना तलवार की धार पर चलना है। इस पावन क्षेत्र में सत्य भावना ही पार लगा सकती है। इधर-उधर के झोंकों में बहकना घातक सिद्ध होता है। विधायक को अपने व्रत का भरसक पालन करना चाहिये और ग्राहक को सच्ची लग्न से उसकी रचनाओं में सुन्दरता का निर्लिप्त निरीक्षण। विधायक और ग्राहक सापेक्ष हैं। इनका सम्बन्ध अन्योन्याश्रयी होता है। एक दूसरे का विरोध करना साहित्य को कुसंस्कृत करना है। स्वयं विधायकों में भी बन्धुत्व का भाव प्रबल होना चाहिये। दूसरे को ऊपर की सीढ़ी से ज़बरदस्ती घसीटना और स्वयं उस स्थान पर चढ़ने का असफल प्रयत्न करना सर्वथा अनुपयुक्त है। हमारे आधुनिक साहित्य की यह अपरिपक्व अवस्था है। ऐसी अवस्था में पारस्परिक सहयोग और सहिष्णुता से ही साहित्य-धारा वेगवती हो सकती है। इस अवस्था में सृष्टि-कार्य की तीव्रता ही उपयुक्त होगी। घात-प्रतिघातों और सङ्घर्षों में आपाधापी से अधिक काम नहीं चलता। यह ऊहापोह का युग है। इसी उथल-पुथल में कुछ हाथ लग सकता है। विद्रोही हृदय की सूझ सदैव असाधारण होती है, किन्तु विद्रोह में मस्तिष्क को विकृत नहीं होना चाहिए। सुसङ्गत विद्रोह में ही "सौभाग्य-सदन के आमन्त्रण की लाली" के दर्शन हो सकते हैं। इसके लिये आत्म-त्याग, अध्यवसाय और आत्म-सम्मान की तीव्रता अपेक्षित है। साथ ही विपत्तियों को सहर्ष झेलने की सामर्थ्य भी चाहिये।

साहित्य-ग्राहकों में आजकल एक फ़ैशन सा हो गया है। वे किसी भी कविता को बिना पढ़े या समझने का प्रयत्न किये ही कह बैठते हैं कि यह समझ में नहीं आती। उसमें अस्पष्टता का दोष ही उनको सूझ सकता है। इसमें सन्देह नहीं कुछ चौर्य-कलानिपुण सङ्कलन-कर्त्ताओं की कृतियाँ बिल्कुल मायाजाल होती हैं, किन्तु सारे काव्य-साहित्य को इस दृष्टि से देखने वालों में ग्राहकता का स्पष्ट अभाव परिलक्षित होता है। निराला जी के सारे 'परिमल' का एक ही दिन में रसास्वादन करने वाले को तो निराश होना ही पड़ेगा। क्या शेली का 'प्रोमेथ्यूस अनबाउंड' एक ही बार पढ़ डालने से

समझ में आ जाता है ? ऐसे भी तो लोग हैं, जो 'परिमल' 'पल्लव' तथा हिन्दी काव्य की अन्य रचनाओं को समझ सकते हैं ! हो सकता है कि सभी समझने वाले एक ही रूप में न समझें, परन्तु उन्नत साहित्य का यही लक्षण है। निराला जी को कविता को समझने के लिए कुछ वेदान्तान्तर्गत दार्शनिक विचारावली का ज्ञान आवश्यक है और साथ ही यमुना में 'निखिल विश्व की जिज्ञासा' के दर्शन करने की शक्ति और शब्द-व्युत्पत्ति का ज्ञान ? जब तक ग्राहक की अध्ययन प्रणाली संस्कृत नहीं होगी तब तक अस्पष्टता बनी रहेगी। कुछ लोगों का रोना है कि साहित्य मज़दूरों के लिए भी होना चाहिये। सभी साहित्य सभी लोगों के लिए न किसी देश में हुआ है और न साधारणतया यह सम्भव ही हो सकता है। अङ्गरेज़ी साहित्य को उठाकर देखिये, उसमें मिल्टन, शेक्सपियर, शेली, मेयरडिथ, स्टीवेन्सन, शॉ आदि का एक वर्ग है तो एडगर वालेस, गार्विस वुड हाउस आदि का दूसरा ही। पहले वर्ग को समझनेवाले सभी नहीं हैं। दूसरे को यदि सभी समझें भी तो सभी पसंद नहीं करते। 'रोटीवाद' के पीछे पड़ने वालों को साहित्य की महत्ता का ध्यान सदैव रखना चाहिए। हो सके तो उन्हें इस ओर प्रयत्न करना चाहिए किन्तु सत्य भावना होने पर ही यह हो सकता है। 'रोटीवाद' के समर्थकों ने आज तक कुछ भी तो नहीं कर दिखाया। चिल्लाते हैं 'रोटीवाद' और नक़ल करते हैं बर्नर्ड शा की। आल्हा के आधार पर या कबीर के शब्दों के विकृतानुकरण पर मज़दूर स्वयं अपने मनबहलाव के लिये कुछ गढ़ लेते हैं। तोता मैना, बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी आदि कथा-पुस्तकों के अनुरूप कुछ सुसंस्कृत पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। अशिक्षित या पल्लव ग्राही पांडित्य के शिक्षित मज़दूरों के लिये सारा साहित्य नहीं लिखा जा सकता। जहाँ तक हो सके साहित्य गम्भीर मनन की वस्तु होनी चाहिए। 'अंगूरी हाला' को पीकर थोड़ी देर के लिए सभी मस्त हो सकते हैं। परन्तु यदि इसी अंगूरी हाला में 'प्राणों का आसव' मिला दिया जाय तो कौन उसे पी सकता है ? आत्मा का रस निचोड़ने वाले अपने ख़ून को सुखाकर ही सफल होते हैं। इस रस को पीने के लिये अदम्य साहस और महान् धैर्य की आवश्यकता है। आज के साहित्य में निराशावाद स्वभावतः ही आ गया है।

विषम परिस्थितियों के घेरे से निकलने का प्रयत्न करते रहने पर भी कोमल अन्तर्वृत्तियों का व्यक्ति क्षुब्ध हो ही जाता है। इसके लिये सहानुभूति चाहिये। आशा तो ऐसी है कि इस नैराश्य का निकट भविष्य में तिरोधान हो जायेगा। इसमें प्रतीकवाद सहायता दे रहा है। जिन लोगों को व्यक्तिगत जीवन की निराशाओं ने व्याकुल किया है वे तो कभी न कभी आशान्वित होंगे ही। उन्हें इस भयङ्कर निराशा का निराकरण करने का प्रयास करना चाहिये। यदि व्यक्ति लोक-जीवन में अपने जीवन की समष्टि कर दे तो यह सर्वथा सम्भाव्य हो सकता है। हमें मज़दूरों के उत्थान के लिये प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु साहित्य ही इसके लिये एकान्त साधन नहीं है। मैक्सिम गोर्की का सारा जीवन मज़दूरों के उत्थान करने में बीता, किन्तु उसकी रचनाओं को कितने मज़दूर समझ सकते हैं ? कार्लमार्क्स ने इसी हेतु नारकीय यातनायें भोगीं, किन्तु उसके सिद्धान्त मज़दूरों की समझ में आज भी नहीं आ सकते। हाँ, भारतवर्ष को यदि मज़दूरों का देश कहा जाय तो हो सकता है कि सारा साहित्य मज़दूरों के लिये ही लिखा जाना चाहिये। अपने साहित्य के विधेयात्मक पहलू को सुदृढ़ बनाने के लिये हमें झोपड़ियों से कथावस्तु तो लेनी ही पड़ेगी।

दूसरी समस्या भाषा की है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न करने वालों ने उसकी साहित्यिक महत्ता को तो बिलकुल ही भुला दिया। साधारण प्रयोग के लिये एक सरल भाषा बनाई जा सकती है। जैसे यूरोप में बेसिक इङ्गलिश (Basic English) है जिसमें साधारण बोल-चाल के लगभग ८५० शब्द हैं। साहित्य में भाषा भावानुसारिणी होती है। भाषा के सरल या कठिन होने का प्रश्न सुशृंखल भावों को समझते समय नहीं उठ सकता। भावों की गहनता तक पहुँचने में केवल सरलातिसरल भाषा ही समर्थ नहीं होती। भाषा तो वाहक मात्र है। उसको पुष्ट होना चाहिये, बस। तुलसी की रामायण सरल भाषा में लिखी होने के कारण ही

सर्वप्रिय नहीं है। उसमें भी तो ऐसे स्थल हैं जो आज तक समस्यान्वित है। बालकांड के पूर्वार्ध में और उत्तरकांड के उत्तरार्ध में जहाँ दार्शनिक विचारों का निरूपण किया गया है, भाषा स्वयं ही कठिन हो गई है। यह तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इससे दूर होना बहुत ही मुश्किल है। जटिल विषय को सोचने के लिये माध्यम अपने आप जटिल हो जाता है। यही जटिल माध्यम विषय की अन्तरतम कक्षा में ले जा सकता है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जानबूझकर भाषा को जटिल बनाया जाय या छिछले विषयों को ज़बरदस्ती जटिलता के आवरण में छिपाया जाय। अन्य भाषाओं के शब्दों को हिन्दी में ग्रहण करना उचित ही होगा बशर्ते कि वे प्रचलित शब्द हों। समृद्ध भाषाओं में पचाने की शक्ति होती है। हिन्दी संस्कृत के ही रूपान्तर से निकली है, इसलिये उसमें उर्दू के साथ-साथ संस्कृत के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी अच्छा होगा, राजनैतिक सुविधाओं के लिये हिन्दी को खिचड़ी बनाया जा सकता है, किन्तु साहित्यिक हिन्दी ही होनी चाहिये। यदि हिन्दी ही राष्ट्र भाषा होने जा रही है तो अन्य भाषा-भाषियों में कुछ त्याग की भावना होनी चाहिये। अपना देकर दूसरों से लेना ही मानव-जीवन की विशेषता है।

हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। उसकी कविता में विश्वजनीनता आ रही है। उसके कथा-साहित्य में मानव-जीवन की व्यापकता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आरम्भ हो गया है। उसके निबन्ध संश्लिष्ट होते जा रहे हैं। जीवन-चरित्र लिखने की नई प्रणाली का भी समावेश हो गया है। राजनीति, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, विज्ञान आदि विषयों पर भी हिन्दी में पुस्तक रचना हो रही है। अभाव केवल ग्राहकता का है। विधायकों का कर्तव्य है कि वे वर्तमान समस्याओं को एक-एक करके सुलझाने का प्रयत्न करें। जहाँ तक हो, नई सूझ के लिये साधना की जाय, किन्तु जहाँ यह नहीं हो सकता वहाँ विदेशी समृद्ध साहित्यों का अनुकरण किया जा सकता है। अनुकरण विकृत नहीं होना चाहिये। अङ्गरेजों का अनुकरण करते हुये जब हिन्दुस्तानी लोग भी जून के महीने में सूट और टाई लगाये पसीने से तर नज़र आते हैं तो विकृतानुकरण स्पष्ट दिखाई देता है। साहित्य में भी अनुकरण वहाँ तक सुसङ्गत समझा जाता है जहाँ तक वह देशगत संस्कृति का गला नहीं दबाता। प्रकृति-पर्यवेक्षण, प्रेम-आदर्श, स्त्री-निरूपण आदि अङ्गों का पोषण करते समय हाइड पार्क में घूमना अच्छा नहीं होगा। हमारा हिमालय, हमारी गङ्गा, हमारी त्रिवेणी में काफ़ी प्रेरणा है।

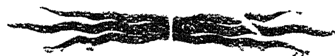
हमारा अध्ययन अङ्गरेज़ी तक ही सीमित नहीं होना चाहिये। हम शेक्सपियर पर मुग्ध हो जाते हैं और कालिदास का स्वप्न में भी स्मरण नहीं करते। एक छुटपन का भाव (Inferiority complex) हमारी उन्नति में व्यवधान बन कर अड़ जाता है। इसका निराकरण कर हमें आत्म-गौरव का अवलम्ब लेना चाहिये। साहित्य के उन्नायकों में यह गुण प्राधान्य रखता है। ग्राहकों में भी जिस दिन इस भावना का व्यापक सञ्चार हो जायेगा साहित्य की गति अपने आप तीव्र हो जायेगी। आवश्यकताओं के बढ़ने पर ही नये-नये आविष्कार होते हैं। आदान-प्रदान का कार्य साथ-साथ चलता है। वातावरण में जिस कमी से विकलता फैलती है उसकी पूर्ति के लिये अनुसन्धान शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाता है और सिद्धि होने में देर भी नहीं लगती। आज समाज में नई-नई आवश्यकताएँ हो रही हैं। समाज-सेवी एक ओर विधान उपन्यस्त करते हैं तो साहित्यकार दूसरी ओर एक नया आदर्श स्थापित कर देते हैं। समाज-सेवियों की चिन्तन-प्रणाली को साहित्यिकों का आदर्श अव्यक्त रूप से प्रभावित करता रहता है। यदि अपने साधारण जीवन को सुधारने के लिये हम स्वयं प्रयत्न करने लगेंगे, तो साहित्य में भी स्वतः नवीनता और मुग्ध-कारिता आ जायेगी। हिन्दी-भाषी प्रदेश के सभी साहित्य प्रेमी यदि हिन्दी की पुस्तकों को पढ़ना आरम्भ कर दें तो अभाव उन्हें अवश्य खटकेगा। और अभाव-पूर्ति के लिये वे मत प्रकट करेंगे ही। विभिन्न रुचियों के प्रकटीकरण से विभिन्न रस-प्रेमी साहित्यकारों की विभिन्न वृत्तियाँ कर्मण्य हो उठेंगी और फलतः साहित्य की अनेकों धाराएँ फूट निकलेंगी। इसीलिये विधायक और ग्राहक का पारस्परिक सहयोग उपन्यस्त होता है।

साहित्य-सेवा का व्रत चान्द्रायण से भी मुश्किल होता है। ऐसे यदि कुछ व्रती निकल भी जायँ तो हम उनका समुचित आदर नहीं करते। एक आई० सी० यस० के आदमी का हम एक सत्साहित्य-सेवी से अधिक सम्मान करते हैं। बात यह है कि जब डर सम्मान का कारण हो जाता है तो पात्रता का ध्यान नहीं रहता। शारीरिक वृत्तियों पर अधिकार रखने वाले का महत्व आन्तरिक वृत्तियों पर अधिकार रखने वाले से किसी भी हालत में बड़ा नहीं हो सकता। इस पर मनन कर साहित्य-प्रेम बढ़ सकता है।

पत्रकार-कला का साहित्य-पोषण में बड़ा योग होता है। हिन्दी में यह कला अभी तक लुप्त-प्रायः है। प्रमुख-पत्रिकाओं के सम्पादक भी जब सुनी-सुनाई बातों के आधार पर काम चलाते हैं तो खेद होता है। हिन्दी में ऐसे भी सम्पादक है जो चाटुकारी पसन्द करते है। उनके चरणों में झुकने वाले की निकृष्ट कृतियों को स्थान मिल सकता है, किन्तु आत्माभिमानी की प्रतिभा बहुत दिनों तक कुण्ठित होती रहती है। यह गुरुडम साहित्य की उन्नति के मार्ग में रोड़े लुढ़काता है। पत्र-सञ्चालक भी बहुधा सम्पादकों को क्रीतदास के समान समझते हैं और उनसे मनमाना काम लेते हैं। इस समय हिन्दी में इस कला की अभिवृद्धि होनी बहुत ही आवश्यक है। अल्पज्ञता सदैव भयानक परिणामों की कारण होती है। आर्थिक अवस्था की दुर्दशा इसमें बाधा उपस्थित करती है, किन्तु अध्यवसायी लोगों के लिये तो कोई बाधा रह ही नहीं जाती।

हिन्दी को सुसंस्कृत करने के बहुत से प्रयत्न हो रहे हैं। हिन्दी प्रान्त की स्थापना का भाव राष्ट्रीयता या विश्व-भ्रातृत्व के विकास में अवरोध उत्पन्न नहीं करता। हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान राष्ट्रीयता की विभिन्न सीढ़ियाँ हैं। प्रत्येक सोपान को सम्पन्न करने से ही ध्येय तक सुरक्षित पहुँचने की आशा की जाती है। नीचे से कूद कर एकदम ऊपर चढ़ने का साहस प्रशंसनीय है, किन्तु यदि ऊपर पहुँच कर टिकने के लिये सुदृढ़ स्थान न मिले तो नीचे पड़ना तो अलग रहा, चोट आयेगी और दर्शक हँसेंगे। यहाँ किसी साम्प्रदायिक कलह को खड़ा करने के लिये भी संकेत नहीं हो रहा है। अपनी-अपनी उन्नति सबको करनी ही चाहिये। एक ही संस्था यदि सबकी उन्नति के उपाय सोचे तो वाद-प्रतिवाद अवश्य खड़े होंगे। एक ही समय भिन्न-भिन्न संस्थाओं द्वारा ही भिन्न-भिन्न कार्य-क्रम पूरे हो सकते हैं। एक से भिन्न-भिन्न नहीं।

साहित्य मानव-व्यापारों की अभिव्यक्ति है। अतः उसमें सम्पूर्ण जीवन के घात-प्रतिघातों का विश्लेषणात्मक निरूपण उसकी समृद्धि का परिचायक होगा। साहित्य को नैतिकता के नीरस नियमों से जकड़ना भी हितकर नहीं है। सभी रसों का सम्यक् सम्मिश्रण सत्साहित्य की विशेषता है। शृङ्गार का बहिष्कार अच्छा नह किन्तु साथ ही उसमें बकवाद भी अच्छा नहीं लगता। तात्पर्य यह है कि कोरी पार्थिवता हमारा अपना आदर्श नहीं है। शृङ्गार जीवन के सभी क्षेत्रों में अनिवार्य है। कलात्मकता की रक्षा के लिये साहित्य में उसका समावेश करना अनुकूल ही होता है। इन्द्रियैषणा उसमें हो, किन्तु गन्दी वासना न हो। अन्य रसों का भी परिपक्व निरूपण किया जाना चाहिये। नाम के पीछे दीवानों की रचनायें साहित्य के आलबाल को अनावश्यक अवरोहों से घेर लेती हैं। उनको निर्मूल कर या हो सके तो संस्कृत कर साहित्य की रक्षा करनी होगी। समाज-परिष्कार के लिये साहित्य अप्रस्तुत रूप से प्रयत्न करता रहता है। इसीलिये साहित्य का समृद्ध और सुसंस्कृत होना अत्यावश्यक है। राष्ट्रीय शक्ति बढ़ा कर अंतर्राष्ट्रीयता में प्रविष्ट होने के लिये साहित्य ही सर्वोत्कृष्ट माध्यम है। हमारा साहित्य तभी प्रबुद्ध हो सकता है, जब हम अपने को पहचानेंगे। अतीत गौरव पर आँसू बहा कर उसकी अवहेलना कर देना कायरता का परिचय देना है। उसकी आधार-शिला निर्धारित कर नवीन जाग्रत और स्फूर्तिमय साहित्य की सृष्टि करने से ही स्वतंत्र भारत का स्वप्न वास्तविकता में परिणत हो सकता है।



सोवियट रूस का नवीन शासन-विधान

[श्री० रामनारायण 'यादवेन्दु' बी० ए०, एल-एल० बी०]

सन् १९१७ की प्रसिद्ध राज्य-क्रान्ति के बाद रूस में 'सोवियट' का विकास होने लगा। 'सोवियट' रूसी भाषा का शब्द है और इसके मानी हैं परिषद् या कौंसिल। ज़ार के युग में, रूस में, सोवियट का स्थान वही था, जो इङ्गलैण्ड में लार्ड्स-सभा का है। परन्तु क्रान्ति के बाद 'सोवियट' शब्द का प्रयोग उस निर्वाचित परिषद् के लिये होने लगा, जिसमें किसी विशेष व्यवसाय (यथा, मज़दूर, किसान इत्यादि) के प्रतिनिधि हों। क्रान्ति के उपरान्त एक अल्पकालीन सरकार की स्थापना की गयी, जो रूस में शान्ति और व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध कर सके। इसके कुछ समयोपरान्त रूसी शासन-विधान के निर्माण के निमित्त एक वैधानिक परिषद् निमंत्रित की गई। परन्तु वैधानिक परिषद् अपने शैशव-काल में ही भङ्ग कर दी गयी और बोलशेविकों ने सोवियट की स्थायी पद्धति की स्थापना की और एक नामज़द मन्त्रि-मण्डल निर्माण किया। इस नवीन पद्धति की दो विशेषताएँ थीं :—(१) मताधिकार केवल मज़दूरों को दिया गया। (२) 'बैलट' की प्रथा बन्द कर दी गयी। साम्यवादी-दल उन व्यक्तियों के नाम भेजने लगा, जिनको सोवियटों में चुना जाता था। इस प्रकार जनतन्त्रवाद के सिद्धान्त की स्पष्टतः अवहेलना की गयी।

सन् १९२२ ई० में रूस के शासन-विधान में मौलिक संशोधन किये गये। राज्य का नवीन नामकरण किया गया। अब रूस का नाम 'सोवियट समाजवादी रिपबलिक्स सङ्घ' हो गया।

फरवरी सन् १९३५ में रूस की सरकार ने "शासन-विधान को जनतन्त्रवादी" बनाने के मन्तव्य की घोषणा की और इस कार्य के लिये एक उपसमिति नियुक्त की गयी, जिसके अध्यक्ष स्वयं रूस के अधिनायक स्टेलिन को नियुक्त किया गया। रूसी डिक्टेटर के अतिरिक्त इस समिति में चार प्रमुख राजनीतिज्ञ विद्वानों को चुना गया, जो क्रमशः इस प्रकार हैं :—कागनोविट्च (जो स्टैलिन का दाहिना हाथ माना जाता है), बी० एम० मोलोटोव (रूसी मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष है), के० रेड्क (साम्यवादी दल का प्रसिद्ध पत्रकार) और एन० बुखारिन (बोलशेविज्म का प्रमुख आचार्य)। इस महत्वपूर्ण समिति ने शासन-विधान का जो मसविदा तैयार किया वह १२ जून १९३६ ई० को रूसी जनता का लोकमत जानने के लिये प्रकाशित किया गया। रूस की केन्द्रिय-कार्य-कारिणी समिति ने उपरोक्त समिति के मसविदे को स्वीकार कर लिया। ता० २५ नवम्बर सन् १९३६ ई० को यह मसविदा अखिल सोवियट कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया गया।। कांग्रेस ने सर्व-सम्मति से मसविदा को स्वीकार कर रूस के इतिहास में एक महत्वपूर्ण और अपूर्व शासन-विधान का श्रीगणेश किया है।

एक नवीन आदर्श

विगत यूरोपीय महासमर के उपरान्त यूरोप के देशों में जनतंत्रवाद के प्रति एक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने महासमर में भाग लेने से पूर्व जो पवित्र घोषणाएँ की थीं और जिन आदर्शों की रक्षा के लिए विश्व के सभ्य राष्ट्रों से अपील की थी, उनमें से एक घोषणा यह थी कि हम महासमर में जनतंत्रवाद की विजय के लिए भाग ले रहे हैं। परन्तु महासमर के बाद का इतिहास यह बतलाता है कि यह घोषणा जनतंत्रवाद का उपहास थी। विगत महासमर के बाद यूरोप के देशों में, जनतंत्रवाद की पराजय या विफलता से घोर निराशा हुई। राष्ट्रों का

इस सिद्धान्त में विश्वास कम होने लगा। सबसे पहला राष्ट्र जिसने लोकतंत्र-वाद के सिद्धान्त को ठुकरा दिया, वह है रूस। इसके बाद इटली, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि देशों में लोकतंत्रवाद का अन्त हो गया और उसके खण्ड-हरों पर अधिनायक-तंत्र का भवन खड़ा किया गया। फ्रान्स, इङ्गलैण्ड और संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में, जो लोकतंत्रवाद के कट्टर समर्थक हैं, भी लोकतंत्र-पद्धति का पराभव होने लगा। प्रेसीडेंट और 'प्रीमियर' डिक्टेटर का रूप धारण कर पार्लमेन्ट के रङ्ग मञ्च पर अवतीर्ण हुए। इस प्रकार लोकतंत्र के स्थान पर पूँजीवादी शासन ने ज़ोर पकड़ा।

परन्तु सन् १९३६ के नवीन सोवियट विधान ने बिलकुल ही एक नया आदर्श संसार के सामने उपस्थित कर दिया है। इतने बड़े पैमाने पर पहले कभी किसी भी देश में लोकतंत्र-वाद का परीक्षण नहीं किया गया। रूस के १८ करोड़ नागरिकों को वयस्क मताधिकार देकर वास्तव में एक नूतन आदर्श उपस्थित कर दिया है। समस्त स्त्री पुरुषों को, जिनकी आयु १८ वर्ष या इससे अधिक है, मताधिकार दे दिया गया है। सम्पति, धन, कर, शिक्षा, पूँजी आदि के आधार पर मताधिकार नहीं दिया गया है, जैसा कि अन्य देशों और भारतवर्ष में दिया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी का लोकतंत्रवाद, स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व के आदर्शों को साथ लेकर आया; पर उसने संसार में समदर्शी लोकतन्त्र को जन्म नहीं दिया। अमेरिका और यूरोप में यह लोकतन्त्र पूँजीवादी लोक-तन्त्र बन गया; राज्य में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत आर्थिक उत्कर्ष की नीति को प्रोत्साहन मिला। व्यक्ति के सामने समाज की स्वतन्त्रता और उत्कर्ष का प्रश्न पीछे रह गया।

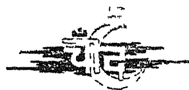
इस नीति के फलस्वरूप देशों में पूँजीवाद का चरम विकास हुआ। पूँजीवाद के विकास का एक परिणाम यह हुआ कि लोकतन्त्र के त्रितत्वों—स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व—में से समता का विनाश होने लगा। आर्थिक विषमता के सामने राजनैतिक समता कोई अर्थ नहीं रखती।

इस तथ्य को रूस ने भलीभाँति समझा और समाज में आर्थिक-समता के आदर्श को क्रियात्मक रूप देने के लिये समाजवादी प्रणाली को जन्म दिया। रूस के इस परीक्षण को अखिल विश्व बड़ी उत्सुकता से देख रहा है। संसार के इतिहास में यह पहली घटना है कि जब रूस अपने देश में समदर्शी लोकतन्त्र की स्थापना के लिये प्रयास कर रहा है। अधिनायक तन्त्र के द्वारा रूस ने वर्ग-हीन समाज का निर्माण करने का प्रयत्न किया और यह जानकर सन्तोष है कि इस दिशा में आशातीत सफलता प्राप्त की है। रूस में धन या व्यक्तिगत सम्पति सम्बन्धी विषमता अति कम हो गयी है। और सबसे अधिक आश्चर्य-जनक तथा आशाप्रद बात तो यह है कि रूस ने ऐसे युग में (समदर्शी लोकतन्त्र) की स्थापना का बीड़ा उठाया है, जब कि समस्त पाश्चात्य देशों में डिक्टेटरी का बोलबाला हो रहा है।

अधिनायक-तंत्र का अन्त

जीवन परिवर्तनशील है; जहाँ परिवर्तनशीलता नहीं वहाँ मृत्यु का वास है। यही बात राजनैतिक-जीवन के विषय में ठीक उतरती है। मनुष्य ज्ञान और अनुभव के आलोक में अपनी पूर्व धारणाओं और सिद्धान्तों में युग-धर्म के अनुसार परिवर्तन करता आया है। साम्यवादी रूस में भी अब जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे अनुभव-सिद्ध हैं। समाजवादियों के विविध स्कूलों में अब सामञ्जस्य स्थापित होता जा रहा है और उनके पारस्परिक मतभेद भी कम होते जा रहे हैं। समाजवादी राज्य की स्थापना और सामाजिक क्रान्ति के लिये शान्ति-मय और वैधानिक उपायों से कार्य करने की नीति में अब आस्था कम होती जाती है। अनुभव यह बतलाता है कि सुरक्षित हित स्वेच्छा से अपनी सत्ता को नहीं त्याग सकते। फेबियन समाजवादी की यह धारणा बन गयी है कि समाजीकरण के लिये शान्तिमय और वैधानिक उपायों का सहारा त्याग कर कम्यूनिस्टक ढङ्ग अपनाना चाहिये।

साम्यवादी और अराजकतावादी लोग भी यह अनुभव करने लगे हैं कि वर्ग-हीन समाज-निर्माण के सिद्धान्त



असम्भव है; समाज में मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति ही आवश्यक नहीं है; व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश अभिप्रेत या वाञ्छनीय नहीं है; सब व्यक्तियों को, सब कार्य के लिये, समान पारिश्रमिक का सिद्धान्त भी वाञ्छनीय नहीं है; यह साम्यवादी सिद्धान्त कि "प्रत्येक से सामर्थ्यानुसार लेना चाहिये और आवश्यकतानुसार देना चाहिये" भी कार्य-रूप में परिणत नहीं हो सकता। प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर गुरुमुख निहालसिंह (काशी-विश्वविद्यालय) के शब्दों में "उन्होंने (समाजवादियों-ने) यह अनुभव कर लिया है कि यह सम्भव है कि एक बड़ी सीमा तक मानव-प्रकृति में परिवर्तन कर दिया जाय और लाभ के लक्ष्य के स्थान में सेवा का लक्ष्य स्थिर कर दिया जाय; पर यह न तो क्रियात्मक है और न आवश्यक ही कि वैयक्तिक मौलिकता, योग्यता, उद्योग-शीलता, मनोकामना और महत्वाकांक्षाओं का विनाश किया जाय।"

रूसी परीक्षण के परिणाम-स्वरूप जिन सत्यों का समाजवादियों ने प्रत्यक्षीकरण किया है, उन्हीं का प्रभाव नवीन विधान पर पड़ा है। नवीन सोवियट विधान के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रूस के समाजवादी या साम्यवादी के मस्तिष्क में कितना महान् परिवर्तन हो गया है।

साम्यवाद और कार्ल मार्क्स के साम्यवाद के पाँच मूल सिद्धान्त हैं। (१) हिंसा, क्रान्ति और दमन में विश्वास; पूँजीवादी राज्य को समाजवादी राष्ट्र में परिवर्तित करने के लिये हिंसा और क्रान्ति आवश्यक है। (२) समाजवादी विजय के फल का उपभोग करने के लिये निर्दयतापूर्वक प्रतिक्रियावादी शक्तियों का मज़दूरों द्वारा दमन। (३) वर्ग-हीन साम्यवादी समाज की स्थापना के लिये तैयारी; परिवर्तन-काल में सर्वहारा का अधिनायक-तन्त्र। (४) जब वर्गहीन समाज की स्थापना हो जायगी तो सर्वहारा की 'डिक्टेटर-शिप' का अन्त हो जायगा। राज्य का विनाश होकर उसकी जगह अराजकवादी समाज की स्थापना हो जायगी। (५) इस वर्ग-हीन और राज्यहीन समाज में समस्त सम्पत्ति सामान्य होगी; अर्थात् उस पर सबका समान अधिकार होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार समाज के लिये काम या सेवा करेगा और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार समाज उसे देगा। बलप्रयोग की कोई आवश्यकता न होगी। सब लोग समाज-सेवा, पारस्परिक सहायता और सहयोग के आदर्शों के अनुसार कार्य करेंगे।

अराजकवादी समाज का जो विकास-क्रम कार्ल मार्क्स ने बतलाया है, उसके ठीक विपरीत रूस में विचारधारा का विकास दृष्टिगत होता है। सोवियट मन्त्रि-मण्डल के प्रधान सचिव कामरेड मोलोटोव ने फरवरी १९३५ में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घोषणा की थी—जिसमें उन्होंने यह बतलाया था कि सर्वहारा के अधिनायक तन्त्र ने अपना कार्य समाप्त कर दिया और रूस एक वर्गहीन समाज बन गया है, जो समाजवाद के लिये पूर्णतया तत्पर है। परन्तु प्रधान सचिव ने सोवियट राज्य को भङ्ग करने के स्थान में यह घोषित किया कि रूस की सरकार समाजवादी लोकतन्त्र राज्य की स्थापना करना चाहती है। मार्क्स के उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार 'राज्यहीन समाज' की स्थापना वाञ्छनीय है; परन्तु रूस अब 'समाजवादी लोकतन्त्र' का परीक्षण करने जा रहा है। वास्तव में यह एक अनोखा आदर्श है, जो यदि सफलता पूर्वक प्रयोग में लाया जा सका, तो संसार के राष्ट्रीय-जीवन में एक क्रान्ति उत्पन्न कर देगा।

इस प्रकार रूस में अब 'प्रोलेट्रियेट' की डिक्टेटर-शिप का अन्त हो गया है और अब नवीन विधान के अनुसार 'लोकतन्त्र' की स्थापना की जायगी।

समाज का सङ्गठन

नवीन सोवियट शासन-विधान के प्रथम अध्याय में 'समाज के सङ्गठन' का उल्लेख किया गया है। सोवियट समाजवादी राज्य-सङ्घ मज़दूरों और किसानों का समाज-वादी राज्य है। सोवियट समाजवादी राज्य-सङ्घ का राजनैतिक आधार श्रमिकों के प्रतिनिधियों की कौंसिलों या सोवियटों से निर्मित हुआ है। सोवियट समाजवादी राज्य-सङ्घ की समस्त सत्ता ग्राम और शहर के श्रमिकों के हाथों में है। (देखिये धारा १, २, ३)

सोवियट समाजवादी राज्य-सङ्घ का आर्थिक आधार समाजवादी अर्थ-शास्त्र और उत्पादन-साधनों पर समाजवादी स्वामित्व द्वारा निर्मित हुआ है, जो पूँजीवादी पद्धति के सर्वनाश के फलस्वरूप मजबूती से स्थापित हो चुका है। (धारा ४)

समाजवादी सम्पत्ति—सोवियट रूस में समाजवादी स्वामित्व या तो राज्य-स्वामित्व (अर्थात् समस्त लोगों की सम्पत्ति के रूप में अथवा सहकारी-सामूहिक-'फ़ार्म' के स्वामित्व के रूप में है (धारा ५)। पृथ्वी, भूमि के भीतर के पदार्थ, जलाशय, वन, मिल, कारखाने, सेफ़्ट्स, खान, रेल-रोड, जल-मार्ग से और वायु-मार्ग से आवागमन, तट, आवागमन के साधन, विशाल कृषि-सम्बन्धी उद्योग, जिनका सञ्चालन राज्य ने किया हो इत्यादि राज्य की सम्पत्ति हैं; अर्थात् इनपर समस्त नागरिकों का अधिकार है। (धारा ६)

यद्यपि सोवियट रूस में आर्थिक प्रणाली समाजवादी है अर्थात् समस्त सम्पत्ति पर राज्य का स्वामित्व है अथवा सामूहिक या सहकारी फ़ार्म का स्वामित्व है। परन्तु कुछ सीमा तक व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी स्थान दिया गया है। सहकारी-फ़ार्म में सार्वजनिक काम, सहकारी-सभाएँ, पशु-धन और पत्रों-सहित, सहकारी-फ़ार्म का उत्पादन, और सहकारी-सङ्घ और उनके सार्वजनिक भवन आदि सामूहिक फ़ार्मों की समाजवादी सम्पत्ति हैं।

व्यक्तिगत-सम्पत्ति—समाजवादी आर्थिक-प्रणाली के साथ-साथ, क़ानून द्वारा, किसानों और मज़दूरों को अपने कौशल और श्रम के आधार पर, बिना किसी अन्य व्यक्ति के श्रम का शोषण किये, व्यक्तिगत सम्पत्ति का भी विधान है। प्रत्येक सामूहिक फ़ार्म के गृहस्थ के पास, उसकी आय के अतिरिक्त, अपने प्रयोग के लिये एक ज़मीन का भाग होता है, जो उसके मकान से मिला होता है। इस ज़मीन से जो आय होती है वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति है। उसके पास एक रहने को मकान, पशुधन, मुर्गी, बतकें आदि, और छोटे कृषि के यन्त्र होते हैं। (धारा ७) सामूहिक फ़ार्मों की भूमि के लिये कोई मूल्य नहीं देना पड़ता और हमेशा के लिये फ़ार्म दे दिये जाते हैं।

सोवियट रूस में, नवीन शासन-विधान के अनुसार निम्न लिखित सम्पत्ति व्यक्तिगत सम्पत्ति मानी जाती है :—(१) नागरिक की परिश्रम से पैदा की हुई आमदनी और बचत (२) निवास-स्थान (३) सहायक घरेलू काम-धन्धों से आमदनी (४) घरेलू काम और प्रयोग की वस्तुएँ (५) व्यक्तिगत प्रयोग और आराम की चीज़ें।

रूस में परिवार में प्रयोग की वस्तुओं पर व्यक्तिगत अधिकार है। इस प्रकार 'परिवारों' को राज्य ने स्वीकार करके समाज की नींव को सुदृढ़ बनाने की चेष्टा की है।

सोवियट रूस के शासन-विधान में धारा १२ जोड़ कर श्रम के महत्व पर विशेष रूप से ज़ोर दिया गया है। रूस में प्रत्येक समर्थ नागरिक के लिये श्रम पवित्र कर्त्तव्य और गौरव की बात है। रूसी समाज ने यह सिद्धान्त अपनाकर कि जो काम नहीं करता, वह खा भी नहीं सकता, वास्तव में एक आदर्श व्यवस्था को क्रियात्मक रूप देने की चेष्टा की है। रूस में इस समाजवादी सिद्धान्त का पूरी तरह पालन किया जाता है—"प्रत्येक को अपनी योग्यता से काम करना चाहिये और प्रत्येक को अपने श्रम के अनुसार दिया जाय।"

राज्य का सङ्गठन

सोवियट यूनियन का सङ्गठन सोवियट रिपब्लिक्स की स्वतन्त्र इच्छा से समानाधिकार के आधार पर हुआ है। सोवियट यूनियन में ११ राज्य सम्मिलित हैं। सोवियट यूनियन की कार्य-सीमा के अन्तर्गत राज-प्रबन्ध सम्बन्धी निम्नलिखित कार्य हैं :—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में यूनियन का प्रतिनिधित्व, दूसरे राष्ट्रों से सन्धियाँ।

(२) शान्ति और युद्ध के प्रश्न।

(३) सोवियट यूनियन में नवीन राज्यों को मिलाना।

(४) सोवियट रूस के शासन-विधान के पालन पर नियन्त्रण तथा रिपब्लिक के विधानों की सोवियट विधान से अनुकूलता।

(५) यूनियन रिपब्लिक में सीमा-परिवर्तन की स्वीकृति।

(६) नवीन प्रान्तों के निर्माण की स्वीकृति।

(७) सोवियट की सेना का सङ्गठन।

(८) राज्य-एकाधिकार के आधार पर विदेशी व्यापार।

(९) राज्य साख की रक्षा।

(१०) राष्ट्रीय अर्थ-नीति की योजना की प्रतिष्ठा।

(११) बजट की स्वीकृति।

(१२) बैङ्क, औद्योगिक व कृषि-सम्बन्धी उद्योगों का प्रबन्ध।

(१३) आवागमन और सामुद्रिक व्यापार का नियन्त्रण।

(१४) धन सम्बन्धी प्रणाली का नियन्त्रण।

(१५) स्टेट-बीमा का सङ्गठन।

(१६) कर्जा लेना व देना।

(१७) पृथ्वी के भीतर के द्रव्यों व जमीन, वन तथा जल के प्रयोग के मौलिक सिद्धान्त निर्धारण।

मौलिक नागरिक अधिकार

संसार में ऐसा कोई भी राष्ट्र नहीं है जिसके शासन-विधान में नागरिकों को इतने अधिक अधिकार दिये गये हों और उनके अधिकारों की सुरक्षा के लिये ऐसा समीचीन विधान किया गया हो जितना कि सोवियट नवीन शासन-विधान में किया गया है। सोवियट रूस के नागरिकों को, बिना किसी प्रकार के जाति या वर्ण सम्बन्धी भेद-भाव के, आर्थिक, राज्य-सम्बन्धी, सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन के समस्त क्षेत्रों में समान अधिकार दिये गये हैं। जातीयता या राष्ट्रीयता के कारण, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अधिकारों को कम करना अथवा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जातीयता या राष्ट्रीयता के आधार पर विशेषाधिकार की स्थापना आदि क़ानून से दण्डनीय ठहराये गये हैं।

नागरिकों के मौलिक अधिकारों के इतिहास में श्रमाधिकार, विश्रामाधिकार और भौतिक सुरक्षा का अधिकार विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जिस राष्ट्र में नागरिक निवास करता है उसके राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह उसको अपनी आजीविका के लिये कार्य दे। आज संसार के राष्ट्रों में मजदूरों और किसानों के करुण-क्रन्दन और हाहाकारपूर्ण चीत्कार से जो अशान्ति उत्पन्न हो गयी है, उसने नागरिकों की आँखें खोल दी हैं और ऐसी दशा में श्रमाधिकार एक बड़ा महत्वपूर्ण अधिकार बन जाता है।

सोवियट रूस में प्रत्येक नागरिक को नियत कार्य प्राप्त करने का अधिकार है और उस कार्य के लिये, उसके परिमाण एवं विशेषता के अनुसार पारिश्रमिक पाने का भी अधिकार है। सोवियट रूस में आर्थिक योजना इस प्रकार बनायी गयी है कि सोवियट-समाज की उत्पादक शक्तियों में अनवरत वृद्धि-विकास होता रहता है और इस प्रकार प्रत्येक नागरिक को कार्य मिल जाता है। आर्थिक सङ्कटों के निराकरण के लिये उपाय सोचे जाते हैं एवं बेकारी का निष्कासन किया जाता है। विश्रामाधिकार का अर्थ यह है कि मजदूरों को काम के लिये प्रतिदिन सात घण्टे नियत कर दिये गये हैं; मज़दूरों को वार्षिक अवकाश ग्रहण करने का नियम है। उनके आमोद-प्रमोद के लिये स्वास्थ्य-शालाएँ, विश्राम-गृह और आमोद-गृह बहुसंख्या में स्थापित और सुरक्षित हैं। इसी प्रकार वृद्धावस्था में, रोगावस्था में, और अशक्तावस्था में मजदूरों की सहायता के लिये राज्य के कोष से मज़दूरों के सामाजिक बीमे का प्रबन्ध किया जाता है। मज़दूरों को अमूल्य औषधि वितरण की जाती है और उनके विश्राम के लिये गृह स्थापित किये गये हैं।

सोवियट रूस के नागरिक को शिक्षा का अधिकार है। इसका तात्पर्य्य यह है कि बिना किसी प्रकार की फीस लिये स्कूलों में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य है। उच्च-शिक्षा भी निःशुल्क दी जाती है; जो उच्च स्कूलों में अध्ययन करते हैं, उनके लिये बहु-संख्या में छात्र-वृत्तियाँ दी जाती हैं।

सोवियट रूस में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी कोई भेद-भाव नहीं है। आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और सार्वजनिक सभी क्षेत्रों में स्त्री को समान अधिकार प्राप्त है। स्त्रियों को पुरुषों के समान श्रमाधिकार, पारिश्रमिक का अधिकार,

विश्राम, सामाजिक बीमा, शिक्षा आदि तो प्राप्त हैं ; पर इनके अतिरिक्त राज्य की ओर से माँ-बालक के हितों की विशेष रक्षा की जाती है। गर्भ-काल में माँ को अवकाश दिया जाता है और अवकाश की समस्त अवधि में उसे वृत्ति मिलती है। बहु-संख्या में मातृ-मन्दिर, शिशु गृह, और किण्डर गार्टेन का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जाता है।

रूस में धर्म और राज्य एक दूसरे से पृथक् हैं और स्कूल भी 'चर्च' से पृथक् हैं। सब नागरिक अपने-अपने धर्म का पालन स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं। धर्म-विरोधी आन्दोलन के लिये भी पूरी स्वतन्त्रता है।

समाजवादी प्रणाली को शक्तिशाली बनाने तथा श्रमिकों के हितों के अनुकूल नवीन शासन-विधान की १२५ वीं धारा में नागरिकों के लिये (१) भाषण स्वतन्त्रता (२) मुद्रण स्वतन्त्रता (३) सभा स्वतन्त्रता (४) जुलूस-स्वतन्त्रता का विधान किया गया है।

श्रमिकों के हितों के अनुकूल और जनता के राजनैतिक कार्यों एवं सङ्गठित आत्म-अभिव्यञ्जना के विकास को लक्ष्य में रखते हुये नागरिकों को सभा द्वारा सङ्गठित होने का अधिकार दिया गया है। सार्वजनिक संस्थाएँ, व्यावसायिक सङ्घ, सहकारी-सभाएँ, युवक-सङ्घ, क्रीड़ा-सङ्घ, सांस्कृतिक, औद्योगिक और वैज्ञानिक सभाओं के सङ्गठन करने का नागरिकों को अधिकार है। श्रमिक-श्रेणी में जो नागरिक सबसे अधिक कार्यकुशल होता है उसे आल यूनियन कम्यूनिस्ट पार्टी का सदस्य बना लिया जाता है।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण और अन्तिम नागरिक अधिकार है व्यक्ति की स्वतन्त्रता। न्यायालय के निर्णय अथवा स्टेट एटर्नी (क़ानून-सदस्य) की आज्ञा के बिना कोई व्यक्ति गिरफ़्तार नहीं किया जा सकता। किसी भी नागरिक के गृह में कोई अनुचित प्रवेश नहीं कर सकता। पत्र-व्यवहार की गोपनीयता की क़ानून रक्षा करता है। यह अन्तिम अधिकार न्यायालय की अपूर्व क्षमता और कार्य-कुशलता तथा न्याय-प्रियता पर निर्भर हैं।

रूसी विधान में नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा के साथ-साथ उनके कर्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है। सोवियट रूस के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह शासन-विधान के अनुसार कार्य करे; क़ानूनों का पालन करे। श्रम के अनुशासन की रक्षा करे; सार्वजनिक कर्तव्य का सम्मान के साथ निर्वाह करे और समाजवादी समाज के नियमों का आदर करे। रूस के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह सार्वजनिक समाजवादी सम्पत्ति की रक्षा करे। जो समाजवादी सम्पत्ति का नाश करने का प्रयत्न करेंगे वे जनता के शत्रु माने जायेंगे। श्रमिकों और किसानों की लाल सेना में भर्ती होकर सेवा करना रूस के नागरिकों का आदरणीय कर्त्तव्य है। पितृ-भूमि की रक्षा प्रत्येक रूसी नागरिक का पवित्र कर्तव्य है। देश-द्रोह, शपथ-भङ्ग, शत्रु से मिलाप, राज्य की सैनिक सत्ता को हानि पहुँचाना, जासूसी आदि ऐसे कार्य हैं जिनके लिये क़ानून के अनुसार कठिन सजाएँ दी जायँगी।

मताधिकार—नवीन शासन-विधान के अनुसार चुनाव का अधिकार प्रत्येक १८ वर्षीय स्त्री-पुरुष को प्राप्त है। गुप्त बैलट का नियम है। शिक्षा, जाति, वर्ण, राष्ट्र, धर्म, शिक्षा-सम्बन्धी पद, निवास-स्थान, सामाजिक उत्पत्ति, पूर्व-कार्य, साम्पत्तिक स्थिति आदि किसी से भी कोई भी व्यक्ति मताधिकार से वञ्चित नहीं है। हाँ, विक्षिप्त व्यक्ति और वे व्यक्ति, जिनको न्यायालय ने मताधिकार से वञ्चित कर दिया है, मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकते। प्रत्येक नागरिक को एक राय देने का अधिकार है। अप्रत्यक्ष चुनाव की जगह प्रत्यक्ष चुनाव ही सब कौंसिलों के लिये किया जाता है। चुनाव के समय उम्मीदवारों की नामज़दगी निर्वाचक-क्षेत्रों द्वारा की जाती है। उम्मीदवारों को चुनने का अधिकार (१) सार्वजनिक संस्थाओं (२) श्रमिक सङ्घों (३) कम्यूनिस्ट-पार्टी (४) व्यावसायिक सङ्घ (५) सहकारी संस्थाओं (६) युवक-सङ्घ व (७) सांस्कृतिक सभाओं को दिया गया है।

प्रत्येक निर्वाचित कौंसिल-सदस्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने निर्वाचकों के समक्ष अपने कार्य का

वृत्तान्त रखे और वह किसी भी समय क़ानून द्वारा प्रस्तावित ढङ्ग से, बहुमत के निर्णय से, कौंसिल के सदस्य-पद से हटाया जा सकता है। (धारा १४२)

नवीन शासन-विधान ने विविध प्रकार की राजनैतिक पार्टियाँ बनाने के लिये सुविधा दी है और व्यवस्था भी कर दी है; परन्तु साम्यवादी दल को सबसे अधिक महत्व दिया है; अन्य राजनैतिक दलों को अपने उम्मीदवार खड़े करने का अधिकार देकर वास्तव में राजनैतिक सहिष्णुता का परिचय दिया है।

अन्त में हम केवल इतना ही कहेंगे कि जिस प्रकार हम आज तक रूसी परीक्षण को बड़े मनोयोग-पूर्वक एक छिपी हुई आशा को लेकर देखते आ रहे हैं; और अभी यह नहीं कहा जा सकता कि वह इस परीक्षण में सफलीभूत हुआ है, उसी प्रकार हम रूस के नवीन विधान के कार्य को बड़ी आशा और उत्सुकता से देखेंगे। यदि रूस का यह नवीन परीक्षण सफल हो गया, तो इस भूतल पर फिर से स्वर्ग बसाया जा सकेगा।

गीत

[श्रीमती कमलाकुमारी]

तब तुम मेरे जग में आये!

जब थी अति अँधियारी छायी,
दुख ही दुख पड़ता दिखलायी,
अपनी रूप-राशि की द्युति को
कञ्चन-किरनों-सी बिखराये!
बसुधा को नवजीवन—देने
बन कर स्वयं सजीवन आये!

विस्मृत-सा रहता है जीवन,
उच्छ्वासों का है यह मधुवन,
भूल गयी थी सुधि-बुधि सारी
पथ में अपने नयन बिछाये!
कोमल चरण-चाप से सुन्दर
आकर तुम चुपचाप समाये!

क्यों छूकर चुपके से मन को,
पुलकित कर देते जीवन को,
मेरे व्यथित हृदय में रहते
निशि-दिन नीरद श्यामल छाये!
या कि बरसने अपनी करुणा
तुम ही बन पावस-घन आये!

मानस में रहता है कम्पन,
कन-कन में मृदु मधु स्पन्दन,
कुछ जादू-सा कर देते हो
आकर्षण हो अमित छिपाये!
इन्द्रधानुषी रङ्गों से रच
मोहक इन्द्रजाल फैलाये!

नहीं व्यथा है आज कसकती,
तुहिन-विन्दु-सी सुधा बरसती
मिला उसे अपना जीवन-धन
चुपके मन में मृदु मुसक्याये!
इतने दिन की कठिन प्रतीक्षा
आज सफल करने तुम आये!

समाज अथवा विपरीताज

[श्री० प्रोफेसर धर्मदेव शास्त्री, देहरादून]

समाज शब्द का अर्थ है सम्यग्गति करने वाले व्यक्तियों का समूह । (सम् सम्यक अजन्ति गच्छन्ति यत्र सः) विपरीत गति करनेवालों के समूह को समाज न कह कर व्याज अथवा विपरीताज कहा जाएगा । आज का हिन्दू समाज भी व्याज हो रहा है । सामाजिक गति में, व्यवहार में सम्यग्भाव की बहुत न्यूनता है । सामाजिक जीवन को ठीक रखने के लिए आवश्यक है कि समाज के प्रत्येक अङ्ग के साथ समानता का व्यवहार हो । परन्तु हिन्दू-समाज की दशा ऐसी नहीं । यह विषमताओं का आगार है । सवर्णों का असवर्णों के साथ पग पग असम व्यवहार, पुरुषों का स्त्रियों पर अत्याचार, ज़मींदारों और धनियों का किसान और निर्धन के साथ प्रतिदिन का अन्याय, इस प्रकार की अनेकों विषमताएँ हमारे समाज में प्रचलित हैं । और इन बुराइयों ने इतना घर कर लिया है कि जिनके साथ विषमता का व्यवहार होता है, वे ही इस प्रकार के व्यवहार को अपने लिए श्रेयस्कर समझते हैं और जब कोई संस्था अथवा व्यक्ति उनके साथ न्याय करने का आन्दोलन करते हैं तब ये ही स्वयं इस प्रकार के आन्दोलन का विरोध करते हैं ।

हमारे देश में सामाजिक क्रान्ति करने वाले नेताओं में स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा राजा राममोहन राय मुख्य हैं । स्वामी दयानन्द सरस्वती के बाद आर्यसमाज ने इस दिशा में बहुत सफलतापूर्वक सामाजिक क्रान्ति का कार्य किया है । प्रारम्भिक काल में जब सामाजिक क्रान्ति के नाम से भी लोग घबराते थे और जाति बहिष्कृत कर देने का ब्रह्मास्त्र सदा ऐसे लोगों पर जागरूक रहता था तब आर्य समाज ने प्रबलतापूर्वक इस आन्दोलन का नेतृत्व किया है । हर्ष का विषय है कि अब बहुत कुछ जङ्गल कट गया है तथा निकट भविष्य में शीघ्र ही राज-मार्ग बनने की आशा है । तथापि अभी कार्य बहुत करना है ।

जिस दशा के बिगड़ने में लाखों वर्ष लगे हैं उसके पुनः सुधार में उतने तो वर्ष और भी लगेंगे ही । इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि सामाजिक पुनर्निर्माण के बिना राष्ट्र-पुनर्निर्माण दुष्कर है । हिन्दू-समाज की सारी बुराइयों को गिनाने के लिये भी पृथक् लेख लिखना पड़ेगा । प्रस्तुत लेख में एक-आध पर ही प्रकाश डालना अभिप्रेत है ।

हिन्दू-समाज के वर्तमान विधान के अनुसार एक पत्नी के रहते हुए उसका पति चाहे जितने विवाह कर सकता है । धनी घर के व्यक्ति तो विवाह करने के बाद एक-दो वर्ष तक यदि लड़का न हुआ तो दूसरा विवाह करना अपना अधिकार ही समझते हैं । घर की स्त्रियाँ ही दूसरा विवाह न करने वाले को तङ्ग कर देती हैं । कुछ लोग इसलिये भी दूसरा विवाह करते हैं कि दहेज में बहुत सम्पत्ति मिलेगी । लड़की वाले भी मजबूरन ऐसा करने पर विवश हैं ।

आज इस बात को छः वर्ष हो रहे हैं, मैं तब बनारस में रहता था । मेरा एक मित्र जो मैथिल ब्राह्मण था, मेरे ही साथ एक मकान में रहा करता था । वह मैथिल होने पर भी निरामिष-भोजी था । सामाजिक सुधारों का पक्षपाती और राष्ट्रीय विचारों का व्यक्ति था । सामाजिक सुधार विषयक बातचीत करते हुए उसने मुझे एक दिन कहा कि मैं अपनी जाति में एक क्रान्तिकारी काम करना

चाहता हूँ। मैंने पूछा—वह क्या? "मैं अपने विवाह दस से अधिक न कराऊँगा"—बड़े गर्व के साथ उसने कहा। मैं स्तब्ध रह गया। सामाजिक क्रान्ति और दस विवाह एक साथ! इसका भेद मेरी समझ में न आया। इस पर उसने कहा कि हमारी जाति में एक-एक व्यक्ति चालीस-चालीस विवाह एक साथ करता है। एक साथ का अर्थ हुआ जीवित चालीस पत्नियों का एक ही पति! विषमता का इससे अधिक उदाहरण कहाँ मिलेगा। जो व्यक्ति एक साथ चालीस पत्नियों का पति बने उसे उनका रक्षण आदि का भार उठाने की भी आवश्यकता नहीं; एकाध पत्नी को छोड़कर शेष पत्नियाँ सारी आयु अपने मायके में ही रहेंगी। पालेंगे माँ-बाप और स्वामी होंगे पति महोदय!! अन्याय की हद है।

लड़की वालों की इतने से ही मुक्ति नहीं होती कि विवाह के समय ऋण आदि लेकर किसी प्रकार लड़की को विदा कर दें। सारी आयु यदा-कदा उसे देते ही रहना चाहिये और वह भी उतना, जितना दामाद और उसके माँ-बाप माँगें, अन्यथा उनकी लड़की वापस उनके ही घर आ सकती है। पिछले पञ्जाब प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के निर्वाचन अवसर पर तो एक विचित्र घटना हुई। एक महानुभाव असेम्बली की सदस्यता के लिये खड़े हुए। उनके लड़के के श्वसुर ने उनके विरोधी उम्मीदवार को वोट दिया, बस इतने ही अपराध से अपनी पुत्रवधू को उन्होंने उसके मायके सदा के लिये भेज दिया और अपने पुत्र का दूसरा विवाह कर दिया। वर्तमान हिन्दू समाज इस प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है। मैं इसपर भी अधिक कुछ न लिखकर एक अति अमानुषिक व्यवहार की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। पञ्जाब और युक्त-प्रान्त में साधारणतया हिन्दू एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह नहीं करते या कम करते हैं। मैं समझता हूँ, और भी कई प्रान्तों में ऐसा ही होता होगा। मैं जो बात लिख रहा हूँ वह पञ्जाब प्रान्त के अपने अनुभव के आधार पर लिख रहा हूँ। वहाँ यह रीति है कि जब पूर्व पत्नी मरणासन्न हो, मर रही हो, उस समय अथवा पत्नी के मरने के तत्काल बाद दूसरी सगाई (वाग्दान) हो जाना चाहिये। जिस व्यक्ति का दूसरा वाग्दान शीघ्र नहीं होता, उसका पुनः विवाह होने में मुश्किल हो जाती है। मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानता हूँ, जो औसत दर्जे का गृहस्थ है। जब उसकी पत्नी मरने लगी तब उसके मरने से दो दिन पूर्व ही उसका दूसरा वाग्दान हो गया। मृत्यु-शय्या पर पड़ी उसकी पूर्व पत्नी ने भी सुन लिया कि मेरे पतिदेव ने मेरे मरने से पूर्व ही दूसरा प्रबन्ध कर लिया है। जिस व्यक्ति की पूर्व पत्नी मर जावे, अच्छा यही है कि उसका श्वसुर ही अपनी दूसरी लड़की भी उसको दे दे और वह भी शीघ्र ही। जिसका विवाह अथवा वाग्दान शीघ्र न हो, तब कहा जाता है कि कोई दोष होगा, तभी तो उसका वाग्दान शीघ्र नहीं हो पाया।

जिस व्यक्ति के साथ सारी आयु का नाता जोड़ा था, जिसका हाथ पकड़ कर सबके सामने उसकी रक्षा का भार उठाया था, उसके वियोग का—नहीं, सदा के लिए वियोग का—कुछ भी तो दुःख होना चाहिए। साहित्यिक लोग शृङ्गार और करुण रस का विरोध बताते हैं, परन्तु हिन्दू-समाज में इन दोनों का अविरोध स्पष्ट दीखेगा। एक ओर पत्नी मर रही है, दूसरी ओर भावी सम्बन्ध की बधाई आ रही है। पशु-पक्षी तक के भी हृदय में दाक्षिण्य और परिचयानुबन्धिता के भाव होते हैं, परन्तु मनुष्य उनसे भी गया-बीता है। अपनी पत्नी के साथ पशु से भी बुरा व्यवहार!

जहाँ एक ओर नारी-जाति से मर जाने पर सदा के लिए पतिव्रता रहने की आशा की जाती है वहाँ पुरुष का नारी के साथ यह व्यवहार अक्षम्य है, विषमता की चरम सीमा है। छः मास या एक वर्ष तक तो दूसरे विवाह का नाम तक भी न लेना चाहिये। वास्तव में पूछिये तो सच्चा प्रेम और आत्म-समर्पण एक के ही लिये हो सकता है। यदि इतनी मनुष्यता नहीं है, तब भी पशुता से तो नीचे न जाना चाहिये।

पाठक पूछेंगे, तब इस प्रकार की विषमता को दूर करने के लिये क्या किया जावे? सम्यक्त्व की स्थापना

का क्या उपाय है? हम तो इसका एक ही उपाय समझते हैं, वह है पातिव्रत्य धर्म की भाँति पत्नीव्रत धर्म के माहात्म्य को समझने की आवश्यकता। आज तक हिन्दू दर्शन के अनुसार केवल स्त्री का ही पति को देवता, ईश्वर और सब कुछ समझने का आदेश है, पति के लिये स्वर्ग में जाने के और कई सुलभ साधन हैं। यहाँ तक कि जन-साधारण में तो यह भावना है कि पतिव्रता स्त्री अगले जन्म में भी उसी पति को पाती है। पार्वती की तपस्या आदि कई कथाएँ भी यहाँ प्रचलित हैं। आवश्यकता इस बात की है कि यह समझाया जावे कि पार्वती पतिव्रता तब बनी जब उसका पति भी पत्नीव्रत था। यही बात सीता और राम के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। विवाह सम्बन्ध इहलोक की वस्तु है, उसको केवल परलोक की बात बताने वाले विचार के शत्रु हैं। हिन्दू-समाज के विचारों में क्रान्ति-कारी परिवर्तन की आवश्यकता है। एक ऐसी आग जलाने की ज़रूरत है जिसमें हिन्दू-समाज की ये सब सामाजिक बुराइयाँ जलकर राख हो जाएँ और वह शुद्ध हो जाए। जब तक हिन्दू-समाज में लोक-परलोक सम्बन्धी बुरे दार्शनिक विचारों के विरोध में प्रबल आन्दोलन न होगा, तब तक वर्तमान विषमता का नाश नहीं हो सकता। वर्तमान जीवन विपरीताज है, समाज नहीं।

बसन्त-गीत

[श्री० भगवतीप्रसाद सकलानी, बी० ए०]

आज भौंरों ने बजा दी बाँसुरी!
फूल जगते वृन्त पर हैं
खोल निज दृग-पाँखुरी!

चूम मुकुलों के अधर को
डोलता मलयज-पवन,
ले चला जाता चुरा
उनके हृदय का गुप्त धन;

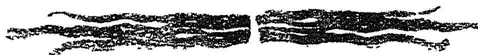
छिप रही कलिका दलों में
हास की नव प्यालियाँ भर,
आज छलिया की मुरलिका से
हुआ मधुबन मुखर!

फूटती अमराइयों पर मंजरी
गा पड़ी सहसा पिकी.
छलका हृदय-रस-माधुरी!

आज यमुना के पुलिन पर
है मचा वह रास-रंग,
लो, अगोचर बिचरता वह
सुमन-सर लेकर अनङ्ग,

आज वृन्दा-बीथियों में
फैलता मधुमास आली,
जाग री, अब गूँथ माला
श्याम हित वो बावली!

किंशुकों के रूप-रस ले नागरी,
अब बसन्ती-साज सज तू—
भर मदिर-रस-गागरी!



नारी और समाज

[श्री० आर० के० हृदयेश्वर]

आजकल संसार में चारों ओर विप्लव की लहरें उठ रही हैं। अनेक स्थानों में लोग उसका सुफल कुफल भोग रहे हैं। सभी अपनी-अपनी उन्नति के लिये उद्योग कर रहे है। सभ्यता के इस युग में अन्याय ने ही न्याय का स्थान ले रखा है। मनुष्य ही मनुष्य का रक्त चूसने को तैयार हो जाता है, किञ्चित भी उसमें दया नहीं रहती। जहाँ देखते हैं वहीं भीषण ताण्डव अपना नृत्य दिखला रहा है। सब अपनी-अपनी स्वतन्त्रता के लिये मिट रहे हैं। घर, गाँव, नगर, जिला तथा प्रान्त तक ही उनकी सीमा नहीं है, बल्कि देश तक फैल गयी है। अपने लिए जीना जीना नहीं समझते, बल्कि औरों के लिए भी। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के चङ्गुल से छुटकारा पाना चाहता है तो एक जाति दूसरी जाति से। एक वर्ग दूसरे वर्ग की श्रेष्ठता तथा आधिपत्य से जलता है। इसी तरह हिन्दुस्तान में भी स्वतन्त्रता की आवाज़ गूँज रही है। यहाँ भी जाति, वर्ग, व्यक्ति तथा राष्ट्र के लिये यह आन्दोलन हो रहा है। इन सब में स्त्री-आन्दोलन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, जिसने सदियों तक पुरुष-वर्ग के अधीन रह कर मनसा-वाचा-कर्मणा उसकी सेवा की है।

इसने अपना सर्वस्व खो दिया। जिस तरह आजकल लोग दूसरों के लिए जीना अच्छा समझते हैं उसी प्रकार स्त्री-जाति ने पहले ही समझ रखा था। खासकर हिन्दुस्तान की हिन्दू ललनाओं ने अपने कर्त्तव्य का अच्छी तरह पालन किया। अपने त्याग तथा सेवा से पुरुष जाति को सन्तुष्ट किया। किन्तु पुरुष जाति उस सेवा को स्वीकार नहीं करती है। वह कुछ दिनों तक स्त्री-जाति से और सेवा कराना चाहती है। यदि पुरुष जाति में शारीरिक बल है, तो स्त्री में मानसिक बल ज़्यादा है। आजकल मानसिक बल के सामने शारीरिक बल ज़्यादा देर ठहर नहीं सकता। स्त्री-जाति सेवा करते-करते ऊब सी गई है। कुछ दिन तक विश्राम करना चाहती है। आज उसकी आहों से अङ्गार निकल रहे हैं। पुरुष जाति अब कुछ-कुछ समझने लग गई है। कुछ स्थानों में उन्हें सफलता भी मिली है। आज पाश्चात्य देशों में स्त्री-जाति का प्राधान्य सब मानते हैं। हमारे देश में अब भी भीषण अत्याचारों से नारी जाति सताई जा रही है। समाचार-पत्रों में सदैव ऐसी घटनाओं का उल्लेख रहता है, जिन्हें पढ़ कर हृदय द्रवीभूत हो जाता है। जो देश पहले संसार का मुकुट कहलाता था, जहाँ पर सीता, सावित्री जैसी नारियाँ उत्पन्न हुई थीं, जिस देश में नाना देशों के लोग आ-आकर ज्ञानोपार्जन करते थे, उसी देश में आज बर्बरतापूर्ण-काण्ड होते हैं।

नारी, प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, विश्वास तथा दया आदि भावों से सुसज्जित है। उसमें सुन्दरता तथा कोमलता है। हृदय को हर लेने की एक अलौकिक शक्ति है। पुरुष शौर्य, वीर, साहस आदि भावनाओं से ओत-प्रोत है। इन दोनों का सम्मिलन ही मनुष्य की पूर्णता है। स्त्री जाति पर अत्याचार होने का मुख्य कारण यही है कि स्त्री जाति में शारीरिक बल पुरुष से कम है और कष्ट सहने की शक्ति ज़्यादा। लज्जा तथा शील आदि भाव उसके श्रृङ्गार माने गये हैं। स्त्री को अबला मान करके ही पुरुष अपमानित करता है। इस अत्याचार से हिन्दू ललनाएँ ज़्यादा पीड़ित हैं। हिन्दू नारी को जीवन के उषाकाल से लेकर जीवन-सन्ध्या तक दुःखमय जीवन

व्यतीत करना पड़ता है। पिता के घर में जब तक रहती है, तब तक माता-पिता तथा भाई की सेवा में उसका समय व्यतीत होता है। इन सेवाओं से जो समय बचता है, उसका उपयोग उन्हें बच्चे खिलाने में करना पड़ता है। मानों बच्चा खिलाने के लिए ही उनका जन्म हुआ हो। पति के पास जब वह पहुँचती है, तब पति ही उसका सर्वस्व होता है। वह अपने को पति में खो देती है। ससुराल में उसे कितनी तकलीफों का सामना करना पड़ता है, सास-ननद का कोप लगातार सहना पड़ता है। वास्तव में उसे भूदेवी मानना चाहिये। जिस तरह भूदेवी अपने को खोदा जाते देख कर, कुछ नहीं करती, उसी तरह नारी भी सहिष्णु बनती है। नारी एक शताब्दी पूर्व सती प्रथा जैसी क्रूर प्रथा से पीड़ित रही। राजा राममोहन राय की कृपा से उससे कहीं मुक्त हो पायी। उसके बाद विधवा के रूप में आँसू बहाते समाज की ओर ताकती रही, तो विद्यासागर से उसे आशा की कुछ ज्योति मिली। आन्ध्र प्रान्त में नारी जाति के लिए वीरेशलिंगम पंतुलु पूजनीय हैं; जिन्होंने बहुत सी विधवाओं का उद्धार किया। उन्हें पहले-पहल बहुत तकलीफों का सामना करना पड़ा, किन्तु पीछे काफी सफलता मिली। बाल-विवाह से नारी जाति जितनी कुचली जाती है, उसका वर्णन करना बेकार है। अन-मेल विवाह भी कम नहीं होते, दस वर्ष की बालिका और साठ वर्ष का पुरुष। क्या ही अच्छा हो, यदि नारी जाति को इस प्रकार सताने की अपेक्षा बचपन में ही मार दिया जाय। दहेज प्रथा तो और भी बहुत विचित्र है। विवाह की प्रथा को केवल सौदा मात्र समझना उपयुक्त होगा। जहाँ ज्यादा पैसा मिले वहीं शादी हो जाती है। आजकल के बहुत से युवक बाह्य सौन्दर्य पर मुग्ध होकर बिना विचारे विवाह कर लेते हैं तथा स्वार्थ की सिद्धि न होते देख अन्यत्र खोजने लगते हैं। दहेज की वेदी पर कितनी ही रमणियों का बलिदान होता है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर भी अगर पिता के पास दहेज देने के लिए काफी पैसे नहीं हैं तो बेचारी शिक्षिता लड़की की शादी सुयोग्य वर के साथ नहीं होती।

इन कष्टों से ऊब कर नारी जाति अब भौतिक जीवन को भार मात्र समझने लगी है। संसार में जितने भी कानून बनते हैं सभी नारी जाति के लिए खतरनाक हैं। आज तक जितने महात्मा हुए, प्रायः सबने नारी-शक्ति का अध्ययन नहीं किया। इसका कारण यही हो सकता है कि महात्मा कहलाने वाले प्रायः स्त्री से अलग रहना पसंद करते हैं। हाँ, कुछ महात्माओं ने इसके उद्धार के लिए आवाजें अवश्य उठाईं, किन्तु प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाया। मनु ने नारी के बारे में जो कुछ कहा है, उसमें अन्याय के अलावा और कुछ नहीं दीखता। शूद्र और स्त्री दोनों के साथ उन्होंने अन्याय किया है। मनु की राय में स्त्री को कपड़े, गहने तथा अच्छा-अच्छा भोजन देकर ही संतुष्ट करना चाहिए जिससे प्रसन्न होकर पति को आकृष्ट करे और वासना की तृप्ति के साथ-साथ संतान की उत्पत्ति करे। क्या स्त्री, पुरुष की काम-वासना की तृप्ति के लिए ही है?

शिक्षा

जिससे शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास हो, वही शिक्षा है। शिक्षा पुरुष तथा स्त्री दोनों के लिये ही अनिवार्य है। आजकल स्त्री-शिक्षा का नाम लेते ही कुछ लोग चौंक पड़ते हैं। उनका कहना है कि स्त्री पढ़ कर बिगड़ जायगी, तथा पुरुष की बातों का उल्लङ्घन करेगी। क्या एक के स्वार्थ के लिए दूसरे को अन्धकार में डालना उचित है? यदि स्त्री अन्धकार में ही रहे और पुरुष के कामों में हाथ नहीं बटाये, तो पुरुष का कोई भी काम सफल नहीं हो सकता। शिक्षा के न रहने से उनमें उज्ज्वल गुणों का ह्रास हो जायगा। पुरुष स्त्री को अपना आधा शरीर मानता था। इसीलिए स्त्री अर्धाङ्गिनी के नाम से आजकल भी पुकारी जाती है। संसार में शिक्षा मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक है। यदि स्त्री को जड़ मान लिया जाय तो दूसरी बात है। स्त्री के लिए शिक्षा की जितनी जरूरत है पुरुष के लिए उतनी नहीं। इसलिए कि माँ की शिक्षा या संस्कृति का प्रभाव सन्तान पर अधिक पड़ता है। जब तक जड़ में पानी नहीं रहेगा तब तक वृक्ष का रहना या नहीं रहना बराबर है। माँ के पेट से ही जो सन्तति शिक्षा पायेगी, उसमें जो शौर्य, साहस,

तथा स्फूर्ति रहेगी, यह निश्चित है कि सन्तान के कोमल हृदय से वे गुण कभी अलग नहीं हो सकेंगे। यदि हमें फिर से स्वतन्त्रता चाहिये, फिर से यदि अभिमन्यु जैसे उज्ज्वल रत्नों का मुँह देखना हो, तो पहले स्त्री को शिक्षा देनी चाहिये। जिस तरह व्यायाम करते समय यदि हम सब अवयवों से काम नहीं लें तो जिन अङ्गों से काम नहीं लेते वे अङ्ग निर्बल हो जायँगे; उसी तरह यदि स्त्री अशिक्षित हो तथा पुरुष शिक्षित हो तो राष्ट्र का आधा अङ्ग निर्बल पड़ जायगा।

हमारी आज की शिक्षा-प्रणाली कैसी हो? इस पर भी कुछ विचार करना परम आवश्यक है। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली अच्छी नहीं है, यह सब मानते हैं, फिर भी पुरुष उसी पर लट्टू हो रहे हैं। वे ही स्त्री शिक्षा पर आपत्ति करते हुए कहते हैं, स्त्री के लिए यह पद्धति ठीक नहीं है। जिस प्रणाली को पुरुष अपनाते हैं, उससे स्त्री को अनभिज्ञ रखना मूर्खता नहीं तो क्या है? हमें यह चाहिये कि इसका भी ज्ञान स्त्री को करावें, जिससे वे भी समझ जायँ। केवल पाश्चात्य पद्धति होने से ही हमें मुँह नहीं मोड़ना चाहिये। उसमें जो अच्छाई है उसे अपनानी चाहिये और साथ ही दूसरे देशों की शिक्षा-प्रणाली पर भी दृष्टि रखनी चाहिये। जिस देश में हम पले हैं, उसीका अनुसरण करना ही हमारा काम नहीं, क्योंकि आज हमें देश से बाहर होकर संसार का ज्ञान रखना पड़ेगा। आज के संसार का मानक्षेत्र किसी देश विशेष से ही सीमित नहीं। जिससे हमारी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक अवस्था सुधर सके, उसी का अनुसरण करना हमारा काम है। चाहे वह पाश्चात्य हो या प्राच्य। कुछ लोग कहते हैं कि स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग शिक्षा हो। किन्तु मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ। इसमें भी फिर पुराना प्रश्न आकर उपस्थित होता है। आर्थिक परिस्थिति भी स्त्री को पराधीनता सिखलाती है। उन्हें आज स्वावलम्बिनी बनना है। जिस तरह पहले पुरुष पर ही निर्भर रहकर नीरस जीवन बिताती थीं, अब वैसा नहीं रह सकती हैं। आज कितने ही देशों में शिक्षित स्त्रियाँ तरह-तरह के क्षेत्रों में काम करती हैं। भारत में भी कहीं-कहीं पाई जाती हैं, किन्तु बहुत कम। स्त्री और पुरुष जिसकी जिस क्षेत्र में काम करने की इच्छा हो, करने की अनुमति जरूर मिलनी चाहिये।

विवाह

विवाह के क्रमिक विकास पर दृष्टि डालना हम आवश्यक समझते हैं। क्योंकि किसी भी विषय का तब तक पूर्ण रूप से विचार नहीं किया जा सकता जब तक उसकी जड़ तक नहीं पहुँच जायँ। पहले-पहल जिस समय लोग जङ्गल में रहते थे, उस समय यह आवश्यक नहीं समझा जाता था कि एक ही स्त्री और पुरुष में शारीरिक सम्बन्ध हो। तदुपरान्त एक दल दूसरे दल की स्त्रियों को अपनी पत्नियाँ बना लेते थे। उससे जो संतति उत्पन्न होती थी उनके लिये दल के सभी लोग माता-पिता समझे जाते थे। सभ्यता के विकास से जहाँ स्वार्थ का प्रश्न उत्पन्न हुआ, वहाँ एक पत्नी की प्रथा भी आ गई, किन्तु बाद में भी बहु-पत्नियाँ रहती थीं। यहीं से लोग स्त्री को सम्पत्ति समझने लग गये। कन्यादान में आज तक इसका कुछ अंश दीख पड़ता है। इस प्रथा को धर्म का रूप देने का आशय यह मालूम होता है कि पुरुष तथा स्त्री संयम से रहें और अधिक आदमियों की जरूरत न समझे। विवाह केवल विषय-वासना की तृप्ति के लिए ही जारी नहीं हुआ, बल्कि उसे संयमपूर्वक चलाने तथा समाज के अस्तित्व के लिए ही जारी रखा। विवाह के माने विशिष्टपूर्वक जीवन बिताना अर्थात् दो आत्माओं का सम्मेलन है। पुरुष तथा स्त्री की बनावट ही ऐसी है, जिसमें दोनों के बिना मिलन के पूर्णता प्राप्त नहीं होगी। विवाह में जहाँ विषय-वासना को ऊँचा स्थान नहीं मिला वहाँ त्याग, तपस्या, तथा बलिदान को उत्कृष्ट स्थान प्राप्त हुआ। इससे लौकिक तथा पारलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते संसार में प्रत्येक आदमी को साथी की जरूरत पड़ती है। जहाँ तक वैषयिक प्रवृत्ति से सम्बन्ध न हो तब तक माता पिता, भाई-बहन ही काफी हैं, किन्तु इसके उपरांत एक ऐसे साथी की जरूरत होती है, जो सच्चा हितैषी तथा निस्वार्थ हो और वैषयिक

प्रवृत्ति की भी पूर्ति कर सके। अतः विवाह में त्याग, तपस्या, निस्वार्थ सेवा, बलिदान, कर्त्तव्य-पालन, सच्ची लगन और आनन्द का महत्व माना जाता है। यही विवाह की जड़ तथा उद्देश्य है। इसके विपरीत आचरण से "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ होती है। आजकल प्रायः समाज में अबलाओं पर अत्याचार किया जा रहा है। नाममात्र के लिए स्त्रियाँ विवाहिता कहलाती हैं। पति अपने कर्त्तव्य को भूलकर कामवासना की तृप्ति के लिये ही पत्नी को तरह-तरह के कष्टों में डालता है। स्त्री का सम्मान पुरुष अपनी वासना की तृप्ति के लिए ही करता है। हिन्दू लॉ के अनुसार पुरुष जहाँ कितनी ही शादियाँ कर सकता है, वहाँ इसके विपरीत स्त्री अपने पति को चाहे वह दुराचारी, लम्पट, नपुंसक तथा कोढ़ी ही क्यों न हो, तलाक़ नहीं दे सकती। पति तथा समाज से ठुकराई हुई स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति का अवलम्बन करती हैं। इसके अलावा उसके लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है। वेश्यावृत्ति हमारे यहाँ पहले से घृणा की दृष्टि से देखी जाती है। इसके लिए समाज ही उत्तरदायी है।

समाज में स्त्रियों पर ऐसे अनेक पाशविक अत्याचार होते हैं, जिससे नारी जाति सहन करती-करती तङ्ग आई है, इसकी स्त्रीत्व भावना नष्ट हो चली है। नारी जीवन का अन्त हो रहा है। स्त्री कामवासना की तृप्ति के लिये ही बनी है, यदि वे ऐसा सोचते हैं तो वेश्या को घृणा की दृष्टि से देखने का उन्हें क्या अधिकार है? पति से सताई हुई स्त्री अदालत में यह पेश भी नहीं कर सकती कि मेरा पति दुराचारी या लम्पट है, इसलिए मुझे तलाक़ का आर्डर दीजिए। वास्तव में स्त्री के लिए हिन्दू लॉ इतना कठोर तथा घोर है कि न वह जीने के लिए आर्डर दे सकता है और न मरने के लिये। शारदा एक्ट के रहते हुए भी बाल-विवाह होते ही हैं। विधवा-विवाह के लिये यद्यपि कुछ आज्ञा मिल गई है किन्तु इससे भी कोई फ़ायदा नहीं हो रहा है। यद्यपि हिन्दुस्तान भर में विधवाओं की दयनीय दशा देखी जाती है, तथापि बिहार में विधवाओं को दासी का सा भी स्थान है और उन्हें कुछ भी आदर प्राप्त नहीं है। घर से उनका सम्बन्ध खाने भर को है। स्वामी की सम्पत्ति की अधिकारिणी भी नहीं। किसी शुभ अवसर पर उन्हें अपने को, अपने अशुभ दर्शन के डर से छिपाकर रहना पड़ता है। मद्रास प्रान्त में खास कर ब्राह्मण जाति में तथा बङ्गाल में विधवा होते ही उनका बाल कटा दिया जाता है, आजीवन उन्हें उजली धोती पहननी पड़ती है। कुछ धनी लोग अपने घर की विधवाओं को प्रायः मथुरा, वृन्दावन या काशी-वास करने भेज देते हैं। मद्रास प्रान्त में ब्राह्मण जाति को छोड़ कर तथा बिहार आदि प्रान्तों में विधवाएँ बाल नहीं कटवाती हैं। इसी प्रकार प्रायः सभी प्रान्तों में विधवाओं को अपने अरमानों को कुचल कर जीना पड़ता है।

पर्दा-प्रथा

वैदिक ग्रन्थों में या किसी भी धार्मिक ग्रन्थों में पर्दा-प्रथा के अस्तित्व के विषय में कुछ दिखाई नहीं देता। यदि उस समय पर्दा-प्रथा रहती तो, सीता, द्रौपदी दमयन्ती, शकुन्तला तथा सावित्री का नाम आज हम इतने ज़ोरों से नहीं ले सकते थे। सीता का राम के साथ बनवास जाना ही इसका उदाहरण है। इसी कारण हमें रामायण पढ़ने का मौक़ा भी मिलता है, क्योंकि यदि सीता बनवास न जाती तो रावण का संहार कैसे होता! यदि द्रौपदी कौरवों की सभा में नहीं लाई जाती तो उसके उज्ज्वलतर रूप को हम कैसे पाते? इसी तरह और भी बहनों के बारे में हम सुनते आ रहे हैं। यहाँ तक कि लक्ष्मीबाई ने फिर से एक बार भारत का सिर ऊँचा किया। पर्दे की उत्पत्ति मुसलमानों के समय से हुई। मुसलमानों में इसका अस्तित्व अब भी ज़्यादा पाया जाता है। यद्यपि उस समय इसकी स्थापना बुरे उद्देश के कारण नहीं हुई फिर भी अपनी दुर्बलता के कारण ललनाओं को पर्दे में रखना पड़ा। मुसलमानों के हाथ में उस समय शासन, बल तथा शक्ति थी। वे ज़्यादा कामान्ध होते थे। हिन्दू ललनाओं को उड़ाकर ले जाना उनके

लिए साधारण बात थी। पर्दे की उस समय ज़्यादा उपयोगिता थी, यह मान्य हो सकती है, किन्तु आजकल नहीं। हममें ग्रहण करने की शक्ति ज़्यादा तो है, किन्तु पीछे इसका परिणाम क्या होगा, यह सोचने का विवेक नहीं। इससे हमारी दुर्बलता बढ़ती है। जब तक कोई चीज़ आड़ में रहती है, तब तक उसे देखने की ज़्यादा इच्छा होती है। जब वह बाहर आती है तब उसके प्रति हमारी उतनी ममता नहीं रहती। जिन स्त्रियों को लोग माता तथा बहनों के रूप में देखते थे, उन्हें आज दूसरे रूप में देखते हैं। इसका मूल कारण पर्दा ही है। आजकल पर्दा का दूसरा रूप हो गया है। स्त्रियाँ घर वालों से ज़्यादा पर्दा रखती हैं, किन्तु जब बाहर वाले आते हैं, उन्हें भली भाँति देख लेती हैं। इस तरह देखने के लिए पुरुष ही सिखाते हैं। मैंने हाल में एक घटना देखी, जिसे देखकर बहुत अफ़सोस हुआ। एक स्त्री मोटर-कार में पर्दे में रख कर लाई गई। जिस समय वह तालाब में स्नान करती थी उस समय भी चारों ओर स्त्रियाँ पर्दा पकड़ कर तालाब में खड़ी हो गईं। यही सभ्यता का युग है, जहाँ मनुष्य को जानवर से भी बढ़कर नीच दृष्टि से देखते हैं। बाज़ार में एक दिन एक पुरुष अपनी स्त्री से पर्दे को हटाने के लिये कह रहा था। स्त्री ने कहा—मैं नहीं हटाऊँगी। पति ने फिर से कहा—यहाँ कोई जानने वाला नहीं है, निर्भीक होकर पर्दा छोड़ सकती हो। तब औरत ने गुनगुनाते हुए पर्दा हटा दिया। इसके लिए स्त्री दोषी नहीं है, क्योंकि भीतर बाहर भी पति शासक है और वह शासित। इसका परिणाम यही निकलता है कि बाहर वाले इन्हें कुदृष्टि से नहीं देखेंगे, किन्तु घर वाले ही उस पर कुदृष्टि डालते हैं। कितना अन्याय तथा घोर दुर्दशा है। यह भी सुनने में बराबर आता है कि कहीं-कहीं नई दुलहिन ससुराल में आती है, तो उसे देखने आई औरतों से भी पर्दा रखना पड़ता है। ऐसे स्थानों में स्त्री अपने पति को पत्र तक नहीं भेज सकती। पति को पत्र लिखते देख उस पर झूठा आरोप लगाया जाता है तथा धमकी दी जाती है। इसे तोड़ने को आजकल कुछ नवयुवक आगे बढ़ रहे हैं। ऐसे नवयुवकों के हाथ में ही भावी राष्ट्र-निर्माण की बागडोर है। पर्दे में रहने के कारण उनका शरीर पीला पड़ जाता है। स्वास्थ्य में ही सौन्दर्य है, किन्तु हम पीलेपन में ही सौन्दर्य देखने लग गए हैं। दुर्बलता के कारण कितनी ही बीमारियाँ फैलती जा रही हैं। उनकी बुद्धि कुण्ठित होती जा रही है, जिससे उनका बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास नहीं होता। बन्द घरों में रहने के कारण उन्हें हवा के सेवन करने का मौक़ा नहीं मिलता।

अब काँङ्ग्रेस के हाथ में सरकार का शासन आ जाने से शिक्षा-प्रणाली में काफ़ी परिवर्तन होने की गुञ्जाइश है। नारी-जाति का आन्दोलन भी ज़ोर पकड़ेगा। विवाह ढकोसला मात्र हो गया है, उसे उस रूप में रखने से कोई फ़ायदा नहीं है। जब हमारा कोई अङ्ग निर्बल पड़ जाता है, जीवन-पर्यन्त उसी रूप में वह हमें बाधा देता रहेगा। उसी तरह विवाह के बन्धन को देखना चाहिये। उससे समाज का कल्याण नहीं हो सकता। संसार को देखते हुए हमें चलना पड़ेगा। हम जितना ही अपनी संस्कृति को रखना चाहेंगे, उतनी ही गन्दी हो जायगी। किन्तु वह दुनिया से अलग नहीं रह सकती। प्राच्य तथा पाश्चात्य का मिलन हो चुका है। हम उसके आचारों-विचारों से पूर्ण परिचित होते जा रहे हैं तथा हमारी संस्कृति से भी वे लोग फ़ायदा उठाते जा रहे हैं। अतः हमें यह उचित है कि प्राच्य तथा पाश्चात्य का भेद-भाव न रखते हुए चलें। जहाँ तक हम फ़ायदा उठा सकें, उठावें। हमें अपनी संस्कृति का कट्टर पक्षपाती बनना चाहिये, किन्तु ढकोसले का नहीं। संसार में अच्छाई-बुराई सब जगह रहती है। इन दोनों के अस्तित्व से ही संसार का अस्तित्व है। सदा सर्वदा बुराई से बचते रहना चाहिये, यही भाव इन दोनों के अस्तित्व का कारण बनता है। विवाह का रूप हमें फिर से निश्चय करना पड़ेगा, चाहे उसे किसी भी रूप या नाम से पुकारें। विवाह की परिपाटी से आत्मिक विकास के बदले आत्मिक ह्रास होता जा रहा है। किसी भी तरह की उन्नति नहीं होती है, किन्तु कामवासना बढ़ती जा रही है। इसी कामवासना के फलस्वरूप जो सन्तान उत्पन्न होती है उसे बड़े-बड़े विद्वानों के शब्दों में पुरुष तथा स्त्री के पाप का प्रायश्चित्त कहना चाहिये।

विधवा-विवाह के नाम पर सुधारक लोग ही ग़लती कर बैठते हैं। जहाँ पहले विधवा बनकर आँसू बहाती थी, अब सधवा बन कर ज़्यादा दुःखित होती है। विधवा को दूसरी शादी कर लेते समय पति को देख लेने का मौक़ा भी नहीं मिलता, जिससे भावी पतिदेव के विचारों से परिचित हो सके। विज्ञापन से ही उन विधवाओं की शादी होने लग गई है। वह युग आ गया है, जब विवाह का वर्तमान स्वरूप अपने आप बदल जायगा। जब तक विवाह का यह दूषित स्वरूप रहेगा, तब तक हम कितने ही लेक्चर झाड़ें, कितनी ही किताबें लिख डालें और कठिन से कठिन क़ानून बनावें, सामाजिक दोषों का प्रतिकार हो सकना असम्भव है।

न जाने क्यों ?

आज मैंने अपनी नौका के पाल समेट लिये हैं और डाँड़ चलाना बन्द कर दिया है। वह इस बरसाती नदी की तेज़ धारा में बड़े वेग से बही जा रही है। न जाने क्यों आज मैं वापस लौटना नहीं चाहता!

पश्चिमीय आकाश की लालिमा धीरे-धीरे धुँधली पड़ रही है। नदी के किनारे पर लगे हुए वृक्षों के नीचे छाया घनी हो रही है, कोयल ने थक कर अपने गीत बन्द कर दिये हैं। पक्षियों के झुण्ड अपने-अपने नीड़ों में बसेरा लेने के लिये लौट रहे हैं। गायों की टोलियाँ गाँव के बाड़ों की ओर रँभाती हुई दौड़ी आ रही हैं; किन्तु मैं उसी प्रकार गीत गाता हुआ बहा चला जा रहा हूँ। मैंने अपनी नौका के पाल समेट लिये हैं और डाँड़ चलाना बन्द कर दिया है। न जाने क्यों आज मैं वापस लौटना नहीं चाहता!

नदी के किनारे पर बने हुए एक फूस के झोंपड़े में कोई ग्रामीण-वधू मिट्टी का दीपक जलाकर अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही है। गाँव का बूढ़ा मज़दूर अपने औज़ारों को कन्धे पर रक्खे हुए पसीने और धूल में लथपथ जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाता हुआ घर की ओर लौट रहा है; किन्तु मैं उसी प्रकार गीत गाता हुआ बहा चला जा रहा हूँ। मैंने अपनी नौका के पाल समेट लिये हैं और डाँड़ चलाना बन्द कर दिया है। न जाने क्यों आज मैं वापस लौटना नहीं चाहता!

—तेजनारायण काक 'क्रान्ति'

भारत और फेडरेशन

[श्री० उमाशंकर, एम० ए०]

नये शासन-विधान के फेडेरल विभाग का भारत में घोर प्रतिवाद किया जा रहा है। भारत की प्रायः सभी बड़ी-बड़ी संस्थाओं ने इसका विरोध किया है। केवल हिन्दू महासभा ने इसका समर्थन किया है, जिस पर लार्ड जैटलैण्ड ने अभी हाल में अपना भाषण देते हुए कहा है कि भारत की सभी संस्थाएँ फ़ेडरेशन विरोधी नहीं हैं। और ऐसी संस्थाओं का उल्लेख करते समय उन्होंने हिन्दू-महासभा के फ़ेडरेशन समर्थक प्रस्ताव को प्रथम स्थान दिया है। देशवासियों को महासभा के इस अपूर्व निर्णय ने कुछ अचम्भे में डाल दिया है। प्रत्येक जन यही विचारता है कि जब कांग्रेस और मुस्लिम-लीग जैसी संस्थाएँ, जो स्वयम् आपस में एक दूसरी से शत्रुता कर रही हैं, परन्तु फ़ेडरेशन के विरुद्ध होने में दोनों में मतैक्य है, तो हिन्दू महासभा क्यों ऐसा नहीं करती? यह तीनों संस्थाएँ क्यों फ़ेडरेशन से सम्मत व असम्मत हैं? इसका भी इस लेख में समुचित रूप से वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

कांग्रेस व मुस्लिम लीग दोनों ने फ़ेडरेशन का कड़ा प्रतिवाद किया है सही, परन्तु प्रतिवाद करने में दोनों का दृष्टिकोण एक हो, सो बात नहीं है। कांग्रेस एक राजनैतिक संस्था है। यह फेडरेशन का विरोध इसलिए कर रही है कि इस प्रकार का शासन भारत की राजनैतिक उन्नति के लिए न केवल बाधक होगा, बल्कि घातक होगा। मुस्लिम लीग के नेताओं का विरुद्ध होने का दूसरा ही कारण है, जिसका सम्बंध फ़िरक़ा-परस्ती से है। वे महानुभाव यह चाहते हैं कि रियासतों के सदस्य भी साम्प्रदायिक बँटवारे के नियम पर चुने जायँ, ताकि फेडेरल एसेम्बली में मुसलमान सदस्यों का आधिक्य रहे और वह अपनी मनमानी तूती बजाते रहें। यानी कांग्रेस को, जिसको वह हिन्दू संस्था के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि उसमें हिन्दू अधिक हैं, हमेशा नीचा दिखाते रहें। अब हिन्दू महासभा बेचारी क्या करे? कहाँ चली जाय? ऐसी अवस्था में महासभा को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लाले पड़ रहे हैं। इसके लिए तो ऐसे ही नागनाथ और ऐसे ही साँपनाथ जैसी मुस्लिम लीग वैसी ही कांग्रेस। दोनों ही इसके विपक्षी दल हैं। उल्लिखित बातों के आधार पर यह स्वाभाविक सी बात थी कि महासभा अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये फ़ेडरेशन का समर्थन करती। केवल इसलिये नहीं कि कॉङ्ग्रेस उसके विरुद्ध है, बल्कि महासभा के विरोध का इससे भी अधिक गूढ़तर कारण है। वह यह कि भारत में सबसे अधिक संख्या हिन्दुओं की है और हिन्दू ही फेडरेशन जैसे गूढ़ प्रश्न पर अपनी जातिगत सम्मति न दें! भला यह कैसे हो सकता है? हिन्दू सभा का पक्षपात करने की दृष्टि से नहीं, परन्तु एक मूक दर्शक की सम्मति में भी यह बड़ा भारी अन्याय है कि जो जाति भारत में सबसे अधिक संख्या में है, उसको अपने भविष्य का बुरा या भला सोचने का कुछ भी अधिकार नहीं हो। इस विषय में यदि निष्पक्ष एवं निस्सङ्कोच भाव से देखा और कहा जाय तो कहना पड़ेगा कि कॉङ्ग्रेस ने हिन्दू-महासभा के प्रति असीम अनुदारता का परिचय दिया है। यह कॉङ्ग्रेस की सरासर ज्यादती है जो हिन्दुओं का अपनी जातिगत संस्था रखने का अधिकार छीन लेना चाहती है? जब मुसलमानों को अपनी जातिगत सम्मति

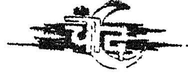
देने का अधिकार कॉङ्गरेस मानती है तो हिन्दुओं का वही अधिकार क्यों छीनना चाहती है? शायद इसलिये कि कॉङ्गरेस में हिन्दू अधिक हैं। यही न! यदि ऐसा है तो जब विपक्षी दल वाले कॉङ्गरेस को हिन्दू-संस्था कहकर अवहेलना करते हैं तो कॉङ्गरेस के नेता लोग चिढ़ते क्यों हैं? परन्तु यहाँ पर प्रश्न ही प्रबल और निर्बल का है। निर्बल पर सभी का ज़ोर चलता है। कॉङ्गरेस ने मुस्लिम-लीग के साथ टक्कर ली और मुँह की खाई। इसीलिये समझौता करने को तैय्यार है। क्या यह पूछा जा सकता है कि कॉङ्गरेस हिन्दू सभा के साथ कोई भी समझौता करने को क्यों तैय्यार नहीं होती? क्या इसमें कॉङ्गरेस को मान-हानि का भय है? या उसकी शान में बट्टा आता है?

उल्लिखित बातों से स्पष्ट हो गया होगा कि भारत की मुख्य-मुख्य संस्थाओं का फेडरेशन के प्रति क्या मत है और क्यों है? अब यह देखना शेष रहा कि ब्रिटिश सरकार पर भारत की इन भिन्न-भिन्न सम्मतियों का क्या प्रभाव पड़ेगा। हरिपुर के कॉङ्गरेस अधिवेशन के पश्चात् सभापति के वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि कॉङ्गरेस ब्रिटिश सरकार के नवजात एवं प्रिय शिशु फेडरेशन को उत्पत्ति से पूर्व ही मार डालने का भरसक प्रयत्न करेगी। अपने इस उद्योग में कॉङ्गरेस को कहाँ तक सफलता प्राप्त होगी, यह तो भविष्य में ज्ञात होगा, और इसमें कौन-कौन उपायों से काम लिया जायगा, यह भविष्यवाणी करने में भी हम असमर्थ हैं। परन्तु शासन विधान के फेडेरल विभाग के निर्माण में ही कुछ ऐसी त्रुटियाँ हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में फेडरेशन का आना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। यही इस लेख का मुख्य विषय है।

भारत के इस शासन-विधान में इससे पहले के शासन-विधानों की अपेक्षा एक नवीनता है। इसी नवीनता का नाम फेडरेशन है। हिन्दी में फेडरेशन का पर्य्यायवाची शब्द सङ्घ-राज्य है। जिसका अर्थ बहुत से स्वतन्त्र राज्यों का एकत्र होकर सब राज्यों के हितार्थ सर्वमान्य किसी एक नीति पर राज्य कार्य्य सञ्चालन करना है। उक्त नवीनता में एक विशेषता यह है कि इसमें देशी नरेशों के सम्मिलित होने का भी अनुमोदन किया गया है। विधान के जिस नियम द्वारा देशी राज्य फेडरेशन में सम्मिलित होंगे उसका नाम Instrument of accession है। विधान के आधार पर फेडरेशन की दो क़ानून विधायिनी समितियाँ होंगी जिनका नाम Two Houses of federal legislative है। अलग-अलग इन समितियों का नाम Federal council और Federal Assembly होगा। इन दोनों समितियों में प्रान्तीय सदस्य चुनाव द्वारा भेजे जायँगे और देशी राज्यों के सदस्य राजाओं द्वारा नियुक्त किये जायँगे। दोनों समितियों में अलग-अलग करके २६० सदस्य Federal council में और ३२५ Federal Assembly में होंगे। इनमें से क्रमशः १०४ पहली समिति में और १२५ दूसरी समिति में देशी राज्यों द्वारा नियुक्त सदस्य होंगे। यों तो इन एसेम्बलियों के निर्माण पर जन-संख्या के लिहाज़ से राजनीतिज्ञों ने बहुत से आक्षेप किये, हैं परन्तु हमें यहाँ उनसे कुछ मतलब नहीं। हमें तो यह बतला कर कुछ और ही आशय सिद्ध करना है।

फेडरल शासन-सभा में देशी राज्यों के सदस्यों की संख्या दे देने का अर्थ यह है कि ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों से पहले ही से समझौता कर चुकी है कि इतनी रियासतों को फेडरेशन में सम्मिलित होना पड़ेगा। परन्तु ऐसे समझौते की कोई बात प्रगट में दिखाई नहीं देती, बल्कि उल्टा यह दिखाया जा रहा है कि देशी नरेशों की अपनी मर्ज़ी है, फेडरेशन में सम्मिलित हों या न हों। उन पर जब्र कुछ नहीं है। ऐसी हालत में कई दुरूह प्रश्न उठते हैं। फेडरेशन का क्या होगा, यदि एक भी देशी नरेश इसमें सम्मिलित न हो? और यदि देशी नरेश इसमें सम्मिलित हों भी तो इतनी संख्या में नहीं जितनी कि ब्रिटिश सरकार ने हिसाब से लगाई है? इन तीखे प्रश्नों का शासन-विधान में कोई उत्तर नहीं मिलता। ऐसी हालत में सिवाय इसके कि फेडरेशन का आक्रमण भारत पर हो ही नहीं सकता, कोई और उत्तर नहीं सूझता।

फेडरेशन के विरुद्ध कॉङ्गरेस के प्रस्ताव ने एक और



जटिल समस्या उत्पन्न कर दी है। कॉङ्गरेस ने इस प्रस्ताव में यह बताने की चेष्टा की है कि वह क्यों फेडरेशन के विरुद्ध है। साथ ही साथ फेडरेशन की त्रुटियों की ओर लक्ष करके यह भी आशा प्रकट की है कि यदि वे त्रुटियाँ दूर कर दी जावें तो कॉङ्गरेस फेडरेशन के प्रश्न पर पुनः मत-प्रदर्शन की चेष्टा करेगी। दूसरे शब्दों में यह कहना अनुचित न होगा कि जो त्रुटियाँ कॉङ्गरेस ने बतलाई हैं वे कॉङ्गरेस की माँगें (demands) हैं। इससे एक तरफ़ तो प्रश्न हल होता है और दूसरी तरफ़ पेचीदा होता है। हल तो होता है इस तरह कि कॉङ्गरेस की वह माँगें पूरी कर दी जाँय। पेचीदा होता है यों कि कॉङ्गरेस की वह माँगें देशी नरेशों के हक़ में हों या न हों? यदि हक़ में हों तो कुछ बात ही नहीं, यदि हक़ में नहीं हों तो क्या होगा? उदाहरणार्थ कॉङ्गरेस की एक माँग है कि देशी राज्यों के सदस्य पब्लिक द्वारा चुने हुये होने चाहिए, नरेशों द्वारा नियुक्त किये हुये नहीं। यदि कॉङ्गरेस की उक्त माँग पूरी हो जाय तो क्या देशी नरेश इस पर कुछ भी आपत्ति न करेंगे? यदि करें तो क्या होगा? क्या ब्रिटिश सरकार को देशी राज्यों पर कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त हैं, जिनके द्वारा वह उनको फेडरेशन में सम्मिलित होने के लिये तैय्यार कर सके या यों कहिये बाध्य कर सके? इन प्रश्नों का उत्तर भी यही मिलता है कि फेडरेशन न होगा!

लॉर्ड लोथियन जैसे राजनीतिज्ञों की राय में फेडरेशन के विधान में संशोधन आवश्यक है। उनका विचार है कि संशोधन के पश्चात् फेडरेशन भारत को मान्य होगा। परन्तु यह धारणा सर्वथा निर्मूल है, ऐसा मेरा विचार है; कारण कि फेडरेशन का विरोध सब संस्थाएँ नहीं कर रही हैं और जो कर रही हैं सो अपने-अपने जातिगत कारणों से। ऐसी अवस्था में मालूम नहीं यह कहना कि फेडरेशन या तो ऐसा का ऐसा रहेगा या बिल्कुल नहीं रहेगा, कहाँ तक सच और कहाँ तक झूठ है?

❀ ❀ ❀

परदेशी से—

[श्री० चन्द्रप्रकाश वर्मा 'चन्द्र']

आज कली फिर फूली,
नीरस से इस उर-आँगन में ममता भूला भूली!
कुटिया रही अँधेरी मेरी, दीपक आज जलाया,
बहुत दिनों के बाद हमारा परदेशी घर आया;
तुम साकार-तोड़ दी मैंने चपल कल्पना-तूली!

आँखों के आँसू बनते थे नभ के झिलमिल तारे,
इतने दिन तक दूर रह सके कैसे हमसे प्यारे?
मेरी स्मृति रो रो कहती थी, मैं न उसे हूँ भूली!

मधु-प्यासे हम, हे चिर मधुमय! मधु बरसाते आए,
दूर देश से बोलो तो तुम, क्या सन्देशा लाए!
प्रेम-राग-रञ्जित की तुमने जीवन की गोधूली!



'खोया हुआ किसान'

[श्री० भगवतीप्रसाद पान्थरी]

[एकाङ्की नाटिका]

प्रथम-दृश्य

(एक टूटी फूटी झोपड़ी, आँगन में भिखारी और उसकी स्त्री खड़े हैं। दोनों की उम्र ३० और १८ के लगभग है।)

भिखारी—ओः मैं राज्य का अधिकारी होता... कितनी सुन्दरता से शासन करता ?

भिखारिन—कितनी सुन्दरता से ?

भिखारी- गरीबों को खाना मिलता, निर्धन साम्राज्य की पहिली विभूति होते, विद्या का सर्वत्र प्रकाश फैलता, मनुष्य आदमी होते, सबके चेहरे खिले होते, जीवन में उल्लास होता, चारों ओर मधुमास होता और...... और मेरी प्रिये न तू भिखारिन होती और न मैं भिखारी होता ?

(भिखारिन की आँखें आँसुओं से भर आती हैं, उसके अधर रोने के लिये तड़प उठते हैं, भिखारी उसकी ओर कठोरता से देखता रहता है।)

भिखारी—(उदासीनता से) हैं तुम, तुम रो रही हो क्या ? देखो तुम्हें रोना नहीं चाहिये। पगली, रोने से भी कुछ होता है। दुःख में रोना और सुख में हँसना यह कायरों के लिये है! तू भिखारिन है, स्मरण रख, तुझे रोना मना है। (एक रूखी हँसी हँसता है।)

(भिखारी की एक छोटी सी ३ वर्ष की बालिका रोते हुए आती है ; भिखारिन दौड़ी हुई बेटी को गोद में उठा लेती है।)

मुन्नी—माँ, भूख लगी है।

भिखारिन—(आँसुओं को पोंछते हुए) रो मत मेरी मुन्नी, तू नहीं जानती कि तू एक भिखारिन की बेटी है।

भिखारी—अच्छा तुम जाओ, बच्ची को भूख लगी है।

(भिखारिन बेटी को लेकर जाती है।)

भिखारी—(गम्भीरता से) ओः! पेट की समस्या भयङ्कर होती जा रही है! समझ में नहीं आता, यह दोष किसका है ? (उदासीनता से) यह हमारा भाग्य है। (क्रोध और घृणा से) नहीं, मैं नहीं मानता, मैं नहीं मान सकता, यह सब बेईमानी है। ओह, इस भरी जवानी में, और मुझे, भीख......भीख...भीख। (गुस्से में जोर से भीख-पात्र को ज़मीन पर पटक देता है, पात्र टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाता है।)

भिखारी—(एक सूखी हँसी हँसता है) आहा हा! (क्रोध और भावावेश में) जाओ, पैशाचिक अकर्मण्यता, गुलामी के प्रसाद जाओ! (सोचकर) आज से जीवन का नूतन आरम्भ होगा! क्रांति मेरी इष्टि होगी और मैं क्रांति का पुजारी होऊँगा।

(पर्दा गिरता है)

* * *

दूसरा दृश्य

(गाँव के किसान खेतों में काम कर रहे हैं, सब अपने-अपने कुदाल और फर्श लिये पहाड़ी और पथरीली ज़मीन को खोदते जाते हैं। जेठ की दुपहरी पड़ी है। सब

पसीने से तर हो रहे हैं। हाँफते हुए भी वे काम पर जुटे हैं!)

एक वृद्ध किसान—(भाल से पसीने की बूँदों को पोंछता हुआ) भगवान! कुदाल और फर्से में ही उम्र बीती, मनों नाज पैदा किया, किन्तु भूख कभी न मिटी।

दूसरा किसान—आह! भगवान ने हमें संसार का पालने वाला बनाया, और दानव मनुष्यों ने हमारा ऋण ठोकरों में चुकाया।

तीसरा किसान—हमने उन्हें ऐश्वर्य और भोग की सामग्रियाँ दीं, और उसके बदले में हमें क्या मिला—एक रूखा तिरस्कार।

चौथा किसान—हमारी झोपड़ियों के ऊपर, हमारी सूखी हड्डियों को ईंट और चूने में मिलाकर विशाल महल खड़े किये गये, और एक टूटी-फूटी मड़ैया ही हमारे जीवन का सहारा बनी रही।

पाँचवाँ किसान—भेड़ों को पाल-पाल कर हमने हजारों मन ऊन तैयार की, खेतों में अपनी हड्डियाँ और खून को मिला कर सैकड़ों मन कपास पैदा की; किन्तु अपने ओढ़ने और बिछाने के लिये, घास के सूखे तृणों के लिये भी तरसते ही रहे! सर्दी और गर्मी का जीवन कभी अनुभव ही न कर पाया।

छठवाँ किसान—सब कुछ होकर भी हम कुछ न हुए? हमारे खून को बहाकर महलों ने होलियाँ मचाईं, दीपावलियाँ जलाईं, और हमारी कुचली झोपड़ियाँ अन्धकार में सोईं एक दीपक के लिये भी टिमटिमाती रहीं।

सातवाँ किसान—हमसे ही अमीर बनकर, अमीरों ने हमें ग़रीब कह दुत्कारा! हमारी छाती को कुचल कर वैभव ने अठखेलियाँ कीं और हमारी कुचली आहें कराहती ही रहीं।

आठवाँ किसान—हमारे दुःखी गीतों की प्रतिध्वनियाँ पहाड़ियों की नीरव घाटियों में चिल्लाती रहीं—मनुष्य और देवता सुनकर भी चुप रहे। ओः मानवी भीषणता! (दाँत पीसता है)

नवाँ किसान—उफ़ हमसे न सहा जायेगा। किसानो, हमें अपने अत्याचारों का आप ही बदला लेना होगा! अपने दुःख में दूसरे के सहारे की आशा करना निर्मूल है। गिरे हुए, और उनमें क्या अन्तर है, जो अभी खड़े हैं, गिरने के लिये ही तो!

दसवाँ वृद्ध किसान—ईश्वर ग़रीबों की अवश्य सुनेगा बाबा, देर होगी ज़रूर, किन्तु अन्धेर कभी नहीं हो सकता।

ग्यारहवाँ युवक किसान—दैव कायरों के लिए है! हमारा दुःख ही हमारा ईश्वर, हमारा सहारा बनेगा।

बारहवाँ वृद्ध किसान—अपने कर्मों के लिये हम दूसरे को क्या दोष लगावें। भाई ज़रा सोचो तो।

सब—(एक स्वर में) हमने क्या किया, कौन बुरे कर्म किये?

एक युवक किसान—जी, अपने कर्म, अपने नहीं, किन्तु दूसरों के बुरे कर्मों का फल हमें उठाना पड़ रहा है। यही हमारे बुरे कर्म हैं, कि हम अपने पर किये गये अत्याचारों का बदला लेना नहीं जानते, किन्तु सहते ही जाते हैं।

(क्रान्तिकारी का धीरे से प्रवेश। आकर किसानों के पास खड़ा हो जाता है।)

एक वृद्ध किसान—भाई, यह पूर्व जन्मों के फल हैं, ये हमारे पाप हैं।

(क्रान्तिकारी युवक तेज़ी से आगे बढ़ता है और सबके बीच में चला आता है, किसान उसे ग़ौर से देखने लगते हैं।)

क्रान्तिकारी—वृद्ध, तुम्हारा यह ख़याल नशीला है! तुम्हें मालूम नहीं, कितने लालची सिंहासनों के वैभव ने हमें भूल और नीचता की मदिरा पिलाई हुई है।

(सब लोग एकटक होकर सुनते हैं)

किसानो, तुम अपने को भूलते हो। तुम नहीं जानते, तुम्हें मालूम नहीं, तुमसे ही जीवन और ऐश्वर्य पाकर आज मतवाला संसार वैभव के नशे में चूर हुआ, तुम्हारी कृतज्ञता का बदला घृणा और ठोकरों में चुका रहा है। क्या तुम इन अकृतज्ञों का फिर भी साथ देते रहोगे?

एक युवक—नहीं, नहीं, हमारी आहों की ज्वाला अपने पाप का बदला लिये बिना शान्त नहीं हो सकती।

दूसरा युवक —(क्रान्तिकारी से) ओ स्वर्गीय दूत, धर्म के पुजारी, ओ निर्मल ज्योति, तुम कौन हो देवता ?

क्रान्तिकारी—मेरा परिचय हो जायेगा ! मैं, तुम्हारी ही भाँति एक देशवासी हूँ। हम सब एक माता के पुत्र हैं, एक ही .खून की धारा हमारी नसों में प्रवाहित है, हम सब भाई हैं, और हमारा एक ही नेम, व्रत और ध्येय है—गुलामी की क्रूर जंज़ीरों को तोड़ना, मुरझाये जीवन को स्वातन्त्र्य की मदिरा से सींचना, जिससे शाही यातनाओं को भोगता हुआ हमारा जीवन एक बार स्वच्छन्द हो नाच उठे और मुक्त होकर गाये—"क्रान्ति हमारी, हम हैं क्रान्ति के पुजारी !"—बोलो एक बार सब मुक्त-कण्ठ से बोलो—

"क्रान्ति हमारी, हम हैं, क्रान्ति के पुजारी !"

एक युवक—(गम्भीरता से) क्रान्ति, क्रान्ति किसे कहते हैं, देवता ?

क्रान्तिकारी—एक जीवन को त्याग कर, दूसरे को लेना क्रान्ति है, व्यभिचार को छोड़ कर, सदाचार को लाना क्रान्ति है। असत्य का नाश कर सत्य की स्थापना करने को क्रान्ति कहते हैं, निरंकुश राजत्व का अन्त कर प्रजातन्त्र की स्थापना क्रान्ति है ! क्रान्ति अभिनन्दनीय है—वह हमारे जीवन का प्रथम और अन्तिम लक्ष्य है।

वृद्ध किसान—ओह ! क्या क्रान्ति हमारे दुःखों का अन्त कर सकती है, क्या क्रांति भूखों का पेट भर सकती है ?

क्रांतिकारी—क्रांति अधर्म को मिटा कर धर्म की स्थापना करेगी, धर्म का राज होगा, तो क्या फिर भी व्यभिचार सम्भव है ? बोलो क्या तुम लोग क्रांति के उपासक बनोगे !

सब—(सम्मिलित स्वर में) हाँ, हाँ !

एक वृद्ध किसान—(काँपते हुए) किन्तु राजा का ...!

क्रान्तिकारी—राजा, राजा का भय, भूले किसानो ! राजा, राजा किसे कहते हैं ? सुनो, संसार में पहिले कोई राजा न था, सब किसान थे और सुख से रहा करते थे ! किन्तु कुछ समय के पश्चात् हम में कुछ बुरे लोग पैदा हुए और उन्होंने दूसरों के खेतों का माल चुराया ! सब किसान मजबूर हो एकत्रित हुए और उन्होंने अपने में से एक किसान को चुनकर कहा कि तुम खेती के बजाय, हमारे खेतों की देखभाल और रक्षा करो और बदले में तुम्हें हम नाज का कुछ भाग दे दिया करेंगे और चूँकि उसने सब लोगों का कहना मानकर उनकी इच्छाओं को पूरा किया, वह राजा कहलाया ! इसलिये किसानो, राजा हमारा सेवक है। वह हमारे में ही से एक किसान है, किन्तु वह आज अपने को भूल गया है, वैभव ने उसे अन्धा कर दिया है ! जीवन की प्रगति परिवर्तनमय है। बोलो, क्या तुम पापों का बदला चाहते हो, जीवन को मुक्त बनाना चाहते हो, आओ, क्रांति का विपुल परिवर्तन की गूँज से आसमान और पाताल को कँपा देगा।

सब—हम तैयार हैं; तैयार हैं—क्रान्ति हमारी इष्ट और परिवर्तन हमारा पुण्य ध्येय है चलो, चलो !

(आगे-आगे क्रांतिकारी और पीछे से सब किसान कुदाल और फर्सों को घुमाते हुए जाते हैं !)

❀ ❀ ❀

तीसरा दृश्य

(भिखारी की झोपड़ी, स्त्री अपनी बच्ची को खिला रही है !)

स्त्री—मुन्नी रानी, मुन्नी रानी, ओ मेरी रानी !

(भिखारी का प्रवेश)

भिखारी—यह क्या हो रहा है, बन्द करो यह चिल्लाना, जानती नहीं, अब मैं क्रान्तिकारी हूँ !

स्त्री—नाथ !

क्रान्तिकारी—देखो, कल क्रान्ति होगी, भिखमङ्गों, गरीबों और किसानों के दिन लौटेंगे, महापरिवर्तन होगा। कहो, तुम .खुश हो ?

स्त्री—और मेरी भीख मुझे मिलेगी !

क्रान्तिकारी—क्रान्ति सबका मनोरथ पूरा करेगी मेरी भिखारिन !

स्त्री—आह मेरी भीख मेरे नाथ !!

(पर्दा गिरता है)

❀ ❀ ❀

चौथा दृश्य

(राजमहल—दीवानेआम में बादशाह, उसका मन्त्री और अन्य मुसाहिब लोग बैठे हैं ।)

बादशाह—मन्त्री ! आसमान स्तब्ध सा मालूम पड़ता है । भीषण तूफ़ान उठने से पहले प्रकृति का यही रूप है, अवश्य कोई बवण्डर आने वाला है ।

मन्त्री—जहाँपनाह, आपकी शक्ति विशाल है, बवण्डर, भूकम्प और तूफ़ान आपकी शक्ति को देखकर काँपते हैं, जहाँपनाह, फिर कैसे उद्विग्न मालूम होते हैं ।

बादशाह—मन्त्री, क्रान्तिकारी ने बड़ा ऊधम मचा दिया है । किसानों ने लगान देना बन्द कर दिया, सारी प्रजा भड़क उठी है । राजा के नाम पर ही लोगों को चिढ़ है । क्षितिज पर महापरिवर्तन के दृश्य दिखलाई पड़ रहे हैं ।

मन्त्री—हुजूर को इस बात से ख़ौफ़ न खाना चाहिये, दो दिन का रक्तपात बीस वर्ष के लिये शान्ति स्थापित कर देगा ! मैंने फ़ौज को हुक्म दे दिया है, वे महल के बाहरी दरवाज़े पर पहरा दे रहे हैं ।

अन्य मुसाहिब—हुजूर, और हुजूर को उन राजद्रोही क्रान्तिकारियों से डर ! यह जहाँपनाह का ख़याल है ।

बादशाह—(भयाकुल सा) डर, डरता मैं थोड़े ही हूँ, किन्तु बलवा अच्छा नहीं, इससे बदनामी का डर है !

मन्त्री—जहाँपनाह ! बादशाह, राजाओं और अमीरों को कौन बदनाम कर सकता है । हुजूर के सब ग़ुलाम हैं ।

अन्य मुसाहिब—जी हाँ, हुजूर के जहाँपनाह, सब ग़ुलाम हैं—आप ही के नमक पर जीकर कुछ बदमाशों को नशा चढ़ आया है । उनके घुटे सिरों पर थोड़ा ठण्डा पानी डालने की ज़रूरत है—(जहाँपनाह मुस्काते हैं, मन्त्री और अन्य मुसाहिब सब हँसते हैं ।)

मन्त्री—हुजूर की साम्राज्य-वृद्धि हो, यश फैले ।

अन्य मुसाहिब—हमारे जहाँपनाह जगदीश्वर हों ।

(बाहर भारी कोलाहल मचा है)

बादशाह—हैं !

मन्त्री—कोई मदारी होंगे जहाँपनाह !

अन्य मुसाहिब—हुजूर की तबीयत कुछ अच्छी नहीं मालूम होती !

बादशाह—(सोचता हुआ) यह सब मदारी का ही खेल है ! (गहरी साँस छोड़ता है, उसकी तबियत नहीं लगती और विचलित सा मालूम पड़ता है ।)

मन्त्री—पहरेदार !

(पहरेदार आता है)

पहरेदार—(सिर झुकाये हुए) आज्ञा हुजूर !

मन्त्री—जाओ भीतर से एक सुन्दरी नर्तकी को शराब देकर भेजो ।

(पहरेदार सलाम कर जल्दी से जाता है ।)

(नर्तकी स्वर्ण-पात्र में शराब लेकर आती है ।)

मन्त्री—सोने के प्याले में, मदिरा डाल कर जहाँपनाह को भेंट करो !

(नर्तकी स्वर्ण-प्याले में शराब भर कर बादशाह को देती है ।)

बादशाह—(शराब पीकर) उफ़ ! वह कोलाहल... कौन बदमाश, तख़्तनशीन बादशाह के नाम को बुरा कह सकता है, (पीकर) कैसी अच्छी मदिरा है ।

(कोलाहल 'क्रांति हमारी, हम हैं क्रान्ति के पुजारी"; परिवर्तन, अत्याचार का अन्त, परिवर्तन, परिवर्तन ।)

बादशाह—(भ्रमित होकर) क्या मंत्री, वे कौन दानव हैं, बादशाह के विरुद्ध कौन ज़बान हिला सकता है, मैं बादशाह हूँ, शाहन्शाह, उनकी जीभ निकलवा लो । उनकी खाल खिंचवा दो, हैं, यह शोर, यह गुल । (इधर-उधर देखता हुआ) ओ, थोड़ा पानी, पानी, शराब की गरमी मुझे जला रही है ।

मंत्री—जहाँपनाह, आप नाहक घबरा रहे हैं ?

बादशाह—मैं घबराता नहीं, मैं बादशाह हूँ, किन्तु

आज बड़ी गर्मी है, बहुत ही गर्म मालूम होता है; ओ विलासिनी, जरा पंखा तो कर!

(नर्तकी पंखा झलती है)

उफ! ज्वाला और भी बढ़ती जाती है, इस पंखे से कुछ भी ठंढ नहीं, बन्द करो झलना। मेरा हुक्म है—बादशाह का हुक्म है, क्यों मंत्री, मैं क्या नहीं कर सकता?

मंत्री—जहाँपनाह आपकी दुआ पर ही यह दुनिया टिकी है!

अन्य मुसाहिब—जहाँपनाह, आप खलक के मालिक है।

बादशाह—(जोर से हँसता हुआ) सच-सच, तुम झूठ तो नहीं कहते। हाँ जरूर मैं बादशाह हूँ! (उद्विग्न होकर) ओः किन्तु आज गरम बहुत है, विलासिनी मेरे लबादे के बटन खोल दो, खोलो, खोलो मेरे बटन, मेरे बटन खोल दो, गरमी बढ़ती जाती है, मैं पसीने से भीग गया हूँ!

(नर्तकी बटन खोल देती है, बादशाह लबादे को दूर फेंक देता है) उफ! इसने आज मुझे मार डाला था। तुम जाओ मुझे बेचैनी हो रही है! (नर्तकी जाती है)

बादशाह—आह........।

मन्त्री—जहाँपनाह, मात्रा अधिक हो गई।

बादशाह—अनजाने में, मुझे मालूम न था। (सोचता हुआ) मन्त्री तुम कहते थे—मैं बादशाह हूँ।

मन्त्री—सत्य जहाँपनाह!

अन्य मुसाहिब—सत्य मा-बाप, आप दुनिया के मालिक हैं।

बादशाह—तो फिर सबको मेरा हुक्म मानना चाहिये, क्यों?

मन्त्री—जहाँपनाह, ऐसी कौन गुस्ताखी करेगा।

बादशाह—ओफ़ बेचैनी बढ़ती जाती है।

(फिर कोलाहल—"क्रान्ति, क्रान्ति, राजशाही का अन्त!")

बादशाह—हैं, ये कौन भेड़िये हैं—वे बदमाश मेरा अन्त चाहते हैं। हूँ, बादशाह के सामने कौन सिर उठा सकता है! सबके सर गुब्बारों की तरह उड़ा दिये जाएँगे। मन्त्री!

मन्त्री—बिलकुल ठीक जहाँपनाह।

(कोलाहल बढ़ता है, 'क्रान्ति-क्रान्ति' चिल्लाते हुए सब कृषक लोग क्रान्तिकारी के पीछे-पीछे दीवाने आम में घुस आते हैं।)

बादशाह—ओ! तुम लोग कौन हो, बेईमानो, राजद्रोहियो! हट जाओ बादशाह के सामने से।

क्रान्तिकारी—बादशाह, जी हुजूर का पुतला, बादशाह—उससे बढ़कर भगवान के प्रतिरूप किसान हैं, उन्हें किसी के हुक्म की जरूरत नहीं।

मन्त्री—दुष्ट, यह अपमान, बादशाह के सामने यह गुस्ताखी!

अन्य मुसाहिब—यह गुस्ताखी!

क्रान्तिकारी—चुप रहो चाटुकारो!

बादशाह—बादशाह कहता है, बकवाद मत करो, बोलो, तुम्हें क्या चाहिये?

क्रान्तिकारी—हमारे सीधे प्रश्नों का उचित उत्तर!

बादशाह—मन्त्री!

क्रान्तिकारी—कहो, गरीब किसानों से इतना अधिक 'कर' क्यों लिया जाता है?

मन्त्री—यह सब उनकी भलाई के लिये, जिससे वे अच्छी तरह काम कर खूब पैदावार बढ़ावें!

क्रांतिकारी—बाहर से आने वाली चीजों पर क्यों कर लिया जाता है?

मन्त्री—यह सब उन्हीं की भलाई के लिये! जिससे विदेश से आनेवाली चीजें रुकें, शौक की चीजों का प्रचार कम हो और अपनी अन्दरूनी उन्नति हो!

अन्य मुसाहिब—हुजूर प्रजापालक हैं, मा-बाप हैं।

बादशाह—मैं बादशाह हूँ, मैं जो करूँ वही ठीक है।

क्रान्तिकारी—बादशाह, किसानों देखो और पहिचानो, यही तुम्हारा बुरा कर्म है, पूर्व-जन्म का पाप है यही जो सोने के सिंहासन पर पुतले की तरह बैठा है।

सब—क्रांति क्रांति, मारो, मारो!

बादशाह—बुलाओ फ़ौज को, भागो, भागो द्रोहियो, नहीं तो तुम्हारा धड़ ही घर पहुँचेगा!

(एक मुसाहिब उठकर सिपहसालार को फ़ौज अन्दर लाने को कहता है। फ़ौज दीवानेआम में घुस आती है।)

बादशाह—सिपहसालार, मेरा हुक्म है, इन सब को बन्दी बनाओ!

सिपहसालार—जहाँपनाह!

मन्त्री—बादशाह का हुक्म है!

सिपहसालार—बेक़सूर, निहत्थों पर क्षत्री हाथ नहीं उठा सकते, मैं लाचार हूँ।

क्रांतिकारी—घेर लो सिंहासन को (सारी फौज और किसान तख़्त को घेर लेते हैं)! उतर आओ जहाँपनाह तख़्त से, बन्दी करो इन मन्त्री और मुसाहिबों को!

(सब बन्दी कर लिये जाते हैं।)

सब—(कंपित स्वर में) क्रांति! क्रांति! किसानों की जय!

मन्त्री—(क्रांतिकारी के चरणों में झुकता हुआ) ओ देवता, यह बादशाह बड़ा अत्याचारी रहा, हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी वह न माना!

बादशाह—क्या!

अन्य मुसाहिब—हमने बहुत समझाया, किन्तु देवता, शराब और वेश्या में मग्न, भला वह क्यों सुनता?

क्रान्तिकारी—हा हा हा!

सब लोग—कुत्ते!

मंत्री और अन्य मुसाहिब—हमें छोड़ दो! हमें छोड़ दो, क्रान्तिकारी हमारा कोई क़सूर नहीं, देखो हमारे बाल-बच्चे भूखों मर जाँयगे!

क्रान्तिकारी—भूखों, आज तक का खाया कहाँ गया? (घृणा से) अच्छा, जाने दो इन कायरों को!

(सब के सब बादशाह की ओर देखते हुए खिसक जाते हैं।)

क्रान्तिकारी—(बादशाह से) कहो जहाँपनाह बादशाह, कहो, अपराध स्वीकार है!

बादशाह—(निर्भीकता से) बादशाह तो चला गया, सिंहासन खाली है। मैं तो केवल तुम्हारी भाँति एक मनुष्य हूँ! क्रान्तिकारी! बादशाह और उसके मंत्री और मुसाहिब—एक प्रवञ्चना।

क्रान्तिकारी—बादशाह बोलो! उत्तर दो?

बादशाह—मेरी हँसी न उड़ाओ क्रान्तिकारी, मुझे बादशाह कह कर न चिढ़ाओ। मेरी हँसी उड़ाने से तुम्हारा आदर्श भ्रष्ट हो जावेगा—एक मनुष्य का हृदय दुखाना क्या अच्छा है! आह! मैंने भुलावे में आकर बहुत अपराध किये, मंत्रियों और मुसाहिबों के जाल में फँसकर क्या न किया, क्रान्तिकारी! किन्तु अब बादशाह कह कर मेरा दिल न दुखाओ, मुझे क्षमा करो। क्षमा करो। मैं यह राज्य प्रजा को सौंपता हूँ, उन्हीं की यह थाती मैं उन्हें देता हूँ।

(हर्ष-ध्वनि)

क्रान्तिकारी—बादशाह तुम नेक हो!

बादशाह—आह! अब न मुझे बादशाह कहो—ओः! यदि तुम्हें मञ्जूर हो तो मुझे भी अपने में मिला दो, मुझे यदि क्षमा कर सको—थोड़ी ज़मीन एक झोंपड़ी के लिये दे दो, जिससे यह शेष जीवन मैं एक किसान की भाँति शान्ति से बिता सकूँ!

क्रान्तिकारी—(हर्ष से बादशाह को गले लगाता है)—आओ प्यारे किसान, हमारे खोये हुए किसान, आओ! (सब लोग हर्ष से तालियाँ पीटते हैं)

आओ हम सब मिलकर एकसाथ सुख-दुःख का भोग करें! (हर्षाकुल हो) बोलो महामाया क्रान्ति की जय!

सब लोग हर्ष से समवेत स्वर में क्रान्ति की जय पुकारते हुए जाते हैं!)

"यवनिका"

[समाप्त]

स्त्रियों की शक्ति

[विद्याभूषण पण्डित मोहन शर्मा, विशारद]

किसी भी राष्ट्र के इतिवृत्त में ख्याति लाभ करना और इतिवृत्त निर्माण करना एक ही बात नहीं है। दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। जोसेफाइन ने इतिहास में कीर्ति उपलब्ध की थी, किन्तु वीराग्रणी केसरी नेपोलियन ने इतिहास का प्रणयन किया था अथवा इतिहास बनाया था। उनके प्रबल प्रतापान्वित व्यक्तित्व की अमरगाथा ही इतिहास है। अद्यावधि जितने भी पुरुष-पुङ्गव पृथ्वी का इतिहास निर्माण कर गए हैं, उनमें स्त्रियों की संख्या नगण्य है और पुरुषों की ही संख्या अधिक है। यदि ऐसा कहें कि स्त्रियों की नहीं भी है तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु, क्या नारी, जो ब्रह्मा की अन्तिम और श्रेष्ठ कृति है, इतिहास निर्माण करने की क्षमता नहीं रखती (?) किंवा स्त्री, पुरुष के तादृश शक्तिमती और व्यक्तित्व-शालिनी नहीं हो सकती?

यह प्रश्न यदि स्त्रियों से किया जाय तो वे बलपूर्वक एक स्वर में इसका यही उत्तर देंगी कि अवश्य हो सकती हैं। परन्तु, दुर्भाग्य से स्त्री जाति को अद्यपर्यन्त उसकी प्रतिभाशक्ति, जन्मजात मनोबल और व्यक्तित्व के विकास के लिये उपयुक्त सुयोग ही नहीं दिया गया है। फलतः विश्व के इतिहास में महिलाएँ, अद्यापि विशेष स्थान प्राप्त न कर सकीं। विद्युत रेखा के समान शक्ति-स्वरूपा और सौन्दर्यमयी नारियाँ पुरुष-वर्ग से अपने उत्थान के लिये कभी उन्मुक्त अवसर पा सकतीं तो विश्व देखता कि वे कहाँ तक अश्रुतपूर्व और अभूतपूर्व कार्यों का सम्पादन करती हैं? यदि उन्हें अपने पराक्रम के प्रगटीकरण का ठीक-ठीक अवसर दिया जाता तो आज का संसार जिस भाँति इतिहास के पन्ने-पन्ने में पुरुष-वर्ग की कीर्त्ति-कथा अवलोकन करता है, उसी भाँति महिलावृन्द के स्तुतिवाद का भी स्वाध्याय कर सन्तुष्ट हो लेता। जब स्त्रियाँ, जननी के स्थान पर अधिष्ठित हैं, और इस नाते सन्तान के बनाव-बिगाड़ का पुरुषवर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक दायित्व रखती हैं तथा जीवन-संग्राम में अनेक अवसरों पर पुरुषों को भी उपयुक्त कार्य दिशा का निर्देश कराती हैं, तब यह नहीं कहा जा सकता कि जो दूसरों का कल्याण साधने में निष्णात हैं, वह अपना साधन नहीं कर सकेंगी। स्त्रियों के यद्यपि वीरता, विद्या-बुद्धि-सम्पन्नता, पर-दुःख-कातरता और अपूर्व त्याग के पुरुषों की समानता में थोड़े उदाहरण पाये गये हैं, पर उनका पुरुष की शक्ति-चर्चा से डट कर समतोलन या मुक़ाबला किया जा सकता है। समुद्र पार देशों की बात अलग रखकर यदि एक भारतवर्ष के ही इतिहास को टटोलने बैठें तो उसमें महिलाओं के अकृत्रिम साहस, मर्यादा-रक्षा और प्रेम के ऐसे दृष्टान्त मिलेंगे जिन्हें पढ़ सुन कर आश्चर्य-विमुग्ध हो जाना पड़ेगा।

स्त्रियाँ किसी भी देश और किसी भी जाति की क्यों न हों, यदि उन्हें शिक्षा से वञ्चित नहीं रखा गया, उनके औचित्यपूर्ण स्वत्त्व उन्हें दिये गये, तो वे अनेक क्षेत्रों में पुरुषों से भी एक क़दम आगे बढ़ कर कामयाब होती देखी गई हैं। आधुनिक काल में जहाँ अन्ध-परम्परा के बन्धनों का मायाजाल नहीं है और महिलाएँ अपने अधिकारों का मुक्त वातावरण में उपभोग कर रही हैं; वहाँ उनके समाज में जीवन, जागृति और शक्ति का अजस्र ज्वार उठ रहा है। उनकी दुनियाँ और की और हो गई है। यद्यपि यहाँ हमारे कथन का यह तात्पर्य नहीं कि अन्यान्य देशों की भाँति भारतीय स्त्रियों के पक्ष में भी पूर्ण स्वाधीनता का द्वार उन्मुक्त कर देना हितावह सिद्ध होगा और उनमें सह-शिक्षा, सहनृत्य, सहविहार आदि का बहुल प्रचार हो जाने से वे अति

शीघ्र प्रकृत देवियाँ बन जावेंगी। अपितु, भारत, धर्म-प्रधान देश है, उसकी सभ्यता, संस्कृति ध्रुव धर्म पर आधारित है। अतः धर्म-मर्यादा को दृष्टि में रखते हुए ही देश, काल और अवस्था के अनुसार स्त्रियों के अधिकारों का बटवारा कर देना देश के अभिनव कल्याण का कारण हो सकता है। इसके लिये देश में कुछ काल से विविध आन्दोलन-उपान्दोलन चल ही रहे हैं, किन्तु शिक्षा की दृष्टि में अभी यहाँ की स्त्रियाँ पुरुषों से बहुत ही पीछे हैं। देश की आबादी का बहुत बड़ा भाग देहातों में है, जहाँ स्त्री-समाज में अद्यापि शिक्षा की गन्ध तक नहीं पहुँची है। इसीलिये स्त्री-समाज-सुधार के नाम पर अब तक जो आन्दोलन हो रहे हैं, उनका शहरों की सीमा तक ही अधिक प्रभाव है और उसके परिणाम-स्वरूप कुछ चमकप्रद मणियाँ देश के भाग्य में जुटी हैं या जुट रही हैं, तो उनकी संख्या इतनी अपर्याप्त है कि वह उङ्गलियों पर गिनी जा सकती है।

यहाँ नीचे हम उन वैदेशिक महिमामयी स्त्रियों का परिचयात्मक विवरण देकर स्त्री-शक्ति-विलास के प्रति सम्मान का भाव प्रगट करना चाहते हैं, जिन्हें वर्त्तमान सभ्य जगत श्रेष्ठ महिला-रत्न के रूप में पाकर गौरवान्वित हुआ है। बुद्धि-वृत्ति और कर्मोपासना की दृष्टि से वे अनिन्द्य सुन्दरियाँ घोषित हो रही हैं। उनकी गुणावली ने उनके अपने देशों को प्राणमय, प्रतिभामय और प्रगतिमय बना दिया है। उनकी प्रतियोगिता में आधुनिक भारत की महिलाओं का नामोल्लेख करना सर्वथा अनुपयुक्त होगा, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वर्तमान भारतवर्ष यदि गुदड़ी है तो उसमें आज राष्ट्र-माता कस्तूरीबाई गाँधी, भारत-कोकिला सरोजिनी देवी नायडू, सुश्री कमलादेवी चट्टोपाध्याय प्रभृति देवियाँ विविध लालों और रत्नादिकों के रूप में विद्यमान् हैं। उनका ठीक-ठीक महत्व आगे आने वाला संसार ही जान सकेगा। आज भी समग्र देश उन्हें जितना परख सका है वह उसके पक्ष में किञ्चित सन्तोष की साँस खींचने के लिये कम नहीं है। फिर भी अन्यान्य स्त्री सुधारवादी देशों की समानता में यह इसलिये सोना खोलकर खड़ा नहीं हो सकता कि इस बूढ़े का अस्थि-पञ्जर दासत्व की सुदृढ़ शृङ्खला से आबद्ध है। जिस दिन यह शृङ्खला टूट कर देश के पक्ष में स्वतन्त्रता का स्वर्ण विहान आ उपस्थित होगा, उसी दिन भारतीय नारियाँ अपने इस गौरव की विश्व के इतिहास में अमिट छाप लगा देंगी। सीता, सावित्री, गार्गी, मदालसा और मैत्रेयी आदि ने युग-युग व्यापी धार्मिक इतिहास बनाया था और अब यह भी अनन्त काल के लिये, अपने अभिनव राष्ट्रीय इतिहास का निर्माण करेंगी।

१—रानी उइलहेल मिना—पृथ्वी में हालैण्ड एक लघु राष्ट्र है, किन्तु इसमें अब तक अनेक विश्ववन्द्य और पुरुषार्थी मनुष्यों ने जन्म ग्रहण किया है। हालैण्ड की वर्त्तमान रानी उइलहेल मिना उनकी श्रेणी में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। हालैण्ड के निवासियों का कथन है कि हमारे देश में कोई भी मनुष्य अर्थात् ग़रीब से लेकर अमीर तक राजप्रासाद की स्वामिनी के निकट अनायास ही पहुँच सकता है। वहाँ जाने पर वह देखेगा कि रानी उइलहेल मिना निविष्ट मन से सीने-पिरोने का काम कर रही हैं। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण कितना अमूल्य है, यह उनकी समयानुवर्तिता और अथक परिश्रम आदि गुणों से भलीभाँति प्रगट है। उनकी नीति-कुशलता और अपूर्व प्रभाव के कारण ही उस देश में बोलशेविज़्म की हवा तक नहीं आ सकी। जहाँ धनी और दरिद्र सबके लिये न्याय का एक ही विधान है, वहाँ अधिकार-चर्चा को लेकर कभी उत्पात नहीं उठ सकता।

उइलहेल मिना गण-तान्त्रिक रानी हैं। कुछ काल पूर्व जब वहाँ के समाजतन्त्री दल ने राजधानी में हङ्गामा उठाया था, तब रानी राजप्रासाद के तितल्ले की एक खिड़की से यह दृश्य देख रही थीं। मन्त्रियों ने भावी उपसर्ग की आशङ्का से, उनसे वहाँ से हट जाने की प्रार्थना की। परन्तु वह किसी की भी न सुनकर खुली गाड़ी में आकर बैठ गईं और जनाकीर्ण स्थल के बीच में होकर चलने लगीं। परिणाम यह हुआ कि समवेत जनता रानी को अपने बीच में देखकर शान्त हो गई। हज़ारों, लाखों मनुष्य जिसके भृकुटि विलास से इस भाँति क्षण में प्रभावित हो जाते हों वह नारी-श्रेष्ठ रानी उइलहेल मिना यथार्थ में स्तुति के योग्य हैं। रानी का सिद्धान्त है कि

समस्त प्रजा उनका अपना परिवार है और वे गृह की अधिष्ठात्री हैं। सुतरां, हालैण्ड की प्रजा उनके प्रति विशेष रूप से अनुरक्त रहती है। दूसरे शब्दों में रानी वर्त्तमान हालैण्ड देश की विक्टोरिया हैं।

२—तुर्की महिला खालदा खानूम—संसार में अद्यपर्यन्त जिन कतिपय रमणियों ने स्वजाति के भाग्य-निर्माण कार्य में योग देकर अपने असाधारण, मानसिक और दैहिक बल का परिचय कराया है, उनमें नारी-श्रेष्ठ खालदा खानूम का नाम सब से आगे है। वह अपनी राष्ट्रीय तपश्चर्या, अविरल लोक-सेवा और अन्य कई सद्गुणों के कारण सुदूर देशों तक में यथेष्ट ख्याति लाभ कर चुकी हैं। खालदा खानूम के पिता तुर्की थे और माता यहूदी जाति की थीं। कौन जानता था कि वह वयस्क होने पर राष्ट्रोत्थान के कार्य में इस प्रकार प्रतिपत्तिशालिनी स्त्री रत्न प्रमाणित हो सकेंगी!

तुर्किस्तान की जिस राष्ट्रीय समिति ने तुर्क सुल्तान के स्वेच्छाचारी तन्त्र के विरुद्ध गर्वपूर्वक मस्तक ऊँचा किया था, उसकी खालदा एकमात्र नारी सदस्या थीं। इसके पूर्व किसी भी तुर्की रमणी ने पर्दा प्रथा को पद-दलित किया था या नहीं, इसमें मत भेद हो सकता है। किन्तु यह दुग्ध-फेनवत सत्य और सुनिश्चित है कि तुर्की स्त्रियों में सर्व-प्रथम उन्होंने ही राष्ट्र-सेवा के लिये राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश लाभ किया था। पहिले तत्कालीन सुल्तान अब्दुल हमीद ने उनको बन्दी करने का आदेश-पत्र जारी किया और वे तत्क्षण गिरफ्तार कर ली गईं। बाद में महायुद्ध के अवसर पर जब मित्र शक्ति पुञ्ज ने इस्ताम्बूल को अधिकृत कर लिया था तब उसने और उसकी सहयोगिनी-स्वजाति द्रोही तुर्की पार्लियामेण्ट ने उनको दुबारा बन्दी करने का हुक्म निकाला था। किन्तु, वह येन-केन उपायों से एकदम भाग खड़ी हुईं और अङ्गोरा में मुस्तफ़ा कमाल पाशा (वर्त्तमान अता तुर्क) से जा मिलीं। वहाँ उन्होंने जातीयवादी दल के साथ होकर ग्रीक देश वालों के विरोध में युद्ध किया। स्मर्ना से ग्रीक सैन्य-दल के पीठ दिखाने पर मुस्तफ़ा कमाल पाशा जब विजयोल्लास में निमग्न हो मानस-चक्षुओं से हृदय में भावी शान्ति का चित्र अङ्कित कर रहे थे, तब खालदा ने उनसे चैतन्यमयी वाणी में कहा था—"स्त्री जाति के अन्तःपुर में बन्दिनी रहने से तुर्की जनता किसी भी विषय में मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकी। इसका उपचार सर्व-प्रथम आवश्यक है।"

उन्होंने जिस समय 'ऐक्य समिति'—के पक्ष से कनष्टान्टिनोपिल की एक अन्धी गली के एक प्राचीन गृह के चौपाल में पहिले पहिल मुँह का पर्दा हटाकर ज़ोरदार वक्तृता दी थी, उसके पूर्व तुर्की महिलाओं के लिये देश और जाति के मुक्ति-लाभ की चिन्ता करना तो दूर रहा; अपने व्यक्तिगत स्वाधीनता तक की चिन्ता करना असम्भव व्यापार था। मुस्तफ़ा कमालपाशा ने जो तुर्की स्त्री जाति के अवगुण्ठन-मोचन का प्रशंसनीय कार्य किया है, उसमें अनेक बातों की प्रेरणा उन्हें खालदा खानूम से ही प्राप्त हुई थी। कालान्तर में खालदा खानूम साधारण तन्त्र की शिक्षा-सचिव नियुक्त हुईं, किन्तु कुछ कालोपरान्त अता तुर्क से मत-भेद घटित होने पर उन्हें राजनैतिक क्षेत्र से अवसर ग्रहण करने को बाध्य होना पड़ा। प्रायः दो वर्ष पूर्व खालदा खानूम अपनी विशेष यात्रा में भारत को भी आई थीं। उस अवसर पर यहाँ उनके कई विद्वत्ता-पूर्ण भाषण हुए थे। हिन्दू और मुस्लिमों ने उनकी अभ्यर्थना में समान भाव से हिस्सा बटाया था।

३—रूमानिया की राजमाता मेरी—यह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की तेजमयी ज्योति और महान व्यक्तित्वशालिनी रमणी हैं। यद्यपि इनकी प्रतिभा, कार्य-दक्षता आदि अब तक ठीक-ठीक विज्ञापित नहीं हो सकी है, पर वे अत्यन्त स्वच्छता-प्रिय, न्याय-शीला और प्रभावशालिनी स्त्री बताई गई हैं। वे जहाँ भी आ उपस्थित होती हैं वहाँ दूसरों का व्यक्तित्व मलिन और फीका पड़ जाता है। रुमानिया की वही राज्ञी और एकमात्र अधिष्ठात्री हैं। उनके स्नेहार्द्र हृदय ने भी उनको प्रजा-वर्ग की दृष्टि में देवी स्वरूपिणी प्रमाणित कर दिया है। प्रजा का एकान्त विश्वास है कि उनकी राज्य-माता मेरी का स्थान यीशू की माता से भी परे है। जो शक्ति-विलासिनी रमणी रुमानिया के इतने बड़े जन-समुदाय के हृदय में अपना इस प्रकार



विचित्र प्रभाव अङ्कित करा सकती है, उसे आधुनिक काल की देवी स्वीकार करने में कौन आपत्ति अनुभव करेगा ?

४—सुश्री नादेजा इष्टयान सियफ—बलगेरिया राज्य में भी एक असाधारण शक्तिमती और वैभव-शालिनी स्त्री का प्रादुर्भाव हुआ है। उनका जन्म नाम नादेजा इष्टयान सियफ था। आगे एक सद्वंशजात स्काच व्यक्ति से पाणिग्रहण होने पर वे लेडी मूर के नाम से प्रसिद्ध हुईं। वे कई वर्ष बलगेरिया के भूत-पूर्व प्रधान मन्त्री की सहकारिणी के पद पर काम कर चुकी हैं। राजनीति के ज्ञान-गौरव में वह बहुत ही आगे बढ़ी हुई हैं ? यहाँ तक कि उनके राजनैतिक दाव-पेचों से कई पक्व-केश राजनीति-विद भी हार मान बैठते हैं। महासमर के उपरान्त शान्ति-सम्मेलन के अवसर पर परलोकगत लॉर्ड ब्राईस ने सुश्री नादेजा को "International kid" का नाम दिया था। नादेजा, जिनेवा के राष्ट्र-सङ्घ में बलगेरिया की प्रति-निधि भी थीं। इस प्रकार वह देश-कल्याण और जाति-हित के बड़े-बड़े जोखिमी कामों को सिर पर ओढ़ती और उनका योग्य रीति से निर्वाह कर दिखाती हैं। यूरोपीय प्रगतिशील देशों में उनकी प्रसिद्धि सार्वत्रिक रूप से व्याप्त है।

५—श्रीमती इमेलिया इयर हार्ट—सम्प्रति वायुयान और वायुपोत आदि के चलाने में कई विदेशी स्त्रियों के नैपुण्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की जा रही है। वह प्रशंसा अयथार्थ नहीं है।

श्रीमती एमी जॉनसन् और अन्यान्य कई महिलाएँ विमान-परिचालना में अच्छे २ वैमानिकों के दाँत खट्टे कर चुकी हैं। पर सफल महिला वैमानिक के नाते श्रीमती इमेलिया इयर हार्ट (मिसेज़ जी० पी० पुटनाम) के साथ किसी की भी तुलना नहीं की जा सकती। यह अमेरिका से एकाकी विमान उड़ाकर इङ्गलैण्ड आई थीं। पूर्व से पश्चिम की ओर वायुयान द्वारा अटलाण्टिक समुद्र को पार करना अपेक्षाकृत सहज है, किन्तु पश्चिम से पूर्व की ओर कर्नल लिण्डबर्ग के आगे आज तक कोई भी कामयाब नहीं हुआ। यदि कोई हुआ तो वह श्रीमती इमेलिया इयर हार्ट ही थीं। दोनों ने एकाकी होकर विमान उड़ाये थे। श्रीमती इमेलिया का वायुयान जब लन्दन शहर के वक्षस्थल पर उतरा था, तब वह दर्शकों के कथना-नुसार श्रान्त क्लान्त हुई अवश्य ही प्रतीत होती थीं। पर उनका मुख-मण्डल अपनी विजय के गौरव से उत्फुल्ल दिखाई देता था। वर्त्तमान संसार के प्रत्येक सभ्य देश में इस प्रकार की अनेकों क्षमताशीला, कर्तृत्ववती और विवेक-सम्पन्ना महिलाओं का पता चलता है। जिनका पृथक्-पृथक् परिचयात्मक विवरण लिखें तो एक बड़ी मोटी पुस्तक तैयार हो सकती है। अस्तु।

यथार्थ में ही मनुष्य ने स्त्रियों की भयानक परवशता के जो क़ानून गढ़े हैं, वे पाशविक बल और मनगढ़न्त नींव पर बनाये गये हैं। जब स्त्री, पुरुष की अपेक्षा, सौन्दर्य में, पवित्रता में, काम करने की क्षमता में, भलाई में हर प्रकार बढ़ी-चढ़ी है और अवसर दिये जाने पर बुद्धि-शक्ति के वही काम भली भाँति निभा सकती है, जो पुरुष के अकलङ्क बल-वैभव के पक्ष में सम्भव हैं तो उसे अनुचित बन्धनों में सदियों तक जकड़ कर अँधेरे में रखना मानवी अन्याय की पराकाष्ठा है! किन्तु इस संक्रमणशील युग में किसी का भी यह मनमानापन अधिक दिन पर्यन्त टिक नहीं सकता। शताब्दियों के इस भय का, परतन्त्रता और इसके अन्तराल में पैठे हुए उत्पीड़क कारणों के विरुद्ध इतस्ततः महिलाओं ने आवाज़ उठाना आरम्भ कर दिया है। चाहे यह उक्ति इस देश के पक्ष में चरितार्थ न होती हो, पर जागरण के नए मार्ग से उन्हें कोई विचलित नहीं कर सकता, कुछ भी प्रतिबन्ध लगा नहीं सकता! वह उठकर पैरों खड़ी हो गई हैं—उनका स्वाभाविक तेज और समय का प्रवाह उन्हें स्वयं गन्तव्य दिशा में लिये जा रहा है।





[श्री० इलाचन्द्र जोशी]

शाहजहाँपुर से प्रायः सोलह-सत्रह मील की दूरी पर एक छोटी सी रियासत है। इतनी छोटी कि उसे रियासत नहीं, बल्कि ज़मींदारी कहना ही उचित होगा। प्रायः पन्द्रह वर्ष पहले की बात है। मैं अपने एक मित्र की सिफ़ारिश से वहाँ हेडमास्टरी के पद पर नियुक्त होकर गया हुआ था। जिस स्कूल में मैं नियुक्त हुआ था वहाँ आठवें दर्जे तक की पढ़ाई होती थी। वेतन भी उसी के अनुरूप था—अर्थात् साठ रुपया प्रति मास। मेरी आर्थिक स्थिति उस समय घोर सङ्कट-मय थी। इसलिए मैंने इस नियुक्ति से अपने को परम धन्य माना और नियुक्ति-पत्र पाते मैंने बिना बिलम्ब के उसी दिन शाम को शाहजहाँपुर की गाड़ी पकड़ी। प्रायः दो बजे रात शाहजहाँपुर पहुँचा। रात भर प्लेटफॉर्म पर पड़ा रहा। सवेरे बस में सवार होकर यथासमय गन्तव्य स्थान पर पहुँचा। पहुँचते ही प्राइवेट सेक्रेटरी पण्डित रामदयाल दीक्षित से मिला। दीक्षित जी ने अपना एक आदमी बुलाकर मुझे लक्ष्य करते हुए उससे कहा—"आप को रामबाग वाली कोठी पर ले जाओ। आप वहीं रहेंगे। नौकर का प्रबन्ध भी आपके लिए कर देना।"

मालूम हुआ कि रामबाग वाली कोठी प्राइवेट सेक्रेटरी साहब की कोठी से प्रायः दो कोस की दूरी पर है। एक इक्का मँगाया गया। युक्त-प्रान्त के छोटे शहरों तथा क़सबों में जिन लोगों को इक्के पर सवार होने का सौभाग्य या यों कहिए कि दुर्भाग्य प्राप्त नहीं हुआ उन लोगों को समझाया नहीं जा सकता कि यह सवारी कौन सी आफ़त है। मरियल घोड़ा, रबर टायर रहित, कितने ही पुश्तों के कीचड़ से परिपुष्ट काष्ठचक्र, और आदि-मध्याह्न रहित, दशाहीन गद्दे से पूरित टूटा हुआ काष्ठासन इन अमूल्य उपकरणों से युक्त यह सवारी एक अपूर्व दर्शनीय वस्तु होती है। प्राइवेट सेक्रेटरी साहब के आदमी ने जो खद्दरधारी थे, किन्तु पक्के दरबारी जान पड़ते थे, मुझपर कृपा करके इसी प्रकार की एक सवारी का प्रबन्ध किया। दोनों उस पर सवार होकर रामबाग की ओर चले। घोड़े की सब हड्डियाँ बाहर निकली हुई थीं, जो एक-एक करके गिनी जा सकती थीं। पीठ की चमड़ी स्थान-स्थान पर चाबुक की मार के कारण छिली हुई थी, नितम्ब प्रदेश के दोनों ओर ताजे घाव वर्तमान थे, जिनपर मक्खियाँ बैठ रही थीं। घोड़ा बार-बार परेशान होकर पूँछ से उन्हें उड़ाता था। वे भिनककर एक बार हमारे नाक-मुँह छूकर फिर उड़कर तत्काल उन्हीं घावों पर बैठ जाती थीं; फिर उड़कर हमारे मुँहों पर आती थीं, फिर घोड़े की पीठ के घावों का रसास्वादन करने लगती थीं। कच्ची सड़क पर इक्का चल रहा था। हिचकोलों का मज़ा लेते हुये हम लोग चले जाते थे। घोड़ा चल नहीं सकता था। खद्दरधारी सज्जन इक्के वाले को डाट कर कहते थे कि "तेज़ हाँको!" इक्के वाला निर्भय होकर उन्हीं घावों के ऊपर सपाट-सपाट करके 'चाबुक' (अर्थात् काँटेदार सोंटा) चला रहा था, पर घोड़ा निर्विकार उदासीनता के साथ अपनी ही साधारण गति में चला जाता था। ऐसा मालूम होता था, जैसे उसके शरीर में वेदना की उस अनुभूति का लेश भी शेष नहीं रहा है जो जीवित प्राणी-मात्र में वर्तमान होती है; जैसे उसका कङ्कालावशेष शरीर जीवित लोक के सुख-दुःखों के अनुभव से एकदम परे होकर किसी प्रेतलोक में विचरण कर रहा हो।

रियासत का अतिथि होने पर भी मुझे कोई अच्छी सवारी न मिल कर ऐसा इक्का मिला। यह मेरे भाग्य

का ही दोष था। निरतिशय खिन्न होकर मैं भी मन में घोड़े की ही तरह निर्विकार भाव लाने की चेष्टा करने लगा। पर रियासत में प्रवेश करते ही नये जीवन का श्रीगणेश इस प्रकार होते देखकर मेरा मन भविष्य के अमङ्गल की आशङ्का में भयभीत हो उठा! मैं अन्ध-विश्वासी हूँ और शकुन-अपशकुन का बड़ा ख़याल रखता हूँ। ख़ैर।

किसी तरह रामबाग़ की कोठी पर पहुँचा। बाग़ काफ़ी बड़ा था, पर दीर्घकाल से परित्यक्तावस्था में पड़ा था, ऐसा मालूम होता था; और अब बाग़ न रह कर जङ्गल में परिणत हो गया था। इस जङ्गल के बीच में एक बहुत बड़ी कोठी प्रायः खण्डहर के रूप में पड़ी हुई थी। कमरे सभी बड़े-बड़े थे। सभी दीवारों से पलस्तर गिर गया था और यत्र-तत्र ईंटें भी खिसक गई थीं। स्थान-स्थान में छतों पर, कोनोंपर मकड़ी के जाले तने हुये थे और छिपकलियाँ इधर-उधर दौड़ रही थीं। सारा वातावरण ऐसा सूना था कि धीमी आवाज़ में बोलने पर भी प्रतिध्वनि कोठी के एक कोने से दूसरे कोने तक भयङ्कर रूप से गूँज उठती थी।

मेरे साथी ने बड़ी मधुरता से आदर-भरे शब्दों में मुझसे कहा—'आप यहीं रहिये, मैं वापस जाकर एक नौकर आपके लिए भेजता हूँ। दो-एक दिन बाद एक महराज का प्रबन्ध भी आपके लिए हो जायगा। अभी आप बाज़ार से कुछ मँगाकर खा लीजियेगा।'

मैं अपनी स्थिति देखकर ऐसा घबरा गया था कि एक शब्द भी मेरे मुँह से नहीं निकलना चाहता था। कुछ देर तक बुद्धू की तरह अपने साथी का मुँह ताकता रह गया। फिर कुछ स्थिर होकर मैंने कहा—'अच्छा, आप जाइये और नौकर को भेज दीजिए। एक चारपाई का प्रबन्ध भी कर दीजिएगा।'

'हाँ-हाँ, मैं अभी सब कुछ ठीक किये देता हूँ, आप निश्चिन्त रहिए।'—कहकर हज़रत चल दिये। मैं निश्चिन्त होकर अपनी स्थिति पर ग़ौर करने लगा। सारी कोठी अपने सूनेपन से भाँय-भाँय कर रही थी। कहीं कोई पुरानी कुर्सी, स्टूल या तख़्त नहीं था कि बैठकर ज़रा दम लेता। लाचार बाहर बराण्डे में आकर अन्यमनस्क भाव से टहलने लगा, अकस्मात् अप्रत्याशित रूप में किसी सजीव प्राणी को इस दीर्घ परित्यक्त आवास में आते देख ताड़, खजूर, अर्जुन, नीम, इमली आदि पेड़ों पर के पक्षी त्रस्त भाव से फड़फड़ाने लगे। बन्दर भी घबराकर इस पेड़ से उस पेड़ पर और उस पेड़ से इस पेड़ पर कूदने लगे।

प्रायः दो घण्टे बाद एक आदमी एक खटिया, एक मिट्टी का घड़ा, एक लोटा, एक गिलास और एक लालटेन लेकर आया। खटिया रखकर घड़ा लेकर पास ही किसी कुँए से पानी भर लाया और बोला—'नहा लीजिए और बाज़ार से खाने को कुछ मँगाना हो तो पैसे दीजिये।' मालूम हुआ कि बाज़ार भी वहाँ से दो मील की दूरी पर है और वहाँ केवल दस-पाँच दुकानें हैं। बिना किसी वाद-विवाद के मैंने कुछ पैसे निकाल कर उसे दे दिये और कपड़े उतार कर धोती-तौलिया निकाल कर घड़े के पानी से काक-स्नान करके बाँस और मूज की बनी हुई खटिया पर हताश अवस्था में चारो खाने चित लेट गया। पहले ही दिन से रियासतवालों का यह व्यवहार कि एक दिन के लिए भी मेरे भोजन का प्रबन्ध नहीं करना चाहते, यह सोचकर मैं विस्मित था। दीक्षित जी ब्राह्मण थे। मैं शौक से उनके यहाँ खा सकता था। इस जङ्गल के भीतर इस खण्डहर के अलावा कोई मकान उन्हें मेरे काम योग्य नहीं दिखाई दिया। एक खटिया के अतिरिक्त फर्नीचर के रूप में और कोई चीज़ रखने योग्य उन्होंने मुझे नहीं समझा, पर मैंने निश्चय कर लिया कि निर्विवाद रूप से सारी स्थिति को स्वीकार कर लूँगा और किसी बात पर भी आपत्ति के रूप में एक शब्द भी मुँह से कभी नहीं निकालूँगा।

बहुत देर बाद नौकर आया और पाव-भर पूड़ी और घुइयाँ, भिण्डी, कुँहड़ा आदि की पचमेल और बरफ़ से भी ठण्डी तरकारी लाकर मेरे सामने रख गया। घड़े में पानी भर कर वह चला गया। किसी तरह पेट-पूजा कर मैं बिस्तर बिछाकर लेट गया। रात से थका हुआ था, इसलिए तत्काल नींद आ गई। काफ़ी देर तक सोता रहा।

शाम को यही खद्दरधारी सज्जन जिन्हें प्राइवेट सेक्रेटरी साहब ने मेरे साथ कर दिया था और जिनका नाम महादेव प्रसाद था, नौकर को साथ लेकर मेरे पास आये और बोले—"कहिये, आपको किसी बात का कष्ट तो नहीं है? खाना तो लक्खन बाज़ार से ले ही आया होगा, चारपाई आपको मिल ही गई है। घड़े में पानी भर ही दिया होगा। यदि और भी किसी बात का कष्ट है तो कहिए, सब ठीक कर दिया जायगा।"

मन ही मन हँसते हुए मैंने कहा—"जी नहीं, मैं बड़े मज़े में हूँ। सभी बातों का ठीक प्रबन्ध हो गया है, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ।"

महादेव बाबू ने कहा—"कल आपकी सेवा में इक्का तैयार रहेगा। इक्केवाला ठीक समय पर आपको स्कूल पहुँचा देगा। लक्खन रात को यहीं रहेगा और सुबह-शाम सब काम कर दिया करेगा।"

पर लक्खन ने रात को मेरे साथ रहने पर आपत्ति प्रकट की और कहा कि सुबह-शाम काम करके वह रात को चला जाया करेगा। महादेव बाबू ने कितना कहा, पर वह किसी तरह न माना। बहुत डराया-धमकाया, पर फिर भी वह राज़ी न हुआ। कारण पूछने पर पहले तो उसने कुछ न बताया, पर बहुत दबाव डाले जाने पर उसने कहा—"बाबू जी, इस मकान में भूत रहता है।"

महादेव बाबू ने हँसकर कहा—"मूरख कहीं का! भूतों पर विश्वास करता है! मुझसे और भी बहुत से आदमियों ने कहा है कि इस कोठी में भूत रहता है, न मालूम इन अंधविश्वासियों की बुद्धि क्या हो गई है। अरे पागल! भूत-वूत कुछ नहीं है, तुझे यहाँ रहना ही होगा।"

पर लक्खन ने एक न सुनी। बोला—"हुज़ूर, चाहे और जो कुछ कहें, करने को तैयार हूँ, पर यहाँ रात को रहने को न कहें।"

अन्त में तङ्ग आकर महादेव बाबू ने मुझसे कहा—"अच्छा, कोई बात नहीं। आज आप अकेले ही रहें, कल किसी आदमी के रहने का प्रबन्ध कर दिया जायगा। इस समय मैं जाता हूँ। नमस्कार!"

उनके चले जाने पर लक्खन ने कहा—"बाज़ार से जल्दी खाना मँगा लीजिए, फिर मैं चला जाऊँगा।"

उसके बाज़ार चले जाने पर मैं स्तब्ध बैठा रहा। भूत के भय की कोई चिन्ता मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुई, पर मैं अपने को एक अनोखी अस्वाभाविक परिस्थिति में पड़ा हुआ अनुभव कर रहा था। एक सिगरेट जलाई और अपने चारों ओर की विश्रान्त विजनता पर विचार करने की चेष्टा करने लगा। अँधेरा होने लगा था। सामने ताड़ के पेड़ में एक पक्षी ने अकस्मात् ऐसे ज़ोरों से पङ्ख फड़फड़ाये कि मैं संभल कर बैठ गया। कमरे के भीतर एक चमगादड़ ने चक्कर काटना शुरू कर दिया। मैंने उसे भगाने की चेष्टा की, पर वह किसी तरह कमरे से बाहर जाना नहीं चाहता था। कुछ भयाभास सा अनुभव करने लगा, इसलिए लालटेन जला ली।

लक्खन आया और खाना रखकर चला गया। लक्खन के चले जाने पर अकारण मन में कुछ घबराहट सी पैदा होने लगी। खिन्न मन में भय बरबस अपना अधिकार जमा लेता है। तथापि मैं सहज ही में भयभीत होने वाला आदमी न था। पूड़ियाँ चबाते हुए अपने अकारण भ्रम पर ख़ूब ज़ोरों से ठठा कर हँसा। रात की एकान्तिकता में उस निर्जन कोठी में 'हो: हो:' का शब्द सारी कोठी के भीतर ऐसे विकट रूप में गूँज उठा कि मेरा हृदय धड़कने लगा। मेरी हँसी प्रतिध्वनि के रूप में मानो मेरा ही प्रतिहास कर रही थी। ऐसा जान पड़ने लगा कि वह मेरे हास्य की प्रतिध्वनि नहीं बल्कि किसी अज्ञात अदृश्य व्यक्ति का विकट अट्टहास है।

खा-पीकर हाथ-मुँह धोकर एक सिगरेट जलाई और ऊपर को मुँह करके खटिया पर लेट गया। सिगरेट पीने पर चित्त कुछ स्वस्थ हुआ और स्कूल में क्या करना होगा और मास्टरों से किस प्रकार की बातें करनी होंगी, इस सम्बन्ध में सोचने लगा। सोचते-सोचते आँखें झपने लगीं। दिन में सोने पर भी नींद ज़ोर कर रही थी। सिगरेट फेंक कर बत्ती बुझाकर मैंने आँखें बन्द कर लीं। कुछ देर तक सोया हूँगा, अचानक एक बड़े ज़ोर की आवाज़ (जो मुझे ठीक तोप

की सी मालूम हुई) सुनकर हड़बड़ाकर उठ बैठा। नींद में जो आवाज़ तोप के समान सुनाई दी, नींद उचटने पर अज्ञात स्मृति ने सुझाया कि वह टीन पर किसी भारी चीज़ के गिरने या टीन के ऊपर से नीचे गिरने का शब्द था। अनुमान लगाया कि कुत्ता या बिल्ली, किसी जानवर ने आकर किसी कमरे में पड़े हुए कनिस्टर को गिराया होगा। अपने अकारण भय पर फिर एक बार मन ही मन हँसा। ज़ोर से हँसने का साहस न हुआ। बाहर झिल्ली की अविरल झनकार और भीतर सन्नाटे के कारण भाँय-भाँय के अतिरिक्त और कोई शब्द नहीं सुनाई देता था। एक चमगादड़ ने आकर मेरे सर के ऊपर मँडराना शुरू कर दिया। मैंने अपना मुँह कम्बल से ढाँप लिया। आँखें फिर झपने लगीं और मैं सो गया। मुश्किल से बीस मिनट के लिए नींद आई होगी कि सहसा किसी ने जैसे मुझे जगाया, ऐसा मालूम पड़ा। ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मेरे मन के कानों ने किसी का श्रवणातीत आह्वान सुना हो और मैंने हड़बड़ाकर कम्बल मुँह पर से हटा लिया उस विशाल कक्ष के चारों ओर प्रगाढ़ अन्धकार दृढ़बद्ध होकर घनीभूत हो रहा था और कहीं कुछ दिखाई देने की सम्भावना नहीं थी। तथापि मुझे भास हुआ कि उस घनघोर तमिस्रपुञ्ज से भी अधिक अन्धकारमयी एक विकराल छाया धीरे-धीरे मेरी ओर आगे बढ़ रही है। मैंने देखा कि अपने रूखे-सूखे बालों को बिखराकर एक कङ्कालावशेष, क्लिष्ट-क्लान्त नारी-मूर्ति की भयावनी आकृति मेरे सामने आकर खड़ी हो गई। पहले ही कह चुका हूँ कि उस घटाटोप अन्धकार में चर्मचक्षुओं द्वारा कुछ देखना सम्भव नहीं था। पर मेरे मन की आँखें जैसे उस विभीषिकामयी छाया को स्पष्ट देख रही थीं। मैं यद्यपि ऐसी परिस्थिति में था जिसमें भ्रम हो सकता है, तथापि उस समय मैं निश्चित रूप से उस वीभत्स छाया का कराल रूप देख रहा था, जो धोखा नहीं कहा जा सकता था। उस विभीषिकामयी छाया के मुख में मैंने रोष-भरी घृणा, भयङ्कर प्रतिहिंसा, पर साथ ही निदारुण विषादपूर्ण दीनता के भाव की झलक पाई।

आश्चर्य की बात यह है कि ज्योंही मेरे मनश्चक्षुओं के आगे वह भयावना रूप प्रकट हुआ, त्योंही बाहर पेड़ों पर बन्दरों के दो-चार बच्चे एक साथ "चिहाँ-चिहाँ" करके ठीक मनुष्य के बच्चों की तरह रोने लगे और दो-तीन कुत्ते भी ठीक मनुष्य के शब्द में "हो-ओं-ं-ं-ं" करके मर्मभेदी आर्तनाद कर उठे। मेरी सारी आत्मा एक निराले भय की व्याकुलता से थरथरा उठी! कुत्तों के मुँह में मानव-रोदन का अविकल प्रतिशब्द मैंने अपने जीवन में उस दिन प्रथम बार सुना। कुत्तों के मुँह से निकलने वाले नाना प्रकार के विचित्र शब्दों से मैं परिचित था, पर ठीक मनुष्यों के से हाहाकार का दीर्घ क्रन्दन कभी नहीं सुना था।

उस छायामयी करालिका नारी-मूर्ति को अपने सामने अनुभव करते ही मैंने तत्काल अपना मुँह ढाँप लिया। पर मुँह ढाँपना बेकार था, क्योंकि मन की आँखों को किसी भी कम्बल से नहीं ढका जा सकता था। बाहर कुत्तों का रोना जारी था। चमगादड़ भी फड़फड़ाता हुआ कमरे के इस छोर से उड़ कर उस छोर तक जाता था और फिर उस छोर से उड़ कर इस छोर तक आता था। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि मैं ऐसे भयावने लोक में आ गया हूँ, जहाँ की भूमि श्मशान-भूमि है, जहाँ का आकाश मृत्यु की गहन तामसी कुज्झटिका से घनाच्छन्न है और जहाँ के नाना रूपधारी जीव प्रेतयोनि से सम्बन्धित हैं।

मैं कम्बल के भीतर जीवन और मृत्यु के बीच की शब्दातीत तथा अबोधगम्य दशा में, हड़कम्प की हालत में थरथरा रहा था। सहसा कोठी से कुछ दूर किसी स्थान से कुछ कुत्तों को स्वाभाविक स्वर में "हूःहूः" करके भूकने का शब्द सुनाई दिया और इस शब्द के सुनते ही मुझे ऐसा बोध हुआ कि वह नारी-कङ्काल की छाया-मूर्ति मेरे कमरे से बगल वाले कमरे की ओर चली गई और बगल वाले कमरे से दाहिनी ओर के कमरे में गई और वहाँ से बाहर वाले कमरे में जाकर शून्य में अदृश्य हो गई। कम्बल के भीतर हाथ-पाँव समेट कर वज्रबद्ध अवस्था में आँख मूँदे पड़े रहने पर भी उस छाया-मूर्ति की गति-विधि का हाल इतने स्पष्ट रूप से

मुझे कैसे मालूम हुआ, इस सम्बन्ध में मैं निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकता। सम्भव है कि मेरे सूक्ष्म चेतन ने इन सब बातों को ग़ौर से लक्ष्य किया हो।

कुत्तों का जो समूह स्वाभाविक स्वर में भूँक रहा था, उसके शब्द से मानव स्वर में रोने वाले कुत्तों का आर्तनाद बन्द हो गया। पर थोड़ी देर में प्रथमोक्त दल का स्वाभाविक चीत्कार थमते ही फिर द्वितीय दल का मानवी क्रन्दन शुरू हो गया और वह भयावनी छाया जिस रास्ते से अदृश्य हुई थी उसी रास्ते से फिर आविर्भूत हो गई। मुझे स्पष्ट ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरे चारों ओर के वातावरण में दो शक्तियों का सङ्घर्ष चल रहा है—एक मृत्यु का और दूसरा जीवन का। स्वाभाविक स्वर में भूकने वाले कुत्तों के शब्द में मुझे ढाढ़स मिलता था और उनके भूँकने पर वह प्रेतिक छाया अदृश्य हो जाती थी, और रोने वाले कुत्तों के शब्द के साथ वह घृणामयी छाया फिर उत्कट प्रतिहिंसा और साथ ही घोर दीनता का भाव लेकर प्रकट हो जाती। रात भर इस द्वन्दात्मक सङ्घर्ष की खींचातानी मेरे प्राणों में चलती रही। सुबह को जब दिशाएँ खुलीं और पौ फटने लगी, तो मैं पाँव फैलाकर निश्चिन्त होकर लेट गया और कुछ ही समय बाद गाढ़ निद्रा में मग्न हो गया।

लक्खन ने आकर जब मुझे जगाया तो अङ्ग-अङ्ग में ऐसी शिथिलता का अनुभव कर रहा था कि मालूम होता था, जैसे किसी ने रात भर घूँसों से मुझे मारा हो। उठने की शक्ति नहीं रह गई थी, तथापि स्कूल की चिन्ता के कारण किसी तरह शक्ति बटोर कर उठा। लक्खन से मैं एक शब्द भी न बोला।

दाढ़ी बनाने के समय शीशे में अपना मुँह देखा, एकदम सूखा हुआ था। बहुत दिनों तक लगातार ज्वर आने पर जो हाल चेहरे का हो जाता है, मेरे मुँह की वही दशा एक रात में हो गई थी।

खा-पीकर इक्के पर सवार होकर स्कूल की ओर चला। इक्का वही था, जिसपर पहले दिन सवार हो चुका था। दिन के उज्ज्वल इस प्रकाश में रात का वह भयङ्कर अनुभव एक दुःस्वप्न की तरह लगता था। तथापि उत्कट घृणा तथा जघन्य प्रतिहिंसा की जिस मूर्तिमती छाया का रोमाञ्चकर रूप मैंने देखा था, वह अभी तक मेरे अन्तर्पट से विलीन नहीं हुई थी।

स्कूल पहुँचा। जो सज्जन अस्थायी रूप से हेडमास्टरी के पद को सम्हाले हुये थे, उनका नाम प्राणनाथ चतुर्वेदी था। उनकी आयु पचास वर्ष से कम न होगी। मालूम हुआ कि बहुत दिनों से सेकेण्ड मास्टर के पद पर नियुक्त थे। भूतपूर्व हेडमास्टर के चले जाने पर उन्हें अस्थायी रूप से उनके स्थान पर नियुक्त कर दिया गया था। अब मेरे आने पर वह फिर सेकेण्ड मास्टर होकर रहेंगे। चतुर्वेदी जी ने मुझे चार्ज सौंप कर मेरे जानने योग्य सब बातें मुझे बताईं।

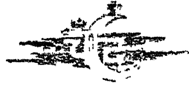
नये हेडमास्टर के आगमन से स्कूल के छात्रों तथा मास्टरों में चञ्चलता तथा कौतूहल का जाग पड़ना स्वाभाविक था। छात्रगण मुझे देखकर आपस में कानाफूसी करने लगे थे। अवश्य ही मेरे व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आलोचना-प्रत्यालोचना कर रहे होंगे। पर मैं अपनी नयी स्थिति के प्रति एकदम उदासीन सा हो गया था। ऐसा मालूम होता था कि मैं किसी प्रेतलोक का निवासी आज मानव-लोक में आया हूँ, जहाँ का प्रत्येक निवासी मेरे लिए विजातीय है।

तीन बजे के करीब स्कूल में छुट्टी होने पर चतुर्वेदी जी मुझसे फिर मिले और अत्यन्त विनय के साथ उन्होंने मुझसे प्रश्न किया कि मैं कहाँ ठहरा हूँ। यह सुनते ही कि रामबाग़ वाली कोठी में मेरे रहने का प्रबन्ध किया गया है, चतुर्वेदी जी इस क़दर चौंक पड़े कि यदि मैं कल रातवाली घटना से परिचित न होता तो मैं अवश्य ही चकित रह जाता। उन्होंने कहा—"तब क्या आप वहाँ एक रात रह चुके हैं?"

"जी हाँ।"

"तो क्या वहाँ किसी प्रकार का कोई विशेष अनुभव आपको नहीं हुआ?"

मैंने असली बात छिपाते हुए कहा—"कोठी एक तो ऐसे एकान्त स्थान पर है, जहाँ आस-पास में कहीं एक



भी मानव-प्राणी के अस्तित्व का आभास मिलना कठिन हो जाता है, जिस पर मालूम होता है कि वर्षों से परित्यक्त अवस्था में पड़ा है। इन कारणों से वहाँ भय मालूम होना स्वाभाविक है।"

चतुर्वेदी जी ने अत्यन्त चिन्तित भाव से कहा—"देखिए साहब, मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप उस कोठी में अब एक दिन के लिए भी न रहें। केवल निर्जनता वहाँ के भय का कारण नहीं है, वहाँ भय उत्कट सत्य के रूप में वर्तमान है। वास्तव में वह स्थान प्रेतात्माओं से घिरा है। बारह वर्ष पहले तक वहाँ किसी प्रकार का भय नहीं था और लोग शौक़ से वहाँ रहा करते थे। पर बारह वर्ष पूर्व जब से एक घटना वहाँ हो गई, तब से वहाँ प्रेतात्माओं का अड्डा बन गया। तब से जो-जो व्यक्ति कुछ समय के लिए वहाँ रहे हैं उनमें से केवल एक व्यक्ति को छोड़ कर कोई भी जीवित न रहा। जो व्यक्ति वहाँ तीन-चार दिन रहने पर भी जीवित रहा उसने अपना जो कुछ अनुभव मुझे सुनाया वह वास्तव में रोमहर्षक था।"

स्कूल खाली हो गया था। केवल हम दो व्यक्ति वहाँ रह गये थे। आफ़िस के कमरे में हम दोनों बैठे हुए थे। चतुर्वेदी जी की बातों से मेरा कौतूहल बहुत बढ़ गया था। वह अपने मित्र का अनुभव मुझे सुनाने लगे। मेरे भय और आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब मुझे मालूम हुआ कि उनके और मेरे अनुभव में नाम को भी अन्तर नहीं है। अभी तक मैं अपने अनुभव को अपने मस्तिष्क का विकार और भ्रम समझने की चेष्टा करके अपने मन को समझा रहा था। पर अब मेरे लिए सन्देह की कोई गुंजाइश न रही और मैं विगत रात्रि की छायामूर्ति की वास्तविकता की अनुभूति से काँप उठा। कुछ देर तक स्तब्ध रह कर मैंने कहा—"आप जिस विशेष घटना की बात कहते थे उसका पूरा हाल क्या आप जानते हैं?"

चतुर्वेदी जी अपनी कुर्सी मेरी ओर सरका कर ज़रा हट कर बैठ गए और बोले—"मैं प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों से उस घटना के इतिहास से परिचित हूँ। प्रायः पन्द्रह वर्ष पहले ठाकुर बलवीरसिंह नामक एक सज्जन वहाँ मेनेजर के पद पर नियुक्त होकर आए थे। उनके साथ उनकी माँ, पत्नी और एक विधवा बहन थी। उनकी पत्नी लक्ष्मी के साथ उनकी माँ की नहीं बनती थी। दोनों में रात-दिन द्वन्द्व मचा रहता था। मुझे विश्वसनीय सूत्र से मालूम हुआ है कि लक्ष्मी जब पहले पहल ससुराल आई थी तो वह बड़ी सुशील थी। सास के साथ बड़ी नम्रता और आदर के साथ बातें करती थी। पर सास का व्यवहार बहू के प्रति प्रारम्भ से ही विद्वेषात्मक हो उठा था। आर्य-संस्कृति से पूर्ण इस पुण्य भारत-भूमि की मातृजाति में पति और पुत्र के प्रति जो महान् त्याग का भाव पाया जाता है वह स्वयंसिद्ध है, पर अभागिनी पुत्र-वधुओं के प्रति हमारी माताओं के अकारण आक्रोश का रहस्य समझना कठिन है। पुत्रों के विवाह के लिए वे कितनी उत्कण्ठित और उत्सुक रहती हैं, यह सभी जानते हैं। पर विवाह होने पर पुत्र-वधू के आगमन के साथ ही वह पारिवारिक जीवन को कैसा विषमय बना देती हैं, यह बात भी किसी से छिपी नहीं है। इस नियम में यत्र-तत्र अपवाद पाये जा सकते हैं, पर निश्चित है कि ठाकुर बलवीरसिंह की माता अपवाद-स्वरूप नहीं, बल्कि इस नियम के ज्वलन्त दृष्टान्त-स्वरूप थीं।

"लक्ष्मी की सास खाना स्वयं बनाती थीं। उन दिनों ठाकुर साहब डिस्ट्रिक्ट कोर्ट में वकालत करते थे। जहाँ वह वकालत करते थे वहाँ प्रतियोगिता बड़ी ज़बर्दस्त थी, और उनकी प्रैक्टिस कुछ विशेष चलती न थी। ख़ैर। लक्ष्मी जब खाना खाने बैठती तो सास पहले दो पतले-पतले फुलके उसकी थाली में परोस कर रखती थीं। दो फुलकों के समाप्त होने पर तीसरे के लिए पूछतीं—और एक फुलका दूँ? लक्ष्मी उनके इस निराले ढङ्ग से आश्चर्यचकित होकर किसी तरह सङ्कोच त्याग कर सिर हिलाकर अपनी इच्छा प्रकट करती। चौथे फुलके के लिए भी वह किसी तरह सङ्कोच का भाव दबा जाती थी, पर पाँचवें के लिए उसे किसी प्रकार 'हाँ' कहने का साहस नहीं होता था और उसे यह भाव जताना पड़ता कि उसका पेट भर गया, यद्यपि पेट में चूहे कूदते रहते। चावल के सम्बन्ध में भी यही क़िस्सा दुहराया जाता था।

"प्रारम्भ में लक्ष्मी ने समझा कि सास अपने स्वभाव के भोलेपन के कारण ऐसा करती हैं, पर 'निज हित अनहित पशु पहिचाना।' प्रत्येक बात में सास के नीचता-पूर्ण विद्वेष का व्यवहार देखकर धीरे-धीरे वह समझ गई कि उसकी वास्तविक स्थिति क्या है, यद्यपि उसके प्रति सास के इस अनोखे आचरण का कारण उसकी समझ में न आया। धीरे-धीरे लक्ष्मी के नम्र, सुशील तथा सङ्कोचशील स्वभाव में आश्चर्य-जनक परिवर्तन दिखाई देने लगा। उसके पति का व्यवहार उसके प्रति कुछ बुरा नहीं था, पर अपनी माता के विरुद्ध वह एक शब्द भी नहीं सुनना चाहते थे। लक्ष्मी के अज्ञात संस्कार ने उसे आत्म-रक्षा के लिए स्वयं तैयारियाँ करने के लिए प्रेरित किया। उसने प्रकट रूप से पग-पग पर सास के अन्याय का विरोध करना शुरू कर दिया। वह ज़बर्दस्ती माँग माँग कर खाया करती, जब तक कि उसका पेट पूरा भर न जाता। उसकी सास पड़ोस में ढिंढोरा पीटने लगी कि उनकी बहू क्या है राक्षसी है; अकेले इतना अन्न स्वाहा कर जाती है जितने में दस आदमियों का पेट भर जाय और उनका बेटा अधपेट खाकर ही कचहरी जाता है। लक्ष्मी के मन में इस प्रकार की बातों से प्रतिक्रिया बढ़ती ही गई और वह कटु शब्दों में सास की प्रत्येक बात का विरोध करती चली गई। धीरे-धीरे सास-बहू का पारस्परिक वैमनस्य इस हद तक बढ़ गया कि बीच-बीच में हाथा-पाई की भी नौबत आ जाती और कभी-कभी तो दोनो एक दूसरे के झोंटे पकड़-पकड़ कर जूझने लगतीं।

"उन दिनों उसकी ननद विधवा नहीं हुई थी, और अपनी ससुराल में ही रहती थी। घर में केवल तीन प्राणी थे लक्ष्मी, उसके पति और उसकी सास। ठाकुर साहब के कचहरी चले जाने पर नित्य सास-बहू के बीच द्वन्द मचा रहता और पास-पड़ोस के लोग बाहर से तमाशा देखते रहते। ठाकुर साहब के घर वापस आने पर उनकी माँ बहू की शिकायत इस ढङ्ग से करती थीं कि ठाकुर साहब के मन में आतङ्क छा जाता और वह अपनी पत्नी को पीटने पर उतारू हो जाते। अपनी माँ के स्वभाव से वह भली-भाँति परिचित थे, तथापि स्वभावतः उनके मन में माता के प्रति अत्यन्त स्नेह और आदर का भाव वर्तमान था। वह चाहते थे कि माँ का अत्याचार उनकी पत्नी पर चाहे किसी हद तक क्यों न हो, उसे नम्रतापूर्वक सब चुपचाप सहन करते जाना चाहिए।

"लक्ष्मी के मायके वाले बहुत ग़रीब थे। फिर भी वे लोग बीच-बीच में उसे ले जाने के लिए जब किसी को भेजते थे, तो लक्ष्मी जाने से साफ़ इनकार कर देती और मायके से आए हुए व्यक्ति को एक दिन के लिए उस घर में ठहरने न देती। उसके मन में इस बात की भारी आशङ्का थी कि वह एक बार के लिए भी मायके गई नहीं कि उसकी सास उसके विरुद्ध झूठ-मूठ का कलङ्क गढ़कर उसे त्याग देने के लिए उसके पति को बाध्य कर देगी।

"इस प्रकार छः वर्ष बीत गये। सास के साथ दिन-रात लड़ाई-झगड़ा, गाली-गलौज, थुक्कमथुक्का करते-करते वह इस सम्बन्ध में अभ्यस्त होगई और वह उसका दैनिक कार्यक्रम सा हो गया। इसमें कोई अस्वाभाविकता परिवार के तीन प्राणियों में से किसी को भी नहीं मालूम होती थी। इस बीच उसकी ननद कौशल्या विधवा हो गई और छः महीने बाद मायके चली आई। कौशल्या के आने पर माँ-बेटी का ज़ोर बढ़ गया। लक्ष्मी ने देखा कि उसकी ननद उसकी सास से कूटबुद्धि में कुछ कम नहीं है और शारीरिक बल और मानसिक उग्रता में परिवार के सब व्यक्तियों से बढ़कर है। फिर भी वह हार-मान न हुई! कभी-कभी वाद-विवाद बढ़ जाने पर जब हाथापाई की नौबत आ जाती तो सास और ननद मिल-कर दोनों ओर से उसे घेर लेती थीं। ननद इस तरफ़ से उसके झोंटे पकड़ कर खींचती और सास उस तरफ़ से। लक्ष्मी छटपटाती, कराहती, गालियाँ देती, शाप उगलती, पर पार नहीं पाती थी। कभी-कभी ऐसा होता कि कौशल्या अकेली लक्ष्मी के दोनों हाथों को पकड़े रहती और सास पीछे से एक चप्पल लेकर पटापट उसके सिर पर पटकती हुई दाँत पीस कर कहती—'ले! ले! ले! ले!' वह चिल्लाती, चीख मारती, दुष्ट बच्चों की तरह वाही-तबाही बकती, पर सब व्यर्थ। अन्त में

सास-ननद की ही जीत होती थी। फिर भी लक्ष्मी हार मानने को तैयार न थी। उसके सिर पर भूत की तरह एक ज़िद सी सवार हो गई थी। वह सोचती कि जब भाग्य ने उसे ऐसे अस्वाभाविक परिवार में ऐसी क्रूर और निर्लज्ज स्वभाव सास, और ननद के बीच में लाकर खड़ा कर दिया है तो वह भी तब तक अस्वाभाविक ही बनी रहेगी जब तक पूरा, मनचाहा बदला न लेगी। कभी दही की मटकी उठाकर दोनों में से एक के सिर पर मार देती थी, कभी दूध की कढ़ाई सास के सर पर उँडेल देती थी। दूध और दही के प्रति उसकी इस निर्ममता का एक कारण यह भी था कि इन दोनों गव्य पदार्थों में से एक भी उसके पति को नहीं मिलता था—शायद कभी क़सम खाने को थोड़ा बहुत मिल जाता हो, पर वह नहीं के बराबर था। और उसके अपने सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। दूध, दही तो दरकिनार, रोटी-चावल उसे कभी एक दिन के लिए भी भरपेट प्राप्त न होता था।

"ठाकुर साहब ज्यादातर बाहर ही रहते और सुबह के निकले आधी रात को वापस आकर चुपचाप अपने कमरे में जाकर लेट जाते। बियारी भी अक्सर बाहर ही करते थे। घर से विमुख होने पर भी वह बड़े मिलनसार, हँसमुख और सांसारिक तथा सामाजिक विषयों में बड़े निपुण थे। किसी तरह तिकड़म भिड़ा कर वह इस इस्टेट के मैनेजर बनकर सपरिवार यहाँ चले आये। भूतपूर्व मैनेजर की मृत्यु हो गई थी। पहले ही कह चुका हूँ कि यहाँ आकर वह उसी कोठी में ठहरे, जहाँ आप ठहरे हैं।

"यहाँ आने पर लक्ष्मी ने एक लड़के को जन्म दिया। इसी अवसर पर हम लोग निमन्त्रण के उपलक्ष में प्रथम बार मैनेजर साहब से जाकर मिले। मेरी पत्नी ने भी इस अवसर पर लक्ष्मी और उसकी सास और ननद का व्यक्तिगत परिचय प्राप्त किया। तभी से लक्ष्मी के साथ मेरी पत्नी की घनिष्ठता हो गई। ख़ैर! लड़का पैदा होते ही लक्ष्मी को ऐसा जान पड़ा जैसे उसका नारी-जन्म सार्थक हो गया। परिस्थितियों की अस्वाभाविकता के कारण उसके स्वभाव में जो विकृति आ गई थी उसके कारण वह स्वयं ऐसा अनुभव करने लगी थी कि वह अपना नारीत्व खो चुकी है। पर अब मातृत्व की अपूर्व-अनुभूति के साथ ही उसका नारीत्व फिर नये सिरे से जाग पड़ा। उसे अपने इतने वर्षों के वैवाहिक जीवन के कटु अनुभव एक दुःस्वप्न की तरह असत्य से प्रतीत होने लगे और उसे अपने बचपन के वे दिन याद आए, जब वह भविष्य के मङ्गलमय वैवाहिक-जीवन की अत्यन्त अस्पष्ट और साथ ही अत्यन्त मधुर कल्पना का रङ्गीन जाल मन ही मन बुनते हुए अपनी सहेलियों के साथ गुड़ियों के खेल खेलती थी।

"ठाकुर साहब को भी एक पुत्र पाकर कम प्रसन्नता नहीं हुई, और सबसे अधिक प्रसन्नता उन्हें इस बात पर हुई कि लक्ष्मी के स्वभाव में वही मधुरता फिर से आने लगी थी, जो उन्होंने वैवाहिक-जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में उसमें पाई थी। अब ठाकुर साहब भी पुत्रस्नेह से प्रेरित होकर लक्ष्मी के प्रति यथेष्ट स्नेह का भाव दिखाने लगे थे, जो उनकी माता और बहन के लिए एकदम असहनीय था। अब स्पष्ट और प्रकट रूप से बहू का अनिष्ट करने का कोई उपाय नहीं दिखाई देता था, इसलिए भीतर ही भीतर दोनों का आक्रोश और भी अधिक बढ़ता जाता था। प्रकट रूप से कुछ न कर सकने पर भी अपने कूटचक्रों से दोनों बाज़ न आती थीं, पर लक्ष्मी अब आश्चर्य-जनक रूप से इन कुचक्रों के प्रति सुविनम्र अवज्ञा का भाव प्रदर्शित करने लगी थी।

"विकृत-स्वभाव स्त्री-पुरुषों में प्रतिहिंसा का भाव किस सीमा तक घोर क्रूर तथा उग्र रूप धारण कर सकता है, इस बात की कल्पना प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता। बहू के प्रति विद्वेष भाव के कारण पुत्र और पोते की अनिष्ट-कामना किसी स्त्री के मन में कभी उत्पन्न हो सकती है, इस बात पर विश्वास करना बहुत कठिन है। तथापि किसी कवि की यह बात माननी ही पड़ती है कि सत्य कभी-कभी कोरी कल्पना की अपेक्षा भी अधिक अविश्वसनीय जान पड़ने लगता है। लक्ष्मी की सास ने देखा कि उसकी शान्ति और सन्तोष का मूल कारण है उसका पुत्र। इसलिए उनके हृदय का सारा आक्रोश इस निरपराध निष्पाप नवजात शिशु के विरुद्ध फुफकार मचाने लगा। बच्चे के लिए शीर्ण देह और क्लिष्टप्राण माता का दूध पर्याप्त नहीं होता था, इसलिए उसे समय-समय पर

गाय का दूध भी पिलाना पड़ता था। लक्ष्मी की सास इस दूध में कभी क्विनाइन मिला देती, कभी गोलमिर्च पीस कर दूध उबालते समय उसमें डाल देती और चलनी से छान कर लक्ष्मी को उसे पिलाने के लिए दे देती। बच्चा दूध पीता और चिल्लाने लगता। कभी बच्चे के लिए दूध एकदम न रहता—सास और ननद मिल कर सब स्वाँग रचा करतीं। लक्ष्मी सास के करतबों से कितना ही परिचित हो, फिर भी इस हद तक सन्देह करने के लिए वह तैयार न थी कि वह अपने पोते का भी अनिष्ट चाहेगी। फिर भी वह यथासम्भव दूध स्वयं गरम करके बच्चे को पिलाती थी।

"एक दिन लक्ष्मी किसी काम में व्यस्त थी। बच्चा आनन्द से हिण्डोले में लेटा हुआ अपने दोनों पाँवों को हिलाता हुआ ऊपर की ओर मुँह करके न मालूम सृष्टि की किस अज्ञात रहस्यमयी लीला के रस से पुलकित होकर मधुर-मधुर मुस्करा रहा था और हर्ष की किलकारियाँ भर रहा था। इतने में लक्ष्मी की सास ने एक कटोरे में थोड़ा-सा दूध और एक छोटा सा चम्मच लेकर उस कमरे में प्रवेश किया। बच्चा उन्हें देखकर, बल्कि यह कहिए कि उनके हाथ में दूध का कटोरा देखकर, पाँवों को और भी तेजी से हिलाकर और मुँह में उङ्गली डाल कर हर्षध्वनि करने लगा। सास ने एक बार इधर-उधर झाँक कर उसे चम्मच से दूध पिलाना शुरू कर दिया। थोड़ी देर में लक्ष्मी वहाँ आई तो वह यह दृश्य देख कर चकित रह गई, क्योंकि आज यह एकदम नयी बात थी। उसकी सास ने इसके पहले बच्चे को कभी अपने हाथ से दूध नहीं पिलाया था। उसने देखा कि दूध का रङ्ग कुछ काला सा है। लक्ष्मी को देखते ही सास ने सिटपिटाकर बचा हुआ दूध तत्काल गिरा दिया और वहाँ से चल दी। लक्ष्मी आशङ्का से घबरा उठी। कुछ ही समय बाद बच्चा वेदना से छटपटाने लगा और चिल्लाने लगा। उसका मुँह अस्वाभाविक रूप से तमतमा उठा था और आँखें चढ़ आई थीं। धीरे-धीरे उसकी आँखें झपने लगीं और मुँद सी आईं। लक्ष्मी ने उसके सर पर हाथ लगाया, मालूम होता था कि जलता हुआ तवा है। थोड़ी देर तक वह उसी हालत में निष्पन्द लेटा रहा, फिर छटपटाता हुआ करवट बदलने की चेष्टा करने लगा, पर आँखें मुँदी ही रहीं। ठाकुर साहब उस समय घर पर नहीं थे। लक्ष्मी ने नौकर को भेजा कि ठाकुर साहब को और डॉक्टर को बुला लावे। नौकर नया था, उसे पता नहीं था कि कहाँ ठाकुर साहब मिलेंगे और कहाँ डॉक्टर। ठाकुर साहब दो घण्टे से पहले न आ सके, और डाक्टर जब आया तो बच्चा सदा के लिए आँखें मूँद चुका था।

"लक्ष्मी धरती पर पछाड़ खाकर धाड़ें मार-मारकर रोने लगी और सिमेण्ट पर जोरों से बार-बार सर पटकती कहने लगी—हाय! मार डाला! हत्यारी ने मेरा बच्चा मार डाला। अब मैं क्या करूँ! अब क्या होगा! हाय! बुढ़िया तूने मेरे लाडले को ज़हर पिला दिया।

"बुढ़िया उसी दम तमककर बोल उठी—'यह कुल-बोरन मुझसे कहती है कि ज़हर पिला दिया! मुँह में कीड़े पड़ेंगे, कीड़े! हाँ, ऊपर से भगवान् देखते हैं। तेरा लड़का था तो क्या वह मेरा पोता नहीं था! कितना दुलार करती थी, कैसे प्यार से उसके लिए दूध गरम किया करती थी! और यह नमकहराम मुझसे कहती है कि ज़हर पिला दिया! हाय भगवान! तुम्हीं न्याय करना। हे धरती! तुम्हीं विचार करना!'—कहकर वह धरती पर सिर रखकर रोने लगी।

"कौशल्या ने कहा—'भला देखो! अपने पोते के लिए कभी कोई ऐसा कर सकता है! ऐसी बात मुँह से निकालते हुए इस सत्यानासी की जीभ जल नहीं जाती!'

"पर लक्ष्मी किसी की बात का कोई जवाब न देकर बिलख-बिलख कर कहती जाती थी—'हाय बुढ़िया! तेरा कभी भला न हो! तेरा सत्यानाश हो! इस अनर्थ का फल तुझे इसी जन्म में मिले।' इत्यादि-इत्यादि।

"अन्त में बुढ़िया रह न सकी। 'अच्छा तू ऐसा कहती है?' कहकर उसने पुत्र-शोक से विह्वल उस आर्त नारी के सिर के बाल पकड़कर उसे बेरहमी से पीटना शुरू कर दिया। ठाकुर साहब पास ही खड़े थे। यह अन्धेर वह देख न सके। आज जीवन में प्रथम बार उन्होंने अपनी माता का विरोध करते हुए उसका हाथ थाम कर कहा—'बस हो गया! अन्याय और अत्याचार की हद हो गई!'

"बुढ़िया कुछ देर तक स्तम्भित-सी होकर पुत्र का मुँह ताकती रह गई। फिर कहने लगी—'बहू का क्या क़सूर, जब बेटा ही नालायक़ हो गया! कलजुग है, कलजुग!' इसके बाद ठाकुर साहब फिर कुछ न बोले। अपने आचरण पर उन्हें लज्जा-सी होने लगी थी।

"तब से लक्ष्मी अधपगली-सी हो गई। घर का काम-धंधा उसने एकदम छोड़ दिया। हर वक़्त बड़बड़ाती और भीखती रहती, मौक़े-बेमौक़े सास-ननद से झपट पड़ती और मार खाती रहती। उसके सिर के बाल चौबीसों घण्टे बिखरे पड़े रहते। न उन्हें वह धोती, न कभी तेल लगाती और न कङ्घी-चोटी करती। बदन के कपड़े भी उसके मैले रहते। उन्हें वह कभी न धोती थी, न बदलती थी। उसने नहाना-धोना भी छोड़ दिया था। बच्चे के जन्म से ही उसका शरीर अस्वस्थ होने लगा था। अब उसे खाँसी और ज्वर ने भी आ घेरा। फिर भी भूख उसकी बिलकुल कम न हुई, पर भरपेट भोजन उसे कभी नहीं मिलता था और तरस कर रह जाती थी। वह लड़ती, झगड़ती, चिल्लाती कि उसे भूख लगी है, उसे इच्छा भर खाने को मिले। पर दो-एक रूखी-सूखी रोटियों के सिवा उसे कुछ भी नहीं दिया जाता था। ठाकुर साहब अब माँ, बहिन और पत्नी तीनों के प्रति उदासीन हो गए थे—उनकी तरफ़ से कोई मरे चाहे कोई बचे। मेरी पत्नी अक्सर ठाकुर साहब के यहाँ आया-जाया करती थी। वह चोरी-छिपे, अंगूर, मुनक्के, साबूदाने के पापड़ आदि ले जाकर लक्ष्मी को दे दिया करती थी। लक्ष्मी उन चीज़ों पर ऐसा झपट्टा मारती जैसे कोई भूखा भेड़िया अपने शिकार पर झपटता है, और उसी दम खाना शुरू कर देती। खा-पीकर कुछ तृप्त होकर मेरी पत्नी के साथ लक्ष्मी जब बातें करती तो उस समय उसके मुख में जो सहज मधुर भाव और सरल स्नेह की सहृदयता झलकती उसे देखते हुए यह अनुमान लगाना असम्भव हो जाता था कि वह अपनी सास और ननद के साथ उग्रता से लड़ती-झगड़ती होगी। मेरा तो यह विश्वास है कि उसका स्वभाव मूलतः कुछ बुरा नहीं था, पर परिस्थितियों ने उसके हृदय में कटुता का विष घोल दिया था।

"उसका रोग बढ़ता चला गया और उसका शरीर शीर्ण से शीर्णतर होता गया। अन्त में यह नौबत आई कि वह बिस्तर पर से उठने के योग्य न रही। उसकी सास और ननद इस हालत में भी उसकी परिचर्या करना उचित नहीं समझती थीं और सिर्फ़ दो-एक बार उसके पास जाती थीं, और जब जातीं तो कुछ जली-कटी सुना आतीं। वह उस अधमरी हालत में भी चीख मार कर कहती—'मैं मर रही हूँ, मुझे दूध दो या कुछ खाने को दो!' पर वहाँ कौन सुनता था! ठाकुर साहब जब स्वयं दूध गरम कर पाते तो थोड़ा-सा उसे मिल जाता, वर्ना तरस कर रह जाना पड़ता। फिर भी ठाकुर साहब अकेले दम यथासम्भव उसकी परिचर्या करते थे।

"सभी जानते हैं कि क्षय रोग के रोगी अन्त तक बदहवास नहीं होते। जिस दिन उसकी मृत्यु हुई उस दिन सुबह से ही वह अपने को और दिनों की अपेक्षा चङ्गी मालूम कर रही थी, यहाँ तक कि उसे विश्वास होने लगा था कि अब वह अच्छी होने लग जायगी। मेरी पत्नी का ऐसा अनुमान है कि घोर कष्टकर और निरानन्दमय जीवन बिताने पर भी उसे मरने की इच्छा कभी एक दिन के लिए भी नहीं हुई। कारण सम्भवतः यही था कि उसकी बीमारी की हालत में अपने पुत्र की हत्याकारिणी के विरुद्ध प्रतिहिंसा की आग भयङ्कर रूप से जाग पड़ी थी। ख़ैर। मैं पहले ही कह चुका हूँ की मृत्यु के दिन सुबह से ही वह स्वस्थता का अनुभव करने लगी थी। उसने अपने पति से कहा भी कि मैं अब अच्छी हो जाऊँगी। यहाँ तक कि वह थोड़ी देर के लिए उठकर बैठी भी। उस दिन मैं अपनी पत्नी को साथ लेकर वहाँ गया हुआ था। अकस्मात् ऐसा मालूम हुआ कि वह सारे शरीर में एक असाधारण और अभूतपूर्व दुर्बलता का अनुभव करने लगी है। उसके हाथ-पाँव जैसे टूटे जाते थे। वह परास्त होकर बिस्तर पर चित लेट गई। थोड़ी देर में उसका ऊर्द्ध श्वास चलने लगा। उसकी बोलने की शक्ति स्पष्ट ही एकदम तिरोहित हो गई। विवश व्याकुल आँखों से वह हम लोगों की ओर देखती हुई केवल 'उँह! उँह!' का अत्यन्त क्षीण शब्द मुँह से निकाल रही थी। कमरे में मृत्यु का सन्नाटा छाया

हुआ था और सब लोग स्तब्ध खड़े थे। एक आदमी डॉक्टर को बुलाने के लिए भेज दिया गया था। उसकी सास भी वहीं पर आ गई थीं। इतने दिनों के बाद अन्त में सदा के लिए बहू से छुटकारा पाने की निश्चित आशा से उसके मुख में हर्ष का उल्लास समाता नहीं था, जो दर्शकों को अत्यन्त भयावह और विरक्त लगता था। लक्ष्मी निरतिशय विवशता की चरम म्लान दृष्टि से सास की ओर देख रही थी। सहसा मृत्यु की उस भीषण जड़ निस्तब्धता को अत्यन्त वीभत्स रूप से भङ्ग करती हुई बुढ़िया मरणासन्न बहू को लक्ष्य करके अत्यन्त विकृत स्वर में बोल उठी—अब क्या देखती है? अब तू मेरा कुछ नहीं कर सकती! देती क्यों नहीं अब गाली? अभागिनी, अपने कुकर्मों का फल भोगने के लिए अब तू नरक को जा रही है। यमदूत अभी आते ही होंगे।

"सब लोग आतङ्कित और भयभीत होकर उस पिशाचिनी बुढ़िया की ओर देखने लगे। पर बुढ़िया बहू की ओर टकटकी लगाए खड़ी थी। मैंने स्पष्ट देखा कि बुढ़िया की निर्मम कटूक्ति सुनकर लक्ष्मी ने ऐसी विकृत और उत्कट घृणा और विकट हिंसा की दृष्टि से बुढ़िया को ताका कि वह शायद जीवन में प्रथम बार आतङ्क की अनुभूति से दहल उठी। इसके दूसरे क्षण बाद लक्ष्मी की श्वास-क्रिया सदा के लिए बन्द हो गई।

"इस घटना के कुछ ही दिन बाद बुढ़िया पागल हो गई। उसकी बातों से लोगों को यह विश्वास हो गया कि बहू की प्रेतात्मा ने उसे निर्ममता के साथ धर दबाया है। उसके पागलपन ने वीभत्स रूप धारण कर लिया। स्वयं छः मास तक घोर कष्टकर रोग की असह्य यन्त्रणा झेलने के बाद अन्त में अत्यन्त घृणित तथा गलित अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद लक्ष्मी की ननद कौशल्या का सारा शरीर किसी विकृत रोग से सड़ने गलने लगा और एक वर्ष के बाद वह भी अत्यन्त दुर्दशा को प्राप्त होकर चल बसी। ठाकुर साहब इस्तीफ़ा देकर यहाँ से कहीं चले गये और अज्ञातवास करने लगे।

"तब से जो कोई भी व्यक्ति इस कोठी में कुछ समय के लिए रहा वह जीवित नहीं रहा—सिर्फ़ एक व्यक्ति को छोड़कर, जिनका उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ।"

सूर्य पश्चिम की ओर ढल गया था। मैं स्तब्ध होकर चतुर्वेदी जी द्वारा वर्णित रोमाञ्चकर वृत्तान्त सुन रहा था। जब वह किस्सा खतम कर चुके तो मेरा यह हाल था कि गला बिलकुल सूख जाने के कारण मुँह से एक शब्द निकालने की शक्ति नहीं रह गई थी।

चतुर्वेदी जी ने कहा—"इसीलिए मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि अब आप एक क्षण के लिए भी उस कोठी में न रहें और अगर अभी किसी दूसरे मकान में आपके रहने का प्रबन्ध नहीं हो पाता तो मेरे ही साथ आकर रहें, बल्कि अभी सीधे मेरे साथ चलें। आपका सामान पीछे मँगा लिया जायगा।"

मुझे भी अब उस कोठी में वापस जाने का साहस बिलकुल नहीं होता था। इसलिए बिना किसी तर्क के चतुर्वेदी जी के साथ हो लिया।

देहात की स्त्रियों में अन्ध-विश्वास

[श्री० अरिन्दमसिंह]

हमारा समाज आज अन्धविश्वासों के लिए बहुत ही बदनाम हो रहा है। पश्चिम की सभ्य कहलाने वाली जातियाँ इन्हीं अन्ध-विश्वासों के प्रति हमारी श्रद्धाभक्ति देख कर हमारा मखौल उड़ाती हैं। मिस मेयो ने 'मदर इण्डिया' के सब से पहले ही अध्याय में देव-मूर्तियों के समक्ष निरीह पशुओं की बलि देने की प्रथा पर आक्षेप किया है। इसी तरह के अन्य अन्ध-विश्वासों का सविस्तर वर्णन उसने अपनी पुस्तक में किया है। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या इसकी परम्परा कभी बन्द न होगी? क्या हमेशा हम भारतीय उनके उपहास, उपेक्षा के पात्र ही बने रहेंगे? आखिर इसके प्रति हमारी ऐसी श्रद्धा-भक्ति क्यों?

यदि हम यह कहें कि अन्धविश्वास केवल नारियों तक ही सीमित हैं, तो यह कहना अनुचित होगा। क्या स्त्री और क्या पुरुष, इसकी पहुँच मानव-जाति की दोनों श्रेणियों तक है। दोनों में यह यथार्थ रूप से समाविष्ट है। परन्तु इतना तो अवश्य कहेंगे कि इसका जैसा स्वरूप स्त्रियों के संसर्ग में देखने में आता है, वैसा मर्दों में नहीं। एक ही समाज के दो अङ्गों में ऐसी विभिन्नता क्यों? इसका यदि कोई कारण हो सकता है तो वह यह कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में कुछ प्रतिशत शिक्षा का प्रचार अधिक है। यों तो शिक्षा की दृष्टि से दोनों में उसका अभाव है। हाँ, तो ज्योति के सम्मुख अंधकार टिक नहीं सकता। शिक्षा के सम्मुख अन्धविश्वास की हस्ती रह नहीं सकती। अतः यही कारण है कि मर्दों में अन्धविश्वास की मात्रा उतनी नहीं है जितनी स्त्रियों में। फिर भी शहर की स्त्रियों में ग्रामीण स्त्रियों की अपेक्षा शिक्षा का प्रचार अधिक है। देहातों में तो इसकी हालत नगण्य सी है। अतः देहात की स्त्रियों में अन्धविश्वास की मात्रा शहर की स्त्रियों की अपेक्षा स्वभावतः अधिक है।

अब भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्धविश्वासों की ओर दृष्टि फेरता हूँ। यों तो इसके अनेक स्वरूप हैं, पर मुख्यतः स्त्रियों में, दो प्रकार के देखने को मिलते हैं। एक तो देवी-देवता, भूत-प्रेतों से डर के रूप में और दूसरा हैजा, प्लेग आदि जैसी प्राणघातक बीमारियों से भय के रूप में। दोनों का आधार अनिष्ट से डरना ही है। देहातों में इसका बड़ा ही वीभत्स रूप देखने को मिलता है। देहात की स्त्रियाँ, कुछ अंशों में शहरों की भी, देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों से इतना डरती हैं कि उन्हें प्रसन्न करने के लिए वे सभी उचितानुचित काम कर डालती हैं। उदाहरणतः उनके मन के अनुसार यदि कोई काम न हुआ अथवा किसी काम में असफल हुईं तो बस, झट वे यही समझ लेती हैं कि मुझसे देवी माई अप्रसन्न हैं अथवा कोई घर का ही भूत विघ्न डाले हुए है। उनकी अप्रसन्नता ही असफलता का मुख्य कारण, उनकी समझ में रहती है, अतएव उन्हें प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह की पूजा करती है। पशु-बलि प्रथा का आरम्भ यहीं से होता है। घर में किसी व्यक्ति का बीमार पड़ना भी देवी-देवताओं की अप्रसन्नता समझा जाता है। प्रायः देहातों में यह देखने में आता है कि यदि किसी के यहाँ कोई बीमार पड़ता है तो उस घर की बूढ़ियाँ सबसे पहले ओझे गुनियों से राय लेने के लिए पुरुषों को बाध्य करती हैं। पीछे किसी वैद्य, हकीम के लिए सहमत होती हैं। इन ओझे, गुनियों का आजकल भी देहातों में दौरदौरा है। प्रायः ओझों को दवा-दारू की

थोड़ी जानकारी रहती है। छोटी-छोटी बीमारियों की दवा उसके लिये जानना आवश्यक होता है। यदि नहीं जाने, तो पेशा ही चौपट हो जाय। जब इन लोगों के पास बीमारी की खबर लेकर कोई आता है तो ये लोग भी भूत-प्रेतों का ही फ़साद बताते हैं। किसी देवी-देवता विशेष की अप्रसन्नता आदि। अब उसकी दवा सुनिये। उन्हें प्रसन्न करने के लिए सबसे पहले पूजा करना, इसके बाद तुलसी के पत्तों के रस में कोई चूर्ण-विशेष घोलकर देना, तथा सङ्कट-मोचन क दो-तीन बूँदें। यही भूत-प्रेतों को प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त हैं। हालाँकि, दवा से तो बीमारी दूर की जाती है, पर बेचारे भोले-भाले उलटा ही समझ लेते हैं। यह ओझों की करतूत कही जायगी। ये लोग दवा की महत्ता से उन लोगों को अज्ञान बनाने के लिए, दवा के प्रति उनके स्वाभाविक विश्वास को उखाड़ कर भूत-प्रेतों तथा देवी-देवताओं के प्रति लगाने के लिए और उसे दृढ़ करने के लिए कुछ और उपायों व ढोंगों का सहारा लेते हैं। दवा देते समय इन लोगों का प्रधान तथा न भूलने वाला यह आदेश होता है कि देखियेगा, उसे पिलाते समय भैरव बाबा के नाम पर कुनैन में दो बूँद अवश्य गिरा दीजियेगा, नहीं तो कोई फ़ायदा न होगा। बेचारी भोली-भाली जनता पर इसका असर जादू सा पड़ता है। उनकी श्रद्धाभक्ति भूत-प्रेतों के प्रति और भी दृढ़ हो जाती है तथा दूसरी ओर, दवा के प्रति उलटा अन्ध-विश्वास जमने लगता है। दूसरे शब्दों में, अज्ञानवश ये मुख्य को गौण तथा गौण को मुख्य समझने लगते हैं। पर सहृदय पाठक विचार कर सकते हैं कि इनके अन्धविश्वास का मूल कारण कौन हुआ ?

भूत-प्रेतों के प्रति स्त्रियों का विश्वास इतना दृढ़ होता है कि इसके लिए वे अपनी सर्वप्रिय वस्तु की बलि देने में भी नहीं हिचकिचातीं। समाचार-पत्र के पढ़ने वाले व्यक्तियों से यह बात छिपी न होगी कि कितनी ही मूढ़ स्त्रियों ने किसी कार्य-विशेष की सिद्धि के लिए, ओझों के बतलाने पर, प्रेतों के पिण्डों के सम्मुख अपनी प्रिय सन्तान की बलि दी। इस प्रकार की हृदय विदीर्ण कर देने वाली खबर आये-दिन हमेशा हम लोगों को मिलती रहती है। इसे देख अन्तस्तल में एक प्रश्न उठता है—आखिर इसका क्या कारण है ? अन्धविश्वास की पराकाष्ठा के अतिरिक्त हमारे पास कोई उत्तर नहीं रह जाता। मूर्ख स्त्रियाँ अज्ञानवश होकर योंही विनाश के पथ पर अग्रसर होती जा रही हैं ?

जब अपनी प्रिय सन्तान की बलि देने में ये आगा-पीछा नहीं करतीं तो रुपये-पैसे किस गिनती में हैं। किसी सार्वजनिक कार्य्य के लिए आप इनके आगे लाख भी सर पटकें, यह एक कौड़ी देने पर तैयार न होंगी। लेकिन उसी समय कोई साधु वेशधारी ठग भगवती माई की पूजा के नाम पर जितना चाहे इनसे ठग ले सकता है। कितनी अज्ञान स्त्रियों ने तो अपने सारे गहने ऐसे ही लोगों के बहकावे में आकर इन्हें समर्पण किये। परन्तु यह सब होता है भगवती माई के नाम पर। हमने अपनी आँखों से ऐसे-ऐसे अनेक विचित्र करिश्मे देखे हैं और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि अन्धविश्वास की मात्रा देहात की स्त्रियों में प्रचुर है। एक बार मैं अपने एक मित्र के यहाँ गया हुआ था। उनका घर गाँव में ही है। जाड़े के दिन में हम लोग बाहर चबूतरे पर धूप खा रहे थे कि देखा, एक साधू पड़ोस के चौहट्टे पर आया और चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगा—'भाइयो ! ज़रा मेरी बात सुन लो। मैं कोई भिखमङ्गे की नाईं भिक्षा नहीं माँगता हूँ। केवल एक सन्देश आप लोगों को सुनाने आया हूँ। कम से कम उसे सुन तो लीजिए। मैं सच कहता हूँ, भीख मैं नहीं माँगता।' हम लोगों ने देखा सचमुच उसके पास भीख रखने की कोई झोली न थी। उत्सुकता बढ़ी कि देखें कौन सा सन्देश सुनाता है। उसके इतना कहने पर अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियाँ बाहर निकल आयीं। पर्दे में रहने वाली स्त्रियाँ भी किवाड़ की ओट से झाँक कर देखने लगीं। कुछ मर्द भी जमा हो गये। तब वह कहने लगा—'मेरे जिले में जगदीशपुर नाम का एक गाँव है। वहाँ एक ब्राह्मण रहता है। उसे एक युवती लड़की है। वह सदा नेम-व्रत से रहती है। गाँव के बाहर भगवती माई का एक मन्दिर है। वह नित्य-दिन वहीं पूजा करने जाती थी। एक दिन जब वह मन्दिर से पूजा करके लौटने लगी तो



द्वार को बन्द पाया। उसने खोलने की बड़ी चेष्टा की, पर द्वार न खुला। अन्त में वह डर कर रोने लगी। जब पहले के अनुसार निश्चित समय पर घर न लौटी तो घर वालों को कुछ आशङ्का हुई और मन्दिर में देखने गये। पहुँचने पर देखा कि किवाड़ सचमुच बन्द था। अनेकों धक्का दिये, पर न खुला। भीतर से सिटकिनी हटाने के लिए लड़की को कहा। वह बोली कि मैं तो सिटकिनी नहीं लगाये हूँ, पर न मालूम तब भी क्यों बन्द है। लोगों को समझते देर न लगी कि वह माई जी का ही प्रसाद है। उन लोगों ने बड़ी-बड़ी मिन्नतें मानी तब कहीं किवाड़ खुला। बाहर निकलने पर लड़की ने कहा कि आप लोगों के आने के पहले मुझे कहीं से यह आवाज सुनायी पड़ी कि थोड़े ही दिनों में गिल्टी वाली बीमारी यहाँ आवेगी, जिसमें बहुत से लोग मरेंगे। इसका कारण यह है कि धरती पर पाप बहुत ज़ोरों में बढ़ रहा है। गौ-माता का हर जगह निरादर किया जा रहा है। फिर भी बचने का एक उपाय है। वह यह कि इसी फाल्गुन पूर्णिमा को लोग मेरी पूजा करें। यह तो हुआ यहाँ के लिए। और दूसरे स्थानों के लिए पाँच सौ पण्डे बुलाओ और उन लोगों को चारों तरफ़ घूम-घूम कर लोगों को यह सन्देश सुनाने के लिये भेजो, जिसमें वे लोग भी अपने-अपने यहाँ मेरी पूजा करें और यहाँ की पूजा के लिये जिसे जितना बन पड़े, पैसे दें। अधिक अच्छा होगा कि घर में जितने व्यक्ति हों उतने ही पैसे दें। पर लाचारी की अवस्था में नहीं। भाइयो! मैं भी उन्हीं पण्डों में से एक यहाँ आप लोगों को सन्देश सुनाने आया हूँ। अब आप लोग जो उचित समझें, करें।' इतना कह कर वह चुप हो गया और एक ओर की राह लेने का बहाना करने लगा। बस फिर क्या था, स्त्रियाँ जो अब तक बड़ी तन्मयता के साथ उसकी बातों को सुन रही थीं; चिल्ला कर बोल उठीं—'ठहरिये पण्डा जी, ठहरिये, पैसा लिए जाइये। भगवती माई की पूजा के लिए कौन ऐसी होगी जो पैसा न देगी। अपने पुत्र; पति का मोह किसे नहीं है। भगवती माई की दया चाहिए, पैसे बहुत हो जायँगे।' वह तो ऐसा चाहता ही था, लौट पड़ा। स्त्रियों ने अपने-अपने घर के व्यक्तियों को गिन कर प्रत्येक के नाम पर एक-एक पैसा दिया। किसी ने आठ पैसे, किसी ने नौ पैसे, किसी ने दस। चार पैसे से कम तो किसी ने दिये ही नहीं। मेरे मित्र और मैं यह सब तमाशा देख रहे थे। लगभग आठ आने पैसे बात की बात में उसे मिल गये। तब मेरी समझ में आया कि अनाज की झोली वह क्यों नहीं रखता है। पैसे के लिए थैली ही काफ़ी है। मेरे मित्र नये मिज़ाज के आदमी थे। उन्होंने इसको पैसा ठगने का ढोंग बतलाया, पर वहाँ उनकी सुनता ही कौन था। उल्टे उनकी बातों को स्त्रियों ने उपहास समझा और हँसी में उड़ा दिया। यह तो हालत है स्त्रियों की। इसे अन्धविश्वास की पराकाष्ठा न कहेंगे तो और क्या कहेंगे। भला देवी भी कहीं अपनी पूजा के लिए स्वयं कहती है? परन्तु इसे समझने के लिए बुद्धि-विवेक चाहिये।

देहातों में दुसाध, चमार, पासी आदि निम्न कही जाने वाली जातियों में अन्धविश्वास की मात्रा और भी अधिक पायी जाती है। ये सब हिन्दू-समाज की पिछड़ी हुई जातियाँ हैं। शिक्षा से ये लोग बहुत दूर हैं। बाह्य-संसार से ये बिल्कुल अपरिचित रहते हैं। जब उच्च कहलाने वाली जातियों में शिक्षा का अभाव है तो इन बेचारों का पूछना ही क्या है? इन जातियों के स्त्री-पुरुष, दोनों में अन्धविश्वास का दौर-दौरा है। ऐसे ऐसे भूत-प्रेत का नाम लेते हैं और उनके कारनामों का ऐसा वर्णन करते हैं, जिसे सुनकर डर भी लगता है और हँसी भी आती है। इन लोगों को भूत-प्रेतों में इतना दृढ़ विश्वास है कि ये उसी को सर्वस्व मान बैठे हैं। विवाह आदि शुभ अवसरों पर खूब छक कर बकरे, सुअर, कबूतर आदि निरीह जीवों की बलि होती है।

इसके अतिरिक्त इन जातियों में मृत्यु की संख्या अधिक है। इसका खास कारण है कि जब कोई भी आदमी बीमार पड़ता है तो घर वाले सीधे चार कोस पर बसने वाले ओझों के यहाँ दौड़ जाते हैं; पर गाँव ही में रहने वाले वैद्य के पास नहीं जाते। इसके भी दो कारण हैं, जिससे ये वैद्यों के पास नहीं जाते। एक तो यह कि वैद्य में उनका विश्वास ओझे के समान नहीं है,

कायाकल्प और उसके सिद्धान्त

[श्री० गणेशदत्त "इन्द्र"]

"कायाकल्प" आयुर्वेद की एक अति प्राचीन क्रिया है। इस ओर सर्व-साधारण का ध्यान आज तक नहीं गया था। जिन लोगों ने इसे शास्त्रों में पढ़ा, उन्होंने इसे आयुर्वेद की एक अति कठिन और भयपूर्ण क्रिया समझ कर उस ओर क़दम नहीं बढ़ाया। महामना पं० मदनमोहन जी मालवीय के कायाकल्प ने संसार का ध्यान इस ओर सहसा आकृष्ट किया। हमारे आयुर्वेद में कायाकल्प दो प्रकार का है, एक शस्त्रोपचार द्वारा और दूसरा औषधोपचार द्वारा। दोनों प्रकार के कायाकल्पों का उदाहरण हमारे इतिहास-ग्रन्थों में पाया जाता है। महाराजा ययाति का कायाकल्प शस्त्रोपचार द्वारा हुआ था। जिसमें उनके पुत्र की तरुण जीवन-ग्रन्थियाँ लेकर वृद्ध ययाति के लगाई गई और ययाति की जीर्ण ग्रन्थियाँ उसके पुत्र को लगाई थीं। फलतः ययाति तरुण हो गया था और उसका पुत्र वृद्ध। आज-कल पाश्चात्य चिकित्सक एक विशेष जाति के बन्दर की ग्लेण्डज़ (Glands) लगाकर बूढ़े को जवानी देते हैं। कुछ वर्षों पूर्व इन्दौर के सेठ हुकुमचन्द जी का इसी पाश्चात्य विधि से कायाकल्प हो चुका है। वृद्ध च्यवन का कायाकल्प औषधोपचार द्वारा किया गया था। जिससे वे पुनः जवान हो गए थे।

सृष्टि के आरम्भ से इस क्षण तक मानव-जाति मृत्यु पर विजय पाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। परन्तु अभी तक वह इसमें पूर्ण सफलता नहीं पा सकी है। हाँ, मृत्यु को कुछ समय तक धकेल देने में उसे थोड़ी-बहुत सफलता जरूर मिली है। वैदिक साहित्य में भी मृत्यु को धकेल देने का ही आदेश है। प्रकृति की सर्व-श्रेष्ठ रचना, यह मानव प्राणी अमृतपान का सदा प्यासा है, परन्तु दिवस के पश्चात् रात्रि, कार्य के पश्चात् विश्राम और क्रिया के पश्चात् जिस प्रकार प्रतिक्रिया का अटल नियम है, उसी तरह जीवन के पश्चात् मृत्यु भी अनिवार्य है। "जातस्य च ध्रुवो मृत्युः" अटल है। वह आज हो या १०० वर्ष के बाद। जो बना है वह एक दिन बिगड़ेगा जरूर।

जीवन और मृत्यु स्वाभाविक घटना मात्र है। किसी यन्त्र निर्माणकारी फेक्टरी के गोदाम में जाकर देखिए, हजारों घोड़ों की शक्ति वाले एञ्जिन जीर्ण-शीर्ण होकर इधर-उधर पड़े दिखाई देते हैं। उनके कल-पुर्जे घिस गए और वे बेकाम हो गए। यही हालत हमारे शरीर की भी है, जब यह शारीरिक यन्त्र काम करते-करते घिस जाता है, अथवा कोई दूसरे दोष इसमें उत्पन्न हो जाते हैं तब यह जीर्ण-शीर्ण होकर बन्द हो जाता है। इसी का नाम मृत्यु है। हृदय में जब रक्त भेजने की शक्ति नहीं रह जाती, फेफड़े रक्त को शुद्ध करने से इन्कार कर देते हैं, पाकस्थली में रस बनाने की क्रिया का अभाव हुआ अथवा मस्तिष्क ने अपना काम बन्द कर दिया, तब यह शारीरिक यन्त्र चलने से बन्द हो जाता है। इसके बाद प्रत्येक रासायनिक मौलिक तत्व अलग-अलग होकर अपने असली रूप में आ जाता है। जल का भाग वाष्प बन कर वायु में विलीन हो जाता है और खनिज भाग पृथ्वी में मिल जाता है। इस परिवर्तन को हम मृत्यु कहते हैं।

यह मानव यन्त्र छोटे-छोटे परमाणुओं का एक बृहद् समूह है। इन परमाणुओं द्वारा विविध मौलिक द्रव्य बनते रहते हैं। ऐन्द्रिक वस्तुओं में जो परमाणु पाए जाते हैं उनकी संख्या अनुमानतः पन्द्रह है। इनमें मुख्य आक्सीजन हाइड्रोजन, कार्बन, नाइट्रोजन, गंधक, फास्फोरस और लोह हैं। साथ ही पोटेशियम, सोडियम,

मेग्नेशियम, केलशियम क्लोरिन, ब्रोमिन, आयोडिन, ताँबा इत्यादि भी सेन्द्रिय पदार्थों में पाया जाता है। ये ही समस्त मौलिक द्रव्य हमारे शरीर को निर्माण करते हैं, सञ्चालन करते, वृद्धि देते, और जीवन देते हैं। इनके दूषित होने से ही यन्त्र में दोष उत्पन्न होते हैं। शरीर रोगी होता है, बुढ़ापा आता है और मृत्यु होती है। सारांश यह कि प्रकृति की यह सर्वश्रेष्ठ रचना मानव यन्त्र केवल १०-१२ जड़ पदार्थों के संयोग से बना है। Sir oliver wendell Holmes ने लिखा है—"कुछ गैलन पानी, कुछ वर्गफुट हवा, कुछ सेर चूना और कार्बन, तीन-चार औंस फास्फोरस, कुछ तोला लोह, एक-दो चुटकी गन्धक—एक मानव-शरीर निर्माण के लिए पर्याप्त है।

वैज्ञानिकों ने शरीर की एकाई को सेल (cell) माना है। ये सेलें भिन्न प्रकार की होती हैं। शरीर के अवयवों के अनुसार इनका रूप भी अलग-अलग है और कार्य भी अलग-अलग है। परन्तु ये एक ही प्रकार के मौलिक से बनी हुई हैं। इन सेलों में एक और मौलिक है, जिसे प्रोटोप्लाज्म कहते हैं। यही प्रोटोप्लाज्म इस शरीर का जीवन है। शायद, इसी को हमारे ऋषि-मुनियों ने "जीवन" कहा है। यह अजर-अमर है।

यह मानव-शरीर सेलों का समूह है। उन सेलों की गणना नहीं की जा सकती, क्योंकि ये सेलें हमारे शरीर में उस तरह आपस में सटकर शरीर बनाती हैं, जिस तरह कि दीवार बनाने में ईटें, पत्थर, कङ्कड़, चूना, मिट्टी लगाई जाती हैं। ये सेलें इतनी छोटी होती हैं कि बिना 'माइक्रोस्कोप' यन्त्र की सहायता के आँखों से देखी नहीं जा सकतीं। ये गति-सम्पन्न हैं; ये हमारे शरीर में क्रियाएँ करती हैं। कार्य करते समय इन सेलों के परमाणु टूटते-फूटते रहते हैं। किन्तु उनमें वह शक्ति भी है कि वे फिर उन्हें बना लेती हैं। ये सेलें निरन्तर बिना थके अपना काम करती रहती हैं। जब हमारे आहार-विहार से, हमारी भूलों से, इनका नाश या इनकी निर्बलता आरम्भ होती है, तब हमारे शरीर का क्षय आरम्भ होता है जिसे हम अपनी भाषा में रोग या वृद्धावस्था कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सेलों को यथेष्ट स्थिति में बनाये रखने से शरीर नीरोग, अजर और दीर्घजीवी रहेगा और इनके साथ अत्याचार करने से ही शरीर का नाश होगा।

वृद्धावस्था एक प्रकार का रोग है, और रोग भी कैसा, जो अनिवार्य है। शारीरिक पूर्ण वृद्धि के पश्चात् ही इसका आरम्भ होता है। इस रोग से शारीरिक शक्तियों में न्यूनता आने लगती है। शरीरस्थ तन्तुओं में निर्बलता उत्पन्न हो जाती है। वृद्धावस्था के आरम्भ में ये भीतरी परिवर्तन मालूम नहीं पड़ते। किन्तु जब वृद्धावस्था पूरी तरह से अपना अधिकार जमा लेती है तब ये स्पष्ट दीखने लगते हैं। खनिज लवणों की अधिकता हो जाने से हड्डियाँ निर्बल हो जाती हैं। धमनियों में चूने का क्षार इकट्ठा होना आरम्भ हो जाता है, जिससे उनमें कठोरता आ जाती है और लचीलापन नष्ट हो जाता है। कार्टिलेज में कड़ापन आ जाता है। आँखों की यान्त्रिक रचना में दोष उत्पन्न होने लगते हैं। शरीर की निःस्रोत ग्रन्थियों का उद्रेचन कम हो जाता है। नाड़ी-रज्जुओं में कड़ापन आ जाता है। मस्तिष्क के ज्ञानतन्तु निर्बल हो जाते हैं। इन सब दोषों की उत्पत्ति का मूल कारण यह है कि जो सेलें तरुणावस्था में बहुत ही लाभदायक कार्य किया करती थीं, वे अनुचित आहार-विहार और श्रम से दूषित हो जाती हैं। हमारे शरीर में कई विषों की उत्पत्ति होती रहती है। ये विष सेलों में इकट्ठे होते रहते हैं, जिनसे उनमें दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ये विषाक्त सेलें अपना कार्य भूल जाती हैं और पागल होकर शारीरिक तंतुओं का नाश करने लगती हैं। ये पागल सेलें ही शरीर में वृद्धावस्था उत्पन्न करके उसे एक दिन नष्ट कर डालती हैं। ये खनिज लवणों को हड्डियों में से निकाल कर रक्त में मिला देती हैं, जो धमनियों और शिराओं की झिल्लियों में जाकर उन्हें जड़ बना देता है। उनकी कोमलता नष्ट हो जाने से वे अपना स्वाभाविक कार्य बन्द कर देती हैं। इसी प्रकार मांस और मस्तिष्क के सेल भी पागल होकर उनका नाश करने लगते हैं। शरीर के दूसरे सेल भी जो पहले जिन अंगों के रक्षक थे वे उन्हीं अंगों के भक्षक बन जाते हैं। वृद्धि रुक जाती है और नाश आरम्भ हो जाता है—यही

वृद्धावस्था का कारण है। "prevention is better than cure" के सिद्धान्तानुसार सबसे उत्तम तो यही है कि रोग उत्पन्न होने पर उसकी चिकित्सा करने से तो यही ठीक है कि रोग ही उत्पन्न न होने दिया जाय। अर्थात् बुढ़ापा आने के पूर्व ही ऐसी सावधानियों से काम लिया जाय कि असमय में वृद्धावस्था न आने पावे। इसके लिए दो बातों की ज़रूरत मुख्य है—(१) आंतरिक शक्ति जो माता-पिता के उत्पादक बीज से प्राप्त होती है और (२) जिन परिस्थितियों में वह रहता है उनमें अपने शारीरिक रक्षण की वाह्य शक्ति। इन दोनों बातों पर शरीर का स्थायित्व विशेष निर्भर करता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक रयूबनर (Rubner) का कहना है कि—"शारीरिक वृद्धि एक प्रकार के रासायनिक पदार्थों पर अवलंबित है। जब इन वस्तुओं का अभाव हो जाता है तब शरीर नाश होने लगता है।" Bitchsli का मत है कि "सेलों में जीवन बनाए रखने वाली एक रासायनिक वस्तु विशेष है। जिसके प्रभाव से सेलों की उत्पत्ति होती है और उन्हें बल मिलता है। ज्यों-ज्यों उनमें उत्पत्ति अधिक होती है, त्यों-त्यों वे निर्बल होने लगती हैं—यही वृद्धावस्था का कारण है।" वीजमेन का कहना है कि "सेलों की उत्पादन शक्ति कम पड़ जाने पर बुढ़ापा आता है। हमारे काम-काजों से रात-दिन सेलें टूटती-फूटती रहती हैं, किन्तु फिर नवीन बनती रहती हैं। जब नई सेलें बनने का काम रुक जाता है तब वृद्धावस्था आ जाती है।" प्रोफ़ेसर मिनिट और डाक्टर बुइलर का भी यही मत है। मेचनिकाफ का सिद्धान्त कुछ भिन्न है। उसका कहना है कि "वृद्धावस्था का कारण हमारी अँतड़ियाँ हैं। इन अँतड़ियों में असंख्य जीवाणु रहते हैं। ये जीवाणु कुछ विष बनाया करते हैं। बहुत सा विष मल-मूत्र द्वारा बाहर निकल जाता है, परन्तु हमारी वृहद् अंत्रियों में मल बहुत समय तक एकत्र रहता है, क्योंकि उनकी बनावट ही ऐसी है। मल के अधिक समय तक रहने का फल यह होता है कि अँतड़ियाँ मल के विष को शोषण करती रहती हैं। यह विष शरीर में एकत्र होता रहता है और इसके कारण सौत्रिक तंतु और रक्त के श्वेताणु विषाक्त होकर पागल बन जाते हैं और जो वस्तु पाते हैं उसीको नष्ट करने लगते हैं।" मेचनिकाफ़ के सिद्धान्तानुसार अँतड़ियों में उत्पन्न विष ही वृद्धावस्था एवं मृत्यु का कारण है। यदि किसी प्रकार इन विषों से अँतड़ियों की रक्षा की जाय तो शरीर दीर्घ जीवन प्राप्त कर सकता है। मेचनिकाफ़ का मत है कि "शरीर से इस वृहद् अँत्र को निकाल दिया जाय तो वृद्धावस्था शीघ्र ही संभव नहीं है।" यह ऑपरेशन द्वारा ही निकाली जा सकती है, परन्तु सब लोग इसके लिए तैयार हो जावें यह भी असंभव है। वह अँतड़ियों के विषाक्त जीवाणुओं को नाश करते रहने की सम्मति देता है। उसका कहना है कि Bacilleus lacti नामक जीवाणु अँतड़ियों के विषाक्त जीवाणुओं का नाश कर सकते हैं। ये जीवाणु दही और छाछ में पाए जाते हैं। खट्टे दही और छाछ के सेवन से अँतड़ियों का संचित विष धुलता रहता है। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि लेक्टिक जीवाणु अँतड़ियों के हानिकर जीवाणुओं को नाश कर देता है। हमारे यहाँ आयुर्वेद में छाछ (मठे) को पृथ्वी का अमृत माना है और इसकी प्रशंसा में "शक्रंतक्रस्य दुर्लभं" कहा है।

शारीरिक समस्त रोगों की उत्पत्ति हमारी पाचन-प्रणाली के दूषित होने पर ही होती है, अतएव अजर और दीर्घजीवी होने के लिए सबसे पहले हमें अपनी अँतड़ियों को शुद्ध रखना अपेक्षित है। सरल, शुद्ध और प्राकृतिक नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। जिस प्रकार किसी मकान को चिरस्थायी रखने के लिए उसकी देखभाल, हिफ़ाज़त, मरम्मत, टूटाफूटा सुधारना वग़ैरह कार्य अपेक्षित हैं उसी तरह शरीर को चिरस्थायी बनाने के लिए उसकी भी मरम्मत आवश्यक है। मकान की जो सामग्री सड़-घुन जाती है, टूट-फूट जाती है, उसे बदल देने या टेका लगाकर मरम्मत कर देने से मकान कुछ वर्षों के लिये गिरने से और बच जाता है। यही बात हमें हमारे शरीर के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। जो सेलें टूट फूट जाती हैं वे फिर बनती रहें, वे अपना काम ठीक-ठीक करें। शारीरिक अवयवों में कड़ापन न आने पाये। अस्थियों में चूने के लवणों का अभाव न होने पाये। पशुकाओं के कार्टिलेज कड़े न होने पावें, धमनी

और शिराओं में कठोरता उत्पन्न न होने पाये। निःस्रोत ग्रन्थियों का उद्रेचन न घटने पाये। मस्तिष्क की शक्ति कम न होने पाये, इत्यादि बातों का ध्यान रख कर कार्य करने से वृद्धावस्था दूर रखी जा सकती है।

इनके लिये हमारे पूर्वाचार्यों ने बहुत ही सिरपच्ची की है। इतना श्रम किया है कि अभी पाश्चात्य विद्वान उनके निर्मित सिद्धान्तों का रहस्य तक समझने में असमर्थ हैं। सब से प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि शरीर को अपनी स्वाभाविक अवस्था में रखा जाय। उसके बाह्य और आन्तरिक यन्त्रों का लचीलापन दूर न होने पावे और शरीर में किसी प्रकार का विष न उत्पन्न होने दिया जाय। इसके लिए उन्होंने कुछ शारीरिक-क्रियाएँ निर्माण कीं, जो मनुष्य के इस शरीर यन्त्र को साफ़ रखें। उन क्रियाओं को हम यौगिक-क्रियाएँ कहते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि से वृद्धावस्था शीघ्र ही नहीं आ सकती। आसन और प्राणायाम ही केवल हमें दीर्घजीवी बनाने के लिए पर्याप्त है। आसनों से शरीर का लचीलापन नष्ट नहीं होने पाता और शारीरिक विजातीय द्रव्य अर्थात विष शरीर में ठहरने नहीं पाते। सुतरां शरीर स्वस्थ, सबल, अजर और चिरस्थायी रहता है। आसन, प्राणायाम, नेती, धोती, नौली आदि योग की क्रियाएँ करने वाले आज भी सैकड़ों वर्ष की वय वाले उपस्थित हैं।

जो लोग योग की क्रियाओं द्वारा दीर्घ जीवन प्राप्त करने में अपने को असमर्थ समझें उनके लिए हमारे वैद्यक ग्रन्थों में ऐसे पच्चीसों योग हैं, जिनके द्वारा काया-कल्प किया जा सकता है। स्थानाभाव के कारण यहाँ सब कल्पों का उल्लेख नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ एक का ही उल्लेख करता हूँ। यह "पलाश-कल्प है।" यह छोटी सी वस्तु है, परन्तु गुणों में कितनी विशाल है?

पलाश के बीजों का पाताल यंत्र से निकाला हुआ तेल आठ माशे घी या शहद के साथ सेवन करने से—

"मासमात्रेण योगीन्द्रो नक्षत्राराय पिपश्यति।
अनेक कालजीवी स्यात् प्रियमाण सुरासुरैः।"

एक मास के सेवन से योगी बन जाता है, दिन में तारे देख सकता है और दीर्घजीवी हो जाता है। पलाश के बीजों के चूर्ण में आँवले के स्वरस की और गोदुग्ध की सात दिन भावना देकर फिर उसे सद्यः प्रसूता गौ के दूध में भिगो कर चिकने बर्त्तन के अन्दर मुहँ ढाँक कर २१ दिन तक रख दो। अच्छा मुहूर्त्त देख कर २१ दिन दूध के साथ सेवन करो। सिवा दूध के खट्टा खारा और कुछ भी न खाओ। इससे मनुष्य आकाशगामी होता है। जरा-मरण रहित हो जाता है।

पलाश वृक्ष के पंचाङ्ग को छाया में सुखा लो। इसका महीन चूर्ण घृत और मधु के साथ एक तोला नित्य सेवन करने से बुढ़ापा नहीं आता और दिव्य देह धारी होकर मनुष्य एक हज़ार वर्ष तक जीवित रहता है।

"मध्वाज्याभ्यां लिहेत्कर्षं वद्धयेत्सजरां जयेत्।
जीवेद्वर्ष सहस्रकं दिव्यकायोभवेन्नरः।"

और सुनिए—पलाश के बीजों पर से छिलके हटा कर आँवले और बकरी के दूध की सात दिन तक भावना दो। और फिर सुखा कर यंत्र से तेल निकाल लो। इस तेल को विधिपूर्वक एक पल नित्य-सेवन करने से बड़े-बड़े लाभ होते हैं। एक महीने तक इस तेल का सेवन करने और केवल गोदुग्ध पीकर रहने से मनुष्य ६ हाथियों के समान बलवान, और कनेर पुष्प के समान कान्तिवान हो जाता है। यदि उक्त तेल का विधिपूर्वक छः मास सेवन किया जाय तो एक हज़ार वर्ष की आयु पाता है।

"षण्मासस्य प्रयोगेण जीवेद्वर्ष सहस्रकम्।"

इसी तेल को यदि मधु के साथ सेवन किया जाय तो मनुष्य इतिहास और पुराण कण्ठस्थ कर सकता है। पृथ्वी में गड़े धन को देख सकता है। आकाश में चल सकता है और एक हज़ार मेधावी पुत्र उत्पन्न कर सकता है। उसके मलमूत्र के योग से लोहा स्वर्ण हो सकता है। जो इस तेल को तीन, दो अथवा एक वर्ष सेवन करता है, उसका शरीर स्वर्ण समान आभा वाला और अक्षय हो जाता है।

उक्त पलाश के तेल को गुड़ में मिला कर घी के चिकने पात्र में २१ दिन रक्खो। बाद में नित्य सेवन करो। केवल दूध और मूँग खाकर रहो। सात दिन सेवन करने से किन्नरों के समान गायन शक्ति और १० दिन के सेवन से १००० वर्ष की आयु प्राप्त होती है।

पलाश के बीजों का चूर्ण छाछ के साथ सेवन किया जाय। पच जाने पर खट्टे नमकीन पदार्थों से रहित पथ्य भोजन किया जाय। प्यास लगने पर दूध या ठण्डा पानी पिया जाय। इस तरह ६ महीने तक सेवन करने से मनुष्य के शरीर की झुर्रियाँ दूर हो जाती हैं। सफेद बाल काले होते हैं और आयु १००० वर्ष की हो जाती है।

पलाश पुष्पों को धूप में सुखाकर चूर्ण कर लिया जाय। २१ दिन तक सेवन करे। केवल साठी के चावलों पर रहे। प्यास लगने पर खैर की छाल का क्वाथ पिये। इस प्रयोग से हाथी के समान बल की प्राप्ति होती है। वायु के समान वेग आता है। अग्नि के समान कान्ति और १००० वर्ष की आयु प्राप्त होती है।

पलाश के वृक्ष की छाल का चूर्ण गोदुग्ध के साथ छः महीने तक सेवन करने, और इन दिनों स्वल्पाहारी एवं जितेन्द्रिय रहने से मनुष्य १००० वर्ष की आयु पाता है।

श्रावण या भाद्रपद मास में पलाश के बीजों का पाँच सेर चूर्ण १० सेर गोदुग्ध में डाल कर उसे उबाला जाय और फिर दही जमा दिया जाय। दूसरे दिन उसे बिलोकर घी निकाल लिया जाय। यह घृत जौ की वस्तुओं के साथ सेवन करे। साठी चाँवलों का भात और दूध खाकर रहे। ७ दिन में ही शरीर को झुर्रियाँ दूर होकर बाल काले हो जावेंगे और ३०० वर्ष की आयु हो जावेगी।

केवल पलाश वृक्ष के द्वारा हो सकने वाले कायाकल्प को शास्त्रों से उद्धृत किया है। पूज्य मालवीय जी महाराज के लिए भी नित्य पलाश की ही राख काम में लाई जा रही थी। इस पलाशकल्प के अतिरिक्त, त्रिफला कल्प, भृङ्गराज कल्प, निगुंण्डी कल्प, इन्द्रवारुणी कल्प, मूसली कल्प, मुण्डी कल्प, मण्डूक कल्प, लाँगलीयोवत्सनागली कल्प, बाकुची कल्प, रुद्रवन्ती कल्प, तृणज्योति कल्प, आदि पचीसों कल्प शास्त्रों में वर्णित हैं। इन कल्प-क्रियाओं में यदि अतिशयोक्ति अथवा कूटार्थ भी हो तो भी इनसे यदि लाभ पहुँचे तो ये बड़े ही उपयोगी हैं।

मनु जी ने मनुष्य की आयु का मान सतयुग में ४००, त्रेता में ३००, द्वापर में २०० और कलि में १०० माना है। परन्तु आज का आयुमान ४५-५० वर्ष रह गया है और उस भारत की मानवी आयुष्य का तो औसत आज २५ वर्ष ही है, जिसमें सैकड़ों हजारों वर्षों की आयु पाने के उपाय खोज निकाले गए हैं; और जहाँ आज भी प्राचीन विधि के अनुसार कायाकल्प करने वाले सिद्ध मौजूद हैं।

हमारी इस लुप्तप्राय विद्या को अब पुनः प्रकाश में लाने का श्रीगणेश हो गया है। सुचिकित्सकों को चिरकाल तक इस पृथ्वी पर रहने के अभिलाषी वृद्धजनों का कायाकल्प करने का कार्य अपने हाथ में अवश्य लेना चाहिए। मालवीय जी के कायाकल्प करने वाले तपसी जी को इस दिशा में कुछ प्रकाश डालना चाहिए, साथ ही परोपकारी सहृदय वैद्यों को यह क्रिया समझा देनी चाहिए। वैद्यों को श्री० तपसी जी की सेवा में पहुँच कर कायाकल्प सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

बिहार का सरयूपारीण-समाज

[आचार्य श्री राधारमण शर्मा, शास्त्री, काव्यतीर्थ]

बेढङ्गी रूढ़ियों, घातक दुष्प्रथाओं और अपने दकियानूसी और अनुदार विचारों के कारण वैसे तो आज समस्त हिन्दू-जाति विपन्न, हेय और उपहासास्पद होती जा रही है, किन्तु उसमें भी ब्राह्मणों—खासकर सरयूपारीण ब्राह्मणों की आज जैसी हीन दशा हो गयी है, उसे देखकर कौन ऐसा मनस्वी होगा जिसे आन्तरिक वेदना न होती हो, जो इनकी करुण अवस्था देख मर्माहत न हो उठता हो। अपनी ही करतूतों, अपनी ही मूर्खताओं और अपने ही कारनामों के फलस्वरूप आज यह जाति न केवल विपन्न, दलित और उपहासास्पद हो गयी है, बल्कि यह अपनी अन्तिम साँसें पूरी कर रही है; मुमूर्षु हो रही है। और मेरा तो खयाल—ज़बर्दस्त खयाल है कि यदि इसके यही रङ्ग-ढङ्ग रहे तो वह दिन दूर नहीं, जब इस हतभाग्य जाति की हस्ती दुनियाँ के पर्दे पर नहीं, इतिहास के पृष्ठों पर ही दृष्टिगोचर होगी।

मैं स्वयं सरयूपारीण हूँ, इसलिए मुझे अपनी जाति को कोसने, उसे खरी-खोटी सुनाने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है, यह बात नहीं है। सच्ची बात यह है कि इसकी वर्तमान दुर्दशा को देखकर मेरा हृदय कराह उठता है। मेरी आत्मा विद्रोह करने लगती है कि मैं इस मुमूर्षु जाति को सजीव रखने के लिए यथाशक्ति प्रयास करूँ! अपनी ज़बान खोलूँ, अपनी क़लम को चलने दूँ! एक ज़माने तक विपन्न, पीड़ित और दलित रहने के बाद आज जाति लबेजान हो रही है, उसके आसार अच्छे नहीं हैं, फिर भी जाति के कर्णधार कानों में तेल डाले पड़े हैं। उनकी 'वही रफ़्तार बेढङ्गी जो पहले थी बो अब भी है'। उनकी झूठी शान, उनके मूर्खता भरे रस्म, और उनके विवेक-शून्य सङ्कुचित विचारों का अन्त होता नहीं दीखता। कदाचित् उनका अन्त इस जाति के अन्त के साथ ही हो!

मुझे लोग साहित्यिक समझने की कृपा करते हैं। अतः मैं अतिशयोक्ति अलङ्कार का प्रयोग कर रहा होऊँ—बात बिल्कुल वैसी नहीं है। सचमुच सामाजिक दुर्गुणों में यह जाति अन्य सभी जातियों से दो क़दम आगे ही है। इस विकास के युग में, जब समस्त जातियाँ उन्नति के पथ की ओर अग्रसर हो रही हैं, सुधारों और नये-नये ग्रहणीय विचारों द्वारा अपनी जाति को नवजीवन प्रदान कर रही हैं; यदि कोई जाति अपने सङ्कुचित विचारों के साथ अपनी पुरानी जगह पर ही पड़ी-पड़ी सड़ गल कर नष्ट हो जाना चाहती है, तो वह जाति सरयूपारीण जाति ही है।

यों तो भारत के प्रायः समस्त सरयूपारीणों की एक सी करुण और विपन्न दशा है, किन्तु खास कर बिहार के सरयूपारीणों की दशा तो अत्यन्त रोमाञ्चकर हो रही है। यू० पी० के सरयूपारीणों में जहाँ अब भी थोड़ी सभ्यता और संस्कृति पायी जाती है; बिहार के सरयूपारीणों में ६० फ़ीसदी यह भी नहीं जानते कि सभ्यता और संस्कृति किस जन्तु का नाम है। बिहार में आरा, छपरा और मुजफ़्फ़रपुर सरयूपारीणों के मुख्य और गया, पटना, मुँगेर, भागलपुर आदि सामान्य केन्द्र हैं। यू० पी० में गाजीपुर, बलिया आदि की तरह बिहार में आरा सरयूपारीणों का गढ़ समझा जाता है, पर कहते हुए वस्तुतः दुःख होता है कि आरा के सरयूपारीणों में शिक्षा और संस्कृति का तो ज़बर्दस्त अभाव है ही, सम्पत्ति भी वैसी उनके हिस्से नहीं पड़ी। मैं यह नहीं कहता कि वहाँ के समस्त सरयूपारीण असभ्य, असंस्कृत और अशिक्षित ही हैं। सरयूपारीणों में कई ऐसे धुरन्धर विद्वान् वहाँ हो गये हैं, जिनकी धाक सारे भारतवर्ष पर जम चुकी है, और आज भी महामहोपाध्याय पण्डित सकलनारायण शर्मा तीर्थत्रय, प्रोफेसर कलकत्ता संस्कृत









(१) मिस केलिन मेरी गुडविन—आपने नागपुर यूनीवर्सिटी की बी० ए० परीक्षा पास की है और अङ्गरेज़ी में सबसे ज्यादा नम्बर पाने के उपलक्ष्य में पदक प्राप्त किया है।

(२) श्रीमती एम० दसानिया—संयुक्त-प्रान्तीय सरकार की ओर से छात्रवृत्ति पाकर टीचर्स डिप्लोमा प्राप्त करने इङ्गलैण्ड गई हैं।

(३) मिस मेरात सैमुअल—आप मुजफ़्फ़रपुर के जी० बी० बी० कॉलेज के चतुर्थ वर्ष (बी० ए०) में पढ़ रही हैं। आप सङ्गीत-कला में निपुण हैं और ईसाई होते हुए भी हिन्दी-साहित्य से विशेष प्रेम रखती हैं।

(४) डा० मिस एम० एम० परांजपे, एम० एस्-सी० पी० एच० डी०—विदेश में उच्च शिक्षा प्राप्त करके हाल ही में स्वदेश लौटी हैं।

कालेज आदि संस्कृत के तथा हिन्दी के भी कई गण्य-मान्य विद्वान् वहाँ मौजूद हैं, फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि अधिक संख्या शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति से दूर रहने वालों की ही है। हाँ, स्वास्थ्य वहाँ के सरयूपारीणों को ज़रूर विरासत में मिला है, और यही कारण है कि आप बिहार के किसी देहाती थाने में भी चले जायें तो आपको एक-दो आरा-निवासी (भोजपुरिया) सरयूपारीण कांस्टेबुल मिल ही जायँगे। बिहार के नगरों में तो वे पचासों मिलेंगे। बिहार के अतिरिक्त बङ्गाल और आसाम के पुलिस विभाग में भी इनकी काफ़ी संख्या है। अस्तु।

समाज के अन्दर वैमनस्य और सौमनस्य, मेल और विरोध, फूट और एकता, सङ्गठन और पार्थक्य, इन सभी का प्रधान और मूलभूत कारण है– रोटी और बेटी का सम्बन्ध! अर्थात् विवाह और खानपान का सम्बन्ध! इस सम्बन्ध में जितने सङ्कुचित विचार इस जाति के हैं, उतने भारत में किसी भी जाति के नहीं होते। अन्य जातियों की तरह ब्राह्मणों में भी सारस्वत, गौड़, शाकद्वीपीय आदि ब्राह्मणों ने इस दिशा में काफ़ी उन्नति की है, और उनके विचार उदार हो चले हैं, पर सरयूपारीणों में तो वही दक़ियानूसी विचार अभी तक भरे पड़े हैं। कान्यकुब्ज और सरयूपारीणों में कोई मौलिक या तात्विक अन्तर नहीं होता, पर कान्यकुब्ज (कनौजिया) और सरयूपारीण में रोटी-बेटी का सम्बन्ध होना तो दूर रहा, कान्यकुब्जों में ही "तीन कनौजिया तेरह चूल्हा" होता है।

बिहार के सरयूपारीणों में विवाह के सम्बन्ध में जितनी कठिनाइयाँ होती हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता! सबसे पहले तिलक और दहेज के प्रश्न को ही ले लीजिए। इस घातक दुष्प्रथा के लिए तो यह जाति सुप्रसिद्ध ही है। शिक्षित हों या अशिक्षित, अमीर हों या ग़रीब, सभी इस दुष्प्रथा के कारण भयङ्कर कष्ट भोग रहे हैं। इस दुष्प्रथा के कारण कितनी ही बालिकाएँ विवाह योग्य वय की हो जाने पर भी अपने पिता के घर अविवाहित रह कर ही अपना जीवन अतिवाहित करती हैं। उनके पिता उन्हें देखते हैं, और उनकी आत्मा तिलमिला उठती है। खाना, पीना, सोना उनके लिए हराम हो जाता है, पर वे बेचारे करें तो क्या करें! इसी प्रकार जाने कितनी कुमारियाँ अपने पिता की निर्धनता के कारण योग्य घर-वर से वञ्चित रह जाती हैं। कारण, उनके पिताओं के पास उतनी बड़ी थैली ही नहीं होती, जिसके बल पर वे अपने लिए सम्पन्न घर और सुयोग्य वर पाने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें। अन्य जातियों में लड़की के शिक्षा आदि गुणों के बल पर भी कभी-कभी काम चल जाता है, पर सरयूपारीणों में यह बात नहीं! लड़की यदि सुशिक्षिता, अनुपम लावण्यवती, सुसंस्कृता, सुशीला और सद्गुणी भी हो तो भी उसके विवाह के लिए एक वज़नदार थैली चाहिए ही!

तिलक और दहेज की दुष्प्रथा की भीषणता के साथ ही जो सब से निन्द्य और मूर्खतापूर्ण बात है, वह है जातीयता का मिथ्या आडम्बरपूर्ण ढोंग! आप खाने पीने से सुखी हैं, और आपकी प्रतिष्ठा भी कम नहीं है, फिर भी यदि आप किसी अपने से ग़रीब और अपढ़ शहरी या देहाती ब्राह्मण के पास चले जायँ और जाकर उससे कहें कि मैं आपके सुपुत्र से अपनी कन्या का विवाह करने की अभिलाषा से आया हूँ, तो वह यह नहीं समझेगा कि उसके पूर्व जन्म के किसी पुण्य या अपने दुर्भाग्य के परिणाम-स्वरूप ही आप उसके यहाँ सम्बन्ध करने की इच्छा से पहुँचे हैं। वह तो आप से गोत्र आदि पूछने के बाद कुछ इस प्रकार की भावभङ्गी दिखलायेगा जैसे वह भारद्वाज ऋषि का चचा या वशिष्ट जी का भाई हो और आप हों—डोम या चमार! कदाचित् बहुत कहने-सुनने और अपनी जातीय शुद्धता की सफ़ाई देने के बाद वह सम्बन्ध करने को तैयार भी हुआ तो वह तिलक-दहेज का ऐसा डिमाण्ड करेगा जैसे वह कोई ग़रीब ब्राह्मण नहीं, दरभङ्गा का महाराजाधिराज हो।

अभी कुछ दिन की ही बात है, गया के एक सुप्रतिष्ठित और सम्पन्न सरयूपारीण सज्जन एक दूसरे

सरयूपारीण सज्जन के पास, जो देहात के रहने वाले हैं, पर इन दिनों यहीं गवर्नमेण्ट सर्विस में हैं, अपनी कन्या का सम्बन्ध करने के विचार से गये। पहले तो उन्होंने पूर्ण आश्वासन दिया, पर पीछे कहला दिया कि—"हम लोग पुराने विचार के हैं और लड़की के पिता नवीन विचार के, अतः सम्बन्ध होना ठीक नहीं है। दूसरी बात यह है कि लड़की के पिता की जातीयता में भी मेरे कुछ सम्बन्धियों को आपत्ति है।" यद्यपि वास्तविक बात तो यह है कि लड़की के पिता कट्टर सनातनी हैं; बाज़ार या हलवाई के यहाँ की भी कोई चीज़ नहीं खाते। जब कि लड़के के पिता के भाई, जो वकील हैं और साथ ही रहते हैं, खानपान में कुछ भी छूतछात नहीं रखते। रही जातीयता की बात। वह और भी हस्यास्पद है। उन दोनों का सम्बन्ध कुछ ही वर्ष पूर्व एक घर में हो चुका है, और उनके कई बिरादरी वाले उनके यहाँ प्रसन्नतापूर्वक कच्ची रसोई खाते चले आ रहे हैं। पर यहाँ तो अभिजात्य का प्रदर्शन ठहरा! विवेक से भला क्या काम? बिहारी सरयूपारीणों की यही कारगुज़ारी है—उस बेचारे को क्या कहा जाये!

एक घटना का ज़िक्र यहाँ और किया चाहता हूँ। मेरा विश्वास है, इस घटना को प . कर कोई भी सज्जन क्षुब्ध हुए बिना नहीं रहेंगे, और सहृदय सरयूपारीणों को तो लज्जा से सिर झुका लेना पड़ेगा। यहाँ के एक पण्डित जी के यहाँ एक विद्यार्थी—व्यवहार के लिए उनका कल्पित नाम भास्कर रख लीजिए—रहकर पढ़ा करते थे। भास्कर के भोजन का व्यय-भार भी उक्त पण्डित जी पर ही था, दोनों सरयूपारीण हैं, अतः खानपान में कोई कठिनाई न थी। बल्कि सजातीय के अतिरिक्त गुरु भी होने के कारण कई बार भास्कर ने पण्डित जी का जूठा तक खाया था। कई वर्षों तक यही क्रम रहा। उन्हीं दिनों संयोगवश उक्त पंडित जी की साली का विवाह भास्कर जी के साले के भाई के साथ होना स्थिर हुआ। निश्चित दिन बारात आई, विवाह हो गया। विवाह के दूसरे दिन जब भात खाने की बारी आयी, और सारी बिरादरी के लोग भात खाने बैठे, तो भास्कर तन गये। उन्होंने कहा—"मैं तो भात नहीं खाऊँगा। पण्डित जी की जाति का क्या ठिकाना?" पण्डित जी अवाक् थे। उन्हें काटो तो ख़ून नहीं! उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि उनके जिस छात्र ने दर्जनों बार उनका जूठा तक खाया था, उनमें उन्हीं के ख़र्च से पढ़कर काव्यतीर्थ हुआ था, और अभी पढ़ ही रहा था—यों बिरादरी के सम्मुख उनकी इज्ज़त पर नीचतापूर्ण हमला करेगा। अन्ततः भास्कर के भाइयों ने ही उनकी भर्त्सना की, तब कहीं उन्होंने खाया।

इस जैसी दर्जनों घटनाओं को देखकर अपनी जाति की सङ्कुचित मनोवृत्ति पर आँसू बहाने का दुर्भाग्य इस लेखक को जाने कितनी बार हुआ है और होगा!

कुछ ख़ास जगह के सरयूपारीणों में स्त्रियों को अतीव तुच्छ समझने का भी जबर्दस्त रोग है। अभी कुछ ही दिन हुए मेरे आदरणीय मित्र आरा निवासी पं० पारसनाथ जी त्रिपाठी 'पाटलिपुत्र' सम्पादक ने इस सम्बन्ध की कुछ आँखों-देखी और भुगती हुई घटनायें जिस समय मुझे सुनायीं, कि उस ओर स्त्रियों के प्रति कैसा दुर्व्यवहार होता है, मुझे मर्माहत हो जाना पड़ा।

खानपान के सम्बन्ध में भी इधर के सरयूपारीणों में कुछ अजीब बात है। वे बाज़ार में अच्छी बुरी चीज़ें खायेंगे, लुक-छिपकर होटलों में भी खा लेंगे, पर यदि आपका उनसे कोई समीपी सम्बन्ध नहीं है, तो आपके यहाँ हर्गिज़ नहीं खायेंगे। कुछ इस प्रकार के होते हैं कि वे समीप का सम्बन्ध न होने पर भी आपके यहाँ बराबर खा तो लिया करेंगे, किन्तु बिरादरी में और बाहर तमाम यही कहेंगे—"छिः! उनके यहाँ? उनके यहाँ भला मैं क्यों खाने लगा!" कितनी घृणित नीचता है? इसी प्रकार एक सरयूपारीण तीन-चार रुपये मासिक पर किसी शूद्र के यहाँ नौकरी कर सकता है, पर दस-बारह रुपये दिये जाने पर भी अपनी बिरादरी के यहाँ काम करने को हर्गिज़ तैयार न होगा। इस बात का कटु अनुभव, जिस समय मैं हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी में



पड़ रहा था, स्वयं मुझे हुआ है। इसी प्रकार की कुछ और बातें हैं, जिनका जिक्र यहाँ न करना ही अच्छा है। भविष्य में कभी उनका उल्लेख किया जायेगा।

मैं नहीं कहता कि बिहारी सरयूपारीण ही सभी ऐबों की खान हैं, और सब जगह के दूध के धुले हैं। मुझे यू० पी० में भी काफ़ी रहने का मौक़ा मिला है, और वहाँ मेरे बहुतेरे सम्बन्धी भी हैं। वहाँ भी मैंने प्रायः ये ही दोष देखे, पर यह सच है कि बिहार के सरयूपारीणों जितना नहीं। इसीलिए मुझे सन्देह होता है कि अगर मेरे भाइयों ने समय की प्रगति को नहीं पहचाना तो शायद बीसवीं सदी के अद्वितीय महारथी विद्वान् महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा, साहित्याचार्य, एम० ए०, महामहोपाध्याय पं० हरिहरकृपालु जी एवम् महामहोपाध्याय पं० हरनारायण तिवारी जी जैसे बिहारी सरयूपारीणों की जाति के अस्तित्व का कहीं अवसान न हो जाये।

गीत

[श्री० गङ्गाप्रसाद पाण्डेय]

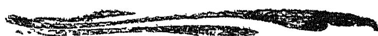
नेह की नव तरणि पर चढ़
हृदय-सागर के भँवर में,
मैं मिला था देवि तुमसे
मगन-मन स्वप्निल लहर में!

कमल कर से कर पकड़, तुमने
मुझे वन्दी किया था,
सरसता का विरस-जीवन में
प्रथम परिचय दिया था!

था दिया वह प्यार तुमने
पा जिसे पागल बना मैं,
भूल शत-शत गत दुखद क्षण
शान्त, सुख रस से सना मैं।

पर अचानक आर्त स्वर में
कर उठीं तुम करुण-क्रन्दन,
रुक गया सहसा समीरण
स्तब्ध हृदयोल्लास स्पन्दन।

भूल कह बस गगन पथ से
उड़ गईं तुम क्यों न जाने,
उस मिलन की मधुर स्मृति के
हैं छलकते आज गाने।



भारत की साम्प्रदायिक समस्या

[श्री० नन्दगोपालसिंह सहगल]

आधुनिक समय में किसी राष्ट्र या देश का विभिन्न सम्प्रदायों या मतमतान्तरों में बँटा होना निर्बलता का एक बड़ा चिह्न समझा जाता है। आजकल यूरोप, अमेरिका और एशिया के भी जो देश उन्नति के मैदान में आगे बढ़े हैं उन्होंने सम्प्रदाय के भाव को या तो बिल्कुल छोड़ दिया है या इतना दबा दिया है कि वह एक बिल्कुल गौण वस्तु बन गया है। इन देशों के निवासियों का धर्म दरअसल राष्ट्रीयता या 'नेशनैलिज्म' ही है, और इसीलिये वे सब मिलकर अपनी सारी शक्तियों को अपने राष्ट्र की उन्नति, मानवृद्धि और रक्षा के लिये काम में लाया करते हैं। अधिकांश में यही इन देशों की सफलता और अजेयता का रहस्य है। इसके विपरीत अवनतिशील या पिछड़े हुये देशों के निवासी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों या मत-मतान्तरों में बँटे रहना और उनके नाम पर हठधर्मी करते रहना ही महत्वपूर्ण समझते हैं। ऐसे लोग राष्ट्र-धर्म से अनजान होते हैं और कभी सङ्गठित होकर कोई बड़ा आन्दोलन नहीं चला सकते।

वास्तव में ये सम्प्रदाय या मतमतान्तर गुज़रे हुये ज़माने की चीज़ें हैं और उसी समय इनकी उपयोगिता भी थी। उस समय विभिन्न देशों के निवासियों का सङ्गठन सम्प्रदाय के रूप में ही किया गया था। हम प्राचीन इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ से इस बात का प्रमाण पा सकते हैं कि उस समय सम्प्रदाय ही लोगों को एक सूत्र में बाँधे रखने का साधन था, और इसी के नाम पर प्रायः समस्त युद्ध हुआ करते थे। उस समय लोग अपने सम्प्रदाय के नाम पर सहज में प्राण दे देते थे और उनका यह कार्य बड़ा गौरवपूर्ण समझा जाता था। उस समय प्रायः सभी महत्व के विषयों को साम्प्रदायिक रङ्ग दे दिया जाता था।

पर कालचक्र के प्रभाव से अब स्थिति बिल्कुल बदल गई है। अब विज्ञान की उन्नति और पूँजीवाद की वृद्धि से समाज का रूप कुछ और ही हो गया है और पूर्व काल में समाज जिन सम्प्रदायों या श्रेणियों में बँटा था वे बिल्कुल ही ग़ायब हो गई हैं; अब केवल उनका नाम ही शेष है। जिन देशों में शिक्षा का अभाव है और पराधीनता अथवा विरोधियों के हस्तक्षेप से जिनका स्वाभाविक विकास रुका है, उनके निवासी अब भी इन मृत सम्प्रदायों के जाल में फँसे हैं और कोई भी स्वार्थी व्यक्ति आवश्यकता होने पर प्राचीन घटनाओं और पुराने विरोध को याद दिला-कर इन विभिन्न सम्प्रदायों में सिर-फुटौवल कराके अपना मतलब सिद्ध कर सकता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त की सचाई इस समय हमारे देश में जितनी अधिक स्पष्टता से देखी और अनुभव की जा सकती है, उतनी शायद ही संसार के और किसी देश में देखी या अनुभव की जा सकती होगी। हमारा देश सैकड़ों वर्षों से पराधीन है और इसके फल-स्वरूप यहाँ के नर-नारी अनेक प्रकार की यातनायें सहन कर रहे हैं। ये यातनायें किसी एक विशेष धर्म या सम्प्रदाय वाले को सहन करनी पड़ती हों, सो बात नहीं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि सभी को प्रायः समान रूप से दुःख-सुख में साझीदार होना पड़ता है। अगर लोगों को भरपेट भोजन और पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलता; अगर उनके लिये स्वास्थ्य-रक्षा और सफ़ाई का उचित प्रबन्ध नहीं है, अगर उनके बालकों को बहुत कम परिमाण में



शिक्षा देने की व्यवस्था है, तो इन बातों का हानिकर प्रभाव उन्हीं को सहन करना पड़ता है।

ऐसी दशा में स्वाभाविक तो यह था कि यहाँ के सब निवासी एक सूत्र में आबद्ध होकर अपनी इस दुरवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठाते, उसे दूर करने के लिये सचेष्ट होते और इस काम में जो विघ्न-बाधायें सामने आतीं उनको यथाशक्ति दूर करने का यत्न करते। ऐसा करने में सबका हित था। यदि राजनैतिक, आर्थिक आदि दृष्टियों से देश की उन्नति होती तो उसका सुफल सभी उठाते। यदि देश में कला-कौशल का प्रचार बढ़ता, यहाँ के व्यवसाय, उद्योग-धन्धे आदि की वृद्धि होती, देश की सम्पत्ति का परिमाण बढ़ता तो सभी की दशा सुधरती। यह कोई नहीं कह सकता कि इन बातों से किसी एक ही धर्म या सम्प्रदाय के अनुयायियों का लाभ होता!

पर यह सब होने पर भी हम अत्यन्त खेदपूर्वक इस देश के निवासियों को सर्वथा इसके विपरीत आचरण करते देखते हैं! वे एक राष्ट्र के निवासी भारतीय अथवा हिन्दुस्तानी बनने के बजाय विभिन्न परस्पर विरोधी सम्प्रदायों के रूप में बंटे हैं। उन्हें इस बात का खयाल नहीं कि यह समय संसार-व्यापी परिवर्तनों का है, इस समय बड़े-बड़े राष्ट्रों के भाग्य का वारा-न्यारा होने के आयोजन हो रहे हैं, और ऐसे ही अवसर पर हम चेष्टा करके अपनी दीर्घ काल-व्यापी-दुर्दशा का अन्त कर सकते हैं। वे यह भी नहीं समझते कि अब विभिन्न आविष्कारों और ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के फलस्वरूप संसार के बिखरे हुये टुकड़े एक दूसरे से सम्बन्धित होते जाते हैं, एक का काम दूसरे की सहायता के बिना चलना असम्भव हो गया है, और इसके आधार पर जानकार लोग यह आशा करते हैं कि निकट भविष्य में संसार के सभी राष्ट्रों का एक ऐसा सङ्गठन अथवा सङ्घ बनेगा जो वास्तव में दुनिया के राजनैतिक और आर्थिक विवादों का अन्त करके उनमें सहयोग की स्थापना करेगा। जब कि दुनिया के दूसरे लोग ऐसी महत्वपूर्ण और बड़ी-बड़ी समस्याओं के सुलझाने और महान उद्देश्यों की सिद्धि में लगे हैं तो बड़े दुःख का विषय है कि हमारे देश के निवासी भूतकाल की गुजरी हुई निस्सार बातों को लेकर अथवा नये-नये काल्पनिक झगड़े पैदा करके आपस में फूट की वृद्धि कर रहे हैं।

अब हम इस बात पर जरा स्पष्ट रूप से विचार करना चाहते हैं कि इस समय हमारे देश के हिन्दू-मुसलमानों में जो विद्वेषाग्नि सुलग रही है और जो प्रायः ज्वाला-मुखी के समान भीषण दंगों के रूप में अकस्मात भड़क कर अपरिमित जान-माल का नाश कर डालती है, उसकी वास्तविकता क्या है। इसका मुख्य कारण आमतौर पर यह समझा जाता है कि हिन्दू लोग इस देश के प्राचीन निवासी होने के नाते यहाँ अपनी प्रधानता चाहते हैं और मुसलमान विजयी शासक होने के नाम पर तथा यह कहकर कि अभी थोड़े दिन पहले हम इस देश के अधिकारी थे अपना ज़ोर जमाना चाहते हैं। हिन्दू बहुसंख्या में होने से तथा शिक्षा और धन में बढ़े हुये होने से अपने पक्ष की सफलता की आशा करते हैं और मुसलमान अपनी एकता और सङ्गठन के बल पर अपने विरोधियों को दबा देने का दम भरते हैं! हिन्दू-मुसलमानों का यह विरोध पिछले वर्षों में विविध रूपों में प्रकट होता रहा है। किसी समय यह गौ की क़ुरबानी के नाम पर होता था, कभी मस्जिदों के आगे बाजा बजाने के नाम पर, कभी ताजिया और पीपल के नाम पर और कभी अन्य छोटे-मोटे प्रश्नों को लेकर। हिन्दी और उर्दू के प्रचार को भी साम्प्रदायिक मतभेद का एक अङ्ग बना लिया गया है। सरकारी नौकरियों और व्यवस्थापक सभाओं और स्थानीय स्वायत्त-शासन की संस्थाओं में किस सम्प्रदाय वालों को कितना हिस्सा मिले, इस पर प्रायः मतभेद हुआ करता है और इसके परिणाम स्वरूप प्रायः अनेक तरह के कुफल उत्पन्न होते हैं।

हमने ऊपर हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य के जो कारण लिखे हैं उनसे प्रायः सभी शिक्षित व्यक्ति परिचित हैं पर हमारी समझ में वे सभी ऊपरी या बनावटी हैं। गोकुशी के नाम पर झगड़ा करना सरासर मूर्खता है। गौ की उपयोगिता और जीवन-निर्वाह के लिये उससे प्राप्त होने वाले पदार्थों की आवश्यकता मुसल-मान भी अस्वीकार नहीं कर सकते। साथ ही हिन्दुओं

को भी यह सोचना उचित है कि जब देश में अनगिनती गायें भिन्न-भिन्न कारणों से नष्ट होती ही रहती हैं, तो एक दिन किसी धार्मिक विधान के नाम पर कुछ हज़ार गायें अधिक नष्ट हो जाने से अवस्था में क्या अन्तर पड़ सकता है? इसी तरह मस्जिदों के आगे बाजा का प्रश्न निरर्थक है। आजकल तरह-तरह की सवारियों की अधिकता से रास्तों में तरह-तरह की ज़ोरदार आवाज़ें होना स्वाभाविक हो गया है। मोटर का भोंपू, ट्राम की टन-टन और हवाई जहाज़ों का घर्राटा बाजे की बनिस्बत ध्यान को कम बटाने वाले नहीं होते। फिर आजकल बड़े शहरों में तो शाम को प्रायः नमाज़ के समय ही सिनेमा वालों के जलूस अक्सर गाजे-बाजे के साथ निकलते ही रहते हैं। जब इन सब बातों में एतराज़ नहीं तो हिन्दू जलूसों या बारातों के बाजों में आपत्ति करना हठधर्मी ही कहा जा सकता है। पर इतना ज़रूर मानना पड़ेगा कि अगर कोई जलूस या बारात जानबूझ कर दूसरे सम्प्रदाय वालों को चिढ़ाने या कष्ट पहुँचाने के ख़याल से ऐसी हरकत करता है, तो उसका काम निस्सन्देह निन्दनीय है। ताज़िया और पेड़ काटने का झगड़ा या ताजिया के लिये रास्ते का सवाल उठाकर झगड़ना तो स्पष्ट ही एक बहाना है। इन बातों का निर्णय पहले से स्थिति का निरीक्षण करने पर सहज में हो सकता है। ताजिये आवश्यकतानुसार छोटे-बड़े बनाये जा सकते हैं और पेड़ों का काटा-छाँटा जाना भी कोई नई बात नहीं है। आजकल तो बड़े शहरों में हम बिजली कम्पनी वालों को एक नहीं, सैकड़ों बड़े-बड़े पेड़ों का एक साथ ही सफ़ाया करते देखा करते हैं, जिनमें सभी तरह के पेड़ होते हैं। हिन्दी या उर्दू का प्रश्न इन दोनों भाषाओं के गुणों या अवगुणों के आधार पर धीरे-धीरे स्वयं ही हल हो जायगा, इसके लिये झगड़े की कतई ज़रूरत नहीं। यही बात दूसरे मतभेदों के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

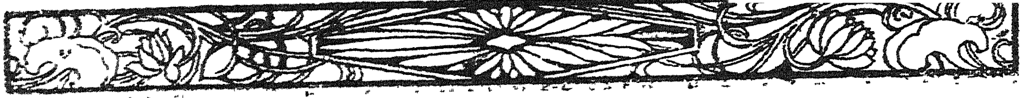
इस विवेचन के बाद स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि यदि ये सब बातें ऊपरी या बनावटी हैं तो इस साम्प्रदायिक वैमनस्य का कारण क्या है। हमको दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इसका एकमात्र कारण हमारी समझ में इस देश पर विदेशियों का आधिपत्य है। यह सच है कि हिन्दू-मुसलमान आज अपनी मर्ज़ी से ही सिर-फुटौवल करते है और दिन पर दिन पारस्परिक मतभेद अथवा वैमनस्य को बढ़ाते जाते हैं, तो भी गम्भीर रूप से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि इसका मूल विदेशी शासन में निहित है। इस प्रकार का परिणाम कुछ अंशों में तो विदेशी शासन का स्वाभाविक फल ही होता है। एक बाहरी सत्ता के अधीन रहने से पराधीन जाति प्रायः टुकड़ों में बँट जाती है और उनमें से प्रत्येक अपनी स्थिति के अनुसार शासकों की कृपा प्राप्त करने के लिये चेष्टा करता रहता है। शासकों की दृष्टि से भी इस प्रकार अपने अधीनस्थों का विभिन्न भागों में बँटे रहना और उनमें मतभेद बना रहना प्रायः लाभजनक या सुविधाजनक जान पड़ता है और वे अधिकांश में ऐसे मतभेद को दूर करने की अपेक्षा उसका क़ायम रहना या बढ़ना भी पसन्द करते हैं। भारतीय शासन विधान के अन्तर्गत साम्प्रदायिक बँटवारा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पर अब समय आ गया है कि हम अपनी स्थिति को समझें और अन्धी साम्प्रदायिकता को त्याग कर परस्पर में न्याय के सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार करना सीखें। हिन्दू और मुसलमान दोनों का यह समझ लेना आवश्यक है कि अब संसार की कोई शक्ति उनको अलग नहीं कर सकती। न तो किसी उपाय द्वारा इस देश के २५ करोड़ हिन्दू नष्ट किये जा सकते हैं और न किसी तरह ८ करोड़ मुसलमानों का देश निकाला दिया जा सकता है। अगर्चे बहुत से अदूरदर्शी मुसलमान इस देश को अपनी मातृभूमि मानने में आनाकानी करते हैं और 'पैन इस्लाम' का राग गाते हैं, पर उनसे कोई पूछे कि क्या संसार में कोई ऐसा देश है जहाँ वे आवश्यकता होने पर सब के सब जाकर बस सकते हैं? तब ऐसी दशा में जब दोनों जाति वालों को यहीं रहना तथा यहीं जीना-मरना है तब व्यर्थ का वैमनस्य उत्पन्न करते रहना कहाँ की अक्लमन्दी है।

अन्त में कुछ शब्द साम्प्रदायिक संस्थाओं और नेताओं के सम्बन्ध में भी कहना आवश्यक है। वर्तमान

समय में साम्प्रदायिक कलह या दङ्गों के वास्तविक सूत्रधार यही होते हैं। वैसे लड़ते तो हैं सीधे-साधे और जाहिल लोग, पर उनको भड़काने वाले यही लोग होते हैं। इन संस्थाओं और उनके कर्ता-धर्ताओं का उद्देश्य जितना निजी स्वार्थ सिद्ध करना होता है उतना समाज या देश का हित साधन नहीं होता। वे दिखाने के लिये अपनी जाति या सम्प्रदाय के बहुत बड़े सेवक और पक्षपाती होने का दम भरते हैं, पर वास्तव में उनका मुख्य उद्देश्य अपना व्यक्तिगत प्रभाव जमाना और समय आने पर उससे किसी तरह का लाभ उठाना ही होता है। ऐसे लोग इस समय देश की शान्ति और कल्याण के लिये बड़े ख़तरनाक हो रहे हैं।

हिन्दू और मुसलमानों को भलीभाँति यह समझ लेना चाहिये कि वे एक ही देश के निवासी हैं, एक ही हवा, मिट्टी और पानी से उनके शरीरों का निर्माण हुआ है और अन्त में एक ही जगह उनको मर कर इसी देश की मिट्टी में मिल जाना होगा। ऐसी दशा में उनमें पारस्परिक जितना घनिष्ट सम्बन्ध होगा उतना दूसरे किसी देश के निवासी से कदापि नहीं हो सकता। आजकल संसार के विभिन्न भागों का सम्बन्ध इतना घनिष्ट हो गया है कि एक के हानि-लाभ का दूसरे पर तुरन्त असर पड़ता है, तब यह ख़याल करना कि इस देश के हिन्दू-मुसलमान निवासी एक दूसरे से सर्वथा अलग होकर रह सकेंगे, बिल्कुल नासमझी है। चाहे वे पसन्द करें या न करें, समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र के नियमानुसार एक की भलाई-बुराई और हानि-लाभ का प्रभाव दूसरे पर पड़ेगा ही। इसलिये इन दोनों सम्प्रदाय वालों के लिये आपस में लड़ना-झगड़ना और दूसरे को नुक़सान पहुँचाने की चेष्टा करना अपने हाथों अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी मारने के समान है। आशा है, दोनों सम्प्रदायों के अनुयायी इस तथ्य को दृष्टिगोचर रख कर भविष्य में बुद्धिमानी का परिचय देंगे।



भारत में संग्रहालय और उनकी उपयोगिता

[श्री० सतीशचन्द्र काला, बी० ए०, सेण्ट्रल-म्यूज़ियम, दिल्ली]

आजकल भारत में संग्रहालयों के सुधार के साधन ढूँढ़े जा रहे हैं। इसी हेतु दिसम्बर के महीने में सर गिरिजाशङ्कर वाजपेयी की अध्यक्षता में दिल्ली में एक कानफ्रेंस हुई थी। भारत में सर्व-प्रथम म्यूज़ियम सम्मेलन सन् १९१२ ई० में हुआ था। उस साल से अब तक भारतीय सांस्कृतिक आन्दोलन अनवरत रूप से चल रहा है। इसी बीच मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई व अन्य स्थानों में पुरातत्व विभाग द्वारा खुदाई हुई और प्रत्येक स्थान ने भारत के इतिहास पर नवीन प्रकाश डाला। सांस्कृतिक आन्दोलन ने भारत के अतीत गौरव को संसार के सम्मुख रक्खा, किन्तु यह आन्दोलन सुप्त अवस्था का था। इसमें यह शक्ति न थी कि यह प्रत्येक ग्रामीण भारतीय तक संस्कृति का सन्देश पहुँचा सके। आज २५ वर्ष के बाद इम्पायर म्यूज़ियम्स ऐसोसियेशन के सेक्रेटरी मि० मारखन और हरग्रीव्ज़ (भूत-पूर्व डाइरेक्टर जनरल ऑफ आर्कियोलाजी) ने एक विशाल रिपोर्ट भारतीय संग्रहालयों के विषय में प्रकाशित की है। स्वयं सर वाजपेयी का कहना है कि इस रिपोर्ट ने भारतीयों पर ज़ोर का आघात (Rude shock) पहुँचाया है। इस रिपोर्ट में भारतीय लोगों की उदासीनता का नग्न चित्रण प्रदर्शित किया गया है। रिपोर्ट की सभी बातें सुधार-भावना के कारण लिखी गई हैं।

मानव-जाति का इतिहास एक युग या शताब्दी में नहीं बना है। इसको बनने में न जाने कितना समय लगा है। प्रत्येक युग ने अपनी भावनाओं को संसार के सम्मुख रक्खा है और ये ही भावनाएँ इतिहास को बनाती चली जा रही हैं। मनुष्य की प्रकृति सदैव एक सी रही है, सिर्फ उसने प्रयोग के अस्त्रों में परिवर्त्तन किया है। कला-संग्रहालय मनुष्य को सैकड़ों वर्ष पूर्व ले जाते हैं। मानव-जाति के सम्पूर्ण इतिहास को पढ़ने के लिए असाधारण शक्ति व समय की आवश्यकता होती है। इस औद्योगिक युग में सम्भवतः लोगों को थोड़ा भी अवसर न मिल सके। खास कर ग़रीब किसानों व मज़दूरों, जो कि दिन भर पेट की समस्याओं को ही नहीं सुलझा सकते हैं, को तो किसी भी प्रकार अवकाश मिल ही नहीं सकता। हाँ, यदि इन लोगों को कुछ अवकाश भी मिल जाय तो भी उनकी शिक्षा इतनी पिछड़ी है कि जीवन भर वे एक पुस्तक को भी समाप्त नहीं कर सकते। जिस देश में लगभग ९० प्रति सैकड़ा लोग अशिक्षित हैं, वहाँ के लिए तो कला संग्रहालय बहुत ही आवश्यक हैं। फिर भी सरकार तथा धनी-मानियों की इस ओर सदैव उदासीनता रही है! ३५ करोड़ की जन-संख्या वाले भारत सरीखे देश में केवल १०५ म्यूज़ियम हैं और इनका प्रबन्ध भी सन्तोषजनक नहीं है। प्रथम तो प्रदर्शित वस्तुओं पर जो पट्टियाँ लगाई जाती हैं, वे अङ्गरेज़ी में लिखी रहती हैं। गाईड वगैरह भी अङ्गरेज़ी में लिखे जाते हैं। ये सभी बातें अधिकतर भारतीयों (जो कि अङ्गरेज़ी शिक्षा से अनभिज्ञ हैं) के लिए वास्तविक कठिनाई उपस्थित कर सकती हैं। ये लोग म्यूज़ियमों में जाकर सीधे बाहर लौट जाते हैं। वस्तुओं को देख कर उन्हें आश्चर्य अवश्य होता है, किन्तु वे उनके महत्व को नहीं जान पाते। आत्मा और बुद्धि दो ऐसी वस्तुएँ हैं, जो कि संसार के इतिहास में स्थायी रह सकती हैं। कला में इन दोनों की छाप रहती है। इस कारण कला किसी देश की जीती-जागती पैत्रिक सम्पत्ति मानी जाती है। मिनटों में

एक दर्शक को अपनी पैत्रिक सम्पत्ति का ज्ञान हो सकता है। भूतकाल का गौरव हमारे वर्त्तमान जीवन के लिए लाभदायक नहीं। समय किसी युग की कमजोरियों को दबा देता है। इस प्रकार किसी देश की कमजोरियाँ समय के गर्भ में डूब जाती हैं, केवल उसके महत्वपूर्ण कार्य्य ही इतिहास के पृष्ठ पर रह जाते हैं। भूत से हम लोगों को प्रेरणा प्राप्त होती है। म्यूजियम मुर्दा दिलों तक में खून भर सकते हैं। चुप (silent) वस्तुओं का मनुष्य पर अधिक प्रभाव पड़ता है। माईकेल ऐंजिलो द्वारा निर्मित सेण्ट पीटर गिरजे के गुम्बज को बने लगभग तीन शताब्दियाँ बीत चुकी हैं ; किन्तु यह गुम्बज समस्त संसार को अभी तक प्रेरणा देता चला आ रहा है। संसार के सांस्कृतिक भण्डार में वही वस्तुएँ महत्वपूर्ण मानी जाती हैं जिन पर कि उस युग की आत्मा की छाप पड़ी है। म्यूजियमों में हम लोग केवल चित्रों या मूर्तियों को ही नहीं देखते, किन्तु उस युग की आत्मा को देखते हैं, जिस युग में कि उनका निर्माण हुआ था। अप्राकृतिक वस्तुएँ हमारे मस्तिष्क को विश्लेषण तथा विवेचना शक्ति प्रदान करती हैं।

भारतीय म्यूजियमों का प्रश्न छोड़ कर पाश्चात्य देशों के म्यूजियम प्रबन्ध की ओर ध्यान देना भी आवश्यक होगा। यह सत्य है कि आजकल की materialistic संस्कृति कला व पैत्रिक सम्पत्ति का अधिक आदर नहीं करती है। आजकल के कुछ नेता व प्रधान बड़े-बड़े शहरों में औद्योगिक या विनोद सम्बन्धी केन्द्रों को स्थापित करने में गौरव समझेंगे। जो कम materialistic हैं वे शिक्षा सम्बन्धो केन्द्रों को स्थापित करना चाहेंगे, परन्तु किसी को भी अभी तक यह नहीं सूझा है कि बड़े-बड़े शहरों में कला या संस्कृति के केन्द्र खुलें। शेखुड येड्डी ने एक स्थान पर लिखा है—If any social order persistently denies intellectual culture and spiritual freedom it can't endure. पाश्चात्य देश भयङ्कर नर-संहार में ही अपनी शक्तियों का ह्रास कर रहे हैं। समाज स्वयं इतना दूषित हो गया है कि सुन्दर भावनाओं की सृष्टि हो ही नहीं सकती है। बराह मिहिर ने एक स्थान पर लिखा है :—

प्रायो विकम्पासु भवन्ति दोषा।
यत्राकृतिस्तत्रगुणा वसन्ति॥

अर्थात् भद्दी वस्तुओं में बुरी बातें होती हैं और सुन्दर गुण दर्शनीय वस्तु में अन्तर्हित रहते हैं।

आजकल के राष्ट्र कहते हैं कि कला तथा संस्कृति के उत्थान के लिए उनके पास रुपया नहीं, किन्तु आज वे सेना-रक्षण के लिए लाखों रुपया खर्च करते हैं। कहा जाता है कि यूरोपीय महायुद्ध में एक सिपाही को मारने के लिए २५,००० डालर खर्च किये गये थे।

इतना होते हुए भी कई राष्ट्रों ने पैत्रिक संपत्ति को बड़ा महत्व दिया है। परिणाम-स्वरूप आज संसार में कई ऐसे देश हैं, जिन्होंने कि स्थान-स्थान पर म्यूजियम स्थापित कर लोगों में कला या सांस्कृतिक प्रेम उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। पूर्व में मिश्र, टर्की, ईरान, इराक़ और जापान ने म्यूजियमों की उपयोगिता को सब से अधिक समझा है। जापान ने तो गत ३० वर्षों में इस दिशा में आश्चर्यजनक उन्नति दिखलाई है। अमेरिका व जर्मनी तक ने म्यूजियमों को शिक्षा का प्रधान अङ्ग समझा है। अमेरिका के कुछ म्यूजियम तो वहाँ की सरकार ने और कुछ वहां की प्राइवेट सोसाइटियों ने स्थापित किये हैं। अमेरिका की ४६ स्टेटों में एक-एक ऐतिहासिक सोसायटी स्थापित है जिसका ध्येय ऐतिहासिक तारीखों व प्राचीन भग्नावशेषों तथा मूर्तियों की रक्षा करना है। अमेरिका में कला-सम्बन्धी, वैज्ञानिक, औद्योगिक व ऐतिहासिक चार प्रकार के म्यूजियम स्थापित हैं। वैज्ञानिक अन्वेषण के लिए अमेरिका के National Museum के अतिरिक्त संसार में कोई दूसरा उत्तम स्थान नहीं है। नुमायशों तथा भाषणों द्वारा वहाँ लोगों के बीच ज्ञान फैलाया जाता है। बड़े-बड़े शहरों के अतिरिक्त वहाँ पार्कों तक में छोटे-छोटे म्यूजियम जिनको कि "Failside" म्यूजियम कहते हैं, स्थापित हैं। कालेज व स्कूलों को समय-समय पर म्यूजियम की वस्तुएँ उधार दी जाती हैं। बच्चों के माता-पिता तक इन अवसरों से लाभ उठाते हैं। अमेरिका के एसोसियेशन आफ़ म्यूजियम्स ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

जर्मनी में सैकड़ों म्यूजियम हैं। इसका कारण यह है कि जर्मनी का बड़ा महत्वपूर्ण इतिहास रह चुका है। प्राचीन काल से जर्मनी कई छोटी-छोटी रियासतों में बँटा था। इन रियासतों की जो राजधानी होती थी उसको सब प्रकार से सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया जाता था। इस प्रकार ये नगर कला व संस्कृति के प्रधान केन्द्र बन गये। म्यूनिक ड्रेस्डन तथा बर्लिन इस समय संसार के सर्वोत्तम कला-संग्रहालयों में गिने जाते हैं। ड्रेस्डन संग्रहालय का चित्र-संग्रह संसार में सर्वोत्तम है। इसके अतिरिक्त वहाँ छोटे बड़े कई संग्रहालय हैं।

रूस में भी कला संग्रहालय खुल चुके हैं। यद्यपि राज्यक्रान्ति के समय बहुत सी अमूल्य वस्तुएँ नष्ट हो गई हैं, फिर भी बची-खुची वस्तुओं से अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया गया है। मॉस्को के ट्रेटिकोव संग्रहालय को एक वर्ष में लगभग ३ लाख मनुष्यों ने देखा था। वहाँ के संग्रहालयों में देखने का बड़ा अच्छा प्रबन्ध है। यदि सब लोग एक ही बार संग्रहालयों को देखने के लिए आयें तो प्रबन्धकों को असुविधा का होना स्वाभाविक है। इस असुविधा को रोकने के लिए प्रत्येक दर्शक को कुछ दिन पहिले क्यूरेटर को सूचना देनी पड़ती है। इस प्रकार सब दर्शक संग्रहालय को अच्छी तरह देख तथा समझ लेते हैं। वहाँ के दर्शक नीच से लेकर उच्च वर्ग तक के होते हैं। १९१७ से पहिले यह बात नहीं थी।

इङ्गलैण्ड में भी संग्रहालयों की कमी नहीं है। लन्दन का ब्रिटिश म्यूज़ियम इस समय प्रबन्ध के लिए सर्वोत्तम समझा जाता है। दर्शकों को वहाँ प्रत्येक प्रकार से सुविधा रहती है। प्रत्येक विभाग के संरक्षक दर्शकों को सूचना देने के लिए तत्पर रहते हैं।

पाश्चात्य देशों के साथ तुलना करने पर विदित होता है कि भारतीय संग्रहालयों का असली रूप क्या है और किस हद तक मारखम, हरग्रीव्ज़ की रिपोर्ट सत्य है। इससे यह भी मालूम होता है कि हमारा सांस्कृतिक आन्दोलन जीवित या सुप्त अवस्था का है। इस ओर सेन्ट्रल गवर्नमेंट उदासीन रही है। अभी तक इस कार्य्य के लिए ७·२० लाख प्रतिवर्ष सेन्ट्रल गवर्नमेण्ट से मिला करता है। सर गिरिजाशङ्कर बाजपेयी स्वयं स्वीकार करते हैं कि यह धन यूरोप के किसी बड़े नगर के संग्रहालय एक के लिए पर्याप्त नहीं। फिर यहाँ के धनी-मानी लोग भी इस ओर ध्यान नहीं देते। बहादुरसिंह सिंघी, जे० एन० ताता, पूर्णचन्द्र नाहर ही ३-४ ऐसे महान व्यक्ति थे जिन्होंने बड़े परिश्रम से वस्तुओं का इकट्ठा कर सुन्दर संग्रहालय स्थापित किए हैं। जर्मनी में इस समय कई सुन्दर निजी संग्रहालय हैं। स्टैडेल बैंकर द्वारा स्थापित निजी संग्रहालय इस समय वहाँ पर सर्वोत्तम संग्रहालय है। यह धारणा है कि इस समय संसार के १५ करोड़पतियों में से ५ करोड़पति भारत के निवासी हैं। अमेरिका में एक करोड़पति की हैसियत से मरना लज्जाजनक समझा जाता है। क्या इन पाँच करोड़पतियों में से कोई भी इतना उदार नहीं, जो कला-संग्रहालयों के स्थापन के लिए कुछ रुपया दे सके? जहाँ वैज्ञानिक उन्नति तथा अन्वेषण के लिए सर जगदीशचन्द्र बोस, ताता, पालित तथा भटनागर ने लाखों रुपया दिया है, वहाँ कला-उत्थान के लिए अभी तक किसी ने भी कुछ धन देने का साहस नहीं किया है। एक आदर्श सभ्य राष्ट्र के लिए यह आवश्यक है कि उसके नागरिक सौंदर्य से प्रेम करें और अपने को योग्य समझ कर संसार को सौंदर्य प्रेम सिखलायें।

यह कहना भ्रान्तिमूलक सा है कि कुछ लोगों में कला-प्रेम स्वाभाविक होता है। कुछ हद तक यह धारणा सत्य है। भारतवर्ष में सैकड़ों ऐसे व्यक्ति हैं जिनको चित्रों या आश्चर्यजनक वस्तुओं को देखने का अवसर ही नहीं मिलता। यदि प्रत्येक प्रदेश में एक-एक संग्रहालय स्थापित हो, तो संभवतः लोगों को अपने कला-प्रेम को दिखलाने का अवसर मिले। लङ्का द्वीप निवासियों के लिए कहा जाता था कि उनमें कला के महत्व को जानने की शक्ति नहीं है। समालोचकों की धारणा कुछ ठीक भी थी, क्योंकि छठी शताब्दी के बाद (सिगिरिया चित्रों का निर्माण-काल) के बाद लङ्का में कोई भी कला-जागृति न दिख पड़ी। किन्तु जब १९३४ ई० में टैगोर के 'शाप मोचन' का अभिनय व बङ्गाल स्कूल के चित्रों का प्रदर्शन वहाँ किया गया तो लङ्का-निवासियों ने अपने अन्तर्हित

कला-प्रेम को प्रदर्शित किया। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि अवसर मिलने पर वे कला से प्रेम कर सकते हैं। यही दशा गरीब भारतीयों की भी है। सड़े व गन्दे मकानों से बाहर निकल कर और कलात्मक वस्तुओं को देखकर वे अपना कला-प्रेम प्रदर्शित कर सकेंगे। इस कारण यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रदेश के प्रधान केन्द्र में संग्रहालय स्थापित किये जायँ। लेकिन दो करोड़ स्क्वायर मील के क्षेत्रफल वाले देश में यह कार्य उठाना सरल नहीं है। इस प्रस्ताव को प्रयोग में लाने के लिए सैकड़ों वर्षों की आवश्यकता होगी। किन्तु लगन व साहस से महान से महान कार्य भी पूर्ण हो सकते हैं। सेन्ट्रल गवर्नमेंट को तो इस दिशा में प्रयत्न करना ही चाहिए। प्रान्तीय सरकार को भी अपने बजट में इस कार्य्य के लिए कुछ रुपया रखना चाहिए। इससे भी बड़ा कार्य भारतीय लोगों के हाथ में है। वे केवल धन ही से नहीं, किन्तु अपनी रुचि से भी इस महान कार्य्य में सहायक हो सकते हैं। इलाहाबाद म्यूनिसिपल म्यूज़ियम के जन्मदाता रायबहादुर पण्डित ब्रजमोहन व्यास की लगन किसको विदित नहीं है। गत ५ वर्षों में उन्होंने इस म्यूज़ियम के लिए प्राणपण से कोशिश कर इसे बहुत ही उन्नत बना लिया है। उनका उदाहरण लेकर क्या अन्य भारतीय म्यूनिसिपैल्टियाँ भी ऐसे ही संग्रहालय स्थापित नहीं कर सकती हैं?

क्यूरेटर पर ही म्यूज़ियम की अवनति, उन्नति अवलम्बित रहती है। क्यूरेटर को अपने कार्य में कुशल होना चाहिए। इन लोगों की शिक्षा का कोई भी प्रबन्ध भारत में नहीं। अब गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक व्यक्ति को क्यूरेटरी की शिक्षा के लिए यूरोप भेज रहा है। भारत लौट कर सम्भवतः वह म्यूजियमों का स्टैंण्डर्ड बढ़ा सके। नुमायशी वस्तुओं की पट्टियों पर अगर हिन्दी में भी लिख दिया जाय तो वह भारतवासियों के लिए हितकर होगा। मि० अग्रवाल ने मथुरा म्युज़ियम में पट्टियों पर हिन्दी को भी स्थान दिया है, यह प्रयत्न अवश्य सराहनीय है। आजकल के यशस्वी डायरेक्टर जनरल ऑफ़ आर्कियोलोजी, रा० ब० पण्डित काशीनाथ दीक्षित यह प्रयत्न कर रहे हैं कि गाइड पुस्तकें हिन्दी में भी प्रकाशित की जायँ। दीक्षित महाशय कला संग्रहालयों को और सार्वजनिक बनाने की चेष्टा कर रहे हैं।

हम लोग अपने को पूर्ण रूपेण सभ्य तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि हम अपनी परम्परा तथा संस्कृति के महत्व को न समझें। दुख के दिन आने पर मनुष्य सुख तथा समृद्धि के दिनों को याद करके ही कुछ सन्तोष प्राप्त कर लेता है। इस गिरी हालत में रह कर जब हम अपने प्राचीन गौरव का ध्यान करते हैं तो हमारे हृदय में एक मीठी सी हूक उठती है। उस काल का, जब कि भारत समस्त संसार का सांस्कृतिक गुरु था, सारा चित्र हमारे सम्मुख खिंच जाता है। जीवन की छोटी-छोटी समस्याओं को हम कुछ देर के लिए फिर भूल जाते हैं। संग्रहालयों में हम मानव उद्यम की पराकाष्ठा व मनुष्य-जीवन की नश्वरता को देखते हैं।

भारतीय पुरातत्व विभाग के जन्मदाता लार्ड कर्ज़न ने १९०० ई० में एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल में भाषण देते हुये कहा था—

Compared with the antiquity of Assynian or Egyptian, or even of early Europeon monuments, the age of the majority of Indian monuments is not great......We have no building as old as the paratheon of Athens; the larger majority are young compared with the Colesium at Rome.

किन्तु समय और इतिहास ने इस धारणा को निर्मूल प्रमाणित कर दिया है और आज हम संसार को यह बता सकते हैं कि ६००० वर्ष पूर्व हमारा देश कितना उन्नतिशील व सभ्य था। हम आशा करते हैं कि निकट भविष्य में हमें इससे भी पुरानी सभ्यता के चिन्ह प्राप्त होंगे। इन स्थानों पर मिली या मिलने वाली वस्तुओं की रक्षा कितनी आवश्यक है, यह किसी हिन्दुस्तानी से छिपा नहीं है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति, केंद्रेय या प्रांतीय सरकार तथा राजा-महाराजाओं का कर्त्तव्य है कि वे संग्रहालयों के स्थापन के पुण्य कार्य में हाथ बँटावें।

प्रेम

[श्री० इन्द्रनाथ आनन्द, एम० ए०]

वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है कि ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ विद्युत् का बना हुआ है। यह भौतिक विद्युत् दो विपरीत (Positive और Negative) प्रकार की होती है, जिनके परस्पर समीप आने पर दोनों में एक प्रबल आकर्षण होता है, अग्नि की एक ज्वाला निकलती है और तीव्र प्रकाश हो उठता है। वैज्ञानिकों के समान मनोवैज्ञानिकों का भी सिद्धान्त है कि जैसे भौतिक पदार्थों में विद्युत् होता है वैसे ही चेतन प्राणियों—पशु-पक्षियों और मनुष्यों आदि में भी एक प्रकार का विद्युत् होता है, जिसे आध्यात्मिक विद्युत् (Spiritual Electricity) कहा जा सकता है। यही विद्युत् विपरीत लिङ्गों में आकर्षण का कारण है और इस आध्यात्मिक विद्युत् के आविर्भूत या प्रकट होने का नाम प्रेम है।

दो प्राणियों में विद्यमान इस आध्यात्मिक विद्युत् के आविर्भूत होने के समय जो दिव्य प्रकाश होता है उसमें अदृष्टपूर्व वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, कई अननुभूत-पूर्ण भावनाओं का अनुभव और कई अज्ञातपूर्ण घटनाओं का ज्ञान होता है। पहली बार ऐसे व्यक्तियों को एक नये जीवन का अनुभव होने लगता है। साधारण लोग तो अन्ध-विश्वास और परम्परा के अनुसार ही ईश्वर और स्वर्ग में विश्वास करते चले आ रहे हैं, परन्तु वास्तव में यदि कोई प्राणी इस मर्त्यलोक में ईश्वर और स्वर्ग का अनुभव कर सकता है, तो वह प्रेमी ही है। स्वर्ग आदि का दिव्य अनुभव वे परस्पर एक दूसरे में कर पाते हैं। एक अङ्गरेज फिलासफर ने ठीक लिखा है :—

"एक युवक को, जिसके पास तपस्या का बल नहीं है, ज्ञान का भण्डार नहीं है, योग का साधन नहीं है, उसे यदि इस पृथ्वी पर कहीं शीघ्र ही दिव्य दर्शन हो सकते हैं तो वह केवल अपनी प्रेमिका में।"

अङ्गरेजी में जो यह कहा गया है कि प्रेम अंधा है उससे साधारण लोगों को भ्रम हुआ है और वे इसका यह अर्थ समझने लग गये हैं कि यह भावना घृणित चेष्टा है, जो कि विवेक का नाश कर देती है। एक आधुनिक विद्वान ने इस भ्रम को दूर करने के लिए लिखा है कि प्रेम एक ऐसा तीव्र एवं दिव्य प्रकाश है, जिसे देख कर मर्त्य लोक का प्राणी चौंधिया सा जाता है। प्रेमी को प्रेमपात्र के शरीर और आत्मा में जो अद्भुत प्रकाश दिखाई देता है वही उसे कुछ देर के लिए अंधा कर देता है, पागल बना देता है। ख्याल कीजिए कि आपकी आँखों के पास एकदम १००० कैण्डल पावर का जलता हुआ बल्ब रख दिया जाता है। परिणाम क्या होगा ? यही कि आप उसके तीव्र प्रकाश को तो देख सकेंगे, परंतु उसके अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देगा। दूसरी दिशा में आपको गाढ़ अन्धकार प्रतीत होगा। यही नहीं, बल्कि उस बल्ब के हटा लिये जाने पर भी आपको बहुत देर के लिये कुछ दिखाई नहीं देगा। बस ऐसी ही दशा प्रेमी की होती है। प्रेमपात्र से उत्पन्न होने वाले दिव्य प्रकाश से उसके मानसिक नेत्र चौंधिया से जाते हैं और उसे उस ज्योतिर्मय के अतिरिक्त दुनिया का कोई अन्य पदार्थ, अन्य प्राणी मालूम ही नहीं होता। उसके परिमित क्षेत्र के बाहर या उसके विरह में प्रेमी का संसार सूना और अन्धकारमय हो जाता है।

इस आकर्षण का उदय जितना सुन्दर है, उतना ही पवित्र भी है। तनिक कल्पना कीजिए उस मधुर समय की, जब कि स्वाभाविक एवं ईश्वर-प्रदत्त लज्जा के

कारण दो मुग्ध व्यक्ति एक दूसरे के सामने आने से लज्जित होते हैं, जब अत्यन्त उत्कण्ठा होने पर भी, एकांत में चिन्तन करते रहने पर भी वे एक दूसरे के सामने होंठ तक नहीं हिला सकते, अपने विकल मानसिक उद्गार शब्दों द्वारा प्रकट करने का साहस नहीं कर सकते, जब कि उत्पात् करने और मर्य्यादा का उल्लङ्घन करने की ओर इनका ध्यान जा ही नहीं सकता ? कितनी मधुर सुन्दर और पवित्र कल्पना है ! उस समय वे भोले प्राणी तमाम दुनिया को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं, उस समय एक दूसरे से बलात् दूर रहने पर या रखे जाने पर वे स्वभावतः एक स्वर्ग की कल्पना करने लग जाते है, आकाश में दिव्य भवन निर्माण करने लग जाते हैं, जिनमें वे समझते हैं कि उन दोनों के सिवाय कोई नहीं होगा, कोई नहीं आ सकेगा, और तब वे बिना किसी सङ्कोच और भय के एक दूसरे में लीन हो सकेंगे ।

प्रेम के उदय से पहले प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति इस आकर्षण से घृणा करते हैं ! एक दूसरे के प्रति अविश्वास सा होता है, कुछ घृणा भी होती है और हरेक दूसरे को नीच, हीन और क्षुद्र समझता है। परन्तु अचानक जब इस भावना का उदय होता है तब वे भेद-भाव, घृणा और अविश्वास काफ़ूर हो जाते हैं। उस समय दोनों ही प्रेमहीन जीवन की अपूर्णता को अनुभव करने लग जाते हैं। साथ ही उन्हें अपने समीप एक ऐसा व्यक्ति दिखाई देने लगता है, जिसे उस अपूर्ण जीवन को सर्वाङ्ग सम्पूर्ण बनाने के लिये मानो ईश्वर ने वहाँ ला रखा हो। पहले जो हृदय शुष्क और नीरस थे, उनमें न जाने अब कहाँ से उन्माद और रस का स्रोत उमड़ पड़ता है। साधारण उन्माद की भाँति इस उन्माद में भी मनुष्य अपने शरीर को भूल जाता है। वेश-भूषा और शृङ्गार की ओर उसका ध्यान नहीं जाता, और लोग उसे पागल ही समझने लग जाते हैं। परन्तु वास्तव में प्रेम और साधारण पागलपन एक ही बात नहीं। इन दोनों में महान् अन्तर है। तथापि इनमें समानता अवश्य है। पागलपन में जहाँ मनुष्य का मानसिक एवं आध्यात्मिक पतन होता है, वहाँ प्रेम में मानसिक तथा आध्यात्मिक उत्थान होता है। परन्तु दोनों अवस्थाओं में शरीर की समान रूप से उपेक्षा हो जाने के कारण बाहर से प्रेमी और पागल एक जैसे ही दिखाई देते हैं।

यह एक दिव्य अनुभव है, जो संसार में हरेक को प्राप्त नहीं होता, और जिनको प्राप्त होता है, जीवन भर में एक बार ही प्राप्त होता है। यह उन्माद जीवन में एक ही बार उठा करता है, दूसरी बार नहीं। इसकी ज्वाला एक बार ही अपना दिव्य प्रकाश कर जाती है। अर्थात् इस के प्रथम उदय में जितना प्रबल आकर्षण कोई किसी के लिए अनुभव करता है, उतना वह फिर जीवन पर्यन्त किसी दूसरे के लिए अनुभव नहीं करता। एक आकर्षण नष्ट होने पर जब दूसरा अनुभव होता है, तब वह प्रेमाभास होता है। उसमें न पहले सा उन्माद होता है, न पहले सी तड़प होती है, न वह तीव्र ज्वाला होती है।

जब प्रेम अभी नया होता है तो सन्देह और सन्देह-निवृत्ति का ताँता सा लगा रहता है। कई बार उनमें से एक दूसरे की परीक्षा करने की चेष्टा करता है। ग़लतफ़हमियों की यह संभावना ही मनुष्य-जीवन की भारी और मुख्य त्रुटि है। इस आकर्षण की परीक्षा करना केवल मूर्खता है। यह वह अलौकिक पदार्थ है, जिसकी परीक्षा किसी लौकिक साधन से नहीं हो सकती।

कुछ समय के बाद आकर्षण जब परिपक्व हो जाता है तब एक चमत्कार होता है। उस समय शरीर और आत्मा में भेद नहीं रहता। तब दो व्यक्ति परस्पर शारीरिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य में भेद नहीं कर सकते। वे उन दोनों को पृथक्-पृथक् अनुभव नहीं कर सकते। उन्हें शरीर में मांस और अस्थि का अनुभव होने के बजाय अङ्ग-अङ्गव्यापी एवं सवाक् आत्मा का अनुभव होता है। तब मानो भौतिक शरीर सर्वथा आत्मामय हो जाता है। परन्तु ऐसा अनुभव सदा नहीं रहता। कभी-कभी कुछ क्षणों के लिये ही होता है।

इस आकर्षण के कारण दो व्यक्ति दिव्य रूप धारण कर लेते हैं। प्रत्येक अनुभव करता है कि

उसका प्रेमपात्र साधारण नहीं, बल्कि दिव्य प्राणी है, कोई स्वर्गीय है, अनुपम-रूपवान है, सर्वाङ्ग सुन्दर है। उसकी एक-एक क्रिया का उसे कोई दिव्य अभिप्राय प्रतीत होता है। परन्तु वह आखिर है तो इन्सान उसमें त्रुटियाँ और कमजोरियाँ भी जरूर हैं। वह उन सब को नजर अन्दाज़ कर देता है। ऐसा करने से उसके भाव उदार होने लगते हैं, मन का सङ्कुचित भाव दूर होने लगता है, सहनशीलता बढ़ जाती है, बचपन के पहले की सङ्कीर्णता, घृणा, ईर्षा और द्वेष सब लुप्त हो जाते हैं। उसका फल यह होता है कि प्रेमी भी साधारण मनुष्य से ऊँचा उठ कर दिव्य सा हो जाता है, देवता बन जाता है। प्रेमियों और साधारण मनुष्यों में आकाश-पाताल का अन्तर है। यदि साधारण मनुष्य मिट्टी के टिमटिमाते दीपक हैं, तो प्रेमी आकाश के चमकते हुए सितारे हैं।

यह तो हुई उस साधारण आकर्षण की चर्चा, जिसका अनुभव साधारण मनुष्य कभी कर लिया करते हैं। परन्तु इससे बढ़ कर उसकी एक और उन्नत अवस्था है, जिसका अनुभव महान् आत्माओं को ही हुआ करता है।

यह कैसे भुलाया जा सकता है कि जीवन केवल मधुर कल्पनाओं का ही बना हुआ नहीं है? बल्कि एक अनन्त सङ्घर्ष और दुःख की कहानी है। हवाई क़िले हमें कभी-कभी उन्मत्त चाहे कर दें, परन्तु सांसारिक दुःखों से हमारी रक्षा नहीं कर सकते। जीवन में ऐश और आराम सबको नहीं मिलते और सदा नहीं रहते। जब भयङ्कर जीवन शुरू होता है, जब चारों ओर आपत्तियों की लगातार वर्षा होती है, तब प्रेम का वास्तविक एवं उज्ज्वलतर स्वरूप प्रकट होता है या उसका बिल्कुल लोप हो जाता है। तभी महान् और साधारण व्यक्तियों के प्रेम का भेद स्पष्ट होता है। साधारण मनुष्य अपने आपको या अपने प्रेमपात्र को सांसारिक दुःख की आग में जलता देख कर घबरा उठता है। वह मूर्खता से पछताता है और उस दिव्य ज्वाला को बुझाने की चेष्टा करता है। वे मूर्ख समझ नहीं पाते कि दुःख तो जीवन और प्रेम का आवश्यक और अनिवार्य अङ्ग है, दुःख के बिना जीवन अपूर्ण है और यह कि दुःख और आपत्ति को शान्तभाव से सह जाने से उनकी आत्मा उन्नत हो जायगी और वे साधारण मनुष्यों से ऊँचे उठ जायेंगे। राम और सीता का प्रेम महान् है। यहाँ दो व्यक्ति की एक दूसरे के साथ साधारण व्यक्तियों जैसी सहानुभूति नहीं। राम ने सीता को या अपने आपको दुःख से, संताप से बचाने की व्यर्थ चेष्टा नहीं की। बल्कि राम ने दिव्य भाव से, तटस्थ और मौन भाव से सीता के शरीर को भौतिक अग्नि में और अपने आपको मानसिक संताप की अग्नि में भेंट कर दिया। कोई साधारण व्यक्ति यह कभी नहीं कर सकता था। इस दुहरी अग्नि-परीक्षा के कारण राम ने सीता के चरित्र को अधिक उज्ज्वल बना दिया, और अपनी आत्मा को अधिक उन्नत कर दिया है।

संसार की इन स्वाभाविक आपत्तियों में, इस स्वाभाविक अग्नि में यदि स्नेही जलते हैं तो उन्हें जलने दिया जाय। क्योंकि यदि वे एक दूसरे को इस जलन से बचाने की चेष्टा करेंगे तो वे प्रेम की दिव्य एवं दुर्लभ ज्वाला को बुझा देंगे, प्रेम अपने आध्यात्मिक जीवन का द्वार सदा के लिये बन्द कर देंगे। यदि मनुष्य उच्च जीवन का अनुभव करना चाहता है, यदि वह देवता बनना चाहता है तो उसे इस अग्नि से एक बार जरूर गुजरना होगा। यह सर्वथा अनिवार्य है।

आरम्भ का या साधारण व्यक्तियों का आकर्षण सङ्कुचित होता है और केवल प्रेम-पात्र में केन्द्रित होता है। इसके विपरीत अन्त का या महान् व्यक्तियों का प्रेम संकीर्णता को छोड़ कर उदार हो जाता है। एक प्राणी से शुरू होकर वह आकर्षण समस्त प्राणीमात्र के लिए फैल जाता है। परन्तु याद रहे कि विश्व-प्रेम की उन्नत अवस्था तक कोई कदापि पहुँच नहीं सकता, यदि उसने पहले किसी एक व्यक्ति का आकर्षण न जाना हो। व्यक्ति-प्रेम विश्व-प्रेम के ऊँचे शिखर की पहली सीढ़ी है। दो व्यक्ति जो शुरू-शुरू में संसार से विमुख होकर अपना एक नया संसार बना कर रहने की कल्पना करते थे, जहाँ दूसरों का प्रवेश न हो, जो अन्य लोगों को घृणा और अविश्वास की दृष्टि से देखा करते थे, बाद में वे इतने उदार और उन्नत हो जाते हैं कि तमाम विश्व उन दोनों के प्रेम का

पात्र बन जाता है, उन का साधारण प्राणियों के प्रेम-स्रोत में एक बार इतनी बाढ़ आ जाती है कि समस्त संसार उससे आप्लावित हो जाता है। तब क्या शत्रु, क्या मित्र; क्या पशु क्या पक्षी––तमाम चराचर जगत् उनके प्रेम से तृप्त हो उठता है। तभी तो एक विद्वान ने कहा है—"To love one is ultimately to love all" अर्थात् व्यक्ति-प्रेम विस्तृत होकर अन्त में विश्व-प्रेम का स्वरूप धारण कर लेता है।

आश्वासन

[श्री० वैजनाथसिंह "विनोद"]

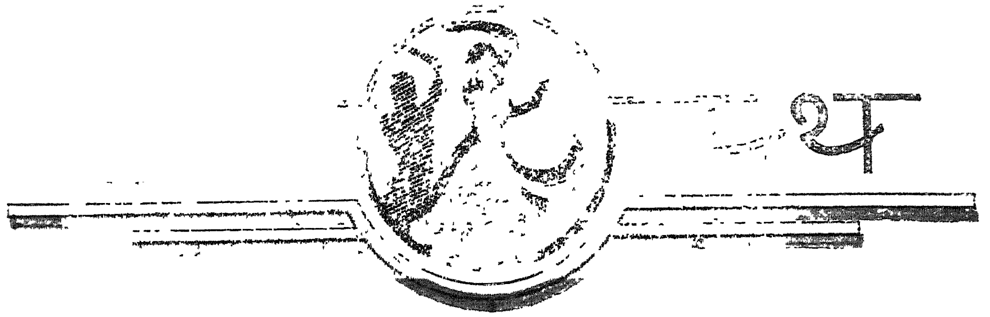
आज जीवन में सजनि तुम,
घुल हुई चन्दन मयी हो !
प्राण की गति में सजगता,
हृदय में स्पन्दन मयी हो !

नयन पथ में छबि सरस हो,
हैं छके ये नयन जिसमें,
स्मरण में चिन्तन मधुर तुम,
आत्म-विस्मृति पुलक जिसमें ;

व्योम सी विस्तीर्ण हो तुम;
क्यों पुनः संकीर्ण हो तुम ?
सखि सजन के निकट क्यों तुम,
हो रही उलझन मयी हो ?

काँपती हो देख प्रेयसि,
विश्व की गति शृङ्खला को;
प्रेम-पंकज पर तुहिन सी,
नियति की निर्मम कला को !

हृदय में कुछ धृति धरो प्रिय;
नेह-रस-वश तप करो प्रिय ?
मिलन ध्रुव निश्चय सनेही !
यों न तुम क्रन्दन मयी हो !



सिनेमा-प्रवेश

सिनेमा-प्रवेश और स्टुडियो के वातावरण के सम्बन्ध में कितने ही लेखकों ने क़लमें चलाईं। कोई इसके बिलकुल विरुद्ध है, कोई साधारणतः अच्छा और कोई इससे भिन्न बतलाता है। पर वहाँ की असली हालत का पता तो उसमें रहने वालों ही से लग सकता है। देखिये 'चित्रपट' में श्रीमती प्रभा ने इस विषय पर अपनी क्या राय दी है। श्रीमती प्रभा एक इज्जतदार घराने की लड़की हैं। आप श्री अमर शहीद श्रद्धानन्द के खानदान और श्रीसत्यकाम जी भूतपूर्व 'अर्जुन' सम्पादक के परिवार की हैं।

"जो बहिनें सिनेमा को यश और धन की अक्षय-अमित खान समझती हैं, वे भूलती हैं। मैं उन्हें सावधान कर देना अपना कर्त्तव्य समझती हूँ। उन्हें समझ लेना चाहिये कि न तो सिनेमा-सञ्चालक उनके लिये पलकें बिछाये बैठे है, और न उनके प्रवेश पाते ही जनता उनका अभिषेक करने को टूट पड़ेगी। सिनेमा के क्षेत्र में और जनता के दिल में स्थान पाने के लिये उन्हें वैसी ही क़ुर्बानियाँ करनी पड़ेंगी, जैसी कि अन्य क्षेत्रों में करनी पड़ती हैं। सफलता के शिखर पर पहुँचने के पूर्व, सङ्घर्ष के बीहड़ जङ्गलों में से गुज़रना पड़ेगा। लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अटूट तप करना होगा। कुलीनता बहुत दूर तक साथ न देगी। कहीं वह रास्ते की रुकावट न बन जाय; इसलिये उसके मिथ्या अहङ्कार को संयम में रखना पड़ेगा। क़िताबी शिक्षा सहायक नहीं बनेगी। सौन्दर्य्य क्या करेगा, यदि साधना से उसे क्रिया-सम्पन्न न बनाया गया। निष्क्रिय सौन्दर्य्य निकम्मा हो जायगा। इनके अतिरिक्त ऐसी सैकड़ों व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं, जो सिनेमा के चमकते हुए शिखर पर पहुँचने से पूर्व झेलनी पड़ेंगी।...... इन सबों को निभाने के लिये असाधारण इच्छा-शक्ति और अतुल कर्मण्यता की आवश्यकता है। अज़हद क़ुर्बानी करनी पड़ेगी।......निर्दोष वातावरण रखने का दम भरने वाली कम्पनियों की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है। गृहस्थ स्त्रियों को केवल इन्हीं कम्पनियों के साथ सहयोग देना चाहिये। मगर इनकी संख्या ही कितनी है? कितनी औरतें इनमें स्थान पा सकेंगी।......मैं सिनेमा-प्रवेश-इच्छुक बहनों से निवेदन करती हूँ, कि वे परिस्थितियों को ख़ूब पहचानने के बाद ही, इसमें पदार्पण करने की चेष्टा करें।"

यह अनुभव है एक सभ्य महिला का, जो बम्बई के स्टुडियो में काम करती है। यह एक उच्च घराने की स्त्री है। आन्दोलन के समय कॉङ्ग्रेस का साथ देने पर जेल गयी। जेल से आने पर सिनेमा-संसार में घूम रही है, और अपने कटु अनुभवों को लोगों को बतला रही है। इस पर भी लोगों को होश न आवे तो किसका दोष?

अभी वह समय नहीं आया, जब कि भले घराने के पढ़े-लिखे आदमी इसमें भाग लें। अगर वे लोग ऐसी

परिस्थिति में भाग लेते हैं, तो इसका परिणाम क्या होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं। प्रसिद्ध साहित्यिक उपन्यास-सम्राट स्वर्गीय प्रेमचन्द जी ने इसमें भाग लिया, पर वे सफल न हो सके। उन्हें लाचार इसे छोड़ना पड़ा। जब इस क्षेत्र में प्रेमचन्द जी, सुदर्शन जी, आदि अच्छे साहित्यिकों ने पदार्पण किया, तो इस बात का जिक्र श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने कवीन्द्र रवीन्द्र से किया कि हमारे सर्वश्रेष्ठ कलाकार सिनेमा-जगत की ओर झुक रहे हैं। उन्होंने खेद के साथ दबी जबान में कहा—यह तो सरस्वती का मन्दिर छोड़कर कुबेर के मन्दिर की ओर जाना है। हमें डर है कि वहाँ का वायुमण्डल उनके उपयुक्त न होगा। आखिरकार वही हुआ, प्रेमचन्द जी को इस क्षेत्र से हटना ही पड़ा, और सुदर्शन जी की जो गति "भाग्य-चक्र" को लेकर बङ्गालियों ने की वह लोक-विदित है। ऐसी हालत में कैसे अपने भाई-बहनों को इसमें भाग लेने की सलाह दे सकते हैं। हम इस विषय में बहुत से उदाहरण और भी दे सकते हैं।

एक शिक्षित और अनुभवी पुरुष की राय पढ़िये—"बम्बई आने से पहले मैं समझता था, फ़िल्म स्टुडियो स्वर्ग के सदृश होगा, जहाँ कला के पुजारी अपनी महान साधना द्वारा ऐसी वस्तु का निर्माण करते हैं, जो मनीषी और भावुक जनता के मस्तिष्क और हृदय को आन्दोलित करने को अद्भुत और चमत्कारपूर्ण क्षमता रखती है। किन्तु कैसे बतलाऊँ कि वह समझ कितनी भ्रमात्मक निकली। जिस साधन को विदेशों ने आज निर्म्माणात्मक प्रचार का वृहत्तम साधन बना रखा है, उसका उपयोग भारत में किस लिये और किस रूप में हो रहा है! यह देखकर देश, समाज, धर्म और मनुष्यता के हितैषियों को परिताप हुए बिना नहीं रहेगा।

"यदि हम निर्भीक होकर और बिना किसी प्रकार की चापलूसी और लल्लो-चप्पो का ख्याल किये, फ़िल्म स्टुडियो के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करना चाहें, तो बेधड़क कर सकते हैं, कि ये आधुनिक युग के 'शैतान के अखाड़े' हैं। रोषाविष्ट होकर या किसी एक कम्पनी अथवा व्यक्ति को लक्ष्य बना कर यह बात नहीं कही जा रही है, और न कही जा रही है केवल आधार-शून्य कल्पना के बल पर ही। यहाँ पर शैतान के अखाड़े की हरेक वस्तु पर्याप्त रूप में मौजूद है।..."

—श्री ठाकुर राजबहादुरसिंह (चित्रपट)

बम्बई में मेन रोड, दादर पर अनेक सिनेमा कम्पनियों में एक 'विजय-पिक्चर्स' का भी आफ़िस है। उसके कर्णधार हैं मि० हेनरी डार्गविज। उनसे श्री शम्भूरत्न दुबे ने मुलाक़ात की। दूबे जी ने उनसे सिनेमा व्यवसाय के कई प्रश्न किये। उन्हें यथोचित उत्तर भी मिला। लौटते समय आखिरी बार उन्होंने पूछा—'स्टुडियो के भीतर एक गन्दा वातावरण है'—लोगों की ऐसी धारणा है। क्या यह बात सच है? उन्होंने ज़रा दबी जबान में जवाब दिया—'हाँ, यह बात किसी अंश तक सच है, परन्तु सर्वत्र नहीं है।......' यह कहते-कहते वे अपनी मोटर में बैठ गये। डार्गविज साहब की बातों में कितनी सत्यता का अंश है! कोई अपने व्यवसाय को किसी कारणवश खराब तभी कह सकता है, जब कि उसमें खराबी का पूरा अंश हो।

हाल ही में श्री व्रजबिहारीलाल पंड्या ने इम्पीरियल फ़िल्म कम्पनी बम्बई के प्रसिद्ध खल अभिनेता मि० गुलाम मोहम्मद से भेंट की। कई प्रश्नों के साथ-साथ उन्होंने पूछा कि "स्टुडियो का वातावरण कैसा है?" इस प्रश्न को सुनकर वे ज़रा सोच में पड़ गये। फिर निराशात्मक शब्दों में उत्तर दिया—"स्टुडियो का वातावरण पवित्र नहीं है! हम लोग अपनी माँ-बहिनों को निस्सङ्कोच नहीं आने दे सकते। डॉयरेक्टर, अभिनेता, आदि सभी की दृष्टि में दोष है।" पंड्या जी ने फिर प्रश्न किया—"पारिवारिक स्त्रियों को आना चाहिये कि नहीं?" आपने कुछ झेंप कर उत्तर दिया—"मैंने तो अभी बतलाया है, कि वे यहाँ आकर पवित्र नहीं रह सकतीं। उनकी कला विशुद्ध नहीं रह पाती। वे बलपूर्वक अपने धर्म पर ठहर भी नहीं सकतीं। मुख्य कारण है कि अब तक अधिकतर वेश्याएँ ही इस लाइन में आई हैं। उन्होंने यहाँ भी अपना पेशा नहीं छोड़ा है। इसमें और भी दोष पैदा हो गये हैं। दूसरा कारण यह है कि जब उनके घर की लड़की इसमें प्रवेश करती है, तो उसे अपना नाम फैलाने

के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। अतः उसे डायरेक्टर और मालिक महोदयों की इच्छानुसार चलना पड़ता है।" अन्तिम वाक्य आपने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहा। (चाँद, फरवरी १६३७)

क्या ऐसी स्थिति में भी हम सिनेमा-सञ्चालकों पर विश्वास करते हैं? एक आख़िरी उदाहरण और देकर हम इस विषय पर पाठकों की राय माँगते हैं।

"हमें भारतवर्ष के कुछ प्रमुख अभिनेताओं से मिलने और उनके जीवन का अत्यन्त निकट से अध्ययन करने का अवसर मिला है। इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न-भिन्न कम्पनियों के वातावरण के अनुसार, उनके अभिनेताओं के जीवन में भी अन्तर पाया गया। लेकिन मुश्किल से एकाध व्यक्ति को छोड़कर हमें अच्छे कहे जाने वाले अभिनेता में भी ऐसे दोष दिखाई दिये, जिसके कारण वास्तव में वह समाज के अनुपयुक्त हो गये हैं।

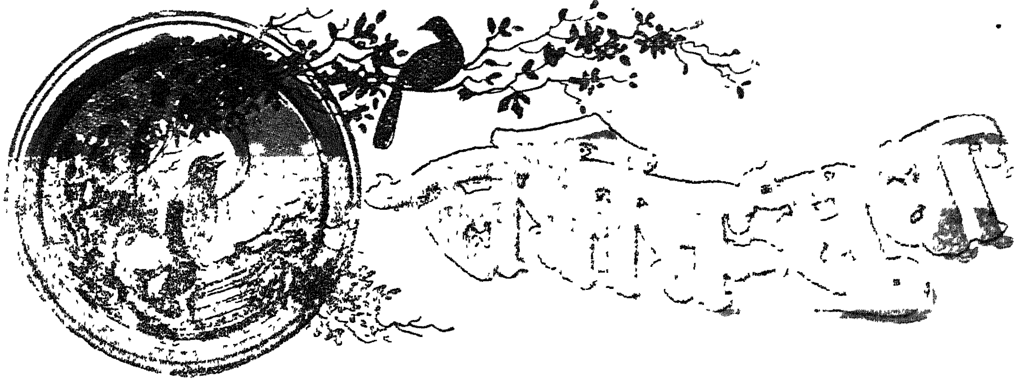
......बम्बई की एक प्रसिद्ध फ़िल्म कम्पनी के मुख्य अभिनेता से हम मिले। दिन में जो उनसे वार्तालाप हुआ, उसमें उन्होंने अपने आदर्श सिद्धान्तों का बड़े प्रभावपूर्ण शब्दों में वर्णन किया। लेकिन शाम को उन्हें ही बम्बई के 'गेट वे आफ़ इण्डिया' पर अपनी खूबसूरत गाड़ी में एक एङ्गलो इण्डियन युवती के साथ बैठे देखा। हमने उनका अभिवादन किया और उन्होंने भी हँसकर हमारा स्वागत किया। तब हँसते हुये हमारा परिचय उन्होंने उस युवती से कराया। इस परिचय में उन्होंने स्पष्ट प्रेयसी (Sweat heart) शब्द का प्रयोग किया।......यह केवल एक घटना है। लेकिन खुद एक ऐसे अभिनेता ने, जो सिनेमा-जगत् में वर्षों पहले प्रवेश पा चुके हैं, और जिनके विषय में हमारी बहुत ही ऊँची धारणा है, अपने सहयोगियों की लीलाओं का वर्णन बहुत ही स्पष्ट रूप में हमारे सामने रखा था। उनका कहना था कि अपने जीवन को उन्होंने बहुत सात्विक बना कर रखा है। किसी व्यसन को पास फटकने नहीं दिया। बुरे लोगों के सम्पर्क से अपने को बचाया। यदि उनके ऊपर कुछ पैतृक क़र्ज़ चुकाने की ज़िम्मेदारी न होती, तो अब से बहुत पहले इस जीवन का परित्याग कर चुके होते।"

—चित्रपट, जून १९३६

इस विषय में प्रमाण काफ़ी मिल चुके हैं। अब ज्यादा प्रमाण देना अनावश्यक सा है। लोग सोचते हैं, सिनेमा लाइन बहुत अच्छी है, काफ़ी वेतन मिलता है, अभिनेता मौज से रहते हैं, पर वे इनके भीतरी जीवन से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। उन लोगों का दिन कैसे कष्ट, और पाप से बीतता है, यह तो अभिनेता ही जानते हैं।

देश के उन होनहार और भावी युवकों से हमारा विशेष रूप से अनुरोध है कि वे इस क्षेत्र में आने की तब तक चेष्टा न करें जब तक कि यहाँ का वातावरण शुद्ध न हो जाय। समय एक सा नहीं रहता। हमेशा परिवर्तन होता ही रहता है। इसलिये जब सिनेमा क्षेत्र का सुधार हो जायगा, तभी वहाँ भले लोगों का प्रवेश समुचित कहा जा सकेगा।

—सरयूप्रसाद प्रेम



स्वरकार—
श्री० एम० डी० आपटे
सङ्गीत-प्रवीण

भूपाली
तीनताल

शब्दकार—
श्री सूरदास

इस राग में म० नी० वर्जित है। बाकी के सब शुद्ध स्वर।

वादी - गंधार, संवादी—धैवत। जाति—औडव, समय—रात का प्रथम प्रहर

आरोहावरोह

सा री ग प ध सा। सा ध प ग री सा।

पकड़

ग री, सा धं, पं धं सा।

गीत

नाथ अनाथन की सुध लीजै।
गोपी ग्वाल गाइ गोसुत सब, दीन मलीन दिनहि दिन छीजै॥
नैन सजल धारा बाढ़ी अति, बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै।
इतनी विनती सुनहु हमारी, बारक हू पतियाँ लिखि दीजै॥
चरन कमल दरसन नव नौका, करुना सिन्धु जगत जस लीजै।
सूरदास प्रभु आस मिलन की, एक बार आवन ब्रज कीजै॥

स्थायी

गप	धसा	ध	प	ग	री	सा	री	प	ग	ग	री	ग	प	गप	ध
नाऽ	ऽऽ	थ	अ	ना	ऽ	थ	न	की	ऽ	सु	धि	ली	ऽ	जैऽ	ऽ
+				३				१				२			

गप	धप	ग	री	सारी	गरी	सा	धं	ऽ	धं	सा	री	ग	प	ग	ग
गोऽ	ऽऽ	पी	ऽ	ग्वाऽ	ऽऽ	ल	गा	ऽ	इ	गो	ऽ	सु	त	स	ब
+				३				१				२			

ग	ऽ	ग	री	ग	प	ध	सा	ध	सा	ध	प	धसा	धप	गरी	सा
दी	ऽ	न	म	ली	ऽ	न	दि	न	हि	दि	न	छीऽ	ऽऽ	जैऽ	ऽ
+				३				१				२			

अन्तरा

ग	ऽ	ग	ग	प	प	सा	ध	सा	ऽ	सा	ऽ	सा	री	सा	सा
नै	ऽ	न	स	ज	ल	धा	ऽ	रा	ऽ	बा	ऽ	ढी	ऽ	अ	ति
+				३				१				२			

ध	ऽ	ध	ध	सा	सा	री	री	सारी	गरी	सा	ध	सा	ध	प	ऽ
वू	ऽ	ड़	त	ब्र	ज	कि	न	कऽ	रऽ	ग	हि	ली	ऽ	जै	ऽ
+				३				१				२			

ध	ग	रीं	ग	सा	सा	री	री	सा	ध	पध	सा	ध	प	ग	री
इ	त	नी	वि	न	ती	सु	न	हु	ऽ	हुऽ	ऽ	मा	ऽ	री	ऽ
+				३				१				२			

सारी	गप	ग	ग	प	ऽ	ध	ध	ध	सा	ध	प	धसा	धप	गरी	सा
बाऽ	ऽऽर		क	हू	ऽ	प	ति	याँऽ	ऽ	लि	खि	दीऽ	ऽऽ	जैऽ	ऽ
+				३				१				२			



[संग्रहकर्ता—कविवर 'बिस्मिल' इलाहाबादी]

था विरदे ज़बाँ[1] [illegible]
आता है बुरे वक़्त में बन्दे को .खुदा याद
जो रञ्ज उठाए हैं वह भूले नहीं जाते
ग़म दिल से सिवा याद है, दिल तुमसे सिवा याद
बन्दे से है क्यों पुरसिशे[3] आमाल[4] इलाही
इनसान को रहती है कहीं अपनी ख़ता याद
रहता है इबादत में हमें मौत का खटका
हम यादे .खुदा करते हैं, कर ले न .खुदा याद
वह सुनते हैं कब दिल से मेरी राम कहानी
फ़रमाते हैं कुछ और भी है इसके सिवा याद

—'दाग़' देहलवी

* * *

चैन आता नहीं दम भर किसी पहलू मुझको
इतनी तकलीफ़ ए दर्द न दे तू मुझको
देख सकते नहीं प्यासा, मेरे आँसू मुझको
रोज़ दे जाते हैं पानी कई चिल्लू मुझको
हूँ वह बुलबुल कभी सयाद को आया जो तरस
फूलों में छोड़ दिया तोड़ के बाज़ू मुझको
मैं जहाँ बैठ के रोता हूँ हँसी होती है
हर जगह करते हैं रुसवा मेरे आँसू मुझको
रूह होती है जो रुख़सत तो यह कहता है बदन
इसी दिन के लिये लाई थी यहाँ तू मुझको

इस तवक्क़ा[5] पे फिरा करता हूँ गुलज़ारों[6] में
कि किसी गुल मे कभी आए तेरी बू मुझको

-'अमीर' लखनवी

* * *

किसी महफ़िल में तुम 'अकबर' अगर चमके तो क्या चमके
सनद जब है कि उभरे ज़िक्रे हक़ नामे ख़ुदा चमके
यह जुगनू भी नई ही रोशनी मे मिलते-जुलते हैं
अँधेरा ही रहा जङ्गल में गो यह जा-बजा चमके

* * *

यह दुनिया रञ्जो-राहत का ग़लत अन्दाज़ा करती है
.खुदा ही .खूब वाक़िफ़ है कि किस पर क्या गुज़रती है
जो हैं अहले बसीरत[7] अक्सर आँखें बन्द रखते हैं
नज़र अच्छे दिलों को भी कभी बदनाम करती हैं

* * *

हो अगर हिम्मते आली[8] दिले आगाह के साथ
ग़ैर मुमकिन है मुहब्बत न हो अल्लाह के साथ
बे बसीरत[9] पे हिदायत ने किया कुछ न असर
है यह अफ़सोस कि आँखें न खुलीं राह के साथ

—'अकबर' इलाहाबादी

* * *

१—हर घड़ी ज़बान पर, २—हाय ईश्वर, ३—पूछगछ, ४—अच्छे बुरे काम ।

५—आशा, ६—बाग़ों, ७—आँखों वाले, ८—जो पहुँचे हुए लोग हैं, ९—बग़ैर आँख वाले ।

आमादा है मरने पे बतङ्ग[10] आए हैं जाँ से
हैं मौत ही बेहतर हमें इस दर्दे निहाँ से
खुलता नहीं कुछ हाल तिलिसमाते जहाँ[11] का
यह लोग किधर जाते हैं, आए हैं कहाँ से
दो रोज़ भी याँ सूरते गुल हँस के न काटे
रोते ही चले हम चमनिस्ताने जहाँ[12] से
कुछ दूर नहीं मुलके अदम[13] पेश नज़र है
दम भर में पहुँच जाएँगे उट्ठे जो यहाँ से

* * *

जुस्तजू[14] जिसकी हो उस शै का पता मिलता है
है मसल सच यह कि ढूँढे तो ख़ुदा मिलता है
नक़्सिये रिज़्क़[15] की नाहक़ है शिकायत ऐ दिल
है जो कुछ अपने मुक़द्दर[16] का लिखा मिलता है
है तलाश उसकी जो ए दिल, तो फ़क़ीरों में देख
सूरतों में इन्हीं लोगों के ख़ुदा मिलता है
शेख़ काबे को चला है तो बिरहमन सूए दैर[17]
देखना तो है किसे उसका पता मिलता है
—'अकबर' दानापुरी

* * *

एक बार हमको जलवए मानी दिखा दे तू।
फिर क्या मजाल हम जो तेरी आरज़ू करें।
तारीकए गुनाह में दें हम सदा तुझे।
बहके हुए क़दम से तेरी जुस्तुजू करें॥
—'मुनौवर' लखनवी

* * *

गुलों का प्यार न कर मुझको ढूँढने वाले।
कि मेरे हुस्न का जलवा हर एक ख़ार में है॥

* * *

इताअत[18] आदमी की आदमी करने पे राज़ी हो।
यह तेरा फ़ैसला ऐ क़ादिरो[19]कौतो मकाँ क्या था॥

१०—तङ्ग आना, ११—संसार की लीला, १२—संसार-वाटिका, १३—परलोक, १४— तलाश, १५—रोज़ी कम मिलती है, १६—तक़दीर, १७— मन्दिर।

हम इतने क़ाफ़िले पर आ गए हैं अहदेमाज़ी[20] से।
ख़बर यह भी नहीं अजदाद[21] का नामो निशाँ क्या था॥
—'रवाँ' उन्नावी

* * *

जिनको पैग़ामे सितम ख़ाली अजल का नाम है
उनसे पूछे कोइ इस दुनिया में क्या आराम है
सुबह को शबनम के मोती बाग़ में चोरी गए
फूल किरनों से यह कहते हैं तुम्हारा काम है
हो गया हूँ सारी दुनिया के गुनाहों में शरीक
जब से मैंने यह सुना है उसकी रहमत आम है
देखना है हुस्न के जलवे तो बुतख़ाने में आ
तेरे काबे में तो बस वायज़ ख़ुदा का नाम है
—'चकबस्त' लखनवी

* * *

हम फ़क़ीरों से ख़फ़ा होके कोइ क्या लेगा
एक घर बन्द हुवा दूसरा घर देख लिया
—'बज़्म' बरेलवी

* * *

तेरे फूले-फले गुलशन की दम भर सैर करता हूँ
कहा ऐ बाग़बाँ किसने गुलों के कान भरता हूँ
ग़लत समझा है तो ऐ शोख़ मैं मरने से डरता हूँ
कोई मरता है जीने पर, तो मैं मरने पे मरता हूँ
—'बदर' आरबी

* * *

बेखुदी में कह रहा हूँ होश अगर आ जायगा
देखने का जो तमाशा है वह देखा जायगा
हज़रते 'बिस्मिल' तड़प कर जान देते हैं बहुत
यह समाँ बे दर्द क़ातिल से न देखा जायगा

* * *

हमको दुनिया के झमेलों का कुछ एहसास नहीं
एक कोने में अलग सबसे जुदा बैठे हैं
—'बिस्मिल' इलाहाबादी

१८—नौकरी, १९—ईश्वर, २०—भूत, २१—बुज़ुर्गों।



इन्दौर के महाराजा की घोषणा

महाराजा इन्दौर ने घोषणा जारी की है कि राज्य के सभी मंदिर हरिजनों के लिए दर्शनार्थ खोल दिये जावें। हरिजन बिना किसी रुकावट के सभी कुओं, सार्वजनिक स्थानों, जलपान-गृहों व सवारी गाड़ियों का उपभोग कर सकेंगे। जहाँ सवर्ण लोग मकान बना सकते हैं वहाँ हरिजन भी मकान बना सकेंगे। घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया है कि महाराजा होलकर यह अनुभव करते हैं कि हिन्दू जाति के एक विशाल अङ्ग को धर्म की दुहाई देकर नहीं सताया जा सकता और नैतिक एवं मानव सिद्धांतों के आधार पर भी उन्हें नहीं सताया जा सकता।

* * *

कायस्थ पंचायत ने विधवा-विवाह स्वीकार किया

जयपुर का समाचार है कि कायस्थ जाति की एक सभा हुई, जिसमें ३०० से अधिक प्रतिष्ठित महानुभावों तथा नवयुवकों ने सम्मिलित होकर पर्याप्त वाद-विवाद के पश्चात् बहुसम्मत से जाति में विधवा-विवाह कराना स्वीकृत किया। केवल दो सज्जन विरुद्ध और २४ तटस्थ थे।

* * *

गले में छुरी मार ली

बनारस के कोतवाली हल्के में मणिराम शर्मा नामक एक ब्राह्मण ने अपने गले में छुरी मार ली। कहा जाता है कि उक्त ब्राह्मण एक आदमी के यहाँ नौकरी करके किसी तरह अपना दिन व्यतीत करता था। उसके चार लड़कियाँ हैं जिनमें एक लड़की की हाल ही में शादी होने वाली है। कहा जाता है कि वह इसी शादी के खर्च के सोच-फिक्र में बड़ा चिन्तित था। इसी चिन्ता से छुटकारा पाने के लिए उसने अपने गले में छुरी मार ली।

एक लाख किसानों का प्रदर्शन

१ मार्च को युक्तप्रान्तीय असेम्बली भवन के सामने प्रान्त के क़रीब १ लाख किसानों ने प्रदर्शन किया। जुलूस क़रीब डेढ़ मील लम्बा था। किसानों ने सरकार के सामने अपनी माँगें पेश करने के लिये यह प्रदर्शन किया। उनकी प्रमुख माँगों में से कुछ ये हैं—लगान और आबपाशी घटाई जावे, किसानों को मौरूसी हक़ मिले, मकान बनाने और बाग़ लगाने का अधिकार हो, बेगार, नज़राना तथा हरी लेने वालों को सज़ा दी जावे। प्रधान मन्त्री ने किसानों के सामने भाषण देते हुए उन्हें आश्वासन दिया कि हम लोगों ने किसानों की तकलीफ़ों को दूर करने के लिए ही मन्त्रिपद स्वीकार किया है। आगे आपने किसानों को धैर्य बँधाते हुए कहा कि सरकार किसानों की तकलीफ़ों को शीघ्र दूर करने के लिए क़ानून बना रही है।

* * *

पाँचवें जार्ज का नौकर सड़क पर भूखों मर रहा है

लखनऊ का समाचार है कि ८० बरस के बूढ़े कल्लन खाँ रजाकी ने २६ साल पहले, जब स्वर्गीय सम्राट पाँचवें जार्ज भारत आये थे, उनकी नौकरी बजायी थी, पर १० बरस से बेकार रहने के कारण आज वह लखनऊ की सड़कों पर भूखों मर रहा है। उसने अपना सब कुछ बेच दिया है, पर अपने पुराने मालिक का फ़ोटो और सर्टिफ़िकेट बेचने से इनकार करता है। उसके पास और भी फ़ोटो हैं, जिनमें से एक ऐसे अफ़सर का है जिसने लिखा है कि मेरी जान अफ़ग़ान युद्ध में कल्लनखाँ खिदमतगार ने बचायी थी।

शिक्षित युवती का पति पर मामला

जैसोर के एक फ़र्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट श्री एस० पी० बनर्जी की अदालत में एक बड़ा ही मनोरञ्जक मामला पेश है। एक शिक्षित मुस्लिम महिला श्रीमती अमीना खातून, म्युनिसिपल कमिश्नर ने अदालत में एक दरख्वास्त ज़ाब्ता फ़ौजदारी की दफ़ा १०७ के अनुसार पेश की है, जिसमें उन्होंने प्रार्थना की है कि उनके पति श्री अब्दुल सलाम, बी० एल० जैसोर म्युनिसिपैलिटी के वाइस चेयरमैन से निश्चित काल तक शान्ति भङ्ग न करने के लिए मुचलके दाखिल कराए जाँय और उन्हें यह आदेश कर दिया जाय कि वे अपनी पत्नी को तङ्ग न करें। श्रीमती अमीना खातून ने अपनी दरख्वास्त में कहा है कि १ नवम्बर को मौलवी अब्दुल सलाम ने मुझे तलाक़ दे दिया। शादी के समय, २,००० रु० की महर बाँधी गई थी। मैंने जब उनसे महर के रुपए माँगे तो उन्होंने मेरा मकान छोड़ दिया। यह मकान मैंने अपने पिता के रुपए से बनवाया था। मेरा मकान छोड़ कर मौलवी अब्दुल सलाम अपने पिता के मकान में जाकर रहने लगे और तब से अक्सर रात को मेरे मकान में मौलवी अब्दुल सलाम तथा उनके साथ के लोग ढेले फेंका करते हैं।

* * *

ग्रामोफ़ोन द्वारा क़ुरान की आयतें

क़ुरान की आयतें ग्रामोफ़ोन द्वारा सुनाना मुसलमानों के धार्मिक भावों को आघात तो नहीं पहुँचाता, यह विचित्र और मनोरञ्जक प्रश्न बङ्गाल-असेम्बली में उठाया गया था। सर नजीमुद्दीन ने जवाब में कहा कि कुछ मुसलमानों को इस पर आपत्ति है, लेकिन साधारणतः मुसलमानों को इसपर कोई आपत्ति नहीं है और यह शरियत के बरखिलाफ़ भी नहीं है।

भू० पू० सब-जज को धोखादेही में सज़ा

लाहौर में ज्ञानसिंह नामक एक भू० पू० सबजज़ तथा एडवोकेट को अतिरिक्त ज़िला मजिस्ट्रेट ने धोखादेही के अपराध में तीन माह क़ैद और २००) जुरमाने की सज़ा दी।

इस्तग़ासे के अनुसार, ज्ञानसिंह ने एक व्यक्ति को सिखाया कि तुम मेरे मृत मकान-मालिक रोशनलाल बन जाओ, ताकि मैं मकान का बयनामा अपने नाम करा सकूँ। परन्तु अभियुक्त की चाल चल नहीं सकी, भेद खुल गया और उसे सज़ा हो गई। अपील की गई है।

* * *

भीषण दुर्घटना

जोधपुर में ३ मार्च की रात को आतिशबाज़ी और बारूद के कारखाने में जोर का धड़ाका हुआ। पत्थर तथा जलती हुई लाल लोहे की कीलें दूर-दूर तक फेंकी गयीं। आग लगी, जिसमे २५ झोपड़ियाँ खाक हो गयीं। पास को पुलिस चौकी की दीवार गिर गयी। ६ घण्टे के कठिन परिश्रम के बाद आग बुझायी जा सकी। सौ से अधिक आदमी घायल हुए, जिनमें ३ की हालत खतरनाक है। टेलीफ़ोन और बिजली के तार टूट गये।

* * *

धोखा देने पर सज़ा

कानपुर के सिटी मजिस्ट्रेट ने ब्लाडदेल नामक एक आदमी को धोखा देने के अभियोग में ६ महीने कड़ी क़ैद की सज़ा दी। उसने कई बड़े व्यक्तियों के पास जाकर कहा था कि मैं शिकागो के आर्ट स्टूडियो का एजेण्ट हूँ और इस तरह फ़ोटो इनलार्ज करने के आर्डर लेकर २५)—२०) पेशगी लिये। अभियुक्त ने पहले शाहजहाँपुर और आगरे में भी लोगों को धोखा दिया था। अभियुक्त ने कहा कि घरेलू तकलीफ़ों के कारण मैंने ऐसा किया।





[सम्पादकीय]

नवीन राष्ट्रपति का अभिभाषण

हरिपुरा कॉङ्ग्रेस के अध्यक्ष पद से सुप्रसिद्ध स्वतंत्रता-उपासक वीर सुभाषचन्द्र बोस ने जो अभिभाषण दिया है, वह हमारी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं पर एक नया प्रकाश डालता है। सुभाष बाबू बहुत वर्षों से विदेशों में निवास कर रहे थे, विभिन्न राष्ट्रों के सूत्र-धारों से परिचित होने और पूर्ण रूप से विचार-विनिमय करने का अवसर भी उनको मिला है। इसलिये वे देश की समस्याओं के साथ ही संसार की राजनीति की गतिविधि से भी भली-भाँति परिचित हैं और उन्होंने इन दोनों बातों का सामञ्जस्य करके ही भारतवासियों के लिये भावी कार्यक्रम का निरूपण किया है। उन्होंने सबसे पहले ब्रिटिश साम्राज्यवाद को यह चेतावनी दी है कि अब वह उस स्थान पर पहुँच चुका है, जहाँ से एकाएक चक्र परिवर्तन होकर उसकी कायापलट या विनाश हो सकता है। इन दोनों में से कौन सी घटना सत्य सिद्ध होगी, इसका आधार अधिकांश में ब्रिटेन की आन्तरिक स्थिति पर ही है। अभी तक वहाँ पूँजीपतियों का ही प्राधान्य है और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये वे प्रायः भेद नीति से काम लेते हैं। यह नीति आरम्भ में लाभ-जनक जान पड़ती है, पर अन्त में उसके जाल में स्वयम् भी फँसना पड़ता है और उसके द्वारा प्रायः उसका उपयोग करने वाले का ही अन्त हो जाता है।

इसके पश्चात् राष्ट्रपति ने भारतीय एकता के प्रश्न पर गम्भीर रूप से विचार किया है और यह स्पष्ट बतलाया है कि हमारा उद्धार तब तक नहीं हो सकता जब तक हम सब भेद-भावों को मिटा कर एक नहीं हो जाते। इसके लिये संक्षेप में आपने अपने विचार इन शब्दों में प्रकट किये हैं :—

"मेरे मन में कुछ भी सन्देह नहीं है कि भारत की दरिद्रता, निरक्षरता और बीमारियों की जड़ उखाड़ने की तथा वैज्ञानिक उत्पत्ति और वितरण की हमारी प्रधान राष्ट्रीय समस्याएँ केवल समाजवाद के अनुसार ही ठीक-ठीक हल की जा सकेंगी। हमारी भावी राष्ट्रीय सरकार का पहला काम, राष्ट्रनिर्माण की विस्तृत योजना तैयार करने के लिये एक कमीशन नियुक्त करना होगा। इस योजना के दो भाग होंगे—एक तात्कालिक और दूसरा दीर्घ कालव्यापी। योजना का प्रथम भाग तैयार करते समय तीन उद्देश्यों को सामने रखना होगा—(१) देश को आत्मरक्षा के लिये तैयार करना, (२) भारत को एकता सूत्र में बाँधना, और (३) प्रान्तीय और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता को पनपने का अवसर देना। दूसरे और तीसरे दो उद्देश्य परस्पर विरोधी मालूम होंगे, पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। एक जाति की हैसियत से जो कुछ राजनैतिक योग्यता और प्रतिभा हम-में हो, उनका उपयोग हम इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति करने में करेंगे। हमें देश को एकता के सूत्र में बाँधना होगा, ताकि हम विदेशी आक्रमण से भारत की रक्षा कर सकें। सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार की सहायता से देश को ऐक्य सूत्र में बाँध कर हमें सब अल्पसंख्यक सम्प्रदायों को और प्रान्तों को सांस्कृतिक स्वाधीनता और शासन-प्रबन्ध में बहुत कुछ स्वतन्त्रता देकर निर्भय कर देना होगा। विदेशी शासन ने हमें इतना गिरा और असङ्गठित कर दिया है कि इसके हटते ही अपनी जाति को एक रखने के लिये हमें विशेष चेष्टा करनी

सुभाष बाबू ने इस एकता का निरूपण करते हुए राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय लिपि के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं वे विशेष रूप से विचारणीय और चौंकाने वाले हैं। उनके कारण हमको हिन्दी-साहित्य-जगत में कुछ बेचैनी नजर भी आने लगी है और सम्भव है, आगे चलकर उनका और भी तीव्र रूप से विरोध किया जाय। इस सम्बन्ध में अभिभाषण का निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय है :—

"राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने के लिए हमें अपनी राष्ट्रभाषा और देशव्यापी एक लिपि की उन्नति करनी होगी। साथ ही हवाई जहाज़, टेलीफोन, रेडियो फिल्म, दूरदर्शक-यन्त्र (टेलीविजन) आदि आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से भारत के भिन्न-भिन्न भागों को एक दूसरे के समीप लाना होगा और एक समान शिक्षण-नीति द्वारा समस्त देशवासियों के बीच एक जातीय भाव पैदा करना होगा। राष्ट्रभाषा के विषय में जहाँ तक सोच सका हूँ, मुझे यही मालूम होता है कि हिन्दी और उर्दू का भेद बनावटी है। सबसे प्राकृतिक राष्ट्र-भाषा तो वही होगी, जिसमें इन दोनों भाषाओं का, जो देश के अधिकांश भाग में बोलचाल के काम में लायी जाती हैं, सम्मिश्रण हो और देश की यह एक भाषा नागरी या उर्दू किसी भी लिपि में लिखी जा सकती है। मैं बखूबी जानता हूँ कि भारत में ऐसे भी लोग हैं, जो इसमें से एक लिपि को मिटा कर दूसरी के प्रचलन का ज़बर्दस्त पक्ष लेते हैं। पर हमारी नीति किसी भी लिपि को मिटाने की न होनी चाहिए। हमें पूर्ण स्वाधीनता देनी चाहिये; जो चाहे जिस लिपि में लिखे। साथ ही साथ मेरा तो यह मत है कि इस समस्या का अन्तिम और सर्वोत्तम समाधान ऐसी लिपि के प्रचलन से होगा, जो हमें संसार के अन्यान्य देशों के साथ-साथ चलने के योग्य बना दे। शायद मेरे कुछ देश-भाई लैटिन-लिपि के प्रचलन की बात सुनकर त्राहि-त्राहि पुकारने लगेंगे, पर मैं उनसे निवेदन करूँगा कि वे इस प्रश्न पर वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें। यदि हम ऐसा करेंगे तो हमें फौरन मालूम हो जायगा कि किसी भी लिपि के भीतर पवित्रता और धर्म नहीं छिपा है। हम सब जानते हैं कि नागरी लिपि विकास के नाना रूपों में परिवर्तित होते-होते वर्तमान रूप में पहुँची है। इसके अतिरिक्त भारत के अधिकांश बड़े प्रदेशों में भिन्न-भिन्न लिपियाँ हैं और उर्दू लिपि है, जिसे उर्दू बोलनेवाले लोग बहुतायत से काम में लाते हैं तथा पञ्जाब और सिन्ध में तो हिन्दू-मुसलमान दोनों ही इसका प्रयोग करते हैं। लिपियों की इस विभिन्नता को ध्यान में रखकर हमें सारे भारत की एक सामान्य लिपि चुनने के प्रश्न पर पूर्ण वैज्ञानिक ढङ्ग से निष्पक्ष होकर तथा सब प्रकार का दुराग्रह छोड़कर विचार करना चाहिये। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि कभी मैं यह समझता था कि विदेशी लिपि को अपनाना राष्ट्रीयता के विरुद्ध है, किन्तु जब १६३४ ई० में मैं टर्की गया तो इस विषय में मेरे विचार बदल गये। यह बात मैं भलीभाँति समझता हूँ कि हमारे देश में अविलम्ब लैटिन लिपि का प्रचार करना एक तूफान खड़ा कर देना है। फिर भी मैं अपने देशवासियों से नम्र-निवेदन करूँगा कि अन्त में इस प्रश्न का बुद्धिमत्तापूर्ण समाधान क्या होगा।"

वास्तव में सुभाष बाबू का उपर्युक्त मत तूफ़ान खड़ा करने वाला ही है। अगर किसी अकल्पित घटना द्वारा समस्त संसार की कायापलट ही न हो जाय, तो यह कहना शायद असत्य न होगा कि समस्त संसार के एक सूत्र में बँधने का विचार निकट भविष्य में तो एक स्वप्न ही है। वैसे भी संसार के विभिन्न भागों और जातियों के नर-नारियों में वेष-भूषा, आचार-विचार और भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी भिन्नता रहना प्राकृतिक है। ऐसी दशा में कोई ऐसा प्रस्ताव जिसका गहरा प्रभाव हमारी भाषा और साहित्य पर ही नहीं, वरन् हमारी समस्त संस्कृति पर पड़ता है, सहज में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सुभाष बाबू ने अपने अभिभाषण के अन्तिम भाग में 'भारत और पर-राष्ट्र नीति' के सम्बन्ध में जो बातें कही हैं वे वास्तव में बहुत महत्वपूर्ण हैं और जैसा हम आरम्भ में बतला चुके हैं, इस सम्बन्ध में आपका कथन विशेष रूप से अधिकारपूर्ण है। आपने कहा :—

"मैं इस विषय को बहुत महत्व देता हूँ, क्योंकि मेरा विश्वास है कि आने वाले वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय

घटनाएँ भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई में सहायता करेंगी। हमें इस समय विश्व की राजनैतिक परिस्थिति का ठीक-ठीक महत्व समझना चाहिये और यह भी जानना चाहिये कि हम उस परिस्थिति से कैसे लाभ उठा सकते हैं। उदाहरण के लिये हमारे सामने मिश्र का सबक़ है। मिश्र ने बिना एक गोली चलाये ग्रेट ब्रिटेन के साथ मित्रता की संधि की, क्योंकि उसने भली भाँति समझ लिया था कि भूमध्य सागर में अङ्गरेज़ और इटालियनों के बीच जो तनातनी चल रही है, उससे किस प्रकार फ़ायदा उठाया जा सकता है।"

इसके पश्चात् राष्ट्रपति ने विदेश में प्रचार-कार्य का मार्ग और लाभ भी सुझाये हैं जो निस्सन्देह हमारे लिये बहुत उपयोगी हैं। इन बातों पर विचार करने से इसमें संदेह नहीं कि हमारे नये राष्ट्रपति का यह भाषण व्यावहारिकता से पूर्ण है और उसको विचारपूर्वक मनन करने से हम बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं।

* * *

महिलाएँ और ग्राम-सुधार

हाल ही में प्रयाग महिला-विद्यापीठ के वार्षिकोत्सव के समय प्रयाग में 'युक्त प्रान्तीय महिला ग्राम-सुधार कान्फरेन्स' का अधिवेशन हुआ था। उसका उद्‌घाटन करते हुए पण्डित श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल ने जो सारगर्भित भाषण दिया वह सभी शिक्षिता और देश-हितैषी महिलाओं के मनन करने योग्य है। पालीवाल जी वर्तमान काङ्गरेसी सरकार की तरफ़ से ग्राम-सुधार के प्रधान अधिकारी नियुक्त किये गये थे और उन्होंने जो बातें बतलाई हैं, वे व्यावहारिक दृष्टि से समयोचित हैं। आपने कहा :—

"मनुष्य महिलाओं के सहयोग के बिना उन्नति नहीं कर सके हैं। आज जब कि राष्ट्र-निर्माण के अनेक आन्दोलन चल रहे हैं, महिलाओं के लिये कार्यक्षेत्र खाली पड़ा है। जब से काङ्गरेस सरकार ने ग्राम-सुधार शुरू किया है, महिलाओं से भी काफ़ी आशाएँ की हैं, क्योंकि ग्रामों की उन्नति बिना स्त्री जाति की सहायता के हो नहीं सकती। गत तीन महीनों से युक्त-प्रान्त की सरकार ने ग्रामीण स्त्रियों की उन्नति के लिये विशेष ध्यान दिया है। भविष्य में बहुत जल्दी ही सरकार गाँव-गाँव में माताओं की दशा सुधारने के लिये महिलाओं के कुछ जत्थों को शिक्षा देने का विचार कर रही है।

महिलाएँ गाँवों में सरलता से देश का काम कर सकती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ उन्हें कुछ तकलीफें भी होंगी। वे प्राइमरी पाठशालाओं में शिक्षिका का कार्य भली भाँति कर सकेंगी, परन्तु गाँवों में तो उन्हें शहरी जीवन की चहल-पहल शायद न मिले। दूसरी बात यह भी है कि ग्रामीण स्त्रियाँ शहर की अपरिचित नारियों के साथ काम करने में कुछ सङ्कोच भी करेंगी, किन्तु इन दिक़्क़तों को दूर करने का उपाय भी है, वह यह कि ग्रामों में काम करने वाले सङ्गठन-कर्त्ताओं की स्त्रियों को ही वहाँ का कार्य सौंपा जाय, परन्तु यह बहुत अच्छा तरीक़ा नहीं है। कोई कारण नहीं कि आदमियों के समान स्त्रियाँ भी स्वतन्त्र रीति से ग्रामों में काम करने के लिये न भेजी जायँ। यूरोप में तो स्त्रियों ने महायुद्ध में दुश्मनों से मोर्चा तक लिया, तब भारतीय महिलाओं के लिये यह कार्य कोई कठिन नहीं। यह हम लोगों के लिये बड़ी लज्जा की बात है। ग्राम-सुधार कार्य तो तभी सम्भव हो सकता है, जब कि देश की स्त्रियाँ साहसी और निडर बनें।

युक्तप्रान्त में १ १०,००० ग्राम बसे हुये हैं। इन ग्रामों की उन्नति के लिए कम से कम २५ करोड़ रुपयों की ज़रूरत है। यू० पी० सरकार की आमदनी तो केवल १२ करोड़ है, अतः सरकार तब तक उनमें आशाजनक सुधार नहीं कर सकती जब तक कि गाँव अपने पैरों पर ही स्वयं तैयार न हो जायँ। इसके लिए ग्राम पञ्चायतों को म्युनिसिपैलिटियों के अधिकार दे दिये जायँ, ताकि वे अपनी उन्नति की योजनाओं के लिए कुछ टैक्स भी लगा सकें और उन्हें पूर्ण कर सकें। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि ग्रामीण जनता अज्ञानता-वश लकड़ी के बदले में कंडों से ईंधन का काम लेती है। यदि गोबर से कंडे न बनाये जायँ तो इससे जो खाद बनेगा उसकी क़ीमत ६ करोड़ रुपये के लगभग होगी

और यदि इस खाद को खेती की पैदावार में लगाया जाय तो उससे ग्रामों को ३६ करोड़ की बचत हो सकती है। मैं चाहता हूँ कि युक्तप्रान्त ग्रामोन्नति के मामले में अन्य प्रान्तों से आगे रहे।"

* * *

स्त्रियाँ आफ़िसों में काम करें या नहीं ?

स्त्रियों के लिये घर के भीतर रह कर एकमात्र गृहस्थी सम्बन्धी कार्य करना ही उचित है अथवा बाहर निकल कर धनोपार्जन के लिये कोई व्यवसाय भी वे कर सकती हैं, इसपर आजकल काफी वाद-विवाद छिड़ा हुआ है। हमारे रूढ़ि-भक्त कहलाने वाले देश की बात तो जाने दीजिये, यूरोप और अमेरिका के देशों में यह प्रश्न एक विकट समस्या का रूप धारण किये हुये है, जिसे वहाँ के बड़े-बड़े विचारक सुलझाने में असमर्थ हैं। कुछ देशों ने तो, जिनमें जर्मनी का नाम खास तौर पर लिया जा सकता है, स्त्रियों की इस आधुनिक स्वाधीनता को बलपूर्वक अपहरण कर लिया है। पर साथ ही इङ्गलैण्ड और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका आदि ऐसे देश भी अभी हैं, जहाँ स्त्रियाँ लाखों-करोड़ों की संख्या में नौकरियाँ और विभिन्न व्यवसाय कर रही हैं। भारतवर्ष में इस समस्या पर लोगों के क्या विचार हैं यह हम समय-समय पर सामयिक पत्रों में पढ़ते रहते हैं। इस सम्बन्ध में हाल ही में एक वाद-विवाद सभा इलाहाबाद के सुप्रसिद्ध मनीषी 'लीडर' सम्पादक श्री० सी० वाई० चिन्तामणि की अध्यक्षता में हुई थी। उसमें भिन्न-भिन्न वक्ताओं ने इस विषय में जो विचार प्रकट किये, उनसे अपने देश-वासियों की मनोवृत्ति का पता अनेक अंशों में लग जाता है। भाषण-कर्ताओं में प्रस्ताव के समर्थक और विरोधी दोनों थे, पर प्रसन्नता की बात है कि सबने उदारतापूर्वक ही इस प्रश्न पर विचार किया। विरोधियों की दलील यही थी, कि ऐसा होने से लोगों की गृहस्थी का प्रबन्ध बिगड़ जायगा और लोग तरह-तरह के कष्टों में पड़ जायेंगे। इसके उत्तर में समर्थकों ने कहा कि इसका निर्णय स्त्रियों पर छोड़ देना चाहिए और स्त्रियाँ बाहरी काम करना चाहें तो उन्हें इसके लिये पूरी सुविधा मिलनी चाहिये। ऐसा होने से देश और समाज का हित ही होगा। अन्त में श्री० चिन्तामणि ने दोनों मतों का सामञ्जस्य करते हुए स्त्रियों को मुख्यतः गृहकार्य के लिये आवश्यक मानने पर भी उनके अधिकार और माँग को स्वीकार किया। आपके कथन का सारांश यह था :—

"मैं यह नहीं समझ सकता कि यदि स्त्रियाँ घरों की अपेक्षा आफ़िसों का अधिक ध्यान करने लगें तो संसार का काम कैसे चलेगा। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ बच्चों का लालन-पालन अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं। हम मानव-प्रकृति को नहीं बदल सकते, इसलिये विरोधियों को इसका संतोष रहेगा कि मानव-प्रकृति जब तक वैसी ही है जैसी कि वह सदा से रही है, तब तक केवल थोड़ी सी स्त्रियाँ ही आफ़िसों में काम करना पसन्द करेंगी। पर स्त्रियों के पक्ष में वकालत करने वालों को भी हतोत्साह नहीं होना चाहिए। मैंने युक्तप्रान्त में स्त्रियों की उन्नति तब से देखी है, जब कि यहाँ की स्त्रियाँ परदे में रहती थीं और अब स्त्रियाँ व्यवस्थापिका सभा की सदस्या हैं, मजिस्ट्रेट हैं और एक महिला मन्त्री भी हैं। इधर १५ वर्ष के भीतर स्त्रियों ने बड़ी उन्नति की है और उनकी यह उन्नति बराबर बढ़ेगी।

"असाधारण पुरुषों की तरह असाधारण स्त्रियाँ भी होती हैं। चाहे वह शक्ति का काम हो या सुस्ती का, आत्मत्याग हो या स्वार्थपरता, प्रेम हो या घृणा, स्त्रियाँ सभी जगह अतिक्रमण करती हैं।"

इसमें सन्देह नहीं कि जब तक वर्तमान सामाजिक सङ्गठन में कोई क्रान्तिकारी और अकल्पनीय परिवर्तन नहीं हो जाता, सन्तान-पालन का कार्य स्त्रियों को ही करना पड़ेगा। सन्तान-पालन के साथ गृहस्थी का सञ्चालन स्वभावतः ही सम्बद्ध है। पर इसमें सन्देह नहीं कि जो स्त्रियाँ अपनी प्रवृत्ति के फलस्वरूप—चाहे वह प्रवृत्ति असाधारण अथवा अपवाद स्वरूप ही क्यों न समझी जाय, या परिस्थितिवश जीविका उपार्जन करके

स्वतंत्र जीवन अतिवाहित करना चाहें उन्हें इसका पूरा अधिकार और सुविधा मिलनी चाहिये। हम भी यही समझते हैं कि अभी ऐसी स्त्रियों की संख्या अधिक न होगी और उनके द्वारा समाज का अहित होने के बजाय हित ही होगा।

* * *

भारतवर्ष के लिये उपयुक्त लिपि

भारतवर्ष के लिये राष्ट्रीय लिपि कौन सी स्वीकार की जाय, यह एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है। जब तक इसका सम्बन्ध केवल लिपि-विशेष के प्रचार और गुण-दोषों से था, तब तक तो इसका निर्णय अपेक्षाकृत सहज था। पर अब जब कि यह विषय राजनैतिक स्थिति से सम्बद्ध हो गया है, तब इसका निर्णय कर सकना बड़ा दुरूह हो गया है। अब नागरी और अरबी (जिसमें उर्दू लिखी जाती है) के स्वीकार अस्वीकार करने का आधार उनकी सुगमता, सरलता, स्पष्टता आदि विशेषतायें नहीं रह गई हैं, वरन् निर्णायक को इस बात पर भी ग़ौर करना पड़ता है कि देश के विभिन्न सम्प्रदाय वालों का इस सम्बन्ध में क्या अभिमत है और उसके निर्णय का उन पर क्या प्रभाव पड़ेगा। अब एक प्रकार से यह स्पष्ट सा होता जाता है कि भारतवर्ष में रहने वाले मुसलमान हिन्दी भाषा अथवा नागरी लिपि को राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय-लिपि मानने को तैयार नहीं हैं। वे लोग इनको केवल हिन्दुओं की चीज़ मानते हैं। इस प्रकार यह प्रश्न हमारी राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से बड़ा जटिल हो उठा है। इसे सुलझा सकना प्रायः असम्भव देखकर अब कितने ही राष्ट्र-नेता एक नये ही मार्ग की कल्पना कर रहे हैं। वे सोचते हैं कि अगर नागरी और उर्दू दोनों को त्याग कर किसी तीसरी ही—बिलकुल नई लिपि को अपनाया जाय तो झगड़े की गुञ्जायश ही न रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये रोमन लिपि का नाम दिया जाने लगा है और गत हरिपुरा कॉङ्ग्रेस के अधिवेशन में उसके अध्यक्ष श्री सुभाषचन्द्र बोस ने इस तरफ़ इशारा भी किया है। उन्होंने रोमन लिपि की प्रशंसा में बहुत सी बातें कही हैं, और यह विचार प्रकट किया है कि अगर भारतवर्ष उसे स्वीकार कर ले तो उसकी राष्ट्रीय एकता में बहुत कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है। राष्ट्रपति की बातों का महत्व राजनैतिक दृष्टि से सम्भव है काफ़ी हो, पर जो लोग नागरी लिपि से भली प्रकार परिचित हैं और जिनको अन्य लिपियों तथा उसका तुलनात्मक ज्ञान है, वे गुणों की दृष्टि से रोमन को नागरी से कदापि श्रेष्ठ स्वीकार नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में हिन्दी के निस्पृह सेवक श्री शिवप्रसाद गुप्त ने एक वक्तव्य प्रकाशित कराया है, जिसका निम्नलिखित अंश ध्यान देने योग्य है :—

"रोमन लिपि में उन सब उच्चारणों को व्यक्त करने की शक्ति नहीं है, जिनके बिना भारतीय भाषाओं का ठीक-ठीक उच्चारण हो ही नहीं सकता। मैं इस बात को दावे से कह सकता हूँ कि जो व्यक्ति भारतीय भाषाएँ नहीं जानता वह रोमन अक्षरों में लिखी हुई किसी भी भारतीय भाषा का शुद्ध उच्चारण कदापि नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, वरन् रोमन अक्षरों में लिखी जाने वाली यूरोपीय भाषाओं का उच्चारण भी उन भाषाओं से अनभिज्ञ पुरुष नहीं कर सकता। एक व्यक्ति जो फ़रासीसी भाषा नहीं जानता, वह रोमन अक्षर जानते हुए भी फ़रासीसी भाषा नहीं पढ़ सकता। इसके विपरीत नागरी अक्षरों में लिखी हुई किसी भी संसार की भाषा का उच्चारण नागरी लिपि जानने वाला कर सकता है। यह बहुत बड़ा दावा है, पर कोई भी निरपेक्ष व्यक्ति इसे परीक्षा की कसौटी पर कस कर इसकी परीक्षा कर सकता है।

"मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि कोई अक्षर ऐसे हैं, जो सारे संसार की वर्णमाला बन सकने की योग्यता रखते हैं, तो वह देवनागर अक्षर ही हैं। पर मैं यह मानता हूँ और जानता हूँ कि इसकी वर्तमान बारहखड़िया में कतिपय अन्य अनेक उच्चारणों के वर्णों को बढ़ाने की आवश्यकता है। यदि इसमें पाँच-पाँच अक्षरों की जगह आठ-आठ अक्षर एक-एक वर्ग में कर दिये जावें तो संसार के सब उच्चारण इसमें अङ्कित किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये अगर 'क' वर्ग में

"क़ाफ़, ख़े, ग़ैन" के उच्चारणों के लिये अक्षर बढ़ा दिये जावें, 'च' वर्ग में 'ज़े, झ़े,' के उच्चारण बढ़ा दिये जावें, और इसी प्रकार और वर्गों में भिन्न-भिन्न भाषाओं के उच्चारणों को एकत्रित करके अक्षर बढ़ा दिये जावें तो यह लिपि पूर्ण वैज्ञानिक लिपि हो जावेगी, जैसी कि रोमन लिपि कदापि नहीं बनाई जा सकती।"

नागरी लिपि के प्रचार में मुसलमानों को जो साम्प्रदायिक दृष्टि से एतराज़ है, उसका समाधान भी गुप्त जी ने बड़े उत्तम ढङ्ग से किया है। वे लिखते हैं :—

"अब रह गयी अरबी लिपि की बात। लिपि और भाषा का सम्बन्ध धर्म से नहीं हुआ करता, पर हमारे दुर्भाग्य से हमारे देश में यह प्रश्न भी धर्म का अङ्ग माना जाने लगा है। हमारे कुछ मुसलमान भाइयों ने इसे भी अपना धार्मिक प्रश्न बना लिया है। मैं उनकी जानकारी के लिये यहाँ यह लिख देना चाहता हूँ कि भारतवर्ष में भी सब प्रान्तों में मुसलमान भाई इस पर आग्रह नहीं करते। बङ्गाल में बङ्गाली मुसलमान अधिकांश बङ्गला ही बोलते और बङ्गाक्षरों का ही व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार गुजराती मुसलमान गुजराती अक्षरों में ही अपना वही-खाता लिखते हैं और कारोबार करते हैं। यही दशा दूसरे प्रान्तों की भी है। दूर कहाँ तक जावें, अपने संयुक्त प्रान्त के मुसलमान व्यापारी भी अपना वही-खाता हिन्दी में ही रखते हैं। हाँ, अब थोड़े दिनों से उनमें अरबी अक्षरों का प्रचार हो रहा है, पर यह चन्दरोज़ा है, यह टिकने वाली नहीं है और न टिक सकता है। जिस प्रकार आज दिन अङ्गरेज़ों की ग़ुलामी में अङ्गरेज़ी भाषा और रोमनाक्षरों का बोलबाला हो रहा है, उसी तरह चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व जब यहाँ निकट पश्चिम की जातियों का बोलबाला और राज्य था, उस समय यहाँ अरबी अक्षरों का रिवाज हुआ और चल गया, पर वह भी देवनागर अक्षरों को निकालने में असमर्थ रहा। मैं यहाँ यह कह देना चाहता हूँ कि मैं मुसलमानों को बिदेशी और बाहर से आया हुआ नहीं मानता। वे भारतीय हैं और उनके बाप-दादा भी सात पुश्त तक भारतीय थे। अरब या फ़ारस से चन्द आदमी सुदूर भूतकाल में आये रहे होंगे, पर आज तो भारतीय मुसलमानों की धमनियों में भारतीय रक्त ही बहता है और वे भारतीय हैं और सदा भारतीय रहेंगे।"

वास्तव में भाषा और लिपि का सवाल इतना सहज नहीं है कि उसे झट से निर्णय कर डाला जाय, अथवा उस सम्बन्ध में मनमाना परिवर्तन कर दिया जाय। भाषा और लिपि का सम्बन्ध राष्ट्र और जाति की सम्पूर्ण संस्कृति से है। यह सम्भव है कि लिपि बदलने से हिन्दू संस्कृति का ही लोप हो जाय। इस तरह का कायापलट कहाँ तक कल्याणकारी होगा और वह हिन्दुओं को कहाँ तक माननीय हो सकता है, यह विचारणीय विषय है।

